मूल्य एक सौ पचास रुपये

संस्करण 1990

राजपाल एण्ड सन्ज़ कश्मीरी गेट दिल्ली द्वारा प्रकाशित
SHOTTAM (Novel) by Bhagwati Sharan Mishra
ISBN 81 7028 081 8

पुरुषोत्तम

डॉ भगवतीशरण मिश्र

कृष्णभाव भावित परमसिद्ध संत
श्री 1008 श्रीपाद बाबा ब्रज अकादमी वृन्दावन
को सादर, सश्रद्ध—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः

(अध्याय 15, श्लोक 18)

यह पुस्तक

यद्यपि इस पुस्तक का लखन प्राय चार वर्षों म समाप्त हुआ क्योंकि 1987 म ही पवन पुत्र प्रकाशित हो गया था और उसक लखन की समाप्ति क साथ ही प्रथम पुरुष म हाथ लगा दिया गया था तथापि इस उपन्यास क लखन म मात्र चार वर्ष लग एसा कहना उचित नही प्रतीत होता। इसका कारण यह है कि कृष्ण क जीवन चरित्र स सम्बधित पुस्तका विशषकर श्रीमद्भागवत महाभारत तथा गीता स मेरा सम्बन्ध बाल्यकाल स हो रहा। स्कूल क दिनो म जब संस्कृत पूरी तरह समझ म नही आती थी तब भी मैं इन ग्रन्थो का संस्कृत श्लोको क साथ-साथ हिन्दी-टीका क साथ अध्ययन करता था। बाद म तो महाभारत और गीता क अनुवादो को पढन की आवश्यकता नही रही फिर भी श्रीमद भागवत क मूल पाठ स काम नही चलन का था और उसक अनुवाद क साथ ही उसका अध्ययन सम्भव रहा क्योकि श्रीमदभागवत की संस्कृत अन्य ग्रन्थो की अपेक्षा कठिन है। कहा भी गया है कि विद्वानो की परीक्षा श्रीमदभागवत म ही होती है—

विद्यावताम भागवत परीक्षा।

कहने का तात्पय यह कि कृष्ण चरित्र बाल्यकाल स ही मेर मन म बठा था और कृष्ण के व्यक्तित्व क प्रति एक विशष आकषण बहुत पूव मेर मन मस्तिष्क म जड जमा चुका था। इसी क फलस्वरूप कृष्ण स सम्बधित जो कुछ मिला मैं पढता गया।

इस पुस्तक क लखन क पूव कृष्ण सम्बन्धी ग्रन्थो का विशेष रूप स अध्ययन करना पडा। कृष्ण चरित्र मुख्यत छह पुराणो म प्राप्त होता है—ब्रह्मपुराण विष्णुपुराण, महाभारत पुराण ब्रह्मववत पुराण हरिवंश पुराण और श्रीमद् भागवत पुराण। इनक अलावा गग संहिता और पद्मपुराण म भी कृष्ण चरित्र विस्तार स मिलता है।

इन पुराणो म ब्रह्मपुराण और विष्णुपुराण म कथा प्राय एक सी है हरिवंश पुराण, ब्रह्मववत पुराण तथा श्रीमद्भागवत की कथा कुछ हद तक मिलती-जुलती है।

पुराणो की कथाओ म भिन्नता होन क कारण किसी एक पुराण पर इस उपन्यास को आधत करना कठिन था। ऐसी स्थिति म इन सारे ग्रन्थो क अध्ययन क पश्चात मुझे बहुत हद तक अपना स्वतन्त्र विचार निधारित करने को बाध्य होना पडा।

पुराण और इतिहास म यद्यपि अन्तर नही है क्योंकि पुराणो का आधार भी इतिहास ही होता है किन्तु पुराणकारो की यह विशषता होती है कि व अति

शयोक्तियो और रूपको का सहारा लेकर ऐतिहासिक गाथा को सामान्य जन के मध्य लोकप्रिय बनाने का प्रयास करते है। साथ ही जो पुराण जिस व्यक्ति विशेष से सम्बंधित होता है उसी को वह सर्वोपरि मानता है और उसे ईश्वर तक पहुचाने का प्रयास करता है।

ऐसी स्थिति म अगर पुराणो को अतिशयोक्तिया और अनावश्यक रूपको स मुक्त कर दिया जाए तो पौराणिक आख्यान भी इतिहास की प्रामाणिकता प्राप्त कर सकते है और पौराणिक उपयास भी ऐतिहासिक उपयास की श्रेणी म आ सकते हैं।

मैं यह कहने के लोभ का सवरण नही कर पा रहा कि मैंने इस उपयास को पौराणिक कम और ऐतिहासिक अधिक बनाने का प्रयास किया है। दूसरे शब्दो म मैं इसे पौराणिक उपयास कहने के बदले ऐतिहासिक उपयास कहना अधिक पसन्द करूगा।

मेरे उपयुक्त कथन का कुछ आधार है। कृष्ण और उनके समय के अन्य व्यक्तियो की ऐतिहासिकता पर प्रश्न चिह्न लगाना आसान नही। उनके काल मे मगध म जरासध का राज्य रहा। राजगृह म जरासध की राजधानी थी जिसके प्रमाण आज भी वहा कई रूपो म मिलते हैं। अगर जरासध की ऐतिहासिकता असन्दिग्ध है तो कृष्ण की ऐतिहासिकता को सदिग्ध करने का हमे कोई अधिकार नही। सारे विद्वानो ने महाभारत युद्ध की ऐतिहासिकता को स्वीकारा है और माना है कि वह आज से प्राय पाच हजार वर्ष पूर्व लडा गया।

आगे चलकर पुराणो ने विशेषकर श्रीमदभागवत ने कृष्ण चरित्र को अतिशयोक्तियो चमत्कारो और रूपको से भर दिया। इसके फलस्वरूप कृष्ण मनुष्य नहा रहकर ईश्वर बन आए। भागवतकार ने स्पष्ट कहा है कि अन्य सारे अवतार तो अशावतार मात्र थे कृष्ण स्वय भगवान थे—

कृष्णस्तु भगवान स्वयम।

मैंने इस पुस्तक म कृष्ण को भगवान के रूप म नही देखकर मनुष्य के रूप मे देखने का प्रयास किया है। यह बात पृथक है कि यह मनुष्य शन शन मनुष्यत्व को लाघता हुआ देवत्व और अतत ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है। इस पुस्तक के प्रणयन के समय मेरा दृष्टिकोण स्पष्टत यह रहा है कि भगवान पैदा नही होता बल्कि बनता है। राम को भी भगवान मानें तो राम भगवान के रूप म पैदा नही हुए थे किन्तु उनके कर्त्तव्यो—उनकी वीरता उनके शौर्य उनका त्याग उनके दवी गुणो—न उन्हे धीरे धीरे भगवान बनाया। आज लोग बुद्ध, महावीर जन तथा ईसा (क्राइस्ट) को भी भगवान मानने लगे हैं। भागवतकार ने भी बुद्ध को ईश्वर का अवतार माना है। ये सारे ऐतिहासिक पुरुष हैं और ये मनुष्य से भगवान बने न कि ये भगवान बनकर ही पैदा हुए।

इसी तथ्य को मैंने इस पुस्तक के लिखने के समय सतत ध्यानगत रखा है। यही कारण है कि मैंने कृष्ण-चरित्र से जुडे चमत्कारो को ग्रहण करने म सकोच किया है और हर ऐसी घटना को जिसे पुराणकारो ने चमत्कार के रूप म लिया है मैंने प्राकृतिक अथवा वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास किया है। यही कारण है कि मेरे कृष्ण के एक साधारण शिशु के रूप म पैदा होते ही कारागार के कपाट स्वय नही खुल जाते और न भाद्रपद की उफनती यमुना केवल कृष्ण-चरणो का स्पश

प्राप्त कर वसुदेव को मार दे ती है। इसी रूप म अय बाता को भी लिया जा सकता है। द्रौपदी के चीर-हरण की बात को भी उस अतिरंजना से मुक्त रखा है जिसमें उस पुराणकारो अथवा अय भक्त कवियों ने युक्त किया है।

इस सन्दभ म और कुछ कहने की आवश्यकता है। निश्चय ही कृष्ण चरित्र के साथ बहुत अयाय हुआ है विशेषकर कुछक पुराणो एव शृगारिक कवियों द्वारा राधा का नाम कृष्ण के साथ जोड कर ऐसी-ऐसी कामुक रचनाओं का प्रणयन हुआ है कि बहुतों को कृष्ण को भगवान क्या एक शिष्ट मनुष्य कहने म भी शर्म आती है। निश्चय ही ऐसे लेखको ने या तो अपनी दमित वासनाओं को ऐसे लेखन द्वारा उजागर किया है अथवा राधा-कृष्ण की लीला का सहारा ले अपने आश्रयदाताओं—राजाओं महाराजाओं सामन्तों—के मनोरंजन अथवा उनकी कामभावना को सतृप्त करने का प्रयास किया है।

मेरा उपर्युक्त आरोप निराधार नहीं है। श्रीमद्भागवत कृष्ण चरित्र का प्रामाणिक और एक तरह से आयतन ग्रथ माना जाता है। यद्यपि मेरे विचार म ब्रह्मवैवर्त पुराण की रचना भागवत की रचना के पश्चात हुई फिर भी श्रीमद्भागवत को कृष्ण के सन्दभ म जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई वह किसी अन्य ग्रथ को नहीं उपलब्ध हो सकी। पाठको को यह जान कर आश्चर्य होगा कि इस भागवत म राधा का एक बार भी उल्लेख नहीं मिलता ऐसी स्थिति म राधा-कृष्ण की रति लीलाओ प्रणय प्रसगो आदि का वर्णन कृष्ण-चरित्र के साथ अयाय नहीं तो और क्या है? बात यहा तक सीमित रहती तो कोई बात नहीं थी। कहनेवाले राधा को परकीया भी कह गए और प्रत्यक्षत वह श्रीकृष्ण पर परस्त्री गमन का आरोप लगाने म भी नहीं चूके। इन्होंने अपनी कल्पना का कमाल दिखाया और राधा के पति का भी नाम ढूढ निकाला। बगला के एक उपयासकार ने तो जी भरकर इस परकीया म कृष्ण की केलि कराई। अब वह किसी पौराणिक अथवा ऐतिहासिक तथ्य का उद्घाटित कर रहा था या अपनी दमित वासनाओं और कुण्ठाओं का खुल खेलने का अवसर दे रहा था यह तो पाठक ही कहेंगे। शृगारिक कवियों ने जो कमाल किया उसे कहने की आवश्यकता नहीं किन्तु राधा-कृष्ण को ढाल बनाकर इस मन को मनन का जो अक्षम्य अपराध उन्होंने किया उसका उदाहरण अयत्र ढूढे नहीं मिलता।

पुराणों म ब्रह्मवैवर्त पुराण म राधा का उल्लेख अवश्य आया है परन्तु भक्ति प्रधान होने के कारण इस ग्रथ म राधा को कृष्ण की सहचरी होने के साथ-साथ सीता पार्वती अथवा लक्ष्मी की तरह एक पूजनीया नारी के रूप म ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया। कृष्ण इस ग्रथ म राधा को साध्वी सबोधन प्रदान करते हैं और स्पष्ट कहते हैं कि तुम श्री हो तुम्हारे बिना मैं केवल कृष्ण होता हू और जब तुम मुझसे संयुक्त हो जाती हो तो मैं श्रीकृष्ण बन जाता हू।

आगच्छ शयन साध्वि कुरु वक्ष स्थलेहिमाम।
त्वय म शोभास्वरूपाऽसि देहस्य भूषण यथा॥
कृष्ण वदन्ति मा लोकास्त्वयैव रहित यदा।
श्रीकृष्ण च तदा तेऽपित्वयैव सहित परम॥

—ब्रह्मवैवर्त पुराण म पचदशो अध्याय।

स्पष्टत राधा या तो एक काल्पनिक चरित्र है अथवा श्रीकृष्ण की एक

एक्षी सहचरी जो न तो उनकी परकीया थी न उनकी तथाकथित अविवाहिता प्रेमिका अथवा प्रेयसी। कई पुराणो ने तो विशेषकर ब्रह्मववत पुराण ने राधा कृष्ण के विधिवत विवाह का भी वणन किया है और इसके अनुसार यह विवाह और किसी ने नही बल्कि स्वय ब्रह्मा ने भाडीर वन म कराया है।

उपयुक्त स्थिति मे राधा की परकीया होने की बात तो पूणतया काल्पनिक और कामलोलुप कवियो की मनगढ़न्त कहानी मे अधिक नही लगती।

एक उपन्यासकार इतिहासकार नही होता, न वह होता है कोई पुराणकार। पुराणो अथवा इतिहासो के अथाह सागर से चन्द मोतियो का अल्प सहारा ले उन्ह चमकदार बनाकर पाठको के समक्ष प्रस्तुत कर देना उसका कत्तव्य होता है। उसकी स्थिति बहुत दयनीय होती है। न तो वह इतिहास, पुराण विशेषकर इतिहास को पूरी तरह नकार सकता है न अपनी कल्पना के पखो को ही बेदर्दी से कुतरकर केवल तथ्यो को पाठको के सामने परोस सकता है।

मेरे कथन का तात्पय यह है कि ऐतिहासिक अथवा पौराणिक उपन्यासकार को तथ्यो और कल्पना के मध्य सन्तुलन बनाकर एक ऐसे नट की भूमिका निभानी पड़ती है जो ऊचे बासो पर तनी रस्सी पर किसी प्रकार सन्तुलन कायम रख इस छोर से उस छोर को पहुच जाता है। ऐसी ही स्थिति को मनीषियो ने छुर की धार पर चलने की बात की ही है

छुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुगम पथस्तत कवयो वदन्ति।

मुझे इस बात का गव है कि मैंने इस पुस्तक म श्रीकृष्ण चरित्र को जहा तक सम्भव हो सका है उसके वास्तविक रूप म प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। एक उपन्यासकार होने के नाते निश्चय ही मुझे यत्र-तत्र कल्पना का भी सहारा लेना पडा है तथा कृष्ण चरित्र की वास्तविकता तक पहुचने के लिए बहुत सारे ग्रन्थो (ऊपर वर्णित पुराणो के अलावा) का अध्ययन करना पडा है किन्तु मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि कृष्ण चरित्र पर जो कलुष चढाने का प्रयास कुछेक दिग्भ्रमित लोगो द्वारा किया गया था उसे पोछने का मैंने अपनी ओर से पूरा प्रयास किया।

मेरी राधा न तो परकीया है न कृष्ण की विवाहिता, न उनकी शय्या सगिनी, वह मात्र उनकी प्रेरणा है उनकी आह्लादिनी शक्ति, उनकी सवस्व दोनो म प्रेम है किन्तु वह मासल नही है और न है वह पार्थिव। मेरे राधा-कृष्ण म द्वैत है ही नही न है लिंग भेद। वे एक दूसरे को स्त्री और पुरुष के रूप म नही देखकर मात्र राधा और कृष्ण के रूप म देखते है। मेरी राधा ही कृष्ण है और मेरा कृष्ण ही राधा।

यही बात रासलीला को लेकर है। स्थिति आज यह है कि जो कोई भी स्वच्छाचारी, कामुक और वरागनाओ मे घिरा पाया जाता है उसे लोग कृष्ण की सज्ञा दे देते है। यह उनकी अज्ञानता के सूचक के अलावा और कुछ नही है। रास लीला का उल्लेख श्रीमदभागवत म ही आता है और यह स्पष्ट है कि ग्यारह वष से अधिक आयु तक श्रीकृष्ण वृन्दावन म रहे ही नही। वे मथुरा प्रस्थान कर गए, कस का वध किया और फिर आगे के कायकलापो म लग गए। अब यह सोचने की बात है कि ग्यारह वष का बालक जो रासलीला करता है उसकी प्रकृति कसी होगी। जो लोग रासलीला म काम वासना को ढूढते है, वे अपनी

कामुकता को ही एक किशोर पर आरोपित करने के अपराध करने के सिवा और कुछ नहीं करते। अगर भागवतकार ने भी एकादश वर्षीय कृष्ण की रासलीला पर केलि क्रीडा का रंग चढ़ाने का प्रयास किया है तो वह भी इसी अपराध का भागी बनता है।

वास्तविकता तो यह है कि अनेक लेखक भले ही वे पुराणकार ही क्या न हों, तब तक अपने ग्रंथ की लोकप्रियता के प्रति आश्वस्त नहीं होते जब तक वे उसमें पर्याप्त वासना अथवा काम या केलि प्रसंग नहीं डाल देते। इसके पीछे एक और कारण हो सकता है। वे समझते हैं कि जैसे चींटियां शक्करा की ओर भागती हैं उसी तरह काम प्रसंगों के रहने से उनके ग्रंथ की तरफ पाठक भागेंगे और जब वे उन तक पहुँचेंगे तो काम रस की प्राप्ति के व्याज से भक्ति भाव की गंगा में भी कुछ गोते लगा ही लेंगे और इन पुराणकारों अथवा लेखकों का उद्देश्य सिद्ध हो जाएगा।

यही कारण है कि दक्षिण के कई मन्दिरों में जहां चहारदीवारियों के अन्दर गर्भ-गृहों में देव-मूर्तियां विराजती हैं वहीं इन्हीं चहारदीवारियों पर काम प्रसंगों का शर्मनाक चित्रण भी देखने को मिलता है। ऐसा करने वालों ने शायद यह समझा कि लोग इन कामुकतापूर्ण चित्रों अथवा मूर्तियों को देखने के बहाने ही सही देवालय के अन्दर आएंगे तो देव मूर्ति के दर्शन भी करेंगे ही।

यही बात ब्रज की गोपियों के साथ श्रीकृष्ण के सम्बन्धों को लेकर है। सही है कि गोपियां श्रीकृष्ण से प्रेम करती थीं किन्तु उनसे गोप भी प्रेम करते थे—बाल, युवा, वृद्ध—सभी। एक मोहक फूल को देखने का लालच सबके मन में जगता है लेकिन कोई-कोई ऐसा निष्ठुर होता है जो उस फूल को वृन्त से तोड़कर उसकी पखुड़ियां मसल डालता है। सभी ऐसा नहीं करते। यही बात कृष्ण के ब्रज-जीवन को लेकर है। गोपियां उनसे प्रेम करती हैं वे आकर्षक हैं उन पर वे अपनी जान छिड़कती हैं किन्तु यह प्रेम विशुद्ध है आत्मिक और आध्यात्मिक है। मांसल अथवा पार्थिव नहीं। नीलमणि की कांति वाले मोर पिच्छधारी माखनचोरी में लीन शिशु कृष्ण के प्रति गोपियां अथवा गोपांगनाएं जो आकृष्ट होती हैं तो वे एकादश वर्षीय उनके ब्रज-जीवन तक उसी रूप में आकृष्ट रहती हैं। सोचने की बात है कि एक शिशु अथवा दस अथवा ग्यारह वर्षीय बालक के प्रति किसी गोपी अथवा गोपांगना के मन में किस प्रकार का प्रेम पल सकता है।

इन सारे भ्रमों का निराकरण इस औपन्यासिक कृति के माध्यम से करने का प्रयास किया गया है।

कुछ बातें उनके विभिन्न विवाहों को लेकर भी हैं। यथास्थान पुस्तक में इस सम्बन्ध में भी बातें स्वत स्पष्ट हो गई हैं।

एक बात और कहना चाहूंगा। गीता और कृष्ण अविभाज्य हैं। एक तरह से कृष्ण को लेकर गीता है अथवा गीता को लेकर कृष्ण। जब मैंने पुस्तक के दूसरे खंड किन्तु स्वतन्त्र पुस्तक 'पुरुषोत्तम' में महाभारत युद्ध के वर्णन के समय गीता प्रसंग को उठाया है तो मात्र उसे छूकर भाग जाऊं यह दुस्साहस मुझसे नहीं बन पड़ा है। मैंने गीता प्रसंग के साथ पूर्ण न्याय करने का प्रयास किया है। मेरा प्रयास यह रहा है कि पुस्तक के इस भाग को पढ़कर गीता सर्वसाधारण पाठक के अन्दर भी पूरी तरह उतर जाए। परिणामत मैंने गीता के एक श्लोक अथवा एक शब्द

को भी नही छोडा है। यद्यपि गीता का कोई भी श्लोक इस प्रसग म शायद ही आया है, तथापि मेरा प्रयास यह रहा है कि अगर कोई गीता की पूरी तरह ग्रहण करना चाहे तो पुस्तक के इस भाग से वह पूणतया लाभान्वित हो जाय। ऐसी स्थिति मे निश्चय ही मेरे गीता प्रसग म अजुन और कृष्ण के कथोपकथन मे वद्धि हो गई है लेकिन यह सब मात्र गीता के रहस्यो को पूणतया उदघाटित करने के प्रयास म किया गया है। गीता मे भले ही कृष्ण न कुछेक बार और अजुन उनसे भी कम बात बोलते हो पर मेरे गीता प्रसग मे अजुन पूणतया वाचाल है और उनकी तकशक्ति श्रीकृष्ण से वह सब कुछ उगलवा लेती है जो वह कहना चाहते हैं। इतना ही नही, उपन्यास का यह भाग गीता की टीका नही होकर भी एक तरह से टीका ही है। अगर गीता की मूल पुस्तक को खोलकर एक ओर रख लिया जाए और उपन्यास के इस प्रसग को दूसरी ओर तो गीता के श्लोक ही नही शब्दा तक के अथ पूरी तरह स्पष्ट हो जाएगे। यद्यपि यहा शब्दाथ अथवा श्लोकाथ प्रत्यक्ष रूप म नही दिए गए हैं।

मैं इस भूमिका को अधिक लम्बा खीचना नही चाहता। किन्तु कुछ बातो को स्पष्ट कर देना आवश्यक था अत इतना दीघ पूव-कथन करना पडा। उपन्यासकार के रूप म मैं यही कहना चाहूगा कि इस पुस्तक मे मैंने श्रीकृष्ण के जीवन के सभी पक्षो को पूरी ईमानदारी के साथ उद्घाटित करन का प्रयास किया है और मेरा लक्ष्य यह रहा है कि उनके जन्म से लेकर मत्यु तक की कहानी को इस ढग मे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर दिया जाय कि वह रोचक और विश्वसनीय होने के साथ साथ प्रामाणिक भी हो।

पुस्तक की अथवा कृष्ण के जीवन की आज के सदभ मे प्रासगिकता उपन्यास म स्वय ही स्थान-स्थान पर प्रकट हुई है अत उस पर प्रकाश डालना मैं आवश्यक नही समझता।

जसा कि पूव मे इगित किया गया, पुस्तक दो खडो म समाप्त हुई। पहले का नाम 'प्रथम पुरुष' और दूसरे का नाम 'पुरुषोत्तम' रखा गया। पर दोनो खड अपने म पूण हैं अत उन्हे दो पृथक्-पृथक् खण्डो म नही प्रस्तुत कर दो स्वतन्त्र पुस्तको के रूप म ही प्रकाशित किया जा रहा है। प्रथम पुरुष कस-वध के साथ समाप्त होता है जो श्रीकृष्ण के जीवन की प्रथम सर्वोपरि उपलब्धि है।

'पुरुषोत्तम' म श्रीकृष्ण के शेष जीवन का वणन है और यह शेष जीवन उनकी मत्यु-पयन्त विस्तत है।

पुस्तक-प्रणयन म शीघ्रता लाने हेतु जिन कुछेक शुभेच्छुओ की प्रेरणा रही है उनम श्री कुणाल कुमार श्री देवेन्द्र चौधरी, शिवनारायण एव साहित्यमर्मज्ञ डा० माहेश्वरी सिंह 'महेश' के नाम विशेषरूप म उल्लखनीय हैं।

मैं अपने श्रम को साथक समझूगा यदि मेरा प्रयास युग-पुरुष श्रीकृष्ण को सही सन्दभ म प्रस्तुत करन म सफल हो पाता है।

45/60 आफिसर फ्लट
बेली रोड, पटना 15

—डा० भगवतीशरण मिश्र

एक

कंस-वध से जहाँ सम्पूर्ण मथुरा नगरी उल्लसित थी और घर घर में नित्य दीपावली मनाई जा रही थी, देव-पूजन हो रहा था, मिष्टान्न बँट रहे थे वहीं इसी नगरी के राजमहल के एक कक्ष में दो ऐसी मानव-मूर्तियाँ भी थीं जिनके दुःख का कोई ओर-छोर नहीं था। भाद्रपद की अंधकारपूर्ण रात्रि की तरह उनका भविष्य भयावह और अंधकारपूर्ण था। उनके जीवन में आशा की एक क्षीण लौ भी नहीं जलने वाली थी और उनका शेष जीवन, वैधव्य, नैराश्य, दुर्भाग्य, पश्चात्ताप पीड़ा और अंधकार का वीभत्स सम्मिश्रण बना उनके समक्ष किसी अछोर मरु-कान्तार अथवा कंटक-कुश एवं हिंस्र पशु जीवों में पूर्ण किसी विस्तृत कानन की तरह फैला पड़ा था।

ये दो औरतें थीं—अस्ति और प्राप्ति। प्रतापी मगध-नरेश जरासंध की ये लावण्यवती पुत्रियाँ कंस से ब्याही गई थीं। उस समय शायद मगध-नरेश को भी यह पता नहीं होगा कि कंस एक घोर अहंकारी व्यक्ति के रूप में विकसित होगा और उसका अहम् एक दिन इस तरह आसमान छूने लगेगा कि वह उसके प्राणों के लिए ही संकट बन आयगा और उसकी प्राण प्रिय पुत्रियाँ उसके महल में अपनी सीमन्त रेखा (माँग) को भले ही सिंदूर चर्चित कर रही हैं किन्तु शीघ्र ही वे मथुरा से अपने पति की चिता की राख ही अपनी मुट्ठियों में भरकर लौटेंगी।

अस्ति और प्राप्ति की, इस विशाल महल में कोई उपयोगिता, कोई प्रासंगिकता नहीं रह गई थी।

ऐसा नहीं कि उन्होंने कंस को उसकी मनमानी से रोकना नहीं चाहा था या उसके अपार अहंकार पर अंकुश लगाने का प्रयास नहीं किया था, पर दोनों का सम्मिलित प्रयास भी अरण्यरोदन से कुछ अधिक नहीं सिद्ध हुआ था। आहुति पड़ी अग्नि की तरह उसके अत्याचार और अनाचार नित्य बढ़ते ही गए थे और उसने दोनों बहनों की बातों को कोई महत्त्व नहीं दिया था अपितु कई बार तो उसने यहाँ तक कह दिया था कि यदि वह जानता कि महाप्रतापी मगध-नरेश जरासंध की पुत्रियाँ ऐसी कायरता-ग्रस्त और भीरु होंगी तो वह भूलकर भी उन्हें अपने महल में स्थान नहीं देता।

पर अब तो अस्ति और प्राप्ति के समक्ष अस्तित्व का प्रश्न था। सिंहासन पर महाराज उग्रसेन विराजमान हो गए थे। बलराम और श्रीकृष्ण उनके और उनके राज्य की सुरक्षा में तत्पर थे। नगर में नित्य उत्सव और समारोह आयोजित हो रहे थे। लोग यह भी भूल गए थे कि आखिर मथुरा के एक गलत या सही राजा की मृत्यु हुई है, उसके लिए सप्ताह भर का औपचारिक शोक तो राज्य भर में मनाना ही चाहिए था। पर कौन शोक करने बैठा था कंस के नाम पर? किसी

तरह उसकी अंतिम क्रिया कर दी गई थी। न राजकीय सम्मान, न कुछ विशेष औपचारिकता। जैसे किसी सामान्य शव को अग्नि की लपटों के हवाले कर दिया जाता है उसी तरह कालिन्दी-कूल की एक चिता पर चढ़ा दिया गया था कंस के कुचले मसले शव को। आखिर कृष्ण के साथ उस क्षणिक ही सही मल्लयुद्ध और फिर मंच से नीचे उछाले जाने में उसकी देह की दुर्दशा तो हो ही गई थी।

बारह दिनों का अशौच का काल भी अस्ति प्राप्ति के लिए ही था। राजभवन और नगर के कार्य यथावत अपितु अब कुछ अधिक ही उत्साह और उमंग से सम्पन्न होते रहे थे। केवल दोनों बहनों के इर्द गिर्द एक संत्रासक सन्नाटा लगातार बुनता रहा था उन दिनों। इस सन्नाटे को चीर भी ऐसा कोई नहीं था। दास दासियां जो कंस के जीवित रहते हाथ बांधे डोलते रहते थे उनमें से अब कभी कभी ही कोई दिखाई पड़ जाता था। पिंड-दान आदि की औपचारिकता पूरी हो गई तो अस्ति प्राप्ति को वहां रहना अब सर्वथा अनावश्यक, व्यर्थ और त्रासद प्रतीत होने लगा।

उन्होंने महाराज उग्रसेन के यहां संवाद भिजवाया कि वे कुछ निवेदन करना चाहती हैं। कुछ वातावरण ही ऐसा रहा मथुरा का इन दिनों कि महाराज उग्रसेन भी प्रायः भूल ही बैठे थे कि पुत्र न रहा तो न रहा, दो पुत्र-वधुएं तो महल में हैं और उनकी सुधि भी लेनी है। उनका संवाद आते ही उन्हें अपने प्रमाद की ओर ध्यान गया। पहले तो उन्होंने सोचा कि श्रीकृष्ण को ही भेजकर उनका मन्तव्य ज्ञात कर लें पर फिर उन्हें लगा कि ऐसा करना महान मूर्खता के सिवा और कुछ न होगा। श्रीकृष्ण ही तो उनके वैधव्य के कारण थे उनके जीवन क्षितिज पर जो कभी नहीं निःशेष होने वाली तमिस्रा व्याप्त हो गई थी उसके एकमात्र जनक तो श्रीकृष्ण ही थे। उनको सामने पाकर उनकी पुत्र-वधुएं अपने में रह पायेंगी क्या? उनके माध्यम से संवाद क्या जायगा कुछ ऐसा भी घट सकता है जो अप्रिय और अवांछित हो।

अन्ततः महाराज ने स्वयं अन्तःपुर में जाने का निर्णय लिया। पुत्र जैसा भी रहा हो पुत्र-वधुएं तो अपनी बेटियों की तरह थीं। भय यही था कि उनके आंसुओं का सामना वे कैसे कर पायेंगे? वैधव्य नारी जीवन का महान अभिशाप है—सबसे भयावह दुःस्वप्न एक ऐसी काल रात्रि जिसका अन्त ही नहीं था जिसमें प्रातः अथवा प्रत्यूष नाम की कोई चीज ही नहीं होती। वैधव्य-ग्रस्त जीवन के क्षितिज पर प्रसन्नता और उल्लास की लालिमा को कभी भूलकर भी छिटकना नहीं था। जिस नारी का सौभाग्य-सूर्य सदा के लिए अस्ताचलगामी हो जाय उसके जीवन में किधर से एक प्रकाश किरण को भी प्रवेश पाना था?

महाराज उग्रसेन घबराए। अपने महल से कंस महल की ओर चल तो दिए पर पैर साथ नहीं दे रहे थे। वृद्धावस्था तो अभी वैसी नहीं उतरी थी पर वर्षों के कारावास ने तन और मन दोनों को जर्जर अवश्य कर दिया था। कुछ समय लगता उन्हें संतुलित और स्वस्थ होने में पर तब तक पुत्रवधुओं की पुकार को अनसुनी तो नहीं किया जा सकता था?

दासियों ने अवसन्न पड़ी बहनों को महाराज के आगमन की सूचना दी। उन्हें अपने कानों पर सहसा विश्वास ही नहीं हुआ। जिनके पति ने इस निर्दोष प्रजा पालक को सिंहासन च्युत कर कारागार का नारकीय जीवन भोगने को बाध्य

किया था उनकी पुकार पर व स्वय उनस मिलने आ जाएगे, यह बात उनकी कल्पना क बाहर थी। व दौडी थी जसी थी वमी ही उनक चरण-स्पश को किन्तु श्वसुर को दखत ही कुछ उनक प्रेम प्रदशन और कुछ अपन जीवन की "यथता के बोध ने उन्ह उनकी आखा का जल-पूरित कर दिया और महाराज उग्रसन क पैर जसे तप्त जल बूदा स ही पखार दिए गए।

नही रोक सके महाराज अपन को भी और जैस पयोधर किमी पवत का स्पश पात ही रीता होन लगता है वसे ही उनकी आखें भी बरम पडी। आखें ही नही बरम पडी, हृदय भी विगलित हा गया और उन्ह जस पहल-पहल एक कठोर, हृदयहीन यथाथ स आमना सामना हुआ। पुत्र शोक की प्रतीति प्रथम प्रथम ही हुई और राज्य और उससे जुडे मान सम्मान की निस्सारता का बोध भी प्रथम-प्रथम बार ही हुआ। क्या होता अगर व कुछ दिन और कारागार म ही बन्द रहत ? क्या होता यदि सिंहासन पर उनकी मृत्यु-पयन्त कस ही विराजमान रहता अन्तत था तो वह उनका पुत्र ही ? व तो राज्य सुख भोग ही चुके थे। कटक निर्मित किरीट स अधिक क्या होता है राज मुकुट ? समस्याओ और सकटो स नित्य निपटन को विवश होन की अपक्षा तो कारागार का वह जीवन ही अधिक शान्तिप्रद और कह तो सुखद और निरापद था। तब कम स-कम एसी स्थिति का सामना करन क लिए तो उन्ह नही विवश होना पडता।

दर तक पुत्रवधुए परो पर निष्प्राण सी पडी रही तो महाराज उग्रसन किसी तरह अपना खोया हुआ स्वर पा सक। अब तक वे परो को स्नात करत, चार चार नत्रो स निसत जल स इस तरह अन्दर ही अन्दर उद्वेलित और अस्थिर हो आए थ कि स्वय उनकी आखो स भी अश्रुपात आरम्भ हो गया था। ऐसी स्थिति म कुछ भी बोलना कठिन था।

"जो हो चुका उस भूल जाना ही श्रेयस्कर है। नियति का विधान मान उस शिरोधाय करने म ही बुद्धिमत्ता है।" उन्होने पुत्रवधुओ को सबोधित किया था। "क्या समझती हो तुम, मैं सुखी हू ? तुम्हारी पीडा स मरी पीडा कुछ अधिक ही है। पुत्र, कुपुत्र ही सही पर होता है अपना अश ही। व्यक्ति उसी म अपनी पूणता दखता है। पुत्र शोक से बडा इस लोक म कोई शोक नही होता, इस तथ्य को तुम नही जान सकती।

महाराज उग्रसन इस समय सचमुच घोर पीडा से ग्रस्त थे। घोर उपक्षा और अपमान क काल उन्होन भल ही कस की समाप्ति म अपनी सहमति दे दी हो पर अब उनके पश्चात्ताप के सागर का कोई अन्त नही था।

पुत्र शोक की बात कह रहे है महाराज ! अन्तत बडी बहन अस्ति ने ही अपना सिर उठाया था। अब शम और सकोच कसा ? नियति के एक क्रूर झटके न ही जिसका सब कुछ समाप्त कर दिया था उसक लिए कहा का सकोच और कसी शम ? आचल सिर स सरक चुका था जिस व्यवस्थित करन का भी उसन कोई प्रयास नही किया। चन्द्रमुख को काले भयावह मेघ शावको की तरह घेरे अव्यवस्थित केश और सिन्दूर रहित सीमन्त तथा रात रोत सूज आई बडी बडी अश्रुपूरित आखो न उग्रसन को अब वास्तविकता स पूरी तरह परिचित करा दिया था। प्राप्ति यद्यपि सिर झुकाए ही बठी रही पर उसकी स्थिति का अनुमान भी उग्रसेन सहज ही कर सकत थे।

उग्रसेन का अन्तर पूरी तरह द्रवित हो गया। कंस का दोष था, होगा, पर इन दो निरीह नारियों का क्या अपराध था? इन्होंने तो जैसा उन्होंने सुन रखा था अपने पति को सुमार्ग पर ही लाने का सतत प्रयास किया। पर अब तो उनका संसार पूरी तरह स्वाहा हो गया। जिसका श्वसुर जीवित हो उस वैधव्य का वरण करना पड़े यह कैसी क्रूर विडम्बना थी? उग्रसेन सोचते जा रहे थे। इसी मध्य किसी ने उनके बैठने के लिए एक रजत-जटित मचक रख दिया था। प्रांगण-मध्य ही वे उस मचक पर बैठ गए थे। अधिक देर वे खड़े भी तो नहीं रह सकते थे। कारा-जीवन ने उन्हें दुर्बल तो कर ही दिया था। अस्ति और प्राप्ति नीचे ही बैठी रहीं। उनकी आंखों से अश्रुपात जारी था, यह बात महाराज उग्रसेन से छिपी नहीं रह सकी। अस्ति तो पर्दा विहीन हो ही गई थी अतः उसकी स्थिति वे सहज ही अवलोकित कर रहे थे, प्राप्ति की सिसकियां और उसका गीला मुखावरण उसकी करुणा-पूर्ण स्थिति का अभिज्ञान करा रहे थे।

'क्या यह हत्या आवश्यक थी महाराज? मेरे पति यदि पथभ्रष्ट हो रहे थे तो मृत्यु के अलावा और दण्ड विधान भी तो हो सकता था?' अस्ति ने भरी आंखें उठाकर पूछा। आखिर वह विख्यात मगध-नरेश की लाडली पुत्री थी। इस संकट काल में भी उसका दर्प उसके स्वर पर चढ़ आया था।

मृत्यु का दण्ड सदा मृत्यु ही तो नहीं होता। मृत्यु पर विजय जीवन में भी तो प्राप्त की जा सकती है। अपराधी को सुधरने का अवसर भी तो प्रदान किया जा सकता है? उग्रसेन को चुप पाकर अस्ति ने ही कहा था।

महाराज उग्रसेन उसकी बात को ठीक से समझ सके थे। कंस का वध आवश्यक नहीं था। उसे उन्हीं की तरह कारागार में भी तो डाला जा सकता था? तब कम-से-कम इन दो नारियों को ऐसा दयनीय जीवन जीने को बाध्य नहीं होना पड़ता? आखिर कंस तो उन्हीं का बेटा था? आज नहीं कल सिंहासन तो उसे ही विधिवत मिलने वाला था? क्या होता उग्रसेन अगर कारा में ही समाप्त हो जाते? तब कम से कम फूल-सी दो पुत्र-वधुओं को इस तरह भू-लुंठित देखने को तो बाध्य नहीं होते वे? पर इसमें उनका अधिकार ही कितना था? सब कुछ तो नियति के इंगित पर हो रहा था उग्रसेन सोच जा रहे थे। कंस-वध के समय तो वे स्वयं कारागार के बंदी थे।

'तुम जानती हो तुम मेरी पुत्रियों से कम नहीं पर जो कुछ हुआ उसमें मेरा योगदान ही कितना था? सब कुछ दैवी इच्छा के अधीन होता है। तुम्हारे पति और मेरे पुत्र का नहीं रहना भी दैवी विधान ही है।

'यह आप कह रहे हैं महाराज?' अस्ति ने सहसा ऊंचे स्वर में पूछा था। आंखों का पानी प्रायः सूख गया था।

क्या आप मथुरा के राजमहल में और इसके आस-पास चल रही दुरभि सन्धि से पूर्णतः अनभिज्ञ थे? इसे आप शपथ के साथ कह सकते हैं? अस्ति ने आगे पूछा था क्या अपने ही पुत्र के वध में आपकी मूक या प्रत्यक्ष सहमति नहीं थी? हम महलों में बन्दी थीं तो क्या? महाराज हमारी बातों को सुनकर भी अनसुनी कर देते थे उससे भी क्या? पर हमारे भी अपने स्रोत थे। आज ने दास-दासियों तक ने हमसे मुंह मोड़ लिया है, कल तक तो ये ही बाहर की सारी सूचना अन्दर तक पहुंचाते थे। आपके पूर्व अमात्य ने आपका ही समर्थन पाकर पूरी प्रजा और

सेना को दिवगत महाराज के विरुद्ध कर दिया वर्ना उस ग्यारह वर्ष के किशोर म क्या शक्ति थी कि महाराज के आगन मे ही वह उनकी हत्या कर जाता ?

उग्रसेन क्या बोलें ? बात तो ठीक ही कह रही थी अस्ति। पर भावुकता म जो कुछ हुआ उसका उन्ह अब हार्दिक पश्चात्ताप था। उन्होंने खुल मन से कहा, "माना तुम जो कह रही हो, उसमे सत्य का भी कुछ अश है, पर मनुष्य विधाता के विधान के समक्ष सवथा असहाय है। हो सकता है मेरी बुद्धि भी मारी गई हो पर अब मैं इतना कह सकता हू कि मथुरा के राजमहल म तुम्ह कोई कष्ट नही होगा। तुम दोनो मेरी पुत्रियो की तरह ही यहा रह सकती हो। तुम्हें किसी प्रकार का ।"

'नही,' महाराज उग्रसेन अपनी बात पूरी भी नही कर पाए थे कि अस्ति बीच म ही किसी आहत सिंहनी की तरह बिफर पडी, "मैंने इसलिए आप तक अपना सदेश नही भिजवाया था।'

"तब ? उग्रसेन हतप्रभ म बोले।

"आप हम दोनो के पित गह जाने का प्रबध करें आज और अभी। मथुरा के इस अभिशप्त महल म हम अब एक क्षण भी रहना पसद नही।' उग्रसेन ने सुना और समझा भी। यह बात अस्ति नही बोल रही थी। यह स्वर था मगध-नरेश जरासध का जो उसके स्वर पर चढ रहा था। वह जानती थी कि महाराज के नही कहने के साथ ही किसी न किसी उपाय से वह अपना सदेश अपने पिता तक पहुचा ही देगी और फिर जरासध को मथुरा पर चढ आने से कौन रोक सकता है ? जरासध ऐसे भी अब मथुरा को शात कहा रहने देने वाला था, उग्रसेन के मन ने तर्क किया। जामाता के वध की बात जरासध की तरह अहकारी व्यक्ति बर्दाश्त कर ले यह हो नही सकता था। भविष्य उग्रसेन के समक्ष शीशे की तरह स्पष्ट था। ऐसी स्थिति म जरासध की इन दो पुत्रियो को राजमहल म पालना दो सर्पिणियो के पालने से कुछ कम नही था। व्यर्थ ही ये यहा की गतिविधियो की सूचना अपने पिता तक प्रेषित करती रहेगी और जरासध जब आक्रमण करेगा तब बदले की भावना से ग्रस्त और विक्षुब्ध उनकी अपनी ही पुत्र-वधुए उन्ही की जड काटने हेतु किसी नए दुरभिसधि का सूत्रपात कर बठेंगी। उग्रसेन वृद्धावस्था की ओर बढ चले थे तो क्या, उन्ह इतना अनुमान तो था ही कि एक नही दो दो युवती पूर्व पटरानिया अगर उनके महल म आग लगाने पर उद्धत हो जाय तो उस हवा देने वालो की भी कमी नही रहेगी। अत अपनी भावुकता को नियन्त्रित कर उन्होंने राजनीति का सहारा लिया और स्पष्ट कहा — 'तो तुम लोगो ने सोच लिया कि तुम्ह यहा नही रहना है ? म अब भी कहूगा कि पति का घर नारियो के लिए सदा सुरक्षादायक होता है। मेरा पुत्र नही रहा तो क्या उसका पिता तो अभी जीवित है।

'जहा पति के हत्यारे बसते हो वहा हम अब एक क्षण भी रहने का कोई प्रश्न ही नही उठता। आप अपने को उस पुत्र का पिता बता रहे है जिसके वध के आप कारण है। पुत्र-हन्ता पिता के महल म रहने का हमारा अब कोई प्रयोजन नही।

बात लगने वाली थी। उग्रसेन को लगी भी। पर राजनीति का तकाजा था कि बात को अधिक तूल नही दिया जाय वर्ना जो घटना चार छह माह बाद घट

सकती थी वह इन दोनों के पितृगृह पहुँचते ही घट सकती है और जैसा कि इनका रुख था, वे इन्हें जाने से रोक भी नहीं सकते थे। इन्हें अधिक उत्तेजित करना उचित नहीं था। उग्रसेन ने उन्हें तत्काल भेजने का निर्णय कर लिया।

तुम दोनों प्रस्तुत हो जाओ। रथ अभी सजकर आता है और हाँ, मगध की राजधानी यहीं नहीं है। वहाँ पहुँचने में कुछ समय लगेगा। रास्ते में पड़ाव डालने होंगे। अतः तुम्हें पूरी सुरक्षा के साथ भेजना हमारा धर्म है। तुम्हारे साथ मथुरा की सेना की एक टुकड़ी तो रहेगी ही, कोई एक महान योद्धा भी उसके साथ जाएगा?

वह महान योद्धा कौन होगा? अस्ति ने सीधे पूछा।

सेनाध्यक्ष तो मारा ही गया है। ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण के सिवा ...।'

क्या कह रहे हैं महाराज? अस्ति जैसे नागिन बन आई। प्राप्ति ने भी अपने सिर का घूँघट उतार फेंका। उनकी आँखों के आँसू भी कभी के सूख चुके थे और वे एक हिंस्र चमक से भरी थीं, ठीक वैसी ही चमक जो आक्रमण-पूर्व किसी क्रुद्ध सर्पिणी की आँखों में उभरती है ... जो व्यक्ति हमारे पति का हत्यारा है वह हमारा संरक्षक और सहायक बनकर जाएगा? हम जिसका मुँह भी नहीं देखना चाहतीं, उसे आप हमारा शुभचिंतक बनाकर भेज रहे हैं?

मैंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया था। उग्रसेन को अपनी भूल का अनुमान हुआ। मेरा ध्यान तो तुम्हारी सुरक्षा पर था। खैर कृष्ण न सही बलराम को तो तुम्हारे साथ करना ही पड़ेगा। तुम जो कहो, किंतु हो तो तुम मेरी पुत्रवधुएँ ही, मैं तुम्हें दुर्बल हाथों में नहीं सौंप सकता और राजधानी की जैसी स्थिति है, सहसा अभी किसी पर विश्वास भी नहीं किया जा सकता। बलराम को मैं जानता हूँ, वह उन्न बुद्धि में श्रीकृष्ण से बीस ही है और फिर उसके गाम्भीर्य और न्यायप्रियता का क्या कहना? तुम्हें मेरा यह अनुरोध तो मानना ही पड़ेगा।

इस पर किसी ने कुछ नहीं कहा और उसी दिन बलराम के संरक्षण में अस्ति और प्राप्ति मगध-नरेश के घर के लिए विदा हो गईं।

दो

जब श्रीकृष्ण ने महाराज का यह निर्णय सुना तो उन्होंने सिर पीट लिया। अस्ति और प्राप्ति को पितृ-गृह भेजने का अर्थ था प्रज्वलित अग्नि में घृत की आहुति देना। जरासंध अपनी विधवा, विवर्णमुखी और विवश पुत्रियों को अवलोकित कर अपने में रह पायेगा क्या? यादवों से विशेषकर श्रीकृष्ण के निरंतर वर्द्धिशील प्रभाव और उनके सम्बन्ध में फैलती जा रही चमत्कारपूर्ण कहानियों के कारण वह पहले ही से खार खाए बैठा था। अपनी पुत्रियों की दुर्दशा का प्रत्यक्षदर्शी बनते ही वह साक्षात कृतान्त (यमराज) बन जायेगा और मथुरा के अस्तित्व को ही इस धरती से समाप्त करने को कृतसंकल्प हो जायेगा। पर अब किया भी क्या जा सकता था? बड़े भाई बलराम एक बड़ी वाहिनी के साथ महाराज की आज्ञा पर मगध की राजधानी के लिए प्रस्थान कर चुके थे। श्रीकृष्ण को लगा ऐसे में बलराम

का एकाकी जाना उचित नही था। श्रीकृष्ण भी साथ रहते तो दोनो भाई किसी अप्रत्याशित विपत्ति का मिलकर सामना करते। पर उन्होंने भी सोचा उनको नही भेजने का निर्णय लेकर महाराज उग्रसेन ने अच्छा ही किया। जरासंध की धधकती क्रोधाग्नि को प्रज्वलित करने के लिए अस्ति प्राप्ति ही पर्याप्त थीं। इस आग को श्रीकृष्ण का मगध-नरेश के यहा आगमन और हवा ही देता।

श्रीकृष्ण जानते थे उनके पास समय कम था। जरासंध बलराम का कुछ अनिष्ट नही करेगा क्योंकि वे उसके अतिथि बनकर गए थे। ऐसे भी बलराम की वीरता चतुर्दिक विख्यात हो चुकी थी और उनके साथ एक सशस्त्र वाहिनी भी थी। बिना पूर्व तैयारी के अपने प्रांगण में पाकर भी वह बलराम के सदृश शूर को ललकारने की गलती नही कर सकता था। पर अपनी पुत्रियों के ललाट से सिंदूर पोंछनेवाले को वह शांति से बैठने दे यह भी उसकी प्रकृति में नही था। वह पहले तो कुछ विलम्ब भी करता पर उसकी बिलखती पुत्रियों की व्यथा उसे विवश कर देगी यथाशीघ्र सम्पूर्ण तैयारी के साथ मथुरा पर चढ़ आने को। अब सारी शक्ति मथुरा को सबल करने में सुनियोजित करने में लगानी थी। जरासंध का सामना सन्निकट था। श्रीकृष्ण ने सर्वप्रथम तो अपने माता पिता वसुदेव देवकी को सुव्यवस्थित किया। पुत्र प्रेम से वंचित दम्पत्ति को भरपूर प्यार और स्नेह प्रदान करने का अवसर दिया और फिर वृंदावन और गोकुल की भी चिंता की। कंस वध के पश्चात् बहुत से गोपाल गोकुल के अपने पुराने घरों को लौट गए थे। उन्होंने दूत भिजवा कर उनका कुशल मंगल पुछवाया। गोपियों और ग्वाल-बालों से वे शीघ्र लौटने की प्रतिज्ञा करके आए थे किन्तु अब मथुरा को असुरक्षित छोड़ कर जाने का प्रश्न ही कहा था? पर जिन गोपियों और गोपालकों ने उन्हें निश्छल और निःस्वार्थ प्रेम दिया था उन्हें वे भूल जायें यह भी नही हो सकता था। गोप तो अपना समय वन में बछड़े और गाय-वृषभ चराकर भी काट लेंगे पर गोपियां? वे तो उनकी मांग ढूंढती ही रह जायेंगी। उनके वचन को वह पत्थर की रेखा मान बैठी होंगी और ऐसे में उन्हें सांत्वना के दो शब्द भी नही सम्प्रेषित करना भारी क्रूरता होती।

कंस-वध के बाद श्रीकृष्ण के व्यस्त जीवन को व्यस्ततम बना रहे थे। कंस का वध क्या हुआ उनका सारा चांचल्य, उनकी सारी स्वच्छन्दता, एवं तरह से उनका सम्पूर्ण कैशोर्य ही कंस के शव के साथ ही भस्म हो गया। दायित्वों से भागना कालिय-नाग को भी नाथने वाले श्रीकृष्ण ने सीखा ही कब था? कर्म-पथ पुकार रहा हो तो और सारी पुकारें, प्रार्थनाएं और मनुहारें व्यर्थ थीं। नही, वे अब नही जा पायेंगे गोकुल अथवा वृन्दावन। भले ही इसके लिए उन्हें मिथ्यावादी अथवा धूर्त घोषराज के विशेषणो से ही क्यों नहीं विभूषित होना पड़े।

पर वह वृषभानु कुमारी? वह राधा? वह क्या सोचेगी उनके सम्बन्ध में? राधा का स्मरण होते ही श्रीकृष्ण की आखें अश्रु पूरित हो आइं। नहीं राधा कुछ भी अन्यथा नही सोचेगी उनके सम्बन्ध में। वह जानती है दोनो एक-दूसरे के मन प्राणो में रचे-बसे हैं। समय और स्थान की दूरी का उनके लिए कोई अर्थ नही और नहीं अर्थ है उनके वचन के भंग होने अथवा नही होने का। राधा को जानना

होगा कि उनके लिए श्रीकृष्ण से लिये वचन का महत्त्व होना चाहिए न कि उनके द्वारा स्वतः लिए वचन का। राधा ने श्रीकृष्ण को युग-पुरुष के रूप में देखना चाहा है तो वह उसी रूप में उन्हें देखने की प्रतीक्षा करे। कंस-वध उसने चाहा था। श्रीकृष्ण ने उसे सम्पन्न कर दिया। उसने और बहुत कुछ चाहा है वह भी वह कर देंगे। काश, आज उनके पास इतना भी समय होता कि वे कंस-वध के उपलक्ष्य में राधा को बधाई भी ले पाते। पर आवश्यकता नहीं इसकी। कृष्ण की विजय राधा की ही विजय नहीं है क्या? तो उन्हें बधाई देने जाना है या लेने? नहीं राधा इसकी अपेक्षा भी नहीं करती होगी। वह तो उनके उत्कर्ष के एक-एक सोपान की गणना में ही व्यस्त रहेगी—आजीवन—उसे भौतिक औपचारिकताओं से क्या लेना-देना? आनेवाला काल भले श्रीकृष्ण की सारी उपलब्धियों के लिए उन्हें ही श्रेय दे पर वे जानते हैं कि उपलब्धियाँ जो हो रही हैं और जो होंगी उनके मूल में कृष्ण नहीं राधा रही है रहेगी। राधा! उनके मुख से अनायास निकला, अब क्या इस जीवन में कभी उसका साक्षात्कार होगा? शायद हाँ, शायद नहीं। अगर हाँ भी तो शायद वह नहीं के समान ही हो। पर क्या और कैसा साक्षात्कार उसका जो सदा अन्तर ही बैठा कर्म की बागडोर सँभाले हो। आँखें मूँदते ही जो दिख जाता अथवा दिख जाती हो उससे चाक्षुष-साक्षात्कार का क्या अर्थ क्या प्रयोजन? पर गोपियाँ? उनको दिया वचन? इस सम्बन्ध में तो कुछ करना ही होगा। वे सभी राधा तो नहीं हैं। उनको दिए वचन की रक्षा नहीं हो तो रक्षा नहीं कर पाने की विवशता को तो उनके समक्ष प्रकट होना ही था। और श्रीकृष्ण ने एक निर्णय लिया। वे नहीं जा सकते ब्रज तो किसी और को तो भेज ही सकते हैं जो उनकी भावनाओं को ठीक-ठीक समझता हो नहीं हो, उन्हें ठीक ठीक ब्रजबालाओं तक सम्प्रेषित भी कर सकने में सक्षम हो। चुन लिया था मन-ही-मन श्रीकृष्ण ने इस व्यक्ति को और दूसरे प्रात ही उसे प्रस्थान कर जाना था ब्रज की ओर तथा श्रीकृष्ण को पूरी तरह व्यस्त हो जाना था नगर की सैन्य शक्ति के सुदृढ़ीकरण में।

तीन

उद्धव को अपने दायित्व के महत्त्व और उससे सम्बन्धित बाधाओं का जरा भी बोध होता तो वे ब्रज की तरफ मुख हो नहीं करते। यह ठीक था कि वे श्रीकृष्ण के अंतरंग सखा बन बैठे थे और उनके लिए प्राणों तक के उत्सर्ग को प्रस्तुत थे पर उन्हें कहाँ पता था कि उनके प्राणों के बलिदान के बल पर भी यहाँ शत सहस्र कंठगत प्राणों की रक्षा असम्भव सी थी। काश! वे कुछ दिन श्रीकृष्ण के साथ व्रज में बिताये रहते तो उन्हें श्रीकृष्ण के प्रति ब्रजवासियों के अपार प्रेम का भान होता और तब वे श्रीकृष्ण के लाख समझाने पर भी यह दुष्कर कार्य सम्पादित करने को किसी भी प्रकार प्रस्तुत नहीं होते।

उद्धव के स्वर्ण-मंडित रथ ने ब्रज की सीमा में प्रवेश किया तो अंधकार घिरने घिरने को था। गोधूलि की बेला थी वह। गौएं वनों से घरों को लौट रही थीं। मयूरों की पंक्तियां पर फड़फड़ाते हुए लता-कुंजों की शरण ताक रही थीं। पश्चिमी क्षितिज पर लालिमा कुछ-कुछ निशेष थी पर वह भी ब्रज से गए श्रीकृष्ण की तरह ही विदा लेने वाली थी। अंधकार के अभी पूरी तरह नहीं घिर आने के कारण वृंदावन अपनी सम्पूर्ण श्री सुषमा और ऐश्वर्य के साथ उद्धव के नेत्रों के समक्ष बिछा पड़ा था। ऊंचे ऊंचे आकाश-स्पर्शी वृक्ष, उनकी जड़ों से लेकर शीष तक लिपटी, पल्लवित-पुष्पित लताएं। मार्ग के दोनों ओर विविध रंगी पुष्पों से बोझिल, स्वर्गिक गंध बिखेरते अगणित पेड़-पौधे, लता-गुल्म। स्फटिक की तरह स्वच्छ जल से पूरित और कमल-पुष्पों तथा कुमुदिनियों से आच्छादित छोटे-बड़े सरोवर पुष्कर और पुष्करणियां। इनके पुष्पों पर डोलती, मचलती, मदमाती द्विरेफ (भ्रमर)-पंक्तियां और इन सारे पुष्पों, खिली-अध खिली कलियों के स्पर्श से बोझिल गंध-वाही वायु जो उद्धव के उत्सुक नासा-पुटों में अबाध प्रवेश पा उन्हें मदहोश बनाये जा रही थी।

उद्धव को पता ही नहीं था कि इस धरती पर भी नंदन-कानन के सौंदर्य और रूप-गंध को मुंह चिढ़ाता एक वन था जो कहने को तो वृंदा (तुलसी) वन था पर जहां प्राप्त वृक्षों और पौधों की शायद नंदन वन में भी कहीं कोई उपमा नहीं थी। यह कृष्ण के यहां कुछ दिनों के वास के कारण था अथवा यह वन था ही पहले से ऐसा इस बात का चिंतन करने लगे श्रीकृष्ण-सखा उद्धव। उन्हें ज्ञात था उनके सुहृद के पूर्ण ईश्वर अंश संभूत की बात इधर अधिक ही जोर पकड़ रही थी। वृंदावन के उनके पराक्रमों की गाथाएं हवाओं पर चढ़कर दिशाओं तक तो फैल ही चुकी थीं, जब से उन्होंने महाबलशाली कंस का वध किया था तब से उनके अवतार अथवा स्वयं ईश्वर होने की बात सबकी जिह्वा पर थी। तो जहां ईश्वर (पुरुष) का वास होगा वहां प्रकृति तो उसकी चेरी बनकर रहेगी ही। ऐसी स्थिति में अगर वृंदावन में पग-पग पर प्राकृतिक सुषमा बिखरी पड़ी थी तो इसमें आश्चर्य क्या, उद्धव ने सोचा।

उद्धव का गन्तव्य निर्धारित था। गोधूलि के इस अन्तिम प्रहर में यत्र-तत्र न भटककर उन्हें सीधे नन्द-गृह पहुंचना था। मुख्य कार्य तो उनका गोपियों से निबटना था। नन्द तो खैर अनुभव-पूर्ण और व्यावहारिक व्यक्ति थे। स्थिति से समझौता तो उन्होंने उसी दिन कर लिया होगा जिस दिन कंस-वध के पश्चात् कृष्ण और बलराम शेष सब कुछ भूल वसुदेव और देवकी की ओर लपके थे और चारों की आंखों से अजस्र जलधारा फूट पड़ी थी। हां कंस ने उन्हें आठवीं सन्तान के वध के पश्चात् ही बंधन मुक्त कर दिया था उद्धव ने सोचा पर इसमें वसुदेव और देवकी के प्रति उसका ममत्व सहायक बना हो यह बात नहीं, कंस क्रूर होने के साथ-साथ चतुर भी था और उसने अब विष-हीन व्याल-जोड़े को व्यर्थ में दुग्ध पान कराने जाने की आवश्यकता नहीं समझी थी। आखिर उन दोनों के रख-रखाव और देखभाल पर नित्य कोष से कुछ राशि तो जानी ही थी।

उद्धव न पाया, सहसा उनकी दृष्टि धूमिल हो गई थी। नहा यह सहगती सायकालीन स्याही का प्रभाव नही था। दिशाए तो पश्चिम म छिप चुक उस थक हारे गही रश्मिपुज सविता क अवसान क पश्चात भी अभी तक बहुत हद तक आलोकित थी। तब क्या बात थी ? उद्धव को इसक भेद का पता तब चला जब उनकी स्वय की आखा स निस्सत जर बूदें उनके पीताम्बर पर वर्षा की बूदा की तरह टप-टप कर आ पडी। ता आखें भर आई थी उद्धव की ! भर ही नही आई थी वर्षाकालीन कालिन्दी (यमुना) की तरह वे सीमाए भा तोड चुकी थी और जल पलका रूपी तटा क बधन क अस्तित्व का अस्वीकार कर बाहर आन को व्याकुल था।

ऐसा क्यो हो रहा था उद्धव न सोचा। एक साधारण नागरिक और उस किशार कृष्ण-सखा मे सहसा दाशनिक बन जाय थ उद्धव। रुलाना इस कृष्ण की प्रकृति म ही है क्या ? पता नहा जस रजक जल द्वारा वस्त्रा को बाह्य मल स मुक्त करता है वस ही शायद यह अद्भुत और नटखट कन्हैया दूसरो की आखा के जल म उन्ही क अन्तर का प्रक्षालन करता है उन्हे मल मुक्त करता हो ? वह पूरे वृदावन नन्दग्राम और गोकुल को रुला ही गया। उस दिन उसने वसुदेव और देवकी को भी खूब रुलाया था। आज उसी दृश्य का स्मरण कर उद्धव की आखें भी अश्रु-पूर्ण हो आई थी—उनका भी अतर प्रक्षालन हो रहा था। अतत एक अत्यत गुरुतर भार को सम्पादित करना था उन्ह ! नन्द और यशोदा के साथ गाप गापियो के वहत समुदाय को सात्वना क सार-हीन शब्दा क आधार पर आश्वस्त करना था ! उन्ह ता आतरिक शक्ति की आवश्यकता थी ही अत उनका स्वय का प्रक्षालन पहल आवश्यक था। देवकी-वसुदेव और कृष्ण बलराम का वह मिलन-दृश्य उनके स्मृति-पटल पर सहसा पूरी तरह उभर आया था। जस किसी चित्रकार न इस डूबत सूरज की असीम अनत विस्तारी लालिमा म अपनी तूलिका डुबोकर वह पूरा दृश्य खीच लिया हो उनक अतर की आखा के समक्ष। उन चारो का बार-बार आपस म लिपटना यशोदा का कभी बलराम तो कभी कृष्ण का अपन अतर म समेटना वसुदेव का बारी-बारी स उनका सिर सूघना जस व किन्ही मानव शीशो का नहा अपितु दो प्रस्फुटित पुष्पो का पुन -पुन आघ्राण ल उनके सुगधित पराग को पीन म व्यस्त हा। वे स्मरण नही करना चाहते हैं पर दृश्य लाख प्रयास के पश्चात दृगो के सामन स हटता ही नही कि देवकी की कचुकी प्रसव क ग्यारह वर्षों बाद भी पूरी तरह भीग आइ थी। दुग्ध की धवल धारा वस्त्र के व्यवधान को नकार बाहर बह चली थी। नही बलराम और कृष्ण न बालकोपम व्यवहार का परिचय नही दिया था—वर्ना वे व्यथ बहत जान पय धार रूपी उस अमृत धार स अपने होठो का लगा भी सकत थे। पर सावजनिक रूप से सम्पन्न यह कृत्य कुछ हास्यास्पद नही हो जाता क्या ? बलराम ने तो फिर भी अपनी माता रोहिणी के अमृतोपम दुग्ध का पान किया था पर इस कृष्ण को अपनी जननी के पय-पान का अवसर कहा मिला था ? देवकी का दूध तो व्यथ ही बह गया था उस रात भी जिस काली स्याह रात मे इस रहस्यमय बालक न जन्म ग्रहण किया था। अगर उसे स्तन पान कराने क लोभ म वह क्षण भर का भी विलम्ब करती ता उनके पयोधरा का अमृत विष म ही परिवर्तित नही हो जाता ? नहा समय नही था देवकी के पास इसके लिए और कृष्ण को शीघ्राति

शीघ्र कारा मुक्त करना था उसे। और अब कैसी विडम्बना है, उद्धव सोचे जा रहे थे कि अब समय ही समय था कृष्ण को, वसुदेव और देवकी के लिए और समय नहीं था तो ब्रज के इन अभागे गोप गोपियों के लिए जिन्होंने ग्यारह वर्षों तक अपने समय का क्षण क्षण उन पर लुटाया — अपने सोते जागते अस्तित्व का इन्हें साक्षी बनाया। जैसे वह सदा सबका के लिए इनका ही होकर आया हो।

उद्धव ने आखों को पीताम्बर से पोछा था। धूमिल पड़ी दिशाएं बहुत कुछ स्पष्ट हो गई थी। ऐसे तो पश्चिम के क्षितिज से विदा होती लाली भी ब्रज की गलियों में कालिमा बिछाने लगी थी, पर आखों के पानी का बरबस रोक वह अपनी स्थिति का सही अनुमान लगाने में सफल हो रहे थे। नन्द महल अब कुछ ही दूर रह गया था। वृन्दावन के इस भाग में स्वर्ण मंडित, गगनस्पर्शी कंगूरे नन्द के सिवा किसी और के हो नहीं सकते थे। सारथि को उन्होंने संकेत दे दिया और फिर अपने सोच में डूब गए। क्या आखें भर भर आती हैं यहां ? देखा तो उन्होंने वसुदेव-देवकी और बलराम कृष्ण के मिलन को मथुरा में ही था। सारा दरबार उठ गया था तब भी देर तक चारों एक-दूसरे से पृथक नहीं हो रहे थे। चारों की आखों में भी जलधार उसी तरह जारी थी जैसे शायद कृष्ण के जन्म के काल आकाश में मेघ धार धरती को किसी प्रलय-पयोधि में ही बदलने को आतुर थी। पर कहां गए थे उद्धव उस समय भी वहां से ? उनके सभी के चले जाने पर वही इन चारों को समझाने पहुंचे थे—"संयोग और वियोग तो सृष्टि का नियम है। जो मिलता है वह बिछुड़ता है जो बिछुड़ता है वह मिलता भी है। माना, बलराम और कृष्ण को इतने दिनों तक आपसे पृथक रख प्रकृति ने बहुत बड़ा अन्याय किया है। पर नियन्ता के हर कार्य के पीछे कोई मंगल विधान ही छिपा रहता है। माना, कृष्ण को मां के दूध से भी वंचित रहना पड़ा,' उद्धव ने भीगी कंचुकी का मानी के छोर से ढकने का प्रयास करते हुए देवकी की ओर देखते हुए कहा था 'पर आप क्या भूल जाती हैं कि आपको वंचित कर आपके पुत्र ने किसी और के आंचल को किस प्रकार धन्य किया ? यशोदा को मिले सुख को नन्दरानी को मिले परितोष को अपना ही सुख, अपनी ही उपलब्धि मानें तो वियोग के ये वर्ष बहुत भारी नहीं पड़ेंगे।

उद्धव की बात पर चारों खुले तो हो गए थे पर कृष्ण की आखों में सहसा एक चमक उभरी थी। शायद संकल्प का कोई भाव, किसी निर्णय की कोई झलक। उद्धव आश्चर्य चकित थे कि जिन आखों का पानी अभी क्षण भर पहले तक रोके नहीं रुकता था वे आखें सहसा ग्रीष्मकालीन नदी की तरह कैसे सूख गई थीं और सिकता कणों की तरह ही यह चमक कैसे प्रकट हो आई थी इनमें ? तो कृष्ण क्या सचमुच वही थे जो बहुत लोग कहते थे—अद्भुत, अद्वितीय और अलौकिक। क्षण भर में ही सब कुछ विस्मृत कर नये मनोभाव में प्रतिष्ठित हो जाना इस कृष्ण के ही वश की बात थी उद्धव ने सोचा था पर साथ ही उन्हें उसी समय लग गया था कि उनका भाषण महंगा पड़ा है और कृष्ण की आखों की चमक इस बात की द्योतिका थी कि उद्धव की नई उपयोगिता उस नटखट किशोर के मन में प्रकट हो गई थी जिसके कल्पित-अकल्पित करतबों ने उसे बहुतों के लिए

एक अबूझ पहेली बना रखा था। उद्धव को अब अफसोस हो रहा था। नहीं ज्ञान था उन्हें वह संयोग वियोग का भाषण उस कृष्ण की उपस्थिति में। क्या आवश्यकता थी उस पाण्डित्य प्रदर्शन की? उद्धव को अब लग रहा है उसी क्षण कृष्ण ने निर्णय ले लिया था—यही व्यक्ति उपयुक्त है ब्रज जाने के लिए। लो आग हो जाठ जाखो के आसू पोछने तो जाओ पोछो हजार-हजार नेत्रो का पानी अपने ज्ञान विज्ञान के बल पर।

यहा तक तो ठीक, पर यह ब्रज रो क्या रहा है उन्हे उतना? यह इसलिए क्या कि यही नियति है इसकी—रोना। उद्धव के ज्ञान-पूरित मस्तिष्क ने तर्क रखा। बलराम और कृष्ण क्या पुन लौटेंगे कभी यहा? और इस तथ्य का क्या ब्रजवासियो को पता नहीं? तो रो नहीं रहा है पूरा ब्रज क्या और रोएगा नहीं क्या आने वाले अनिश्चित काल तक? ऐसी स्थिति में उद्धव के सदृश भावुक मन प्राण वाले व्यक्ति को भले ही वे तर्क और सांख्य के प्रकाण्ड पण्डित हो, अगर ब्रज के कण-कण में घनी उसकी हवाओ में पूर्णतया रची-बसी अछोर अनन्त व्यथा एक अकल्पनीय, अप्रत्याशित विरह-वेदना रुला जाय तो इसमें आश्चर्य क्या? अब सही अनुमान लग रहा था उद्धव को ब्रज के दुर्भाग्य का अपने दायित्व का भी। व्यर्थ ही यह झझट मोल ले लिया था उन्होंने। उनकी सारी ज्ञान गरिमा धूल धूसरित होकर लौटने वाली है ब्रज से। भला कोई दावाग्नि को जल के चन्द छीटो से बुझा सकता है? ब्रजवासियों का दुख अनोखा और अपरिमित है व्यर्थ ही वे उसकी विरहाग्नि में अपने हाथ झुलसाने आ जुटे हैं।

बहुत भावुक नहीं थे सांख्य-वेत्ता उद्धव। जीवन की नश्वरता और जीवन जगत की सारी क्षण भगुरता से पूरी तरह परिचित थे वे। पर कही कुछ ऐसा भी है क्या जो मानव की सारी तार्किकता और उसकी जवेषक बुद्धि की पकड से भी परे रह जाता है? जो कुछ दिखता है सचमुच वही सब कुछ नहीं है क्या? कही जो कुछ नहीं दिखता है वही इस दृश्यमान जगत से अधिक व्यापक और विशिष्ट तो नहीं? कोई और शक्तिया भी सूक्ष्म रूप से कार्यरत हैं क्या इस विश्व ब्रह्माण्ड के सचालन में और मनुष्य समझता है कि वह सब कुछ जान कर बैठा है—हस्तामलकवत है प्रकृति का सम्पूर्ण भेद उसके समक्ष बल्कि जो कुछ घट रहा है वह मात्र प्रकृति की पूर्व नियोजित योजना से अधिक कुछ नहीं है—? प्रकृति ही स्वत सचालित कर रही है सब कुछ। कहीं नहीं है कोई आत्मा परमात्मा कोई अनात ब्रह्म कोई अप्रकट बाह्य शक्ति, कोई दैवी विधान? तब क्या खोए चले जा रहे हैं उद्धव ब्रज की इन गलियों मे? अगर नहीं है किसी भी अदृष्ट का अस्तित्व तो किसने घोल दिया है ब्रज की इस वायु में रुदन रुदन और केवल रुदन। कैसे प्रभावित हुए है यहा के कण कण किसी अदृश्य भाव से, कह लें ऊर्जा से ही जिसने पीड़ा की दुख की विरह और वेदना की ही व्यथा गाथा घोल रखी है इन ब्रज वीथियों में। नहीं होती मन की भी तरंगें क्या भावनाओं की और सोच की? तब क्या कुछ छू रहा है उद्धव के तथाकथित ज्ञान सम्पन्न मन मस्तिष्क को कि विचलित ही होते जा रहे हैं वह जैसे उनकी नियति

रवि रश्मियों के समक्ष पड़े एक हिम-खण्ड से अधिक कुछ नहीं है, पिघलना ही जिसका प्रारब्ध है थोड़ी भी आंच का स्पर्श पा।

चार

युद्ध, युद्ध और युद्ध ! क्या इसी विनाशकारी कृत्य के लिए ही जन्म लेना पड़ा है कृष्ण को? बचपन और किशोरावस्था में ही जो युद्धाग्नि में आहुतियां डालनी उन्होंने आरम्भ की, उसका सचमुच कोई अन्त नहीं था क्या? बकासुर, अघासुर, वत्सासुर और कालिय नाग के साथ जो युद्ध आरम्भ हुआ उसकी परिणति अपने ही मातुल कंस के वध में हुई। माना, ये छिटपुट युद्ध थे। सही अर्थों में इन्हें युद्ध कह भी नहीं सकते, अधिक-से-अधिक मल्ल-युद्ध की ही संज्ञा दी जा सकती है इन्हें, पर अन्ततः परिणाम तो यही हुआ इनका जो किसी भी युद्ध का होता है—वध, मृत्यु। और कैसा लगा था कृष्ण को अपने ही मातुल का वध कर? उस समय अतिरेक उत्साह में उन्होंने भले ही इस तरफ ध्यान नहीं दिया हो और एक अत्याचारी के अन्त का श्रेय प्राप्त कर कुछ दिनों तक मिथ्या आत्मतोष से भरे रहे हों, पर अस्ति और प्राप्ति के राजभवन छोड़ते ही उन्हें अपने कृत्य पर पश्चात्ताप होने लगा था। एक ही साथ दो मांगों को सिन्दूर विहीन कर उन्होंने अच्छा किया था क्या? अपने ही हाथों अपने सगे मामा के प्राणों को हर कर उन्होंने किस आदर्श की स्थापना की थी?

मामा कम बुरा था—अत्याचारी, क्रूर, अन्यायी और बाल-हन्ता। पर हिंसा का उत्तर हिंसा ही होती है क्या? घृणा से घृणा कभी विजित हुई है? अन्याय को न्याय से दमित किया जा सकता है कि एक अन्याय के बदले असंख्य अन्यायों का सहारा लेकर? कंस की मृत्यु में केवल कंस ही मरा है क्या? मात्र उसी के अहंकार, दंभ अथवा क्रूरता की समाप्ति हुई है उसके प्राणों के अन्त के साथ? अस्ति प्राप्ति पर तो जो बीती सो बीती, कंस के और सम्बन्धी क्या कुछ कम उत्पीड़न के शिकार हुए हैं? महाराज उग्रसेन? भले ही ऊपर से वे संयत दिखते हों—जो हो गया उसे प्रारब्ध मानकर नियति के साथ समझौता कर लिये प्रतीत होते हों पर अन्दर से उन्हें पुत्र शोक उद्विग्न नहीं करता होगा? पुत्र कैसा भी आचरण करे पर पिता का अंश-सम्भूत ही तो होता है वह? उसके लिए पिता की ममता कभी निःशेष हो सकती है भला? भले ही सामयिक आवेश में वह पुत्र को दण्डित करने को भी प्रस्तुत हो जाय पर उसे दण्डित प्रताड़ित करने का अर्थ स्वयं को ही पीड़ित करना नहीं होता क्या? और उसकी मृत्यु में पिता स्वयं अपनी मृत्यु नहीं देखता क्या? पुत्र का अन्त, अन्ततः पिता का ही अन्त तो है—उसकी वंश-परम्परा का आकस्मिक अन्त। महाराज उग्रसेन को वह राज्य-सिंहासन पुष्पों से आच्छादित सुकोमल और आनन्ददायी लगता होगा अथवा शूलों पर बैठा अनुभव करते होंगे वे अपने को? कौन समझ पाएगा उनके दर्द को? इसी तरह प्रजा-जन में सभी कंस के शत्रु ही थे क्या? किसी का कुछ भला भी तो किया होगा उसने मथुरा गण राज्य का अधिपति होकर? उसकी महानु

भूति, स्नेह और श्रद्धा क्या उन्हें शान्त रहने दे रही होगी ? और उसके नृप बन्धु ? कितना स तो उसका आत्मीय सम्बन्ध था ! उनक प्राणा पर क्या बीता होगा जब उन्होंने कस के प्राणा के अत की बात सुनी होगी ? एक की हिंसा कइया को उद्वेलित, पीडित और व्यथित नही कर गई क्या ?

माना, कस न उनके कई भाइया को जन्म लेते ही इस ससार से विदा कर दिया था पर प्रतिशोध भी एक तरह स पाप नहीं होता है क्या ? क्या कम को क्षमा नही किया जा सकता था ?

इन प्रश्नो ने श्रीकृष्ण को पहले भी व्यथित किया था, आज विशेष रूप से उद्विग्न कर रह हैं वे उन्हें। और कारण है इसका। एक भयावह भविष्य—एक भीषण नर-सहार की सम्भावना कृष्ण के समक्ष अपनी सम्पूर्ण वीभत्सता और कुरूपता म खडी है। एक का वध शत सहस्र के वध का कारण बनने जा रहा है। एक तथाकथित अन्यायी और अत्याचारी का अन्त कई निरीह प्राणिया के प्राणा की बलि लेने को उद्यत है। कस वध के साथ आरम्भ हुई शृखला कहा जाकर शेष होगी कल्पना कठिन है।

जरासध न बलराम का कुछ बिगाडा तो नही था पर उसने अपनी दुर्भाग्य पीडित पुत्रिया का सिन्दूर विहीन सिर देखते ही उन्हें आगाह कर दिया था—"जाओ, तयारी करो। एक के वध का बदला असख्य को मत्यु घाट उतारकर लिया जाएगा। धरती पर यदुवशिया की कुल-परम्परा को आगे बढान के लिए भी कोई नही बचेगा। बचेंगी तो मेरी पुत्रिया की तरह ही बिलखती, विवर्णमुखा सिन्दूर विहीना विधवाए—किशोरिया युवतिया और वृद्धाए। एक यदुवशी बालक भी ढूढे नही मिलगा इस पृथ्वी पर। कभी भृगु-पुत्र परशुराम ने क्षत्रियो से शून्य किया था इस बार मगध-नरेश जरासध यदुवशिया के भार से मुक्त कर दगा इस धरती को। जाओ वसुदेव-नन्दन, लौट जाओ मथुरा को मैं एकाकी और वह भी अतिथि की हत्या का पाप लेने वाला कायर और अविचारी नही हू। मागधी सेना कुछ ही दिना म कूच करेगी मथुरा के लिए। जाओ तुम्हारे पास समय कम है तयारी करो समर की। और हा उस मातुल हता कृष्ण को इस मध्य कही छिपा नही देना। जिसने मेरी निरीह पुत्रियों के सिर का सिन्दूर उतारा है उसकी ग्रीवा उतारने के लिए मेरा खड्ग व्यग्र हो रहा है। यदुवशिया क सर्वनाश-यज्ञ की प्रथम आहुति मैं उस उद्दण्ड किशोर को ही बनाना चाहता हू।

कृष्ण ने सुना था यह सब बडे धय से बलराम मुख से। अप्रत्याशित नहीं था यह। जरासध क सदृश अहकारी नरेश अपने जामाता के वध का बदला नही ले, यह हो नही सकता था। कृष्ण को अपने प्राणो का भी भय नही था। मृत्यु और जीवन तो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कौन मरता है और कौन जन्मता है ? यहा या तो सभी मर हैं या सभी जीवित। शरीर के रहने और नही रहन का क्या ? महत्त्व तो आत्मा का है जिसे मारना किसी के वश की बात नही। पर यह तो उनका अपना सोच था अपना सिद्धान्त, स्वय का जीवन-दर्शन जिसे समय आने पर वे पूरे विश्व पर प्रकट करना चाहते हैं और वे यह भी जानते हैं कि बचेंगे व अपने इस दर्शन को अभिव्यक्ति देने क लिए। जरासध और उसकी सम्पूर्ण

सैन्य शक्ति उनका और अग्रज बलराम का बाल बाका भी नहीं कर पायगी। अपने आत्म-बल, सकल्प शक्ति और युद्ध-कौशल मे उन्हे पूरी आस्था थी। पर उन निर्दोष लोगो का क्या होगा जो दोनो पक्षो की ओर से इस समराग्नि मे स्वाहा होगे? उन्हें अभी कौन समझाने जा रहा है कि शरीर जा रहा है तो जाने दो, आत्मा तुम्हारी कही नही जा रही? और अब समय है इसके लिए? जरासध की अगाध सैन्य शक्ति उन्हे अवसर देगी अपना जीवन-दर्शन प्रकट करने का, सत्य का उद्घाटित करने का?

नही, अब तो एक ही चिन्ता है और वह है मथुरा और मथुरावासियो की रक्षा। जरासध ने सम्पूर्ण पृथ्वी को यदुवंशियो से रहित करने की प्रतिज्ञा की है। सर्वप्रथम, वह मथुरा को ही मिट्टी मे मिलाने का मचल रहा होगा। और या अन्य-सघो की बात तो बाद मे आएगी। तब? अपनी प्रिय मथुरा की रक्षा के लिए उन्हें अकरणीय करने को बाध्य ही होना पडेगा न? कस की अक्षौहिणियो को वे मथुरा मे ही समाप्त नही कर पाए तो उसकी मदान्धता शेष यादव-सघो के लिए साक्षात् मृत्यु-सन्देश ही सिद्ध होगी। नही, पश्चात्ताप का क्षण नही था यह। समर म सैनिक तो फिर भी अस्त्र शस्त्र से सज्जित हो अपनी सुरक्षा का पूर्ण प्रयास करत हुए प्राण विसर्जित करते हैं पर अस्त्र शस्त्र हीन निरपराध नगर जनो को नर-सहार का लक्ष्य बनने देना कहा की बुद्धिमत्ता होगी? नही चाहकर भी इस युद्धाग्नि मे जरासध के अधिकाधिक सैनिको की आहुति डालनी होगी। मथुरा को बचाना ही होगा हर मूल्य पर।

उन्होंने बलराम से बातें की थी। युद्ध भूमि, मथुरा-नगरी नही बनने जा रही थी। जरासध का सामना मथुरा से बाहर ही करना होगा और वह भी कम-से कम सैनिको की सहायता मे। जो कुछ करना था वह कृष्ण और बलराम को ही। मथुरा के जितने ही कम सैनिक काम आयें उतना ही अच्छा।

और दोनो ने रण नीति निर्धारित कर ली थी। कुछ चुने हुए वीर सैनिको को इस मध्य प्रशिक्षित कर उन्हे पुनर्गठित कर लेना था और जरासध से जा भिड़ना था उसके नगर प्रवेश के पूर्व ही। समय नही था उनके पास, यह सही था। जरासध बैठा नही होगा अब तक। बलराम जब यहा पहुच चुके थे तो वह भी पहुचने ही वाला होगा। थोड़ा समय लगा वह अपनी सैन्य शक्ति को सगठित करने म और चढ आएगा वह मथुरा पर, पक्ष लगते-न लगते।

पाच

उद्धव के लिए उस दिन उस घिरते अन्धकार मे एक ही विकल्प बचा था कि वे किसी भी तरह सीधे नन्द महल की शरण लें।

आसान नही था नन्द और यशोदा का सामना। किसकी यत्न से सजोई जीवन निधि सहसा किन्ही और हाथो मे जा लगी हो उसकी पीडा का साक्षी बनना अत्यन्त ही उत्पीडक होता। नन्द-दम्पति ने श्रीकृष्ण को अपनी स्वय की सन्तान समझ, प्रौढ अवस्था म प्राप्त निसर्ग का एक आकस्मिक वरदान समझ,

बडे यत्न और स्नेह मे पाना था। जसे कोई आगन के बिरवे को नयन जल से सीच सीच बडा करे वसे ही उन्होने श्रीकृष्ण को अपने अथाह स्नेह से सिंचित किया था, उनकी अठखेलियो ने उनके आगन को स्वग का पर्याय तो बना ही दिया था, व दा विपिन की उनकी विभिन्न लीलाओ—गोप गोपियो से उनका निश्छल प्रेम, असुरो के सहार म नियति की सतत सहायता, उनका अकृत्रिम मात पित प्रेम—न उनके वाद्धक्य को इतना सरस, इतना रस-पूण इतना अथ पूण बना दिया था कि कृष्ण का व्रज मे नही होना न द-यशोदा के प्राणो का ही नही होना था।

तो सामना करेंगे उद्धव पुत्र प्रेम से अकस्मात वचित कर दिए गए इस दम्पति का ? नियति के निष्ठुर हाथो न जिनके नीड के एकमात्र शावक को भी काक के घासले से कोयल-सन्तान की तरह उडा दिया था उनका सामना सामना इतना आसान था क्या ? सच, छले गए थे वे। जिस पर अपना सवस्व लुटा दिया था वह किसी और के धरोहर से अधिक कुछ नही निकला था। काक की मूखता मे वे कोयल के अण्डे को बडे मनोयोग से सेते रहे थे और अतत पर निकलते ही वह पक्षी शावक हो गया था फुर। आकाश की अछोर विशालता म विलीन—अपने परो को बडे विश्वास से तोलता अपने नीड की ओर पलटकर भी नही देखने का सकल्प-सा पालता।

सच बडा निष्ठुर और स्वार्थी है कृष्ण उद्धव सोचे जा रहे थे। दूसरो को कष्ट म डाल ही इसको आनन्द आता है क्या ? न द-यशोदा और इन ग्वाल-बालो तथा गोपिया के घावो को हरा करने के लिए उसने उद्धव को ही क्या चुना ? ठीक वसे ही जसे क्षणिक माहकय सुख देकर अतत दुख और विरह के अनन्त पारावार म निमग्न करने के लिए ही उसने इन भोले व्रजवासियो, इस वद्ध अथवा प्रौढ दम्पति—न द-यशोदा को चुना था। क्या बिगाडा था उद्धव ने उसका ? क्या दोष था उनका ? मात्र यही न कि थोडा रूप रग आकार प्रकार मिलता था उनका श्रीकृष्ण स और यह भी कि जीवन के सार-तत्त्व से थोडा बहुत साक्षात्कार था उनका ? कि व मिलन और बिछुडन, वियोग और सयोग, जन्म और मरण के मम को थोडा-बहुत जानते थे और यह बात अनायास कृष्ण पर प्रकट हो गई थी जब वह दीघ वियोग की व्यथा से व्यथित, अजस्र अश्रु धार बहाते वसुदेव और देवकी को सान्त्वना देने की विवशता के शिकार हो गए थे।

श्रीकृष्ण सबका उपयोग जानता है। नही ? उसने न द और यशोदा का उपयोग कर लिया ग्वाल-बालो गोपिकाओ का उपयोग कर लिया अपने स्वाथ साधन म और अब वह उपयोग कर रहा है इस निरीह उद्धव का। जिस स्थिति का वह स्वय ही सामना नही कर सकता उसस जूझने के लिए भेज दिया है उसने कितनी निममता और निष्ठुरता स अपने एक शुभेच्छु को ! सच, शायद परीक्षा ही लेता है वह अपने स्वजनो की। स्वय पूणतया निस्सग और तटस्थ बन दूसरे को जलते-तडपते देख बडा आनन्द आता है इसको। स्वण से मल काटने के लिए उसे अगारो के हवाले करने वाले स्वणकार की तटस्थता निष्ठुरता ही भरी है इस विचित्र किशोर म। सच, सामान्य नही है न यह ? लोग जो इसे औरो स सवथ भिन्न एक हद तक ईश्वर अश सम्भूत ही मानने लगे हैं इसे, तो इसम कुछ सत्यत भी है क्या ?

यह एक गुत्थी थी जो तथाकथित ज्ञानी मानी उद्धव के खाने भी नहीं खुलती थी। वह समझ गए, उनके अहकार को ही नि शप करने का बहाना गढा था कृष्ण ने—लो चल हो पिता माता और पुत्र के प्रेम को अपने ज्ञान की गरिमा से सन्तुलित करने तो जाओ प्रकट करो अपना प्रतिभा का यहा जहा इसकी सर्वाधिक आवश्यकता है—व्रज म। जानते थे उद्धव, खाली हाथ लौटेंगे वह। सफलता ही मिल गई तो अहकार का व्याल अपना सिर और नहीं उठा लगा क्या? उसका क्षत्र कुछ अधिक ही तो तन आएगा। और जितना कुछ समझा था उसने इस अदभुत किशोर, वह लें अब व्यक्ति का ही, उससे यह बात स्पष्ट हान स नहीं रही थी कि अपना का अहकार सह्य नहीं था उस।

समझ रहे थे उद्धव। अब समझ रह थे। अनावश्यक था उनका उस दिन के पचडे म पडना—अप्रत्याशित और अयाचित। रो रह थे वसुदेव और दवकी, बलराम और कृष्ण तो रो लन दना था उन्ह जी भरकर। जल की बाढ को रोकना अगर मूखता है तो आसुओ के प्रवाह पर बान और दशन की चट्टान पटकना कुछ कम अपरिपक्वता और अनुभवशून्यता का द्योतक नहीं है? वह जाना ही तो साथकता है आसुओ की। निरुद्ध हो गया उनका पथ तो पीडा फिर उमडती घुमडती ही रह जाएगी अन्तर म। वह तो पिघलकर वह निकलना जानती है अश्रु धार के रूप म और इसी प्रवाह को बाधित करने की मूखता पर उतर थ उद्धव उस दिन, तो अब अपनी अज्ञानता का मूल्य भी उन्हें ही चुकाना था और उसे ही चुकान भज दिया था अपन अतरंग सखा को सन्देश द उन्ह श्रीकृष्ण न व्रज म। अब जब यहा स मुह की खाकर लौटग मथुरा को तो कौन-सा मुह दिखा पायेंगे वे श्रीकृष्ण को? क्या कहग कि उनका सारा साख्य ज्ञान धरा का धरा रह गया और व पराजित लाक्षित और विजित वापस आ गए व्रज स? कि जाओ तुम्ही कुछ करो तो करो अपन माता पिता, अपने सखा मित्रो क दद को कुछ कम करने, उन्हें सात्वना का स्वर पिलाने कि उनके साधे नहीं सधने का वे।

जिस परीक्षा का परिणाम पहले ही विदित हो, वह परीक्षा क्या दनी? पर मूखता जब जान-बूझकर की गई हो तो उसस मुक्ति भी रहा थी? नन्द-महल सामन था। सारथि ने अश्वो की वल्गाओ को हाथ का इंगित दिया था और वे हिनहिनाकर रुक गए थे।

छह

रथ-चक्रो के स्वर स नन्दराज पहले हा समझ गए थे कि कोई रथारोही हा उनके महल की ओर आ रहा है। घाडो की हिनहिनाहट न उनके विश्वास को बल दिया और इसक पूव कि वे महल द्वार की ओर प्रस्थित हों, द्वारपाल दौडा हुआ आया। उसकी सास फूल रही थी। वह किसी तरह बोला—"महाराज, श्रीकृष्ण पधारे है।

श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण आया है। बात यशोदा तक भी पहुच गई थी और वह

दौडी हुई आगन म आ गई। सेवक के साथ दोनो मुख्य द्वार की ओर दौडे। 'श्रीकृष्ण, कहा है हमारा श्रीकृष्ण ?' दोनो के मुह से य ही शब्द बार-बार निकल रहे थे।

वे दोनो रथ की ओर लपके। शाम के धुधलके म जो व्यक्ति उन्ह रथ म विराजमान लगा वह श्रीकृष्ण ही था। वही नीलमणि की कान्ति, वही पीताम्बर, वैसी ही होठो पर किसी पूर्ण विकसित पुष्प पर बैठी किसी सुदर तितली-सी मोहक मुस्कान।

श्रीकृष्ण, नीचे उतरो न ! उतरो न मेरे लाल ! अभी तक रथ म ही क्यो बैठे हो ?' यशोदा दोनो बाँहो को फैलाकर रथ की ओर आकुल दौडी। किन्तु रथ की ऊचाई तक उनके हाथ नही पहुच सकते थे, न वह रथारूढ हो हो सकती थी।

'श्रीकृष्ण यहा तक आए तो अभी तक वहा क्या बैठे हो ? तुम्हारे माता पिता नीचे हैं और तुम अभी तक रथासीन हो ? सारी मर्यादाए भूल गए ? क्षण भर को नन्द के स्वर पर उनका अनुशासन चढा। किन्तु तुरत ही उन्ह इसका भान हुआ कि अब कहा के माता पिता और कहा का पुत्र ? अब तक नन्दलाल कहे जाने वाले के माता पिता तो मथुरा म बैठे हैं।

इधर उद्धव हतप्रभ। यह क्या हो गया ? उनका रग रूप तो श्रीकृष्ण स मिलता हो था पर यशोदा और नन्द भी उन्ह पहचानने म प्रमाद कर जाएगे, ऐसी आशा उन्ह नही थी। उन्ह न तो रथ म बैठे रहते बनता था न उतरते। उतरते तो नन्द-यशोदा की आशा अनायास घोर निराशा म बदल जाती और बैठे रहते तो मर्यादा का उल्लघन होता, यह बात बाबा नन्द न भी स्पष्ट कर दी थी।

कोई और उपाय न देख वह रथ स तेजी स उतरे और सवप्रथम यशोदा के चरणो म पड गए। भाद्रपद की यमुना की तरह ही यशोदा की आखें भर आई थी और उनसे कुछ नहीं दिखाई पडता था। ऐसे भी बूढी आखो की ज्योति शाम के डूबते सूरज के प्रकाश की तरह मन्द पडने लगी थी। उस पर स दोना कोना स निर्झर उमडते प्रमाश्रु। यशोदा कुछ देखने-समझने की स्थिति म नही थी।

उन्होने उद्धव को अपनी दुबल बाहो का सहारा दे परो से उठाकर कलेजे म लगा लिया— बडी देर कर दी मेरे लाल ! मा के हाथो की माखन मिश्री इतना शीघ्र भूल गए ? यशोदा ने किसी तरह रुधे गले स कहा।

' मैं श्रीकृष्ण नही हू। कलेजे स लगे उद्धव न किसी तरह कहा। नन्द ने पहले ही देख लिया था कि वे श्रीकृष्ण नहीं थे। रथ स उतरते और यशोदा के चरणो तक पहुचने वाले व्यक्ति की चाल से ही वे जान गए थे कि ये वे मस्त कहरी पदक्षेप नही थे जो श्रीकृष्ण की स्पष्ट पहचान थे। उद्धव को वह पहचानते थे। मथुरा म उन्हें एक दो बार देखा भी था।

"तुम श्रीकृष्ण नहीं तो और कौन हो ?' उद्धव के स्वर स यशोदा को अब रच मात्र भी आशका नहीं रह गई थी कि जिसको वह भावातिरेक म अक माल दे बैठी थी वह व्यक्ति और चाहे जो हो, श्रीकृष्ण नही था और जैसे कोई लिज लिजे सप को अपने कन्धो स झटक फेंके वैसे ही वह अपनी गदन के गिर्द लिपटी उद्धव की भुजाओ को झटककर पृथक खडी हो गई थी। उनकी आखो का पानी

सहसा किसी मरु म वरस जल बूदा-सा सूख गया था।

'यह उद्धव हैं, श्रीकृष्ण के अतरग सखा।" बाबा नन्द न मर्माहत धर्मपत्नी को समझाना चाहा।

'ता इनका यहा क्या काम?' यशादा क मन मे आया था कह द पर घर आए अतिथि के साथ ऐसे व्यवहार को अनुचित समझ वह उलटे परो महल मे वापस चली गई थी।

"आप चलें मेर साथ।" नन्द ने हतप्रभ से खडे उद्धव का कधो से पकडा था और अतिथिशाला की ओर बढ चल थ।

जब तक नन्द उद्धव का पूरी तरह व्यवस्थित करें, बाहर रात पूरी तरह उतर आई थी। जगली जानवरा के स्वर और झींगुरा का रव रात्रि की शान्ति को भग कर शाला क अन्दर तक प्रवेश करने लग थ।

'आपकी निद्रा म कुछ बाधा अवश्य हागी। किसी विपिन म निशीथ बितान का यह पहना ही अवसर हागा। हम अरण्यवासी तो इसक आदी हो चुक है। हम ता इन वन्य पशुआ का कर्ण-कटु स्वर भी किसी स्वर्गिक सगीत का ही आनन्द द जाता है।' भोजन आदि स निवत्त करा नन्द न उद्धव स निवेदन किया था।

"नही मुझे कोई कष्ट नही होगा," उद्धव न अतिशय विनम्रता स कहा, 'फिर मैं यहा सान भी कहा आया हू? मुझे ता श्रीकृष्ण का सन्देश सुनाना है।'

श्रीकृष्ण ही नही तो उनका सन्देश क्या? नन्द न एक आह भरकर कहा था फिर यह सोचकर कि कही अतिथि की आत्मा का कष्ट नही पहुचे, जोडा था— क्या कहा है लाला न?

'प्रथम बात ता यह समझन की है कि आपका वह व्रजराज कुमार अब लाला नही रहा' उद्धव ने किसी विद्वान दर्शनवत्ता क रूप म आरम्भ किया, "अब वह पूरी तरह किशोर अपितु कहिए ता युवा है। उसक चाचल्य और विविध लीलाआ क दिन समाप्त हो गए। मथुरा के साम्राज्य-सचालन का गुरुतर भार उसके अनुभवहीन कन्धो पर आ पडा है।

नन्द की आखा की कोरो म अनायास अश्रु-कण एकत्रित हो गए। उन्होंने उन्ह पोछने का प्रयास भी नही किया और कहा 'यह ता मैं उसी दिन समझ गया जब कस का वध कर मरे लाला न क्षमा करेंगे मरी जिह्वा पर यही सम्बोधन बार बार चढ आता है बन्दी और वृद्ध उग्रसेन क हाथा म मथुरा का शासन-सूत्र थमा दिया। यह कोई भी समझ सकता था कि उन सूत्रो का सचालन उग्रसेन के वश की बात नही थी, असल सूत्रधार वही था जिसन उन्हे उस स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान किया था। आप सन्देश सुनाए उसका। मैं जानता हू अब उसक सन्देश ही आया करेंगे यहा कुछ दिना तक आगे सदेश शुभेच्छुओ मुहृदा क माध्यम स बाद म हवाओ पर तरकर। व हवाएं जो मथुरा स होकर गोकुल की ओर बहगी, कुछ-न-कुछ ता उसके बारे म कह ही जायेंगी। उस अवकाश भी कहा रहगा सवाद-सम्प्रेषण का? तो कहिए क्या कहा है कान्हा न? नन्द भाव विह्वल हो बोलत गए।

"श्रीकृष्ण ने कहा है सयोग और वियोग जीवन क साथ दिवा रात्रि की तरह जुडे हैं। मिलन की स्वाभाविक परिणति बिछुडन म ही है।

'स्पष्ट शब्दा म क्या नही कहत कि हम उस भूल जाए कि विस्मरण ही

हमारे वियोग के सहन में एकमात्र सहायक है, कि अब हम उसके दर्शन नहीं होने जा रहे। वह मथुरा और मथुरावासियों का ही होकर रह गया। अब हमारे रुदन हास्य, उसके रुदन-हास्य नहीं रहे अब हमारे सुख-दुःख का सहभागी बनने से वह रहा। अब हम अपनी व्यथा अपनी पीड़ा और अपने संताप को स्वयं झेलना भोगना है।' नन्द भावातिरेक में धारा प्रवाह बोल गए।

'जो उसने कहा ही नहीं, वह मैं कैसे कहूँ?' उद्धव का सिर नत हो आया था। मथुरा से प्रस्थान के समय उन्हें अपने दायित्व-बोध का अभिज्ञान इतनी गहराई से हुआ रहता तो वे वृन्दावन की ओर मुँह ही नहीं करते। श्रीकृष्ण बुरा मानता तो मानता, वह इस धर्म संकट से तो बच जाते।

'तो उसने कहा है कि वह वृन्दावन आयेगा? कब और कैसे? हम उसके लिए निमंत्रण भेजना होगा?

'उसने यह भी नहीं कहा है। आने की कोई स्पष्ट बात उसने नहीं कही।' उद्धव को सत्य ही बोलना था परिणाम भले ही नन्द की पीड़ा को गहन से गहन तर करता जाय।

तो अब क्या जानना-सुनना शेष रह जाता है? क्या व्यर्थ ही कष्ट दिया उसने आपको? नन्द के स्वर पर स्वाभाविक कटुता चढ़ी थी जो उद्धव से छिपी नहीं रही।

'आपका संदेश लेने और अपना सन्देश देने।'

हमारा कोई संदेश नहीं है। कन्हैया से शून्य ब्रज में अब कुछ भी नया नहीं घटता। जहाँ तक उसका सन्देश है हम समझ गए कि हमारे लिए उसके पास अब समय नहीं है। नन्द इस बार अपने नेत्रों के कोनों को प्रत्यक्ष ही पोंछने से रोक नहीं सके।

उद्धव को लगा उनकी उपस्थिति की प्रासंगिकता यहाँ समाप्त हो गई। कोई सूत्र अब समझ में नहीं आ रहा था जिसको पकड़कर वह संवाद को आगे बढ़ाते। उनका वश चलता तो वह निशीथ के उसी प्रहर में रथारूढ़ हो वहाँ से प्रस्थान कर जाते। पर न यह संभव था न शोभन।

आप क्या माताजी को यहाँ तक बुला देंगे अथवा मुझे उन तक ले चलेंगे? सहसा एक विचार उद्धव के मन में कौंधा जैसे उफनती यमुना के जल में डूब होने किसी को किसी नन्हें काष्ठ-खंड का सहारा मिल गया हो।

आपने माखन देखा है उद्धव जी? उद्धव नन्द की इस विचित्र बात पर क्षण भर को विस्मय विमुग्ध हो आये।

क्या? ऐसी क्या बात है? वह तो नित्य ही मेरे घर में मेरी माँ दधि बिलो कर निकालती है।' उद्धव ने किसी तरह उत्तर दिया।

तब आप यह भी जानते होंगे कि हल्का ताप ही माखन को पिघला मारने को पर्याप्त होता है। और आपकी माँ नित्य माखन निकालती होंगी पर यशोदा का मन कन्हैया की तथाकथित माँ का मन उस माखन से कोमल है उस नवनीत से भी निरीह। क्या उसे अपने वचनों की असह्य आँच देने को आतुर हैं आप?

''श्रीकृष्ण के आदेश का पालन मात्र कर रहा हूँ।

क्या आदेश था उसका?

'माता पिता दोनों को सान्त्वना देने का।

"कौन माता ? और कैसा पिता ? मारा रहस्य अब मावजनिक हो चुका है। यह आपको भी नात है। इमीलिए तो मैंने यशोदा को तथाकथित जननी कहा। और जननी कहना भी अपमान है इस शब्द का। घातृ कह लें यशोदा को और घात को किसा मान्त्वना, किमी स देश की अपेक्षा नहीं होती।"

"तो उनस मिलना सभव नही ही हो पायेगा ?"

"यही समझ लें।'

"ता श्रीकृष्ण का स देश ही उन तक पहुचा द।"

"अब क्या स देश शेष रह गया है ? न द न थोडा खिन होकर कहा 'वही सयोग वियोग और रात्रि दिवम वाला ? वह यहा किसे पता नही है ? पता नही था ता इतना कि हमारा कन्हैया ऐमा हृदय हीन निकलेगा, कि जिसे हमने हृदय के टुकडे की तरह पाला वह हमार हृदय का किमी जड पापाण-खड स अधिक न समझ उस खड-खड कर जायेगा ।' कहत-कहत न द अपने को रोक नही सके। अब तक जो पीडा आखा का पानी बन ही अपन को अभिव्यक्ति दे रही थी, उसने सहसा सारी मर्यादा तोड दी और न द किसी निझर की तरह ही पूरी तरह फूट पडे। रो पडे वह।

उद्धव स्तब्ध। क्या करें वह ? न द के सिर को अपने अक मे ल उ ह सान्त्वना दें, एसा साहस वे अपने अ दर विकसित नही कर पा रहे थे। कुछ भी हो उद्धव ने अभी किशारावस्था को पार ही किया था, वय के एक विशेप माड पर पहुचे वद्ध न द को व किस रूप म सात्वना प्रदान कर सकते थ ? उनका दशन ज्ञान व्यथ था यहा। प्रेम, स्नह और वात्सल्य की जो वाढ इम वद्ध पिता को धार के विवश तिनके की तरह बहा रही थी, उसक ममक्ष उनके पाडित्य और नान का जलयान भी अनुपयागी और व्यथ था। वे ममझ गए थे कि जब पिता की यह स्थिति थी तो माता का पुनर्साक्षात्कार उ हे सकट म ही डालेगा।

'आप विश्राम करें। मैं अब चलता हू।" न द उठते उठते बोल पर विश्राम उस रात्रि को किसके भाग्य म लिखा था ? न न द क, न यशोदा के, न उद्धव के ही। सभी अपनी अपनी व्यथा को लेकर व्यग्र थे। उस रात निद्रा दवी ने किमी की पलका को सहलान म अपन को असमथ पाया। तीनो अपने-अपने स्थान पर रात्रि-जागरण करते रहे। सच, यह निशा इन तीना के लिए निराशा उत्पीडन तथा व्यथा और व्यग्रता का ही स देश लेकर आई थी।

सात

वृ दावन म प्रात की रवि किरणो न एक अदभुत दृश्य देखा। इन्होंने न द की अतिथिशाला के समक्ष खडे स्वण-स्यदन पर एक और स्वणिम लप चढाई और उसके पश्चात व्रज-वीथिया म बिछन को हुइ तो पाया सारी-की सारी व्रज-गोपिया न दगह की ओर ही भागी जा रही हैं। सबके चेहरे पर उल्लास, हप और आशा आकाक्षा क सम्मिलित भाव चढ-उतर रहे थे और अभी-अभी सविता की किरणा न पद्म-पुष्पो म जो प्रसन्नता वितरित कर उनकी कलिया का कुसुमित किया

था वही अलौकिक आभा, वही स्वर्गिक प्रसन्नता उनके चेहरा पर भी चिपकी पड़ी थी।

किसी ने अतिथि शाला के समक्ष आसीन रथ को देखकर यह समाचार फैला दिया था कि स्वयं श्रीकृष्ण पधारे हुए हैं और यह शुभ संवाद दावाग्नि की स्वरूप ग्रहण कर एक कान से दूसरे कान में पहुंचते हुए सम्पूर्ण वृन्दावन में बात की बात में फैल गया था। गोप तो फिर भी किसी-न-किसी बहाने मथुरा जा कृष्ण की एक झलक ले लेते थे पर गोपियों के लिए तो उनके कभी के प्राण उनका कन्हैया अब स्वप्न ही बन आया था। सागर-तट की ओर भागती-दौड़ती किसी आन्दोलित-आलोड़ित सागर की लहरों की तरह ही वे नन्दगृह की ओर दौड़ी जा रही थीं। भागती गिरती, एक-दूसरे से टकराती वे किसी अंधी दौड़ का आखेट हो पहले और सबसे पहले वहां पहुंचने की होड़ लगा बैठी थीं। किसी से किसी को बात करने का भी अवकाश नहीं था—तुमने सुना जी, तुमने सुना जी कि कन्हैया, नन्द-आंगन में आया है की तरह का स्वाभाविक प्रश्न भी आधा-ही-आधा में पूछ लिया जाता था, उस की जिह्वा पर लाने का अवसर किसी के पास नहीं था। पर आशा की परिणति अक्सर निराशा में होती है। व्रज-बालाओं-वनिताओं से अधिक अनुभूति उसकी किसे थी?

नन्दगृह पहुंचते ही उनकी सारी आकांक्षाओं पर वज्रपात हो गया उनके सपने कालिन्दी-कूल की रेत की तरह बिखर गए। नन्द-आंगन और महल-द्वार के बाहर तक गोपियां-ही-गोपियां पर उनके चेहरे पर अब सुबह के सूर्य की लालिमा नहीं, गोधूलि के पश्चात् की कालिमा चली थी। किसी दासी ने स्पष्ट कर दिया था, आने वाला कन्हैया नहीं श्रीकृष्ण-सखा उद्धव था। रंग रूप आकार प्रकार अवश्य मिलते थे पर था वह बहुरूपिया से अधिक कुछ नहीं। ऊपर से नीरस और निस्संग। संयोग वियोग और निस्संगता-तटस्थता की ऊंची-ऊंची दार्शनिक बातें करता है। अवश्य ही दासियों ने बाबा नन्द से ही ये बातें सुनी थीं। यशोदा अब भी सूना शून्य अवस्था में पड़ी थीं। उनसे बातें करने का कोई प्रश्न ही नहीं था।

"अरे, कृष्ण की तरह लगता है तो चाहे जितना नीरस और ज्ञानी ध्यानी हो चलो उसे देखकर अपने नेत्रों को तो जुड़ा लें। गोपियों की भीड़ से किसी एक ने ऊंचे स्वर में कहा। वहां की कोलाहल और व्याकुलता कुछ कहने-सुनने का किसी को कोई अवसर नहीं दे रही थी। घोर अव्यवस्था व्याप्त हो गई थी पूरे नन्द भवन के भीतर और बाहर।

हां जी यह सुझाव तो अच्छा है। चलो सुनें, क्या संवाद लाया है वह माखन-चोर का सखा। 'यहां खड़ी रहकर क्या करना है?' विशाखा का स्वर था वह। ललिता और राधा के साथ आंगन के एक कोने में खड़ी थी वह।

हां, चलो। सभी ने हामी भरी और भीतर-बाहर की भीड़ अतिथिशाला की ओर मुड़ी।

एसे नहीं,' किसी ने समझाया शायद ललिता थी यह वह नन्दभवन नहीं है। अतिथि शाला में इतने लोगों के लिए पर्याप्त स्थान नहीं है। अगर सभी वहां पिल पड़ीं तो उस उद्धव बेचारे की कचूमर निकल जायेगी। धरती पर गिरे कदम्ब-पुष्प की तरह वह हमारे पग-तल ही पिसकर रह जायगा।'

'तब क्या करें' किसी ने पूछा 'बातें करो या न करो, एक दृष्टि डालनी

तो उस पर सबको है।"

"यह ठीक है।' ललिता न ही नेतत्व सभाला, "सर्वप्रथम हम पक्तिवद्ध होकर उसकी शाला के सामने से निकलें उस पर दृष्टि क्षेप करते हुए, फिर हमम से दो-चार-दस ही जाकर उसस बातें करें। हो सके तो उसे खूब उल्लू बनाए। कृष्ण के स्थान पर स्वय, उनका सान्त्वना सन्देश लाने वाले को भी बतला दें कि एसी-वसी नही हैं ब्रज-बालाए।'

"ठीक है।' भीड ने एक स्वर से हामी भरी पर एक स्वर उसम ऊचा भी उठा, "मात्र दृष्टि निक्षेप से काम चलेगा क्या? अगर वह सचमुच कृष्ण की तरह लगता है तो भरे-पूरे चाद पर बधी चकोरी की आखो की तरह हमारी आखें उस पर बध नही जाएगी?"

"नहीं बधेंगी,' इस बार विशाखा जोर देकर बोली, "वह कृष्ण की तरह प्रतीत ही तो होता है, कृष्ण है तो नही, हम ब्रज-बालाओ के लिए तो वह एक ही हमारा सवस्व है। भल ही वह क्तघ्न निकल, हम कृतघ्ना नही हो सकती। नही वध सक्ती हमारी आखें एक पर-पुरुष पर। दखने की उत्सुकता है तो देख लो कि क्या सादृश्य है उसम और हमारे कन्हैया म, पर एसे-ऐसे सौ सहस्र उद्धव मिलकर भी श्रीकृष्ण की छाया तक तो बन ही नही सकत, कृष्ण बनना तो बडी बात है।"

"ठीक कह रही है विशाखा!' किसी अन्य गोपी न हामी भरी। 'हम क्या लेना-देना उस मथुरा क किसी पर पुरुष से जो हमारे कन्हैया को निगल गई। छोडो इम दखन दिखान के कायक्रम को भी। दो चार सखिया उससे बातें कर लो। सुन तो लो क्या कहना है उस छलिया को, जो कहकर तो गया कि अभी आत है और आज आया भी तो उसका सदशवाहक—एक अदना सा दूत।"

"नही देख लो, दखने म कोई हज नही, ललिता न बात सभाली, "आखिर यह भी वहा जाकर उस बताए तो कि कस ब्रज-बालाओ का झुड ही उमड पडा था कृष्ण के नाम पर और कितनी लम्बी पक्ति उसके सामन स निकली थी—ऐसी कि जस यमुना मइया का कूल ही हो, जिसकी लम्बाई का पता न ब्रज म किसी को लगा है, न लगगा।

उद्धव अभी-अभी नित्य कम स निवत्त हो द्वार की ओर मुख कर पद्मासन म अवस्थित ही हुए थे। पूव की तरफ ही खुलन वाल द्वार स प्राची के क्षितिज पर शन शन उठता सूय विम्ब किसी स्वण-थाल की तरह आकषक लग रहा था। उनके मुख स सहसा सविता-स्तवन फूट चला था—ॐ भू भुव स्व । ठीक उसी समय व्यवधान हुआ था और चीटियो क समान रेंगती कुछ मानवीय आकृतिया द्वार के सामने स सरकन लगी थी। उन्हे आश्चय हुआ था। य सबकी सब नारिया थी—कुमारिया किशोरिया, विवाहिताए, यहा तक कि प्रौढाए और वृद्धाए भी। अधिकाश रगीन वस्त्रा म सुसज्जित - रक्त, पीत, नील परिधानो म आवष्टित। क्षण-पूव सूय बिम्ब के अवलोकन म व्यस्त उनकी आखो का एक क्षण क लिए भ्रम हुआ कि भगवान सविता न प्रसन्न होकर इन्द्रधनुष का ही उनके द्वार पर उतार दिया है पर दूसरे ही क्षण उनका भ्रम टूट गया। य सचमुच मानवीय आकृतियाँ ही थी—ब्रज ललनाए—क्योकि उनक परिधान जो भ्रम खडा कर दें

उनकी चुभती, गहरी और कजरारी आँखें जो उन्हें अन्दर तक भेद जा रही थीं, सारे भ्रमों का निर्मूल कर रही थीं। पर आश्चर्य बढ़ता गया उद्धव का। एक क्षण को भी कोई ललना वहाँ रुकती क्यों नहीं थी? सभी अपनी शंख-ग्रीवाओं को एक हलका मोड़ दे, उन पर दृष्टि क्षेप मात्र कर आगे क्यों बढ़ जाती थीं? क्या लक्ष्य था उनका? कैसे समझ पाए उद्धव कि कौन-सी योजना गढ़ी गई थी क्षण-पूर्व। वे तो निरीह से, निरुपाय-से सब कुछ देखते जा रहे थे। सोच रहे थे, अच्छा खेल खेला है उनके सखा कृष्ण ने उनके साथ। रात नन्द उन्हें धता बताकर चले गए और प्रातः यह अनबूझ पहेलिका उनके समक्ष आ खड़ी हुई। पर कोई अन्त नहीं था उद्धव के आश्चर्य का क्योंकि कोई अन्त ही नहीं दिख रहा था द्वार के सामने से उन पर एक दृष्टि डाल गयी आगे बढ़ती जाती ब्रज-बालाओं-वनिताओं की पंक्ति का? आखिर कितनी थीं वे। और सभी-की-सभी प्रातः की इस बेला में ही यहाँ कैसे उपस्थित हो गई थीं? अब उन्हें लगा कि ठीक ही कह रहा था उनका वह नटखट किशोर सखा कि सारी-की सारी ब्रज-नारियाँ उस पर प्राण उँडेलती थीं। उनका एक झलक का तरसती थीं। उनके प्रति निस्वार्थ, अमांसल और अपार्थिव प्रेम से भरी पड़ी थीं वे।

पर क्या करें उद्धव? वे तो सन्देश-वाहक बनकर आए थे विशेषकर इन गोपियों और गोपांगनाओं के लिए ही। पर किस तक सन्देश पहुँचाएँ वह? यहाँ तो कोई एक क्षण को भी रुकने को प्रस्तुत ही नहीं थी। तो फिर वे उनके सामने से निकल ही क्यों रही थीं? इस भेद को ताड़ने में उद्धव को बहुत समय नहीं लगा। वे समझ गए थे। वे बताना चाहती थीं कि उनमें आज भी अगाध प्रेम भरा था श्रीकृष्ण के लिए। कृष्ण तो कृष्ण उनके सन्देश-वाहक के नाम पर भी वे ज्वार जगे सागर की तरह उमड़ सकती थीं। अगर उद्धव को श्रीकृष्ण का सन्देश वाहक बनकर आना था तो उन्हें भी इन गोपियों के इस मूक सन्देश इस श्रद्धा प्रेम प्रदर्शन को उन तक पहुँचाना था।

पर उद्धव का दायित्व पूर्ण कैसे होगा अगर वे ऐसे ही उनके सामने से निकलती रहीं? उन्हें तो उनसे कुछ कहना था कुछ समझाना-बुझाना कुछ सन्देश प्रदान करना था। पर प्रतीक्षा के सिवा कोई विकल्प भी क्या था? यह पंक्ति जब समाप्त हो तो किसी के द्वारा सन्देश प्रेषित कर वह कुछ गोपांगनाओं को बुला सकते थे और अपने दायित्व के निर्वहन का प्रयास कर सकते थे। ऐसे तो उन्हें रात ही लग गया था कि यहाँ उनका सारा वेदान्त-दर्शन धरा-का धरा रह जाएगा। जब वे एक नन्द को विश्वास में नहीं ले सके तो कृष्ण प्रेम में आकंठ-पगी इन गोपियों को भला वे कौन उपदेश-सन्देश दे पाने में समर्थ हो सकेंगे।

उद्धव की प्रतीक्षा समाप्त तो हुई पर बहुत समय के पश्चात्। सूर्य बिम्ब पता नहीं क्षितिज पर कितना ऊँचा चढ़ गया था—अब तो वह वहाँ बैठे-बैठे दृष्टि-पथ में भी नहीं आता था कि अंतिम गोपी उनके सामने से निकली। कुछ देर तक वह मार्ग गेह द्वार को आगे निर्निमेष देखते रहे पता नहीं इसके पीछे और हो, पर नहीं वही अंतिम थी। पंक्ति सचमुच समाप्त हो गई थी। अब इन्हें प्रतीक्षा थी, नन्द भवन के किसी दास-दासी की जिसके द्वारा सन्देश प्रेषित कर वे कुछ ब्रज-बालाओं को बुलाकर अपने सखा का सन्देश सुनाते। पूजा-पाठ और अर्चना आराधना को तो आज अवकाश मिलना ही नहीं था। उनकी तो हो गई

इति-श्री, अब सखा का ही काय हो जाय तो वही बडी बात हो।

पर उद्धव को बहुत प्रतीक्षा नही करनी पडी। अपनी योजना के अनुसार स्वय ललिता, विशाखा जयश्री, सुदक्षिणा आदि दस ग्यारह गोपिया उनके समक्ष अकस्मात आ धमकी। वे तत्काल क्या बोलें क्या नही बोलें, समझ नही पाए। उनकी घबराहट उनके चेहरे पर उभर आई।

'क्यो महाराज, रूप रग म लगत तो तुम कन्हैया की तरह ही हो, पर लजीले बहुत हो। हमारा कृष्ण तो ऐसे शर्माता नही था।" एक गोपी ने उनके चेहरे के भावो को पकडकर चुटकी ली।

"नही, नही ऐसी कोई बात नही," उद्धव ने अपने को सयत करना चाहा "आप कहे क्या कहना चाहती है।" चाहकर भी नही कहने वाली बात उनके मुख से निकल गई।

'हम कहे ? कहने तो आप न आए हैं महाराज! सुना, सन्देश-वाहक बनकर आए है आप हमारे कन्हैया के!' किसी दूसरी गोपी ने उन्हे उनकी स्थिति का स्मरण कराया।

उद्धव की घबराहट, गलत मोड पर पकडाने से और बढ गई और बोले 'हा हा, कहना तो मुझे ही है, मैं तो आप लोगो को बुलाने ही वाला था।"

"तो कह ही डालिए जो कहना है कही आप अपनी घबराहट म अपने मित्र का सन्देश भूल गए तो फिर क्या उत्तर देंगे आप उनको?" ललिता ने उनकी सहायता की।

हा, मैं कहना चाहता था—निस्सगता का नाम सुना है आप लोगो ने?' उद्धव ने अन्तत अपने ज्ञान की गठरी का खोलना आरम्भ किया।

'नही महाराज, हम गोकुल की ग्वारन ये पोथी-पत्रा की बातें क्या जानें? आप ही समझा दें हमे। क्या यही सन्देश है हमारे कान्हा का?"

'हा श्रीकृष्ण ने कहा है आप निस्सग भाव म उन्हे चाहे। अर्थात उन्हे चाहकर भी नही चाहे।'

'और नही चाहकर भी चाहे। यही न? किसी गोपी ने उद्धव की बात को आगे बढाया।

उद्धव सकपका गए। व्यथ ही ये अपने को गवार ग्वारन कहती हैं। इनकी बुद्धि के सामने तो बडे-बडे दार्शनिकों-पण्डितों की बुद्धि पानी भरे। बोले, 'हा हा आप ठीक कह रही हैं। मैं यही कहना चाह रहा था।'

'पर यह कैसे हो सकता है? यह तो ऐसा ही न हुआ कि आप बोल कर भी नही बोलें अथवा खाकर भी नही खाए। तो अभी आपके बोलने को हम बोलना मानें या नही बोलना?" विशाखा थी यह।

उद्धव को अब अपने पर विशेषकर कृष्ण पर बडी झुझलाहट आ रही थी। कहा फसा दिया था उसने उन्हे? वह तो कह रहा था वे सरल-हृदया गाव की गोपिया बडी आसानी से सुन-समझ लेंगी और यहा ये गोपिया थी कि पण्डिता बनी बैठी थी। वे अपनी बात को लाख चाहकर भी आगे नही बढा पाते थे।

'तो आप बोले नही महाराज! विशाखा कब छोडने वाली थी।

क्या?

'यही कि आपका बोलना हम बोलना मानें या नही बोलना? या दूसरे रूप

मे पूछें तो आपके यहा होने को हम होना मानें या नहीं होना ?"

उद्धव की सकपकाहट और बढ गई। उन्होंने पहले अपने उस काष्ठ मचक को देखा जिस पर वे विराजमान थे। फिर पीताम्बर-वेष्टित अपने शरीर को देखा—हाथ-पाव, पेट वक्ष-स्थल। उन सबको जो दृष्टि-पथ मे आया। वे तो पूरी तरह वहा थे फिर वे अपने होने को नही होना कैसे मानें ? उनका मन किया वे सामने खडे स्यन्दन पर सवार हो शीघ्र ही यहा से कूच कर जायें। व्यर्थ ही वे उस कृष्ण के झासे म आ गए। उन्ह वही समझ लेना चाहिए था कि जिन गोपियो के बीच वे पले-पुसे और बडे हुए थे और अमित बुद्धि विवेक तथा का अर्जित किया था वे साधारण स्त्रिया किशोरिया नही होगी।

"आप अब भी चुप हैं महाराज ?" विशाखा बात कर रही थी।

अब आप कोई दूसरी बात पूछें। उद्धव उद्विग्न से बोले।

"तो इस सम्बन्ध मे आप निरुत्तर हो गए ?" ललिता ने विशाखा की सहायता की।

"यही समझ लीजिए।" उद्धव डूबे मन से बोले।

"तो हम क्या पूछें ? हम तो सुनने आई हैं। आप सुनाइए हमारे कन्हैया ने और क्या कहा है ?' विशाखा उद्धव के पीछे ही पड गई थी।

उद्धव ने कुछ देर तक सोचा क्या कहें क्या नही कहें। फिर कही गलत रूप म पकडा गए तो बडी भद्द होगी। पराजय—वह भी नारियो के द्वारा नारिया मे नारिया ठेठ देहात की इन तथाकथित गवारन ग्वालनो क द्वारा कभी पीडादायक होगी ? कुछ देर के विचार मन्थन के पश्चात उन्होंने एक बडी सरल-सी निर्दोष सी बात कही— श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'आप दुखी नही होगी।

किसके लिए ? झट-स एक गोपी पूछ बैठी।

'किसके लिए मतलब ? उद्धव कुछ नही समझ पाये।

'मतलब कि अपन लिए या श्रीकृष्ण के लिए ?' ललिता न बात के सूत्र को पकडा "श्रीकृष्ण की बात लें तो हम सभी जानती हैं कि उन्हें किसी बात का दुख नही। कस-वध के पश्चात वे तो अब मथुराधीश हैं। उग्रसेन तो नाम के नृपति हैं। तो भला मथुरापति को दुख किस बात का ? रही हमारी बात तो हमारे भाग्य म तो दुख उसी दिन लिख गया जिस दिन कृष्ण ने ब्रज छोडा। हम दुखी नहीं होने की बात कहना आपको और श्रीकृष्ण को शोभा देता है क्या ?

दुख तो वृक्ष की छाया की तरह है, यह छाया कभी फलकर बडी हो जाती है, कभी सिमटकर छोटी। दुख को लेकर क्या रोना ? उद्धव को लगा इस बार उनके दर्शन ने उनका सही साथ दिया है।

पर क्षण भी नही लगा कि ललिता बोल बैठी— एक बात कहूं उद्धव जी ?"

'कहिए। उद्धव ने सगर्व कहा। उन्हें लगा उनके तर्क की अब कोई काट नहीं है इनके पास।

'क्षण भर को मान लें कि आप मीन हैं—मछली। वह भी यमुना-जल की। गुरुदक्षिणा ने ललिता की बात म झट से अपनी बात जड दी।

उद्धव सकपकाये। ये गोपिया उनका परिहास करने पर उतारू हैं क्या—

अपमान ? अपमानित और पराजित होकर ही ब्रज से वापस होने की ही उनकी नियति है ? वे क्रोध से भर आए और क्रोध जिस प्रथम वस्तु को अपना ग्रास बनाता है वह है विवेक। उनका विवेक नष्ट हो गया और बात के मूल तक पहुंचने का प्रयास किए बिना वे बोल बैठे—"क्या बोलती है आप ? अतिथि के साथ व्यवहार करना भी आपको नहीं आता। भला मैं मीन क्यो बनू ? खाद्य-अखाद्य सबको भक्षण करने वाला एक घृणित जीव ?'

'आपको मीन बनने की बात कौन कहता है महाराज ?" ललिता मुसकराती हुई बोली।

आप ही तो कह रही हैं। ' उद्धव का क्रोध अभी शान्त नहीं हुआ था।

'मैं बनने की बात कहा कह रही हू ? मैं ता मानने की बात कह रही हू। आप तो तर्क शास्त्र क पण्डित हैं। वहा तो बहुत कुछ मानकर ही आगे बढते हैं न ?'

"और आप मीन को खाद्य-अखाद्य भक्षी कहकर उसकी अवमानना क्यो कर रहे हैं ? क्या आपके सदृश प्रकाण्ड पण्डित को यह भी नहीं पता कि भगवान के एक अवतारो म मीनावतार भी है ?" विशाखा कहा चूकने वाली थी।

उद्धव का मन किया, अब रो दें। क्षण पूर्व जहा नेत्रो के समक्ष इन्द्र धनुषी खेल चल रहा था वही अब नियति न कुछ ऐसी करवट बदली है कि उनकी सारी विद्या-बुद्धि का ही चुनौती मिल रही है। शायद क्रोधाभिभूति हो विवेक भ्रष्ट होने स ही वह गलती पर गलती करत जा रहे हैं।

तो माना आपन ? ' *ललिता अपनी बात पर अडी थी।*

क्या ? ' उद्धव ने लगभग झुझलाकर पूछा।

'मीन, पानी की मछली, कहा तो।'

'चलो मान लिया। उद्धव न कहने को कह दिया।

"अब कल्पना कीजिए कि आपको जल से निकालकर रेत पर डाल दिया जाय तो आपको दुख होगा या सुख ?'

"मुझे जल म निकालकर ? मैं जल म हू कहा ?' पता नहीं उद्धव की बुद्धि को क्या होता जा रहा था।

आपको अर्थात जल की मछली को ? अभी तो आपन माना न कि आप मीन हैं ?" ललिता बोली।

"स्पष्ट है दुख होगा। उसम सुख कहा है ?' उद्धव न उत्तर देकर सन्तोष की सास ली।

"तो अपने सखा से कह दीजिएगा कि यही हाल हमारा है। उनस पूछिएगा, जल स निकली मछली से यह कहना कि तुम दुखी न होना कहा का न्याय कहा की बुद्धिमता है ?"

'अर्थात् आप मीन हैं और श्रीकृष्ण जल ? ' उद्धव ने अपनी बुद्धि पर जोर देते हुए कहा।

'बुद्धिमान हैं आप। ठीक समझा। ' विशाखा मुसकुराई।

अर्थात आप दुखी हैं ?' उद्धव की तर्क शक्ति धीरे धीरे वापस आने लगी थी।

'तो आप क्या समझते हैं ? सुखी दिखाई पड रही हैं हम आपको ? हमारी व्यथा या हमारे मुखो पर अंकित आन्तरिक पीडा आपको नहीं दिखाई पडती ?

हमारी वाचालता को तो आपकी तर्क-शक्ति ने हवा दी है वर्ना हमारे चेहरे तो हमारे अन्दर की व्यथा-गाथा को पूरी तरह स्पष्ट कर रहे हैं। अभी तो आपका कोई विशेष वय भी नही हुआ, दृष्टि के दुबल होने का कोई प्रश्न ।'

उद्धव को लग गया कि ये गोपांगनाएं कृष्ण का बदला उन्ही से लेने पर उतारू हैं। वे स्पष्ट शब्दों में इन्हें नेत्र-हीन कह रही थी। थोडी देर पूर्व मीनावतार की बात निकाल उन्होंने इन्हें मूर्ख सिद्ध करने का भी प्रयास किया था। पर वे आसानी से पराजय स्वीकार करने वाले नहीं थे। अगर वे सचमुच उनसे हारा पराजित होकर लौट गए तो श्रीकृष्ण को कौन-सा मुह दिखलायेंगे।

"आप सचमुच दुखी हैं तो श्रीकृष्ण का इसके लिए भी एक बड़ा अच्छा सदेश है।

"अच्छा!" प्राय सभी गोपियो ने एक साथ कहा।

क्या आपका विश्वास नही हो रहा?" उद्धव प्राय सकपकाए।

'नही, नही भला आपकी बातो पर अविश्वास का क्या कारण हो सकता है' मुदक्षिणा थी यह 'श्रीकृष्ण को तो हमारी सभी सम्भावित स्थितियों का पता होगा, अत आपको उन्होंने अगर हमारी सारी समस्याओं के निदान के साथ भेजा हो तो इसमे आश्चर्य क्या? आप अपनी ओर से थोड़े कुछ कहेगे?"

तो अब मिथ्यावादी भी बनाए जा रहे थे वह! उद्धव के पश्चाताप का अन्त नही था। व्यर्थ ही ब्रज की ओर मुख किया उन्होंने! अब मुह बन्द रखने में ही कुशल था।

आप चुप हो गए?' विशाखा ने मूक बने उद्धव को कहा आपकी सम्पूर्ण विद्या बुद्धि घास चरने चली गई।

अर्थात वह थी भी कभी?' कोन से किसी गोपी ने आवाज लगाई।

क्या कहा? आप तो पर्याप्त प्रगल्भा प्रतीत होती हैं। उद्धव हड़बड़ाकर बोले। उनका चेहरा रक्ताभ हो आया था। क्रोध पुन विवेक पर हावी होने लगा था। नही-नही यह बात नही होनी थी, नही तो वे श्रीकृष्ण का प्रमुख सन्देश अपने साथ ही लेते चले जाने को विवश हो जायेंगे। उन्होंने अपने पर नियन्त्रण करने का प्रयास किया।

'कुछ नहीं, कुछ नहा। उसकी बातो पर ध्यान नही दें। आपने इसे प्रगल्भा कहा न? सचमुच यह सुकान्ति हम सभी में सबसे अधिक वाचाला है। उसकी बातो पर ध्यान नही दें। आप कुछ बता रहे थे वही बतलाए। श्रीकृष्ण ने हमारे दुख को दूर करने का कौन सा यत्न सुझाया है?' ललिता ने बात सभाली।

तो सुनना चाहती हैं आप इसे? उद्धव की स्थिति अब शास्त्रार्थ मे पराजित किसी पण्डित की हो रही थी। वे अन्दर-ही अन्दर टूट चले थे फिर भी साहस का सम्बल नहीं छोड़ा था।

अवश्य। देखें वह हमारे कितने काम का होता है। विशाखा ने ही कहा।

आप दुखी हैं तो श्रीकृष्ण का सन्देश है कि हर दुखी को परमात्मा मे ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। अपने स्वर मे अपनी सम्पूर्ण शक्ति उडेलकर उन्होंने अथाह आत्मविश्वास के साथ कहा।

पर जैसे जल स्तर पर उठने वाला बड़ा-से-बड़ा बुलबुला क्षण मात्र मे लुप्त हो जाता है उसी तरह उनके प्रश्न के उनके मुख से निकलते-न निकलते एक गोपी

पूछ बठी, सुदक्षिणा थी यह—"यह परमात्मा क्या होता है महाराज ?"
"परमात्मा अथवा परब्रह्म ! तुम परमात्मा को भी नही जानती ? कैसी गापिया हो तुम ?" उद्धव को लगा, अब उन्हाने ठीक स्थान पर पकडा है उन्ह ।
"ग्वारन हैं महाराज ! हम परमात्मा, परब्रह्म आदि को क्या जानें ?" विशाखा ने चुटकी ली ।
"अच्छा !" उद्धव ने विजय-भावना से भरकर कहा ।
"अच्छा महाराज ! आप क्या परब्रह्म को जानत हैं ?' ललिता ने प्रश्न किया ।
"क्या नही जानूगा ? खूब जानता हू ।" उद्धव का आत्मविश्वास लौटता आ रहा था ।
"आपने उसे देखा है ?' उसी कोने से सुकान्ति का स्वर उठा ।
"देखा ? कसी भोली हो तुम, कोई परब्रह्म का देखता है ?" उद्धव की झल्लाहट फिर उभर आई ।
"क्या ? क्यो नही देखता महाराज ? आप तो प्रकाड पण्डित हैं श्रीकृष्ण के विश्वास-पात्र सखा । कुछ हम बुद्धिहीनाओ की बुद्धि को भी प्रकाशित करने की कृपा करें ।' सुदक्षिणा बोली ।
"क्या क्या ? वह तो निराकार है, उसे देखने का प्रश्न कहा उठता है ?"
"तो पकडाए न ?' ललिता लगभग ताली बजाती बोली ।
'क्या पकडाए कैसे पकडाए ? ' उद्धव न प्रतिवाद किया ।
निराकार अर्थात जिसका कोई रग रूप नही हो न ही आकार प्रकार । यही न ?"
"हा," उद्धव सगर्व बोले ।
'और आप उसी का ध्यान करने को कहते हैं जिसका कोई आकार, रूप-रग नही ?"
हा !"
'आप किसे उल्लू बना रहे हैं, हमको या अपने को ? ' सुकान्ति ने फिर छेडा । ललिता ने उसकी ओर आखें उठाई ।
"क्यो ? उद्धव को क्रोध तो बहुत आ रहा था पर उन्हाने उसे दबाकर कहा ।
'अरे जिसे देखा नही सुना नही उसका ध्यान कैसे सम्भव है ? अब आप सूरज-चाद को देखते हो उसका ध्यान चाहे तो आखें मूद अथवा आखें खोलकर कर लो पर किसी जन्मजात अधे को कहा कि वह सूरज अथवा चाद का ध्यान करे तो वह कर लेगा क्या ?' ललिता ने टोक दिया ।
' तो निर्गुण, निराकार का ध्यान सम्भव नही है ? ' उद्धव ने जैसे अपने से ही प्रश्न किया ।
' अब निर्गुण-सगुण की तो बात आप ही जानो महाराज ! हम तो सगुण साकार को ही जानती हैं । हमने तो सुना है कि जब से हमारे कन्हैया ने उस मस्त गजराज के साथ-साथ कस के दुधष मल्लो और कस की भी हत्या कर दी और धनुष को बात की बात मे तोड डाला और आठ स्थानो से टेढ़ी कुब्जा को एक झटके मे सीधा कर षोडशी बना डाला तब से मथुरावासी उसे ही परमात्मा अथवा

परब्रह्म सब कुछ मानने लगे हैं। उस श्रीकृष्ण से कह देना कि गोकुल की ग्वारनें निगुण निराकार क्या जानें ? हम तो तुम कहा या न कहो तुम्हारे साकार मनोहारी विग्रह का ही नित्य ध्यान करती रहती हैं और करती रहेंगी, उद्धव जी ! आपका सन्देश चाहे जो हो हमारा सन्देश समाप्त हुआ और अब हम चलती हैं।" यह कहकर ललिता उठ गई। उसके साथ अन्य गोपियां भी उठने को हुई।

उद्धव मूक ! हतप्रभ ! हताश ! जैसे तडित का ग्रास कोई वृक्ष ! उनसे न उठते बने न बैठते। सहसा जैसे उन्हें कोई बात याद आई और वे प्राय खडी हुई ललिता से बोले, क्षमा करना मुझे पर एक बात तो रह ही गई।

"क्या ?"

'यहा राधा नाम की भी कोई गोपी है ?

'है।' ललिता ने हामी भरी।

'वह कहा है ?"

"यहा नही है।

'क्या ?

"एक बात ध्यान से सुन लो उद्धव जी ! राधा बहुत मानिनी है। हम सब शत सहस्र गोपिया भी यहा आपके लिए नही आई थी। हमे बताया गया कि स्वय श्रीकृष्ण आये हैं। ऐसे तो वह आ भी जाती पर श्रीकृष्ण के नाम पर उसने आने से स्पष्ट मना कर दिया।

'पर उसके लिए एक विशेष सन्देश है।

'क्या ?'

वह केवल उसी से कहा जा सकता है।

'आप मुझसे कह दो। मेरा नाम ललिता है। श्रीकृष्ण समझ जायेंगे बात राधा तक पहुंच गई।

इतना सुनते ही शेष सभी गोपिया बाहर निकल गइ।

अब बताइए। ललिता ने कहा।

'श्रीकृष्ण ने राधा से कहा है कि वह यहा के लोगो के कहने पर नही जाय। मेरे हृदय मे जो स्थान है उसे कोई नही ले सकता। मैं मथुराधिपति या चराचर पति जो बन जाऊ मेरी हृदयेश्वरी राधा ही रहेगी—व्रजेश्वरी।

राधा को यह बताने की आवश्यकता नही उद्धव जी ! ललिता ने आरम्भ किया, 'उसके स्फटिक-से स्वच्छ हृदय मे सब कुछ रवि बिम्ब की तरह स्पष्ट है। और हा, राधा और ललिता मे कोई विशेष भेद नहीं है। आप मेरी तरफ से श्रीकृष्ण को आश्वस्त कर देना कि वह दुखी नही है। कृष्ण के अद्भुत कृत्यो की कहानी ने इसे प्रसन्नता ही पहुचाई है। गत से प्रात के पद्म-पुष्प सी प्रफुल्लित है वह—उल्लसित और हुलसित। कह देना कि राधा को सुखी रखना है तो कृष्ण ऐसे और भारी कृत्य करते जाय।

आप निराकार और निगुण की बात व्यर्थ ही यहा उठाने चले थे। राधा एक दिन वस्तुत श्रीकृष्ण को नर नही नारायण के रूप मे देखना चाहती है। तुम उन्हें अभी परमेश्वर समझने का प्रयास करते हो वह उन्हें एक दिन सभी से परमेश्वर कहलवा कर छोडेगी। आप श्रीकृष्ण से कहना आगे मे न तो उन्हें यहा किसी सन्देश-वाहक को भेजने की आवश्यकता है न हमारे दुख-सुख पूछने की।

राधा खुश है तो हम सभी खुश हैं। हम कोई दुख नही।"

इतना कहकर ललिता बाहर चली गई। उद्धव कुछ देर अशक्त और सम्मोहित-से बठे रहे फिर खडा होकर सारथी को सम्बोधित कर स्यन्दन मे अश्व जुतवाए। तब तक नन्दबाबा भी वहा पहुच गए। उन्होने प्रात रात (अल्पाहार) लने का बहुत आग्रह किया पर बिना उद्धव इह एक मूक अभिवादन निवेदित कर रथ पर जा बठे।

एक पराजित योद्धा की तरह लौट रहे थे उद्धव। व्रज की प्राकृतिक सुषमा जिसने कल उनके मन प्राणा को सुख स भर दिया था, आज पूणतया श्रीहीन और व्यथ प्रतीत हो रही थी। व समझ गए थे, पण्डित थे वेद-वेदान्ताचाय। समझ गए कि उनका सोचना एकदम सही था कि श्रीकृष्ण को गोपियो को समझाने-बुझाने से कोइ सम्बन्ध नही था। उस निरासक्त निस्सग को किसी के दुख सुख स क्या लेना? हा जसा ललिता ने कहा राधा के लिए उनके मन म कोई मधुर भाव हो सकता है पर उसकी भी अभिव्यक्ति कहा आवश्यक थी? दो विशुद्ध प्रेम पगे हृदयो के मध्य सवाद का आदान प्रदान तो स्वय होता रहता है। तो उद्धव को व्रज भेजने का प्रयोजन? उद्धव के मन न अनायास यह प्रश्न फिर उनक सामने खडा कर दिया।

मरा मान मदन। मेरे अहकार का भक्षण। जसा कि मैंने पहले ही सोच लिया था।' मन न ही उत्तर भी दे दिया।

पर उद्धव फिर भी उद्धव थ। अहकारी, तत्त्व ज्ञानी। उन्होने तत्क्षण श्रीकृष्ण को उनकी अनुपस्थिति म ही श्राप दे डाला—तुमने मेर स्वाभिमान को चोट पहुचाई है, एक दिन तुम्हारा स्वाभिमान भी ध्वस्त होगा। बडे वीर बनते हो तुम! अनक राक्षसा और मल्लो के मान मदन करन वाले! एक दिन एक साधारण मनुष्य तुम्ह रण क्षेत्र मे पलायन करने को बाध्य कर देगा। रणवीर नही रण-छोड की ही सज्ञा मढेगी तुम्हार सिर पर। कहत हैं स्वच्छ मन से निकले आशीर्वाद और श्राप व्यथ नही जाते। उद्धव का श्राप भी शीघ्र ही फलित हुआ।

आठ

उद्धव के उद्विग्न मन ने अपन सखा को शापित तो कर दिया पर उन्हे भी कहा पता था कि उनके अभिशाप ने अपना काय आरम्भ कर दिया था? उनके पहुचते न-पहुचते मथुरा के क्षितिज पर युद्ध के काले बादल घिरने लगे थे। अस्ति और प्राप्ति की व्यथा-कथा के पश्चात् जरासध एक-दो नही तेईस अक्षौहिणी सना क साथ मथुरा के लिए प्रस्थत ही नही हो चुका था, वह अब यादवा की इस नगरी तक पहुचन ही वाला था।

एक दो दिनो के उपरान्त ही धूल के बादल दूर से ही दृष्टिगोचर होन लगे। गजो, अश्वा और पदातियो के पैरो मे पीडित मथुरा जन-पद के आसपास की

धरती इन रज-कणो के रूप म मानो आकाश स्थित देवताओ तक अपना सवाद प्रेषित करने लगी। पर इसकी आवश्यकता नही थी। श्रीकृष्ण अपने अग्रज बलराम के साथ पूरी तरह सन्नद्ध थ। दो भिन्न भिन्न विशाल रथो पर उन्होने मामाय मे लेकर दिव्य आयुध भर लिय थ और इस अल्पकाल म जो कुछ भी सना व्यवस्थित कर सके थे उसे लेकर ही वे नगर के बाहर निकल आये।

निश्चय हो चुका था कि नगर को युद्ध भूमि नही बनाना था। नगर-जनो को व्यथ ही उत्पीडित और अव्यवस्थित नही होने देना था। नगर की सम्पत्ति को सुरक्षित रखना था।

श्रीकृष्ण और बलराम जसे ही नगर स कुछ ही दूर स्थित एक विस्तत मदान के पास पहुच जरासध और समुद्र की तरह उफनती उसकी विशाल सेना स उनका आमना-सामना हो गया।

क्रुद्ध केसरी की तरह अशान्त और जोर जोर स हुकार भरता जरासध आगे के रथ म ही आसीन था। क्रोध न उसे इतन सयम से भी रहित कर दिया था कि वह अपनी विशाल वाहिनी क बीच म चले। राजा अथवा सेनापति को अपने सन्य-बल स घिरकर युद्ध रत होना ही सवमान्य रणनीति है परन्तु दोनो पुत्रियो क सून सीमन्त प्रदेशो क अवलोकन के पश्चात जरासध को सुरक्षा और आक्रमण सम्बन्धी नियमो से अभी क्या लेना-देना था? वह तो समझ रहा था कि जसे कोई मत्त सिंह बात की बात म बडे-स-बडे गजराज का मस्तक विदीर्ण कर देता है वस ही वह भी बलराम और श्रीकृष्ण का सामना पाते ही उनक प्राणो को बात की बात म हर लेगा। आखिर थ भी क्या उसकी दृष्टि म ये दो बालक अधिक-से अधिक किशोर। कर दिया होगा उन्होने किसी छल प्रपच स कस का वध, पर जरासध क समक्ष उनकी वही स्थिति होने वाली थी जो किसी भयकर अधड के समक्ष पडे सामान्य पादप (वृक्ष) की होती है। मूल धड विहीन हो जाता है वह। वही स्थिति होन वाली थी इन दुष्ट यादव कुमारो की जिन्होने उसके जामाता को यमपुरी पहुचा उसकी एक नहीं दो-दो पुत्रियो के सुहाग को इस तरह ग्रस लिया था जस दो दो चन्द्रमाओ को राहु और केतु एक साथ ही ग्रस गए हो—कभी न छोडने के लिए। नहीं जरासध इन्हे क्षमा नही करने वाला था। मथुरा पहुचन म उसे जो समय लगा सो लगा, इन दोनो उद्धत उद्दड और तथाकथित चमत्कारी यादव-कुमारो को अब यमपुरी पहुचन म अधिक समय नही लगने का।

जरासध का रथ रुक गया था। साथ ही रुक गई थी उसका अनुगमन करती विशाल मगध-वाहिनी।

कृष्ण का सारथ्य करने वाले दारुक ने उनके रथ का ठीक उसके रथ क सामने खडा किया था।

एक भयानक झटके के साथ जरासध का रथ रुका था। उसके रथाश्व हिन हिनाकर दो पगो पर खडे हो गए थे। सारथी को सहसा उनकी वल्गाओ पर अपनी पकड को कसना पडा था। अब तक क्रोधाभिभूत जरासध जो अपनी योजना क क्रियान्वयन की कल्पना म लीन था अपनी गति म इस आकस्मिक व्यवधान स अपन म लौटा। सामने खड थे दो रथ और इनके पीछे यादव-वाहिनी। तो सचमुच चतुर थे ये बालक। जरासध की गणना के अनुसार मथुरा कुछ नहीं तो अभी दो कोस रहा होगा। वह कृष्ण और बलराम क कटे सिरो को मथुरा की गलियो म

कंदुक की तरह उछालने के पश्चात् उस सम्पूर्ण नगर को धूल धूसरित कर देना चाहता था। उसकी आकाश-स्पर्शी अट्टालिकाओ की इट से इट बजा दना चाहता था और छोड़ना चाहता था तो मथुरा के नाम पर एक मरघट जिसम मनुष्यो और पशुआ के असख्य शवा के अलावा, इट पत्थर के अम्बारा के अतिरिक्त और कुछ नही मिलना था। कोई वेगवती नदी जब बाढ-ग्रस्त होती है तो केवल कूल-किनारो के वृक्षो को निमूल नही करती, दूर दूर तक का उसका जल प्रसार असख्य जना के प्राण हरने के साथ-साथ कोशो म विस्तृत धरती को धन धान्य रहित कर उसे दलदल, बियाबान म परिवर्तित कर छोडती है।

पर जरासध का स्वप्न, स्वप्न ही रह गया। चतुर ही नही नीति कुशल इन किशोरो ने नगर प्रवेश का उस अवसर ही नही प्रदान किया था। पर कब माना है किसी क्रुद्ध मगराज ने माग के व्यवधाना को—चाहे गजराजो एव अन्य वन्य जीवा के सम्मिलित प्रतिरोध को भी? कब चिन्ता की है उफनती सरिता ने कूल कगारा की मर्यादा की? बात की बात म उन्ह ध्वस्त कर वह अपनी मनमानी कर जाती है अथवा नही? आ गए ह कृष्ण और बलराम अपनी तुच्छ वाहिनी के साथ उसके सामने-सामने, तब भी कितनी देर टिक्न जा रहे है व उसके समक्ष? लाख जोर लगा ले झझाग्रस्त तरु, पर अपने को निमूल होने से रोक पाता है वह क्या? जरासध इनके सिर पर सवार हो बात की बात म नगर प्रवेश कर जायेगा और अपने कुत्सित सपनो को साकार कर रहेगा। नही रहेगी दो क्षणा के उपरान्त इस धरती पर मथुरा नाम की कोइ नगरी।

जरासध अपनी इस योजना को क्रियान्वित करने की बात सोच ही रहा था कि श्रीकृष्ण ने अपने पाञ्चजन्य शख की ध्वनि की। अत्यन्त पास से हुई इस कर्ण भेदी ध्वनि ने जरासध को घडी भर को विचलित कर दिया पर दूसरे ही क्षण उसने आखें उठाकर देखा तो पाया एक श्यामवर्णा उद्धत किशोर को सामने खडे स्यन्दन म विराजमान किसी केहरी की तरह ही निर्भीक, उल्लसित और आश्वस्त।

तन के रग ने सब कुछ स्पष्ट कर दिया था। तो यही था वह व्याधा जिसने अपने जादू के जाल म फसा उसके जामाता के प्राण हर उसकी पुत्रियो को वधव्य के लिए अभिशप्त कर दिया था। क्रोध से अभिभूत हो आयं जरासध की आखें अगार उगलने लगी। आवेश-ग्रस्त उसका मुख सुबह के सूरज की तरह रक्ताभ हो आया। बात की बात म उसने अपने स्कन्ध से लटकते विशाल धनुष की प्रत्यचा चढाई, उस पर एक अर्द्धचन्द्राकार शर का सधान किया और श्रीकृष्ण की ग्रीवा को लक्ष्य बना वह उसे छोडने ही जा रहा था कि एक बात उसके मन म बिजली की भाति कौंधी—वनराज कही गज शिशु का शिकार करता है? इस किशोर ने वध के सदृश महान योद्धा की चाहे जो हत्या की हो पर इसका अस्तित्व ही क्या है मगध-नरेश के समक्ष? युद्ध सदा समान शक्ति वाला के मध्य वाछनीय है। रण म महारथी महारथियो के साथ, रथी रथियो के साथ, गजारोही गजारोहियो के साथ अश्वारोही अश्वारोहियो के साथ और पदाति पदातियो के साथ भिडते है। यह नही कि कोई किसी के साथ जा भिडे। दुविधा की स्थिति म पड गया जरासध। प्रत्यचा पर प्रखर अर्द्धचन्द्राकार शर सवार पडा था उधर श्रीकृष्ण की गर्दन सामने थी क्षण म उसे छिन्न किया जा सकता था अगर यह किशोर किसी अद्वितीय धनुर्धारी की तरह उस वार को व्यर्थ नही कर गया अथवा इस

ाखर शर को किसी प्रखरतर शर से काट नहीं बैठा।

'हट जाओ मेरे समक्ष स। जरासध ने सहमा सिंहनाद किया।

'यह व्यक्ति अपनी पुत्रियो के वधव्य का वदला लेन आया था अथवा मुझे गाण बचान का अवसर प्रदान करने? जव यह शर-सधान कर चुका था ता नक्ष्यभदन के बदल यह मुझे सावधान क्या कर रहा है? श्रीकृष्ण ने सोचा।

स्थान त्यागन के वदल श्रीकृष्ण न अपने शारग धनुष पर शर-सधान किया और वाल—'तुम ता युद्ध की कामना स आये हो फिर इस तरह कायरता ग्रस्त हो मुझे सामन से हटने की बात क्यो कह रह हो? हटाना हो तो अपने वाणो क बल पर मुझे हटा दा। या मैं तुम्हारे कहन स नहा हटन वाला।

'मगध-नरेश शर छोडे और तुम पर? मैंने समझा था अच्छ-खासे योद्धा हाग तुम। कस का वध किया है, तुमस युद्ध कर कुछ आनद आयगा पर तुम तो निकल निरे बालक। मैं बाल हत्या क लिए नहीं आया और न तुम्ह यह सौभाग्य दन कि तुम एक दिन गव म कहन फिरा कि तुमन जरासध स भी युद्ध किया है। जरासध न जार स कहा। उसक स्वर की कक्शता स उसके रथ के अश्व तक एक बार पुन विदक उठे। वह क्रोधाभिभूत हो रहा था और उसकी आखे निरन्तर दाहिन-बायें घूमकर कुछ ढूढन क उपक्रम म लगी था। स्थिर नहीं था वह। गम निश्वासा स उसक नथुन फडक रहे थे। उसका सारथी अपनी गदन पर उसकी गम सासा का स्पष्ट अनुभव कर रहा था।

हा! हा! हा! कृष्ण न जरासध की बात पर जोर का अट्टहास किया बाल-हत्या? अच्छा कहा तुमने। और तुम्हारा वह जामाता यमपुरीवासी कस जब तक क्या कर रहा था? कितने बालको को मत्यु का ग्रास बनाया उसन, इसका अनुमान भी लगान का कभी प्रयास किया है तुमने? और जहा तक मुझे अपने साथ युद्ध रत हान का सौभाग्य प्रदान करना है वह तो तुम्हारी विवशता है। तुम्ह युद्ध तो करना ही पडेगा मुझस, वरना इन तईस अक्षौहिणिया का क्या होगा जिनके सहारे तुम यहा तक पहुचने का साहस एकत्रित कर सके हो?

जरासध न कृष्ण की बातो पर कोई ध्यान नहीं दिया। उसका दद ग्रस्त मन एक किशोर का मुह लगान की भी अनुमति नहीं द रहा था। उसकी चचल आखें निरन्तर अपने काम म लगी रही और अन्तत स्वय उसके मुख स निकला—"वह रहा।

वह ताल चिन स युक्त बलराम क रथ ध्वज को अवलोकित कर चुका था और उसन सारथी को उसी ओर रथ ल चलन का आदेश दिया।

युद्ध विमुख हो रहे हो? यह तो घोर कातय है। श्रीकृष्ण न व्यग्य किया पर जरासध क पास यह सब सुनन का अवसर कहा था? उसका रथ सीधे बलराम क स्यन्दन व समक्ष जा खडा हुआ।

किशोर ता तुम भी हो पर हा ता अन्तत उस कुटिल कृष्ण स बडे ही। अब तुम्ही पर अपना प्रथम प्रहार करना होगा। काई और उपाय भी नहा आखिर वह जजर उग्रसन तो समर भूमि म उतरन स रहा। एसा कहत ही जरासध न बडी सतकता स अपन अद्धचद्राकार शर का बलराम की ग्रीवा को लक्षित कर छोड दिया। बलराम उसक विशाल रथ का अपनी ओर मुडते देख ही सावधान हो चुक थे और उसक शर को अपन तक पहुचन क पूव ही कुशलता स काट फेंका।

"वाह !" जरासंध के मुख से निकला, "धनुर्विद्या में निपुण प्रतीत होते हो। जरासंध के शर को काट देना तुम्हारे सदृश किशोर के वश की बात नहीं।

"प्रलाप बन्द करो", बलराम प्रत्यंचा को कानों तक खींच चुके थे और उस पर शर-संधान भी हो चुका था। जरासंध उनकी बात का प्रत्युत्तर दे इसके पूर्व ही उसने पाया कि उसके धनुष की ज्या (प्रत्यंचा) बलराम के बाण से कट चुकी थी। मल्ल-युद्ध में पारंगत मगध नरेश को धनुर्धारियों के इस हस्त-लाघव का पता ही नहीं था। वह क्षण-भर को अपनी कटी प्रत्यंचा को ठीक से देखे कि उसने पाया कि उसके विशाल धनुष के भी दो टुकड़े हो गए। बलराम का दूसरा शर उसके धनुष को ठीक बीच से काट गया था।

"कपटी! इस कपट के बल पर ही तुम लोग कंस की हत्या करने में सफल हुए हो। वह हुंकार भरकर बोला और दूसरा धनुष लेने के लिए रथ के पीछे बैठे सहायक की ओर उसने हाथ बढ़ाया।

इसमें कपट कहां है और किधर से? अगर तुम अपनी प्रत्यंचा और धनुष की भी रक्षा नहीं कर सकते तो अपने सिर की रक्षा कैसे करोगे?

जरासंध के हाथ में इस मध्य दूसरा धनुष आ चुका था। बलराम मन्द मन्द मुसकराते रहे। जरासंध ने इस धनुष पर शीघ्रता में प्रत्यंचा चढ़ाई। किन्तु इसके पूर्व कि वह शर-संधान कर पाता, इस प्रत्यंचा और इस धनुष की भी वही गति हुई जो पहले वाले की हुई थी। बलराम ने निरंतर उसके बाईस धनुष काट फेंके। एक शर भी जरासंध बलराम तक पहुंचाने में असमर्थ रहा।

'हूं!' जरासंध ने एक विषाद-पूर्ण हुंकार भरी। अब शायद कोई धनुष नहीं बच पाया था उसके रथ में।

उसने गदा हाथ में ली और रथ से कूद कर बलराम के रथ की ओर बढ़ना चाहा। बलराम तो यह चाहते ही थे। उन्होंने उसे अपने रथ तक पहुंचने का अवसर ही नहीं प्रदान किया और अपनी विशाल गदा ले रथ से कूद पड़े। दोनों रथों के मध्य ही दोनों योद्धाओं का आमना-सामना हुआ।

जरासंध जाना-माना गदा-युद्ध विशारद था तो बलराम इसी वय में गदा, मूसल और हल के प्रयोग में पारंगत थे। प्रथमतः जरासंध की गदा का सामना बलराम ने अपनी गदा से ही किया। दोनों एक-दूसरे के मर्म-स्थल को लक्ष्य बना प्रहार करना चाहते थे पर वार किसी के हाथ नहीं आ पाता था। बस, गदा की टकराहट होती और चमकती हुई चिनगारियां फूट पड़तीं। टकरा से निकले स्वर से आस-पास युद्ध रत वीरों के कान के पर्दे फटने लगते। दो मस्त वृषभ की तरह दोनों भिड़ चुके थे। पैतरेबाजी में भी दोनों कुशल थे। पैंतरे काट कर एक-दूसरे के वार बचा ले जाने में दोनों को सिद्धहस्तता प्राप्त थी। बलराम के युद्ध चातुर्य को देखकर जरासंध क्रोधित होने के साथ-साथ विस्मित भी हो रहा था। उसे लगा कुछ है इन दो किशोरों में तभी इन्होंने कंस के सदृश योद्धा और उसके महान मल्लों को भी यमपुर भेज दिया। पर बात अब सहनशीलता की सीमा को पार कर रही थी। जरासंध आर्यावर्त का विख्यात गदा-योद्धा था। वह इस क्रीड़ा को और अधिक नहीं चलने दे सकता था। आखिर वनराज कब तक किसी सामान्य वन्य-पशु के साथ अनावश्यक क्रीड़ा रत रह सकता है? वह बलराम को उससे आगे नहीं बढ़ने देना चाहता था। उसने अचानक अपनी गति को **आकस्मिक**

मोड दिया और बलराम के वक्षस्थल का लक्ष्य बना गदा का भीषण प्रहार कर दिया। बलराम उसकी मुख मुद्रा से ही उसकी योजना पढ़ चुके थे और उन्होंने अचानक लाघव का प्रयोग कर अपने को आकाश में उछाला और नीचे आते समय जरासंध की गदा पर इतने जोर का प्रहार किया कि उसके दो टुकड़े हो गए। जरासंध रिक्त-हस्त। बलराम चाहते तो अपनी गदा के प्रहार से बात की बात में उसके विशाल मस्तक के दो टुकड़े कर देते। जरासंध इस बात को जानता था और वह किसी चीते की चपलता से ही अपने रथ की ओर भागा। बलराम उससे भी अधिक क्षिप्रता से भागकर उसके प्राण हर सकते थे। पर निःशस्त्र पर प्रहार करना उनकी आचार-संहिता में नहीं था। वे अपने रथ की ओर मुड़ और जब तक जरासंध नई गदा लेकर मैदान में उतरे तब तक वे अपनी गदा रख अपना मूसल लिये उपस्थित हो चुके थे। उन्होंने कमर में एक प्रष्ट पाश भी खोस रखा था। जरासंध शर्म से कुछ भरा हुआ-सा बलराम के सामने उपस्थित हुआ। आर्य भूमि के विख्यात गदा-वीर की गदा एक किशोर के हाथों छिन्न भिन्न हो जाय यह उसके अहम् को आहत करने को पर्याप्त था। दूसरे आर्य-वीर सुनेंगे उसकी इस दुर्दशा के सम्बन्ध में तो क्या सोचेंगे वे? यही चिन्ता उसके सिर को ऊपर नहीं उठने दे रही थी।

यह खेल अब समाप्ति पर है जरासंध! मेरे पास इतना समय नहीं कि मैं तुम्हारे साथ व्यर्थ में उलझा रहूँ। इधर तुम्हारी तेईस अक्षौहिणियाँ भी हैं जिनसे मेरा अनुज अकेला जूझ रहा है। सावधान हो जाओ। असावधानी पर प्रहार करना मैंने नहीं सीखा। गदा के ध्वस्त होने से शर्म करने की आवश्यकता नहीं। कभी कभी अपना व्यर्थ का अहंकार ही अपनी दुर्दशा का कारण बनता है। बलराम ने जरासंध को सम्बोधित किया।

अब तक जरासंध बलराम के हाथ में पड़े मूसल को देख चुका था। उसका रहा-सहा साहस भी जा चुका था। वह जानता था कि उस किशोर ने मूसल तथा हल को शस्त्र के रूप में प्रयोग करने में ऐसी सिद्धहस्तता प्राप्त कर ली है कि इन दोनों में से किसी के उसके हाथ में होने से बड़े-बड़े योद्धाओं के प्राणों की भी खैर नहीं थी। जरासंध को इस बात का पश्चात्ताप हो रहा था कि व्यर्थ ही वह रथ से कूदकर बलराम के साथ मल्ल युद्ध की मूर्खता पर उतरा। पर वह करता भी क्या? उसके सारे धनुष तो उस किशोर-से प्रतीत होते भयानक योद्धा ने काट दिए थे। जो धनुष की प्रत्यंचाओं को सूची भेद शरों के द्वारा बात की बात में काट सकता था उससे परिघ और भल्ल-आदि से भी तो युद्ध रत नहीं हुआ जा सकता था? उन्हें काटने में उसे कितना समय लगता?

जरासंध बलराम के सामने तो आ गया पर उसे अब अपने प्राणों पर घिरा संकट स्पष्ट लक्षित हो रहा था। मूसल-युक्त बलराम के हाथों से बच निकलने का अब कोई प्रश्न ही नहीं था। तभी उसकी दृष्टि बलराम की कमर में खुसे पाश पर पड़ी। उसकी जान में जान आई। बलराम उसकी हत्या की इच्छा नहीं रखता था अधिक से-अधिक वह उसे बन्धन-युक्त करना चाहता था नहीं तो इस पाश की कोई आवश्यकता नहीं थी। जरासंध इन विचारों में निमग्न ही था कि बलराम के मूसल का अग्र भाग उसके वक्ष-स्थल से आ लगा। उसे लगा जैसे सैकड़ों बिजलियाँ उसके हृदय प्रान्तर पर एक साथ आ टूटी हों।

सज्ञा शून्य होते-होते जरासध बलराम के मुख से निकला वह वाक्य किसी प्रकार सुन सका, "प्रमाद सर्वत्र खतरनाक होता है मगध-नरेश ! यह रण भूमि है चिन्तन ध्यान का स्थान नही।"

सज्ञारहित जरासध को बलराम ने पूरी तरह बाधकर रथ के पिछले भाग म डाल दिया।

रथ पर सवार हुए तो श्रीकृष्ण का गगन चुम्बी गरुड ध्वज दूर पर लक्षित हुआ। बुरी तरह घिरे हुए थे वह। जरासध एव बलराम को आपस म भिडे देख कर जरासध के साथ आए राजाओ और उसकी तईस अक्षौहिणियो ने श्रीकृष्ण को ही जा घेरा था।

बलराम मन-ही मन व्यथित हुए। गरुड ध्वज कृष्ण एकाकी और य तईस अक्षौहिणिया! गरुड को इन सर्पो ने घेर रखा है। उन्होने शीघ्रता से रथ को उधर दौडाया। वे श्रीकृष्ण के पार्श्व म आ गए। धीरे से उनके कान म कहा—'बदी हो गया जरासध।"

श्रीकृष्ण का साहस द्विगुणित हो आया। उन्होने और मनोयोगपूर्वक जरासध की सेना का सहार आरम्भ किया। अब तक वे यही कर रहे थे। जसे ही जरासध उन्हे छोडकर अग्रज की ओर भागा था, वह समझ गए थे कि सर्प स्वय नेवला का ग्रास बनने चला है और उन्होने अपना ध्यान उसकी विशाल वाहिनी की ओर लगा दिया था। उनका शार्ङ्ग धनुष, सुदर्शन चक्र की क्षिप्रता से ही चारो दिशाओ म घूमने लगा था और इनसे बाणो की अजस्र धारा निकलने लगी थी। खण्ड मुण्ड कटकर, क्षत विक्षत हो रणागण म बिछने लगे थे। अश्वो और हस्तियो के बिछ जाने से रथारूढो को मार्ग भी कठिनाई से मिल पा रहा था। पर सभी श्रीकृष्ण की ओर प्राणपण से बढे आ रहे थे। पर प्राय तीन प्रहर क इस महासमर म श्रीकृष्ण ने जरासध की तईस अक्षौहिणियो म बाईस को तो समाप्त ही कर दिया था।

'साधु!' अनुज की इस अकल्पनीय वीरता को देख बलराम के मुख से सहसा निकला और उन्होने शेष वीरो के सहार म श्रीकृष्ण का हाथ बटाना आरम्भ किया। अपने हाथ के मूसल को तो वह कभी का फेक चुके थे। इस बार हलधर ने हल को सभाला और रथ से कूद कर बिजली की तरह शत्रु-सेना पर टूट पडे। इनके हल की मार को पदाति तो खैर क्या झेलते, गजारोही और अश्वारोही भी उनके उग्र रूप को देखकर भाग खडे हुए। रथियो ने अवश्य साहस किया पर रथ भी जब हल की मार से टुकडे टुकडे होने लगे और रथारोहियो को या तो रथ छोड प्राण लेकर भागना पडा या उनसे हाथ धोना, तो वे भी बलराम का सामना किए बिना ही भाग निकले। इधर मगध-नरेश के बदी हो जाने की सूचना से उसकी वाहिनी का मनोबल यो भी पूर्णतया गिर चुका था। वह सग्राम की मुद्रा म कम और समय पाते ही भाग खडी होने को अधिक प्रस्तुत थी। पर बलराम और श्रीकृष्ण इन्हे छोडने वाले कब थे? उन्होने और उनकी छोटी यादव-सेना ने भागते हुए मगध-नरेश के मित्र-योद्धाओ का भी पीछा किया और उन्हे मृत्यु का मार्ग दिखलाया। आखिर ये ही तो एक दिन पुन मथुरा पर चढ आने वाली सेना का अग होंगे? सर्प और शत्रु पर दया करने की बान कहा से आती है?

रणागण पूरी तरह सूना हो गया था। यह बात और थी कि सामने रक्त की नदी प्रवाहित थी। असख्य योद्धाओ, गजो और अश्वो के शव बिछे पडे थे। पर उपाय भी क्या था? जो स्वय पतगा बन प्रकाश पर टूटे थे उन्हे तो गत प्राण होना ही था। श्रीकृष्ण और बलराम ने जरासध की ओर मुख किया। मगध-नरेश की सेना लौट आई थी पर भय था कि उसकी आज्ञा से स्पष्ट झाक रहा था। उसे लग रहा था उसके कालकवलित होने मे अब थोडा भी विलम्ब नही। उसकी सेना से निबटने के पश्चात अब ये दोनो भाई उसी से निबटेंगे। पर हुआ उलटा ही। श्रीकृष्ण ने उसकी ओर देखते हुए बलराम से कहा 'इसे बधन मुक्त कर दो भया! दुष्टो के भार से पृथ्वी दबी जा रही है। पापियो के अत्याचार अनाचार और अविचार से जन मानस त्रस्त हो आया है। अपने स्वार्थ के लिए सिंहासन से मात्र चिपके रहने के लिए ये सब कुछ कर रहे है। अपने राज्य के हितो को भी ताक पर रख ये एश्वय बटोरने मे लगे है और इनका सम्पूर्ण जीवन -दिरा और मदिराक्षियो की आखो डूब चुका है। इनका विनाश आवश्यक है। मैं जानता हू इसे छोडेंगे तो यह फिर अपनी तरह के अन्य पापकर्मियो को लेकर शीघ्र ही पहुचेगा और तब हम उन्हे भी समाप्त कर सकेंगे। और जरासध बधन मुक्त हो गया।

नौ

जरासध की पराजय ने मथुरावासियो को श्रीकृष्ण के प्रति और श्रद्धानत कर दिया। श्रीकृष्ण की शौर्य गाथा अब मथुरा और ब्रज की सीमाओ मे ही सीमित नही रही। अकस्मात वह प्राय राष्ट्रव्यापी हो गई। पर्याप्त दूरी थी मथुरा और मगध नरेश की राजनगरी गिरिव्रज (आज का राजगृह) के मध्य और उस पर मगधपति की दिगन्त व्यापी कीर्ति। इस कीर्ति को धूल धूसरित करने वाला श्रीकृष्ण कोई सामान्य व्यक्ति नही हो सकता था। श्रीकृष्ण पर आरोपित होने वाली असामान्यता दिव्यता देवत्व और बहुत हद तक ईश्वरत्व की भावना मे सहसा सहस्रगुणा वृद्धि हो गई। हर कोई—चाहे वह कोई नरेश हो अथवा साधारण व्यक्ति—विस्मय विमुग्ध हो एक बार बोल ही पडता—जरासध की पराजय वह भी जब वह तईस अक्षौहिणियो के साथ था? नही यह नही हो सकता। पर सत्य तो सत्य था। सत्य की आग को अविश्वास और सशय की राख कब तक ढक सकती थी? अपनी पराजित सेना के कुछ बचे-खुचे घायल अद्धमृत सनिको के साथ अपमानित लौटता जरासध मथुरा से लेकर मगध तक स्वय अपनी अपमान-कथा कहता गया था और यह कथा अगर हवाओ पर सवार हो हस्तिनापुर चेदि अवन्तिका और काशी तक पहुच गई थी तो इसमे आश्चय क्या? और सभी छोटे-बडे नरेशो ने आर्यावत के राजनीतिक क्षितिज पर एक अत्यन्त दैदीप्यमान नक्षत्र को उदित होते देखा था तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही था। भले ही ये नरेश सामान्यजनो की तरह श्रीकृष्ण मे ईश्वरत्व आरोपित करने को प्रस्तुत नही हो पर उनकी विस्मयकारी कीर्तियो ने एक नूतन शक्ति-केन्द्र के

उभरने की बात से उन्हें पूरी तरह अवगत करा दिया था।

किन्तु कुछ थे अब भी जो जरासंध की तरह ही श्रीकृष्ण को एक सामान्य किशोर से अधिक मानने को प्रस्तुत नहीं थे—किशोर जो कुछ जादू-टोने के बल पर पहले गोकुल में कंस के बलशाली योद्धाओं को मृत्यु के घाट उतार चुका था और पुनः स्वयं कंस के वध और मगध-नरेश की घोर पराजय का कारण बना था। उन नृपतियों में कुछ अकारण ही श्रीकृष्ण के शत्रु बन बैठे थे। कीर्ति ईर्ष्या का कारण बनती ही है, विशेषकर उनके लिए जो स्वयं कुछ विशेष उपलब्ध करने में अक्षम होते हैं।

ऐसे ही लोगों में एक था चेदि नरेश शिशुपाल। उसने जब श्रीकृष्ण के हाथों जरासंध पराजय की बात सुनी तो अपने दरबारियों के मध्य ही बोला—"यह झूठ है। सर्वथा मिथ्या। एक ग्वाल किशोर जो कल तक यमुना किनारे गौएं चराया करता था क्या मगध नरेश से दो हाथ करने का साहस करेगा?"

"पर बात केवल दो हाथ करने की नहीं, बात तो जरासंध की अपमानजनक पराजय की है। सुना तो यह भी गया है कि जरासंध पर दया कर श्रीकृष्ण और उसके अग्रज बलराम ने उसके प्राणों को नहीं लिया वर्ना बलराम ने तो उसे बन्दी तक बना लिया था।" एक सामन्त ने कहा।

"मिथ्या! घोर मिथ्या! कहां तुमने सुनी यह बात? कई हाथियों के बल रखने वाले मगध-नरेश जरासंध को बन्दी बनाना सहज है क्या? कहां-कहां की कहानी गढ़ लाते हो तुम लोग?" शिशुपाल का मुख क्रोध की लालिमा से तिलमिला आया।

"यह मिथ्या नहीं, सत्य है महाराज!" सामन्त ने निर्भय होकर कहा, "यह बात हमारे गुप्तचरों ने जरासंध के पराजित अपमानित सैनिकों के मुख से ही सुनी है।"

"सुनी होगी," शिशुपाल ने इस अप्रिय चर्चा को वहीं समाप्त करने की दृष्टि से कहा "पर मैं उस तथाकथित ईश्वर-अवतार को साधारण अहीर-सुत से अधिक नहीं मानता।"

मानने को जरासंध ने भी अपनी पराजय नहीं मानी थी। वह अपने बन्धन का कारण अपने प्रमाद को मानता था। लोगों में ख्यात अपने अपराजेय गदा-योद्धा होने की बात उसे मद में अन्धा कर गई थी वर्ना वह उस बलराम कहे जानेवाले श्रीकृष्ण-अग्रज के बन्धन में नहीं आता। पर इस पराजय ने उसके प्रमाद की अग्नि में घृत की आहुति डालने से अधिक कुछ नहीं किया था। उसका आहत अहम् उसे शान्ति से बैठने देने को नहीं था। वह पुनः सेनाओं के संगठन में लग गया। मित्र राजाओं से सम्पर्क किया और मास लगते न-लगते पुनः एक बड़ी वाहिनी के साथ मथुरा की ओर चल पड़ा।

श्रीकृष्ण और बलराम तो उसकी प्रतीक्षा में बैठे ही थे। छोड़ा ही उसे इसलिए था कि वह अपने सदृश अन्य अत्याचारियों अनाचारियों को लेकर पुनः मथुरा की ओर युद्ध करेगा और वे पुनः सबको मृत्यु कर मनन में समर्थ होंगे।

मथुरा की प्रजा और उसके सैनिक भी आक्रमणकारियों का सामना करने के

लिए पूरी तरह सन्नद्ध थे। उन्हें श्रीकृष्ण की अलौकिकता में दृढ़ विश्वास हो आया था और उन्हें लगता था कि श्रीकृष्ण के हाथ वे एक क्या सौ जरासंधों को पराजय का मुख देखने को विवश कर सकते थे।

हुआ भी वही। जरासंध की विशाल वाहिनी मथुरा प्रवेश के पूर्व ही रोक ली गई। पूर्व की तरह ही भयंकर युद्ध हुआ। रक्त की नदियां प्रवाहित हुईं और इसके पहले कि जरासंध पुनः बन्दी बना लिया जाय, वह अपनी बची खुची सेना के साथ भाग खड़ा हुआ।

पर मथुरावासियों का भी शान्ति से नहीं बैठने देने के लिए जैसे जरासंध ने प्रण ही कर लिया था। एक तो अकल्पित पराजय वह भी एक अदने-से ग्वाल छोकरे के हाथों, एक अपेक्षाकृत छोटे राज्य मथुरा के हाथों ऊपर से राजधानी लौटने पर दो पुत्रियों—अस्ति और प्राप्ति—के सूने सीमन्त रखा का दर्शन। उसकी क्रोधाग्नि और साथ-ही साथ ग्लानि भी निरन्तर वर्द्धिशील होती गई। अन्य राज्यों के राजाओं को मुख दिखाने लायक भी वह नहीं रहा था। कभी सम्पूर्ण आर्यभूमि में भयानक गदाधारी के रूप में विख्यात जरासंध का नाम अब मात्र पराजय का पर्याय बनकर रह चुका था। उसे मथुरा का विनष्ट कर श्रीकृष्ण बलराम विशेषकर श्रीकृष्ण का वध तो करना ही था। बलराम अब युद्ध में कम ही रुचि ले रहा था श्रीकृष्ण अकेले ही अपनी वाहिनी के साथ जरासंध की अनेक अक्षौहिणियों से आ भिड़ते थे। अब तक वह अपने को पूरी तरह समर्थ और सक्षम समझने लगे थे युद्ध विजय के लिए। पराजित जरासंध अपमान का घूंट पीकर भाग खड़ा होता। उसे भी लगने लगा था जादू टोना जाने या नहीं जाने यह कल का छोकरा और अब पूरी तरह युवा बन आए उसके जामाता-हन्ता की भुजाओं में अपार शक्ति आ भरी थी—शक्ति जो कहीं से सामान्य नहीं थी। अलौकिक वह उसे कहे ऐसा उसका मन मानता नहीं था, पर वह सबसे अधिक भयभीत था तो उसके उस गोलाकार तीक्ष्ण शस्त्र से जिसे उसके पक्ष वाले सुदर्शन चक्र के नाम से जानते थे और जिसे देखते ही उसके सैनिकों में भगदड़ मच जाती थी क्योंकि इस कौशल से वह चक्र को चलाता था कि एक ही वृत्ताकार चक्कर में वह कई सैनिकों का सिरोच्छेदन कर पुनः उसके हाथों में लौट आता था।

जरासंध को इस बात का आश्चर्य था कि अब तक उसने उस अद्भुत शस्त्र का संचालन उस पर क्यों नहीं किया था। वह अच्छी तरह जानता था कि एक बार अगर उसकी ओर वह भयानक और तीक्ष्ण दांतों वाला शस्त्र चला तो वह उसके सिर को भी गर्दन से उतारे बिना नहीं छोड़ेगा। पर उसे क्या पता था कि श्रीकृष्ण जान-बूझकर उसे जीवित लौटने दे रहे थे। उन्हें तो उसी के बहाने उसके सदृश कइयों का सफाया करना था।

पर हर बात की सीमा होती है। जरासंध का आक्रमण भी अब सीमा लांघ चुका था। वह सत्रह बार मथुरा पर आक्रमण कर चुका था और सत्रहों बार उसे मुंह की खानी पड़ी थी।

श्रीकृष्ण सन्तुष्ट थे कि उन्होंने इन युद्धों में जरासंध और उसके मित्र राजाओं की शक्ति इतनी क्षीण कर दी कि वे अब अपने पड़ोसी राज्यों के साथ साथ अपनी प्रजा पर भी अत्याचार-अनाचार करने योग्य नहीं रहे।

किन्तु सन्तुष्ट नहीं था तो जरासंध। प्रतिशोध की अग्नि उसे नित्य तिल

तिल कर जलाए जा रही थी। सत्रह बार पराजय का सामना करना सामान्य बात नही थी। इस मध्य कुछ नही तो दस वर्षों का मूल्यवान समय भी निकल गया था। राज्य मे इन वर्षों मे विकास का कोई कार्य भी नही हो सका था। राज कोष भी प्राय रिक्त हो गया था। असख्य लोगो को प्राणो से हाथ धोने पडे थे वह अलग।

विकास मथुरा का भी बाधित हुआ था। निरन्तर युद्ध रत रहने के कारण श्रीकृष्ण कोष की सवृद्धि की ओर विशेष ध्यान नही दे पाये थे। पर उन्होने अपनी राजधानी को बर्बाद होने से बचा लेने मे सफलता पा ली थी। जरासध की सेना कभी भी नगर-द्वार के अन्दर प्रवेश नही पा सकी थी। पर उन्हे यह युद्ध अब व्यर्थ लग रहा था। सत्रह बार जरासध की तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेनाए मारी जा चुकी थी। उसके अन्यायी-कदाचारी मित्र भी शक्ति-क्षीण या विनष्ट हो चुके थे।

"अगर जरासध इस बार भी आता है इधर तो इस खेल को समाप्त ही कर देना है।" उन्होंने बलराम को परामर्श दिया।

'तुम ठीक कह रहे हो। नेवले और सर्प का यह खेल बहुत चल चुका। अब इस सर्प को समाप्त ही कर देना है।" बलराम ने श्रीकृष्ण के विचार की सपुष्टि की।

जरासध की अठारहवी चढ़ाई की प्रतीक्षा म मथुरा ने सैन्य प्रशिक्षण प्रदान कर अपने सैन्य-बल म उत्साह भरा। सम्भव था जरासध भी इस बार सदा के लिए इस झझट से मुक्त होना चाहता हो और इस आक्रमण मे वह तेईस के बदले सत्ताईस अक्षौहिणियो का उपयोग करे।

ठीक ही जरासध भी इस बार इस युद्ध को निर्णायक मोड देने को कटिबद्ध था। पर उसने इस बार एक नई चाल चली।

दस

मथुरावासियो का विस्मय चरमोत्कर्ष पर था। जसे सध्या के आसमान पर कालिमा का विस्तार होने लगता है और नीचे का सब कुछ धूमिल और अस्पष्ट होता जाता है और जैसे दिन म ही, काले बादलो की पर्त-दर-पर्त के अन्दर सूर्य के छिप जाने से, रात्रि का अधकार सर्वत्र छाने लगता है अथवा पूर्ण चाद की चन्द्रिका से ज्योतित शुभ्र धवल रात्रि अकस्मात किसी मेघ-खण्ड द्वारा चन्द्रबिम्ब के आच्छादित हो जाने से काल रात्रि सी घिर आती है वसी ही स्थिति हो आई थी नगर की।

चारो ओर आकाश के स्पर्श को आतुर रेत ही रेत, धूल ही धूल—काली और कुरूप। चारो ओर क्षितिजो पर जस एक ही साथ अधकार ने आक्रमण कर दिया हो। हाथ को हाथ नही सूझने की स्थिति आ गई थी। सब अपने-अपने रूप म इसका अर्थ लगाने म लीन थे।

"जरासध चढ़ आया है पुन।" किसी ने कहा।

"वह तो इसके पहले भी सत्रह बार आया है पर ऐसी काल रात्रि बनकर तो कभी नहीं आया? एक अय नागरिक न प्रतिवाद किया।

"इस बार पर्याप्त बडी वाहिनी लेकर आया होगा।

'कितनी? उसकी तीन सौ इक्कानवे अक्षौहिणिया तो निनष्ट हो चुकी अब तक। अब तो पहले की तरह तेईस अक्षौहिणिया का भी प्रबध कर ले तो बडी बात होगी।

'तो फिर?'

'यह कोई नया सकट है।' एक वृद्ध नागरिक ने अनुमान लगाया।

"नया सकट? नया सकट क्या आएगा मथुरा पर? वह भी श्रीकृष्ण-बलराम के होते? जरासध की दुर्दशा स आज आर्यावत का कौन व्यक्ति परिचित नही? एक दूसरे वृद्ध न ही प्रतिवाद किया।

तो आपस म वाद विवाद करने स क्या लाभ? यह कालिमा तो समीप ही आती जा रही है चलकर श्रीकृष्ण स ही क्या नही मिलें? अब तक प्रमुख नगर चौक पर बहुत सारे लोग एकत्रित हो गए थे।

श्रीकृष्ण क्या अब तक हमारे परामश क लिए हाथ पर हाथ रख बठे होगे? इस कालिमा ने उन्हे भी सशकित नही किया होगा क्या? और ठीक इसी समय रथ चक्रो का स्वर सुनाई पडा।

"लो आ ही रहे है श्रीकृष्ण। उनके स्यन्दन का ही स्वर है यह। चिन्तित नागरिको म से एक ने कहा।

ठीक ही क्षणाध म ही क्षिप्रता से भागता श्रीकृष्ण-स्यन्दन आ पहुचा। उस घिरती कालिमा म भी लोगो न देखा दारुक नही था सारथी क स्थान पर। श्रीकृष्ण स्वय स्यन्दन चला रहे थ।

अब कोई चिन्ता की बात नही। अब सब कुछ स्पष्ट हो जाएगा जस मघो के छटने म आसमान साफ हो जाता है बस ही श्रीकृष्ण क आ जाने से कुछ भी अस्पष्ट नही रहेगा। एक नागरिक न सन्तोष की सास लेकर कहा। सभी के चेहरा पर खिच आई चिन्ता की रेखाए स्वत तिरोहित हो गइ।

'कालयवन है इस कालिमा का कारण। मलेच्छो का नायक कालयवन। जरासध का परम मित्र। समुद्र की तरह ही अथाह सेना क साथ बढा आ रहा है वह—मथुरा चारो ओर स घिर गई है कालयवन के काल मलेच्छ सनिको से। श्रीकृष्ण सब कुछ पता करक ही आ रहे थ। पता लगाने नही पता देने आए थे वह नगर-चौक पर।

'आप सभी अपने-अपन शस्त्रास्त्र लेकर तयार हो जाए। सभी को सय प्रशिक्षण प्राप्त ही है। सनिक अब तक स्वत प्रस्तुत होगे। कालयवन की सेना अब भी नगर स कुछ दूर है। किसी भी स्थिति म उसे नगर म प्रवश नही करने देना है। सकट इस बार गहरा है। जरासध के अनुरोध पर ही आया है यह इस अपार सय-बल क साथ। जरासध भी आता ही होगा। हम एक साथ दो-दो शत्रुओ का सामना करना पडेगा। पर चिन्ता की कोई बात नही। आप सब तयार होकर आज्ञा की प्रतीक्षा करें। अभी आपको समरागण म नही उतरना है। हमारे सनिक ही सभालेंगे स्थिति को। मैं अग्रज स परामश को जा रहा हू। आप सब अपने अपन घर लौटें। हो सके तो शस्त्रास्त्रो स सन्नद्ध होन क साथ

साथ अपन सामानो को भी एकत्रित कर लें। उन्हें छकडों और वृषभों पर लाद लें। मेरे मन म एक विचार आ रहा है। भया बलराम भी शायद उसस सहमत हो जाए।' कहकर श्रीकृष्ण ने अपने स्यन्दन को बलराम के महल की ओर बढाया।

"यह क्या कह रहे हैं श्रीकृष्ण ? यह सामानो को सहेजने की बात ?" नगर चौक मे अपने अपने घरो को लौटते हुए नागरिको ने बातचीत आरम्भ की।

'श्रीकृष्ण जो कह रहे हैं वही करने मे कुशल है। वह कोई सामान्य व्यक्ति नहीं।

"पर मुझे तो लगता है वे हमसे नगर खाली करने को कहेंगे।'

"हो सकता है।"

"तो असामान्य व्यक्ति सामान्य लोगो की तरह व्यवहार करता है ? सकट आन पर पलायन कर जाने की योजना बनाता है ?" एक न शका की।

'सशय का शिकार नही बनो," किसी और ने प्रतिवाद किया, "असामान्य व्यक्तियो की बातें असामान्य लोग ही जानें। हम सामान्यो को तो आज्ञा का पालन करना है। श्रीकृष्ण जो भी करेंगे सबका मगल को ही ध्यान म रखकर।'

बलराम न श्रीकृष्ण की योजना को स्वीकृति दी।

श्रीकृष्ण न नीति की बात कही कि दो-दो शत्रुओ स एक साथ लोहा लेना उचित नहीं, विशेषकर तब जब मथुरा अभी तक कस की विध्वसकारी नीतियो के कुप्रभाव स अपने को मुक्त नही कर पाई है। निरन्तर युद्धरत रहने के कारण हम मथुरा के विकास क लिए कुछ कर भी नही सके हैं। युद्ध के कारण अर्थ व्यवस्था निरन्तर बिगडती ही गई है। कस के शोषण म जो कुछ बचा था वह युद्धाग्नि म स्वाहा हो रहा था। जरासध अपनी प्रतिशोधाग्नि से मुक्त होन म असमर्थ था। आज वह कालयवन को लेकर आया है कल एक से अधिक सहायको को लेकर पहुच सकता है। मथुरा अब सुरक्षित नही रह गई है। राजधानी के लिए उपयुक्त स्थान है नही यह। राजधानी को पूरी तरह सुरक्षित होना चाहिए। ऐसा कि शत्रु को उस तक पहुचने म ही अपनी सारी शक्ति लगा देनी पडे। ऐसा एक स्थान श्रीकृष्ण न देखा भी था, उन्होंने अग्रज को सूचित किया।

"कहा ? बलराम की सहज जिज्ञासा थी।

"दूर, पश्चिम समुद्र के पास। युद्धो के मध्य एक बार समय निकालकर मैं वह स्थान देख भी आया हू। उस समय आप तीर्थाटन पर थे।"

'हा, तीर्थाटन म मेरा मन बहुत रमता है। उस समय मैं शायद पूर्वी समुद्र की ओर गया था। उधर अग देश मे भुवनेश्वर मे शिव के बडे अच्छे मदिर हैं। लिंगराज के मदिर न मेरे मन को विशेष बाधा था। फिर ठीक सागर के तीर बसा एक नगर भी जिसका नाम जगन्नाथ के नाम पर ही रखा गया है, आध्यात्मिक ऊर्जा स सम्पन्न है। कुछ दिनो तक मैं वहा भी बधा रहा। तीर्थों और देवी देवताओ के प्रेमी बलराम बोलते ही गए।

"हा, तो मैं पश्चिम समुद्र की बात कर रहा था। श्रीकृष्ण ने बलराम का ध्यान फेरा। उन्हे पता था कि कालयवन अपनी सेना के साथ निरन्तर नगर के

ममीप आता जा रहा है।

तो ?" बलराम न पूछा।

'मुझे वहा समुद्र मध्य एक द्वीप-सा स्थान राजधानी के लिए बहुत उपयुक्त लगा।"

"समुद्र मध्य ? तब तो वह स्थान सचमुच सुरक्षित है।" बलराम ने उत्साह पूवक कहा।

हा। मैंने वहा निर्माण-काय भी आरम्भ कराने का आदेश दे दिया था। द्वीप पर पहुचने क लिए नौकाओ को पुल निर्माण की बात बता दी थी और द्वीप पर कइ सुदर महल और विस्तत सडको और वीथियो की बात भी। मेरा अनुमान है वह नगर अब तक प्राय निर्मित हो गया होगा। बचा-खुचा निर्माण काय हम वहा पहुचकर कर लेंगे।

'योजना तो ठीक है बलराम ने कहा ऐसे हम इसी युद्ध म जरासध का वध भी कर दें तो समस्या का बहुत मीमा तक समाधान हो सकता है। जरासध को ता हम स्वत छोडते रह।

'छोड्ते रहे ता अच्छा ही किया। पर अभी हम दो-दो शत्रुआ स जूझकर ही जरासध की हत्या कर सकते है। उसकी शक्तिया भी क्षीण हो चुकी हैं। उसके वध म अपनी शक्ति व्यथ नष्ट करना उचित नहा। उसके सारे दुष्ट मित्र भी काल के गाल म जा चुके हैं। बचा था यह म्लेच्छराज कालयवन। इसे समाप्त करने की भी मेरी एक योजना है। इसके लिए किसी युद्ध की भी आवश्यकता नही पडेगी। जरासध को हम नही छोडे रहते तो कालयवन के सदृश घोर अत्याचारी म्लेच्छ का वह मत्यु मुख तक कसे जाता ? श्रीकृष्ण ने कालयवन मे निपटने की अपनी योजना बलराम पर स्पष्ट कर दी।

तो नगरवासियो का नगर खाली करने को कह दें ? श्रीकृष्ण न अतिम रूप म अग्रज मे पूछा।

"कह दा। मथुरा छोडते तो बहुत कष्ट हो रहा है पर अब कोई उपाय भी नही है। लगता है हम लोगा की नियति म एक स्थान पर स्थिर रहकर ठहरना लिखा ही नही है। नन्दग्राम छोडकर वृदावन आए उसे छोड मथुरा। अब मथुरा को भी छोडकर । हा क्या नाम रखने जा रहे हो उस नगर का जहा हम बसना है ?

"आप ही बालें। मैंने तो द्वारिका मोचा है।

ठीक ही है। अच्छा ही नाम है। स्वग-द्वार की स्मति दिलाता है। द्वारिका पुरी कह ला उसे। और हा, इसस पूव कि कालयवन नगर को पूरी तरह घेर ले, नागरिका का नेतृत्व कर तुम पश्चिम की ओर से निकल जाओ। मैं कालयवन से निपट लूगा।

नही, कालयवन की सेना विशाल है। मैं स्वय देखकर आ रहा हू। आपको मैं एकाकी उससे निबटने देना नही चाहता। इसके अतिरिक्त उसके विनाश की योजना भी मैं आपको बता चुका हू। पश्चिम की ओर अभी कालयवन के सनिको का दबाव बहुत कम है। वह स्वय उत्तर की ओर म आ रहा है। मैं नागरिको को पश्चिम की सय-पक्ति को पार करा वापस लौटता हू। फिर हम एक साथ मिलकर कालयवन स निपटेंगे।

"ठीक है।" बलराम ने हामी भरी।

नागरिक श्रीकृष्ण के पूर्व निर्देशानुसार तैयार थे। श्रीकृष्ण ने उनके सामानों और गोधन के साथ उन्हें साथ लिया। पश्चिम की ओर से उनका नेतृत्व कर वे नगर के बाहर निकले। संयोग से उद्धव भी उन्हीं के रथ में आ विराजे।

"क्या योजना है श्रीकृष्ण?" उद्धव ने पूछा।

"आप सबको द्वारिका के मार्ग पर डाल, मैं भी पीछे से आता हूं।"

"अर्थात् युद्ध छोड़कर?"

"कुछ देर तक तो युद्ध में मैं अग्रज का साथ दूंगा। फिर शेष वही संभालेंगे।"

"अर्थात रण-क्षेत्र छोड़कर भागोगे तुम?" उद्धव मन-ही-मन मुसकराते हुए बोले। उनका श्राप फल रहा था। उस दिन उद्धव का अहंकार समाप्त हुआ था तो आज श्रीकृष्ण का अहंकार गलने जा रहा था। रण छोड़कर भागने को विवश इस नरश्रेष्ठ को बहुत लोग अब 'रणछोड़' के नाम से ही याद करेंगे।

"समय की यही मांग है" श्रीकृष्ण ने उद्धव की बात का उत्तर दिया और उसमें छिपे गूढार्थ को भी समझ गए और बोले, "सत्रह बार जरासंध को पराजित कर मेरे मन में भी कहीं अहंकार का बीज अंकुरित होने लगा था। नियति ने उसे उखाड़ फेंकने का अच्छा अवसर प्रदान किया है।

उद्धव अब क्या बोलते? मन में आया, कह दें अपने अभिशाप की बात। पर चुप ही लगा गए। जिस बात को श्रीकृष्ण स्वयं स्वीकार कर रहे हैं, उसे क्या कहना?

पश्चिम की सैन्य पंक्ति को श्रीकृष्ण और नगरवासी सहज ही पार कर गए। श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्र ने कालयवन के सैनिकों के मध्य से वैसे ही मार्ग बना लिया जैसे कोई मृगराज, मृगों के झुंड में पथ बनाता है। अस्त्र शस्त्र सज्जित नागरिकों ने भी इसमें श्रीकृष्ण की कुछ कम सहायता नहीं की। कालयवन के असभ्य सैनिक काम आए पर मथुरा के नागरिक पूर्णतया सुरक्षित अपनी सम्पत्ति और गोधन के साथ द्वारिका के मार्ग पर आ गए। नगर से पर्याप्त दूर उन्हें छोड़कर और पूरी तरह पथ निर्देश कर श्रीकृष्ण पुनः नगर को वापस आ गए। द्वारिका की ओर प्रस्थित नागरिकों के नेतृत्व का भार उन्होंने उद्धव पर ही छोड़ दिया।

"यह कोई वृन्दावन नहीं है जहां हमारे वेदांत ज्ञान की परीक्षा होनी है। यह युद्ध का मामला है अगर कहीं से कोई शत्रु हम पर आक्रमण करता है तो उससे निपटने के लिए शास्त्र ज्ञान नहीं अपितु शस्त्र ज्ञान की आवश्यकता पड़ेगी। उद्धव कुछ चिंतित होकर बोले।

श्रीकृष्ण मुसकराए। वह मुसकराहट अर्थपूर्ण थी। उद्धव को लगा बिना कहे ही जैसे श्रीकृष्ण अभिशाप वाली बात समझ गए हैं और कह रहे हैं—लो भोगो अपनी करनी का फल। न तुम श्राप देते न यह स्थिति आती।

तुम घबराओ नहीं। तुम लोगों पर कहीं से कोई आक्रमण नहीं करेगा। उधर हमारा कोई शत्रु नहीं है। नगर-गांव भी कम ही हैं मार्ग में। हां, दूर तक विस्तृत एक मरुकान्तर को पार करने का प्रबंध पहले ही कर लेना। छकड़ों में, छोटे-बड़े बर्तनों में जल भरवाकर रख लेना जो मनुष्यों और पशुओं के लिए

पर्याप्त हो। अधिकांश यात्रा रात्रि में ही करना। नक्षत्रों से दिशा निर्देश लेना। ध्रुव तारे पर ध्यान रखना। तुम्हें सीधे पश्चिम को जाना है। समुद्र-कूल पहुंचते ही तुम्हें अट्टालिकाओं के स्वर्ण मण्डित शिखर दिखाई पड़ेंगे। वही होगी द्वारिका। नावों व पुलों से सबको लेकर पार कर जाना। बाद में इस पुल को नष्ट कर देना। हम लोग नौकाओं से आ जाएंगे।'

ग्यारह

कालयवन के आश्चर्य की कोई सीमा नहीं थी। जिस व्यक्ति को अभी-अभी अपने पैरों की ठोकर से उसने जगाया था वह तो श्रीकृष्ण नहीं था। वह तो बड़ी बड़ी दाढ़ी मूछों से युक्त कोई तपस्वी सा प्रतीत होता था। पर यह क्या हो रहा था? उसका सम्पूर्ण शरीर क्या सुलगने लगा था? इस व्यक्ति की आँखें ही यह आग उगल रही थी। कैसा और कौन था यह व्यक्ति जिसकी दृष्टि पड़ने मात्र से कालयवन जलने लगा था? पर इससे पूर्व कि कालयवन और कुछ सोच-समझ उसका सम्पूर्ण शरीर जलकर राख हो गया।

हुआ यह कि मथुरावासियों को उद्धव के नेतृत्व में द्वारिका की ओर प्रस्थान करा श्रीकृष्ण जब वापस आए तब तक कालयवन की सेना चारों ओर से सिमट कर महाद्वार के पास आ गई थी। वह नगर में प्रवेश करे इससे पूर्व ही बलराम और श्रीकृष्ण ने आगे बढ़ कर उसे रोकना चाहा। दोनों ने मिलकर कालयवन और उसकी सेना पर तीखे प्रहार आरम्भ किए। कालयवन की सेना की गति तो रुक गई पर कालयवन पर किसी प्रहार का कोई असर नहीं हो रहा था। एक तो वह इतनी बड़ी सेना से घिरा था कि उसके पास तक पहुंचना श्रीकृष्ण और बलराम के लिए भी असम्भव हो रहा था और दूर से किए गए किसी प्रकार के प्रहार का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा था।

समय व्यर्थ व्यतीत हो रहा था और इधर कालयवन के जीवित रहते उसकी इतनी बड़ी सेना का संहार भी सम्भव नहीं था।

श्रीकृष्ण को एक उपाय सूझा। वह जानते थे कि मथुरा से कुछ दूर पर्वत की एक गुफा में नृप मांधाता के प्रसिद्ध धीर वीर एवं तपस्वी पुत्र मुचकुन्द बहुत दिनों से युद्ध के बाद विश्राम कर रहे हैं। उनकी निद्रा भंग करनेवाला कोई व्यक्ति तत्काल ही जलकर भस्म हो सकता था। देवताओं को प्रसन्न कर मुचकुन्द ने यह शक्ति प्राप्त कर ली थी। अगर श्रीकृष्ण किसी तरह इस मदांध मलेच्छ को मुचकुन्द से भिड़ा दें तो उनका काम बन जाता।

इसका एक ही उपाय था। उन्होंने अग्रज बलराम के कानों में कुछ कहा और स्वयं रथ से उतरकर पैदल ही कालयवन के पास से भाग निकले। कालयवन युद्ध के नियमों को मान्यता देता हो या नहीं पर खाली हाथ भाग रहे श्रीकृष्ण पर अस्त्र शस्त्र का प्रहार उसके अहंकार के अनुकूल नहीं था। किन्तु वह श्रीकृष्ण को हाथ से निकलने भी नहीं देना चाहता था। अन्तत उन्हीं के लिए तो वह इतनी बड़ी सेना ले अपने मित्र जरासंध की सहायता से मथुरा पर आ चढ़ा था।

क्षण का विलम्ब किए बिना वह भी रथ से उतरकर खाली हाथो श्रीकृष्ण के पीछे भागा। श्रीकृष्ण तब तक नगर से बाहर आ उस पर्वत की दिशा में तेजी से भागे जा रहे थे। कालयवन लाख प्रयास कर भी उनकी गति को नही पा रहा था और उन्हे पकड पाना उसे असम्भव-सा लग रहा था। श्रीकृष्ण कभी-कभी जान बूझकर अपनी गति कम कर देते कि कालयवन उनके साथ-साथ ही चले। उस समय उस मलेच्छ राज को यह लगता कि उसने श्रीकृष्ण को पकड ही लिया। पर दूसरे ही क्षण श्रीकृष्ण की गति तीव्र हो जाती और वह कालयवन के हाथो मे आते-आते भी नही आते। जसे बिलाड अपने शिकार के साथ खिलवाड कर-कर उसे मार भगाता है वस ही श्रीकृष्ण की इस क्रीडा से कालयवन परेशान हो गया। अन्तत वह गुफा समीप आ गई। श्रीकृष्ण वहा गुफा-द्वार पर थोडी देर रुके जिससे कालयवन उन्हे गुफा प्रवेश करते देख ले। कालयवन प्रसन्नता से भर आया। उसे लगा कि अब वह श्रीकृष्ण को पकडने मे सफल होकर रहेगा। उसी समय श्रीकृष्ण गुफा मे प्रवेश कर गए और दूसरी ओर से गुफा के बाहर भी निकलकर रुक गए।

कालयवन ने गुफा मे प्रवेश किया तो वहा मुचकुन्द को चादर ओढे सोया पाया। उसने समझा, श्रीकृष्ण ने नया नाटक आरम्भ किया है। भागते भागते थक जाने के कारण वह आराम करने का बहाना बना मौन का उपक्रम यह समझकर कर रहा है कि युद्ध के नियमो के अनुसार सोए व्यक्ति पर आक्रमण नही किया जा सके।

अब किसी नियम आदि का पालन नही करना है, कालयवन मन ही मन कुढा, इस व्यक्ति ने मुझे काफी परेशान किया है उधर मेरी अनुपस्थिति मे मेरी सेना का मनोबल गिर गया होगा और वह बलराम उसे कन्द मूल की तरह काट रहा होगा। पता नही मेरी अनुपस्थिति मे सेना के पर कब उखड जाए और वह जरासध के आने की प्रतीक्षा किए बिना ही भाग खडी हो। नहीं, कालयवन, अब कोई कृपा नही करने जा रहा था इस श्रीकृष्ण पर। ऐसा निश्चय करते ही उसने क्रूरता-पूर्वक सोए हुए व्यक्ति के वक्ष स्थल को ही लक्ष्य बना पाद प्रहार किया।

वज्र की तरह कालयवन के पर को अपने कलेजे मे लगते ही मुचकुन्द की निद्रा जाती रही और उन्होने चादर फेंककर आख खोल दी। वरदान के फलस्वरूप कालयवन के शरीर मे दावाग्नि ही सुलग आई और वह जलकर भस्म हो गया।

जब श्रीकृष्ण ने यह समझ लिया कि कालयवन का काम समाप्त हो गया तब वह मुचकुन्द के सामने प्रकट हुए। मुचकुन्द श्रीकृष्ण के मोहक व्यक्तित्व को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। श्रीकृष्ण अब तक पूर्ण युवा हो चुके थे और पीताम्बर-युक्त नीलमणि की कान्ति वाले तन से फूटती आभा किसी को भी आश्चर्यचकित कर देने के लिए पर्याप्त थी।

श्रीकृष्ण ने मुचकुन्द को बहुत देर तक विस्मय विमुग्ध रखना उचित नही समझ उन्हे अपना नाम बता दिया। मुचकुन्द ने श्रीकृष्ण का नाम तो सुन रखा था पर अब तक उन्हे देखा नही था। नाम सुनते ही वे उठ खडे हुए और उनके मुख से स्वत फूट पडा —'आज मेरे जन्म-जन्मान्तरो के पुण्यो का उदय हुआ है कि आपके दर्शन हुए। भला इस बीहड वनप्रान्तर, इस गुहा गह्वर मे आने का आपने कैसे कष्ट किया?'

श्रीकृष्ण ने मारी कहानी कह सुनाई।

"चलिए मैं आपकी सहायता मे चलता हू। अकेला और नि शस्त्र हू तो क्या हुआ? मैं अकेले ही इस कालयवन और जरासध की सेना के छक्के छुडा दूगा। अवश्य ही जरासध भी पुन मथुरा तक पहुच ही रहा होगा।" श्रीकृष्ण म मारी बातें सुनकर मुचकुन्द चलने के लिए कमर कसकर तयार हो गए।

"मैं आपकी वीरता से परिचित हू। भला इच्छ्वाकुवशीय प्रतापी नरेश मान्धाता के सुपुत्र मुचकुन्द के बाहुबल और तपशक्ति का किस पता नहीं? पर आपको कष्ट करने की आवश्यकता नही। आपकी कृपा से आप ही के सदृश बल बुद्धि सम्पन्न अग्रज बलराम की सहायता मुझे उपलब्ध है। अब तक वे इस दुष्ट की विशाल वाहिनी के पाव उखाड चुके होंगे। रहा जरासध तो उसके सम्बन्ध म हमारी दूसरी योजना है। आप आराम करें। बहुत दिनो तक युद्ध रत रहने के कारण आपको अभी और विश्राम की आवश्यकता है। मैं आपके विश्राम म और बाधा बन पाप का भागी नही बनना चाहता।'

जसी आपकी इच्छा। भला बलराम और श्रीकृष्ण को किसकी सहायता आवश्यक है? आप दोना तो अकेले सम्पूर्ण विश्व को विजित करने को पर्याप्त हैं।' मुचकुन्द ने हाथ जोड़कर प्रणाम निवेदित किया।

"नही नही श्रीकृष्ण ने उनके जुड़े हुए हाथो को अपने कोमल हाथो म ले लिया आप उम्र ही नही तपश्चर्या म भी मुझसे श्रेष्ठ हैं। मुझे प्रणाम कर लज्जित नही करें।

मैं किसी मनुष्य को थोडे प्रणाम कर रहा हू। मुचकुन्द ने मुस्करात हुए कहा।

'तब?

'मुझे क्या पता नही कि आप नर नही, साक्षात नारायण के अवतार हैं? मुचकुन्द न सिर झुकाते हुए कहा।

आपके सदृश तपोपूत मनस्वी भी लोगो के अन्धविश्वास का आखेट हो गया? श्रीकृष्ण न विनम्रता से कहा।

'इसम अन्धविश्वास किधर से है? किशोर-वय से ही आपने जो कीर्ति अर्जन आरम्भ किया है वह क्या किसी साधारण नर के वश की बात है? और अब तक तो मैं सुनता ही रहा था आज साक्षात देख रहा हू। यह जग-कान्ति क्या सामान्य व्यक्ति प्राप्त कर सकता है? आप औरो की आखो म धूल झोक सकते हैं पर आप ही के कथनानुसार अगर मैंने थोडी बहुत भी तपस्या या आराधना की है तो मेरी आखो को आप कसे धोखा दे सकते हैं। अपितु मैं तो यह कहूगा कि यह मेरी तपस्या का ही फल है कि आपने यहा आकर मुझे धन्य किया। जाइए मैं आपका बहुत समय नही लूगा। मेरी अन्तर्दृष्टि के समक्ष स्पष्ट है कि भविष्य मे आपको और बहुत बडे-बडे कार्य सम्पादित करने है और जो आज आपको साधारण मान रहे हैं कल उन्ही को बाध्य होकर आपको असाधारण कहना पड़ेगा। किस किसमे और कब तक छिपाइएगा अपने को? समय आपको छिपने नही देगा। मैं सब कुछ स्पष्ट देख रहा हू। जाइए इस अकिंचन का एक और प्रणाम लेते जाइए।

ऐसा कहकर मुचकुन्द ने पुन हाथ जोडकर अपना सिर झुका दिया। श्रीकृष्ण

ने मुस्कराते हुए उन्हें अके माल दिया और पीछे की ओर पैर बढाते वे गुफा से बाहर आ गए।

बारह

द्वारिका पहुचने पर श्रीकृष्ण और बलराम ने इस नगरी को सजाने-सवारने म कुछ उठा नही रखा। इसके पूर्व कि कोई शत्रु द्वारिका की ओर मुह करने की सोचे, इस पूरी तरह अभेद्य बना दना था। किनारे से पर्याप्त दूर एक द्वीपाकार स्थल पर बसी द्वारिका तो अभेद्य थी ही, प्राचीरो और द्वारा-महाद्वारा की पूरी सतर्कता से सशक्त कर इस नगर की सुरक्षा व्यवस्था को और सुदृढ कर दिया गया था। एस, किसी शत्रु के इधर आने की भी सम्भावना नही के बराबर थी। आनेवालो म मात्र एक जरासध था किन्तु उसके मन म भी एसा भ्रम भर दिया था दोनो भाइयो न आते-आते कि वह भी मगध लौटकर गाढी निद्रा म सो पडा था।

श्रीकृष्ण को अब भी याद था कि वे मुचकुन्द म साक्षात्कार के पश्चात लौटे तो बलराम उसकी सेना का एक बहुत बडा अश समाप्त कर चुके थे। मूसल और हल की उनकी चोट का सहन करनेवाला कालयवन की सेना म कोई नही था। इधर श्रीकृष्ण भी अपने रथ पर सवार हो बलराम के साथ आ लगे और अपने सुदर्शन चक्र से बची-खुची सेना का सहार आरम्भ किया। कालयवन के सैनिको ने जब यह पाया कि श्रीकृष्ण तो आ गए पर कालयवन का कही पता नही तो वे उसके विनाश के प्रति आश्वस्त हो गए और उनका रहा-सहा धय भी जाता रहा। अब किसी भी स्थिति म सग्राम म टिकना उनके लिए कठिन हो रहा था और सिर पर पैर रख भागने के सिवा उनके पास कोई चारा नही रहा।

कालयवन के सैनिक तो भाग चले, पर जरासध पुन अपनी तेरह अक्षौहिणियो के साथ आ जुटा।

अब समय बर्बाद करना उचित नही। जरासध के साथ भी युद्ध के लिए सन्नद्ध होने को प्रस्तुत अग्रज को सम्बोधित करते हुए उन्होने कहा था।

'क्या? इस जरासध को जीवित ही छोड दें? अब तक तो जीवित छोड दने के पीछे अभिप्राय था इसके माध्यम से अन्य अत्याचारियो अनाचारियो का वध। अब तो कालयवन तक का विनाश हो गया। अब इसको जीवित छोडकर क्या लेना है?' बलराम ने तर्क दिया था।

इसीलिए तो अब इससे उलझने की आवश्यकता नही रही। बहुत सारे दुष्टो का यह वध करा चुका। अब यह थोडे दिन आराम करे। इस मरे हुए को मारने म हम अपनी शक्ति और समय की हत्या क्या करें?

'और अगर यह निर्माणाधीन द्वारिका पर चढ आया तो?' बलराम ने आशका व्यक्त की थी।

'नही चढ आएगा अगर आप मेरी बात मानें।

'क्या? बलराम ने आश्चय से पूछा था।

"जरासध के आते ही हम दोना उसके पास से ही पैदल निकल चलें—नि शस्त्र।"

"ताकि वह हम दोनो की साथ ही हत्या कर सके?" बलराम को श्रीकृष्ण की बात पसन्द नही आई थी।

"नहा, वह मगध-नरेश है, परम अहकारी। उसका अहम आडे आएगा और वह हम नि शस्त्रो पर आक्रमण नही करेगा।"

'तो वह हम यो ही निकल जाने देगा? मुझे छोड भी दे तो छोड दे अपने जामात-हन्ता श्रीकृष्ण को वह क्या छोडने जा रहा?'

"नही, वह हमे छोडेगा यह बात नही। वह हमारा पीछा करेगा और नि शस्त्रो से नि शस्त्र युद्ध कर ही वह अपनी वीरता के ध्वज को और ऊचा फहराना चाहेगा। मल्लयुद्ध म एक के स्थान पर दो दो की हत्या कर अपने मुख की कालिमा को वह धोना चाहेगा। श्रीकृष्ण ने तर्क दिया था।

"और उस हम प्रसन्नतापूवक एसा करने देंगे? मल्लयुद्ध का वह उतरा भी तो तुमसे बच जाय तो बच जाय मेरे हाथो तो वह बचने से रहा। बलराम ने कहा।

'हम यह अवसर ही नही आने देंगे।

'अर्थात हम भागते जाएगे और वह हमारे पीछे-पीछे भागता रहेगा? अन्तत उसे हम द्वारिकापुरी का द्वार भी दिखा देंगे? नही यह मूर्खता होगी। मुझे इस यही समाप्त कर लेने दो। तुम्हे भागना हो तो भागो। तुम्हारा बचपना अभी गया नही। जो कुछ गोकुल और वृन्दावन म करते रहे, वही रणभूमि म करना चाहते हो।' बलराम ने अपना मूसल सभाला था।

'याद रखें कि जरासध के वध के पूर्व आपको उसकी तईस अक्षौहिणियो स निपटना होगा। वह भी अकेले। हमारी सेना भी द्वारिका को प्रस्थित हो चुकी है। मान लिया कि हम इस सेना से निबटने मे सफल भी हो जाएगे पर इसमे समय कितना लगेगा? और मेरी जो योजना है उसमे समय और शक्ति की बचत तो होगी ही जरासध को हमारी द्वारिका की गन्ध भी नही लगेगी, साथ ही उसे हमारे सम्बन्ध म भी एसा भ्रम पैदा होगा कि वह हमे भूल ही बैठेगा। मारना ही था उसे तो पहले ही बार मार दिए रहते, आखिर बन्दी तो वह आपके हो हाथो हुआ था?

करो जो जो मन आए। तुम्हारे हठ के समक्ष तो मुझे सदा झुकना ही पडता है।' यह कहकर अग्रज बलराम ने शस्त्र छोड दिए थे।

दोनो जरासध के सामने से नि शस्त्र निकले थे। जरासध ने यह विचित्र लीला देखी तो वह भी शस्त्रास्त्र त्याग कर रथ से कूदकर इनकी ओर लपका। सेना को हाथ के इंगित से उसने जहा की तहा रुके रहने का आदेश दिया।

दोनो भाइयो ने जब जरासध को अपने पीछे आते देखा तो उन्होंने अपनी गति तेज कर दी। जरासध ने भी अपनी गति बढाई। तीनो युद्ध भूमि से पर्याप्त आगे आ गए।

जरासध जी-जान लगाकर श्रीकृष्ण बलराम के पीछे पडा रहा पर वे उनकी पकड म आने से रहे। गदा-युद्ध म पारगत प्रौढ जरासध का शरीर अपेक्षाकृत अत्यन्त युवा श्रीकृष्ण और बलराम की तुलना म स्थूल हो आया था। वह बहुत

दौडने में सफल नहीं हो पा रहा था।

अंतत विवश हो एक छोटे से पर्वत की तलहटी में पहुंच वह वहीं खड़ा हो गया और हांफते हुए ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला चिल्लाकर बोला—'बड़े भारी योद्धा बनते थे, तुम दोनों। अब युद्ध छोडकर भागने में शर्म नहीं आती? यह कभी और कहां की वीरता है कायरो!'

बलराम इस सम्बोधन पर तिलमिला गए और पहाड पर चढ़ते चढ़ते रुक गए। 'अब इस दुष्ट का मुंह बन्द ही करना होगा,' वह श्रीकृष्ण की ओर देखकर बोले।

"यह नीति विरुद्ध होगा। श्रीकृष्ण ने कहा, भले ही आप यहां अकेले ही मार दें पर संसार यही कहेगा कि दोनों ने मिलकर एक को मारा है। चलिए, आइए, हमारी योजना का अंतिम चरण आ गया।' ऐसा कहकर श्रीकृष्ण उस वनाच्छादित छोटे पर्वत पर अग्रज का हाथ खींचते हुए चढ चले थे।

थोडी देर के बाद दोनों एक वृक्ष की छाया में रुके थे।

'जरासंध अब आगे नहीं बढ़ेगा, श्रीकृष्ण ने ही आरम्भ किया था। 'वह समतल पर हम नहीं पकड पाया तो पर्वत पर चढ़ने की मूर्खता वह नहीं करेगा, पर जहां तक मेरा अनुमान है इस सूखे वृक्षों और घासों से भरे पर्वत को देखकर वह इसमें आग लगाना नहीं भूलेगा। अगर उसने नहीं भी लगाई तो हम स्वयं ऐसा करेंगे। पूरा पर्वत बात की बात में धू-धू कर जल उठेगा और जरासंध सोचेगा कि हम भी उसी में जल मरे।'

श्रीकृष्ण ने अपना कथन समाप्त ही किया था कि सचमुच जरासंध की दिशा से आग की लपटें उठती दिखाई पडीं।

'मेरा कथन सत्य हुआ," श्रीकृष्ण ने बलराम का दाहिना हाथ पकडते हुए कहा था, 'दो पत्थरों को आपस में रगड़कर जरासंध आग प्रकट करने में शीघ्र ही सफल हो गया। उसे तो लगा होगा वह हमें अचानक इस आग में घेर लेगा पर उसे कहां पता था कि वह हमारी ही योजना को क्रियान्वित कर रहा है। चलिए, इससे पूर्व की यह आग इस पर्वत को पूरी तरह घेर ले, हम दूसरी ओर से भाग चलें।'

अग्रज के समक्ष और कोई चारा नहीं था। वह श्रीकृष्ण के साथ दूसरी ओर से उतरकर द्वारिका की ओर प्रस्थित हो गए थे। पर द्वारिका अभी बहुत दूर थी। वहां तक पैदल जाने का प्रश्न ही नहीं था। मार्ग में उन्हें कहीं-कहीं अश्वों और कहीं उष्ट्रों की व्यवस्था करनी पडी। शरीर पर चढे आभूषणों में से कुछ को अवश्य पृथक करना पड़ा पर पशुओं की व्यवस्था में दिक्कत नहीं हुई। इधर के लोगों ने बस स्वर्णाभूषण एवं मणि रत्न आदि दान भी नहीं थे जैसे उन्हें अपने पशुओं के बदले मिल रहे थे।

रात दिन चलकर वे पश्चिम समुद्र-तीर पहुंचे थे और फिर नावों की सहायता से द्वारिका। श्रीकृष्ण के आदेश से अस्थायी पुर विनष्ट अवश्य कर दिया गया था पर एक नौका नाविक के साथ उनकी प्रतीक्षा में उसी दिन से खड़ी थी जिस दिन मथुरावासियों के अंतिम झुण्ड ने इस पुर को पार कर नगर प्रवेश किया था।

उधर जरासंध अपने शत्रुओं को विशेषकर अपने जामाता के हत्यारे को

आग की लपटो के हवाले कर प्रसन्न चित्त अपनी राजधानी लौटा था और अपनी दोनो पुत्रियां—अस्ति और प्राप्ति—के सामने प्रसन्नता से नाचते हुए बोला था—"जला मारा उस बधिक को अन्ततः आग की ज्वाला में।"

तेरह

इधर जल कोप और भी रहा थी एक आग में। पर यह कोई सामान्य आग नहीं थी। यह थी प्रणय की वह आग जो अब पराकाष्ठा पर पहुंच चुकी थी। वर्षों से श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में सुनते-सुनते विदर्भ-नरेश भीष्मक की परम रूपवती पुत्री रुक्मिणी ने मन-ही मन उन्हें अपना सर्वस्व मान लिया था और धीरे धीरे उसकी विरहाग्नि प्रखर से प्रखरतर ही होती गई थी किन्तु जब उसने सुना कि उसके भाई रुक्मी ने शिशुपाल से उसके विवाह की बात पक्की कर दी है और वह स्वयंवर का ढोंग कर रहा है तो उसके प्राण सचमुच आकुल हो उठे। वह श्रीकृष्ण को छोड कर किसी और की हो नहीं सकती थी और उसका भाई था कि श्रीकृष्ण शत्रु इस शिशुपाल के साथ ही उस बाधन को व्यग्र हो रहा था। रुक्मिणी पिंजड़े में बन्द किसी निरीह पक्षी की तरह फड़फड़ाने को विवश थी। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि इस भीषण स्थिति का सामना कैसे किया जाए। अन्ततः उसे एक यत्न सूझ ही गया था।

श्रीकृष्ण अपने विश्राम-कक्ष में थे। अपराह्न की वेला समाप्ति पर थी। थोड़ी ही देर पश्चात् इन्हें सन्ध्या-वन्दन के लिए सागर-तीर जाना था। उनका विश्वास पात्र सारथी दारुक उनके विशाल रथ में अश्वशाला से चुनकर आठ हिमधवल श्रेष्ठ अश्वों को जोत चुका था। पता नहीं उसकी किस छठी इन्द्रिय ने इस इंगित किया था कि सन्ध्या-वन्दन के लिए प्रयुक्त होनेवाले सामान्य अश्वों के स्थान पर आज इसने शाला के सर्वाधिक वेगशाला अश्वों को ही रथ में जोता था।

श्रीकृष्ण वस्त्र-परिवर्तन की बात सोच ही रहे थे कि विश्राम-कक्ष के स्वर्ण मण्डित कपाटों पर किसी ने ध्वनि की।

'कौन?' के स्वर के साथ वे उठे और कक्ष के कपाटों को उद्घाटित कर दिया।

द्वार पर प्रतिहारी के साथ एक वृद्ध व्यक्ति खडा था जिसके धूल सने श्मश्रु (दाढ़ी-मूंछ) एवं तन में अव्यवस्थित एवं गर्द भरे वस्त्र इस बात की सूचना दे रहे थे कि वह एक लम्बी दूरी तय कर आ रहा था। उसके सौम्य आनन पर चिन्ता की गहरी रेखाएं किसी वन-कानन में वन आर्द्र पगडण्डियों की तरह खिंची थी। प्रशस्त ललाट का त्रिपुण्ड यद्यपि धूल-पुछ रहा था और उसका किंचित अंश ही अवशेष शेष रह गया था पर वह यह स्पष्ट करने को पर्याप्त था कि यह वृद्ध एक तपःपूत ब्राह्मण के सिवा और कोई नहीं था।

ये वृद्ध सज्जन आपसे अभी मिलना चाहते थे इसीलिए मैंने आपके विश्राम

में बाधा दी। क्षमा प्रार्थी हूं महाराज।" प्रतिहारी ने नतमस्तक हो निवेदन किया। एक अपराध बोध उसके चेहरे पर स्पष्टतया लक्षित था।

"ब्राह्मण और याचक के लिए मैं सदा सुलभ हूं प्रतिहारी! यह तुम्हें विदित है।' श्रीकृष्ण ने भयभीत राजसेवक को सांत्वना दी और पुनः उस वृद्ध ब्राह्मण को सम्बोधित किया, "कहिए, यह अकिंचन आपकी क्या सेवा कर सकता है?"

"मैं ऐकान्तिक वार्तालाप का आकांक्षी हूं महाराज! ब्राह्मण ने कठिनाई से अपनी आकांक्षा प्रकट की। स्पष्ट था कि एक सुदीर्घ यात्रा के श्रम ने और अन्दर ही अन्दर व्यथित कर रही किसी विशेष चिन्ता अथवा दायित्व-बोध ने उसे श्रान्त क्लान्त कर दिया था।

'आप मेरे कक्ष को पवित्र करें। प्रतिहारी, तुम जा सकते हो।" कहकर श्रीकृष्ण ने ब्राह्मण को अन्दर लेकर कक्ष के कपाट बन्द कर दिए।

"आप यहां आसन ग्रहण करें।' मणि-खचित कक्ष के फर्श पर ही बैठने को प्रस्तुत उस वृद्ध ब्राह्मण को श्रीकृष्ण ने अपने स्वर्ण-खचित पर्यंक की ओर अग्रसर करना चाहा।

"नहीं महाराज, मैं यहीं बैठ जाता हूं। यह पर्यंक आपका है, द्वारिकाधीश का। मैं इस पर बैठने का अधिकारी नहीं।' ब्राह्मण विह्वल स्वर में बोला।

"आप यहीं बैठेंगे। यहां कोई द्वारिकाधीश नहीं, न कोई सामान्य जन। मेरे लिए सभी समान हैं। मेरा यही जीवन दर्शन है—समभाव, समदृष्टि। आप तो पण्डित हैं। मैंने अपने दर्शन को योग की परिभाषा दी है और मैंने इस योग को भी समत्व पर आधारित किया है। समय आएगा तो आप भी परिचित हो जाएंगे मेरे योग की अपनी अद्भुत विशेषता से। अब तक तो आपने 'योग चित्तवृत्ति निरोध' की ही बात सुनी होगी। मैं मानता हूं—मम योग उच्यते—समत्व ही योग है। समत्व अर्थात सम भावना। पर यह समय शास्त्रार्थ का नहीं। आप श्रान्त-क्लान्त प्रतीत हो रहे हैं। आप आराम से इस पर्यंक पर विराजें, तब तक मैं अर्घ्य पाद्य का प्रबन्ध करता हूं। कुछ स्वल्पाहार का भी। आप प्रत्यक्षतः एक दो दिन से निराहार हैं।' ऐसा कहकर श्रीकृष्ण ने बलात उस रज-स्नात द्विज को अपने चिशुक-मण्डित स्वर्ण-पर्यंक पर आसीन कर दिया और कक्ष के कोने में रखे स्वर्ण थाल और जल-पूरित स्वर्ण-कुम्भ को लाकर उनके पद प्रक्षालन को उद्यत हो गए।

अरे अरे, यह क्या?" वृद्ध ब्राह्मण को, श्रीकृष्ण के इस अद्भुत उपक्रम को देखकर जैसे किसी स्वप्न से जागने का बोध हुआ और उसने हड़बड़ाकर पर्यंक के ऊपर ही अपने धूल धूसरित पैर समेट लिये। पर्यंक के ऊपर पड़ा चिशुक (एक तरह का रेशमी वस्त्र) धूल मिट्टी से सन गया पर श्रीकृष्ण का ध्यान इधर कहां था? उन्होंने हाथ जोड़कर पुनः निवेदन किया—"ब्राह्मण देव! आप मुझे अपनी सेवा के अवसर से वंचित नहीं करें। यह गृहस्थ के पुण्यों के उदय का प्रतीक होता है कि उसके यहां कोई अतिथि पदार्पण करे और वह भी आपके सदृश साधना सम्पन्न ब्राह्मण। आप कितना भी छिपाएं पर यह मुझ पर पूर्णतया स्पष्ट है कि आप कोई साधारण विप्र नहीं अपितु तप और ब्रह्मचर्य के तेज से युक्त एक ऐसे वीतरागी व्यक्ति हैं जो परोपकार को ही अपने जीवन का व्रत बनाकर चलता

है।' ऐसा कहकर श्रीकृष्ण ने उस वृद्ध ब्राह्मण के पैरों को धीरे-से पर्यंक के नीचे खींच लिया और कुम्भ जल से उनका प्रक्षालन आरम्भ कर दिया। ब्राह्मण शायद ऐसा नहीं होने देता और इसका घोर प्रतिवाद करता पर वह स्पष्टतः किन्हीं भावनाओं के प्रबल प्रवाह में बह गया था और कहां है और क्या है यह बात उसे पूर्णतया विस्मृत कर चुका था। उसके मुख से एक ही बात कुछ स्पष्ट कुछ अस्पष्ट स्वर में निकल रही थी— आखिर है कुछ ऐसा जिसने उसे इस अद्भुत पुरुष को अपना सर्वस्व मानने को बाध्य किया है।

पद प्रक्षालन में रत श्रीकृष्ण ने कई बार जब उस वृद्ध ब्राह्मण के मुख से यह बात सुनी तो उन्हें लगा निश्चय ही ब्राह्मण एक सन्देश-वाहक है और उस समर्पिता नारी रत्न का धावक बनकर यहां पहुंचा है जिसका मैं सर्वस्व हूं। श्रीकृष्ण का योग-दीक्षित तटस्थ मन भी सहसा भावुक हो आया। आंखों में अश्रु कण झलक आए और उनमें से कुछ तप्त बूंदें ब्राह्मण के पैरों पर भी पड़ीं तो वह अपने में लौटा और देखा कि उसके कंटक कुश की तरह रूक्ष पैर श्रीकृष्ण के नवनीत कोमल करों में पड़े हैं। वह अपने पैरों को खींचने की बात भूल गया। अब उसकी आवश्यकता भी नहीं थी पर आंसुओं की तप्त बूंदों ने उसे मुंह खोलने को बाध्य किया, 'यह क्या, आपकी आंखों से अश्रुपात? अभी अभी आप योग की बात कर रहे थे। योगी को यह चंचलता शोभती है क्या?

श्रीकृष्ण इस बात का क्या उत्तर दें? वे कैसे बताएं कि ये आंसू किसी योग, किसी साधना उपासना के बाधक नहीं। ये तो एक पूर्ण योग के प्रतीक थे। राधा के लिए निस्सृत हुए ये आंसू राधा-कृष्ण के अद्भुत अपार्थिव योग के ही तो प्रतीक थे।

यह सन्देश-वाहक, वृद्ध ब्राह्मण सहसा ही राधा का स्मरण करा गया था— उस राधा का जो वृन्दाविपिन की किसी वीथि किसी कुंज अथवा कौन जाने नन्द-गृह के किसी एकान्त कक्ष में ही बैठी उनकी याद में आंखों से आठ आठ आंसू बहा रही थी और मुंह से उनके जीवन लक्ष्य की चरम परिणति का वरदान अपने कल्पित देवी देवताओं से मांग रहा था। श्रीकृष्ण का चंचल मन ब्राह्मण के प्रलाप से पूर्णतया आश्वस्त हो गया था कि वह और किसी का नहीं, राधा का ही सन्देश वाहक बनकर आया था। पर वह स्पष्ट बताता क्यों नहीं था? कैसी थी राधा? क्या चाहा है उसने? वृन्दाविपिन छोड़कर वह द्वारिका आना चाहती है? अथवा श्रीकृष्ण के साथ अपने मानसिक-आत्मिक सम्बन्ध को वह विधिवत वैवाहिक सम्बन्ध के सूत्र में ।

नहीं नहीं श्रीकृष्ण के मन ने विद्रोह किया। राधा ऐसा कुछ नहीं चाह सकती। सोच भी नहीं सकती। उसने तो अपने जीवन की सारी सुख शान्ति को तिलांजलि दे दी है उनके लिए। उसे द्वारिका के ऐश्वर्य और पट्टमहिषी के पद से क्या लेना देना? वह तो दूर रहकर ही उनकी हित साधना करना चाहती है। वह तो उन्हें अपने प्राणों में बसा चुकी है। उसे द्वारिका में बसने से क्या लेना-देना? उसके जीवन का तो एकमात्र लक्ष्य है उन्हें एक युग पुरुष के रूप में देखना पुरुष नहीं पुरुषोत्तम के रूप में देखना नहीं नहीं उसकी बात लें तो परमात्मा के रूप में ही उन्हें प्रतिपादित करना। अविवाहिता रहकर पता नहीं किस साधना में रत वह साध्वी पता नहीं किस ईश्वर अथवा परमेश्वर को प्रसन्न कर श्रीकृष्ण के कीर्ति

ध्वज को आसमान म ऊच और ऊच फहराते दखना चाहती है। उसे कहा समय है द्वारिका की आर मुह करने का भी ? उसके जीवन का व्रत ही सयम है, साधना और त्याग, उस भोग विलास और सम्पति-ऐश्वय-पूरित जीवन-पद्धति से क्या लना-देना ? पर ह कुछ बात एसी जिसन इम ब्राह्मण को यहा तक भिजवाया है। है कोई सन्दश उसका। पर यह ब्राह्मण बोलता क्यो नही ? क्या सकोच स्पष्टत इसक अब अपेक्षाकृत शान्त और आश्वस्त आनन पर चिपका-चमा पडा ह।

'आप किसी के सन्दश-वाहक लगत हैं ब्राह्मण दव !" अन्तत श्रीकृष्ण न ही कहा था। अपने पीताम्बर स ब्राह्मण के पर का पोछन क पश्चात उसी स अपनी आखा क कोना को भी पाछा था।

"अवश्य हा ।' ब्राह्मण का सकाच अभी समाप्त नही हो रहा था।

'तो आप नि सकाच उस सुनाए।' श्रीकृष्ण न आतुरता म अपना शुभ्र आनन पूरी तरह ऊपर उठाकर कहा। पश्चिमी दीवार क ऊपर म खुलत गवाक्ष स सूरज की सुनहरी किरणें उनक नील मणि की आभा-युक्त आनन को एक अलौकिक दीप्ति प्रदान कर गइ। मुख पर उभर आइ अन्तर की प्रसन्नता ने इस आभा का अनन्त-गुणित कर दिया। राधा नाम म था ही वह जादू जो स्मरण मात्र स ही श्रीकृष्ण के योग नियन्त्रित मन का भी प्रसन्नता-उदधि की लहरा पर हिचकोल पर हिचकाल खान का बाध्य कर देता था।

'जिसका आप सदश लाए ह उसक स्वास्थ्य को लकर चिन्ता का काई विषय ।' ब्राह्मण क द्वारा अपन सन्दश का प्रकट करन म विलम्ब हात दख श्रीकृष्ण व्याकुल हो आए।

'स्वास्थ्य का ठीक कस कहूग ? उस साथ तो कम-स-कम कइ रात्रि हा गए। वृद्ध ब्राह्मण की आखा म जल उतर आया।

क्या कहा, उसका स्वास्थ्य ठीक नही है ?' श्रीकृष्ण आकुलता म खडे हा गए उस राता म नीद नही आती ? पर क्यो ? क्यो ? क्या ? वह जस सन्निपातग्रस्त रोगी की तरह बाल गए।

जिसक प्राणा म आप बस हा, उस नीद किधर स आये ?

ब्राह्मण की बात पर श्रीकृष्ण एक क्षण का मूक हा आए। यह प्राणा म बसन की बात ता पुरानी हुइ पर नीद अब कस गायब हान लगी ? उन्ह याद आई कालिन्दी-कूल की वह प्रथम मुलाकात जिसम उस नन्ही भाली राधिका न कहा था— मैं ता तुम्हार अन्दर ही बसती हू। आखें मूदा और फिर तुम्ह दिखाई पड जाऊगी। ता वह भी ऐसा क्यो नही करती ? क्या इतने दिना क वियोग न अथवा वृन्दाविपिन और द्वारिका की इस दूरी न मुझे उसके अतर स निकाल फेंका है और लाख आखें बन्द कर भी वह मरी छवि को अपने अन्दर उतार नही पाती ?

उसन कइ दिना स अन्न-जल तक भी त्याग दिया ह। आपक चलन के सिवा । ब्राह्मण न अपना दायित्व पूरा करना आवश्यक समझा।

"कइ दिना स अन्न-जल भी नही ग्रहण किया ! तब ता वह सूख कर बबूल का काटा ही बन आइ हागी। हाय राधे ! यह क्या हुआ तुम्ह ? अगर तुम कहती ता मैं तुम्ह साथ द्वारिका ही लिय आता। पर तुमन ही ता मेरी प्ररणा के सिवा और कुछ बनना ही नही चाहा। श्रीकृष्ण क मुख स अनायास निकला—

राधे ! यह क्या ? वृद्ध ब्राह्मण क मुख स नला।

सस्कृत के उस पण्डित ने यद्यपि राधा का नाम नही सुना था पर उसे यह समझने मे थोडा भी समय नही लगा कि राधे! राधा शब्द का ही सप्तमी अर्थात सम्बोधन का रूप था। तो क्या श्रीकृष्ण के मन पर पहले से ही किसी और का अधिकार है? और है तो इस बात का पता रुक्मिणी को है क्या?

हा, वह रुक्मिणी का ही सन्देश-वाहक था। रुक्मिणी ने बहुत सोच-समझकर इस विश्वस्त ब्राह्मण को श्रीकृष्ण के पास अपना सन्देश लेकर भेजा था। पर अब तक वह बातो के वात्याचक्र मे ऐसा उलझा रहा कि अपने आने का उद्देश्य भी स्पष्टत प्रकट नही कर सका।

"राधा ने मुझे अभी बुलाया है?" श्रीकृष्ण ने व्यथित होते हुए कहा, 'ऐसी क्या बात हो गई? आप थोडी देर रुकें मैं अभी प्रस्तुत होकर आता हू।"

ब्राह्मण किंकर्तव्यविमूढ। नियति कैसा खेल खेल रही है उसके साथ अथवा सच पूछें तो रुक्मिणी के साथ हो। जिसे वह अपना मन दे चुकी है, उसका मन तो किसी और मे बसता है। ऐसी स्थिति मे वह क्या करे? रुक्मिणी का सन्देश भी दे या नही? उसके ऊपर तो गुरु-गम्भीर दायित्व आ गया है। यहा रुक्मिणी भी नही कि उससे परामर्श लिया जा सके।

'आप विचलित रुकेंगे क्या?' ब्राह्मण ने अनायास ही कक्ष-द्वार तक पहुच गए श्रीकृष्ण को रोका। निश्चय-अनिश्चय के मध्य झूलता हुआ वह अब भी अपने कर्तव्य का निर्धारण नही कर चुका था। किन्तु एक बात स्पष्ट थी। वह तो मात्र धावक था सन्देश वाहक। उसे अपना काम तो पूरा करना था। दूसरी बात यह कि शिशुपाल से तो रुक्मिणी की रक्षा करनी ही थी। अब श्रीकृष्ण के मन मे दो औरतें बसें या दो हजार शिशुपाल के हाथो मे जाने से रुक्मिणी को रोकने मे तो वही समर्थ थे। और फिर यह रुक्मिणी जाने कि उसने किसे अपने मन मन्दिर का आराध्य बनाया था। उसे तो पता होना ही चाहिए था कि जिसके सदगुणो की सुगन्ध सम्पूर्ण आर्य भूमि मे आसेतु हिमाचल बिखरी पडी थी उस पर प्राण न्योछावर करने वाली कामिनियो की सख्या भी कम नही होगी। ऐसी स्थिति मे वह पहले ही अपना मन किसी और को दे चुका हो तो इसमे आश्चर्य क्या? पर बेचारी रुक्मिणी! वृद्ध ब्राह्मण ने सोचा, उसे तो यह पूरी तरह पता है कि श्रीकृष्ण अभी तक अविवाहित हैं उसे क्या पता कि मनोराज्य पर किसी और का इस रूप मे अधिकार हो चुका है कि उसके सन्देश को भी वे अपनी उस अनामा प्राणप्रिया का ही सन्देश समझ बैठेंगे। और अब अनामा कैसे? ब्राह्मण को तो उस सौभाग्यशालिनी के नाम का पता लग चुका था राधा। पर कौन है यह राधा? अवश्य ही वह श्रीकृष्ण के हृदय मे तो रहती है पर उसका स्थान यहा से पर्याप्त दूर होना चाहिए, नही श्रीकृष्ण तत्काल प्रस्थान करने की बात कैसे करते? उसके रूप रग और धूल धूसरित साज-सज्जा से तो उन्हें पता लग ही गया होगा कि वह द्वारिका का नही था।

कहिए! उसकी पुकार पर श्रीकृष्ण सामने खडे हो गए थे मैं समझता हू क्षण-मात्र का भी विलम्ब उचित नहीं, पता नही राधा के प्राणो पर क्या बीत रहा हो।

आप भ्रम मे हैं। सन्देश वाहक ने आरम्भ किया। अब बात उसके समक्ष पूरी तरह स्पष्ट हो गई थी। अब छिपाना भी क्या था?

"भ्रम में ? तो क्या राधा स्वस्थ और प्रसन्न है ?" श्रीकृष्ण का निस्तेज हो आया मुख सहसा प्रसन्नतापूरित हो आया।

"भ्रम, राधा चाहे जो हो उसकी स्वस्थता, अस्वस्थता को लेकर नही है।' ब्राह्मण ने स्पष्ट किया।

"तब ? ' श्रीकृष्ण ने साश्चर्य पूछा।

"भ्रम सन्देश प्रेषिका को लेकर है।" ब्राह्मण ने स्पष्ट किया।

"सन्देश प्रेषिका ! कौन हो सकती है यह सन्देश प्रेषिका राधा के सिवा ? मैंने अपने जीवन म अब तक एक ही नारी को महत्त्व दिया है। यहा तक सन्देश प्रेषण का दुस्साहस कोई और सुन्दरी कर सकती है यह मैं सोच भी नही सकता। अगर आप राधा के सिवा किसी और का सन्देश लाए हो तो आप अभी वापस जा सकते है। आपके लौटने की पूर्ण व्यवस्था कर दी जाएगी। आप तो ब्राह्मण है आपकी जगह किसी अन्य जाति का भी कोई होता तो उसे भी पूर्ण सम्मान से ही यहा से विदा किया जाता। राजकीय रथ आपको तैयार मिलेगा। मैं आपके भोजनादि की व्यवस्था करता हू। आप कृपया अपने सन्देश के साथ सकुशल अपने स्थान को लौट जाए।'

'यह सत्य है कि मैं राधा का सन्देश लेकर नही आया हू महाराज ! न मैं यह जानता हू कि यह राधा कौन है और परिस्थिति की गम्भीरता पर ध्यान देते हुए मैं यह जानना भी आवश्यक नही समझता। मैं तो एक और नारी ।'

"बस ब्राह्मण, आप आगे नही बोलें। राधा के सिवा मैं किसी और को अपने अन्दर स्थान दे ही नही सकता और फिर मैं कहता हू कि मेरा स्यन्दन वाहन तैयार है। उसमे आज मेरी अश्वशाला के सर्वश्रेष्ठ अश्व जुते हैं, आप प्रस्थान कर सकते हैं। प्रतिहारी आपकी भोज्य सामग्री लेकर आता ही होगा।'

मैं लौटने से रहा महाराज ! ब्राह्मण ने मन-ही मन कुछ निर्णय कर लिया था, "बात यहा केवल मन की होती तो चल भी जाती बात यहा किसी के प्राण की है और आप यह तो मानेंगे ही कि प्राणो का महत्त्व मन से अधिक होता है।'

"बात प्राणो की है ?" श्रीकृष्ण चौंके और बोले कोई बात नही ब्राह्मण श्रेष्ठ अगर बात किसी के प्राणो पर आ बनी है तो उसकी रक्षा करने के लिए श्रीकृष्ण सदा प्रस्तुत है। शर्त यही कि प्राणो की रक्षा के बाद कोई मन की ओर हाथ बढाने का प्रयास नही करे।'

तो यह रहा सन्देश।' ब्राह्मण ने पीताम्बर म लिपटे एक पत्र को श्रीकृष्ण की ओर बढ़ा दिया।

कृष्ण ने एक झटके म उस पत्र को खोला और क्षण मात्र म उसे पढ गए

'यह तो विदर्भ-नरेश रूपवती रुक्मिणी का पत्र है ब्राह्मणदेव ! वह शिशुपाल के भय से भीत हरिणी की तरह भयभीत है। वह किसी भी हालत म उसका वरण नही करना चाहती और उसने मुझे मन-ही मन अपना पति मान लिया है और मैंने आपको अपनी विवशता बता दी है। मैं राधा के सिवा किसी और की बात सोच भी नहीं सकता।"

'पर राधा तो आपकी पत्नी नहा है श्रीमान् और जैसा कि मुझे अनुमान लग रहा है वह कभी आपकी पत्नी होने भी नहीं जा रही क्योकि तब आप उसे किसी दूर देश म छोड द्वारिका म नहीं बैठे रहते और मेरी मानिए तो

एक पत्नी की आवश्यकता है, पत्नी ही नहीं पटटमहिषी की। आप सम्राट हैं द्वारिकाधीश। यह बात पृथक है कि कहन को वृद्ध उग्रसेन सिंहासनारूढ हैं। आप बिना पत्नी के रहें यह शोभनीय नहीं है और न समाज के द्वारा ग्राह्य ही। एक अविवाहित व्यक्ति विशेषकर सम्राट के सम्बन्ध म समाज पता नहीं क्या-क्या सोचता है। आप मन भले किसी और को दिए रहे पर वैवाहिक सम्बन्ध की पूर्ति तो आपकी अनिवार्यता है—एक सम्राट की प्रथम आवश्यकता। मैं ब्राह्मण हू महाराज, पत्नी के अभाव म यज्ञ आदि बहुत से मांगलिक काय भी नहीं सम्पन्न हो सकते। आपको तो ज्ञात ही होगा कि सीता के वनवास के पश्चात अश्वमेध-यज्ञ के समय राम को स्वण की सीता को अपने पाश्व म बैठाना पड़ा था। और अन्तिम बात यह कि विवाह—नहीं, विवाह की बात तो बाद की है अभी तो रुक्मिणी के प्राणों की बात है, अगर वह आपके शत्रु शिशुपाल के हाथ म जाने को बाध्य हुई तो वह अपने प्राणों की रक्षा नहीं कर पाएगी और ऐसी स्थिति म एक अनावश्यक हत्या के पाप स भी आप अपने को मुक्त नहीं कर सकते।"

ब्राह्मण ने सही स्थान पर चोट की थी। श्रीकृष्ण और चाहे जो सहन कर लें अपने शत्रु शिशुपाल की विजय-यात्रा को वह नहीं सहन कर सकते थे—यात्रा भी ऐसी-वैसी नहीं विदर्भ सुन्दरी रुक्मिणी के साथ। शिशुपाल उनका घोषित शत्रु था और अन्त तक उसने उनके लिए इतने अपशब्द कहे थे कि उन्होंने विवश होकर उसकी माता से निवेदित कर दिया था— शिशुपाल को पता जम आए हैं। मैं उसकी निन्यानवी गाली तक बर्दाश्त करूंगा जिस दिन उसके मुंह स सौवीं गाली निकल जाएगी उसका सिर धड़ से अलग होगा।

"मैं चलूंगा ब्राह्मण देव! मैं रुक्मिणी से विवाह करूं या नहीं, पर मैं शिशुपाल रूपी शृगाल से इस सिंह पुत्री की अवश्य रक्षा करूंगा। मैं अग्रज बलराम को भी अपने पीछे आने को कहता हू। वे नारायणी सेना की एक छोटी टुकडी के साथ मेरी पीठ पर आएंगे। मैं शिशुपाल और उसके साथियों के लिए इतनी पर्याप्त हू।

'ऐसा नहीं सोचें महाराज, ब्राह्मण कोई खतरा मोल नहीं लेना चाहता था शिशुपाल के साथ उसके बहुत से मित्र राजा भी होंगे और उसम जरासंध भी होगा आपको पूरी तैयारी स चलना होगा। सुना उसी जरासंध के कारण आपको मथुरा छोड़ना पड़ा।

'आप चिन्ता नहीं करें ब्राह्मण देव! मैं न तो शिशुपाल से डरता हू न रुक्मिणी के दुष्ट भाई रुक्मी से और न उसके अन्य भाइयों—रुक्मरथ रुक्मबाहु रुक्मकेश और रुक्ममाली स ही। नहीं ही इस स्वयंवर के नाटक के स्वयंभू सूत्रधारों और रुक्मी के सहायकों शाल्व दन्तवक्त्र विदूरथ और पौंड्रक आदि योद्धाओं से। और आपने जरासंध का स्मरण खूब दिलाया। मैं उसके भय से भीत होकर इस सागर मध्य नहीं बसा हू। जरासंध के साथ तो मैं वैसे ही क्रीडा करता रहा जैसे वनराज अपने आखेट के साथ खेलता है—उसे तडपा-तडपाकर मारता है। हा मुझे मथुरावासियों का व्यर्थ रक्त-पात अभीष्ट नहीं था अतः मैं उन्हें लेकर यहां आ गया। पर जैसा कि इस सन्देश से स्पष्ट है भीष्मककुमारी की व्यथा चरम को स्पर्श कर चुकी है। इससे पूर्व कि शिशुपाल के अपवित्र हाथ उसको

स्पर्श करें, मुझे उसकी रक्षा कर लेनी है। चलिए, हमारे पास समय नहीं है। मेरे ये अश्वमेघ बात करते बात-की-बात में विदर्भ पहुंच जाएंगे और ईश्वर ने चाहा तो आपकी राजकुमारी उसी रथ पर सकुशल द्वारिका लौटती दृष्टिगोचर होगी।'

"ईश्वर तो आप ही हैं महाराज!" ब्राह्मण ने कहा और श्रीकृष्ण के पीछे बढ़ा।

"आप ब्रह्मवेत्ता होकर भी ऐसा ही कहते हैं? श्रीकृष्ण ने प्रतिवाद किया।

"अब जनमत को तो महत्त्व देना ही पड़ेगा। जब सम्पूर्ण आर्य भूमि आपको ईश्वर-सम्मत ही मानती है तो मेरा ब्रह्मज्ञान इसमें किस काम आने का?' अब तक दोनों महल के द्वार पर पहुंच गए थे। दारुक रथ लेकर खड़ा था। ब्राह्मण की भोज्य सामग्री और श्रीकृष्ण के नूतन परिधान तथा अस्त्र शस्त्र भी रथ में ही रख लिये गए थे। क्षण का विलम्ब भी अब किसी को सह्य नहीं था।

चौदह

राधा की स्थिति दयनीय था। चिंता और विषाद की रेखा तो कभी उसके शुभ्र आनन का स्पर्श भी नहीं करती थी तथा मन में बसे मुरलीधर की मनमोहक मूर्ति सदा उसको उत्फुल्ल कमल की तरह प्रसन्न रखती थी। कालिन्दी-कूल से थोड़ी दूर पर स्थित एक करील-कुंज में ही उसके दिन का अधिकांश समय व्यतीत होता था। अंशुमाली के उदयगिरि पर आरोहण के पूर्व ही वह नित्य-कर्म से निवृत्त हो यमुना-जल में स्नान सम्पन्न कर इस अपने प्रिय कुंज में आ बैठती थी जहां उसने पता नहीं कितने दिन अपने आराध्य श्रीकृष्ण के सान्निध्य में व्यतीत किए थे। विगत की वे सारी घटनाएं श्रीकृष्ण के साथ सम्पन्न सम्पूर्ण संवाद, चुहलें और अठखेलियां जैसे इस एकान्त कुंज के पत्ते-पत्ते और फूल-फूल में छिपकर पड़ी थीं। यहां आते ही जैसे सारी मधुर स्मृतियां उसे अपने भंवर-जाल में घेर लेती थीं और उसे अपने अस्तित्व की भी कोई सुधि नहीं रहती थी। पत्ता-पत्ता, फूल-फूल में श्रीकृष्ण के साथ व्यतीत क्षणों की स्मृतियां तो बिखरी पड़ी ही थीं, हर डाली के पीछे से, हर फूल के अन्दर से, हर पत्ते के भीतर से उसे उस वंशीवादक के नीलश्याम छवि की ही झलक मिलती रहती थी।

पूरब में उदित अंशुधर कब पश्चिम के अस्तगिरि का स्पर्श कर गया, इसका उसे पता भी नहीं चलता था और जब पूरे कुंज को रात्रि की कालिमा पूरित कर देती थी और आकाश के टिमटिमाते नक्षत्र भी फूल-पत्तों में वह छवि नहीं उभार पाते थे जिसका दर्शन वह दिवस-पर्यन्त करती रहती थी, तब वह धीरे-धीरे मधुवन से बाहर निकलती थी और नन्द भवन की ओर प्रस्थित होती थी। हां मधुवन ही नाम दिया था उसने इस कुंज का। जहां निरन्तर मधुवर्षण ही होता हो, जहां रूप रस और सौन्दर्य का वर्षण ही होता हो, उसे वह मधु-कुंज से कम क्या कहे? उसकी निष्ठा थी कि यदि स्वर्ग कोई है तो उसकी कल्पना मधुर या कृत्रिम नहीं प्रतीत होता था सब कुछ आज जन्म-जन्म की अनुभूति के प्रकाश की तरह ही यथार्थ

और सत्य ही भाता था। उसे पता ही नही था कि वह श्रीकृष्ण वियोग का शिकार है उसे तो उस अद्भुत कुंज म सवत्र कृष्ण—कृष्ण के ही दशन होत थे। वह उनस बातें भी करती थी उनकी बातें भी सुनती थी। पता नही ये बातें कहा से आती थी राधा के कानो मे क्योकि कहने वाले कहते थे कि उस कुंज म वह सवथा एकाकी होती थी पर सदा वह किसी से वार्तालाप म ही सलग्न रहती थी।

यही कारण था कि अब वह वृदावन मे बावरी गोपी के नाम से ही विख्यात हो गई थी। लोग मानते थे वह अपनी कल्पना के कान्हा से वार्तालाप म ऐसी मग्न रहती थी जस उसे पता ही नही कि उसका कृष्ण कन्हैया, उसका लाला उसका मनमोहन उसका मुरली वादक अब इस कुज तो कुज वृदावन तो वृन्दावन मथुरा तो मथुरा, सम्पूण ब्रज भूमि म भी कही नही था और था तो ऐसे स्थान पर जहा पहुचना उसके लिए दुष्कर तो दुष्कर असम्भव था।

पर राधा की मनोदशा म लोगो की बातो से कोई अन्तर नही आता था। न तो उसकी प्रसन्नता मे कमी आती थी और न अपने प्राणाधिक प्राणेश्वर, प्राणप्रिय प्राणवल्लभ प्राणपति से अनवरत चलते उसके वार्तालाप म ही कोई व्यवधान आता था। न ही ये सारे नाम—प्राणाधिक, प्राणेश्वर प्राणप्रिय आदि किसी और क दिए नही थे, ये सब राधा की ही प्रखर कल्पना स प्रसूत थे—उसी की भावनो की अभिव्यक्ति—सम्बोधन।

पर, आज? आज उसके प्राणो की नीड से प्रसन्नता के विहग अकस्मात् किधर उड गए? किन दिशाओ म अपने पर फडफडाते वे अदृश्य हो गए? आज इस मीनाक्षी का मन जल स बाहर पडी किसी मीन की तरह ही आकुल-व्याकुल क्यो हो रहा था—एक एक सास को पकड बठने की यह कसी व्यग्रता थी? यह कसी तीक्ष्ण वेदना अन्तर को साल रही थी। जस कोई करील के दीघकाय काटे (जिन्ह उसने देखा भी नही था) उसके मम-स्थल म हृत प्रदेश म चुभाए जा रहा हो। हे कृष्ण वह घबराई उसका जो होगा सो होगा उसके अन्तर क मध्य ही विराजमान उसके आराध्य का क्या होगा? क्या ये करील-कटक उसका मम भेदन भी नही कर देंगे? रक्त रजित नही हो जाएगा उसके श्याम का नीलोत्पल तन? अब वह क्या करे? क्या हो रहा है ऐसा? और करील-कुज की इन शाखाओ फूल-पत्तो को क्या हो गया? इनम कहीं पर उसके श्याम की वह परिचित छवि क्यो नही दिखाई पड रही? वह मुसकराता नील-आनन किधर लुप्त हो गया? पत्ते-पत्ते फल फूल से झाकता, अपनी सम्पूण भगिमा और अपनी मारक मुसकान से उसे आनन्दित उल्लसित करने वाला वह अलौकिक रूप किधर *खो गया*? क्या यह करील-कुज ही कृष्ण को निगल गया? उसके पत्ते ही उसे आत्मसात कर गए? यह कसा धोखा? वर्षों से उसका सखा सहचर और एकाकी सगी बना यह कुज उसके साथ इतना बडा छल कसे कर गया? या कि कोई हिंस्र जीव—सिंह व्याघ्र वृक (भेडिया)—ही उसके प्रियतम को ! नही नही, राधा के मन ने विद्रोह किया। इस सृष्टि का कोई जीव उसके प्रतापी श्रीकृष्ण का कुछ नही बिगाड सकता। जिसने किशोरावस्था मे ही सिंह शावको को नचा मारा हो गजराजो क विशाल दन्त उखाड फेंके हो वनल वृषभो की पूछ पकड उन्हें वृक्षो पर दे मारा हो और तो और कस के मदमस्त हस्ती

कुवलयापीड़ के साथ-साथ उसके भयानक मल्लों और कंस तक के प्राण हर लिये हों। उसका वृन्दावन के क्षुद्र वन्य जीव क्या बिगाड़ेंगे?

तब क्या अघटित घटित हुआ? क्या धूमिल पड़ गई श्याम की स्मृतियां? धूमिल क्या, जस निःशेष ही हो गईं। जस कोई स्वच्छ दर्पण पर चिता की राख ही लपेट कर उसे स्याह कर दे। और वह स्वर? श्याम का वह मिश्री घुला मधु स्वर? वह कहां लुप्त हो गया? अब तो सम्वाद मात्र एक-तरफा होकर रह गया है। वह स्वयं प्रलाप करती जाती है, प्रश्न पूछती जाती है पर कोई प्रत्युत्तर नहीं आता, उसकी कल्पना भी उसका साथ नहीं दे रही। सम्भ्रम की यह निय मित घनी आ रही स्थिति भी आज क्यों टूट गई? क्या नहीं मन रम रहा है उसका इस कुंज में? यह सदा के परीक्षित यत्न का सहारा लेती है। आंखें बन्द कर अन्दर की ओर ध्यान लगाती है। वहां तो श्याम का मुरलीनाद स्वरूप हंसता खिलखिलाता स्थिर ही जाएगा उसे। पर नहीं यह भी नहीं होता। राधा हताशा में अपने सिर के अस्तव्यस्त केश-विहीन केशों को नोच लेती है। छाती पर पागलों की तरह मुक्के मारना शुरू करती है। जब वहां श्याम ही नहीं रहा तो यह हृदय रहे न रहे क्या अन्तर पड़ता है? वह कुंज से बाहर आती है। पागलों की तरह भाग कर कालिन्दी-तट पहुंचती है। जी में आता है उस चिता जलने वाली चिता की तरह कालिन्दी की उन लोल लहरियों में स्वयं को ही अर्पित कर दे। जब उसका सर्वस्व ही उससे छिन गया तो उसके रहने नहीं रहने का क्या अर्थ बचता है?

पर नहीं, दूसरे ही क्षण वह प्रकृतिस्थ होने का प्रयास करती है। चिता नहीं बन सकती वह। नहीं कर सकती कालिन्दी में अपना विसर्जन। उसका जीवन अपना नहीं है। किसी प्रकार भी नहीं है। वह तो कृष्णार्पित हो चुका है। उसे जीना है। कृष्ण के लिए जीना है। उस विश्व के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति के रूप में देखने के लिए जीना है। उसकी प्रेरणा के रूप में जीना है। कृष्ण के ही शब्दों में कहें तो उनकी आन्तरिक शक्ति के रूप में जीना है।

पर कहां है कृष्ण? कालिन्दी की ये लहरें तो उसी के रंग की प्रतिनिधि बन विलीन रत हैं। करील के कुंज तो अब तक उसी की रूप छटा को स्वयं में समेटे हुए थे पर अब कहां है वह? आज क्या हो गया इस ब्रज भूमि को? यहां के करील कुंजों को? इस कालिन्दी को ही? और तो और इसके अपने अन्तर्मन को ही? लाख प्रयास के बाद श्रीकृष्ण की छवि कहीं भी और क्यों नहीं उभरती? तो? तो? तो? ये 'तो' राधा को व्यथित कर जाते हैं। तो कृष्ण क्या उसका अपना नहीं रहा? किसी और का हो गया? तभी शायद लाख प्रयास के बाद उसकी एक झलक भी कहीं नहीं मिलती। भीतर भी नहीं बाहर भी नहीं। तो सचमुच राधा के स्थान को किसी और ने ले लिया? ले लिया तो ले ले, राधा ने अपने को समझाना चाहा। उसने श्रीकृष्ण पर सर्वाधिकार चाहा ही कब? तब? तब ऐसा क्यों हो रहा है? क्यों चिन्ताग्रस्त हो रही है वह? क्यों श्याम की छवि नहीं उतरती उसके अन्दर? क्या उसका करील-कुंज मुखर नहीं हो पा रहा आज? क्यों उसके पत्ते-पत्ते फूल फूल कुम्हलाए और प्राण-हीन-से पड़े हैं। बात स्पष्ट है मन को समझाना बहुत कठिन है। उसकी कई तह होती है राधा ने कहा गुन रखा था। ऊपरी तह को समझ भी लो तो वह जो सबसे भीतरी

परत है क्या बोलते हैं उसको—अंतमन—उसको समझाना बहुत कठिन है। वह शीघ्र समझौता नहीं करता। वह अभीष्ट को अभीष्ट और अनिष्ट को अनिष्ट रूप में ही लेता है। तो ? तो ? तो ? फिर ये 'तो' राधा का पीछा नहीं छोड़ते। वह कालिन्दी के किनारे उसकी रेत पर पागलों की तरह दौड़ने लगती है पर सूखे, खड़खड़ाते पत्तों की तरह ये 'तो' भी उसके पीछे-पीछे दौड़ते जाते हैं।

पर दौड़कर कहां जाएगी राधा ? यह अपने से भागना कब तक चलेगा ? दूसरों से तो भागा भी जा सकता है, पर अपने से भागने की यह प्रक्रिया ? कहां अन्त है इसका ? शायद कहीं नहीं। यह कुम्हार के चक्र की तरह निरन्तर अपनी ही धुरी पर चक्रायित होने के सदृश है। यह भागना, यह भटकना सीधा नहीं हो सकता। *व्यर्थ है भीत मृगी की तरह यह व्यर्थ की दौड़।* राधा रुक गई। उसकी दाहिनी भुजा कल अपराह्न में ही फड़क रही है। आज प्रातः से ही दाहिनी आंख की पलकों में भी जैसे पंख लग गए हैं। बुरे स्वप्न देखे हैं उसने रात भर। निस्सन्देह उसका अनिष्ट हुआ है या हो रहा है। शायद उसके सर्वस्व पर ही किसी ने सर्वाधिकार का दावा किया है।

'नहीं !!!' राधा पागलों की तरह ज़ोर से चिल्लाई—यह हो नहीं सकता। श्रीकृष्ण मेरा है, मेरा होकर ही रहेगा। उसे अपने शब्दों पर, अपने इस अमानुषिक चीत्कार पर स्वयं आश्चर्य हुआ। यह क्या कर रही है वह ! उसका जीवन तो बलिदान-हेतु बना है, त्याग ही उसका व्रत है। माना सारे अपशकुन यह चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे हैं कि उसकी निधि लुट गई। उसका सर्वस्व स्वाहा हो गया। माना ये अपशकुन ठीक भी हों, पर इससे उसका क्या ? वह तो अपने मुख से श्रीकृष्ण को बोल चुकी है—तुम्हारी पटरानियां होंगी, रानियां पटरानियां होंगी। सभी कहेंगे होगा की होनी है। पर मुझे इसमें क्या अंतर पड़ेगा। मैं तो मन से तुम्हारी हूं, तुम्हारी रहूंगी। तुम्हारे तन पर उनका अधिकार हो सकता है, पर मन तो मेरा ही रहेगा। हमारा सम्बन्ध तो आत्मिक है, अपार्थिव। उसे किसका भय है ?

तब आज क्या भयभीत हो रही है राधा ? क्या अव्यवस्थित हो रही है वह ? शायद तन के साथ श्रीकृष्ण का मन भी कुछ क्षणों के लिए कहीं और चला गया। इसीलिए न ? और फिर क्षण भी कैसे कहे वह उन्हें। हो सकता है सदा के लिए ही श्रीकृष्ण अपने तन मन दोनों से किसी और के हो गए हों।

होने दो, राधा व्यवस्थित हुई। कुछ अंतर नहीं पड़ता उस पर इस सबसे। कृष्ण का किसी का होना-न-होना महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण है राधा का कृष्ण को छोड़कर किसी और का न होना। और राधा का कृष्ण के मन पर नियन्त्रण नहीं हो, अपने पर तो है। और उसके पैरों में लगे पंख खुल गए। व्यवस्थित हो गई राधा। उस करील-कुंज की ओर लौट चली। त्याग सर्वस्व त्याग का ही नाम है राधा, निःस्वार्थ त्याग का। राधा ने अपने को समझाया। वह अपने करील-कुंज के फूल-पत्तों में फिर उसी श्याम छवि को ढूंढेगी। फिर उस परिचित स्वर का ध्यान करेगी। आज नहीं कल फिर उभरेगी श्याम छवि इन पत्तियों पर, फूलों की इन पंखुड़ियों पर। गूंजेगा श्याम का स्वर उसकी कल्पना में। यह सब कुछ क्षणिक है। राधा की साधना सच्ची है तो बहुत देर नहीं भटकेगा श्रीकृष्ण मन।

और ठीक ही बहुत दूर नहीं भटका श्रीकृष्ण मन। ऐसे रुक्मिणी का सौन्दर्य उस दारुक दीपशिखा म कम नहीं था जिस पर टूटा पतगा अपन प्राणो की आहुति से कम या अधिक नहीं प्रदान कर सकता। रथ के पिछले भाग म प्राय उनके अक म ही अदर स परम सतुष्ट पर ऊपर म वन्य मगिनी की तरह भयभीत रुक्मिणी का रूप श्रीकृष्ण के सोचने समझने की सम्पूर्ण शक्तियो को ही प्राय समाप्त कर चुका था। नहीं, स्वयवर सभा स ल भागने के पश्चात वे रुक्मिणी को एक बार भी अपने आरपण का आश्वासन नहीं दे पाए थे। मन म कई बार आया था कि जब उसका अपहरण कर उस अर्धांगिनी का महत्वपूर्ण स्थान देने ही जा रह हैं तो भीता, आशकिता और साथ ही वर्षों से पूर्णतया समर्पिता इस निसर्ग-सुदरी को अपने अक म भर उसे अपने प्यार म नहीं, सरक्षण की ही सम्पूर्ण आश्वस्ति प्रदान कर दें। और प्यार भी कैसे नहीं ? रुक्मिणी के सौन्दर्य की गाथा उस धूल धूसरित विप्र के जाने के पूर्व ही उन तक द्वारका पर आरूढ हो पहुच चुकी थी। कुछ क्षणो के लिए ही नहीं कुछ पलो के लिए श्रीकृष्ण-नयन रुक्मिणी-मुख पर अपलक हो गए थे। इस समय उनके अदर भावनाओ का जो ज्वार उठा तो सचमुच उसम गाथा की स्मृति भी किसी असहाय तिनके की तरह ही किसी अन जान किनारे को जा लगी थी।

और ऐसा होना भी स्वाभाविक था। रुक्मिणी का सौन्दर्य चाहे जितना अलौकिक, मादक और अदभुत हो, उसे प्राप्त करने म भी द्वारिकाधीश को कुछ कम बल विक्रम और बुद्धि चातुर्य का उपयोग नहीं करना पडा था। ब्राह्मण की विह्वलता और रुक्मिणी के पत्र म वर्णित उसकी दयनीयता और सर्वस्व-समर्पण की भावना और सबस ऊपर श्रीकृष्ण द्वारा परित्याग और शिशुपाल द्वारा वरण की स्थिति म उसके प्राण विसर्जन की प्रतिज्ञा न उन्ह तत्काल विदर्भ-नरेश की राजधानी कुण्डिनपुर की ओर प्रस्थित तो कर दिया था पर स्थिति की दुरूहता का भान उन्ह वहा जाने पर ही हुआ था। चेदिनरेश नृप दमघोष वहा अपने पुत्र शिशुपाल के शुभ विवाह की पूर्ण तैयारी के साथ सज्ज सज्जित होकर आ पहुचा था। स्वयवर तो बहाना मात्र था, रुक्मी शिशुपाल को अपनी बहन रुक्मिणी को देने को पूर्णतया प्रस्तुत तथा वचनबद्ध था और उसने अपनी योजना म कहीं कोई कमी नहीं रहने दी थी।

श्रीकृष्ण के सभी घोषित शत्रु जरासध पौण्ड्रक विदूरथ शाल्व, दन्तवक्त्र आदि अपनी विशाल वाहिनियों के साथ उपस्थित थे। श्रीकृष्ण इन सबका सामना करने के लिए मात्र अपने चक्र और सारथी दारुक के साथ रुक्मिणी के त्राण के लिए प्राय एकाकी ही पहुच चुके थे। फिर भी उनको अपने कृत्य पर जरा भी पश्चात्ताप नहीं था। उन्ह विश्वास था कि अपने अदभुत शौर्य और शस्त्र-सचालन के बल पर इन सभी नृपो और इनकी वाहिनियो को पराजित कर रुक्मिणी त्राण म वे सफल होकर ही रहेंगे।

कहने वाले कहते हैं कि ईश्वर मनुष्य के अत्यत समीप है। ऐसा कि आप उसे

देख भी सकते हैं स्पश भी कर सकते हैं, चाह तो वार्तालाप भी कर ले सकते है। वह उतना ही सत्य यथाथ और पार्थिव है जितना आपके सामन या पीछे स्थित कोई शरीरधारी। पर उसे आप नही देख पाते नही सुन पाते नही छू पाते क्योंकि आपके और उसके मध्य सत्ता मे एक झीनी चादर एक पर्दा एक हलका आवरण स्थित है और वह आवरण है काम वासना। जहा वासना है वहा भगवान नही और जहा भगवान है वहा वासना नही।

अब अगर श्रीकृष्ण सचमुच म ईश्वर थे जसा कि कुछ लोग तब तक मानने लगे थे तो उपयुक्त उक्ति रुक्मिणी-हरण प्रसग म एकदम सटीक बठती है।

श्रीकृष्ण अपने रथ के साथ विदभ नरेश और उनके सभी सहयोगियो की पक्ति बद्ध सेनाओ के ठीक पीछे खडे हो गए थे। प्रसग गौरी-पूजन का था। रुक्मी और उसके समथको को पूण विश्वास था कि कृष्ण छल बल अथवा किसी भी कौशल का प्रयोग कर रुक्मिणी हरण का प्रयास करेंगे ही। अत गौरी मदिर के पास सय बल की विशेष व्यवस्था थी। सेना की कई पक्तियो की दीवार ही वहा चुन दी गइ थी।

श्रीकृष्ण को ज्ञात था कि उन्हे क्या करना था। जसे ही रुक्मिणी गौरी मन्दिर के पास पहुची उन्होंने अपने रथ को पक्तिबद्ध सेनाओ के पीछे और समीप ला खडा किया। परम्परा के अनुसार राजमहल से मदिर तक रुक्मिणी को पाव पदल ही देवी पूजन हेतु जाना था। और जब साक्षात सुदरता ही मूर्तिमती हो भूतल पर पद चाप करे तो किन चमचक्षओ म शक्ति है कि उसकी ओर से अपने को मोड ले? रुक्मी के सनिक तो रुक्मी के सनिक शाल्व शिशुपाल जरासध दन्तवक्र आदि सभी महारथियो के साथ उनके सनिको के नयन भी रुक्मिणी की ओर निर्निमष हो गए। उस सुदरी के रूप पद-तल के साथ महारथिया रथिया अधिरथिया और सामाय सनिको के हृदय के तार एकीभूत हो आए। किसी को और किसी तरफ देखने का अवकाश ही नही था। यही था ईश्वर और जीव के मध्य वासना का आवरण। ईश्वर के रूप म श्रीकृष्ण शस्त्र सज्जित सनिको के ठीक पीछे खडे थे—रथारूढ अपने पीताम्बर और चक्र से सुसज्जित एक पूण पुरुष—स्वय ही शोभा और आकषण की अप्रतिम प्रतिमूर्ति। पर उनकी ओर देखने की किसे सुधि थी? सभी तो नारी सौदय के नख शिखपान म मदहोश थे भले ही वह नारी उनम म किसी के नरेश और किसी के मित्र की ही परिणीता होकर एक पवित्र विधान को निकली थी।

श्रीकृष्ण सनिको से ठीक सटे प्रतीक्षारत रहे। वे स्वय शक्ति के उपासक थे। पूजन म व्यवधान बनन की उनकी कोई योजना नही थी। मदिर गभ म रुक्मिणी को अपेक्षाकृत अधिक समय ही लगा। पर उसके रूप के माधुय से मोहित योद्धाओ की दृष्टि गभ-द्वार पर ही अटकी रही। पता नही कब वह रूप की प्रतिमा पूजन समाप्त कर वापस निकल आए। कोई भी पूजन-पश्चात के उसके और अत्यधिक दीप्यमान हो आए रोली-कुकुम चर्चित चेहरे की प्रथम झलक से अपने को वचित करना नही चाहता था।

रुक्मिणी अचना गह स बाहर आई। सखियो ने पूजन के स्वण रजत थाल अपन हाथो म थाम लिये। दो चार पल विश्राम के पश्चात ही उसन अपन नमित नयनो को थोडा उठाया—उनम एक स्पष्ट व्यग्रता थी। पूजन तो समाप्त हो गया

था पर श्रीकृष्ण का कहीं पता नहीं था। तथाकथित योद्धाओं ने इन उन्मीलित नयनों की गहराइयों में अपने नयनों को डुबा देना चाहा। अब तक तो उन्हें झीनी चादर से ढके चन्द्रमुख और बहुमूल्य आवरण में लिपटे विस्मयकारी शरीर-यष्टि के दर्शन के ही सौभाग्य मिल रहे थे। पर ये उन्मीलित नयन, ये कानों तक खिंचे काम शर की तरह तने नयन, गहरी-से गहरी झील की गहराइयों को भी मात देने वाली आंखों की यह अतल गहराई। सभी की दृष्टि अपलक हो गई। पीछे खड़े पीताम्बरधारी, चक्रपाणि पर किसका ध्यान जाना था? ईश्वर और जीव के मध्य की क्षीण पतली दूरी एक सुदृढ़ दीवार बन गई। यह रूप का जादू था या वासना कामना का विवश नर्तन? श्रीकृष्ण नहीं जानते थे कि वे ईश्वर थे या नहीं आज भी बहुत लोग इस बात को नहीं जानते है, पर इस कथन को एक बार पुनः दुहराने की इच्छा होती है कि वासना इसी तरह व्यवधान बन आती है अति समीप स्थित ब्रह्म और जीव के मध्य। वह नहीं रहता अभेद है ब्रह्म और जीव में आत्मा और परमात्मा में। तब उसे कहीं ढूंढने की आवश्यकता नहीं होती वह तो समीप ही खड़ा मिलता है, खड़ा रहता है।

श्रीकृष्ण ने इस स्थिति से लाभ उठाया। रथ से उतरे। सामने की अभेद्य सैन्य पंक्ति से धनुष से छूटे शर की तरह ही पार हुए। उनकी ओर देखने का अवकाश भी किसे था भले ही उनके कवच धारी शरीर से कुछेक को खरोंचे भी आई हों और कुछ गिरते गिरते भी बचे हों। वे ठीक वहां पहुंचे जहां अब नमित मुख रुक्मिणी पहुंच चुकी थी। सुबह की कुमुदिनी की तरह ही उसका सुन्दर मुख दुश्चिंता से म्लान हो आया था।

रुक्मिणी की दाहिनी कलाई जैसे किन्हीं लौह पंजों में जकड़ गई थी। एक क्षण को हड़बड़ा कर उसने आंखें उठाई थीं और दूसरे ही क्षण आश्वस्त-सी होती भूमि पर गिरते गिरते बची थी। श्रीकृष्ण ने अपनी विशाल भुजाओं में उसे उठा लिया था और इससे पूर्व कि कोई समझे-बूझे, सैनिकों की पंक्तियों को त्वरा पार करते हुए वे अपने रथ में जा बैठे थे।

दारुक ने रथाश्वों को प्रदोत्त का एक हलका स्पर्श दिया था और वे वायु वेग से भाग चले थे। रुक्मिणी हरण हो चुका था। शिशुपाल ने सिर पीट लिया था। रुक्मी के मुख का रंग डूबते सूरज की तरह प्रभा हीन हो आया था। जरासंध काल नाग की तरह क्रोध में फुफकारने और शब्दों के विष-वमन करने लगा था।

पर वे सँभले थे। श्रीकृष्ण को रुक्मिणी के साथ यों पलायन नहीं करने दिया जा सकता था। उन्होंने अपने सैनिकों को आदेश दिए थे और सभी शस्त्र सज्जित रथों में सवार हो श्रीकृष्ण की दिशा में क्षिप्र गति से बढ़ चले थे।

बलराम श्रीकृष्ण से केवल वय में ही बड़े नहीं थे। बुद्धि, विद्या-बल में भी उनसे वाम पड़ते थे। यह बात पृथक थी कि जिस आकांक्षा महत्त्वाकांक्षा से मुक्ति की बात श्रीकृष्ण सिद्धांत में करते थे, बलराम ने उसे व्यवहार में उतार लिया था।

सत्यनिष्ठा तीर्थाटन और न्याय प्रियता ही उनके जीवन के लक्ष्य थे। उन्हें आर्यावर्त की तत्कालीन राजनीति में न कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाकर अपने को पूज्य प्रतिष्ठित करना था न परमात्मा-परमेश्वर के रूप में ही पूजित होने की कोई महत्त्वाकांक्षा थी। किन्तु एक बात थी। पूर्व की तरह ही उनके हृदय में अब भी अपने अनुज के लिए अगाध स्नेह था।

जब ही उन्हें पता लगा कि वृद्ध ब्राह्मण के साथ वे विदर्भ-नरेश की राजधानी कुंडिनपुर की ओर एकाकी ही प्रस्थान कर चुके हैं उन्होंने शीघ्रता में मथुरा की यादवी सेना को संगठित किया और जो कुछ सैनिक भी उपलब्ध हो गये उनके साथ विदर्भ-नरेश की राजधानी की ओर प्रस्थित हो गए।

कुंडिनपुर से लौटते श्रीकृष्ण से उन्हें मार्ग में ही भेंट हुई पर अब श्रीकृष्ण कहने मात्र को अकेले थे। निरंतर यात्रा के फलस्वरूप तथा भोजन-पानी की पर्याप्त व्यवस्था नहीं होने के कारण उनके रथाश्व शिथिल-गात हो आये थे और तीव्रता से पीछा कर रही शिशुपाल जरासंध आदि की सेनाएं प्रायः उनके पास पहुंच गई थीं। समीप था कि दोनों ओर से तुमुल युद्ध आरम्भ हो जाता और इस संघर्ष में एकाकी श्रीकृष्ण को मुक्ति भी खोनी पड़ती पर बलराम के आने से बात संभल गई। उनके पास बहुत समय नहीं था उन्होंने श्रीकृष्ण से इतना ही कहा— तुम्हें यह दुस्साहस नहीं करना था, खैर तुम अपने मार्ग जाओ, मैं इन सेना से निपट लूंगा।

रुक्मिणी को लिये श्रीकृष्ण का रथ आगे बढ़ गया। बलराम का सामना एक साथ कई रथियों-महारथियों और अधिरथियों से हुआ। जरासंध शाल्व शिशुपाल पौण्ड्रक रुक्मी रुक्मरथ रुक्मबाहु रुक्मेश रुक्ममाली—सभी ने एक साथ बलराम पर परिघ, पट्टिश शूल तलवार तोमर और शक्ति से आक्रमण आरम्भ कर दिया। वे शीघ्रातिशीघ्र बलराम रूपी इस बाधा को पार कर श्रीकृष्ण और रुक्मिणी तक पहुंचना चाहते थे पर बलराम तो हिमवान बने उनके मार्ग में अडिग खड़े थे। अपने पर चलाए अस्त्र शस्त्र वे बात की बात में अपने तीक्ष्ण शरों से काट डालते थे और अवसर मिलते ही कितनों के सिर अपने प्रिय आयुध मूसल और हल से ही चूर कर डालते थे। रुक्मी के सहायकों की संख्या फिर भी अत्यधिक थी। मुट्ठी भर यदुवंशियों के लिए वह निश्चय ही भारी पड़ रहा था। बलराम यद्यपि श्रान्त नहीं हुए थे पर क्रोधाभिभूत हो आये रुक्मी और श्रीकृष्ण के घोषित शत्रुओं शिशुपाल, जरासंध और शाल्व तथा उनकी सेना से अब बहुत देर तक वह टक्कर पायेंगे यह संदेहपूर्ण था।

पर्याप्त आगे बढ़ गए श्रीकृष्ण ने एक अश्वत्थ वृक्ष की छाया में दारुक से अपने रथ को रुकवाया। अश्वों के खान-पान का प्रबन्ध किया। प्रेम से उनके शरीर पर हाथ फेरा। वे प्रसन्नता में हिनहिना पड़े।

दारुक हमें अब पीछे लौटना होगा।

क्यों? सारथी ने आश्चर्य में पूछा।

अग्रज संकर्षण अभी लौटे नहीं। लगता है शत्रुओं की विशाल वाहिनी ने उन्हें उलझा रखा है। हम उन्हें एकाकी नहीं छोड़ सकते।

आपके अग्रज को रणांगन में किसका भय है? आप व्यर्थ चिन्तित हो रहे हैं। रथ में राजकुमारी भय-वश बेसुध पड़ी है। शीघ्रातिशीघ्र द्वारिका लौट कर

इनकी चिकित्सा करनी होगी। इनकी सना को वापस लाना होगा। आपके पास युद्ध रत हान का समय कहा ह ? दारक न निवदन किया।

'राजकुमारी की तो रक्षा हा चुकी। इनक प्राण भी बच जायेंगे। पर अनुज क नात अग्रज क प्रति जा मरा कत्तव्य बनता है उसकी म उपक्षा नही कर सकता। उनक प्राणा पर सकट क मेघ घिर आय ह। जरासध हमारा पुराना शत्रु ह। अभी उस हमारे अन्य शत्रुआ का बल भी प्राप्त हो गया है, वह अग्रज के हाथों कई बार अपमानित हा चुका है। भूखा शेर बना बठा है वह। नही, हम भया बलराम को उससे अपमानित नही हान देंग। रथ लौटाओ। घोडे भी अब स्वस्थ हा गए है। काइ बात नही, अग्रज थक गए हाग तो हम सम्पूण शत्रु-सेना से अकेल ही निपट लेंगे।'

और हुआ भी वही। श्रीकृष्ण यदुवशिया की सना को चीरते हुए उसक अग्रभाग म जा पहुच। यद्यपि बलराम सबक आक्रमण को अकल झेल रहे थ पर श्रीकृष्ण ने उन्हे पीछ कर, विश्राम का अवसर दिया और शत्रुआ के अस्त्रा की बौछार स्वय झेलन लग।

'तो तुम रण छोड' पुन वापस आ गए।' जरासध न कटूक्ति की।

"अभी पता चलता हे कि रण छाड कौन है।' श्रीकृष्ण न कहा और बलराम क रथ स धनुष और तूणीर लकर जरासध पर बाणा की झडी लगा दी।

जरासध ने भी अपना हस्तलाघव दिखलाया और दखत दखत श्रीकृष्ण का पूरा रथ बाणा स ढक गया। क्षण भर को जस पूर्णिमा क पूण चन्द्र को विशाल मघ खड ढक लेत ह उसी तरह श्रीकृष्ण क सहायका को लगा कि श्रीकृष्ण का रथ बाणा के झुण्ड म विलीन हा *गया। यदुवशिया म हाहाकार मच गया।*

जरासध ठठाकर हसा।

"यह 19वा बार तुम्हारी हार हा रही ह यदुराज ? जरासध न व्यग्य किया। रथ म मनाहीन सी पडी रुक्मिणी की सना भी कुछ क्षण क लिए लौटी और रथ को शरा स आच्छादित देख वह पुन सना शून्य हो गई। श्रीकृष्ण को अपन प्रिय धनुष को नही लान का बहुत दुख हुआ पर सुदशन चक्र को अपनी उगली पर इस कुशलता स चक्रायित कर उ हान फेंका कि जरासध के सारे शरा को एक हा बार म काट कर वह वापस आ गया। उसक बाणा के साथ जरासध क धनुष और ध्वज को भी अद्भुत श्रीकृष्णास्त्र न काट दिया।

इस चक्र को दूसरी बार मैं छाडू ता वह तुम्हारा सिर अपने साथ लिय ही लौटगा। श्रीकृष्ण न मुसकरा कर जरासध स कहा।

जरासध को स्पष्टत पसीना आ गया। उसने अपनी हथेली से ललाट पर चुहचुहा आइ बूदा को पोछा और दूसर धनुष को उठाने क लिए अपने दाहिने हाथ का पीछे करना चाहा।

'नहा जरासध ! श्रीकृष्ण न मेघ गजन क स्वर म उस सम्बोधित किया, तुम्हार हाथ पीछे बढ कि मरा चक्र चल जायगा और तब न ता तुम्हारा यह हाथ रहेगा और न तुम्हारा सिर।

जरासध का हाथ जहा का तहा रुक गया।

"अब बोलो यह हमारी उनीसवी हार है अथवा तुम्हारी अन्तिम ?" श्रीकृष्ण ने जरासध को सम्बोधित किया।

जरासध चुप अपने रथ म बैठा रहा। श्रीकृष्ण का भय उसे प्राय पगु कर चुका था। उसे अपनी मत्यु समीप लग रही थी पर उसे आश्चय हो रहा था कि उसे असहाय पाकर भी श्रीकृष्ण उसका वध क्यो नही कर रहे थे। उसका उत्तर भी उसे मिल गया।

"मैं तुम्हारा वध नही करूगा जरासध। एक बार नही कई बार मेरे अग्रज बलराम ने तुम्हे बधन युक्त कर भी तुम्हारे प्राण वापस कर दिये। तुम्हे इस बात का भी अभिमान होगा कि तुमने अपने अठारहवें आक्रमण म मुझे मथुरा छोडने को बाध्य कर दिया पर वह हमारा नगर छोडना तुम्हारे भय म नही हमारी एक विशेष योजना के अतगत था और आज तो तुम्हे पता लग ही गया कि विजय श्री तुम्हे वरण करने को व्यग्र है या हम। यह भी नही समझना कि हम तुम्हे कृपावश प्राण दान दे जा रहे हैं। वास्तविकता तो यह है कि अपने हाथो तुम्हारा वध कर मेरे अग्रज और मैं तुमको अतिरिक्त मान नही देना चाहते। मृगराज कभी शशक शावक का शिकार नही करता। तुम्हारा भी आमेट कोई करेगा पर उसका नाम मैं अभी तुझे नही बताऊगा।

श्रीकृष्ण की बात सुनकर जरासध का मुह सवथा तेजहीन हो गया। उसे अपनी मत्यु सुनिश्चित लगी। प्रश्न अब केवल समय का था। वह अपने रथ को पाछे हटा ले गया।

अब सामने आया शिशुपाल। पर उसका भी मुख विवण था। निश्चय ही रुक्मिणी से उसे अथाह प्रेम था और उसका हाथ से निकल जाना उसके हृदय की धडकन ही बद कर गया था।

यादवो के कुटिल नायक। तुमने शृगाल होकर शेर के हिस्से पर हाथ लगाया है। यह तुम्हे बहुत महगा पडेगा। उसने घृणा भरे स्वर म श्रीकृष्ण को सम्बोधित किया।

तुम शेर हो कि नही मैं यह नही कह सकता पर तुम्हारे शेर जिसके आमेट का आतुर थे वह शिकार मेरे रथ म पडी है और उसे देखकर मुझे लग रहा है कि वह शेरनी अवश्य है अत तुम्हारे योग्य कदापि नही।

वह एक सम्मानित क्षत्रिय-वीर के योग्य नही और तुम्हारे सदृश ग्वाल के गोष्ठ की शोभा बढाने योग्य है। शिशुपाल आपे से बाहर होकर बोला। उसका श्री-हीन मुख पुन सामान्य हो आया था और उसने अपने धनुष पर शर सधान कर लिया था।

जिह्वा पर लगाम दो शिशुपाल वरना मुझे उसे काट फेंकना होगा। श्रीकृष्ण ने क्रोधाभिभूत होकर कहा।

जिह्वा पर लगाम और तुम्हारे सदृश चोर और धोखेबाज के लिए ? गोकुल की गलियों के तुम शम-हीन माखन चोर अब क्षत्रिय-बालाओ की चोरी पर भी उतर गए हो ? शिशुपाल ने बाणो की अनवरत झडी श्रीकृष्ण रथ पर लगाते हुए कहा।

बात की बात म अद्धचन्द्राकार शरो म उन्होने शिशुपाल के मारे तर काट दिए और बोले दुबल नरेशो की यही गति होती है। क्षत्रिय होने से ही कोई

सग्राम-जयी योद्धा नही हो जाता। तुम अपनी हान वाली पत्नी की रक्षा करने म तो असमथ रहे अब विम मुह म डीग मारे जा रहे हो ?

श्रीकृष्ण के ये वचन शिशुपाल को शूल की तरह ही लगे और उसने एक भयानक शूल ही श्रीकृष्ण के वक्ष का लक्ष्य बनाकर छोड दिया। निकट था कि वह भयकर अस्त्र श्रीकृष्ण के हृदय को विदीण कर जाता पर तत्काल श्रीकृष्ण ने रथ को अपने परो से जोर म दबाया। घाडे जोर स हिनहिना कर घुटना के बल बठ गए। रथ चक्र दो दो अगुल जमीन म जा गढे और शिशुपाल का शूल रथ दण्ड का स्पश मा करता ऊपर-ऊपर ही निकल गया।

'बच गए तुम यादव कुल-कलक !' जिस सम्पूण आयभूमि अब तक नारायण कहकर सम्बोधित करने लगी थी, उसके लिए यही सम्बोधन चुना शिशुपाल ने।

गालियां तुम मुझे जितनी द लो पर मैं अभी तुम्हारे प्राण लेने नही जा रहा, श्रीकृष्ण ने कहा और एक साथ कई शरा का सधान कर उसके बाण, ध्वज दण्ड और सारथी के साथ साथ रथाश्वा का भी विनाश कर दिया। दूसरे ही क्षण विदभ-कुमारी का वरण करने आया हुआ क्षत्रिय वशावतश शिशुपाल असहाय और लज्जित सा समरागण म अपने टूटे रथ के भग्नावशेष पर निरुपाय और भीत खडा था। मत्यु उसकी आखा के सामने अपना वीभत्स मुख फैलाये खडी थी। वह किसी क्षण सुदशन चक्र द्वारा अपने शिराच्छेदन की बात निश्चित मान रहा था।

श्रीकृष्ण उसके मुख पर मढ आये उसके मनोभावा को ठीक स पढ सके और बोले, "नही चेदि कुमार ! तुम्हारे बध के लिए अभी मैं अपने सुदशन-चक्र को कष्ट नही दूगा यह सुनिश्चित है कि इसी चक्र स तुम्हारा शिराच्छेदन होगा पर अभी नही।' श्रीकृष्ण ने भयभीत शिशुपाल को सम्बोधित किया।

'तुम का-पुरुष विलासिता के दास, गवार यादवा के सामान्य सरदार, तुम क्या खाकर मेरा शिरोच्छेदन करोगे ? मैं जरासध नही हू जो तुम्हारे इस खिलौने स डर कर भाग खडा होऊगा। मैं तुम्हारे इस चक्र को अपने विशाल खुले मुख म उसी तरह निगल जाऊगा जस चन्द्र बिम्ब को सिंहिकासुत अपना ग्रास बना लेता है। छोडो अपना चक्र को तुम निलज्ज जादूगर और देखो उसकी क्या गति होती है ? शिशुपाल उसी तरह अपने ध्वस्त रथ पर खडा हुआ बोलता गया। उसके प्राण तो श्रीकृष्ण के रथ म पडे थे—उसकी तथाकथित परिणीता रूप राशि रुक्मिणी। उस अब अपने इन महत्त्वहीन प्राणा का क्या भय था ?

गालियां मुझे छू नही पाती शिशुपाल,' श्रीकृष्ण ने आरम्भ किया, "तुम्हारी कृपा से मैं शब्दा की व्यथता और साथकता दोनो स परिचित हू। मैं इन शब्दा को कोई मूल्य नही देता। ये अथहीन और मूल्यहीन ही हैं मेरे लिए। पर मेरे सुदशन का स्पश अथहीन होगा ऐसा समझने की भूल नही करना पर नही अभी नहीं ! मैं वचन की रक्षा करना जानता हू। मैंने तुम्हारी मा को वचन दे रखा है कि तुम्हारे दुमुख पुत्र की मैं निन्यानवे गालियां खुशी-खुशी झेलने को तयार हू पर जिस दिन उसके मुख स सौवीं गाली निस्सत होगी उस दिन उसका सिर कन्धा पर नही रहेगा। अभी सौवीं गाली शष है शिशुपाल इसीलिए तुम्हारे जीवन की सध्या म भी अभी कुछ विलम्ब है। जाओ मैंने तुम्हें जीवन दान दिया, हो सके

बोध कराती है और अन्तत जीतती है वही। और सुनिश्चित पराजय प्रतीक्षा करती है निरीह मनुष्य की ही।

गलत नही समझे कोई। यह नियति कोई आसमान से टपकी वस्तु नही है और न है यह स्वय भू। जैसा कि पहले कहा इसे गढा है हमने ही, गढ़ते भी हम ही जा रहे है क्षण क्षण, पल-पल पर इस सत्य से साक्षात्कार करने से सदा वचित रह जाते हैं कि हम वही काट रहे हैं जो वो चुके है अथवा कल वही काटेंगे जो आज बो रहे है? अगर सचमुच इस सत्य से उसका साक्षात्कार हो जाय तो उसके जीवन से दुख दर्द अपमान उत्पीडन, विपत्ति और दैन्य दीनता सदा के लिए शेष हो जाय और उसका जीवन उपवन सुगंधित पुष्पो की खिली-अधखिली कलियो से पुर जाए। सब कुछ अपने हाथ मे है। सुख भी और दुख भी मान भी और अपमान भी जय भी पराजय भी। दुख नही भोगना है तो बुरे कर्म नही करने है सुख चाहिए तो सत्कर्म की ओर प्रवत्त होना पडेगा। और यह भी कोई बताने की बात है कि सुकर्म क्या है और दुष्कर्म क्या? एक निरीह पशु भी तो मात्र घ्राण द्वारा खाद्य-अखाद्य के मध्य भेद कर लेता है और लाख प्रयास करो अखाद्य की ओर मुह भी नही करता।

तो क्या मनुष्य पशु से भी गया बीता है—विवेक मे, बुद्धि मे और अपने हित अहित के निर्धारण मे? सष्टिकर्त्ता ने तो उसके हाथ मे सूत्र पकडा दिया है उसके सुख दुख की चाबियो के गुच्छे फेंक दिए है उसके समक्ष सुख के खजाने के भी और दुख के भी। चुनाव उसका काम है। यहा वह सष्टिकर्त्ता वह नियामक वह अखिल ब्रह्माण्डपति और इन शब्दो से किसी को चिढ हो तो 'प्रकृति ही कह दे वह उसे पूर्णतया तटस्थ हो जाता है। चुन लो जिसे जो चुनना हो—कुकर्म को अथवा सुकर्म को। जीवन उद्यान के खिले पुष्पो को अथवा मुर्झाए गंध हीन व्यथ और वन्त से टूट पडने को आतुर गत प्राण कुसुमो को।

पर एक बार चुन लो तो पश्चाताप नही करो। अगर तुम तैरना नही जानते हो और तुमने पूरे होशो-हवास मे सागर जल मे छलाग लगाई है तो निश्चित मत्यु भी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है और किसी आतिशबाजी मे तुम्हारे पूर्व कृत्य कर्मों को निधान का प्रबन्ध होता तो तुम यह देखकर चौंक जाते कि तुम्हारे प्राणो का यह सागर विसर्जन यो ही नहीं हो रहा—भूत मे तुमने भी किसी को जल-समाधि दी है।

पर नही समझेगा मनुष्य यह तथ्य। नही सुधारेगा अपनी चिंतन प्रक्रिया और अपनी कार्यशैली को और फिर वह सब कुछ भोगने को अभिशप्त रहेगा जिससे वह भय खाता है। भागना चाहता है।

नहीं समझ सका यह सत्य रुक्मिणी का भाई रुक्मी भी और इसीलिए उसे वह सब कुछ भोगना पडा जो किसी भी राजकुमार अथवा राजा के लिए अपमान के चरम अथवा पराकाष्ठा की बात हो सकती है।

बलराम ने उसे देखा तो पहले तो उनके होठो पर एक मुसकान खेलते खेलते रह गई पर दूसरे ही क्षण वे सम्हले और रुक्मी की दुदशा पर उन्हे दया आ गई।

मुंडित विल्व फल के सदृश पूर्णतया केश हीन मस्तक। शिरस्त्राण अथवा एक सामान्य शिरोवस्त्र से भी रहित। मुंडित ही दाढी मूछ और जल कुक्कुट के अंडे के सदृश दिखता रोम राशिहीन म्लान मुख। श्रीकृष्ण रथ के ध्वज-

दण्ड से बधा, नत-मस्तक रुक्मी अपमान, क्षोभ और शम का साक्षात प्रतीक बना उनके रथ म निरुपाय निरीह पडा था। नियति के साथ समझौता नही करने का प्रतिफल भाग रहा था—धारा के विरुद्ध तरना भी आपके साहस और पौरुष का प्रतीक है पर प्रकृति प्रदत्त बुद्धि अथवा विवक को अगठा दिखाकर नही। नदी की कल कल धार म आप विपरीत तर जो शौक म अपनी विजय का ध्वज गाड लो पर ज्वार आदोलित नदी मख म छलाग लगाओगे अथवा आदोलित उच्छवसित सागर की खूखार गगन-स्पर्शी लहरो म लोहा लकर अपनी निजता को प्रतिष्ठित करने के बालय प्रयास म प्रवत्त होओगे तो प्रकृति तो अपना काम करगी ही। तुम्हारी नियति उस अगाध जल राशि म डूब मरने की है और यह चुनाव भी तुम्हारा अपना है तो कोई मित्र बन्धु कोई दवी देवता कोई ईश्वर परमश्वर (अगर इनम तुम्हारा विश्वास है) तो तुम्हारी रक्षा को नहीं आ रहा है। बोया है तुमने तो काटो भी तुम्ही।

और काट रहा था रुक्मी अपने बोये का फल। हुआ यह था कि जब जरासध, शाल्व, शिशुपाल दन्तवक्त्र और पौड्रक के सदृश योद्धा भी श्रीकृष्ण के पौरुष स पराजित हो वापस लौट गए तो एकाकी पडा रुक्मी अपमान और ग्लानि म भर आया। जिस बहन को वह विधिवत विवाह म एक प्रतिष्ठित राजकुमार (भले ही वह आयभूमि क सवसम्मत नायक श्रीकृष्ण का शत्रु ही क्या न हो) को देना चाहता था उसका वही श्रीकृष्ण हरण कर उससे गधव विवाह करने जा रहा था जिसको वह देखना भी नही चाहता था। माता पिता भाई बन्धु की अनुपस्थिति और उनकी अनिच्छा के विरुद्ध सम्पन्न विवाह, गधव विवाह स अधिक क्या था?

और कुछ न सोचने समझने के पश्चात वह अपनी सेना ले श्रीकृष्ण की दिशा की ओर बढ गया था। वह लख चुका था कि श्रीकृष्ण की विजय स आश्वस्त और अपने तीर्थाटन लोभ मे मद वशीभूत बलराम अपने विशाल रथ म अपने स्वण-हल और दुधष मूसल का एक किनारे फेंक उत्तराखड की ओर प्रस्थित हो गए थे। यादवी सेना भी जरासध और शिशुपाल की मार मे अव्यवस्थित हो पहले ही छिन भिन हो दिशाओ म भाग चली थी। इसे म विदभ-सनिको की बची-खुची टुकडी के सहार श्रीकृष्ण को पराजित कर रुक्मिणी को वापस लाना उस कठिन नही लग रहा था। हाय री नियति वह भी उसे कम समझाय कि जो कुछ घटना था घट चुका था—श्रीकृष्ण और रुक्मिणी का सम्बन्ध सुनिश्चित था। उस रोकने का प्रयास नरी मुग्ध को मोहन की मूखता स अधिक कुछ नही था।

रुक्मी का दुर्भाग्य। आश्वस्त और शन शन प्रस्थित करते रुक्मिणी की परिचया म लगे श्रीकृष्ण स सामना होने मे उस बहुत अधिक समय नही लगा। मध्याह्न हास-परिहास विस्मित मना और लजाती श्रीकृष्ण आमने-सामने आ जुड़े थे। उधर रूप की साक्षात प्रतिमा रुक्मिणी कभी हाथ में आती भी तो अभी-अभी हुए-सुने भयकर नरसहार की बात उसे पुन मना शून्य कर देता।

पर रुक्मिणी को वस नही छोडना था अभी। उस रुक्मी और उसकी सन्य शक्ति म निपट लने क बिना आग बढने का कोई प्रश्न ही नही था। सौभाग्य-वश बलराम का विशाल धनुष और नर-पूरित कई तूणीर भी उनके रथ म सुरक्षित थे। तीर्थाटन का मन बना चुके बलराम अपने सारे अस्त्र शस्त्र श्रीकृष्ण क ही रथ म छोड गए थे। वे अपने स्वण-हल और मूसल म विछडन यह तो हो नही सकता

था, अत वे दोना उन्ही के रथ मे सुरक्षित रह गये थे।

श्रीकृष्ण न दारक का रथाश्वा की वल्गाओ का ठीक स सहेजन को कहा और रुक्मिणी को अपने भाग्य पर छाड उन्हान अपने कवच कुण्डल ठीक किये और पीताम्बर का कटि प्रदेश म ठाक म वस्थित कर शारग धनुष का अपन युगल करो म थाम रथाग्र म वीरासन मुद्रा म आ वठे। शरा स खचाखच भर तूणीर उन्हाने अपन दाहिने-बाय, आग पीछे ठीक म सहेज लिय। विदर्भ-सेना कुछ भी नही तो पर्याप्त बडी था। वस्तुत उसे अभी समरागण म उतरन का अवसर ही कहा मिला था? समर का मोचा तो जरासध और शिशुपाल क सन्य उससे अभिन्न और उनके सनिक सभाल हुए थे। ऐसी स्थिति म विदर्भ सना न प्राय पूर्णतया सुरक्षित और अस्त्र शस्त्र सज्जित ही था अपितु पूर्णतया स्वस्थ और मनोबल से सयुक्त भी। पर अधकार चाहे जितना गहरा हो प्रकाश की एक बल वती किरण भी उस नि शष करने का पर्याप्त होती है।

क्रोधाभिभूत रुक्मी और सनिको न श्रीकृष्ण रथ को शरा की वर्षा स ढक देना चाहा। पर श्रीकृष्ण क धनुष स द्रुत गति स छूटत असख्य शर उनक सार शरा को बात की बात म काट दत। तो प्रहर तक ता श्रीकृष्ण न कोई प्रहार नहीं किया। उनकी नीति थी प्रतिरक्षात्मक युद्ध कर रुक्मी और उसक सनिको को श्रात कर दन की। इसके पश्चात उन्होने आक्रमण नीति अपनाई और एक एक साथ कई-कई शरो का सधान उन्होने आरम्भ किया तो रुक्मी के सनिको क सिर ताड फल की तरह कट कट दिशाओ म फन्ने लगे। उन्होन चौथाई सना का सहार तो बात की बात म कर दिया और शेष सना इस सहारक प्रहार को अधिक नहीं झेल रुक्मी को रणागण म एकाकी छोड भाग खडी हुई।

रुक्मी की स्थिति विचित्र थी। उसक सार सनिक भाग चुके थे। ठीक उसी तरह जस फल म शून्य वृक्ष को छोडकर पक्षी भाग खडे होत है। सामने खडा था श्रीकृष्ण का विशाल स्यन्दन और उसक मध्य शवथ-सी पडी उसकी प्रिय प्यारी अनुजा रुक्मिणी। उस तक पहुचना भी मुश्किल था। रथ क अग्रभाग म श्रीकृष्ण अब भी वीरासन मुद्रा म विराजमान थे। व चाहत तो एक क्षण म रुक्मी क सिर को धड स ठीक उसी तरह पथक कर सकत थे जस दखत दखत एक मस्त गजराज किसी अधखिले कमलिनी पुष्प को अपन सूड म अत्यन्त सहजता स सहेज लेता है।

पर यह रुक्मी का सौभाग्य था कि श्रीकृष्ण ने न तो उसके सिर को अपने शरो का अपितु शर का लक्ष्य बनाया था न उसके ध्वज दण्ड को ही काटा था न उसक रथ के किसी भाग को ही क्षति पहुचाई थी। जो कुछ भी वह उनकी होन वाली अर्द्धांगिनी का सहोदर तो था ही।

पर रुक्मी इस सम्बन्ध का कब मान्यता देने को प्रस्तुत था? उसन शिशुपाल स भी बीभत्स एक गाली श्रीकृष्ण क लिए निकाली (अन्तत उसकी प्रतिष्ठा का प्रश्न था उसकी बहन का कोई दखत-दखत उसके सामने स हरण कर ले जाय उस वह कस बर्दाश्त कर सकता था?) और अपने हाथ क धनुष को फेंक हाथ म नगी तलवार ले श्रीकृष्ण के रथ पर जा कूदा। उसन श्रीकृष्ण की ग्रीवा को लक्ष्य बनाना चाहा और बात पडा श्वान की तरह नारकी गगेन्द्र का टक्कर भागने के प्रयास म नीन बुद्धि कृष्ण न तू अपन कम का फल भाग।

रुक्मी का खडग उस आकस्मिक आक्रमण के लिए प्राय अप्रस्तुत श्रीकृष्ण की गर्दन का छेदन भी कर देता और तब इस कहानी का भी अन्त यहीं हो जाता पर दोनों बातें साथ बहुत कम चलती है—प्रलाप भी और प्रहार भी। प्रलाप असंतुलित मन का परिणाम है और असंतुलित मन मस्तिष्क और जो करे लक्ष्य भेद वह शायद ही कर पाता है। रुक्मी का खडग लक्ष्य चूक गया और श्रीकृष्ण ग्रीवा के बदले वह ध्वज दड से जा टकराया। इस लौह दड का कुछ नहीं बिगडा पर इस हठी और उद्दड राजकुमार को अधिक अवसर नही देना था। जैसे कोइ विशाल अजगर किसी निरीह पशु को अपनी पकड म ले बैठता है, वैसे ही श्रीकृष्ण ने क्रोध मे विक्षिप्त रुक्मी को अपने एक ही हाथ से धर दबोचा।

उसे ध्वज दण्ड से कसकर बाध दिया और उसके अश्लील शब्दों के प्रतिकार म दाढी म कहकर उसके केश और दाढी मूछ सभी मुडवा दिए। रुक्मी ने निरीह आखो से रुक्मिणी की ओर देखा। उस अव्यवस्था और हडबडी म उसकी मनःस्थिति देर के लिए लौटी। उसने दाढी मूछ विहीन एक व्यक्ति को ध्वज-दड म किसी विवश पशु की तरह बधा पाया पर उसकी आखो म पहचान की कोई रेखा नही उभरी और उसने आखें फेर ली।

हाय मेरी बहन भी मुझे नही पहचानती वह बहन जिसके लिए मेरे मित्रो और मैंने सब कुछ दाव पर लगा दिया। श्रीकृष्ण जीवन की आशा मुझे अब कुछ नहीं रही। तुम्हारी सबसे बडी कृपा हो अगर तुम अपने कृपाण से मेरे सिर को छिन्न कर दो।' उसने श्रीकृष्ण को सम्बोधित किया।

"मैं यही करने जा रहा हू। जरासध शिशुपाल और तुम्हारे अन्य मित्रो के साथ तुमने भी मेरे प्राणो के हरण का कुछ कम प्रयास नही किया। सर्प हो अथवा उसका 'पोआ (बच्चा) उसे जीवित छोडने वाला एक दिन विष दश का शिकार होता ही है। शत्रुओ पर दया कायरता है और मैं कायरता के प्रदर्शन म विश्वास नहीं करता। तुम्हारी इच्छा अभी पूर्ण होने जा रही है। और यह कहकर श्रीकृष्ण ने अपनी कमर म कृपाण खीच लिया। उन्होने उसे हवा म उठाया और दूसरे ही क्षण रुक्मी का सिर धड से पृथक हो जाता कि कहीं म कडकता हुआ स्वर श्रीकृष्ण के कानो म पडा—

"ठहरो युद्ध के नियमो की अवमानना स्वय मृत्यु का वरण करना है। अगर तुमने अपने हाथ नही रोके तो उसके पूर्व कि तुम्हारे शत्रु का सिर उसकी ग्रीवा से अलग हो तुम्हारे सिर का ही कुशल नही रहेगा।

श्रीकृष्ण के हाथ जहा के-तहा रुक गए। उन्होने स्वर पहचान लिया था। यह उनके यायप्रिय अग्रज बलराम का था। उन्हें अवश्य ही रुक्मी की दुरभिसधि का पता लग गया होगा और वे अनुज के रक्षार्थ अपनी यात्रा स्थगित कर इस दिशा म चल पडे होंगे।

बधन-युक्त शरणागत क्लीव और बालक तथा नारी का वध युद्ध-नीति के विपरीत है। मुझे आश्चर्य हो रहा है कि तुम यह जघन्य कार्य कैसे करने जा रहे थे? बलराम का रथ श्रीकृष्ण के रथ के साथ ही आ लगा था।

वह भी तब जब जिसे तुम शत्रु मान रहे हो वह अब तुम्हारा सम्बन्धी हो आया है? बलराम का क्रोध शान्त नहीं हो रहा था। निकट था कि वे अपने हलायुध को उठा लेते और न्याय और नीति के नाम पर किसी को क्षमा नही

करने वाले ये दुधप मक्पण श्रीकृष्ण पर प्रहार कर वठते पर परिस्थिति की गम्भीरता को दखत हुए श्रीकृष्ण न तत्काल अपना कृपाण फक दिया और हाथ जोडकर बोले अग्रज क्षमा। इस विक्षिप्त हो आये व्यक्ति ने अपशब्दो न मुझ असन्तुलित कर दिया था। सचमुच मैं एक अक्षम्य अपराध का भागी बनने जा रहा था यह अच्छा हुआ कि आप ।

शब्द शर नही होते। उन पर ध्यान नही दो तो वे तुम्हारा कुछ नही बिगाडते। तुम ता स्वय योगिराज की उपाधि स युक्त हो शब्द तुम्हारी क्रोधाग्नि की आहुति क सिवा और कुछ नही करत और तुम्हे बताने की आवश्य कता नही कि क्रोध और काम स बडकर मनुष्य क और काइ शत्रु नहा होत। बधनमुक्त करो अपन इस स्वजन को।

दूसरे ही क्षण मुक्त था रुक्मी पर उसने श्रीकृष्ण की ओर एक उडती दृष्टि भी नही डाली। वह सीधे बलराम क रथ पर पहुचा और उनके परो पर अपना सिर रख बोला इस धरती पर आपसे बडा याय प्रिय मिलना कठिन है। मुझ प्राणदान देने क लिए मेरा आभार स्वीकार और यही आशीर्वाद द कि मैं अपना काला मुह लिये फिर कडिनपुर को नही लौट और इधर ही कही अपने लिए एक छोटे मोटे राज्य का प्रबध कर अपन भरण-पोषण का प्रबध कर ल।

एवमस्तु बलराम न कहा और रुक्मी क सिर पर अपना दाहिना हाथ रख दिया।

सत्रह

क्या होता है प्राय ऐसा? क्यो होता है जनाधिकार स ही एमा कि मनुष्य अपने चरित्र और कृत्यो को तो कलकित होन स बचा लेता है पर उसकी अपनी ही सतान उस समाज के समक्ष सिर नत करने को बाध्य कर देता है? जस सूरज से प्रकाश ग्रहण कर अपने को ज्योतित करने वाला चाद अपने धब्बो को उजागर कर छोडता है उसी तरह शक्तिमानो की सतति क्या स्वय तो कुछ उल्लेख्य नही उपलब्ध कर पाती पर अपन प्रतापी कुल पुरुषो क प्रताप स ही प्रभाव ग्रहण कर अपन कुकृत्यो द्वारा उनकी कीर्ति का तो कलकित करती ही है स्वय को भी कही का नही छोडती? क्या अस्सर राजनीति क चौरस पर ही माना जाता है यह घृणित सत्र? इतिहास-पृष्ठ ऐसे असख्य उदाहरणो स भरे पड है जिनम सन्तान क दुष्कर्मों का दुष्फल पिता को पितामह को भोगना पडा है।

श्रीकृष्ण का जीवन भी इस सामान्य स हो आए नियम का अपवाद नही सिद्ध हुआ।

महीनो से कुछ पता नही था उनके पौत्र अनिरुद्ध का। चातुर्मास भी व्यतीत हो गया। श्रावण और भाद्रपद के मघ अपन को रीत कर आसमान स वापस लौट गए पर अनिरुद्ध फिर भी नही लौटे।

आया तो बहुत प्रतीक्षा क पश्चात बडा अपमानजनक सवाद कि कृष्ण पौत्र अनिरुद्ध बदी पड है श्रीकृष्ण क परमशत्रु और शिव क महान् भक्त बाणासुर क

यहा। शोणितपुर म इस शिवभक्त की राजधानी थी और उसी नगर म बन्दी पडे थे द्वारिकापति के पौत्र।

अपराध भी साधारण नही था। विवाहित अनिरुद्ध की विलासिता का वीभत्स उदाहरण था यह। वाणासुर की रूपसी और यौवन प्राप्त पुत्री उषा के प्रेम पाश म आबद्ध होने के कारण ही अनिरुद्ध को नाग-पाश में आवद्ध होना पडा था। अनिरुद्ध ने न केवल अनेक मास इस सुन्दरी के साहचर्य मे विताये थे अपितु उसके अक्षत यौवन को अपवित्र कर उसे गर्भावस्था म भी पहुचा दिया था। अनिरुद्ध के इस कुत्सित कृत्य और उसके फलस्वरूप एक असुर-राज द्वारा उसके बधन-ग्रस्त होने की बात ने यदुवशियो की प्रतिष्ठा को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किया था। यदु-कुल का कोई सदस्य वाणासुर के बन्दीगृह म पडा रहे यह उनकी वीरता और पराक्रम पर बहुत बडा प्रश्न चिह्न लगाता था।

पर विवश थे श्रीकृष्ण भी। स्वय दुर्गा-देवी के भक्त होने के कारण शिव के प्रति भी उनकी सहज-श्रद्धा थी और इस तथ्य से व अनभिज्ञ नही थे कि आध्यात्मिक शक्तियो से सम्पन्न व्यक्ति आसानी से पराभव का मुह नहीं देखता। न जाने आयें शिव और दुर्गा स्वय अपने भक्तो उपासको की ओर से अथवा न हो उनका अस्तित्व (पर श्रीकृष्ण को ज्ञात था कि दैवी शक्तियो का अस्तित्व ऐसे ही असंदिग्ध है जैसे व्योम म नक्षत्रो की स्थिति) किन्तु आध्यात्मिक शक्ति स्वय म एक अपार शक्ति है और साधना उपासना द्वारा प्राप्त ऊर्जा कठिन से कठिन कार्य को भी सहज कर देने म सक्षम है।

एक अधर्मी, अनाचारी किन्तु बलशाली योद्धा को पराजित करना एक धार्मिक, सात्विक किन्तु अपेक्षाकृत दुर्बल राजा से अधिक आसान है।

यही कारण था कि श्रीकृष्ण शिवभक्त वाणासुर की राजनगरी शोणितपुर पर आक्रमण कर *अनिरुद्ध को बधन मुक्त करने के लिए बहुत व्यग्र नही थे।* ऐसे भी अनिरुद्ध को अपने दुष्कर्मों का फल भोगना ही चाहिए था। किन्तु जब यदुवशियो ने श्रीकृष्ण के आदेश की अधिक प्रतीक्षा नही कर बलराम के नेतृत्व म स्वय शोणितपुर पर धावा बोल दिया तो उन्हे द्वारिकापुरी म बठे रहना कठिन हो गया।

विवश उन्होने सारथी दारुक को अपना रथ तयार करने को कहा और वे भी शोणितपुर के लिए प्रस्थान कर गए। प्रद्युम्न सात्यकि साम्ब सारण भद्र नन्द और उपनन्द के साथ यदुवशियो की बारह अक्षौहिणी सेनाओ ने पहले म ही वाणासुर की राजधानी को घेर रखा था पर व वाणासुर और उसके सनिको का बाल बाका भी नही कर पा रहे थे।

श्रीकृष्ण को देखते ही सबमे नये उत्साह का सचार हो गया और यदुवशी पूर्ण शक्ति लगाकर वाणासुर की राजधानी के परकोटा बुर्जों और सिंहद्वारो को तोडने लग तथा नगर उद्यान को नष्ट भ्रष्ट करने लगे।

इधर अग्रज बलराम भी अनुज को उपस्थित देख उनके रक्षार्थ वाणासुर की सेना के दो खूखार वीरो—कुम्भाण्ड और कूपकर्ण स भिड गए। वाणासुर के पुत्र के साथ साम्ब का युद्ध आरम्भ हो गया और स्वय वाणासुर के साथ सात्यकि जा भिडा। बलराम ने शीघ्र ही कुम्भाण्ड और कूपकर्ण को धराशायी कर दिया पर वाणासुर सात्यकि के वश म नही आ रहा था।

श्रीकृष्ण कुछ देर तक तो नेवले और सप की तरह आपस मे गुथे सात्यकि और वाणासुर के युद्ध को देखते रहे पर जब उन्होंने सात्यकि को साहस खोते देखा तो स्वय भी युद्ध म कूद पडे और अपने शारग धनुष पर तीखे शर चढा वाणासुर पर टूट पडे। देर तक युद्धरत रहने पर भी शिवार्चना से अजेय उन आये वाणासुर के वे प्राण नही ले सके।

प्राण भले नही जाय किंतु श्रीकृष्ण के शरा की बौछार झेलना वाणासुर के लिए बहुत कठिन हो गया। उसका शरीर स्थान-स्थान पर शरा से विद्ध हो गया और उसके विशाल शरीर से रक्त के निझर ही फूट पडे।

अन्तत उसने अस्त्र शस्त्र फेंक डाले और श्रीकृष्ण के चरणा म पड उनसे क्षमा याचना की। श्रीकृष्ण भी शिवभक्त के प्राण लेने को कहा प्रस्तुत थ? उन्होंने उसे क्षमादान दे दिया और उसे अपनी राजधानी लौट जाने की अनुमति दे दी।

श्रीकृष्ण ने वाणासुर की पुत्री उषा को भी उसके दुर्भाग्य से उबारा और प्रायश्चित्तस्वरूप अपने पौत्र अनिरुद्ध को उसके पाणिग्रहण को बाध्य किया। वाणासुर को अभयदान प्रदान कर जब यदुवशियो की प्राय सारी की सारी सेना द्वारिका लौटी तो उसका नतत्व बलराम और श्रीकृष्ण तो कर ही रहे थे पर अग्रभाग म थे अनिरुद्ध ही अपनी गभवती असुर भार्या उषा के साथ।

अनिरुद्ध के इस कुकृत्य के बाद भी श्रीकृष्ण का मुख देख द्वारिका मे उनका भव्य स्वागत हुआ। स्थान-स्थान पर तोरण बनाये गए और ललनाओ ने अटारियो और गवाक्षो से पुष्प-वर्षा कर बलराम और श्रीकृष्ण के साथ अनिरुद्ध और उषा का भी स्वागत किया।

वाणासुर की शरणागति न श्रीकृष्ण के पराक्रम को विभिन्न दिशाओ म और प्रसारित कर दिया क्योंकि शिवभक्त वाणासुर अब तक अजेय ही माना जाता था। जिस ईश्वरत्व के चक्कर से वे अपने को दूर ही रखना चाहते थे एक बार पुन वे उसी की चपेट म आ नर से नारायण बन बैठे—सामान्य से असामान्य।

अठारह

कहीं वृषभ भी इतने बलशाली होते हैं? ऐसा कि योद्धाओ को विजित करना तो आसान हो पर वृषभो के समक्ष विवश हो पराजय का वरण करना पडे? पर थे ऐसे दुर्दान्त वृषभ एक नहीं, दो नहीं पूरे सात। और ये थे नग्नजित के पास। कोशल नरेश ने इन वृषभो को बाल्यकाल से ही इस रूप म पाला-पोसा था कि वे कल्पनातीत रूप म स्वच्छ और दुर्दान्त हो आये थे।

ये सातो युवा वृषभ जब एक ओर को छलाग लगाते हुए दौड पडते तो इनको पकडकर पशुशाला म लाने के लिए सैनिको की एक टुकडी का ही सहारा लेना पडता। बाल्यकाल म ही बिगडा नही सुधरता है चाहे वह मनुष्य हो अथवा पशु। इन वृषभो को समय म नाथना था। शुक्लपक्ष के वद्धमान शशि की तरह बढन

जात इन जानवरो की नाक मे नकेल डालनी थी भले ही वह चादी की ही क्यो न हो ? ये अगर नाथ लिये जाते तो अब भी कुछ नही बिगडना था। वृषभ का नाथ और अश्व का अवाल (सिर के आगे के केश) पकड लो तो उनका वश नही चलता। पर अब इन मस्त सात वृषभो को नाथे तो कौन ? ये तो काय वृषभा से भी पुष्ट एव अनियन्त्रित हुए नप नग्नजित के लिए समस्या बन हुए थे।

नग्नजित के पास एक कन्या थी—सत्या। विवाह का वय उसने प्राप्त कर लिया था। वह ऐसी रूपसी थी कि उसे कोई वर पसन्द ही नही आता था। इन सात वृषभो के साथ यह यौवन प्राप्त पुत्री भी नग्नजित के लिए समस्या बनी हुई थी। आखिर इसके हाथ पीले किए जाय तो कैसे ? इसके मन को तो कोई भा ही नही रहा। सुन्दर तो वह स्वय थी, अत सुन्दरता से अधिक ध्यान उसका वीरता पर था। किसी असामान्य योद्धा का ही वरण करने को वह प्रस्तुत थी वरना पूरे जीवन का कौमार्य के हवाले कर देने म भी उसे कोई आपत्ति नही थी।

नग्नजित के मन्त्रियो ने उसे एक ढेले से दो शिकार का परामर्श किया।

"राजन सत्या का शुभ विवाह उसी वीर से सम्पन्न हो जो इन सात दुर्दान्त वृषभो को नाथने म सफल हो सके। उससे सत्या का वर के रूप में एक वीर योद्धा की प्राप्ति भी हो जाएगी और नथ जाने के पश्चात ये महाबली वृषभ भी शशक शावको की तरह हमारी मुट्ठी म आ जायेंगे।

नग्नजित को यह प्रस्ताव पसन्द आ गया और उन्होने चारो तरफ सत्या के स्वयवर का सवाद भेज दिया।

निर्धारित तिथि पर सत्या के सौन्दर्य से आकर्षित हो एक से एक नप कोशल नरेश की राजधानी सरयू-तीर बसी अयोध्या पहुचने लगे।

श्रीकृष्ण तक भी यह सवाद पहुचा। सत्या के रूप गुण की भी चर्चा हुई पर उन्होने आरम्भ से इसमे कोई रुचि नही ली। मन के अन्दर बठी राधा इस सत्या को स्वीकार करने को प्रस्तुत नही थी। वह तो खैर क्या प्रतिवाद करती, उसने तो कह ही रखा था कि तुम महान बनोगे तुम्हे कई रानिया पटरानिया रखनी पडेंगी। मुझे उनसे क्या ? उनसे मेरी कैसी स्पर्धा और ईर्ष्या ? पर मैं ता केवल तुम्हारी हू तुम्हारी रहूगी। तुम्हारे उत्थान उत्कर्ष के लिए प्रार्थनारत रहना मेरा व्रत होगा। मत समझना कभी कि सहस्र नारियो के भी तुम्हारे जीवन म आने से तुम्हारे प्रति मेरे आकर्षण मे कोई कमी होने जा रही है।

पर यह तो राधा की बात हुई। कृष्ण का मन माने तो ? वह कहा राधा को छोडकर अपने अन्दर किसी को स्थान देने को प्रस्तुत था ? सामाजिक रीति रिवाज के कारण उन्हे रुक्मिणी और सत्यभामा को अपनी अर्द्धांगिनिया के रूप म वरण करना पडा था और उन्हें महत्त्व भी देना पडता था। शेष तथाकथित पत्निया तो महल के कोनो म अपने अपने कक्षो म पडी इसी बात से सन्तुष्ट थी कि वे कृष्ण-पत्निया है।

'मुझे नही जाना इस स्वयवर म।" उन्होने अपने सभासदो पर स्पष्ट कर दिया था।

'क्या ?" कभी पलायन को प्रश्रय नही देने वाले श्रीकृष्ण को इस तरह व्यवहार करते देख उनके सामन्तो आमात्यो को आश्चर्य हुआ था। कौशल-नरेश का दूत भी स्वयवर का विधिवत् आमन्त्रण ले द्वारिका पहुच चुका था।

'मुझे क्या लेना-देना नप नग्नजित की दुहिता से? भले ही विश्व की सव श्रेष्ठ सु दरी हो मत्या? मेरे यहा पहले से ही रानिया पटरानिया की क्या कमी है?" श्रीकृष्ण मूल बात को छिपा गये थे।

"माना, आपको नही लेना देना सत्या से कुछ भी" बलराम थे यह जिन्होने समझाना चाहा था उन्हे 'पर तुम्हे उस निरीह नग्नजित का तो उद्धार करना है। उसके लिए काल-स्वरूप बने उन वृषभो को नियन्त्रित करना भी तो तुम्हारा कर्तव्य बनता है। आखिर कुछ सोचकर ही तो कोशल-नरेश ने तुम्हे आमन्त्रित किया है।

"अग्रज मुझे क्षमा करें, श्रीकृष्ण ने प्रार्थना की थी 'मुझे वितृष्णा हो आई है ऐसे नित्य के स्वयवरो से। जिसका जाना हो जाए उन वृषभो को नियन्त्रित कर ले और सत्या का हाथ थाम ले। बहुत देखा है सौन्दर्य मैंने व्रज से लेकर द्वारिका तक। अब उस दर्शन की कोई लालसा नही रही।

"व्रज की ही बात करो न? बलराम ने चुटकी ली थी कही वही के किसी के अपरूप रूप के समक्ष सबका रूप व्यर्थ लग रहा हो।

'यही समझ लें।' श्रीकृष्ण ने एक तरह से अग्रज के समक्ष अपनी स्वीकारोक्ति ही रखी थी।

"तो मत लाना सत्या को। कम-से-कम नग्नजित का उद्धार तो उस नक से करो। आखिर कब तक वह उन मत्त वृषभो का नियन्त्रित करने के लिए सेना की सहायता लेता रहेगा? एक राजवश से सम्बद्ध रहने के कारण तुम अच्छी तरह *जानते भी हो कि सैन्यशक्ति का नागरिक कार्यों मे कम से-कम उपयोग हो यही* उचित है। वरना नग्नजित की सेना उनकी राजधानी की गलियो मे चक्कर काटते-काटते एक दिन उनके वृषभो के नियन्त्रण के बहाने उन्हे ही नियन्त्रित कर बैठेगी। वेश्याओ और सेनाओ को नगर से जितना पृथक रखा उतना ही *अच्छा। बलराम ने तर्क दिया।*

पर यह कैसे हो सकता है? यह तो स्वयवर की शर्त मे सम्मिलित है। वृषभो का नाथन के पश्चात तो सत्या का वरण करना भी पडेगा। आखिर नग्नजित के प्रण की भी तो रक्षा करनी होगी। उनके सत्य की मर्यादा की रक्षा भी तो मेरा दायित्व होगा। *सत्या आखिर क्वारी तो नही बैठी रहेगी?*

"क्वारी तो वह बैठने जा रही है।

क्या?'

क्योकि तुम्हारे सिवा कोई भी उन विशाल शृ गधारी वृषभो के पास भी फटकन नही जा रहा। ज्यो ही हुकार भरते व उन्मत्त वृषभ स्वयवर के मैदान मे उन्मुक्त छोडे जायेंगे तभी सारे सत्याकाक्षी नृप और योद्धा अपने-अपने प्राण लेकर भाग खडे होंगे।'

'तो मैं क्या करू?'

श्रीकृष्ण असमजस मे पडकर बोले।

वीरोचित कार्य।

क्या मतलब?

वीर स्वयवर और सग्राम का निमन्त्रण ठुकराया नही करते। तुम्हे कोशल *नरेश के यहा जाना ही पडेगा। अग्रज ने अपना अन्तिम निर्णय सुनाया।*

"जैसा आपका आदेश।' श्रीकृष्ण ने सिर झुकाया और दारुक को अपना रथ प्रस्तुत रखने का आदेश दे दिया।

सचमुच वीर वे साक्षात स्वरूप ही थे वे सात मत्त वृषभ। सत्या के स्वयंवर भूमि में उन्हें लाते ही वहां उपस्थित सभी विवाहेच्छुकों के मध्य भगदड़ मच गई। वृषभों के भयंकर रूप रंग और उनके गज-गज भर के सींगों ने उन्हें किसी नृप में उनके पास फटकने का साहस ही नहीं भरा।

अन्तत श्रीकृष्ण को उठना पड़ा। उन्होंने एक वृषभ को उसके दोनों सींगों के द्वारा ही जा पकड़ा। चारों पैरों से जमीन को कुरेदते और फुफकार मारते उस वृषभ ने अपने विशाल और पुष्ट मस्तक से ही कृष्ण के वक्ष पर प्रहार करना चाहा पर श्रीकृष्ण हर बार अपने को बचा गए। वह अपनी पूरी शक्ति लगाकर उन्हें पीछे ठेलने और उनके वरिष्ठ करों से अपने सींगों को मुक्त करा कर उन पर चढ़ बैठने और पैरों से उन्हें रौंदने के प्रयास में लगा रहा। पर उसका वश न चला। प्रहर भर के युद्ध में श्रीकृष्ण ने अन्तत उसे मूल विच्छिन्न वृक्ष की तरह भूमि पर दे पटका और श्रान्त-क्लान्त हो आये इस पशु के नथुनों में छिद्र कर चांदी के बने लम्बे-लम्बे नथ डाल उसे नाथ दिया।

यही गति और वृषभों की भी हुई। पहले तो एक की दुर्गति देख शेष इधर उधर भागने लगे पर स्वयंवर भूमि चारों ओर से चहारदीवारियों से घिरी थी, अत भागकर जाते भी तो वे कहां जाते? आमन्त्रित नरेश और योद्धा भी अब निश्चिन्त होकर अपने अपने स्थानों पर बैठ मनोरंजन में लीन हो गए थे। अब तक तो उन्होंने वृषभ और वृषभ के मध्य के द्वन्द्व का ही आनन्द उठाया था, आज वे एक मनुष्य को वृषभ से भिड़ते, प्रहार करते और पैंतरे बदलते देख रहे थे।

श्रीकृष्ण ने धीरे धीरे सातों वृषभों को धर पकड़ा और उन्हें नाथ कर छोड़ दिया। व्यथा से व्याकुल वे वृषभ एक ओर भेड़-बकरियों की तरह शांत पड़ गए। सभास्थल में श्रीकृष्ण की इस कृति पर जोर की करतल ध्वनि हुई। इतना श्रम करने के बावजूद उनके सुन्दर आनन पर स्वेद की एक बूंद भी नहीं झलकी और उनका आनन उत्फुल्ल उत्पल की तरह ही सौन्दर्य पूर्ण बना रहा।

सत्या स्वयंवर मण्डप के मध्य बने एक उच्चासन पर हाथों में वरमाला लिये खड़ी श्रीकृष्ण के वहां तक आगमन की प्रतीक्षा करती रही। श्रीकृष्ण अपने कृत्य के सम्पादन के पश्चात अपने स्वर्ण आसन पर ही बैठ गए थे। उनमें वरमाला पहनने की कोई उत्सुकता न देख नृप नग्नजित के इंगित पर उनकी पुत्री अपने आसन से उतरी और उसने श्रीकृष्ण के आसन तक पहुंचकर उनके गले में वर-माला डालनी चाही। कोई उपाय न देख श्रीकृष्ण ने गर्दन नीची कर दी और अपने कमल-नाल के सदृश कोमल करों से ही सत्या ने उनकी शुभ्र ग्रीवा में कमल पुष्पों से ही निर्मित जय माला डाल दी।

नग्नजित के साथ सभी नृपतियों ने श्रीकृष्ण की जयजयकार की पर रथ में सत्या को लेकर द्वारिका लौटते समय श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कर दिया— सत्या, तुम्हें अच्छा नहीं भी लग सकता है पर मुझे राज काज तथा अन्य कारणों के कारण तुम्हें अधिक समय देने का अवसर नहीं मिलेगा। इससे तो अच्छा होता कि तुम्हारे पिता इस स्वयंवर का स्वांग न कर तुम्हारे हाथ को किसी ऐसे व्यक्ति के हाथों में

दे लिए रहते जो तुम्हें कम-से-कम अपने अंतर का सम्पूर्ण स्नेह भाव तो समर्पित कर पाता।'

'तब मुझे आर्यावर्त के सर्वश्रेष्ठ पुरुष की पत्नी बनने का सौभाग्य तो नहीं प्राप्त होता।' सत्या ने धीरे-से कहा।

'इसे तुम सौभाग्य मानती हो? पत्नी होकर भी उसके अधिकारों से वंचित रहना?' श्रीकृष्ण को आश्चर्य हुआ।

'कौन मूर्खा इसे दुर्भाग्य मानेगी? आपके विशाल प्रासाद का एक कोना ही मेरे लिए पर्याप्त होगा। नारियाँ केवल दैहिक क्षुधा की तृप्ति को व्याकुल नहीं होतीं। भावना के सहारे भी वे प्रसन्नता से जी लेती हैं। मेरी स्वयंवर-सभा में आपने मुझे पत्नी के रूप में अंगीकार कर लिया। मेरे सौभाग्य-सूर्य का उदय हुआ। इससे अधिक मुझे क्या चाहिए? आप अपने अभियानों में लगे रहिए। मैं कभी आपके मार्ग की बाधा नहीं बनूँगी। आपकी सफलता ही मेरी सफलता होगी। आपकी यशोगाथा के वर्णन को सुन-सुनकर ही मैं तृप्त होती रहूँगी। मुझे और कोई आकांक्षा नहीं।' कहकर वह चुप हो गई और श्रीकृष्ण को एक क्षण को लगा, सत्या के मुँह से वे राधा की उक्ति ही सुन रहे हैं। पर दूसरे ही क्षण वे अपने में लौटे और दारुक को रथ की गति को तीव्र करने का आदेश दिया।

उन्नीस

मनुष्य में भगवान बनने की लालसा कब और कैसे उत्पन्न हो गई? अपने आचरण व्यवहार और सत्कृत्य से कोई शनैः शनैः देवत्व और ईश्वरत्व तक को भी प्राप्त करने का प्रयास करे, यह तो समझ में आने की बात है पर इन स्वयंभू भगवानों का क्या हो जो शायद सृष्टि के आरम्भ से ही उत्पन्न होते रहे हैं। आज तो भगवानों की पंक्ति ही खड़ी हो गई है—कोई वातयोगेश्वर भगवान है तो कोई महर्षि अमुक-अमुक भगवान तो कोई भगवान निशीश तो कोई और भगवान।

भगवानों की यह पौध इधर ही पैदा हो रही हो, यह बात है नहीं। हिरण्यकश्यपु ने भी एक बार अपने को भगवान घोषित कर दिया था। सारे दिग्पालों और देवताओं तक को पराजित कर कभी दशग्रीव रावण भी भगवान बन जाया था। इन भगवानों की सामान्यतः एक ही गति होती रही है—प्रारम्भ में अपार श्रद्धा की प्राप्ति, जय जयकार, भक्तों की भीड़, मध्य में क्रमशः गिरती हुई साख, लांछना, लोकापवाद और अन्ततः घृणित मृत्यु।

हिरण्यकश्यपु की मृत्यु का कारण उसका पुत्र बना तो रावण के विनाश की भूमिका उसके अनुज ने ही रची। कलियुग के अत्यंत वैभवशाली भगवान को संसार की वीभत्सतम बीमारी अट्ठावन वर्ष की उम्र में ही अपना ग्रास बना गई।

श्रीकृष्ण काल—द्वापर—भी ऐसे भगवानों की उपस्थिति में पीछे नहीं रहा। विशेषकर श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व के प्रचार ने और उसके फलस्वरूप उन्हें मिलनेवाली प्रतिष्ठा और सम्मान ने बहुतों को अपने को ईश्वर उद्घोषित करने को बाध्य कर दिया।

इनमे सबसे आगे निकला 'करुष' देश का अधिपति पौंड्रक जिसने न केवल अपने को ईश्वर घोषित कर दिया बल्कि श्रीकृष्ण के सदृश वस्त्राभूषण भी धारण करने आरम्भ कर दिए। पीताम्बर उसका वस्त्र हो गया। शख, चक्र, गदा, पदम भी बारी बारी से वह अपने हाथो मे धारण करने लगा। कौस्तुभ मणि की तरह की बहुमूल्य मणि भी वह अपने वक्ष पर धारण करने मे नही चूका। कृत्रिम श्रीवत्स चिह्न भी उसने अपना रखा थी।

श्रीकृष्ण तक यह बात पहुचती रही और वे इसको परिहास मे ही लेते रहे।

किन्तु उस दिन तो बात सारी सीमाओ को पार कर गई जब उनके राज महल मे पौंड्रक का एक दूत ही आ पहुचा। सजे-सवरे सभागार मे पौंड्रक के दूत को श्रीकृष्ण के समक्ष उपस्थित किया गया। दूत ने बहुत यत्न से सुरक्षित, पौंड्रक का लिखित सदेश श्रीकृष्ण की ओर बढा दिया। सदेश स्पष्ट था—"इस जगत का स्वामी और कर्ताधर्ता मैं हू। मैं सामान्य मनुष्य नही, साक्षात् ईश्वर हू। तुम ईश्वरत्व का ढोग कर मेरा अपमान कर रहे हो। यह पीताम्बर मेरा परिधान है। ये शख, चक्र, गदा, पदम, यह कौस्तुभ मणि और श्रीवत्स चिह्न मेरे हैं। तुम मेरी घृणित नकल कर भगवान बन फिरते हो। मेरे पराक्रम के समक्ष तुझ यादव-कुल उत्पन्न मायावी का पराक्रम कुछ नही है। मेरा यह आदेश है कि तुम इन सारे चिह्नो को त्याग कर या तो मेरी शरण मे आ जाओ अथवा मुझसे युद्ध करने के लिए प्रस्तुत हो जाओ।'

अहकार अत्यत ही आत्मघाती प्रवृत्ति है। अहकारपूर्ण व्यक्ति आखें रहते भी अधा हो जाता है। पौंड्रक अपने अहकार के अतिरेक मे यह भूल ही गया कि रूप रग मे वह श्रीकृष्ण की जो नकल कर ले पर उनकी मानवीय शक्ति साधना के समक्ष भी वह कहा नही ठहरता। उनकी अलौकिक साधना और तद्जनित उपलब्धियो को तो वह समझ भी नही सकता था। उनकी बहुत नारायणी सेना के समक्ष दो अक्षौहिणी सैनिको की उसकी सेना भी कही नही ठहरती थी।

श्रीकृष्ण के होठो पर एक मन्द मुसकान खेली और उसने पौंड्रक के दूत को सम्बोधित कर कहा ' मैं भगवान नही हू। अगर भगवान का कुछ अश मेरे अन्दर आ भी गया हो तो मैं उसका ढिढोरा नही पीटता। तुम अपने महाराज से कह दो कि अगर वे अपने को भगवान समझते है तो समझें। मुझे कोई आपत्ति नही है।

दूत भी अच्छी तरह सिखा-पढा कर ही पौंड्रक द्वारा प्रेषित किया गया था। दूत अवध्य होता है इस तथ्य से वह भली भाति परिचित था, अत उसने कहा, मेरे महाराज का आदेश है कि ऐसी स्थिति मे आपको अपने ये सारे चिह्न उतारने पडेंगे और सार्वजनिक रूप से घोषित करना पडेगा कि पौंड्रक ही इस ससार के भाग्य विधाता अर्थात भगवान है।

दूत ! मैं ऐसी मूर्खता का आदी नही हू। श्रीकृष्ण ने मुसकराकर कहा।

तब आपको मेरे महाराज से युद्ध करना पडेगा।

कहा हैं तुम्हारे महाराज ?

'काशी-नरेश के यहा।

क्यो अपना देश करुष छोडकर वे काशी मे क्या टिके है ?

'यह तो वही जानें। दूत ने निवेदित किया।

"वे क्या जानें ? मैं जानता हू । पौड्रक अकेले मेरा सामना नही कर सकता अत वह काशी-नरेश की सहायता का आकाक्षी है । वह मूढ है । मूढो को शिक्षा देनी ही चाहिए । जाओ पौंड्रक और काशी-नरेश दोनो को प्रस्तुत रहने को बोलो । वे मरी नारायणी सेना की प्रतीक्षा करें ।

बलराम बाहर थे, अत श्रीकृष्ण अकेले ही काशी पर जा चढे । पौंड्रक अपनी विशेष वेश भूषा म अपनी दो अक्षौहिणी सेनाओ के साथ समरागण म आ जुटा । उसने पीताम्बर शारग धनुष श्रीवत्स और कौस्तुभमणि तथा शख चक्र पद्म आदि म अपने को विभूषित कर रखा था । इन सारे चिह्नो को धारण करने के लिए उसने दो कृत्रिम कर भी बना रखे थे ।

सग्राम म श्रीकृष्ण का आमना-सामना होने हो उसने गदा शक्ति त्रिशूल मुद्गर पाश तलवार तोमर और पट्टिश बाण तथा नराच आदि से उन पर आक्रमण बोल दिया ।

श्रीकृष्ण मुसकराए । उन्होंने अपना हस्तलाघव दिखाया और अपने शारग धनुष को चक्राकार घुमाते हुए उसम शरो की ऐसी अनवरत वर्षा की कि पौंड्रक द्वारा चलाए गए सारे अस्त्र शस्त्र तो खडित हो ही गए पौंड्रक और काशीराज की सम्मिलित सेना भी समाप्त हो गई । श्रीकृष्ण ने यह सब अकेले कर लिया । नारायणी सेना के एक सैनिक को भी शस्त्र उठाने की आवश्यकता नही पडी ।

सावधान ! उन्होंने अब स्वयभू भगवान पौंड्रक को ललकारा और शारग म छूटे एक साधारण शर ने ही उसके सिर को धड म विच्छिन्न कर दिया ।

भगवान (?) के मृत्युग्रस्त होते ही उसका मित्र काशी नरेश प्राणो के भय स अपने महल की ओर भागा । पर श्रीकृष्ण शर ने उसका भी पीछा किया और उसका शीश ठीक महल के सामने ही भू लुठित हो आया । काशी-नरेश के सभासद एव परिवार-जन इस लीला को देखकर भयग्रस्त हो गए और अधिकाश के मुख से यही निकला— एक ढोगी की सहायता म जाकर हमारे नरेश व्यर्थ ही अपने प्राण गवा बैठे । अरे यह तो स्वय काशी के रक्षक भगवान आशुतोष के अनन्य भक्त थे इन्हें उस स्वयभू भगवान मूर्ख पौंड्रक म क्या लेना देना था ?

बीस

भला ऐसा भी कही हो सकता है ? श्रीकृष्ण ने अपने सभागार म उपस्थित उस व्यक्ति म कहा ।

यह सत्य है प्रभु ! भौम आदमी होकर सचमुच असुर है । इसीलिए तो उसका नाम भी लोगो ने भौमासुर रख छोडा है ।

तो उसने साठ हजार किशोरियो को बन्द कर रखा है ? श्रीकृष्ण अभी तक अविश्वास म भरे थे ।

हा कितने राजा-महाराजाओ और सामान्य जनो की किशोरियो को बलात्

अपहरण कर उसने एक नही, दो नही, साठ हजार निर्दोष किशोरियो को बन्दी बना रखा है। उस व्यक्ति ने कहा।

"तो तुम मुझसे क्या चाहते हो?" कृष्ण ने स्पष्ट पूछा।

"आप इन किशोरियो को मुक्त करें।'

"कैसे?"

"भौमासुर का वध कर।"

'पर क्यो? मुझे ही तुम लोगो ने इस कार्य के लिए क्यो चुना है?'

'क्योंकि आप सब समर्थ है। यह कार्य आप ही कर सकते हैं। उस व्यक्ति ने निवेदन किया।

ठीक है। ऐसा ही होगा। तुम चलो, मैं आता हूं।'

और श्रीकृष्ण ने बिना किसी सेना के सहारे भौमासुर के पास पहुंच कर अपने सुदर्शन चक्र से उसकी गर्दन उतार दी। भौमासुर की मृत्यु के साथ ही उसके सामन्त और सेनापति भाग खड़े हुए। श्रीकृष्ण अपनी सेना भी साथ नही लाये थे क्योंकि इसमें साठ हजार किशोरियों की मर्यादा का प्रश्न था। सबके समक्ष वे उनके सम्मान को चोट नही पहुंचाना चाहते थे।

इसके पश्चात वे उस बन्दीगृह में गए जहां साठ हजार किशोरियों को भौमासुर ने बन्दी बना रखा था।

उन्होंने बन्दी-गृह का ताला खोल उन्हें मुक्त कर दिया।

पर एक अप्रत्याशित विपत्ति उन्हें घेरने लगी। वे साठ सहस्र किशोरियां उन्हें छोड़कर कही अन्यत्र जाने को तैयार नही थी।

अब हमें कौन अपनायेगा? अब तो आप ही हमारे सब कुछ हैं। पति सरक्षक सब।

कृष्ण संकट में पड़े बोले, पर मैं तुमको पत्नि का सुख नही दे सकता। मेरे यहां पहले से ही एक रानी है—रुक्मिणी। पट्टमहिषी है और एक सबसे बड़ी रानी मेरे हृदय में सदा विराजमान रहती हैं। मैं सबको धोखा दे दूं पर उसको नही दे सकता।

हमें न तो आपका शरीर चाहिए न आपका हृदय। हम स्वयं अपने हृदय को आपके चरणों में चढ़ाती हैं। हम आपके महल के एक कोने में पड़ी रहेंगी। कहने को हम आपकी पत्नियां होंगी पर कभी-कभार आपके श्री-मुख की एक झलक पा ही हम अपने को धन्य समझती रहेंगी।

एवमस्तु श्रीकृष्ण ने कहा और वे अपनी शरण में ले ली।

इक्कीस

उस कुटीर में कुछ नही था। दीवारों के ऊपर का घास-पात का छप्पर भी कभी का हवा के किसी हलके झोंके के हवाले हो गया था। ग्रीष्म में सूरज की किरणें वे रात दिन उसमें आग उगलती थी तो वर्षा ऋतु में जल की बौछारें उसके अन्दर जल-प्लावन का दृश्य उत्पन्न कर देती थी। शीत-काल में ठण्डी बयारों का

प्रवेश इसमे, सभी ओर से होता था क्योकि छत-हीन दीवारें कपाट विहीन भी थी अत हवा का प्रवेश अगल बगल आर आमन-सामन तथा ऊपर सब ओर स होता रहता था और इस सबका उसक अदर क निवासी खुल बदन झलत थ क्योकि जसा कहा गया इसक अन्दर कुछ नही था। न अन्न न वस्तु न इधन न चूल्हा चौका, न बतन, न चौकी चारपाई। थ तो पाच चिथडो म लिपटे प्राणी—पति-पत्नी और बच्च। भिक्षाटन ही इनका आधार और हाथ ही इनक भाजन-पात्र। सही अर्थों म करपात्री थ सभी।

आदी हो गए थ य सब कुछ झलन सहन क। बच्चा क चिथडा पर ही नहा शरीर पर भी धूल और मल की माटी परत जम गइ थी जिसस उनक शरीर का रग निश्चित करना भी कठिन था। पति नित्य सध्या वन्दन करता था इसलिए उसका त्रिकाल स्नान आवश्यक था। पत्नी भी बिना स्नान-पूजा क भिक्षाटन को भी कण्ठ क नाच नही उतारती थी अत एक ही फटी साडी होन क बावजूद वह स्नान अवश्य करती था भल ही गीली साडी क सूखन तक उस निवस्त्र ही कुटीर क किसी कोन म छिपकर बठना पडता हो। बरसात म उसकी कठिनाई और अधिक बढ जाती क्योकि तब फटी साडी का सूखन म भी दिना लग जात थ और उतन समय तक उस पति तो पति बच्चा की निगाहो स भी ओझल रहना पडता था। खाली पेट रहन की बाध्यता हो जाती थी सो अलग।

सुदामा और सत्या की कुटी थी यह। सुदामा श्रीकृष्ण क गुरु भाई। आचाय सादीपनि क यहा दाना ने साथ ही शिक्षा पाई थी।

सुदामा का जीवन क्रम निर्धारित हो चुका था। सुबह भिक्षाटन क लिए गावा म निकलना और दिन भर आगन क कोन म निर्मित मिटटी की एक वदी पर बठ शास्त्र चिन्तन करना वदो क अन्त अर्थात वेदान्त और उपनिषदो का काल था वह। गुरु गह म उन्होने आत्मा की अमरता और कमकाण्डो की निरथकता की ही बात सुनी थी। सार काय आत्मा को बन्धन म ही डालत थ अत सभी कर्मों स विरत वे भिक्षाटन स ही अपने और अपन परिवार क पालन-पोषण की व्यवस्था करत थ। एक तरह स अघोषित स यासी थ व। इनकी तरह क भिक्षु जीविया की भरमार ही थी उन दिनो। अत कोई सकोच नही था उन्ह शास्त्रा हाकर भी अकमण्य अथवा परावलम्बी होन का।

हर भरे वृक्षा पर पल रही मूल-हीन अमर लता की तरह ही परजीवी थ य लाग और जस यह लता जिस वक्ष पर पलती है उसकी सभी हरीतिमा का हरण कर उस जजर और पत्र विहीन कर दती है उसी तरह सुदामा की तरह क घोषित और अघोषित सन्यासी कत्तव्य हीन और दायित्व रहित लाग पूरे समाज क शोषण का ही काय कर रह थ। उनका एकमात्र दायित्व था वदान्त चिन्तन ध्यान-मनन आत्मा-परमात्मा क सम्बन्धा क कभी न उदघाटित होन वाल सम्बन्धा का उद्घाटन। अगम्य अबाध और अगोचर आत्मा तक ध्यान धारणा और समाधि द्वारा पहुचन का प्राय निरथक प्रयास।

आज भी सदा की तरह आगन क कोन की वदी पर बठ सुदामा आत्म चिन्तन म लीन थ। पर मन था कि आज उच्छ खल अश्वा की तरह नियन्त्रण म आ ही नही रहा था। कारण था इसका। दो दिना तक आकाश मघाच्छन्न हो नही था रुक रुक कर मूसलाधार वर्षा भी हो रही थी। एस म व भिक्षाटन का

नही निकल पाये थे और दो दिनो से अन्न का एक दाना भी परिवार के किसी प्राणी के पेट म नही गया था। ऐसे म ध्यान लगता तो क्या लगता? सुदामा मन को खीचकर एकाग्र करना चाहते पर वह सागर पर उडते पक्षी की तरह विभिन्न दिशाओ म निरुद्देश्य सा चक्कर काटता रहता।

दिशाओ म उद्देश्य-हीन भ्रमण करता सुदामा का मन गुरु सादीपनि के आश्रम म जा पहुचा। वहा मन को आश्रय देने के लिए कुछ और हो या नही, सखा कृष्ण तो अवश्य थे। उन दोनो की मित्रता वहा विख्यात थी। लेकिन मित्रता के बाद भी सुदामा कृष्ण को पूरी तरह समझ भी कहा पा रहे थे? गुरु के सानिध्य म तो सभी साथ ही रहते पर अध्ययन-काल समाप्त होते ही श्रीकृष्ण किसी झाडी या वृक्ष के नीचे एकात साधना म जा जमते। उस समय सुदामा को भी उनके पास जाना मना था।

"तुम क्या साधते हो अपनी समाधि म?" एक बार एकात पाकर सुदामा ने पकडा था कृष्ण को।

'मैं जीवन का गूढ़ी रहस्य जानने का प्रयास करता हू?' श्रीकृष्ण ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया था।

'जीवन का रहस्य?' सुदामा के मुख से अचानक निकला था 'और गुरु सादीपनि से हम क्या सीखते है? वह भी तो जीवन का रहस्य बताते है। हमारे वेद-वेदान्त भी तो ।'

एक पक्षाय ज्ञान है यह सब। सद्धातिक। श्रीकृष्ण ने बीच म टोका था 'जीवन व्यवहार का नाम है। जो ज्ञान, व्यवहार के धरातल पर उपयोगी नही उतरे, वह व्यर्थ है। गुरुदेव सिखाते है सन्यास की बात। कर्म छोडने, जगत छोडने की बात। पर कर्म छोडने से जीवन नही चल सकता और जब जगन्नियन्ता ने जगत म भेजा है तो उसका लक्ष्य हमसे जगत छुडाना नही है।

"तो तुम गुरुदेव के उपदेश की उपेक्षा करने पर उतारु हो?" सुदामा ने शकित होकर पूछा था।

'नही गुरुदेव की बात अपने स्थान पर, मेरी अपने स्थान पर। उनकी बात को मानकर पेट तो किसी तरह पाला जा सकता है पर परिवार नही। और तुम जानते हो यहा से निकलकर हम गार्हस्थ्य धर्म म प्रवेश करेगे तब यह सन्यास की सीख हमारे लिए बहुत महगी पडेगी।'

'तब?' सुदामा ने आश्चर्य से पूछा।

'मैं तो कर्म म विश्वास करता हू। भगवान ने हमे दो कर दिए हैं तो हमसे वह कुछ करने की भी अपेक्षा करता है।'

"कर्म बधनकारी होते है। गुरुजी कहते है आवागमन से मुक्ति चाहो तो कर्म छोडना पडेगा।

'उसी बात पर तो मैं अपनी समाधि म विचार करता हू कि कोई ऐसा मार्ग मिल जाय कि कर्म भी नही छूटे और बधन भी नही हो।

'कुछ प्रगति है?

अवश्य।

मार्ग दिखाई पड जाय तो मुझे भी बताओगे?'

'बताऊगा पर तुम उस पर चलोगे नही।

'क्यों ?'

तुम पर गुरुत्व का आतंक हावी है। तुम उनके अक्षर-अक्षर का पालन करोगे। ब्राह्मण के लड़के हो न तुम गुरु-वाक्य को वेद-वाक्य मानकर ही ग्रहण करोगे। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा।

यह तो होगा। पर अगर तुम्हें कोई नया मार्ग मिल जाय तो मुझे अपना अन्तरंग समझ मुझ पर उसका भेद अवश्य खोल देना।

अवश्य। श्रीकृष्ण ने आश्वस्त किया।

पर जब एक दिन श्रीकृष्ण ने सचमुच सुदामा पर अपनी सिद्धि का उल्लेख किया तो उन्हें हँसी आ गई। उन्होंने श्रीकृष्ण की बात को उभी हँसी में उड़ा दिया। भला यह भी कोई सिद्धान्त हुआ कि कर्म करो पर फल की इच्छा नहीं रखो। इस कर्मयोग की सीख दी थी श्रीकृष्ण ने और सुदामा अपने वेदान्त और सांख्य ज्ञान की गहराई में खो रहे थे— जब कर्म ही निषिद्ध है तो कर्म-त्याग क्या? कुछ भी करना बंधन को आमंत्रित करना है अतः कर्म से संन्यास ले लेना ही कर्म पर विजय का सरलतम उपाय है।

फल की इच्छा ही बंधन में डालती है। कर्म नहीं। श्रीकृष्ण ने अपना सुनिश्चित मत बताया था।

बस?

जब तुम फल के पीछे भागोगे तो कर्म के साथ बंध जाओगे। निस्संगता नहीं रहेगी। निस्संगता का नहीं होना ही बंधन है। आखिर कर्म बाँधता कैसे है? फल का लोभ दूर हो तो?

अर्थात् तुम फलरहित कार्य करो। निष्फल। यही न? तो ऐसे कर्म को करने या न करने से लाभ? सुदामा सगर्व बोले।

मैं यह कहाँ कहता हूँ कि कर्म से फल मिले ही नहीं। मिलना हो तो मिल जाय। मैं उसे ग्रहण करने से कब रोकता हूँ? पर मैं उसको लेकर चिंतित नहीं होऊँगा न हाथ-पर-हाथ रखकर बैठूँगा ही। निस्संग भाव से प्रयास करूँगा। सफलता का भी स्वागत करूँगा असफलता का भी। फिर बंधना होगा नहीं। व्यर्थ ही बदनाम है कर्म। उसके बिना तो एक क्षण रहा नहीं जा सकता। जीवन भी नहीं चल सकता। एक बार असफलता मिली तो फिर प्रयास करूँगा पर कर्म छोड़ूँगा नहीं और न फल के लिए पागल ही बनूँगा। यही है मेरा कर्मयोग। मेरे चिंतन का सार-तत्त्व। मेरी साधना और ध्यान धारणा का फल। श्रीकृष्ण ने अंतिम बात कह दी थी।

सुदामा चुप थे। श्रीकृष्ण की बात तो सटीक लग रही थी पर उनका सांख्य दर्शन उनके सामने आ रहा था। गुरु शिक्षा। श्रीकृष्ण की बात मानें या गुरु की?

पर गुरु सांदीपनि तो संन्यास पर ही अधिक जोर देते हैं। सुदामा ने तर्क दिया।

पर वे गृहस्थ धर्म में जाने से तो नहीं रोकते? यहाँ की शिक्षा समाप्त कर तुम पत्नी पुत्र के साथ रहो इसकी वर्जना भी तो नहीं है।

नहीं है।

नहीं है तो पत्नी-पुत्र को खिलाओगे क्या?

सुदामा एक क्षण चुप रहे। फिर बोले, "संन्यास इसमें आड़े आयेगा क्या? वरण तो मैं इसी को करूंगा।

"आयेगा। पत्नी और बच्चे भूखों मरेंगे। तुम भी। तब तुम्हारा संन्यास तुम्हें मुंह चिढ़ाएगा।

'चिढ़ाने दो। पर मैं रहूंगा संन्यासी ही। निरग्नि। आग तक नहीं जलेगी मेरे यहां।"

तब तुम्हारा भविष्य भयावह है। इससे अच्छा है विवाह ही नहीं करो। श्रीकृष्ण ने तर्क दिया था।

'तब सृष्टि का चक्र जो रुक जायेगा। मैं इस पाप का भागी नहीं बन सकता।

"और पत्नी-बच्चों को भूखा मारने में पाप नहीं लगेगा?

"मैं भिक्षाटन करूंगा। संन्यासी सुदामा बोले।

"अर्थात् परजीवी बनोगे।'

"जो समझो।

इन हाथों के रहते?

तो इन्हें काट फेंकूं? सुदामा गुस्से में बोले। श्रीकृष्ण जो भी हों उनके सखा ही तो थे।

"काट नहीं फेंको। इनका अर्थ समझो। ये कुछ करने के लिए ही दिए गए हैं। नहीं ये पशुओं को भी मिले रहते उन्हें तो कुछ नहीं करना पड़ता। मात्र हरियाली में मुंह मारना होता है।

'जो हो मैं ज्ञान का होकर रहूंगा कर्म का नहीं। ज्ञान श्रेष्ठ है। कर्म निकृष्ट। सुदामा ने अपना अंतिम निर्णय सुनाया था और श्रीकृष्ण चुप हो गए थे।

बाईस

और आज वही ज्ञान-साधना कर रहे थे सुदामा। आंगन की वेदी पर बैठकर। नित्य ही करते हैं वे। पर आज ध्यान कहां लग रहा था? पेट रह रहकर अपनी ओर खींचता था। ज्ञान की गहराई में उतरने ही नहीं दे पा रहा था। तभी पहुंची थी पत्नी सत्या।

ध्यान तो जमा ही नहीं था। आंखें उसकी ओर अनायास उठ गई।

अब भी कुछ करोगे या नहीं? सत्या ने सीधे पूछा। शरीर पर वही मैली कुचैली स्थान-स्थान से फटी साड़ी। शरीर कंकाल बना हुआ। दरिद्रता और दयनीयता की प्रतिमूर्ति बनी खड़ी थी सत्या। स्वर ऐसे निकले थे जैसे किसी गहरी घाटी से आ रहे हों और ऊपर आते आते कठिनाई से कानों तक पहुंच पाते हों।

सुदामा चुप।

अपने लिए नहीं तो बच्चों के लिए तो कुछ करो। वे तो अब बिछावन से उठ भी नहीं सकते।

सुदामा घबराये। अब उन्हें स्थिति का सही अनुमान हुआ। जब भूख के

कारण उनकी ही यह हालत है तो छोटे बच्चों की क्या गति होगी ? वे तो अब रो भी नहीं सकते, सत्या आगे बोली 'जीवनी शक्ति ही क्षीण हो गई उनकी पूरी तरह। तुम पिता हो, पत्थर बन सकते हो मैं मां होकर कैसे उन्हें मरते देखूं ?'

सुदामा फिर भी चुप। उनका संयास उनके आगे आ रहा था। कर्म के नाम पर उनके सामने एक ही कर्म था—भिक्षाटन। पर वह भी इधर नहीं हुआ था। हो भी अब नहीं सकता था। आसपास के गांव उनकी ओर से उदासीन हो गए थे। फिर एक-दो हों तो कोई भीख भी दे। यहां तो झुंड के झुंड उन्हीं की तरह के निष्कर्मी घूम रहे थे ? भिक्षाटन में जाने से अब क्या लाभ ? दिन भर गांव-गांव दौड़ो तो एक आदमी के पेट भरने लायक ही कुछ मिल जाता था। यहां तो पांच प्राणी थे घर में।

क्या बोलते सुदामा ? पर पत्नी थी कि सिर पर सवार थी। हांफती-कांपती। आंखों की कोरों को बार-बार फटे मैले आंचल से पोंछती।

तुम कुछ बोलते क्यों नहीं ? इन बच्चों को विष दे दूं ? वह खरीदने के लिए भी तो घर में कुछ नहीं है ? सत्या किसी तरह बोली।

पर मैं क्या कर सकता हूं ? भिक्षा में भी अब कुछ मिलता नहीं। सुदामा ने अपनी विवशता प्रकट की।

तो कुछ काम करो।

मैं तो संयासी हूं। कर्म बंधन-कारक है। मैं जीवन मरण के चक्र से मुक्ति चाहता हूं।'

पत्नी और बच्चों को मृत्यु मुख में झोंककर ? तो फिर यह घर ही क्यों बसाया ?'

सृष्टि चक्र को चालू रखने के लिए।

कहां चालू रह पा रही है वह ? बच्चे तो अब दो दिनों में चले हम छोड़कर। कहां चला तुम्हारा सृष्टि चक्र ? सत्या ने भरसक ऊंचे स्वर में कहा क्रोध में उबल कर। पर शरीर में इतनी शक्ति ही नहीं थी कि बातों में वह गर्मी आ जाय जो वह लाना चाहती थी।

सुदामा निरुत्तर हो गए। उन्हें अब गुरु सांदीपनि का आश्रम और सखा श्रीकृष्ण की यादें आ रही थीं। श्रीकृष्ण शायद ठीक कह रहा था कि बिना कर्म के तो जीवन भी नहीं चल सकता। संयास और ज्ञान के नाम पर अकर्मण्य होकर तो उन्होंने अपने पूरे परिवार के जीवन को विनष्ट कर दिया। सच शायद वह कर्मनाशा छोड़कर किसी न किसी कर्म में रत रहते तो बचपन में भी लड़ते पड़ते और परिवार को भी यह दिन नहीं देखना पड़ता। कुछ नहीं तो वे अपना एक आश्रम ही खोल सकते थे। गांवों में भिक्षाटन के स्थान पर उन्हीं गांवों के बच्चों को कुछ पढ़ने-पढ़ाने तो पांच प्राणियों के पेट तो पल ही जाते। पर अब ? अब क्या हो सकता है ? नये सिर से इस सबका आरम्भ भी अब कहां सम्भव था ? फिर अब वह जवानी वाली उम्र भी कहां रही ? कुछ नहीं तो जंगल से लकड़ी काटकर ही बेच आते। परिवार पालना क्या कठिन था ?

क्या सोच रहे हो ? सत्या थी कि टस से मस नहीं हो रही थी।

'तुम कुछ सोचने भी तो दो ? सुदामा कुछ खीजकर बोले।

"जीवन भर तुमने इसके अलावा किया भी क्या?" सत्या का क्रोध अब दबाये नही दबता था भले ही दुर्बलता के कारण शब्दो मे अपेक्षित शक्ति नही आ पाती थी, "अगर सोचने के बल्ले कुछ करने पर ध्यान देते तो आज बात कुछ और होती। आखिर तुम्हारे ही साथ पढने वाला वह कृष्ण ही तो था जिसकी तुम अक्सर चर्चा करते थे। वह क्या कुछ सोचता रहा। आज सुना, वह द्वारिकाधीश बन बैठा है, तुम्हारे सदृश भिक्षक नही।'

बात लगने के लिए ही कही थी सत्या ने और वह सुदामा को लग भी गई थी।

"सबका अपना-अपना भाग्य होता है।' सुदामा तुनककर बोले थे।

'भाग्य नही, कर्म फलता है।' सत्या ने उलटकर उत्तर दिया था, "कर्महीन ही भाग्यहीन भी होते हैं।"

"सत्या!" सुदामा उखडे थे। दुर्बल शरीर क्रोध मे कापने लगा था।

"नही मैं आज कहूँगी। चुप नही रह सकती मैं। बहुत सहा अब तक। अपना दुख तो सह भी लेती हू पर बच्चो का कष्ट अब नही देखा जाता।'

"तब तुम क्या करने को कहती हो?" सुदामा निरीह-से बोले।

'वही जो अब तक करते आये हो।

'भिक्षाटन?

'हा।'

पर उसमे अब कुछ नही रखा।

वसी भीख मागने की बात मैं नही कर रही। भगवान न करे कोई पत्नी ऐसा परामर्श दे अपने पति को।'

'कसी भीख मागने की बात कर रही हो? सुदामा कुछ नही समझ कर बोले।

'द्वारिकाधीश से मागो। अपने बाल सखा से। सुना, वहा जो भी गया है, निहाल होकर लौटा है।"

छि छि राम, राम, यह क्या कहा तुमने?' सुदामा ने अपने कानो मे उगलिया डाल ली, एक सखा दूसरे सखा के द्वार पर भिक्षाटन को जाय? मुझसे नही होगा यह भले ही सभी प्राणियो की समाधि बन जाय इसी कुटी मे।

'यह कुटी भी किधर से है?" सत्या के स्वर पर व्यग्य चढा। "ऊपर से खुला आसमान। द्वारो के कपाट तक गायब। एक शृगाल और श्वान को भी वैहिचक प्रवेश की पूरी स्वतत्रता।

'सत्या! तुम्हे पति के साथ इस तरह बातें नही करनी चाहिए सुदामा का क्रोध परवान चढ बैठा। भूखे पेट मे क्रोध ऐसे भी अधिक जगता है यह पत्नी धर्म के विरुद्ध है।'

"और पति का कुछ धर्म होता है या नही? या मात्र बच्चे पैदा करना और।"

'बस बस करो सत्या!' सुदामा तमतमाकर उठ खडे हुए। 'लाओ मेरी लकुटि। मैं अभी चला द्वारिका को। जब भाग्य मे यही लिखा है तो यही हो। गाँव के गरीब ग्रामीणो के आगे हाथ पसारता रहा तो उस द्वारिकाधीश के सामने भी फैला लूगा।

"उमकी आवश्यकता नहीं पड़गी , सत्या अब सयमित हो गई 'सुना है माधना द्वारा बहुत बडा योगिराज बन आया है तुम्हारा सखा। कुछ-कुछ तो भगवान ही कहते हैं उसे। मन की बातें वह स्वय जान जाएगा। तुम्हें मह भी नहीं माननी पडेगा।

'सुना उसके सबध म मैंने भी सखा ही है। पर मन की बात तो वह तब जान जब उसके सामने पडू। वह साधारण व्यक्ति थोड़े है ? द्वारकाधीश है वह। द्वारपाल उस तक मुझे पहुचने भी देंगे ?' सुदामा ने अपनी शका रखी।

मत्यानुमोदन किन्तु मित्र को भी नहीं भूलता। अपना नाम बता देना। तुम्हारा सखा द्वार तक दौड़ा नहीं आए तो कहना।

'ठीक है तो चलता हू।' सुदामा उसी तरह उठकर चल दिए। वस्त्र के नाम पर वही था जो शरीर पर था अत वस्त्र-परिवर्तन का भी प्रश्न नहीं था। स्नान पूजा के नाम पर रखा दूसरा अग-वस्त्र भी उसी तरह तार-तार था।

ठहरो। सुदामा आगन पार ही कर पाए थे कि सत्या ने टोका देखना मित्र और पत्नी के पास खाली हाथ नहीं जाते। और वह स्वय अन्दर चली गई। पता नहीं शरीर म कहा की शक्ति आ गई थी वह समझ गई कि अब उसके दुर्दिन दूर हुए। वह जानती थी कि व्यक्ति की तरह अभिमुख हुए तो कि कष्ट टला और यह श्रीकृष्ण सुदामा का यह बाल-सखा तो सारा स्वनाओ का भी स्वता साक्षात ईश्वर था। अब उसके कष्टो का कहा ठहरना था ?

सुदामा आगन म प्रतीक्षा कर रहे थे कि सत्या पिछवाडे स लौटती हुई लौटी। मुख पर की सारी म्लानता सूरज की पहली किरण स ही निष्प्राण होनेवाले अधकार की तरह पता नहीं कहा तिरोहित हो गयी थी। तीव्र गति के कारण सासें अनियन्त्रित हो गई थी और कलेजा जोर स धडक रहा था जो आनन्द के उठने गिरने स स्पष्ट परिलक्षित हो रहा था।

मिल गया। मिल गया। सुदामा के पास खड़ी होकर आत्मविभोर स वह चिल्लाई।

'क्या मिल गया ?' सत्या की इस प्रसन्नता से सुदामा को लगा कि शायद कोई पारस मणि आदि ही सत्या के हाथ लग गई है और उन्हें द्वारिका जाने का कष्ट भी अब नहीं उठाना पड़ेगा।

यह मिल गया। बडी मुश्किल स मिला। मुझ तो उम्मीद ही नहीं थी। पर पडोसिन बडी भली है। मैंने मुख खोला नहीं कि वह तत्पर उपस्थित हो गई। एक अधमैले कपड़े म बधी एक पोटली को सुदामा की ओर बढाते हुए वह बोली। उसकी खुशी का कोई ठिकाना नहीं था। यदि किसी जन्मजात भिखमगे को धरती म गडा कोई खजाना भी मिल जाता तो शायद उसे इतनी प्रसन्नता नहीं होती।

क्या है इसम ? सुदामा ने पोटली की ओर हाथ बढाते हुए कहा।

"चिउडा। तीन मुट्ठी चिउडा। पडोसिन ने शीघ्र ही वापस कर देने का वचन लेकर दिया है।

चिउडा ? तीन मुट्ठी चिउडा। ये तो मेरे मार्ग के पाथेय लायक भी नहीं है। क्या होगा इनका ? सुदामा झुझलाकर बोले।

पाथेय नहीं सौगात हैं ये म या घबराकर बोली कहीं भूख की ज्वाला म मार्ग म ही इन्हें खा न लेना वरना खाली हाथ ही लौटोगे।

'भूख की ज्वाला   और उसम झोक दना।' बात मुदामा का स्मतिया की उन वादियो म ले गई जहा शायद वे कभी लौटना नही चाहते। उन्होंने चुपचाप उस पोटली को काख के अन्दर दबाया और आगन स बाहर आ गए। द्वारिका की राह पकडी उन्होने पर स्मतिया की आग पर पडी जिस राख को सत्या ने अनजाने उडा दिया था उसका वे क्या करें? माग पर तो वे अग्रसर हो गए थे पर पर मानो हाथी के पर हो रहे थे। उठाये नही उठने थ। कही श्रीकृष्ण न वही प्रसग छेड दिया तो   । तब तो लेने के दने नही पड जायेंगे?

सुदामा का मन खिन्न हो जाता है। सत्या से आरम्भिक नोक-झोक के पश्चात वह प्रसन्न मन स ही घर से निकले थे। और कुछ नही तो बाल सखा के दशन की ही उत्कट अभिलाषा जग आई थी—उनके उत्कष के अवलोकन की। कहा सादीपनि-आश्रम का वह बाल चन्द्र और कहा आर्यावत क आकाश म उदित पूर्णिमा का यह भरा पूरा चाद? देखन की प्रबल इच्छा थी द्वारिकापति को! पर यह तो सत्या ने सारे उत्साह पर पानी ही फेर दिया अनजाने मे— कही भूख की ज्वाला म   ।'

हा, भूख की ज्वाला ही थी वह जिसने उनसे वह निन्द्य कम कराया था— उनसे असत्य भाषण कराया था, मित्रो के साथ छल कराया था और एक तरह से चौय कर्म ही कराया था सादीपनि के आश्रम के इस अन्तेवासी से, सुदामा से।

कम का फल मिलता है न? सुदामा सोचने लगे। फिर अपने सोच पर ही हसी आ गई। कम का फल नही मिलता तो सारा साख्य नान कम से भागने की बात क्यो करता? उनका कृष्ण भी एक बीच का माग क्यो निकालता—निस्सग भाव स कम करने का?

मिलता है, कम-फल मिलता है। अच्छे कम का अच्छा और बुरे का बुरा। सुदामा अब पूरी तरह इस सत्य से परिचित हो गये प्रतीत होते थे। वर्षों पुरानी वह घटना बार-बार स्मरण हो आती थी। कही उसी का फल तो इस दारुण दारिद्रय के रूप मे नही मिल रहा? सुदामा को विश्वास हो आया, उसी का प्रभाव था यह उसी प्रवचना का एक तरह से उसी चौय-कम का।

गुरु सादीपनि न आदेश दिया था अरण्य से समिधा हेतु लकडी लाने-हेतु। बलराम, श्रीकृष्ण सुदामा एव कुछ और शिष्य साथ ही निकले थे। प्रातःकाल की वेला म आश्रम से निकले आशा थी मध्याह्न तक वापस आ जायेंगे। गुरु-पत्नी ने कुछ चने सुदामा को एक पोटली म थमा दिए थे शायद लौटने म विलम्ब हो तो काम आयेंगे।

विलम्ब सचमुच हो गया। सुबह का निरभ्र आकाश दिन चढते चढते मेघ सकुल हो आया। बूदा-बादी शुरू हुई और देखते-देखते दिन म ही रात्रि का अन्धकार घिर आया। समिधा तो जुटा ली सभी न पर माग खो गए। घोर अरण्य म भटकत भटकत दिन कब समाप्त हो गया और रात्रि के निविड अन्धकार ने उस वन प्रदेश को पूरी तरह कब धर दबोचा इसका पता नही चला सुदामा और उनके सखाओ को। विवशत रात्रि एक घन वक्ष के नीचे बिताने की बात तय हुई। प्रात शायद माग का सधान मिल जाय अथवा गुरु सादीपनि ही शिष्यो को ढूढत उन तक पहुच जाय।

हुआ यही। प्रात होते-न-होते चिन्तित गुरु उन तक पहुच गए और उन्ह

लेकर आश्रम लौट आये। पर रात म जो कुछ घटा शायद उसी का फल सुदामा अब तक भोग रहे हैं—कम फल।

रात म सबको भूख लगी थी। दिन भर क लक्ष्यहीन भटकाव क पश्चात् स्वाभाविक था कि सबकी आतें कुलबुला जाती। रात म वृक्ष के नीचे विश्राम की मुद्रा म आए तो भूख क कारण सबकी स्थिति दयनीय हो रही थी। सुदामा को पोटली के चने की बात याद थी। बडे यत्न से उन्होने उस कमर मे खोस कर रखा था। वे इतने नही थे कि सबकी भूख उनसे मिटाई जा सकती और सौभाग्य वश जिस समय गुरु-पत्नी उन्ह य चने द रही थी उस समय उनके सिवा वहा कोई और नही था। उस घोर तिमिर म हाथ-को हाथ नही सूझ रहा था और अधकार क इस पर्दे का लाभ उठा सुदामा ने धीरे धीरे चनो को चबाना आरम्भ किया।

सुदामा बडी भूख लगी है। तुम्हारे पास कुछ है क्या? पता नही उस काल तक ही श्रीकृष्ण की साधना रग ला चुकी थी और वह अतर्यामी बन गए थे पर टोका उन्होने ठीक उसी समय था जब दो एक मुट्ठी चने ही सुदामा पेट के हवाल कर सक थ।

'नही तो। सुदामा घबरा कर बोले। उन्हे भय था कि कही चनो का भेद खुल गया और वे सबम बट गए तो वे भूखे पेट ही रह जायेंगे।

पर तुम्हारे मुख से तो कुछ चबाने का स्वर आ रहा है। विचित्र था यह कृष्ण भी। उसके कान आदमी के थे या सप क? सुदामा ने सुन रखा था कि सापो क कान बडे तेज होत है। वह तो सम्हल सम्हल बडे धीरे धीरे चने चबा रहे थे और यह श्रीकृष्ण था कि कह रहा था कि उसके मुख स शब्द आ रहे थे।

ठड के कारण दात कट कट कर रहे है। देखते नही आकाश किस तरह मघाच्छन्न है? शरीर पर पूरे वस्त्र भी तो नही कि शीत से रक्षा हो सके। सुदामा को अपनी प्रयुत्पन्नमतित्व पर गव हुआ। कसा उचित उत्तर दिया था उन्होने?

ओह! यह बात है? श्रीकृष्ण ने कहा था और फिर चुप हो गए थे। सुदामा धीरे धीरे सारे चने चबा गए थे। उनकी भूख तो शान्त हो गई थी पर उनके साथी खाली पेट ही सो गए थे। बात तब स आई गई हो गई थी। पर आज वह घटना बार-बार सुदामा के मस्तिष्क को मथने लगी थी। उतने दिनों के पश्चात यह बात मन म क्यो आ रही थी? सुदामा को कुछ विकलता हुई। इसमे भी उसी श्रीकृष्ण की कुछ चाल है क्या? अब तो वह पूरी तरह योगेश्वर बन गया है। कही उस पता ही लग गया हो कि मैं द्वारिका के लिए प्रस्थित हो चुका हू और इसीलिए वह बार-बार उस छल उस धोखा उस मिथ्याचरण का स्मरण करा उसे उसके दु खदन्य क कारण की ओर इगित कर रहा हो। तो सुदामा लौट जायें क्या? उनके मन ने उनके परो का साथ देना बन्द कर दिया। क्या हुआ जो श्रीकृष्ण ने उस समय कुछ नही कहा पर अब अगर वे उस घटना का स्मरण करा दें तो क्या स्थिति होगी सुदामा की? डूबत हुए चाद की तरह उनका पहले स ही रक्त-हीन मुख पूरी तरह पीत नही हो आएगा क्या। उनकी जिह्वा पक्षाघात ग्रस्त सी विवश नही हो जाएगी क्या? बोल फूटेंगे उनक मुख से? शम से सिर को झुका लेने के सिवा और क्या उपाय रह जायगा उनके पास?

पर नही शायद श्रीकृष्ण एसा नही करें। कुछ भी हो, उनक अतिथि बनकर

जा रहे थे वह और अतिथि का कोई असुविधा म डालता है ? विशेषकर, श्रीकृष्ण से तो इसकी स्वप्न म भी आशा नही की जा सकती थी। सुदामा ने अपने मन को समझाया और पत्थर बन आये पर पुन पथ पर गतिशील हुए।

पर यही थी द्वारिका ? अच्छा सकट म डाला था सत्या ने उनको। चलते-चलत कई दिन तो हो गए थे। शरीर पर पडे पहल से ही बदरग वस्त्र और धूमिल हो आये थे। यह तो भिक्षाटन की पुरानी आदत थी वरना इस लम्बी यात्रा मे कभी के उनके प्राण अनन्त पथ के पथिक बन गए रहते।

और यह क्या था आग ? इस पार करना आसान था क्या उनके लिए ?

तेईस

आक्षितिज विस्तत अनन्त बालुका राशि ! कही रेतीले पहाड तो कही दूर तक सपाट सिक्ता पटा अछोर विस्तार। ऊपर स आग बरसाती सूरज किरणें। तप्त हो आई, आग-सी ही जलती धरती पर पद त्राण रहित परो को रोपना असभव। कहा कही कटीले झाड-झखाड जो तार-तार हो आए वस्त्रों से उलझ कर उनक अस्तित्व का ही समाप्त करने को प्रस्तुत। सूखते कण्ठ को पानी की एक बूद तक अप्राप्य।

यह थी मरुभूमि। इसे पार किए बिना सुदामा द्वारिका नही पहुच सकत थे। अच्छी परीक्षा की घडी उपस्थित थी यह। माग के अगल-बगल पशुओ और मनुष्यो के कवाल पडे हुए थे। कही सद्य प्राण-गत हुए प्राणी पर गृद्ध और अय मास भक्षी पशु बुरी तरह टूट पडे थे। एकाध न दुबल सुदामा की ओर भी लपकने का प्रयास किया था पर उस समय उनकी लकुटि काम आ गई थी और उसी स उसका निवारण करन म वे सफल हुए थे। पर काख की पोटली को और मजगता से छिपा लिया था। कही उसी को झपटकर कोई पक्षी हो गया फुर तो घर लौट पायेंगे क्या सुदामा ? इस बालुका-पूर्ण कान्तार स कोई सहज ही पार निकल पाता भी होगा क्या ? जिसको सवारी हो—रथ हो—उष्ट्र (ऊट) हो, उनकी बात तो पृथक। पर सुदामा के सदश पादाति का इस जन शून्य परदेश म ही प्राण विसर्जित करने पड़ें तो इसम क्या आश्चय ?

प्राण अब सचमुच व्याकुल हो आये थे। प्रात तक तो ठीक था पर जैसे ही सूरज क्षितिज पर ऊचे चढते गया सुदामा का सकट बढता गया। भोजन, नही भोजन की आवश्यकता नही थी, पर पानी ? हा पानी के बिना वे शायद एक क्षण भी अब जीवित नही रह सकत थे। कण्ठ सूखने लगा। जिह्वा तालू स सटने लगी तो परो न भी शक्ति खो दी। आखो क आगे अधेरा छाने लगा। घोर तमिस्रा। तो यही था क्या मृत्यु-पथ का वह घोर तम जिसका वणन वह उपनिषद्-मन्त्रो म सुनत आय थे—अध तम प्रविशन्ति य अविद्या उपासते—जो अविद्या का अजन करत है वे मरने क पश्चात घोर अधकार म प्रवेश करत हैं। तो अविद्या की उपासना की थी साधक सुदामा ने ? श्रीकृष्ण स पूछत तो वह तो यही कहते—कर्महीन ज्ञान अज्ञान स अधिक क्या है ? जो विद्या अपन और ... । की, ~

उदर-पूर्ति म भी सहायिका नही हो वह अविद्या ही तो है। अहकार क सिवा और क्या कहगे तथाकथित विद्या-आधारित साधना ध्यान और धारणा को? अगर सुनामा श्रीकृष्ण के बताये कम-योग का आश्रय ल कम रत हुए रहत अपन और अपने परिवार के लिए अन्न क दो दानो का भी प्रबन्ध किए रहत तो क्या वे आज इस जल हीन बालु तार म प्राणा स हाथ धोने की स्थिति म पहुचते रहत?

क्या सचमुच श्रीकृष्ण भगवान हैं, सहसा एक और बात शून्य स पटत जा रहे मस्तिष्क म कौंधी। मुन रखा था जीव और ब्रह्म क मध्य की दूरी बहुत है। भारी परीक्षा लता है वह अपन तक उस पहुचन दने क पूव। भगवान यो ही भक्त को अपना लता है क्या अगर साख्य दशन की बात छोड साधारण भक्ति भाव की बात करें तो। तो क्या सचमुच श्रीकृष्ण परीक्षा ल रहे थे सुदामा की? अगर यह बात थी तो भगवान द्वारा भक्त की यह परीक्षा बडी निष्ठुर थी। गुरु गृह म तो सादीपनि की सभी परीक्षाओ को वह बडी सहजता स उत्तीण करत गए थे पर यह? यह परीक्षा तो लगता है प्राण लेकर ही रहगी। तभी आखो क सामने का अधकार और घनीभूत हुआ था। पर लडखडाये थ। चेतना सहसा लुप्त हुई थी और वह लडखडा कर तपती बालुका राशि पर गिर पड थे। खुल मुख स एक क्षीण स्वर निकला था—पा नी पा नी।

और सचमुच किसी न पानी के कुछ बूद कण्ठ म डाले थ। पूणतया शून्य चेतना कुछ-कुछ जाग्रत हुई थी। कोई छाया सी झुकी थी उनके ऊपर। किसी जल भरे पात्र स वह उनक खुल मुख म पानी की एक क्षीण धार ही उडल रही थी। पर यह सत्य था या स्वप्न? सुदामा कुछ नही समझ पाये थे। इतना लगा था, किसी ने उन्ह दो हाथो म उठाया था और किसी ऊचे स्थान शायद किसी यान पर प्रतिष्ठित कर दिया था और फिर चेतना ने पूरी तरह उनका साथ छोड दिया था।

चौबीस

और अब? बालुका के विस्तार स प्राण बच तो यह सलिल का अनन्त अछोर भाडार? यह जलनिधि? द्वारिका को आवृत्त करता यह आलोडित आन्दोलित खूखार सागर?

थोडी देर पहल सुदामा की चेतना लौटी थी। किसी वणिक ने अपने रथ स उन्ह नीच उतारा था। अब तक पूरी तरह स्वस्थ हो आय थे वे। शायद जल के साथ माग म वह उनक मुख म कुछ शक्तिवद्धक पेय भी डालता आया था। पर रथ स उतारत ही वह गायब क्या हो गया था? न कोइ बात न चीत। शायद उसका गन्तव्य आ गया था अथवा स्पष्ट ही फटेहाल प्रतीत होते एक भिक्षुक स बातें करना भी उसने अपनी मर्यादा क विरुद्ध समझा था। उनक प्राण बचा दिए यही क्या कम उपकार था उसका उन पर?

चतना लौटते ही सबस पहल उन्होने अपनी पोटली की खोज की थी। सुरक्षित थी वह उनक पाश्व म। अगर वह माग म ही छूट गई रहती और उस

वणिक ने उनकी उस एकमात्र जमा-पूजी की चिन्ता नही की होती तो रिक्त हस्त ही जाना पडता न उन्हे अपने सखा, नही, द्वारिकाधीश के पास ? और जब खाली हाथ जाते तो खाली हाथ ही तो लौटते । तब क्या उत्तर देते वह मरया को ? उसने कुछ सोच समझकर ही तो सारे गाम का ताक पर रख पडोस से प्रबन्ध किया था चिउडे के इन चन्द दानो का । या ही थोडे कहा था उसने कि राजा के पास खाली हाथ नही जाते ? कुछ भेद होगा इसके पीछे भारी । खैर, पोटली सुरक्षित थी । पर यह समुद्र ?

दूर द्वारिका के महलो के स्वर्ण कगूरे दिखाई पड रहे थे । इन्ही म कोई महल होगा उनके कभी के सखा पर अब वे योगेश्वर, ईश्वर, द्वारिकाधीश और क्या क्या श्रीकृष्ण का ? कैसे पहुचेंगे वह उस स्वर्ण नगरी तक ? परीक्षा की भी कोई सीमा होती है । अगर श्रीकृष्ण सचमुच भगवान ही हो गये हो तो इतने निष्ठुर क्यो थे वे ? ठीक है कि सुदामा साख्य दर्शन के विद्वान थे पर भक्ति से वह अपरिचित थे यह बात तो नही थी । अगर उन्हाने व्यास के ब्रह्म-सूत्रो का अध्ययन किया था—अथातो ब्रह्म जिज्ञासा—तो नारद के भक्ति-सूत्रो से भी वह अनभिज्ञ नही थे । उस वीणा वादक भक्त ऋषि के दर्शन उन्हे भले नही हुए हो पर भक्ति की जिस मर्यादा और महत्त्व की वह चर्चा करता था उससे वह अपरिचित भी तो नही थे । तो भगवान भक्त को एक के पश्चात् दूसरे सकट मे क्यो डालता जा रहा था ? अपने और उसके बीच उसने सलिल का यह अनन्त विस्तार क्या फैला दिया था ? तो क्या अब लौट जाय सुदामा यही से ? इतना कष्ट सहने के पश्चात् ? और फिर वह मार्ग का भीषण कान्तार—वह मरु-प्रदेश ? यहा तो पानी ही पानी है और वहा पानी की एक बूद के अभाव म ही वे गत प्राण ही हो गये थे ।

सागर-तीर सरक आये थे सुदामा । एक नाविक एकाकी खडा था वहा एक विस्तृत स्वर्ण-जटित नौका पर । अवश्य ही साधारण जलयान नही था वह । राज परिवार का ही होगा । इससे द्वारिकापुरी तक ले चलने की बात कहनी धृष्टता के सिवा और क्या होगी ? और फिर मजदूरी देने के लिए उनके पास क्या था ?

"चलना है क्या ?" अत्यन्त मधुर स्वर म पूछा था नाविक ने ।

सुदामा को अपने कानो पर विश्वास नही हुआ तो यह स्वाभाविक ही था । उनके सदृश भिक्षुक को भला वह यह मान क्यो देता ? वे चुप लगाकर विपरीत दिशा म देखने लगे ।

आप ही से पूछ रहा हू ।' नाविक यान से नीचे उतर आया था और सुदामा के आमने-सामने खडा था ।

चलना ? हा अवश्य चलना है " सुदामा किसी तरह बोले थे पर मैं नही जा सकता ।

क्यो ? नाविक ने विनम्रता से पूछा । सुदामा को आश्चर्य हो रहा था उसकी विनयशीलता पर । क्या द्वारिका के सभी लोग ऐसे ही होंगे ? अगर इस राजकीय नाविक म इतनी नम्रता है तो सामान्य नगर-जनो म वह कितनी होगी ? और श्रीकृष्ण म ? क्या वे भी सादीपनि के आश्रम वाले वही चचल विनम्र और बात-बात म चुहल करने वाले असामान्य होकर भी सामान्य से प्रतीत होने श्रीकृष्ण होंगे ? एक क्षण को सुदामा सादीपनि आश्रम और श्रीकृष्ण की स्मृति म ही खो गए । सच था कि बहुत सारे सहपाठियो म सुदामा से ही श्रीकृष्ण

की गहरी छनती थी। उस दिन के छल पर भी उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया था। शायद उसकी ओर उनका ध्यान ही नहीं गया था। और शिक्षा और साधना से बच खाली क्षण वे सुदामा के साथ ही बिताते थे। सुदामा-श्रीकृष्ण की मित्रता सादीपनि आश्रम म ख्यात हो गई थी। सब आश्चयचकित थ इस पर। श्रीकृष्ण तब भी सामान्य आश्रम-सखी नहीं थ। कुछ भी हो मथुराधिपति उग्रसेन उनक नाना थे। ऐसे भी वस-परिवार और उसके पूव गोकुल और व दावन मे जो चमत्कार की सीमा को स्पश करत पराक्रम प्रदर्शित किये थे उन्होंने उस सबने कभी का उन्हे विशिष्ट ही नहीं विशिष्टतम बना दिया था। और सुदामा क्या थे ? एक साधारण ब्राह्मण-बालक जिसके मस्तिष्क म भले तर्कों का भण्डार था पर जिसका पेट अक्सर खाली ही रहता था। जिसने वदान्त और ब्रह्म-सूत्रो पर जो अधिकार प्राप्त कर लिया हो पर जिसके तन पर साधारण वस्त्रो का भी प्राय अभाव-सा ही था। यह दो ध्रुवो का मिलन मे कुछ कम नहीं था—सुदामा और श्रीकृष्ण की यह मत्री। सुदामा श्रीकृष्ण के बिना भी क्षण रह भी लें पर श्रीकृष्ण सुदामा के सामीप्य के बिना शायद जीवित भी नहीं रह सकत थ। बलराम को यह सब अच्छा नहीं लगता था। वे अपने म ही मस्त रहने वाले जीव थे। सुदामा के साथ बिताये गए श्रीकृष्ण के समय को वह अपव्यय क अतिरिक्त कुछ नहीं मानते थे। गुरु गह म शास्त्रो पर उन्होंने कोई प्रभावशाली अधिकार प्राप्त किया हो या नहीं पर शस्त्र ज्ञान उनका अद्भुत रूप से बढ़ा था। गदा-सचालन म उनकी दक्षता से तो गुरु सादीपनि भी चमत्कृत थ। नमदा के किनारे उस द्वादश ज्योतिर्लिंगो म एक ओंकालेश्वर के पाश्व के गुरु-गृह म जब बलराम किसी सह पाठी के साथ कृत्रिम गदा-युद्ध म रत होते तो दो गदाओ की भीषण टकराहट से हवा म जिस असाधारण कम्पन की सृष्टि होती उसस नमदा का जल भी तरगायित हो उठता।

उसी उम्र म एक तरह स गदा-गुरु तो हो ही गए थे सकषण (बलराम) पर क्षेत्र-कषण के प्रयोग म आने वाले साधारण हल का ही उन्होंने अस्त्र के रूप म इस तरह प्रयोग करना सीख लिया था कि शत्रु पर प्राणघाती वार के लिए उन्हे अपन हल का दुबारा प्रयोग नहीं करना पडता था। गदा रहे-न रहे पर हल सदा उनके साथ रहता था इसीलिए गुरु ने उनका नाम ही हलधर रख छोडा था।

श्रीकृष्ण सतुष्ट थे अपने सुदशन-चक्र से। कुम्भकार के चक्र क आकार के ही बने इस धारदार यन्त्र के प्रयोग म इतना दक्ष हो गए थे कि इस रूप म चक्रायित कर वह उसे शत्रु की ओर फेंकते थे कि पुन लौटकर वह उनके पास ही आ जाता था। ये सारे प्रयोग मिट्टी और तिनको के बने कृत्रिम शत्रुओ पर होत थ। बलराम और कृष्ण ने यद्यपि शस्त्र और शास्त्र दोना का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया पर सुदामा अपने शास्त्र ज्ञान को ही माजने म लग रहे। बलराम और श्रीकृष्ण तो फिर भी क्षत्रिय-कुमार थे राजवश से सम्बद्ध थे उन्हे शस्त्र ज्ञान की आवश्यकता थी। सुदामा के लिए शास्त्र ही पर्याप्त थे।

पर बलराम ने सुदामा को कभी पसन्द नहीं किया यह बात सुदामा स छिपी नहीं थी। शायद इसका कारण सुदामा का लिजलिजापन और ग्रन्थि-ग्रस्त स्वभाव ही था। सुदामा दारिद्र्य-जनित अपनी हीन भावना स कभी ऊपर उठ नहीं पाते थे और यही बात बलराम को पसन्द नहीं थी। सुदामा ने कई बार दोनो भाइयो

म अपन को लेकर विवाद की सीमा तक बहस करते भी सुना था।

"तुम व्यथ उम ब्राह्मण-पुत्र को इतना मिर चढाए रहत हो।" वलराम कभी कभी अत्यन्त ऊचे स्वर मे बोलते थे। स्वभाव से व मदा उग्र रहे। कट्टर अनुशासन धर्मा।

"एक क्षत्रिय राजकुमार और एक भिक्षुक ब्राह्मण पुत्र की यह अस्वाभाविक मत्री शोभती है क्या?' श्रीकृष्ण स कुछ उत्तर न पाकर वलराम ही फिर बाल थे।

"मैं सवम समभाव देखता हू भया," श्रीकृष्ण उत्तर देत 'मैंने एक छोटी मोटी साधना की है तुम्हारी और गुरु की आज्ञा स छिपकर और मुझे लग गया है वडा और छोटा कोई नही है। ईश्वर ने सबको समान वनाया है। समत्व ही सही योग है, ध्यान साधना और ज्ञान है—समत्व योग उच्चत। अवसर आया ता एक दिन मैं इसे डके की चोट पर कहूगा। मेरे लिए सब बराबर हैं भैया दरिद्र होन के नाते सुदामा मेरे स्नेह सौहार्द का सर्वाधिक योग्य पात्र है।'

"व्यथ का प्रलाप है यह" हलधर क्रोध मे भर बोलत। "तुम्हारी तथाकथित साधना ने तुमम मतिभ्रम उत्पन्न कर दिया है और तुम मतिका और स्वण को एक ही श्रेणी म रखन के अभ्यस्त होत जा रहे हो।"

श्रीकृष्ण मुसकरात और बोलते, 'भया शस्त्रा के प्रति तुम्हारे आग्रह न आप वाक्यो के प्रति तुम्हारे आकषण को कम कर दिया है। उपनिषदा मे प्रथम ईशा वास्योपनिषद् की उक्ति को तुम कसे भूल जाते हो कि इस निखिल ब्रह्माड म जितना और जो कुछ है सवम उसी एक ईश का वास है—ईशावास्यमिद सव यत्किंचित जगत्या जगत् '

'ये सिद्धान्त की बातें हैं व्यवहार की नही" बलराम अपना हल वपभ स्कन्ध के सदृश चौडे हो आए अपने कधे पर डालते और एक ओर चल दते। सुदामा खूब जानते थे, बलराम एक अत्यन्त ही निष्ठावान और न्यायप्रिय व्यक्ति थे। सुदामा के प्रति उनके मन म कोई विद्वेप अथवा घृणा का भाव हो इसका प्रश्न ही नही उठता था पर वे यह भी नही चाहते थे कि श्रीकृष्ण और सुदामा व्यथ के सताप म अपना समय नष्ट करें। पर श्रीकृष्ण थे कि मानत नही थ। समय मिला नही कि सुदामा के पास उपस्थित। जैसे सुदामा म ही उनके प्राण वमत हो।

पर अब? अब तो ऐसे भूले जसे सुदामा नाम का कोई प्राणी ही इस धरती पर कभी उत्पन्न नही हुआ। यह है इसका निस्सग योग। सुदामा न सोचा जिस तटस्थता द्वद्वहीनता और मगहीनता की बात वह करता था उसे उसने अपने जीवन म उतार कर दिखाया। गुरु सादीपनि के आश्रम मे आने के पूव ही वृषभानु दुलारी और अय व्रज-वनिताओ के अस्तित्व को ही उसने जस नकार दिया था, भूलकर, मथुरा छोड वन्दावन की आर दष्टि भी नही डाली थी उसन वही हाल तो उसन सुदामा के साथ किया। एक बार जो कभी उसके प्राणा म बसा था आज कसा उसके प्राणा पर बीत रहा है इसकी चिन्ता भी कभी की उसने?

आपने कुछ कहा नही?' स्वर ने सुदामा को सादीपनि-गह स वापस खीचा। नाविक अब भी खडा था सामन हाथ जोडे। सुदामा धरती म गडन गडने को हुए। यह राजकीय कमचारी अब तक उनके उत्तर की प्रतीक्षा मे खडा था?

मैंने कहा न भया, मैं तुम्हारी नौका पर आसीन होने का अधिकारी नहीं

हू ।' सुदामा ने निस्सकोच उत्तर दिया ।
'पर क्या ?
फिर वही क्यो ? क्या उत्तर दें सुन्मा ? अतत बात स्पष्ट करनी ही
पडी— मरे पाम पार उतराई दन के लिए कुछ नही है । सुदामा न कहा और
अपराधी मन स चिउडे की पोटली को फिर एक वार ठीक से छिपाने का प्रयत्न
किया । कही नाविक का ध्यान उस पोटली पर ही चला जाय और वह उतने ही स
सतोप कर ले तब ?
'आपस मुझ कुछ नहा लेना । नाविक न विनम्र शब्दो म कहा ।
क्या ? सदामा क आश्चय की सीमा नही थी । यह तो वसा ही हुआ जसे
कोई बुभक्षित किसी अन्न की दुकान पर भूखी आखो भाडार को निहारता रह
और विक्रयवर्ता बोल उठे 'जी भर बाध लो गठरी म मुय कुछ नही लेना तुमसे ।
गठरी । गठरी की बात याद आत ही सुदामा को अपनी पोटली की बात पुन याद
आ गई तथा उन्ह लगा उन्हाने एक निश्छल व्यक्ति से छल किया है और उन्होंने
अब तक बहुत यत्न स छुपाई फटे पुरान वस्त्रो की वह पोटली उसक सामने कर
दी, 'है तो मरे पास कुछ अवश्य । चिउडे की चार मुटिठया हैं इसम पर इन्हें मैं
तुम्हे दे नही सकता ।
नाविक न बडी श्रद्धा स उस पोटली को देखा जसे वह कोई अति साधारण
वस्तु नही होकर कोई बहुमूल्य रत्न आदि का सग्रह हो और नतमस्तक होकर
कहा "आप इस अपन पास ही रखें मैंन कहा न आपस खवाई नही लनी ।
सुदामा को आश्चय हुआ यह क्या हो रहा था ? ऐसी रत्नजटित स्वण
निर्मित-सी नौका प्रत्यक्ष ही राजकमचारी-सा प्रतीत होता यह व्यक्ति और वह
कह रहा है वह उनसे कुछ नही लगा । अब ता उसने उनकी पोटली भी दख ली
है । कहन को तो उन्हान कह दिया है कि इसम चिउडा के अलावा कुछ नही है ।
पर उस कही यह लगे कि यह भिखारी अपन जीवन की सारी जमा-पूजी इसी म
समेटे हुए है और पार उतरत ही वह मजूरी लन पर उतर आए तब ? सुदामा ने
पोटली खालनी चाही—अब दिखा ही दत हैं इसे कि इसका भी भ्रम टूट जाय और
आगे कोई बवेला नही खडा हो ।
नही नही, मत खोलिए इस मैंने कहा न कि कुछ नही लना मुझे । आप
चलिए यान आपकी प्रतीक्षा म खडा है । आपको विलम्ब हो रहा होगा ।
सुदामा चकराय । आखिर यह व्यक्ति उन्हे नि शुल्क पार उतारन को क्या
प्रस्तुत है ? उन्ह लगा इसम भी उस नटखट श्रीकृष्ण की कोई चाल है । इधर
अपनी योग शक्ति कुछ और बना ली होगी उसने और उस अनुमान लग गया
होगा कि मैं यहा पहुचने ही वाला हू और उसने यह यान ।
'आप क्या सोच रहे है ? नाविक फिर विनम्रता से बोला ।
'वास्तविकता कहू तो मैं सोच यह रहा हू कि तुम मुझ पर अकारण कृपा
क्या करना चाहत हो ? जब मैं कुछ द नही सकता तो तुम मुझ पार उतारने पर
क्या उतारू हो ?
क्योकि ऐसी ही मेरे स्वामी की आज्ञा है ।
कौन स्वामी ?
द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण । और कौन ?

आखिर बात आई न वही पर ? लग गया न पता श्रीकृष्ण को कि सुदामा आ पहुचने वाला है सागर तीर ?

"तुम्हे कस पता लगा कि मै आ रहा हू ?" सुदामा ने पूछा और नाविक के चेहरे पर एक विचित्र भाव उभरा। अतत वह बोला, पता लगने-न-लगने का यहा कहा प्रश्न है ? यहा तो सभी अतिथियो को नि शुल्क पार कराने का राज्या देश है। आप इस नगर के निवासी होत तो अवश्य आपको शुल्क देना पडता पर अतिथि से शुल्क लेकर मैं राज्यापराध का भागी कस बन सकता हू ?"

"तुम्हे कस पता कि मैं अतिथि हू ? मैंने तो तुमस कहा भी नही ? कहीं मैं इसी नगर का निवासी हुआ तो ? '

सुदामा की बात नाविक सुन तो गया और फिर एक बार उन्ह ऊपर से नीचे तक देखकर अपनी आखें जमीन म गडा दी। सदामा समझ गए। नाविक को यह बतान की आवश्यकता नही थी कि वह इस नगर के निवासी नही थे। सुदामा के प्रश्न का सीधा उत्तर था—इस नगर म भिखारी नही रहत। उनके वस्त्र उनकी दयनीय स्थिति डके की चोट दता रही थी कि वे द्वारिका नगरी के निवासी नही थे और चाहे जहा के हो। पर उस नाविक न ऐसा कुछ नही कहा। यह उसकी शिष्टता की पराकाष्ठा थी कि उसने नेत्रो को भी नत कर लिया कि कही उनम तरते भावो को सुदामा पढ नही लें और अपने दारिद्र्य के प्रकट हो जान की कुण्ठा मे ग्रस्त हो जायें।

"आप अतिथि ही हैं।' नाविक ने सामान्य हो आए अपन नेत्रो को उठाया था, "मैं इस नगर के सभी निवासियो को पहचानता हू। वर्षों से इसी काम म लगा हू। आप आयें, विलम्ब हो रहा है। नाविक ने कहा और यान की ओर बढ चला। सुदामा डोर-बधी पतग की तरह उसके पीछे लग गए खर थी उसन अपने उत्तर म यह नही कहा था, म भिखारियो को ठीक से पहचानता हू।' तो यह थी उनके सखा नही-नही श्रीकृष्ण की राज्य-व्यवस्था। उनकी शालीनता की सीमा थी यह कि यहा का एक अदना सा नाविक तक नम्रता से इस तरह झुका हुआ था जसे फला भरी शाखा झुक-झुक आती है धरती तक।

पच्चीस

सुदामा के लिए समुद्र का सामना एक सवथा नई अनुभूति थी। अब तक तो उन्होने समुद्र देखा भी नही था और आज उसकी तरगो पर व किसी क्षुद्र तिनके की तरह चढ-उतर रहे थे, भले वह नौका के सहारे ही हो। सुदामा प्राय प्रात-काल सागर-तीर पहुचे थे और नाविक से विचारो के आदान प्रदान म पर्याप्त समय निकल गया था। सूरज के क्षितिज पर ऊपर चढते ही हवा म भी तजी आई थी और समुद्र कुछ अधिक ही तरगायित हो आया था। लहरें कई-कई हाथ उपर उठन और गिरन लगी थी। सुदामा की नौका इन लहरो की दीवारो के सहार कभी ऊपर चढती और फिर उन्ही के साथ नीचे गिरती। अकिंचन सुदामा को कभी झूल पर झूलने का अनुभव नहा था किन्तु उन्ह लगा शायद झूले पर भी एसा

ही लगता हो। कुछ देर तक तो ठीक पर थोडी ही देर म उन्हे यह अनुभव अत्यन्त ही अदभुत और भयावह लगन लगा। उन्हे कई बार अनुभव हुआ कि व समुद्र के गभ म जात-जात रहे—नौका अब उलटी कि तब।

उन्हे पहल पहल लगा वे बुरे फस। किस मुहूत म घर से निकल कि बार-बार प्राणो पर ही बन आ रहा है। पहल उस मरु प्रदेश म पानी के अभाव और ऊपर-नीचे क ताप स मरत-मरत बचे तो अब यह राशि राशि जल हा उन्हे अपनी असख्य लपलपाती लहरो स निगलने को तयार है। अगर यही विसजन हो जाय उनके प्राणो का तो सत्या और उसकी सन्तान जिसके लिए व इतना कष्ट उठाकर यहा तक पहुचे हैं का क्या होगा ?

सुदामा का आनन भय स पतझड के पत्ते की तरह पाला हो आया। पर नाविक था पूरी तरह निश्चिन्त। बडे आत्मविश्वास क साथ पतवार को पकडे वह यान को उचित दिशा देन म व्यस्त था। सदामा की ओर देखन का उस अवसर ही नही मिल रहा था पर एक बार जब उसने भय स विवण हो आए उनके मुख को देखा तो उस लग गया कि समुद्र की नई-नई यात्रा ही थी उनकी।

आप भयाक्रान्त हो रहे हैं ? इसकी कोई आवश्यकता नही। नाविक ने पाल थाम ही सुदामा को धय दिलाना चाहा।

क्यो ? सुदामा न भयमिश्रित दुबल स्वर म पूछा। उनके वेदान्त दशन ने आत्मा को ही सर्वोपरि और तन को निरथक बताया था पर आज वे इस मरण धर्मा तन को लेकर इतना चिंतित क्यो हो आए थे ? नाविक कुछ नही बोला। वह मनोयोगपूवक अपने काम म लगा रहा।

तुम मुझे वापस ल चलो। सुदामा ने अपना निणय सुनाया था। उन्हे सत्या और सन्तान की याद बुरी तरह सतान लगी थी। नही इस समुद्र म वे अपने शरीर की समाधि नही बनाने जा रहे। अब उन्हें कम का सही महत्त्व समझ मे आया था। अगर वे सन्यासी बन भिक्षाटन को ही वत्ति क रूप म नही अपनाए रहते तो आज उनकी यह दयनीय स्थिति नही होती—आज समुद्र सौ-सौ मुखो से उन्हे अपना ग्रास बनान को प्रस्तुत नही हाता।

समुद्र पूववत्‌ क्षुब्ध और आन्दोलित हुआ। लहरें आसमान छून को आतुर हो आई और उन पर चढ़ती उतरती वह नौका हिचकोले पर हिचकोले खान लगी। सुदामा और नाविक के शरीर लहरो के थपेडो म पूरी तरह आद्र ही नही हो आए बल्कि अब पीडा भी देने लग थ। सुदामा का तार तार हुआ वस्त्र पूरी तरह उनके शरीर से सट आया था और वे स्वय को अपनी लाज बचान म भी असमथ पा रहे थ।

भय की कोई बात तो नही ' नाविक ने अन्तत आरम्भ किया था भगवान के हाथ इन लहरो स भी बडे होते हैं वह चाहे तो य हमारा कुछ भी नहा बिगाड सकती।

वेदान्ती सुदामा एक तरह स सन्न रह गए थे। यह नाविक तो भक्ति की बात कर रहा था - भगवान म विश्वास की। उन्हे लगा अब तक का उनका सारा दशन धरा-का धरा रह गया। अब तो एकमात्र भगवान ही उनके प्राणो की रक्षा करें तो करें वरना उनका सयाम ज्ञान तो यहा किसी काम आने स रहा। सुदामा ने मन-ही-मन कुछ सकल्प किया और जिस अपेक्षाकृत ऊचे आसन पर व बठे थे वहा

से लडखडाने परा उठ कर उन्होंने अपने दुबल हाथो से हाहाकार करती हवा से अब उडे कि तब उडे उम रशमी पाल को एक ओर स पकडा। नाविक ने दूसरी ओर से उसे भरपूर सहारा दिया। नाव कुछ नियत्रण मे आई।

"यह हुई न कुछ बात ?" नाविक के मुख पर एक मुसकान खिली। 'अब इन चार हाथा का यह समुद्र क्या बिगाड सकता है? द्वारिका के घाट अब समीप आने लगे हैं। पूरे प्राण-पण से कम म जुट जाओ तो एक बार मत्यु भी द्वार से निराश वापस लौट जाती है।'

"क्या ?' सुदामा के कानो पर किसी ने जस वज्र प्रहार किया। यह बात यह नाविक बोल रहा था या उसक मुख से सादीपनि आश्रम का वट् वालयोगेश्वर श्रीकृष्ण ? तो पूरी द्वारिकापुरी को ही उसने अपन कम योग से आप्यायित कर दिया है ? कि कम ही महान है—सन्यास, साख्य नान विनान चितन-मनन, घ्यान धारणा सबस ऊपर है उसकी स्थिति या उह शिक्षा दन के लिए ही यह सारा स्वाग रचा था अपने महल म बैठे-बैठे उस योगश्वर न ही। क्या पता कितना बडा जादूगर है वह! द्रौपदी के चीर को जब से उसने बढाया तब स उसकी अकल्पनीय शक्तियो न उस ऐद्रजालिक स लेकर ईश्वर तक बना छोडा है। जो जिस पाठ को उनका सखा उन्हें सादीपनि आश्रम मे नही सिखा सका, आज उसने उसे इस समुद्र-तल पर सिखा ही दिया। अगर सुदामा कुछ देर पूव ही नाविक का हाथ बटाने खडे हो गए रहत तो मृत्यु किधर से उनके समक्ष मुख फाडकर खडी होती? पर उन क्षणो मे तो उन पर अपना अहम सवार था। सन्यासी थे व— अकर्मी, निरग्नि। वे भला कम म प्रवत्त होंगे ? पर प्राणो पर आने पर सब कुछ करना पडा या नही? श्रीकृष्ण की एक बात अकस्मात उह याद आई जो सादीपनि-आश्रम म कही थी उन्होंने—प्रपच मे नही पडो। कम नही करूगा यह तुम्हारा मिथ्या अहकार है। प्रकृति निष्क्रिय नही है सदा ही सक्रिय है वह। एक दिन वह तुम्हे कम म झोक कर रहेगी। सूय, चन्द्र सारे नक्षत्र, यह पथ्वी तक तो शान्त, निष्क्रिय नही है। कोई क्षण भर भी रुकता है? सब गतिशील हैं। हवा क्षण भर को भी रुक जाय तो तुम गत प्राण हो जाओगे या नही? प्रकृति-पुत्र हो तुम। प्रकृति मे ही शिक्षा लो। निष्क्रियता नही, क्रियाशीलता ही जीवन का रहस्य है।

और आज यह रहस्य समझ गए थे सुदामा। श्रीकृष्ण ने उस दिन हाथो की ओर इगित कर कहा था—इन्हें देखो। कर कहते हैं इह। ये कुछ करने के लिए बने हैं।' आज यही बात इस नाविक ने कही थी—'यह हुई न कुछ बात! अब इन चार हाथो का समुद्र क्या बिगाड सकता है?

तो सादीपनि-आश्रम की सारी शिक्षा व्यथ गई? अन्तत इस सागर को ही गुरु बनना था उनका? सागर को या श्रीकृष्ण को? सुदामा के होठो पर दिनों के बाद पहले पहल एक हलकी मुस्कान खिली। द्वारिका के घाट के पास आ गए थे।

छब्बीस

सुदामा चिन्ता म पडे । उन्ह सागरतीर—द्वारिका घाट—उतार वह नाविक गायब हो चुका था । उमने यह भी पूछना आवश्यक नही समझा कि आखिर उन्ह जाना कहा था । यहा क मार्गों स भी उन्हे परिचय था या नही । पर अब सोचने से क्या होता ह वह तो गायब हो चुका है, ठीक उसी तरह जसे श्रीकृष्ण सांदीपनि आश्रम के किसी कोने म घटा और दिनो तक छिप बठता था । साधना रत हो आता था—समाधिस्थ । तब कहा की और कसी मित्रता ? किसकी चिन्ता ? सुदामा बलराम बिल्वमगल और विराट आदि का वहा कोई अस्तित्व होता तब ? पूछने पर वह कहता निस्सगता साध रहा हू । होकर भी किसी का नही होना—कर्मो म लगकर भी नही लगना सब कुछ करते हुए भी कुछ नही करना ।

तो यहा क सभी निवासियो को ठीक ही अपना अदभुत योग सिखा गया क्या वह ? वह निस्सगता और तटस्थता जो थोडे ही दिनो म सादीपनि आश्रम म ही वह अपन अन्दर विकसित करन म सफल हो गया था ?

यह नाविक जो क्षण भर पूर्व तक उसको प्राणो स भी अधिक मान रहा था, जिसे इस पार लाने क लिए उमने लाख चिरौरिया की खूखार लहरो क साथ जो साथ साथ जूझता रहा, क्षण भर म ही उन्ही लहरो पर ऐस वापस लौट गया जस सुदामा स उसका कभी का कोई लेना देना ही नही था । तो यह है श्रीकृष्ण का साम्राज्य । यहा सभी घोर कर्मयोगी है । समुद्र की खूखार लहरो से भी हसी-हसी खल लत है और अतिथियो को प्राणो स बढकर मान द फिर उनकी ओर स वे वैस ही तटस्थ हो जाते है जसे नौका से उतरे यात्री क्षण भर के अपने सामीप्य और सौहाद को भूल अपनी अपनी राह लेते हैं ।

तो ठीक ही कह रहा था श्रीकृष्ण ? मैंने सब कुछ समझ लिया है सुदामा ।

'क्या समझ लिया है ?

'ससार एक पडाव से अधिक कुछ नही ।

'मतलब ?

मतलब यह कि किसी पड के नीचे अथवा विश्रामागार म कुछ पथिक जमा होते हैं थोडी देर एक दूसरे क दु ख-सुख की बात करत हैं फिर अपना अपना पथ पकडते हैं । उसी तरह पिता पुत्र बधु-बाधव पति-पत्नी ये सारे पडाव के पथिको से अधिक कुछ नही । इस जीवन म ये सभी सबध बनत हैं । अगले जीवनो मे ये सारे समीकरण बदल जात हैं । फिर कोई पत्नी पति बन आती है तो कोई पुत्र पिता, कोई मित्र शत्रु तो कोई शत्रु मित्र । अनन्त काल स एसा हा हो रहा है और अनन्त काल तक एसा ही होता रहेगा ।

तुम पुनजन्म की बात करते हो ?

हा, पुनजन्म की और इसी बहाने इस आतमा की अमरता और शरीर की नश्वरता की भी ।

अपनी बात तुम्हा समझो । सदामा बात का टालने का प्रयास करत ।

समझना क्या है ? तुम्हारा वेदान्त दशन भी तो यही कहता है ? तुम्हार उपनिषद् क्या कहत हैं ? भूल गया नचिकेता की वह बात—धान के पौधो की तरह ही मनुष्य उत्पन्न होता है और उमी की तरह गल-पचकर पुन नय रूप म उत्पन्न

हो आता[1] है ?"

"पढ़ते-सुनते तो हम लोग भी यह सब है पर इन पर विश्वास कहा हो पाता है ?" सुदामा कहते।

"अन्तर है सुदामा।"

"क्या अन्तर है ?"

"तुम पढ़ी-सुनी बातो पर जाते हो। मैं आखो देखी बातें कह रहा हू।

सुदामा चकराते। रहता तो यह श्रीकृष्ण हमारे साथ ही है। आखें भी इसे हम लोगो की तरह दो ही मिली ह ता वह हम जिन बातो को पढ़ते सुनते मात्र हैं, उन्हे वह देख कसे लेता है ? पर सुदामा सँभल जाते और पूछते— तो यही है तुम्हारी एकान्त साधना की उपलब्धि ? घटो और कभी-कभी दिनो तक समाधिस्थ हो तुम यही सब देखते रहे हो ?"

"देखता नही, देखने की शक्ति जुटाता रहा हू।" श्रीकृष्ण मुसकरा कर कहते।

"अर्थात् ?"

"अर्थात यह कि अब तो सब कुछ हस्तामलकवत दिख जाता है।"

"बिना समाधि लगाए ही ?"

'यही समझो। थोडा सा ध्यान उधर खीचो और भूत भविष्य, वत्तमान सभी सामने।'

"तब तो तुम योगिराज हो गए—योगेश्वर," सुदामा बोलते, "यह सिद्धि तो शायद गुरु सादीपनि को भी नही प्राप्त हो। कसे बढ गए तुम इतना आगे ?'

"कसे कहू ? पूव जन्म का सस्कार समझो। उस जन्म म कुछ साधना की होगी, इस जन्म मे वह सिद्धि बन कर सामने आ गई।' श्रीकृष्ण कुछ सोचते हुए बोलते।

"पर तुम्हारी साधना तो अब भी जारी है ?'

"जारी तो रहेगी ही। जीवन एक अनन्त प्रवाह है। मृत्यु तो शरीर-परिवतन मात्र है। अमर आत्मा को तो सदा सस्कारित करते ही रहना पडेगा। ऐसे क्षण श्रीकृष्ण जसे कही दूर खो जाते। लगता वे समाधि से ही बोल रहे हैं।

"अगर तुम इसी तरह साधना रत रहे सादीपनि के आश्रम छोडने के पश्चात् भी तो पता नही कहा पहुच जाओ।"

"कहा ? ' श्रीकृष्ण जसे परिहास म पूछते।

"अभी तक तो योगेश्वर ही हो, कल परमेश्वर भी बन सकते हो।

श्रीकृष्ण कुछ नही बोले थे। केवल एक मोहक मुसकराहट उनके शुभ्र आनन पर खिल आई थी।

---

1 सस्यमिव जायते मत्य सस्यमिव पच्यते पुन

और मुसकराए थे सुदामा भी। परमेश्वर बनने की बात वह कहते थे और आज श्रीकृष्ण सचमुच परमेश्वर बन बैठे हैं। पूरा आर्यावर्त तो यही कहता है कि पुरुषोत्तम हैं श्रीकृष्ण—साक्षात परमेश्वर। आध्यात्मिक साधना और सतत कर्मोपासना का मिश्रित परिणाम है यह। सुदामा को यह समझाने की आवश्यकता नहीं थी।

सुदामा खड़े थे अब उसी परमेश्वर के महल के द्वार पर। नाविक तट पर छोड़ गायब हो गया तो क्या श्रीकृष्ण के महल तक का मार्ग ढूढ़ने में क्या कठिनाई आनी थी। जिससे पूछो वही बता देता था भले ही वह ऐसा करने से पूर्व एक बार उनको ऊपर से नीचे तक निहार अवश्य लेता था। सुदामा समझ जाते थे इसका मर्म। बेचारा सोचता होगा द्वारिकापति के द्वार पर इस दरिद्र की क्या आवश्यकता? और किधर से आ गया यह। इस द्वारिका में तो कोई अकिंचन ढूढ़े भी नहीं मिलता। जहां स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण का वास हो वहां सारी ऋद्धि सिद्धियां तो हाथ बांधे खड़ी रहेंगी ही सुदामा सोचते। अगर इस नगरी में उनका भिक्षुक-स्वरूप आश्चर्य का कारण बन रहा है तो इसमें विस्मय की क्या बात है?

कठिनाई अब तक तो नहीं खड़ी हुई थी पर अब वह साक्षात खड़ी थी उन दुर्धर्ष द्वारपालों के रूप में जो श्रीकृष्ण महल के द्वार पर अड़े थे।

'अन्दर नहीं जा सकते आप।' उन्होंने सुदामा को साफ-साफ कह दिया था।

'क्यों?' निरर्थक-सा प्रश्न पूछा था उन्होंने। इस क्यों का अर्थ वे अच्छी तरह जानते थे। द्वारिकाधीश के महल में एक भिक्षुक का क्या प्रयोजन हो सकता था?

'यों ही।' संक्षिप्त सा उत्तर था प्रहरियों के प्रभारी-से लगते व्यक्ति का। उसने इसकी भी आवश्यकता नहीं समझी थी कि अन्दर जाकर द्वार पर अतिथि आगमन की सूचना देता। अतिथि थे कहां सुदामा? वे तो एक अयाचित व्यक्ति की तरह उससे आ भिड़े थे। नाविक ने समझा होगा उन्हें अतिथि पर ऐश्वर्य के इन प्रहरियों को इस भिखारी से क्या लेना देना? वे किसी हालत में उन्हें अन्दर प्रवेश देने को प्रस्तुत नहीं थे। सुदामा पशोपेश में पड़े। सत्या की आकांक्षा पर द्वारिका के समुद्र का खारा पानी पड़ने जा रहा था। उनका स्वयं का सारा श्रम दरिद्र के सुनहले सपनों की तरह व्यर्थ सिद्ध होने पर था। उन्हें मार्ग के सारे कष्ट एक-एक कर याद आ रहे थे। विस्मृत मरु-कान्तार में पर-कटे पक्षी की तरह पिपासा से तड़पते प्राण। प्रचंड ताप से जलता आपाद मस्तक तन। इसके पश्चात जलोर्मियों के साथ वह प्राणघाती युद्ध। व्योम-स्पर्श को आतुर लहरों का वह भयावह नर्तन—आलोडन-अवलोडन। नाविक के साहस और चातुर्य से किसी प्रकार द्वारिका के इस तट पर आगमन और अब लौह प्राचीर की तरह अनुल्लंघ्य ये द्वार रक्षक। क्या करें सुदामा? प्रहरियों के व्यवहार से तो स्पष्ट था कि श्रीकृष्ण के दर्शन बिना लौटना ही शायद उनकी नियति थी।

चिंता थी तो उन्हें एक ही। अगर किसी तरह पुनः घर लौट भी गए तो सत्या को क्या उत्तर देंगे। अनेक बार वे अपने और श्रीकृष्ण के प्रगाढ़ प्रेम का

वणन कर चुके थे। अब किस मुह से कहेगे कि उसी अन्तरग सखा के अन्त पुर तो अन्त पुर बाह्य द्वार के भीतर भी प्रवेश नही मिला उन्हे? क्या यह अपने सखा श्रीकृष्ण के अहकार का द्योतक नही होगा, उस श्रीकृष्ण के जिनके लिए अहकार का अस्तित्व भी नही था।

एक ब्रह्मास्त्र था सुदामा के पास किन्तु उसका प्रयोग क्या उचित होगा? शायद नही। सुदामा का मन साथ नही दे रहा था। मात्र अपनी स्वार्थ-पूर्ति अथवा सत्ता की भावनाओ को ध्यान मे रख वे ऐसा कुछ नही कहना चाहते थे जो अपने सखा की मर्यादा पर आच पहुचाए। अपनी मित्रता को आधार बना वे उसके पीताम्बर को अपने दारिद्रय की धूल से धूसरित कर दें इसके लिए वे प्रस्तुत नही थे। कहा द्वारिकापति, ऐश्वयशाली योगेश्वर परमेश्वर श्रीकृष्ण और कहा दीनता-दारिद्रय की साक्षात् प्रतिमूर्ति सुदामा? इन दोनो मे अगर कभी मित्रता थी भी, भले ही वह प्रगाढ ही नही प्रगाढतम हो तब भी उसे भूल जाने मे ही कुशल था कम-से-कम अपने सखा के वतमान प्रभाव प्रभुता और ऐश्वय को ध्यान मे रखते हुए।

तो क्या करें सुदामा? लौट ही जायें अन्तत। अपना पुराना परिचय तो वह नही ही प्रकट करेंगे इन प्रहरियो के समक्ष। उन्हे कही यह न लग जाय कि सुदशन चक्रधारी द्वारिकाधीश का भी यही रूप रहा था कभी—एक भिक्षुक का। वरना इनमे मित्रता कैसे होती? श्रीकृष्ण के इस स्वर्णिम वतमान पर सशय की कोई कालिमा डालने के बदले वे बगल के सागर मे अपने प्राण विसर्जित कर देना अधिक पसन्द करेंगे।

"तुम क्या यही जमे रहोगे?" प्रहरियो मे से एक ने कहा। यह उनकी शिष्टता ही थी जो सुदामा को द्वारिकाधीश के महल के उस महाद्वार पर झेले जा रही थी। यह शायद श्रीकृष्ण के समत्व योग का प्रभाव था वरना बहुत पहले ही वे बनाते उन्हे सागर-तीर का माग दिखा दे सकते थे। सब जीवधारियो मे एक ही तत्त्व की उपस्थिति देखने वाले उनके सखा ने सादीपनि आश्रम मे ही अपनी सम-दृष्टि के सिद्धान्त को प्रतिपादित करना आरम्भ कर दिया था और शायद उस सिद्धान्त को ही व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने के लिए उन्होने अपने अन्तरग एक घनिष्ट सखा के रूप मे चुना था सुदामा को—आश्रम के सबसे निरीह, दयनीय और दरिद्र प्राणी को। पर यह सब मात्र दिखावे के लिए नही था। श्रीकृष्ण ने अपना निश्छल साहचय दिया था उन्हे, इसमे सुदामा को कोई सन्देह नही था। अब भी अब भी वे मात्र जान जाय कि।

तभी एक बात बिजली की तरह कौंधी थी सुदामा के मस्तिष्क मे। न सही अपने सम्बन्धो का विज्ञापन पर अपना नाम तो वे पहुचा ही सकते थे उन तक। उनका नाम सुनना ही क्या पर्याप्त नही होगा श्रीकृष्ण के लिए? उनकी स्मृति पर अगर विस्मरण की कोई पतली परत पड भी आई हो तो सुदामा के नाम का पवन क्या पर्याप्त नही था उसे उडा फेंकने को?

तुम एक काम तो कर सकते हो? उन्होने डरते डरते ही निवेदित किया था द्वारपालो से। उन्हे प्रवश चाहे भले नही दे रहे हो पर शिष्टता सचमुच सराहनीय थी द्वारपालो की। सुदामा को लगा कि श्रीकृष्ण की सारी शिक्षा और व्यवहार प्रभाव के होते हुए भी उनके द्वारपाल अपने को इस स्थिति मे नही पा

पाय थ कि व प्रत्यक्ष भिक्षुक प्रतीत होत एक व्यक्ति को द्वारिकापति क समक्ष खडा कर दें।

'बोलिए। प्रहरिया क प्रमुख ने अपनी वाणी को यथासाध्य सयत करते हुए कहा था।

'आप कवल मेरा नाम उन तक पहुचा दें। इससे अधिक कुछ नही कह।'

प्रहरिया म आपस म कानाफूसी आरम्भ हुई—'केवल नाम कह दन म क्या हज है?"

'वाह, हज कस नही है। एक नाम के दो व्यक्ति भी तो हो सकत हैं? कही महाराज न किसी भ्रम-वश इसे बुला लिया और इसके रग रूप को दखकर वे ।"

'तब एक बात तो कर हो सकत है। इसकी पूरी हुलिया उन्ह बता देंगे। इसके बाद उनकी मर्जी।' प्रहरिया क प्रभारी ने अपना निणय सुनाया 'वह्गे, वह द्वार स हटता ही नही, अब आप जमा आदश दें।

"ठीक' सभी न एक स्वर से हामी भरी। प्रहरिया का अगुआ ही अन्दर गया और सुदामा सशय के झूल पर झूलत हुए द्वार पर प्रतीक्षा रत रहे। कही श्रीकृष्ण को उनक नाम का पूण विस्मरण अथवा वह द्वारपाल तो उनके रूप-रग का पूरा खाका खीचने ही अन्दर गया है अगर एसी स्थिति म वे इस नाम स जान बूझकर अपना परिचय घोपित कर दें तब । तब व क्या मह दिखायेंगे इन द्वार-रक्षको को भी ?

अट्ठाईस

वह रुक्मिणी महल था जहा नियति न अनायास सुदामा को ला पहुचाया था। श्रीकृष्ण इस समय इसी महल म पटटमहिपी स किसी परामश म लीन थ। प्रहरिया के प्रभारी ने द्वार पर खडी दासी को सवाद भेजा था और श्रीकृष्ण बाहर आ गये थे। उनको सहसा अपन समक्ष पा वह आतकित हुआ था और पहले-पहल उसे पूण अहसास हुआ था कितना गुरुतर भार उसने अपन कन्धे पर ले लिया था।

एक तरफ निरभ्र आकाश की काति वाल पीताम्बरधारी अगराग और हीरे मोतियो क आभूपणो और रत्नजटित स्वण किरीटधारी, आसतु हिमाचल आर्यावत म वदित-पूजित द्वारिकापति श्रीकृष्ण खडे थे तो उधर महल क महा द्वार पर इनसे मिलने को आतुर खडा था जाण शीण वस्त्रा स अपने तन को कठिनाई स लपटे, खाली पर और खुल कश-युक्त धूल धानी-सना सुदामा नाम का एक भिक्षुक! अपने दायित्व का पूण बोध उस हुआ तो उसने उलटे परो लौट जाना चाहा। पर वह भी अशिष्टता होती, अत द्वारिकापति को प्रणिपात कर अपना नमन निवदित कर वह महल क मणि-खचित स्तम्भो की तरह ही कुछ क्षणो तक मूक खडा रहा।

'तुम कुछ अनिणय की स्थिति म हो प्रहरी। अनिणय अनिश्चय और सशय

तथा भय का प्रवेश द्वारिका म कब से हुआ ? कह डालो जो कुछ कहना है।
श्रीकृष्ण का मेघ-मन्द्र स्वर गूजा। प्रहरी आश्वस्त हुआ और उसने एक बार और प्रणिपात कर धीरे धीरे निवेदन किया—

"महाराज ! एक व्यक्ति आपसे मिलना चाहता है।

"तो मिलना किसे मना है प्रहरी ! श्रीकृष्ण ने किसी के लिए अपना द्वार तो बन्द नही किया द्वारपाल !

'महाराज ! हमने उसे आपसे मिलने-योग्य नही समझा। उसके तन के वस्त्र तार-तार है। शरीर ककाल से अधिक कुछ नही है जिस पर मढी चमडी झूल गई है। उसके पैरो म न पदत्राण हैं, न सिर पर कोई वस्त्र। दाढी मूछ के केश बेतरतीब बढकर झाडियो का स्वरूप ले चुके है। उसका सम्पूर्ण गात धूल-सना है। वह आपसे मिलने लायक ।"

उसका नाम क्या है प्रहरी ? श्रीकृष्ण आकुल होकर बोल थ।

"उस व्यक्ति ने अपना नाम क्या बताया था प्रहरी ?" इस बार रुक्मिणी ने प्रहरी से जिज्ञासा की थी जो श्रीकृष्ण के इस व्यवहार पर अश्वत्थ वृक्ष की तरह जड हो आया था। उसे लग रहा था कितना भारी अपराध किया था उसने उस व्यक्ति को बाहर रोक कर।

सुदामा। प्रहरी जिसे द्वारिकाधीश के समक्ष पूरे नाम के उच्चारण का अवसर भी नही मिला था, बोला।

"सुदामा !! पटरानी ने धीरे से दुहराया। इस व्यक्ति का नाम उसने अपने पति से कई बार सुना था। अपने गुरु भाई के स्वागत म भागना ही था द्वारिकापति को सो वह दौड पडे वायु वेग से। वह अन्दर आ गई अर्घ्य-पाद्य का प्रबन्ध करने।

महाद्वार पर खडे प्रहरी विस्मय और भय से भर आये थे। ऐसे अद्भुत करुण दृश्य का अवलोकन व जीवन मे पहले पहल करने पर बाध्य थे। जिस गति से द्वारिकाधीश दौडे आ रहे थे उसी से उनको लग गया था कि बात अत्यन्त असामान्य थी। सदा सयम और सन्तुलन का सन्देश देने वाले श्रीकृष्ण आज इस तरह वन्य हिरण की तरह कुलाचें भरते हुए विशाल प्रागण को क्यो पार कर रहे थे और महाद्वार पर आते-ही आते उन्होने उस भिक्षुक को अपने म इस तरह क्यो समेट लिया था जैसे कोई माता अपने नवजात शिशु को अक मे छिपा लेती है ? और फिर यह क्या हो रहा था ? दोनो की आखो से अश्रु की धाराए क्यो फूट चली थी ? भिखारी के वस्त्र तो पहले से ही गीले थे, वक्षस्थल पर पडा श्रीकृष्ण का उत्तरीय उनके अश्रुपात से किस प्रकार पूरी तरह आर्द्र हो आया ? और कितनी देर चला था यह अकमाल ? इसके पूर्व क्या उन लोगो ने श्रीकृष्ण को किसी को गले लगाते नही देखा था ? पर यहा तो क्षण पल म बदलते जो आये थे और ये द्वारिकापति थे कि इस भिक्षुक को आलिंगनबद्ध किये खडे-के-खडे थे।

'सुदामा ! तुम्हारी यह हालत ? बहुत देर के पश्चात जब वे दोनो पृथक हुए थे तो श्रीकृष्ण ने विगलित स्वर म पूछा था। सुदामा क्या उत्तर देते। वे तो श्रीकृष्ण के उस आचरण से ही स्तब्ध हो आये थे। इतना स्नेह सम्मान तो उन्हें जीवन म कभी मिला ही नही था। सादीपनि-आश्रम मे भी श्रीकृष्ण का स्नेहिल स्वरूप देखा था उन्होंने पर आज की तरह द्रवित होते तो कभी नहीं पाया उन्हें।

'ये मेरे बाल सखा हैं। गुरु भाई।' विस्मित खड़े द्वारपालों के लिए ये शब्द कहे थे श्रीकृष्ण ने और सुदामा को अंक में समेटे ही महल की ओर उन्मुख हुए थे। सीधे रुक्मिणी के कक्ष में पहुंचे थे और सुदामा के साथ ही पर्यंक पर आसीन हो गए थे। रुक्मिणी ने तब तक अर्घ्य पाद्य का प्रबन्ध कर लिया था किन्तु यह अद्भुत दृश्य देख वह पर्यंक के पास ही अवाक् खड़ी थी। उन्होंने समझा था कुछ नहीं तो एक सामान्य नगर-जन की तरह तो होंगे ही श्रीकृष्ण के सखा जिसके लिए वे उफनती नदी की तरह भागे थे महाद्वार की ओर और जिसकी चर्चा करते वे घण्टों नहीं थकते थे। पर यहां तो एक दीन-हीन धूल-कीचड़ सना, मलीन और श्रान्त-क्लान्त भिक्षुक बैठा था पर्यंक पर। इसके लिए साधारण अर्घ्य-पाद्य से क्या होगा? इसके तो पाद प्रक्षालन में ही दो चार कलश जल की आवश्यकता पड़ेगी।

'देखती क्या हो रुक्मिणी पर पखारो मेरे सखा के।' श्रीकृष्ण ने लगभग आदेश के स्वर में ही कहा था और रुक्मिणी स्वर्ण थाल में सुदामा के पैर प्रक्षालन की औपचारिकता निभाने बढ़ी थी।

'नहीं नहीं, तुम नहीं मैं पैर धोऊंगा अपने बाल सखा के।' कहते हुए वे पर्यंक से नीचे आ गए थे और सुदामा के पैरों को अपने हाथ में ले लिया था। रुक्मिणी स्वर्ण पात्र से जल उड़लने लगी थी।

श्रीकृष्ण की आंखों से पुनः अश्रुपात होने लगा था। कभी पदत्राण का मुख नहीं देखे और मार्ग के कुश-कांटों से विवर्ण हो आए बिवाइयां भरे सुदामा के पैर लगा श्रीकृष्ण के कमल कोमल करों को रक्त रंजित कर देंगे।

'हाय सखा! तुम्हारी यह स्थिति?' एक ही वाक्य निकला था उनके मुख से और फिर वे पूरी तरह उनके पाद प्रक्षालन में लग गये थे। कहना कठिन था कि अश्रुधार से धुल रहे थे उनके चरण अथवा रुक्मिणी द्वारा गिराये जा रहे स्वर्ण-पात्र की पतली जल धार से। फिर भी इस मध्य कई बार पास खड़ी दासियां उस पात्र को भर गई थीं। सभी स्तब्ध थीं विस्मय विमुग्ध। पहल-पहल ऐसी अद्भुत घटना घट रही थी पटरानी के महल में।

'सखा स्नान सम्पन्न कर लो।' पाद प्रक्षालन के पश्चात श्रीकृष्ण ने प्रस्ताव रखा।

सुदामा के असमंजस का अंत नहीं। वे स्नान तो कर लेंगे पर वस्त्र के नाम पर उनके पास क्या है जिसे वे स्नानोपरान्त धारण करेंगे? मार्ग भर तो एक ही वस्त्र पहने आये हैं। स्नान कर गीले वस्त्र में ही संध्या-वन्दन करते रहे। शरीर पर ही वह वस्त्र सूखता रहा। इधर समुद्र जल ने उस जब से भिगोया उसे सूखने का भी अवसर नहीं मिला। वस्त्र की याद आते ही कांख के नीचे दबाई पोटली की याद आई। अभी तक उसे पूरी तरह छुपाये हुए थे। मार्ग में तो सोचा था कि जाते ही जाने इस सखा के समक्ष रखेंगे—लो तुम्हारी भाभी ने दिया है यह प्रमोहार। पर यहां के वैभव को देख इस बात को मन से ही निकाल दिया था। चारों ओर बिखरे ऐश्वर्य—स्फटिक के आंगन रत्नजटित विशाल स्तम्भ मणि दीप स्वर्ण निर्मित पर्यंक आसमान छूते मंदिर शिखर दरवाजा और गवाक्षों पर झूलते रजत स्वर्ण-खचित रेशमी पर्दे—के अवलोकनोपरान्त वह पोटली उस परिवेश में अब उन्हें चिनांशुक पर लगे टाट के पैबंद सी ही लग रही थी। उन्होंने

हडबडी म और ठीक से छिपाना चाहा था उसे कि श्रीकृष्ण की दृष्टि उस पर पड गई। बात समझत उन्ह देर नही लगी और स्नान की बात को अभी स्थगित कर उन्होने सीधे पूछा—"भाभी ने मेरे लिए कुछ भेजा होगा अवश्य। खाली हाथ वह तुम्हे यहा आन देंगी, यह मैं मान नही सकता।"

सुदामा की स्थिति बडी विचित्र हो गई। मिथ्या कथन के व आदी नही थे। वेद-वेदान्त के पारगत विद्वान् स यासव्रतधारी सुदामा झूठ बोलें यह हो नही सकता था और सत्य यहा इतना महगा पड रहा था कि उसे कहा नही जा रहा था। पोटली को और अच्छी तरह छुपा लेने के सिवा कोई उपाय नही था। वे इसी उपक्रम म लग गए पर छिपाते भी तो कितना और कहा? शरीर के वस्त्र तन को ही ढकने को पर्याप्त नही थे एसी स्थिति म पोटली का तो बाहर झाकना ही था, लाख उस छिपाने का प्रयास करो।

चोरी की आदत अभी नही गई। गुरु-पत्नी के चने तुमने चोरी-चोरी चबाय थ उसका फल तो देख लिया न। अब भाभी की इस पोटली को चुराये जा रह हो, इसक परिणाम पर ध्यान दिया है? लाओ इसे।" और श्रीकृष्ण न सुदामा की कुक्षि क नीचे स उस खीच लिया। खोलने की आवश्यकता नही पडी। जीण शीण वस्त्र स्वत फट पडा और चिउडे के दाने फश पर बिखर गए। श्रीकृष्ण न झटपट उन्हे समटा और एक पूरी मुटठी मुह म डाल ली। प्रेम-पूवक उसे चबा गए तो बोले—"वाह, क्या स्वाद है भाभी के चिउडो म। मा यशोदा का माखन भी तो इतना स्वाद-पूण नही था।"

सुदामा शम स भर कर सिर छिपाने का स्थान ढूढने लगे। एक तो मगनी के मागे विद्रूप, स्वादविहीन चिउडे, दूसरे समुद्र के खारे जल मे पूरी तरह भीगे, और य कह रहे हैं बडे स्वादिष्ट हैं ये। श्रीकृष्ण ने दूसरी बार मुटठी भरी और चिउडा को मुख मे डालने ही जा रहे थे कि रुक्मिणी न हाथ पकड लिया—

इतना स्वार्थी नही बनो। भाभी की सौगात को हम भी चखने का अधिकार है। श्रीकृष्ण विवश हो गए। वे रुक्मिणी के भय को समझ पा रहे थे। वह जानती है उनके स्वभाव को। मुफ्त म नही लेते वह कुछ। जो कुछ लिया उसे लक्ष गुना कर लौटात है। दूसरी मुटठी के चिउडे क भक्षण के पश्चात शायद रुक्मिणी को यह भवन खाली करने को भी बाध्य होना पडता। उन्होंने हाथ रोक लिया— 'ल जाओ खा जाओ तुम सभी। पर तुम्हे वह स्वाद कहा मिलगा जो मुझ मिला है। भाभी तो मरी है तुम्हारी नही।'

रुक्मिणी फश पर झुक कर चिउडे के दान दाने चुन अन्दर भागी। खाना तो उन्हे नहा था इन सडे दानो को पर एक दान का भी वहा रहना खतर से खाली नहा था। एक मुटठी म ही कितना कुछ चला गया था इसका अनुमान लगा सकती थी वह।

उन्तीस

जब स सुदामा घर से निकल थे सत्या का दायित्व बढ गया था। अपने और बाल बच्चो क पालन-पोषण का भार उसक कधो पर आ पडा था। पर इसम उसे

विशेष कठिनाई का अनुभव नही हो रहा था। सुदामा एक सत्यनिष्ठ गहस्थ स यासी के रूप मे पूरे इलाके म प्रसिद्ध थे, अत उनकी अनुपस्थिति म इस परिवार की सहायता करनेवालो की कुछ कमी नही थी। दूसरे, सबको विश्वास था कि सुदामा जब अपने बाल सखा द्वारिकाधीश के पास गए हैं तो वहा स भरा पूरा होकर ही लौटेंगे अत सभी मुक्त-हस्त सहायता कर रहे थे। सत्या सुदामा की तरह भिक्षा वृत्ति नही अपना सकती थी परन्तु लोगो के सौहाद को आदर देन क अलावा उसके पास और कोई यत्न भी नही था। वह सबका एक-एक कण लौटा देगी इस आशा म ही वह उनकी सहायता ग्रहण कर रही थी।

पर जब दिन सप्ताह म और सप्ताह महीने म बदलने लगे तो सत्या की चिन्ता बढी। उसे पश्चाताप होने लगा अपनी दुर्बुद्धि पर। व्यर्थ ही उसने सुदामा को सकट मे डाला। द्वारिका तक का माग कितना कठिन था वह जानती थी। उस पर सुदामा की कृश ककालवत काया। क्या वे द्वारिका पहुच भी पाये होगे या पथ म ही । नही नही सत्या के मन ने उसे सान्त्वना दी थी। सुदामा श्रीकृष्ण से मिलने जा रहे थे। ऐस म कोई आपत्ति उन पर आ नही सकती थी। सुदामा ही तो कहते थे कि उनका बाल-सखा अपनी अपूव साधना क बल पर सवज्ञ हो आया है। लोग उसे परमश्वर के रूप म पूजने लग है। ऐसी स्थिति म क्या श्रीकृष्ण ने सुधि नही ली होगी सखा की माग म ? सत्या ने सुन रखा था भक्त यदि भगवान की ओर एक पग बढाता है तो भगवान उसकी ओर सौ पग बढाते है। अगर श्रीकृष्ण सचमुच भगवान है सत्या के भावुक मन ने तक किया तो उनकी ओर बढ चले सुदामा के पगो का उन्हे पता नही होगा ? सुदामा तो कहते थे अपन सच्चे अनुयायियो के योग क्षेम का वहन वे स्वय करत है तो क्या अपने असहाय सखा को वे माग की बाधाओं से भी नही बचायेंगे ? नही नही सुदामा अवश्य द्वारिका पहुचेंगे सत्या ने अपने को आश्वस्त करने का प्रयास किया था।

और सुदामा पहुच थ द्वारिका यह बात सत्या को माह लगते लगते पता लग गई थी। तो इतनी दूरी थी अवन्तिका से द्वारिका की ? सत्या ने सोचा था और जो कुछ अकस्मात उसके यहा और उसके ही नही, आस-पास क सभी ग्रामो मे घटने लगा था, उससे वह अवाक हो आई थी। इतने कुछ की तो उम्मीद ही नही थी उसे। तो सुदामा पहुच थे द्वारिका सत्या के समक्ष यह सत्य अदभुत और अप्रत्याशित रूप मे प्रकट हो रहा था। सब कुछ बदल रहा था बडी तीव्रता से उसके यहा भी दूसरो के यहा भी। क्या सुदामा को इस सबका पता होगा सत्या सोच रही थी। शायद हा शायद नही। श्रीकृष्ण यदि उनसे पूछ कर यह सब करते तो सुदामा का सन्यासी-मन इतने कुछ के लिए उन्हे अनुमति ही नही देता। नही यह सब कुछ सुदामा के अनजान हो रहा था और सत्या को लग गया जब तक यह सब पूरा नही हो जायगा श्रीकृष्ण छोडेंगे भी नही सुदामा को। पर अब कोई चिन्ता नही थी। यहा की चिन्ता तो निशेष हो ही गई थी। सुदामा को लेकर भी अब कोई चिन्ता नही थी। सुदामा पहुच गए थे द्वारिका। अपना लिया था भगवान ने भक्त को। नही भक्त का ही नही उसके स्वजनो-पुरजनो को भी।

तीस

इधर सुदामा की स्थिति चिन्त्य थी। द्वारिका आए उन्हे एक माह हो गया था। इस मध्य श्रीकृष्ण ने उन्हे अपने विशाल रथ म बठाकर नगर के प्रमुख स्थलो के परिभ्रमण करा दिए थे। अनेक बार सारथ्य उन्होने ही किया था। अपनी गजशाला अश्वशाला स लेकर शस्त्रागारो तक को उन्होने उन्ह दिखाया था। अनेक बार राजकीय जलयान म बैठा सागर-तल पर दूर-दूर तक सतरण भी कराया था। व ही तरगें जो उस दिन उस छोटे यान को किसी क्षुद्र काष्ठ-खड की तरह उठा-पटक रही थी और उनके प्राणो को सकट म डाल रही थी इस बडे यान का वे कुछ नही बिगाड पाती थी और सुदामा अपने सखा के साथ, सागर के वक्ष-स्थल को चीरत, इस यान पर सवार अपना भाग्य सराह रहे थे।

पर कही गहरे बहुत चिन्तित थे सुदामा। चिन्ता सत्या को लेकर थी। दो माह से वह उससे दूर थे। एक माह तो प्राय माग मे ही लग गया था और एक माह द्वारिका आए हो गया था। सत्या ने, बच्चो ने, इस अवधि को कसे काटा होगा? भिक्षाटन करने भी तो वह ब्राह्मण-पत्नी नही जा सकती थी? तब? तब वे क्या करें? सत्या ने जो किया उसका परिणाम वह भोगे। उसे क्या पता नही था कि उन्हें बलात दूर भेज रही है तो आने-जाने म तो समय लगेगा ही और फिर जाता व्यक्ति अपन मन से है, आता है दूसरे के मन से। अब क्या उन्होने कम कहा श्रीकृष्ण स कि उन्हे जाने दें पर वे कहा सुन रहे उनकी? सत्या की तो जसे उन्हें कोई चिन्ता ही नही। जिस भाभी के चिउडे इतने प्रेम स खाये उस पर क्या बीत रही है, यह सोचने का भी जसे उनके पास समय नही। और इधर सुदामा का तो काया-कल्प ही हो गया था। शरीर के जीर्ण शीण वस्त्र तो उसी दिन उतर गए थे और राजसी वस्त्रो से सजे वे रथ म बठ विचरण कर रहे थे। कभी स्वप्न म भी नही चख भाति भाति के भोज्य पदाथ खाते-खात तो उनका ककाल कब का भर चुका था और वे अपनी उम्र से कुछ नही तो दस वप छोटे लगने लगे थे।

किन्तु अब नही। इतनी निष्ठुरता भी ठीक नही। अब उन्ह जाना ही चाहिए घर वरना पत्नी और बच्चो पर क्या बीत रहा हो पता नही।

आज वे अड ही जाए अपने सखा क सामने—'अब तो मुझे जाने ही दो वरना तुम्हारी भाभी मेरी चिन्ता म प्राण ही त्याग देगी।''

'भाभी की इतनी ही चिन्ता थी तो यह सन्यास का ढोग क्या रचा? कुछ कमात-खात रहत तो आज यह दिन कसे देखना पडता?

'अब मुझे अधिक लज्जित नही करो,' सुदामा ने कहा 'मैं प्रण करता हू कि अपनी मूढता को मैं अब कभी अपने पर हावी नही होने दूगा। सन्यास को दी मैंने तिलाजलि। कम को मैंने माना सवस्व। तुम्हार साथ एक माह रह कर मैंने बहुत कुछ सीखा है। एक क्षण भी तो मैंने तुम्ह खाली बठे नही पाया। मैं अब पूरी तरह समझ गया कि प्रकृति का कोई अवदान अनावश्यक नही है। प्रकृति अथवा परमेश्वर ने मनुष्य को जो एक मस्तिष्क और दो हाथ दिए है उन्ह यो ही अकमण्य पड रहने दन के लिए नही। मस्तिष्क स योजनाए बना कर हाथो स उनका निष्पादन ही उस परम पुरुष के इस विशिष्ट अवदान का उद्देश्य है।

तुम तो पण्डित हो आए सुदामा' श्रीकृष्ण ने सखा का कधा थपथपाते हुए

कहा, ' हा इसम एक बात और जोड लो जो भी करो नि स्पृह भाव से। निस्संगता के साथ। बधो नही कम से। और यह तभी होगा जब तुम यह सोचना बद कर दोगे कि तुम्हारे प्रयास का फल तुम्हारे अनुकूल होने जा रहा या प्रतिकूल। अर्थात परिणाम की चिन्ता किए बिना काय करते जाओ। यहा भी प्रकृति स कुछ सीखने की आवश्यकता है। सुनहली धूप निकलती है। वह किसी के लिए वरदान बन जाती है किसी के लिए अभिशाप। कितनी कलिया उसके स्पश से ही फूल बन आती है और कितने कोमल किसलय मुर्झा जाते हैं। कमल प्रस्फुटित होता है तो कुमुदिनी मुह लटका लेती है। वर्षा होती है। धरित्री धन्य हो जाती है। नव अकुर फूट आते है उसके गभ से। पेड-पौधे नव घन के पयदान स परितप्त हो प्रसन्नता से नाच उठते हैं। पक्षी प्यास बुझाते हैं पशु आनन्द मनाते हैं। पर यही बरसात नदिया म बाढ ला प्रलय की सृष्टि कर देती है। मनुष्यो की बस्तियां इस बाढ म बह जाती हैं। जिनके सिर पर छप्पर तक नही उनके लिए यह वर्षा भारी असुविधा का कारण बनती है। वे शरण की खोज म वक्षा की ओर दौडते हैं। अपन भाग्य को कोसते हैं। जिनके शरीर पर एक से अधिक वस्त्र नही उनके लिए तो प्रकृति का यह पय-पान विष-पान से अधिक क्या होता है? शरीर का वस्त्र सूखने नही पाता दिनो तक और वे ठड से ठिठुरते रहते हैं। पक्षी तो अपने पखा पर ही इन जल बूदो को झल जाते हैं पर प्रकृति मनुष्य से पक्षियो की तुलना म अधिक ही अपेक्षा रखती है अत वह उन्हे अपने प्रयत्न से ही अपनी रक्षा की अपेक्षा करती है। इसके बाद भी कुछ वह नही सीखे ता दोष किसका है?

मैं सब कुछ समझ गया सखा। सुदामा ने श्रीकृष्ण को आश्वस्त करना चाहा, तुम्हारे साथ एक माह तक सम्पन्न वार्तालाप ने तो मुझे बहुत कुछ सिखाया ही है तुम्हारे आचरण से मैंने कुछ कम नही सीखा। मैं अब पूरी तरह परिवर्तित होकर यहा से जा रहा हू।

तुम जा कहा रहे हो? अभी मेरी अनुमति तुम्हे मिली कहा? श्रीकृष्ण ने सुदामा के निणय की व्यथता की उन्हे याद दिलाई। ठीक ही थी यह बात। सुदामा के लिए श्रीकृष्ण अब केवल सखा नही थे वह यह पूणतया अनुभव कर चुके थे कि श्रीकृष्ण सचमुच योगेश्वर से परमेश्वर बन आये थ। उनकी सारी प्रजा इसी दृष्टि से उन्हे पूजित प्रशसित करती थी। जो बात वह सुनते आये थ एक माह तक यहा रहकर उन्होने उसे प्रत्यक्ष देखा था।

और उस दिन श्रीकृष्ण ने स्वय उन्हे प्रस्थान की अनुमति दे दी थी। लगा एक माह तक वह शायद किसी अभियान-अनुष्ठान म लगे थ जो आज पूण हो आया था इसीलिए उन्होने भोजन शयन से निवृत्त होते ही सुदामा को सम्बोधित किया भाभी की याद बहुत आती हो तो अब तुम जा सकते हो मित्र। सुदामा प्रसन्नता से भर उठे। वे क्षण भर म ही प्रस्थान को प्रस्तुत थ। तयारी ही क्या करनी थी? सामान के नाम पर थे शरीर पर पडे वस्त्र। श्रीकृष्ण ने उन्हे अलग से कुछ देने की आवश्यकता नही समझी थी। सुदामा निराश अवश्य हुए थ। सत्या को जाकर वे क्या दिखायेंगे? मात्र शरीर के राजसी वस्त्र? ये वस्त्र भी उस झोपडी म कस लगेगे? जाते-जाते ही तो इसे उतार रखना होगा। पर इन्हे उतार कर वे पहनेंगे भी क्या? उनके पुराने जीण शीण वस्त्र तो यही रह गए। अगर श्रीकृष्ण और कुछ नही तो उनके पुराने वस्त्र ही उन्हें प्रदान कर देते तो वे

अपन को धन्य मानते।

लेकिन सुदामा की आशा अभी भी समाप्त नही हुई थी। विदाई की वेला के समय श्रीकृष्ण के परिवार के सभी सदस्य तो उन्हे प्रणाम निवेदित करेंगे ही। और एक-दो हैं श्रीकृष्ण के इस भरे-पूरे परिवार म ? रानियो, पुत्रो पुत्र-वधुओ और पौत्रो की सख्या गणना मे भी आती है क्या ? श्रीकृष्ण ने शायद उसी अवसर को उनके दारिद्र्य को समाप्त करने के लिए सुरक्षित रखा है। अगर परिवार का एक एक सदस्य, एक एक स्वण मुद्रा भी उनके पैरो पर रखता है तो सहस्रो स्वण मुद्राए हो जाएगी उनके पास। तत्काल उनकी समस्या का समाधान तो हो जायगा। उसके पश्चात क्या करना है वे जान चुके हैं। कुछ नही तो कुटी के सामने के आकपित क्षेत्र को ही कर्षित कर वे परिवार के पालन पोषण भर अन्न उत्पन्न कर लेंगे। पीछे के भाग म कपास के पौधे उगा लेंगे तो वस्त्र की समस्या का भी समाधान हो जायगा। सत्या दिन भर बैठकर खीझती ही रहती है। रुई को कात-बुनकर वह पूरे परिवार के वस्त्र की आवश्यकता की पूर्ति तो कर ही लेगी। लडके बडे होने जा रहे है, व भी दाना के हाथ बटायेंगे। यहा मिली स्वण मुद्राओ से वे कृषि के औजार और दो वृषभ खरीद लेंगे। वर्षा की उस क्षेत्र प्रदेश म कुछ कमी नही। निशेष हो गया उनका दारिद्र्य। लद गए उनके विवशता और दीनता के दिन।

सुदामा ऐसा सोच ही रहे थे कि श्रीकृष्ण का रथ उनके सामने खडा कर दिया गया। ब्रह्म-मुहूर्त का समय ही प्रस्थान के लिए उपयुक्त समझ गया था। तीव्रगामी अश्वो से जुते इस रथ पर सवार वे एक माह की यात्रा एक दिन म ही समाप्त कर सकते थे। सुदामा अन्दर से उदासे बन रथारूढ होने को प्रस्तुत हुए। प्रात की उस वेला म परिवार के सारे सदस्य अपने अपने महलो म नित्य कर्म मे लीन थे। सुदामा को विदा देने के लिए पति-पत्नी श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के सिवा और कोई नही था और वे भी खाली हाथ। उनके पुराने वस्त्रो को भी उनके साथ कर देने की आवश्यकता नही समझी गई।

चलते समय श्रीकृष्ण ने उन्हे एकटक देखते हुए इतना ही कहा "जो कुछ हुआ है भाभी के लिए हुआ है सखा। तुम अपने कर्म से कभी मुख नही मोडने की बात को नही भूलना।

क्या हुआ है ? खाक हुआ है ? रथ पर बैठे सुदामा मन ही मन सिर पीट रहे थे। भाभी के चिउडे भी उधार के उधार रह गए। वह उस पडोसन को अब कौन-सा मुह दिखायगी ? दो मास के प्रवास के बाद लौटा पति ऐसी अकिंचन अवस्था म आयगा इसकी कल्पना भी सत्या को होगी क्या ? कुछ कम अरमान और आशा से भेजा था उसने सुदामा को द्वारिकापति के यहा ? किस तरह फिर गया पानी इन सारी आशाओ आकाक्षाओ पर ! इसीलिए तो व कभी मुह नही कर रहे थे इधर—श्रीकृष्ण की सम्पन्नता की सारी कहानिया को सुनते जानते के बाद भी। पर आखिर मिट्टी पलीद कर ही दी पत्नी ने। अपमानित ही नही आहत भी अनुभव कर रहे थे सुदामा अन्दर ही अन्दर। वायुवेग म भागते रथ की गति भी उनके अन्दर किसी आनन्द उल्लास की सृष्टि नही कर पा रही थी। वे तो उस घडी की कल्पना कर रहे थे जब सत्या से उनका सामना होगा और उनके राजसी वस्त्र को देखकर वह उनकी तरफ आशा म भरकर लपकेगी और उन्हें

खाली हाथ था अपना सिर पीट लगी।

सुदामा का सोचना जारी ही था कि रथ रुक गया। अनकचा कर चारों ओर देखा था तो दिन प्राय समाप्ति पर था। सूरज पश्चिमी क्षितिज पर अस्त होने होने को आया था।

रथ जहां रुका था वहां एक सम्पन्न नगर बसा था।

"यहां क्यों ?" सुदामा ने सारथी से पूछा।

"यहीं तक आपको छोड़ने का आदेश था।" सारथी ने नतमस्तक होकर कहा, "आपका गन्तव्य आ गया।"

खाक गन्तव्य आ गया, सुदामा खीझे। यह तो एक भरा-पूरा सम्पन्न नगर था। स्वर्ण मण्डित महल शिखर डूबते सूरज की किरणों का स्पर्श ले चमक उठे थे। व्यस्त सड़कों पर भाग-दौड़ मची थी। उनके किनारे की दुकानों में बहुमूल्य वस्तुएं भरी पड़ी थीं। यह सब सुदामा दूर से ही देख रहे थे।

"तुम आगे बढ़ो। मेरा स्थान अभी नहीं आया। आते समय मार्ग में यह दृष्टि में तो नहीं पड़ा था। तुम शायद मार्ग भी भूल गए हो।" सुदामा रथ पर ही जमे रहे।

"क्षमा करेंगे। मैं स्वामी के आदेश का उल्लंघन नहीं कर सकता। आपको यहीं तक पहुंचाने का आदेश था," सारथी ने कहा और हाथों का सहारा दे सुदामा को धरती पर उतार दिया। उनके चरणों का स्पर्श किया और रथ को मोड़कर लौट चला।

सुदामा विस्तृत राजमार्ग के एक किनारे खड़े रहे। स्तब्ध। किंकर्तव्य विमूढ़। संध्या की इस वेला में किधर जाएं वह? अच्छा लीलाधारी निकला उनका यह बाल सखा श्रीकृष्ण। बाल्य-काल की हास-परिहास की प्रवृत्ति अभी तक नहीं गई। पर ऐसा भी कहीं कोई परिहास करता है? अब घिरते आते अंधकार में किधर ढूंढे सुदामा अपना पथ? मार्ग भर चिन्ता-ग्रस्त रहने के कारण उन्हें तो यह भी ध्यान न रहा था कि कब एक बड़े जलयान पर चढ़ाकर उनके रथ को सागर पार कराया गया और कब वह विस्तृत मरु कान्तार पार हो गया। उन्हें तो लग रहा था कि कहीं अभी वह मरुभूमि पार करनी शेष ही हो तो इस बार तो वे गत प्राण हुए बिना नहीं रहेंगे।

इकतीस

एक रथ के बाद यह दूसरा रथ? वैसा ही भव्य उतना ही विशाल। वैसे ही श्वेतवर्णी अश्व। उसी तरह स्वर्ण मण्डित जिस डूबते सूरज की सुनहरी किरणें सोने में ही स्नात करती प्रतीत होती थीं। सुदामा अकचकाए। कहीं श्रीकृष्ण का सारथी उन पर तरस खाकर वापस तो नहीं लौट आया। वे अपनी चिन्ता में सारथी के चेहरे का ठीक से देख भी तो नहीं पाये थे। मार्ग भर तो पश्चात्ताप भरे रहे थे कि व्यर्थ ही गए दो मास। श्रीकृष्ण ने जस का तस वापस कर दिया।

उनकी पोटली के बदले कम और कम यो । के उपदेश की अपनी ज्ञान गठरी थमा कर।

"महारानी ने आपको बुलाया है।" सारथी ने रथ से नीचे उतर निवेदित किया।

"कौन महारानी?" सुदामा के मुख से अनायास निकला। क्या महारानी रुक्मिणी ने वापस बुलाया है, सुदामा ने सोचा। शायद उनके लौटने पर लोगों को पश्चात्ताप हुआ हो कि बेचारे बाल-सखा को खाली हाथों ही वापस कर दिया। पर नहीं, दूसरे ही क्षण सुदामा को अपनी भूल का बोध हुआ, सारथी इतना शीघ्र द्वारिका जाकर वापस कैसे आ सकता था?

"महारानी सत्या जी।" सारथी ने उत्तर दिया।

सत्या! सत्या तो उनकी पत्नी का नाम है। वह कब से महारानी बन गई? अवश्य कहीं कुछ गड़बड़ हो रहा है। शायद सामने के इस नगर की महारानी का नाम भी सत्या हो, पर वह क्या उन्हें बुलायेगी? सन्यासी सुदामा को? पर अभी तो वे सन्यासी नहीं थे। राजसी वेश में थे। कहीं सध्या समय में एक राजपुरुष को अपनी अतिथिशाला में आतिथ्य स्वीकार करने के लिए ही यह निमन्त्रण हो। पर क्यों जायेंगे सुदामा? ऊपर के वस्त्र भले राजसी हों, अन्दर से तो वे वही भिक्षुक सुदामा हैं।

'मैं नहीं जाता किसी महारानी से मिलने," सुदामा ने सारथी को उत्तर दिया, "कैसे मालूम तुम्हारी महारानी को मेरे बारे में?

"उन्होंने अपने महल के गवाक्ष से उस विशाल रथ को यहां रुकते और लौटते देख लिया है। वे समझ गई हैं कि आप ही उतरे होंगे उससे।" सारथी ने निवेदन किया।

"आप अर्थात्, सुदामा कुछ नहीं समझकर बोले।

"आप क्या अपने को भी नहीं पहचान रहे? आप अर्थात् इस क्षेत्र के महान ज्ञानी वेद-वेदान्त पारगत महाराज सुदामा!"

"और तुम?

'हो क्या गया है आपको? मैं अर्थात् पास के गांव का ही आपका एक भक्त। कई बार आपने मेरे दरवाजे से । ' वह अधिक नहीं कह सका।

"आह! तुम्हारे इन बहुमूल्य वस्त्रों के कारण तुम्हें नहीं पहचान सका। और यह रथ कहां मिल गया तुम्हें?

मुझे कहां से रथ मिलेगा? यह रथ तो आपका है। मैं आपका सारथी नियुक्त हुआ हूं।'

'मेरा रथ? तुम मेरे सारथी? सत्या महारानी? यह सब कौन-सा खेल है? क्या बात जा रहे हो तुम? सुदामा अचकचाकर बोले।

यह खेल तो सब आप ही का है।' सारथी ने उनके पैरों का स्पर्श कर कहा 'उधर आप द्वारिका पहुंचे, इधर परिवर्तन आरम्भ हो गया यहां।'

मेरी कुटिया कहां गई?

'वह महल बन गई।

और यह नगर कहां से प्रकट हो गया?

आस-पास के सभी गांवों के घर कुटिया, महल में बदल दिए गए। सारे

गाव मिलकर यह नगर बन आया। सभी घरा म अन्न तो अन्न, आभूषण हीरे मोती का भी अम्बार लग गया। महीने भर म इस पूरे क्षेत्र का काया हो गया।

आखिर यह हुआ कैसे ?

पूरे एक मास तक रात दिन एक कर हजारा कारीगरा, मजदूरो अ शिल्पियो ने यह सम्पन्न किया। इसके पश्चात रथो पर लाद लादकर सभी घरो सम्पत्ति पहुचाई गई ?

किसके द्वारा ? सुदामा अभी तक कुछ समझ नही पा रहे थ औ किंकर्त्तव्यविमूढ-से खडे प्रश्न पूछते जा रहे थे।

यह भी आप मुझी म पूछते है ? आपके बाल सखा द्वारिकापति ने यह सब कराया है। अब आप घर चलें महारानी सत्या आपकी प्रतीक्षा कर रही है।

सुदामा सभ्रम म पडे-स रथ म बठ गए। जिस द्वार पर रथ राका गया वहा रगीन वस्त्रा और नानाविध आभूषणो से लदी और आरती का थाल सजाए कई युवतिया खडी थी उनम जो सबस आग थी वह अपने थाल को किसी दूसरी युवती के हाथ म पकडा आग बढी और प्रसन्नता से भर कर सबके सामन ही सुदामा को दृढ आलिंगन म बाध लना चाहा।

हरे ! हरे ! यह क्या ? पर नारी स्पश ? कहते हुए सुदामा हडबडा कर पीछे हटे।

नाथ ! मुझे आप पर-नारी समझ रहे हैं ? आवाज सुनकर सुदामा ने ध्यान स देखा यह तो उन्ही की पत्नी थी पर आभूषणो स फूटत प्रकाश न उसक चहरे को इस तरह ज्योतित कर रखा था कि उस पहचानना मुश्किल हा रहा था। सदा एक फटी मली कुचली साडी म लिपटी रहनेवाली सत्या के शरीर पर पडे रेशमी परिधान ने भी उसकी पहचान को कठिन कर दिया था।

सम्मोहित-से खडे सुदामा ने आरती उतरवाइ और सत्या के साथ महल मे प्रवेश किया।

वे अन्य युवतिया कौन थी तुम्हारे साथ—थाल सजाए ? ' सुदामा ने चलते चलते पूछा।

वे मेरी दासिया थी। तुम्हारे सखा ने मेरे चिउड के चार दानो के बदल इतना कुछ दिया मुझे। तुम्हारे लिए भी अनेक सेवक नियुक्त हो गए हैं।

बात करत-करत व एक कक्ष म पहुच गए। सुदामा फिर घबराए। यह तो ठीक वसा ही कक्ष था जसा द्वारिका म श्रीकृष्ण का शयन कक्ष। वसे ही स्वणजटित स्वणनिर्मित पलग। द्वारो और गवाक्षो पर वसे ही बहुमूल्य पर्दे। दीवारो पर वसी ही रत्न-खचित चित्रकारी। मणि दीपा स जगमगाते दीपाधार। यत्र-तत्र करीने-से सजे दनिक उपयोग के सामान—सभी स्वण निर्मित। पलग के पास ही पडा स्वण मडित पादुकाओ का जोडा। पलग म उठ कर उन्हाने उस विशाल कक्ष म जहा-तहा सजे स्वण रजत मढे काष्ठ के विशाल वस्त्र पेटियो को खोल-खोल कर देखना आरम्भ किया। वे बहुमूल्य वस्त्रा स भरे पडे थे—उनके लिए भी सत्या के लिए भी।

' अब बठिए आराम कीजिए। बहुत थक गए होंगे आप। सत्या न उन्हे खीच कर पलग पर बठाते हुए कहा कितना देखिएगा ? इस महल के सारे कक्ष

बहुमूल्य वस्तुओं से भरे पड़े हैं।"

"पर यह कक्ष तो एकदम श्रीकृष्ण के कक्ष की तरह ही है।" सुदामा ने अपने आश्चय को अभिव्यक्ति दी।

"इसमें आश्चय की क्या बात है?" सत्या पयक पर उनके पाश्व में बैठती हुई बोली, "यह तो प्रसिद्ध ही है कि योगेश्वर कृष्ण परमेश्वर से कम नहीं। तो भगवान जिसे अपनाता है उसे अपनी तरह तो बना ही देता है, पर एक बात मेरी समझ में नहीं आ रही।"

"क्या?" अभी तक आश्चय भरे चारों ओर दृष्टि दौड़ाते चकित विस्मित सुदामा ने पूछा।

"यही कि हम लोगों की कुटिया तो महल बन ही गई। इसी गांव ही नहीं आस-पास के सभी गांवों के घरों और झोपड़ियों को भी श्रीकृष्ण ने क्या महलों में परिवर्तित कर दिया और उन्हें भी धन धान्य पूरित कर दिया?"

"मैं जानता हूं इसका उत्तर।" सुदामा ने सत्या की बात ध्यान से सुनी थी।

"क्या?" सत्या ने आश्चय से पूछा।

"श्रीकृष्ण की अनेक नीतियों में एक नीति समता की भी है। वह सबको एक सदृश देखना चाहते हैं।[1] वह यह कैसे स्वीकारते कि सुदामा तो महल में रहे और अगल बगल के लोग कुटियों में?"

"इधर का तो सारा दारिद्रय ही समाप्त हो गया।" सत्या ने गहरे सोचते हुए कहा।

"यह तो होना ही था। यहीं का नहीं, मैं समझता हूं कि जहां तक द्वारिका का साम्राज्य है वहां कहां भी अब विपन्नता ढूंढने पर भी नहीं मिलेगी। मेरा जाना अच्छा ही हुआ। अपने ही दायित्वों में उलझे श्रीकृष्ण को शायद अपनी प्रजा की स्थिति को ठीक से देखने का अवसर भी नहीं मिलता होगा। मुझे देख कर उन्हें पहल-पहल लगा कि ऐसे लोग भी बसते हैं उनके साम्राज्य में भी। मेरे वहां जाने से उस समतावादी श्रीकृष्ण ने सबको सम्पन्न कर दिया होगा। धन्य है मेरा बाल सखा! कहां तो मैं मार्ग भर उनके नाम को कोसता आ रहा था और कहां उसने मुझे ही नहीं मेरे कारण इतने लोगों को इतना कुछ दे दिया।" सुदामा बोलते जा रहे थे और उनकी आंखों से पानी की धारा बहती जा रही थी।

"तो आप रो क्यों रहे हैं?" सत्या ने अपने आंचल से सुदामा की आंखों को पोंछते हुए कहा।

"रोऊं नहीं तो क्या करूं पगली?" सुदामा सिसकियों से भर कर बोले, "तुम्हें क्या पता कि मार्ग भर मैंने मन-ही मन कितना श्राप दिया है उसे। एक फूटी कौड़ी तक नहीं रखी थी उसने मेरे हाथ पर। शरीर पर पड़े वस्त्र के साथ ही रथ पर बैठा दिया मुझे। मुझे तो तुम्हारे द्वारा मांग कर लाए चिउड़ा की चिन्ता थी।"

"चिउड़ों की चिन्ता?" सत्या खिलखिलाकर हंस पड़ी, "चिउड़ा देनेवाली मेरी पड़ोसन का महल तो अपने महल से भी अधिक सम्पत्ति से पूरित हो आया है।"

---

1 समत्व योग उच्यते—गीता।

'क्यो ?

'आखिर उसी के चिउडे ने तो यह सब किया है। जिसका दान उसका पुण्य। उस तो हमसे ज्यादा सम्पन्न होना ही था।'

ठीक है। सुदामा ने कहा और हडबडा कर खडे हो गए "मुझे बठने का अवकाश नही है। यह सब तो श्रीकृष्ण की ही सम्पत्ति है। इस पडी रहने दो। मुझे तो अपने परिवार की रोटी का प्रबन्ध अपने हाथो ही करना है। मुझ अब कम के महत्त्व का पता लग गया है। मैं महल के आस-पास की धरती का कपण स्वय करूगा और तुम सबो के लिए अन्न पदा करूगा।

'यह तो ठीक। सत्या ने खिलखिलाते हुए ही उन्ह पलग पर पुन बठाते हुए कहा अभी तो रात हो आई। यह काम तो आप कल से करेंगे न ? और अकेले ही क्या कपण करेंगे आप कृषि भूमि का ? आपका हाथ बटाने के लिए इतने सेवक भी तो हैं। और मैं भी कहा खाली बठने वाली हू। अपनी दासियो के साथ मैं भी कुछ-न कुछ तो करूगी ही। आप अन्न उत्पन्न कर लायेंगे तो उसका परिष्कार और पाक तो मेरा ही दायित्व होगा ?'

बडी अच्छी बात है। सुदामा ने आश्वस्त-सा होते हुए कहा, यही शिक्षा लेकर मैं लौटा हू द्वारिका से। श्रीकृष्ण ठीक कहता है, ये दो कर मिले हैं कुछ करने के लिए। भिक्षाटन के लिए नही।

यही बात तो मैं भी बार-बार कह रही थी पर आपके सिर पर तो आपके ज्ञान की गठरी सवार थी—सन्यास और साख्य-दशन की दुहाई दे आप मुझ कुछ बोलने करने ही कहा देते थे ?

ठीक है अब सन्यासी नही हू मैं। सुदामा ने गम्भीरतापूर्वक कहा।

तो अब क्या हैं आप ?

कमयोगी।' सुदामा न एक ही शब्द कहा।

यह कम तो ठीक पर इसमे लगा योग शब्द मुझे भय से भर रहा है।

भय की बात नही। कमयोग का अथ मैं तुम्हे निश्चिन्तता स ठीक स समझा दूगा। अब कुछ खिलाओ पता नही इतने जोर की भूख क्या लग आई है।

चिन्ता समाप्त होने से। सत्या ने कहा और पाकशाला की ओर बढ गई।

बत्तीस

यह भी होना था ? माखन-चोर आदि की उपाधि तक तो ठीक। अब मणि-चोर भी बनना लिखा है उन्हे। और दधि छाछ घी-मक्खन की चोरी —छीना-झपटी— तो बीत समय की बातें हुई—बाल्यकाल की। उस समय कोई दधि चोर कहे या चित चोर मन म कोई बात उठती भी कहा थी ? बल्कि उस विनोद प्रमोद म एक आनन्द ही आता था—अनाम अनजाना। आह कहा फिसल गए यमुना पर फिसलती जल-बूदो की तरह ही गोकुल के वे भले दिन ? वहा की चादनी भीगी

रातें, गोधूलि पूरित सध्याए, ओस सने प्रात और वे रुपहली, अलसाई दुपहरियाए ? और किस विस्मृति के गर्भ मे सोकर रह गए वहा की, निश्छल सरिता सी गाय गोपिया, प्राणप्रिय बाबा नन्द और स्नेह की साकार सरिता सी यशोदा अम्मा ! विपत्ति और व्यथा के ऐसे क्षणो मे ही तो उनकी स्मृति, बरबस मानस-पटल पर नाना आयामो के साथ उभर आती है। सच स्वजन ही याद आते है सकट-काल मे। पर चाह कर भी कहा जाना हुआ उधर ? वे तो आ नही सकते सुदूर पश्चिम समुद्र-तीर-बसे इस द्वारिका-नगरी को। और वह ? कृष्ण के मन म स्मृति की एक सशक्त तरग सी उठी है।

नाम देन भी बनता है क्या उसको ? यो तो सकडो नाम दे डाले लोगो न अब तक उस। गोकुल के ग्वालबाला से लेकर मथुरा के पुरजना परिजनो और द्वारिका की अपनी ही अर्द्धांगिनी रुक्मिणी तक ने। राधा स लेकर वृषभानुसुता, कनुप्रिया और ईर्ष्या वश कृष्णार्पिता तथा विक्षिप्ता तक कह डाला लोगा ने उसे। किन्तु वही जानत हैं कितनी पवित्र, कैसी पुनीत है वह—चादनी धुली, किसी कालिन्दी-तरग की ही तरह ही। पर इन सारे नामो के बावजूद वह अपन मन म सचमुच कोई भी नाम द पाये क्या उस अनामा को ? कोई सज्ञा गढ पाए उसका ? भला अपने का भी कोई स्वय नाम गढता है ? पहचान पाता है कोई क्या अपने ही अन्दर रची-बसी अपनी ही अतरात्मा को ? शायद नही, कभी नही। कहा पूण हो पाता है आजीवन, स्वय से स्वय का ही परिचय ? अपना ही आत्मसाक्षात्कार ? तो कस नाम दे पात वह उसे जो केवल उनके अतर मे ही आसन मार नही जमी थी बल्कि उनके तन के पोर पोर, रग रग म भी रच बस गई थी ! कहने म फिर भी अच्छा लगता है आज भी—राधा। सारे नामो सारी सज्ञाओ म आज भी यहा अब भी खीचता है चुम्बक की तरह मन प्राणा को ! ज्वार जगा जाता है राजनीति-ग्रस्त हो आए अतर मन मे आज भी उसका स्मरण। सच सोख ही ले गई न द्वारिका अन्दर के सारे स्नेह-स्रोत को ? हिलारें लेत, राशि राशि सलिल सकुल सागर के कूल बसी यह नगरी कसे सुखा ले गई उनके मन के स्नेह-सलिल को हा ? और कसी निष्ठुर विवशता है यह कि चाह कर भी चढा नही पाते वह इस नाम को अपनी जीभ पर ? चौबीसो घटे अन्दर श्वासो की सीढिया पर चढ़त उतरत, हृत पिंड की धडकनो स सदा एकाकार होत इस नेह किन्तु अमृत रस-सने नाम को वह होठो की कैद से बाहर भी नही ला सकत ! कसी है यह विडम्बना ?

हा चोरी की बात चला थी। चोरी तो फिर भी चोरी ही होती है और हर बार कोई न कोई चिह्न छोड ही जाता है अपना कि उसी का छोर पकड, पकड ही बढत हैं लोग उसे। और पकड ही लिया था प्रगल्भा रुक्मिणी ने उस दिन थमत यत्न से छुपाई इस चोरी को अथवा जान-बूझकर ही चिढा बठी थी वह उन्ह सदा की तरह। राधा का भूत जो सदा सवार रहता था उस पर ! पता नही कितना न कितनी बार अपनी ओर स विष ही बनाकर उगला था इस अमृत-सदृश नाम को उसके काना म—कहन का ये कृष्ण तुम्हारे हैं। पर आज का यह द्वारिकाधीश कल का वही गोपाल है जो गोकुल की गलिया और करील-कुजा म बावला बना फिरता था उस गोपबाला राधा के पीछे, ठीक वस ही जस चादनी म किसी की परछाई भाग उसके साथ साथ।

सच बड़ा विचित्र यत्न ढूंढा था उस दिन रुक्मिणी ने उनकी चोरी पकड़ने का—अपनी ओर से तो चोरी पकड़ने का पर उनकी बात लें तो उनकी सबसे अधिक दुखती रग पर हाथ रख देने का।

'जरा इधर तो आना द्वारिकाधीश!' बड़ी इठला कर कहा था उसने, अपने स्वर में अंतर का सारा स्नेह उड़ेलते हुए। पर सम्बोधन भी क्या चुना था इस अवसर के लिए? पीछे लगा था यह जान-बूझकर उन्हें अधिक-से अधिक जताने के लिए ही था—अवमानना के अंधे गर्त में उन्हें अधिक-से अधिक नीचे उतारने के लिए। यह प्रकट करने के लिए कि आज चाहे तुम भले छत्र धारण करते हो, अपने उन्नत मस्तक पर पर कभी मयूर-पंखों का मुकुट सजाए तुम गोप-बालाओं के मन हरने में ही अपनी सम्पूर्ण बुद्धि का व्यय किया करते थे।

क्या बात है प्राण प्रिये? सच इस सम्बोधन पर झुंझलाई ही होगी रुक्मिणी, जी भर कर और जो कुछ वह कहने अथवा करने जा रही थी उसके लिए और कृत संकल्प हो आई होगी।

'इधर आना, और समीप। और कहने के साथ ही वह स्वयं सट आई थी उनके प्रशस्त वक्ष से। वे कहीं जाने को प्रस्तुत हो रहे थे। शायद आखेट को। कवच आदि से मंडित कर लिया था अपने को। इसी रूप में ही आलिंगन देना पड़ा था उन्हें पटटमहिषी को। पर अद्भुत किया था उस दिन रुक्मी अनुजा ने। कलेजे को नहीं कानों को सटाया था उनके वक्ष से उसने और जैसे लौह कवच से मण्डित वक्ष के अन्दर की धड़कन को पढ़ने में भी बड़ी सहजता से सफल हो गई थी वह।

"कृष्ण!' सहसा उसके मुंह से निकला था। प्रसन्न हुए थे वह चलो औप चारिकता का बन्धन तो काटा प्राण-वल्लभा ने। हां इससे कम उसे मानते ही कहां थे वे? राधा उनकी विवशता थी तो रुक्मिणी उनकी आवश्यकता। अगर ऐसी बात नहीं होती तो रूप की इस साक्षात् देवी के हरण तक के उस दुस्साहस पर वे उतरे भी कैसे होते जिसे सोच-सोच आज भी उनका मन कई तरह की मिली-जुली भावनाओं के चक्रव्यूह में जा फंसता है। उसके औचित्य अनौचित्य तक के विश्ले षण पर उतर आता है। किए पर सोचना कभी उनका सिद्धांत नहीं रहा उनके द्वारा प्रतिपादित और आचारित जीवन दर्शन का दूर से भी सम्बन्ध नहीं है विगत के रो-मंथन का, उसको लेकर पश्चाताप ग्रसित होने का। नदी के बह गए जल की तरह भूत समय के अजस्र प्रवाह में प्रलुप्त हो जाता है। उसको लेकर कैसा सोच कैसा अनावश्यक ऊहा-पोह, क्योंकर व्यर्थ का विवेचन विश्लेषण प्रश्न प्रति प्रश्न? पर रुक्मिणी हरण प्रसंग को लेकर कहां अब भी सामान्य हो पाये थे वह? वह तो किसी साही के नुकीले कांटे की तरह अब भी अड़ा पड़ा था उनके अन्तर के अन्दर। वह सभी के बीच से उसे अंक में भर उठा भागना रथारूढ़ होना और रथ का रुक्मी और उसके संगी सहायकों के द्वारा पीछा किया जाना। फिर उनके साथ वह निर्णायक युद्ध! अनावश्यक रक्तपात! कैसी घोर विडम्बना है यह उनके जीवन की कि जो नहीं करना चाहते हैं वह वही करणीय बन खड़ा होता है उनके आगे। कब मान्यता दी है उन्होंने संघर्ष को, युद्ध को अपने अंतर मन में? मानव के रक्त-पात से भी कोई अधिक घृणित कृत्य बन सकता है मानव के हाथों? युद्ध से भी बड़ा व्यर्थ अनावश्यक और कुरूप कलंक हो सकता है कुछ भी मानवता के देदीप्यमान भाल का? उस मानवता का जो देवत्व के समकक्ष

स्थापित करने को आतुर है अपने को ? कब युद्ध पसन्द किया कृष्ण ने ? पर होता क्या रहा अब तक ? वही तो घटित होता रहा बार-बार उनके जीवन में जिसे नहीं घटना था कभी नहीं घटना था। रुक्मिणी के लिए लड़ा युद्ध तो फिर भी छोटा था—घड़ी प्रहर का। पर जरासंध के साथ हुए अनेकानेक दीर्घ-संघर्ष ? दोनों पक्षों के असंख्य योद्धाओं की पंक्ति पर पंक्ति का बार-बार रण-क्षेत्र में शस्य के कटे पौधों की तरह बिछ जाना और इस सबके पूर्व भी गोकुल में बकासुर, अघासुर और कालिय नाग आदि के साथ के वे युद्ध ? पूतना का प्राणोत्सर्ग ? क्या यह सब चाहा था उन्होंने ? यह हिंसा, यह रक्तपात ? मनुष्य के हाथों ही, मनुष्य की निर्मम समाप्ति ? नियति प्रकृति के साथ किया जा रहा यह क्रूर अमानुषिक व्यवहार ? किन्तु थोपा गया यह सब कुछ उन पर। सब कुछ आरोपित हुआ अनचाहे अनभिव्रत, अनाहूत। और तो और अपने ही हाथों अपने ही मामा कंस के वध की बात को कैसे भूल जाए वह—अपने सारे जीवन सिद्धान्तों और स्वयं निर्धारित आदेशों के बावजूद, विगत—घवण को त्याज्य की संज्ञा देने की अपनी दृढ़ आस्था के आलोक में भी अपने ही रक्त-सम्बन्धी के संहार को समय के इस दीर्घ अन्तराल के बाद भी स्मृति पटल से धो-पोंछ देना इतना सहज है क्या ? सच नहीं जी पाता है मनुष्य अपने ही आदर्शों को ? नहीं गढ़ पाता है न वह अपने ही सिद्धान्तों के सांचे में अपने को ? पर-कटे पक्षी की तरह ही तो फड़फड़ा कर रह जाता है वह अपनी ही नीतियों नियमों के पिंजड़े में बन्द ? बार-बार ये बातें आती हैं मन में। नहीं चाहते हुए भी अतीत किसी उद्दण्ड और ढीठ आईने की तरह आ खड़ा होता है उनके मानस चक्षुओं के समक्ष और वे सारे कृत्य जिनकी ओर से वे बार-बार आंखें मूंदना चाहते हैं उनकी आंखों के समक्ष अपना कुण्ठित नर्तन आरम्भ कर देते हैं। हां यही होता है हर बार, जब जब ऐसी स्थितियां सामने आती हैं। अभी भी होता है। आगे भी होता रहेगा। जब युद्ध की संभावना बनेगी तब-तब वे संतप्त होंगे। युद्ध छोटा हो या बड़ा, उन्हें व्यथित करेगा। भले ही उसे टालने में वे सफल रहें या असफल—भले ही प्रचण्ड रूप से धधकती युद्धाग्नि में उन्हें अपने हिस्से की भी आहुति देनी पड़े पर वह विवशता ही होगी। मन से कभी समर को महत्त्व न उन्होंने दिया है न कभी देंगे। पर पता नहीं अभी भविष्य के गर्भ में क्या क्या छिपा है ? पता नहीं महाकाल कब किस महाविनाश का सहभागी तो सहभागी सूत्रधार तक बना छोड़े उन्हें ? भगवान कहा जाता है उन्हें। कम-से-कम उसका अवतार। सोलहों अंशों से पृथ्वी पर प्रादुर्भूत परब्रह्म। नहीं समझ पाए अब तक वे इस भेद को। किधर से क्या कुछ असामान्य, अलौकिक और अद्भुत है उनमें कि नर से नारायण बन बैठे वह लोगों के मध्य ? पर कहां समझ पाता है मनुष्य चाहकर भी सब कुछ स्वयं के सम्बन्ध में भी ? पर बात इतनी तो अवश्य है कि जब तथाकथित अवतार अथवा ब्रह्म भी विवश है वही कुछ करने को जिसे वह अकरणीय मानता है तो सामान्य मनुष्य नियति के दुष्चक्र से कम और क्या मुक्त कर पा सकता है अपने को ?

बात कहां से कहां आ गई। हां उस दिन रुक्मिणी के कान आ लगे थे लौह कवच-मंडित उनके वक्ष से और वह एक मन्द पर किंचित कुटिल मुसकान के साथ बोल पड़ी थी— कृष्ण !'

बोलो !

"यहा से तो अद्भुत आवाज आ रही है।'

"कहा से?'

'अब क्या कौतुक कर रहे हो? तुम्हारे कलेजे से और कहा से?'

'कौतुक मैं कर रहा हू या तुम?' उन्होने रुक्मिणी को अपने और समीप लाने का प्रयास करते हुए कहा था पर वह थी कि अपने बायें कान के अलावा और कुछ सटने ही नही दे रही थी उनके वक्ष से। 'कलेजे की धडकन ही तो पहुच रही होगी तुम तक? और लौह पर्दो का छेद कर आयगी वह तुम तक तो विचित्र तो होगी ही कुछ हद तक।'

'चुप करो। धडकन थोडे है यह?' उसके मुख की वह भगिमा वैसी ही वर्तमान थी।

"क्या है?'

"नाम है!'

'नाम?' उन्होने आश्चर्य से पूछा था।

'हा नाम। अब वह खिलखिला पडी थी होठो की वह कृत्रिम अथवा अकृत्रिम कुटिल मुसकान सावनी धूप की तरह गायब हो गई थी और पावस की निर्झरिणी की मुद्रा मे ही खिलखिलाती बोली थी वह हा नाम ही तो है वह जिसे मैं तुम्हारी हर उठती गिरती सास मे सुन रही हू। लो बता ही देती हू क्या धडक रहा है यहा—रा धे! रा धा! रा धा! रा धा! और छिटककर दूर खडी हो गई थी रुक्मिणी। खिलखिलाती, वायु-आदोलित पुष्करिणी की तरह ही तरगायित, पुलकित। और वे थे कि उन पर घडो पानी पड गया था—अब भी नही निकला है राधा का काटा रुक्मिणी के मन से?' और सच तो यह है कि वह उन्ही के मन से कहा निकल पाया है? आज भी जब चोरी का यह कलक उनके भाल मे मढा गया है तो उसी बहाने द्वारिका का यह तथाकथित मणि चोर माखन-चोर बन वृदावन के करील कुज मे जा बसा है। वृषभानुसुता के कोने मे पडा है वह—'लो राधे एक बार जो तुमने मुझे चित-चोर कहा तो चोर की यह सज्ञा लगी ही रह गई मेरे साथ। पर किससे कहू अपना सत्रास अपनी मनो व्यथा? तुमने चोर कहा तो मान लिया, गोकुल के गोप-गोपियो ने यह विशेषण दिया तो शिरोधार्य कर लिया उसे। पर अब इस कुटिल सत्राजित के द्वारा लगाया यह आरोप? कैसे पी जाऊ इस विष को? बाल्य काल का वह चचल चोर इस प्रौढावस्था मे भी सच का चोर बन जायगा क्या? तुम रहती थी तो तुम्हारे कानो मे सब दुख दर्द उडेल खाली कर लेता था अपने को। पर अब किससे कहने जाऊ। इतने लोगो से घिरा यह कृष्ण तो आज भी अकेला है नितान्त एकाकी। आज भी तो केवल तुम्हारा है तुम्हारा। और तुम्हारे नही होने ही से तो सबका होने और नही होने का कोई अर्थ नही होता। कोई गलत थोडे कहा था उस दिन रुक्मिणी ने ठीक ही सास सास मे तो बसी हुई हो तुम तो—हा तुम ही तुम हो बन्धु प्रिया। तुम्हारे बिना कृष्ण अधूरा है। किधर मे पूर्ण ब्रह्म का अवतार कहा जानेवाला यह भोला कृष्ण, राधा के बिना? और कौन समझेगा हमारे-तुम्हारे इस अद्भुत अलौकिक सम्बन्ध को? सदा शरीर के स्तर पर ही सोचनेवाला साधारण मनुष्य तुम्हारे और मेरे अशरीरी अलौकिक सम्बन्ध की प्रगाढता को कौन सी सज्ञा दे पायगा? है उसकी शब्दावली मे ऐसा कोई शब्द जो परिभाषित कर दे

हमारे सम्बन्धों की पुनीतता अलौकिकता और कहो तो इसकी विचित्रता को ही। सामाजिक अर्थों में एक-दूसरे के समीप होने की कल्पना-मात्र से भी रहित हम किस तरह एक दूसरे से अभिन्न बने रहे हैं और रहेंगे, यह बात क्या विश्व कभी ठीक से समझ पायेगा ?

अब नहीं था श्रीकृष्ण के सोच का—उनके पश्चात्ताप का। अब यह सत्राजित द्वारा लगाया गया कलंक ? इसे तो धोना ही पड़ेगा उन्हें। और चाहे अनचाहे शायद फिर वही तो नहीं करना पड़े उन्हें जिससे वह सदा बचना चाहते हैं – युद्ध। चाहेंगे कि बिना इसके भी काम चल जाय। सत्राजित के आरोप के अपराध में, द्वन्द्व युद्ध में इसे समाप्त कर देने से चोरी का कलंक तो लगा ही रह जायगा उनके माथे पर ? और तब जब जीवन के किसी प्रहर में सचमुच वह मिल गई वही उनकी प्रेरणा, उनके सारे संघर्षों के साथ ही उनके अनगिनत उत्कर्ष और उत्थान की वह एकमात्र उत्स वह, वह राधा और वह कह बैठी 'कृष्ण, तुम तो सच के चोर निकले। तो क्या उत्तर देंगे वह उसे ?

नहीं नहीं इस कलंक से मुक्ति पानी ही होगी उन्हें स्यमंतक मणि की चोरी के इस कलंक से।

तैंतीस

अभी भी सारी बातें पारदर्शी शीशे की तरह स्पष्ट हैं उनके समक्ष। वही चोरी वाली बात ! स्यमंतक की चोरी। कभी-कभी हंसी भी आती है उन्हें ! किशोरावस्था से लेकर द्वारिकाधीश कहलाने तक के जीवन क्रम में इतनी ख्याति, इतना यश अर्जित करने के पश्चात इस चौर्य कर्म का भी उत्तरदायी बनना था उन्हें ? माना संघर्ष संकुल रहा उनका जीवन मार्ग पर संघर्ष के इन असंख्य कांटों में से भी एक सुरभित सुमन की तरह ही तो प्रस्फुटित हुआ है उनका जीवन पुष्प। नहीं ? कीर्ति और उपलब्धि के सोपान दर-सोपान चढ़ते वय के जिस मोड़ पर वे खड़े हैं वहां सम्पूर्ण आर्य भूमि के नरपतियों की जय जयकार और उनके स्तुति-गान ने असंतुलित नहीं कर दिया उन्हें यही क्या कम है ? पर नहीं संतुलन खोना उन्होंने सीखा ही नहीं। सुख-दुःख मान अपमान कीर्ति अपकीर्ति सबमें सम रहना उनके जीवन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। कभी समय आया तो पूरी व्याख्या ही प्रस्तुत करेंगे अपनी इस जीवन दृष्टि की। अभी तक तो लोग उनके कृत्यों के ही साक्षी रहे हैं उनके चिन्तन, उनके दर्शन से कहां ठीक से परिचय हो पाया किसी का ? अनुकूल समय की प्रतीक्षा है उन्हें। कभी खोलेंगे वे अपने मन की गांठों को। उन्मुक्त बहेगा उनका चिंतन प्रवाह—किसी पर्वतीय प्रपात की तरह ही स्वच्छन्द, निर्मल और निर्बाध। पर अभी ? अभी तो लगा है मस्तक पर यह कलंक। पूरी द्वारिका में गत दो दिनों में चर्चा का एक ही विषय है—कृष्ण ने अच्छा नहीं किया यह ? माना स्यमन्तक मणि मूल्यवान है। शुभ है। वह जहां रहता है सम्पत्ति की वर्षा ही होती है वहां। सारे शुभग्रह कुण्डली मार कर बैठ जाते हैं उस गृह में जहां वास होता है स्यमन्तक का। मंगलमय, कल्याणमय बन जाता है वह परिवेश जहां

पैदा रहता है स्यमन्तक। विजय-श्री वरण करती है इसके धारक को। पर यह क्या कि मांगने से नहीं मिले तो चोरी ही कर लें उसकी?

हां मांगा था, अवश्य मांगा था उन्होंने स्यमन्तक को सत्राजित से। पर मांगा था अपने लिए नहीं। चाहा था उन्होंने उसे नृप उग्रसेन के लिए। असल राजा तो वही थे। भले ही कृष्ण द्वारिकापति के रूप में ख्यात थे पर राज्य तो उग्रसेन का ही था। और राज्य की सर्वाधिक बहुमूल्य एवं शुभ वस्तु को तो राजा के पास होना ही चाहिए। एक व्यक्ति के पास होने से तो स्यमन्तक मणि केवल उसी का कल्याण कर सकती है। राजा के पास आकर वह सम्पूर्ण प्रजा के कल्याण और समृद्धि का कारण बन सकती थी। तब वह सही हाथों में 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' के आय-आदर्श को अर्थ दे सकती थी। नहीं, स्यमन्तक को सत्राजित की निजी सम्पत्ति बनकर नहीं रहना था, उसे तो राज-कोष में आना ही था और यही सोचकर उन्होंने सत्राजित से मणि की मांग की थी। समझने वाले समझ गए कि अपना व्यवहार बनाने के निमित्त ही श्रीकृष्ण ने चाहा है इस देदीप्यमान मणि को। जैसे अब तक मन ही नहीं भरा उनका दैहिक साज शृंगार से! किशोरावस्था में मोर-पंख सजाते रहे माथे पर तो अब स्यमन्तक को ही मुकुट में जड़ने का शौक हो आया है उनको! उन्हें इस अवस्था में भी हवी आ रही थी। नील वर्ण पर शोभित यह पीताम्बर ही क्या पर्याप्त नहीं था उनके व्यक्तित्व को यथेष्ट आकर्षण प्रदान करने के लिए? किसी मणि-मुक्ता और रत्न आभूषण की क्या आवश्यकता थी उन्हें इस नाशवान तन को सजाने-संवारने हेतु? तन की क्षणभंगुरता और आत्मा की अमरता सम्बन्धी शाश्वत सत्य से परिचय नहीं था क्या उनका? यह विनाशशील शरीर तो अमर आत्मा का आवास-मात्र है। अधिक से अधिक उसका बाह्य आवरण, वस्त्र मात्र है यह आत्मारूपी शरीर का। निरन्तर जर्जर और जीर्ण होते होते अन्ततः निश्चित विनाश को ही तो प्राप्त होता है वह। तो इस शरीर को सजाने के लिए स्यमन्तक की चोरी के सदृश कुकृत्य पर उतरेंगे वे? जैसा सोचा है, उचित अवसर पर अपने जीवन-दर्शन की व्याख्या करेंगे वह, तब संसार समझेगा शरीर का क्या महत्त्व है उनकी दृष्टि में। पर अभी तो एक भयानक प्रश्न चिह्न बनकर ही अड़ा है यह स्यमन्तक उनके समक्ष। सभी द्वारिकावासी सत्राजित के सदृश लोभी और मिथ्यावादी की बातों में आकर बिना सोचे समझे मणि के अपहरण का आरोप लगा बैठे हैं उन पर।

दोष उनका भी कुछ कम नहीं है। सभी लोगों की तरह स्यमन्तक की चकाचौंध ने उन्हें भी तो चकित कर दिया था।

सत्राजित बहुत दिनों से द्वारिका से गायब था। कहा जाता था कि वह किसी अरण्य अथवा गुहा-गह्वर में तपस्या रत था। सूर्य का उपासक था सत्राजित। नगर में रहता तब भी सागरतीर जाकर कमर भर जल में खड़ा वह घंटों सूर्याभिमुख हो गायत्री मंत्र का जप करता रहता। सहस्र-सहस्र अंजलि भर सागर-जल से तर्पण करता वह नित्य सूर्य देव का। पर यह तपश्चर्या जैसे पर्याप्त नहीं थी और सहसा विलुप्त ही हो गया वह द्वारिका से।

लौटा तो नगर में एक अभूतपूर्व हंगामा खड़ा हो गया। नगर द्वार पर उसके

उपस्थित होते ही सम्पूर्ण नगर ही जैसे देदीप्यमान हो आया। प्रकाश का एक महान पुंज ही महाद्वार के अन्दर प्रवेश हेतु प्रयत्नशील था। भीषण चकाचौंध से सभी की आँखें चौंधिया गईं थीं और कोई समझ नहीं पा रहा था कि प्रकाश का यह अद्भुत वृत्त कैसे और कहाँ से प्रकट हो गया। सत्राजित के तन का कोई भाग भी तो दृष्टि-पथ में आ नहीं रहा था – बस प्रकाश, प्रकाश और प्रकाश। ऐसी स्थिति में अगर कोई नगरवासी उसे पहचान नहीं पाया तो इसमें आश्चर्य क्या?

स्वयं सविता (सूर्य) आपके दर्शनों को पधार रहे हैं, सूर्य मण्डल को छोड़ कर। कुछ लोग दौड़े दौड़े पहुँचे थे श्रीकृष्ण के पास। स्वयं उपासना में रत थे उस समय वह। प्रातः में पद्मासन लगाये वे स्वयं भगवान सविता के महा मन्त्र—गायत्री—के जाप में लीन थे। नित्य का यह कार्य था उनका। मंदिर के पास ही पहुँच गए लोगों के उच्च स्वर ने उनकी एकाग्रता में व्यवधान अवश्य उपस्थित किया पर वे पूजा समाप्त कर ही उठे।

क्या बात है?' अपने सहज सस्मित रूप में पूछा था उन्होंने विस्मय विमुग्ध पुरवासियों से।

"सविता, भगवान सूर्य पधार रहे हैं नगर में। आप भी तो सूर्योपासक हैं। नित्य ही मन्त्री-जाप करते हैं। प्रतीत होता है आपकी पूजा से ही प्रसन्न हो वे ।

'चुप करिए" श्रीकृष्ण ने उन्हें बीच में ही टोका मेरी पूजा-मात्र पूजा के लिए होती है। आत्म शुद्धि के लिए। कोई विशेष लक्ष्य नहीं उसका। किसी फल-प्राप्ति अथवा देव दर्शन का लक्ष्य नहीं है इस अर्चना आराधना का। किसी देवी देवता को मैं क्या कष्ट दूँगा भला यहाँ तक आकर मुझे दर्शन देने हेतु?

'पर हम मिथ्या भाषण नहीं कर रहे। स्वयं सविता । नहीं विश्वास हो तो आप स्वयं चलकर देख लें। इसलिए तो हम दौड़े पहुँचे हैं आप तक।" पुरवासी अपने विश्वास पर अडिग थे।

'चलिए।' उन्होंने अपने पीताम्बर को कन्धों पर सहेजा था और नगर-जनों के साथ लग गए थे।

सत्राजित अब तक नगर के अन्दर प्रवेश कर चुका था और नगर-मार्गों को प्रदभासित प्रज्वलित करते हुए सचमुच एक प्रकाश-पुंज की तरह ही अपने गन्तव्य की ओर बढ़ता जा रहा था वह।

देखिए देखिए, स्वयं रवि-देव ही हैं ये या नहीं? स्वयं सविता ।' नगर जनों ने समवेत कंठ से कहा था। उनके आश्चर्य का अन्त नहीं था। निर्णय के लिए वे श्रीकृष्ण-मुख की ओर निर्निमेष देख जा रहे थे।

'सविता नहीं सत्राजित है यह उन्होंने मुसकराते हुए कहा था—'स्यमन्तक मणि मिल गई है इसे किसी गिरा गह्वर में। भगवान सूर्य का प्रसाद भी कह सकते हैं इसे। पूजा अर्चना व्यर्थ भी कही जाती है? जिसे हम मात्र संयोग कहते हैं, नियति की किसी सुनियोजित क्रिया का परिणाम ही होता है वह। सच भगवान सूर्य संतुष्ट हो आए सत्राजित की साधना से। साधारण नहीं है यह स्यमन्तक मणि जिसके प्रकाश से सत्राजित सूर्य की तरह ही भासित हो रहा है। बहुत प्रभाव है इस मणि का। पर नहीं रहना चाहिए इसे सत्राजित् के पास। पात्र नहीं है यह इसका। दुरुपयोग ही करेगा वह इस महान् मणि का।'

अब लगता है यहीं पर गलती हो गई थी उनसे। सार्वजनिक अभिव्यक्ति दे

दी थी उन्होंने मणि के महत्त्व और सत्राजित की अपात्रता को। अब अगर लोग सत्राजित् के इस कथन में विश्वास करने को बाध्य हैं कि श्रीकृष्ण ने चोरी कर ली है स्यमन्तक की तो उसमें उनका दोष ही क्या ?

पर खूब निकला सत्राजित श्रीकृष्ण सोच रहे थे। एक ढेले से दो शिकार करने को उद्यत है वह—श्रीकृष्ण को बदनाम करने और मणि को वहीं सुरक्षित रख छोड़ने को। श्रीकृष्ण की निरन्तर बढ़ती कीर्ति उसके लिए सह्य नहीं हो रही थी और उन्हें अपकीर्ति से मंडित करने के अवसर के अन्वेषण में ही निरंतर लीन रहता था वह। सूर्य की उत्कट उपासना के मूल में भी यही बात थी। इस रूप में स्वयं को शक्ति-सम्पन्न कर लेना चाहता था वह कि लोग श्रीकृष्ण को भूलकर उसी के जय-गान में लग जायें। इस प्रयास में उसे सफलता क्या मिलती, पर इस मणि को प्राप्त कर व्यर्थ की अशान्ति मोल ले ली थी उसने।

सत्राजित की प्रकृति और उसके कुत्सित लक्ष्य से पूरी तरह परिचित श्रीकृष्ण मणि को उसके पास से हटाने को कटिबद्ध थे।

"इस मणि को तुम राजकीय कोषागार में जमा कर दो। उसी शाम वे सत्राजित के महल पर स्वयं पहुँचे थे और यह प्रस्ताव दे दिया था।

पर क्यों ? मणि तो मेरी अपनी सम्पत्ति है। इसे भगवान सविता ने मेरी तपस्या से प्रसन्न होकर मुझे प्रदान किया है।' सत्राजित ने छूटते ही कहा था। पश्चिम आकाश पर घिरते संध्या के अंधकार की तरह ही उसके मुख पर आशंका और भय का भाव घिर आया था।

तुम ठीक बोलते हो ?" श्रीकृष्ण ने पूछा था।

'क्या ?'

'भगवान सविता स्वयं तुम्हारे समक्ष अपने हाथों में मणि लिये प्रकट हुए थे ?'

' ।' सत्राजित के मुख से सहसा कोई शब्द नहीं निकला था।

"बोलते क्यों नहीं ?

'नहीं वे प्रकट नहीं हुए थे।

"तब ?"

फिर भी यह उन्हीं की अनुकम्पा से मिली है। आज की पूजा उपासना के पश्चात मैं पहाड़ों में एक ओर भटक गया था कि एक गुफा में यह पड़ी मिली।

'तो यह राजकीय सम्पत्ति हुई।'

कैसे ?" सत्राजित के मुख पर अंकित भय और गहरा हो गया था।

जिस स्थान पर तुम्हें यह मणि मिली वह महाराज उग्रसेन के शासन क्षेत्र के अन्तर्गत ही आता है। अतः इस खनिज सम्पदा पर महाराज का स्वाभाविक अधिकार है।'

"यह तो घोर अन्याय है।

"अन्याय नहीं, न्याय है यह। एक बात तुम बताओगे ? श्रीकृष्ण ने गम्भीर होते हुए पूछा।

'क्या ?'

इस स्यमन्तक मणि से जो तुम्हें लाभ होगा तुम्हारी समृद्धि सम्पत्ति में जो वृद्धि होगी उसे तुम स्वयं तक ही सीमित रखोगे या इससे अन्य नगरवासियों

अथवा समग्र प्रजा का भी लाभ होगा ?"

"कसी बात करते हैं आप ?" सत्राजित खीझ कर बोला। खार तो वह सदा उनसे खाये ही रहता था।

'कसी बात क्या ? एक सीधा सा प्रश्न तो पूछा है मैंने तुमसे।

'यह मणि मेरे अध्यवसाय, मेरी साधना मेरी तपश्चर्या के फलस्वरूप मुझे उपलब्ध हुई है। भगवान सविता ने विशेष अनुग्रह-स्वरूप मुझे इसे प्रदान किया है। मैं उनके इस आशीर्वाद से स्वयं को लाभान्वित करूंगा, शेष प्रजा-जन की मुझे कौन चिंता पड़ी है ?'

"यही तो यही तो, ' श्रीकृष्ण ने गम्भीर होते हुए कहा, 'स्वार्थांध हो रहे हो तुम। जो सार्वजनिक सम्पत्ति को अपना मान बैठे उससे अधिक संकीर्ण-बुद्धि कौन होगा ? सभी समान हैं। समत्व का यह भाव ही व्यक्ति की सच्ची उपलब्धि, उसकी वास्तविक सिद्धि है। तुम्हारी साधना अभी अपरिपक्व ही है। सिद्धि के शिखर पर तुम पहुंचे नहीं साधना के अनगढ़ सोपानों पर ही भटक रहे हैं अभी तुम्हारे चरण। भगवान सहस्रांशु क्या देने लगे तुझ स्वार्थ प्रेरित को यह दिव्य दान ? राज्य की सम्पत्ति है यह, राज्य कोष में ही इसे जाना है।'

"अपना दर्शन और अपना यह दीर्घ भाषण किसी और के लिए रखिएगा।' सत्राजित अपने महल-द्वार की ओर बढ़ते हुए बोला यह मणि मेरी है, मेरी रहेगी।'

"अगर मैंने इसे ले लिया तो ?" कृष्ण ने कहा तो सत्राजित मुड़ा और साथ लगे उत्सुक और अपार जन समूह को सम्बोधित करते हुए बोला—'सुन लो पुरजन, नगर के सभी सम्भ्रांत नागरिक ! क्या कह रहे हैं आपके द्वारिका पति। मणि लेकर ही रहेंगे यह। कहते हुए वह द्वार के अंदर चला गया। प्रकाश-पीड़ित लोगों के नेत्रों को मुक्ति मिली पर सभी के कानों में सत्राजित् की अन्तिम बात देर तक गूंजती रही—'सुन लें सभी सम्भ्रांत नागरिक ! मणि लेकर रहेंगे आपके द्वारिकापति !'

चौंतीस

पश्चिम-समुद्र की उत्ताल तरंगें द्वारावती के सुदृढ़ नगर-दीवारों पर पछाड़ खा रही थीं। जैसे कोई महान फणिधर व्यर्थ ही किसी पाषाण-खण्ड पर अपने फन को बार-बार पटक स्वयं को आहत करता रहे। पूर्णिमा का चांद पूर्वी क्षितिज पर अपनी सोलहों कलाओं से उदित हो, उदधि-जल को उद्विग्न कर रहा था—ज्वार-जगा सागर अपनी राशि राशि लहरों को नगर प्राचीर पर सिर फोड़ते देख रहा था—असहाय किंतु प्रसन्न तरंगायित उद्वेलित और आनंदित। पूरे तीस दिनों के पश्चात चांद जो उगा था ऊपर—नील-मणि के विस्तृत थाल में। स्वर्ण कुसुम की तरह खिला चांद।

और यही चांद था कि सागर के बीचोबीच बने श्रीकृष्ण-महल में हास-परिहास का व्याज बन आया था—निमित्त।

विशाल महल के विस्तृत प्रागण के मध्य खड़े थे श्रीकृष्ण। पार्श्व में आ विराजी थी पटटमहिषी रुक्मिणी।

'आज इस चन्द्रमा की ओर क्यों टकटकी बंधी है द्वारिकाधीश की? उनके मुखड़े से ज्यादा मोहक है क्या उसका स्वरूप?'' चौंका ही दिया था रुक्मी अनुजा ने द्वारिकाधीश का। सच एकटक देख जा रहे थे वे अमृत-बरसाते उस गगनचारी को कि पता नहीं कब किधर से आ खड़ी हुई थीं वह।

सहसा कोई उत्तर नहीं बन पड़ा था उनसे। उनकी वाग्मिता की कायल रुक्मिणी का अपने प्रश्न के उत्तर के इस अल्प विलम्ब ने ही असहज कर दिया था। तो कृष्ण का ध्यान खींचकर भी वह नहीं खींच सकी। उसका साहचर्य शायद उन्हें नहीं रुचा इस मधुवर्षिणी रात के इस क्षण जब वे शायद किसी और ।

"समझ गई, सब समझ गई।" रुआसी होकर बोली थी रुक्मिणी। उसके होठों से सदा पारिजात-पुष्प की तरह ही उन्मुक्त झरने वाले मधु भीगे शब्द आज पतझड़ के पीत पत्रों की तरह ही निकले थे—रस हीन और लड़खड़ाते।

श्रीकृष्ण समझ गए थे रुक्मिणी के शब्दों के पीछे के भाव को। उसके इंगित को। विलम्ब नहीं हुआ था उन्हें समझने में और अगर पूछ बैठें वह कि क्या समझ गई तुम तो ले बैठेगी वह नाम वृषभानु-सुता का—राधा का। हर सुन्दर वस्तु जो उन्हें खींचती है उसके पीछे राधा ही झांकती दीखती है इस पटटमहिषी को जिस पर अपना सब कुछ न्योछावर कर भी राधा के काट का उसके मन से नहीं निवारण पाये थे वह।

"कुछ नहीं बोलेंगे आप? रुक्मिणी और पास सरक आई थी और तब सन्न रह गई थी वह। दूर से दिखा कृष्ण का सुन्दर मुखड़ा बड़ा विवर्ण लगा था उसे। स्वयं ही शत सहस्र सुधांशुओं की शोभा को मात देने वाले श्रीकृष्ण-मुख पर सीधी पड़ती हिमांशु की ये पीयूष-वर्षिणी किरणें भी उनके आनन को आवृत्त करते एक अनाम अन्धकार को निःशेष करने में असमर्थ हो रही था।

"श्रीकृष्ण।' अब अपने प्रिय सम्बोधन पर उतरी थी श्रीकृष्ण भार्या। उन्हें लग रहा था द्वारिकापति नहीं गोकुल का वह अलमस्त गोपाल खड़ा था उनकी बगल में जिसने भले ही कभी ऐसी ही चांद भरी रात में ऐसी ही अमल-वर्षिणी किरणों की डोर पर असख्य गोप-बालाओं के मनों को अपनी मोहिनी सूरत से झुलाया हो, उनके निर्दोष निष्पाप समर्पण और आत्मविस्मृति को पुनीततम क्षणों का साक्षात्कार कराया हो—कुछ दिग्भ्रमित दुर्बुद्धि-जनों के शब्दों में रास रंग का खेल खेला हो पर जो सदा बाहर सिर पीटते सागर जल की तरह ही निर्द्वन्द्व और निर्विकार हो रहा। कहने को जा कह ले उसे चिढ़ाने के लिए रुक्मिणी पर उसका रोम रोम साक्षी है श्रीकृष्ण की पुनीतता और निष्कलुषता का।

'बोलो।' श्रीकृष्ण बोले थे। पर दृष्टि अभी चांद पर ही लगी थी।

'मुझे क्षमा करना प्राणेश्वर, मैं परिहास की मुद्रा में आ गई थी। आपके मुख को समीप से देखने से लगा कि चिन्ता यामिनी ने अब भी आवृत्त कर रखा है आपकी निसर्ग सुन्दर मुख-मणि को।'

'कारण का पता तुमको है प्राणप्रिये!'

पता तो है पर इसका समाधान चन्द्र मुख में ही मिलेगा क्या? आप तो सदा कर्म के कायल रहे। अकर्मण्यता को सदा ही कोसा है आपने। फिर इस

मिथ्या कलंक से मुक्त होने के लिए भी कर्म रत होने की ही तो आवश्यकता है। या नहीं ?'

मुसकराये थे श्रीकृष्ण। चेहरे को आच्छादित करता चिन्ता का अंधकार अकस्मात छंट गया था। नीलोत्पल सदश शुभ्र आनन प्रसन्नता से ज्योतित हो आया था—जैसे घने कृष्ण बादलों के चक्र-व्यूह का भेदन कर चन्द्र बिम्ब शत सहस्र राशियों से चमक पड़ा हो—खिलखिलाता, मधु बरसाता।

प्रसन्नता पूरित हो आई थी कृष्ण प्रिया। चलो मुक्त तो हुए चिन्ता के क्षणिक ही सही तनाव से द्वारिकापति पर चांद ? चांद को क्यों देखे जा रहे थे वह—निर्निमेष ? यह प्रश्न था कि निरंतर कालिय नाग की तरह ही कुण्डली मार कर बैठा था उनके मन के यमुना जल में।

"जानती हो, मैं इस चांद को क्यों देखे जा रहा हूं ?' आश्चर्य हुआ था पटट महिषी को। आखिर उनके मन के प्रश्न को पकड़ ही लिया था उस द्वारिकापति ने जिसे कुछ लोग चराचरपति भी कहते नहीं थकते। कुछ तो है ही इनमें जिसको समझकर भी आज तक नहीं समझ सकी वह। जिसके इतना समीप रही उसके व्यक्तित्व के सभी आयामों से वह सच परिचित ही कहां हो पाई अब तक ? हाथी के विभिन्न अंगों उपांगों में किसी एक को स्पर्श कर उसी को गजराज समझ बैठने वाले नेत्र-हीनों में ही एक नहीं रही क्या वह श्रीकृष्ण को उनकी समग्रता और सम्पूर्णता में समझने के सम्बन्ध में ? कल्पना के चपल विहग जिस लोक के भेदन में अक्षम रहे कृष्ण के उस मनोलोक के भेद को वह अब तक न पा सकी है तो आगे भी पा लेगी इसका क्या विश्वास है ? खैर हो वे किसी के लिए अखिल ब्रह्माण्डपति परब्रह्म और क्या-क्या उसके लिए तो वे मात्र उसके प्राणपति हैं अधिक-से-अधिक द्वारिकापति। एक हां एक है जो इन सारे भेदों को सही रूपों में जानती हो, जिसके लिए शायद इन्होंने अपने सारे आवरण समेट-सहेज लिये हों जिसके और इनके मध्य शायद भेद की कोई झीनी चादर भी नहीं रही हो। वही राधा। पर यह तो वृषभानुसुता के जन्म-जन्मांतर के पुण्यों का फल होगा। कब और किस जन्म में बन पायेगी वह राधा, जब कुछ नहीं होकर भी वह उनकी सब कुछ होगी जब कुछ नहीं अर्पित कर भी वह सर्वस्व अर्पित कर पायेगी इस ब्रह्माण्डपति को। नहीं, रुक्मिणी राधा नहीं हो सकती। होना भी नहीं चाहती वह। श्रीकृष्ण के रूप और यश कीर्ति की रज्जु ने ही बांधा था उसके मन को और उसी बंधन से विवश हो आमन्त्रित कर दिया था उसने इन्हें अपने अपहरण को। अब उतना ही पर उसी रूप और यश-कीर्ति पर संतोष कर लेना है उसे। किन्तु आज तो ग्रहण लग आया है उसी कीर्ति उसी यश-गाथा को भी ठीक वैसे ही जैसे ऊपर का यह खिलखिलाता चांद कभी उस सिंहिका-सुत राहु से ग्रसित हो आता है। पर कितनी देर रहता है वह ग्रहण ? तो क्या व्यर्थ की चिंता पाले रहे थे ये कर्म-योगी ? कर्म की ओर उन्मुख होने-मात्र ही क्या यह राहु तिरोहित होकर रहेगा या नहीं ?

तुमने मेरी बात का जवाब नहीं दिया ?' कृष्ण ने पुनः प्रश्न कर दिया तो रुक्मिणी अपने में लौटी— हां हां बताओ न तुम ही क्या इस चांद की ओर ? अपने को सहज करते हुए पूछा था उसने। पर सहसा सहज होना भी बहुत आसान था क्या ? अपने सर्वस्व को ... इस तरह व्यग्र और

असहज देखते हुए वह स्वयं सहज हो भी कैसे सकती थी ?

'गोकुल की याद आ रही थी, इस भरे पूरे चन्द्रमा को निहारते हुए।" कृष्ण रुक्मिणी की ओर सीधे देखते हुए बोले थे। कुछ क्षण पहले ही लौट आई उनके स्निग्ध मुख की स्वाभाविक छटा चेहरे पर सीधी पडती चन्द्र किरणों से और निखर आई थी। सच इतना सौन्दर्य ? बाहर दीवारों पर अपनी असख्य लहरों के हाथों से थपकियां देते सागर की विशालता और अनन्तता से भी तुलना की जा सकती थी क्या इस सौन्दर्य राशि की ? नील मणि से मुख पर सोने का लेप सी लगाती यह सुनहली चांदनी जिस आकर्षण का सृजन कर रही थी उसे कौन सा नाम दे पायेगी वह ? किससे हां आखिर ससार की किस जानी सुनी वस्तु से तुलना कर पायेगी वह उसकी ? अनाम अतुलनीय और अकल्पनीय ही नही रह जायेगा क्या श्रीकृष्ण मुख का यह श्री सौन्दर्य ? क्या इसी अनजानी अनसुनी, शोभा के कारण इसी अनाम आकर्षण के फलस्वरूप ही कुछ लोग इन्हें मान बैठे हैं ब्रह्माण्ड-पति ? पर यह गोकुल ? गोकुल की बात क्या ले बैठे गोपति ? गोकुल अर्थात् अर्थात् वही राधा। क्या, नही चाहने पर भी वह गोप-कन्या बार बार रुक्मिणी के मन आकाश पर किसी अशुभ तारे की तरह उग आता है ? बार-बार यह विश्राम दिलाने पर भी कि सब कुछ होकर भी कुछ नही है राधा श्रीकृष्ण के लिए कम से कम उसके अधिकारों का कभी अपहरण नहीं किया है उसने न आगे करने की सभावना ही बनती है क्यो नही आश्वस्त हो पाता उसका मन ? पर यही क्या कुछ कम अन्याय करते हैं ? क्यो बार-बार होठो पर ला बैठाते हैं गोकुल वृन्दावन और बरसाने तथा उधर के नगर गाव और वहा के लोग तो लोग, लता गुल्म और विरवो, वनो को भी ?

"तुम फिर चुप कर गई ? हा भई गोकुल की बात पर तो तुम्हे मान करना ही है। क्या? पर मैं किसी और सदर्भ मे गोकुल की स्मृति की बात कर रहा था।

'किस सन्दर्भ मे ?' रुक्मिणी वापस आई थी अपने चिन्ता लोक से। मन किसी पिंजरे के पक्षी की तरह चहक आया था, जैसे सन्दर्भ नही था यह कथ भानुसुता का।

'सोच रहा था ऐसा चाद तो केवल गोकुल मे ही उगता था। किसी नील सरोवर मे खिले किसी स्वर्ण कमल सा यह चाद तो बस वही के खुले आसमान की वस्तु है। द्वारिका की व्यस्तता और भाग दौड तथा सौध-संकुल यहां के आकाश मे यह दिखकर भी नहीं दिख पाता है ? जहां आसमान ही नही हो वहां चाद कहा ? द्वारिका की ये गगनचुम्बी अट्टालिकाएं गगन के साथ साथ इसकी सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति चाद को भी खा गयी हैं। क्या ?

'बात तो आप ठीक कह रहे है। अब पूरी तरह आश्वस्ति मुक्त हुआ था रुक्मिणी मन। नहीं राधा नहीं है इनके ध्यान मे।

'पर जाननी हो इस चाद ने मुझे इस क्षण अपने इस उन्मुक्त आकर्षण की याद दिलाने के कारण नहीं बाधा था। इसकी ओर निर्निमेष निहारने का एक अन्य कारण था। कृष्ण के होठो पर एक हलकी स्मिति मली थी। पहले से ही अनवूझ बना उनके मुख का नैसर्गिक आकर्षण और मादक हो आया था। नील मणि पर चमकी सुनहली लेप मे जैसे कोई हीरक किरण कौंध आई थी। स्मिति के कारण हलके खुले होठो मे झांकती दाडिम के दानो सी दन्त पक्तियो ने चादनी

को भी मान दने वाली जिस चमक की सष्टि की थी वह कुछ क्षण क लिए उसे विस्मति क और विस्मय क एमे लोक म उठा ल गई थी कि यह सोचन की उसे चिंता ही नहा रही थी कि यह नया सन्दभ क्या था ? कही यह सन्दभ स्मतिया क उमी छार म तो नही जुडता था जिस अभी अभा नकार चुकी थी वह ? कही फिर उमी उमी वषभानुसुता के चन्द्रमुख का सम्बध तो नही था इस निनिमेप चन्द्रावलोकन म ? नही नही अत था रुक्मिणी क कष्ट का । इष्या होती ही है एसी । माही के काटे की तरह एक बार मन म चुभ गइ तो लाख निकालो वह निकलन म रही । अगर जानती वह कि इस तरह गडी बठी है वह गाकुल की गारी इनके अन्दर तो क्यो आमन्त्रण द बठती वह उन्हे उठा ल जान को उस भरी पूरी मभा मे ? नही राधा म मुक्ति नही है रुक्मिणी की । कभी नही होगी । हा भी क्म ? कई बार तो कह चुके है यह राधा और कृष्ण मे भेद करना ही तुम्हारे दुख का मूल है रुक्मिणी ! राधा को राधा नही मानकर तुम कष्ण ही मान लो तो ईर्ष्या और द्वेष का स्थान ही कहा बचता है ? हा, राधा ही कष्ण है और कष्ण ही राधा । कष्ण का दमरा नाम ही तो राधा है ।

तो स्वयवरा बनी है वह राधा की ? साचे जा रही है रुक्मिणी ? और वह मान ल कि राधा किसी बाला, किसी नारी का नाम नही होकर एक पुरुष बल्कि परम पुरुष कृष्ण का ही नाम है, यही न ? सत्य ता यही है, समझाती है वह अपने मन का ? कई बार ता कह चुके है यह, लिगो म बाटकर क्यो देखती हा तुम हम—हम अथात राधा और कृष्ण को । स्त्रीलिंग और पुलिंग की परिभाषाए यहा महत्वहीन और व्यथ हो जाती है रुक्मिणी ! राधा न स्त्रीलिंग ह न पुलिंग । वह मात्र राधा है । और कृष्ण ? रुक्मिणी प्रश्न करती है अपने स । कृष्ण भी क्या पुलिंग स्त्रीलिंग कुछ नही, मात्र कृष्ण है ? हा यही तो समझाना चाहते है वह इमको । पर इमक लिए तो वह पुलिंग हैं, पुरुप है बस मान ले वह कि एक पुरुष का नही स्त्री और पुरुष दोनो स पर किसी और का वरण किया है उमने ? बातें इमी तरह आपस म उलझ जाती है गुत्थम गुत्थ होकर रह जाती है । व्यथ है प्रश्नो की इन दीवारो पर मिर फोडना । यह मान लना ही अधिक सुखद है कि राधा बस राधा है, एक नाम है, रूप नही वह रूप हो भी तो न स्त्रीलिंग है न पुलिंग बस है और इस हाने का कोई अथ, कोई महत्त्व नही होना चाहिए रुक्मिणी के लिए ।

आज तुम कुछ अधिक ही साचे जा रही हा प्राणप्रिये ! मेरी बाता की ओर तुम्हारा ध्यान नही । ' श्रीकृष्ण ने टाका है तो लौटी है रुक्मिणा अपन म । हा प्रमाद ही हो रहा है आज आवश्यकता स कुछ अधिक । श्रीकृष्ण की ओर वह चाहकर भी पूरी तरह उन्मुख नही हा पा रही । किधर स इस निगाडे चाद की बात निकल आइ ? पर यही तो निर्निमेप करा बठे थे अपने नयना का उमकी तरफ । एमे म चचल लहरो पर चढी तरी की तरह ही हिचकोले पर हिचकोल खान लगता है उसका मन ता इमम उसका दाप ही कितना है ? मोच की अनजानी अनचीन्ही गलिया म दौड ही पडते है उसके कल्पना-तुरग तो कस रोक ले उन्ह वह ?

' आप कहे मैं सुन रही हू । पूरी तरह महज होने का प्रयास करत हुए कहा है उसन ।

'गोकुल की बात मैं वहा के उन्मुक्त आकाश और उसके लुभावने चाद के कारण ही नही कर रहा था। श्रीकृष्ण के होठो की स्मिति अब भी वर्तमान थी। अपनी सारी शकाओ आशकाओ के बावजूद रुक्मिणी कम-से-कम इस बात से प्रसन्न थी कि चलो अपने पर लगे मिथ्या कलक को अभी भूल बैठे हैं वह। मुख पर आरम्भ मे घिरा चिन्ता घन अभी तक तिरोहित था और किसी रहस्य को खोलने छिपाने की प्रक्रिया म रह रहकर वह मधुर मुसकान इनके होठो को नई-नई भगिमाए प्रदान कर रही थी। रुक्मिणी को याद था बचपन मे खेला वह खेल जिसमे वह हथेली मे कोई चीज बाधकर सहेलिया के सामने मुट्ठी कर बोलती—'बूझो तो जानें। उस समय जसा भाव उसके चहरे पर होता कुछ कुछ वसा ही भाव आज द्वारिकापति के मुख पर छाया हुआ था। पर यह सौदय ? श्रीकृष्ण आनन का यह अनाम अपरिभाषित आकषण ? यह कहा कभी आता था उनके मुख पर लडकपन के उस गोपन खल के काल भी ? वह एक बार पुन इस निस्सीम सौदय सागर की अतल गहराइयो म गोता लगाकर आत्म विस्मृत होने ही वाली थी, श्रीकृष्ण बोल पडे 'तुम नही पूछोगी तब भी मैं बिना बतलाए नही रहने का।

नही नही। मैं पूछती हू। आप बतायें। वस्तुत मैं वचित नही करना चाहती थी। वह घबरा कर बोली थी।

'किसको और किससे ?

'दोनो को। आपको और अपने को। आपकी उस प्रसन्नता से जो आज कई दिनो के बाद आपके मुख-कमल पर खिली है और अपने को इस नसर्गिक अतुलनीय और अपरिभाषित प्रसन्नता के पान से।

'बडी प्रगल्भा हो तुम ! कृष्ण पुन मुसकराए थे।

और साहसी भी। वह उनके कानो तक खिचे दीर्घ नेत्रो म देखती बोली थी।

वह तो सिद्ध ही हो चुका है। कृष्ण इस बार रहस्यपूर्ण ढग से मुसकराए थे। वह उनका इगित समझ रही थी। अपने द्वारा अपने ही हरण का दिए गए आमन्त्रण की याद दिला रहे थे वह। नही समझ पा रही थी वह तो यह कि वह कौन रहस्य है जिसकी लुका छिपी के खेल म लीन हो रहे थे वह। अच्छा था यह खेल कुछ देर और चलता रहे जिसमे वचित न हो पाये वह उस प्रसन्नता से जो आज कितने दिनो पश्चात किसी स्वर्गिक वरदान सा हो आ उपस्थित हुआ था उसके समक्ष।

तो मैं कह रहा था गोकुल के चाद की बात। अब रहस्य शायद खुलने ही वाला था। श्रीकृष्ण-होठो पर निर्णायक हसी उभरी थी। सतर्क हो आई थी रुक्मिणी। वचित ही होने वाली थी वह अब तक के सुधा रस-पान से।

यशोदा अम्बा ने बहुत डाटा था उस दिन। सहसा किसी शिशु की सहज निश्छलता खिल आई थी उनके मुख पर। पर वह क्या कहते-कहते क्या कहने लग थे ? यह कसा असगति लक्षित हो रही थी उनके कथन म ! कहा अभी आकाश और उसके भरे-पूरे चाद की बात और कहा यह डाट डपट की अटपटी कहानी ?

तुम्हें असगत ही लग रही होगी मेरी यह बात, शायद मुख मुद्रा ही पढ गए थे वह उसकी और बोलते गए थे। ऐसे भी किसी के मन की कोई बात कहा छिप पाती थी इनसे सब कुछ जानती-समझती-सी अन्दर तक बेधती सी आखा

से ?

"क्यो डाटा था ?" पूछना ही पडा था उसे।

"इसी चाद को देखने के कारण।"

"क्यो ?"

"वह पूर्णिमा का ऐसा भरा पूरा चाद नही था।"

"तो ?"

"वह था हासिए के आकार का अद्ध चद्र। मैं उसे देखत ही आगन मे दौडा था, 'अम्ब ! देखो तो आसमान म यह क्या उग आया है ? सोने का हसिया ।

"फिर ?

"फिर अम्बा ने आसमान की ओर दष्टि भी नही उठाई थी औरमेरा दाहिना कान पकड लिया था।'

"क्यो ?" रुक्मिणी ने साश्चय पूछा था। कृष्ण आनन की मुसकान और मधुर हो आई थी और मारक।

'कहा था, आगे से न देखना इस दिन के चाद को। इस चौथ (चतुर्थी) के चाद को।'

'क्यो ?" मैंन पूछा था।

'इसके दशन से मिथ्या कलक लगता है—चोरी का।

"वह तो मुझ पर लगता ही रहता है। दधि माखन नही भी चुराता हू तब भी रोज मुझे चोर ही तो कहा जाता है।"

'चुप करो। बहुत बातें करते हो। अम्बा ने उस दिन तो मुझे डाट दिया था पर आज मुझे लगता है कितने दिनो बाद रग लाया है उस दिन का वह चतुर्थी चाद दशन।' कहकर श्रीकृष्ण खिलखिलाकर हस पडे थे। शरद ऋतु म किसी हरसिंगार के वक्ष से जैसे असख्य फूल ही झड पडे थे।

तो आप भी ऐसे ऐसे अ ध विश्वासो पर विश्वास करते हैं ?" रुक्मिणी के होठो पर भी हसी खेली थी।

'विश्वास करना ही पड रहा है न ? अब जब सत्राजित ने चोरी का यह आरोप ।' कहते-कहते वे पुन खिलखिला पडे थे। हरसिंगार के फूल पुन बिखर पड़े थ।

"अब परिहास मे ही लग रहेगे या कुछ करणीय भी करेंगे इस कलक से मुक्ति क लिए ? रुक्मिणी गम्भीर हो आई थी। उस अपने दायित्व का बोध हो आया था। आखिर वह उनकी अर्द्धांगिनी भी थी। उचित परामश देना भी उसका काय था भले ही व स्वय इतन बुद्धिमान थे कि किसी परामश की आवश्यकता शायद ही उन्हे थी।

बोलो क्या करें ?" वे भी गम्भीर हो आये थे।

"आप ही तो कहन हैं कुछ नही करन स कुछ करना सदा अच्छा है। हाथ पर-हाथ धरकर बठे रहने म तो अच्छा है कि ।

"पर वही ता समझ मे नही आ रहा है कि किया क्या जाय ? सत्राजित ने पता नही स्यमतक को कहा छिपा दिया है। अगर वह उसके महल के किसी भाग म ही होता तो अपने प्रकाश क कारण वह छिप नही पाता। मैंने अपने गुप्तचर उसक महल के चारो ओर लगा रखे हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि

महल के अन्दर है ही नहीं।'

'एक बात कहूँ?" रुक्मिणी कुछ सोचती हुई बोली थी।

'कहो।'

'आप भैया से परामर्श क्यों नहीं करते?"

'भैया बलराम से?' श्रीकृष्ण प्रसन्नता से भरकर बोले थे।

'हाँ।"

"ठीक कहा तुमने,' श्रीकृष्ण शयन कक्ष की ओर मुड़ते हुए बोले थे 'कल प्रत्यूष यही करूँगा। आखिर कुछ हल तो निकले इस समस्या का। यों ही मैं तुम्हें अपने प्राणों से भी अधिक नहीं मानता।

'सच?' रुक्मिणी के होठों पर एक व्यंग्य मिश्रित मुसकान उभरी थी।

'सच। तुम्हें विश्वास नहीं हो रहा?' श्रीकृष्ण ने मृणाल-कोमल, रुक्मिणी के दाहिने हाथ को अपने हाथ में लेते हुए कहा था।

'हो रहा है।' रुक्मिणी ने अपना हाथ छुड़ाने का प्रयास किए बिना कहा था किन्तु मन कह रहा था इनके प्राणों में तो कोई और बसती है शरीर पर भले मेरा अधिकार हो। उधर आकाश में विहँसते चाँद की तरह नियति भी कहीं हौले-हौले हँसती कह रही थी— शरीर का भी तुम्हारा एकाधिकार अब कुछ दिनों का ही है। स्यमंतक मणि श्रीकृष्ण के लिए तो कलंक बनकर आयी है, तुम्हारे भाग्याकाश में भी धूमकेतु बनकर ही उगी है वह।'

पैंतीस

'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

सागर-जल में कटि तक खड़े श्रीकृष्ण ने पूर्वाभिमुख हो गायत्री मंत्र के उच्चारण के साथ सूर्य को जलांजलि दी थी। एक सौ आठ बार मंत्रोच्चारण के पश्चात् वे तीर पर आए थे और प्रतीक्षा में खड़े सेवक से नवीन पीताम्बर ले वस्त्र-परिवर्तन किया था। सविता अभी पूर्वी क्षितिज पर उदित हो हुए थे। सुवर्ण रंग की उनकी पिघलती किरणों ने श्रीकृष्ण के नीलमणि सदृश शरीर और पीताम्बर पर पड़कर उन्हें एक अद्भुत कांति से मंडित कर दिया था। यह उनका नित्य का नियम था। द्वारावती में रहते तो सागर-जल में खड़े होकर ही गायत्री का जप करते और सूर्य को अर्घ्य अर्पित करते। कहीं अन्यत्र होने या यात्रा में रहते तो गायत्री का नियमित जप तो अवश्य सम्पन्न करते पर सुविधा नहीं होने पर सूर्य को मानसिक अर्घ्य ही सम्पन्न कर संतोष कर लेते।

सागर-तीर से लौटकर वे महल के एक किनारे निर्मित मंदिर में आ बैठे थे। सेवकों ने पूजा-पात्र एवं पुष्पादि का प्रबंध पहले से ही कर दिया था। रुक्मिणी भी इस मध्य अर्चना-गृह में आ पहुँची थी। उनका स्नान-ध्यान, श्रीकृष्ण के सागर-तीर प्रस्थान के पूर्व ही सम्पन्न हो गया था। सेवकों द्वारा सम्पन्न कार्यों का निरीक्षण वे प्रतिदिन अवश्य कर लेती थीं—कहीं द्वारिकाधीश की उपासनार्थ सामग्री अथवा आसन आदि के प्रबंध में कोई त्रुटि तो नहीं रह गई?

आश्वस्त हो रुक्मिणी न जब उन्हें एकाकी छोड दिया था तो व देवी अचना का अभिमुख हुए थे। सवशक्तिमयी भगवती भवानी के प्रति उनकी भक्ति निरंतर बन्ती ही गई थी। जीवन के अनेक उत्थान-पतन के पश्चात भी उनकी आस्था कभी डिगी नही थी। जरासन्ध के हाथा नेली पराजय और फिर मथुरा से पलायन के काल भी उन्होंने अपनी आराध्या के प्रति मन म उलाहने का काई भाव नही जगने दिया था। उनके इस विधान म भी कोई कल्याण ही निहित होगा यही उन्होंने उस समय सोचा था और आज जब द्वारावती अपने धन धान्य और समद्धि-शक्ति के लिए सम्पूण आर्यावत म विख्यात हो गई थी तो उनकी वह धारणा सचमुच सत्य सिद्ध हो आई थी। सम्पुष्टि हो गई थी उसकी। अब कुछ भी विचलित नहा करता। थोडी देर के लिए काई बडी प्रतिकूलता चिन्ता की एक रेखा उनके चेहरे पर भल ही खीच दे पर अन्दर की आस्था सदा अडिग रहती थी सत्राजित द्वारा लगाये अपवाद को लेकर भी यही हुआ था। रात रुक्मिणी के समक्ष भले ही उन्होने इस आकस्मिक अपवाद को लकर क्षणिक व्यग्रता प्रकट की हो पर शयनागार मे प्रवश करत ही व सब कुछ भूल बठे थे। कम पथ निर्धारित हो गया था, उस पर बढ चलने के सिवा और कुछ करना क्या था? अगर आद्या शक्ति न यह सकट खडा ही कर दिया है ता सदा की तरह इसके पीछे भी उसका कोई मगल विधान ही होगा। यही कारण था कि न तो सागर तल म खड सूय को अघ्य अर्पित करत समय उनके मन म कही कोई उलाहन का भाव था न इस देवी विग्रह के अचना काल भी काइ उलाहना उनके अन्दर उठ रहा था।

उन्होंने पूण एकाग्रता से देवी की षोडशोपचार पूजा पूरी की। जवा-कुसुम के पुष्पा से उनके विग्रह को सजाने के पूव रक्त चन्दन और कुकुम का लेप सम्पन्न किया। पाद्य अघ्य तो पहले ही अर्पित कर चुके थे गन्ध और दीप दान के पश्चात नाना विध व्यजनो का भोग पूण भक्ति भाव से स्वण-पात्र म परोस कर वदिक मन्त्रो से आद्या का स्तवन सम्पन्न किया।

अचना-गृह से बाहर आए ता रुक्मिणी खडी मिली। लगता है वह पूरे पूजा काल बाहर ही खडी रही थी। ऐसा होता तो नही था। उनके पूजा प्रबध का पूर्वावलोकन कर वे अन्य कार्यों म व्यस्त हो जाती थी। पति के प्रातराश (सुबह का जलपान) का भी प्रबन्ध करना होता था। ता आज ये यहा क्या खडी ह? श्रीकृष्ण न कुछ पूछा नहा। ध्यान अभी पूजा गह म ही अटका था। देवी के श्रीमुख की छवि अभी मन की आखो के समक्ष वतमान ही थी। उन्होंने केवल प्रश्न भरी आखा का पट्टमहिषी की ओर उठाया।

'आपको स्मरण दिलान आई थी। रुक्मिणी ने कहा था और श्रीकृष्ण अब पूरी तरह अपने म लौटे थ। स्मिति की एक रेखा खेली थी पूजोपरान्त कुछ अधिक ही देदीप्यमान हो आए शुभ्र आनन पर।

देखता हू पट्टमहिषी को कुछ अधिक ही चिन्ता सता रही है अपन पति को लकर।' व रुक्मिणी के समीप आत यान थ।

पति को लकर नहा। द्वारिकापति का लकर। रुक्मिणी न धीरे से आरम्भ किया था 'सम्पूण आय भूमि जिसे साक्षात् परब्रह्म के अवतार के रूप म पजन लगी हो उस पर मिथ्या लांछन या कलक आने लग तो चिन्तित होना ही

"मुझे स्मरण है देवि ! रात की बातों को मैं भूला नहीं हूं। आपकी मंत्रणा की उपेक्षा करूं यह हो नहीं सकता। अभी मैं भैया बलराम के महल को ही प्रस्थित होने वाला हूं। रथ बाहर तैयार होगा। प्रातराश भी मैं उन्हीं के साथ करूंगा। उसी समय आवश्यक योजना बना लेंगे। आप तो मुझे स्मरण दिलाने की चिन्ता में मेरे पेट की चिन्ता भूल ही बैठी होंगी।' वे पुनः मुसकराए और अपने निजी कक्ष की ओर बढ़ने को हुए।

"आपका अल्पाहार भी तैयार है। मैं इसमें प्रमाद कैसे कर सकती थी? आपको शीघ्र अग्रज के यहां भेजना था, अतः मैंने सारा प्रबन्ध पहले ही कर दिया था। आपके वस्त्र भी सजे सजाए पड़े हैं। किन्तु प्रातराश भैया के साथ ही लेने की बात अच्छी है। मैं इस कार्य में अब थोड़ा भी विलम्ब नहीं होने देना चाहती। आप चलकर वस्त्र-परिवर्तन करें और अग्रज के महल के लिए प्रस्थान कर जायें।'

"अर्थात् आज आपके हाथों का आहार मुझे नहीं ही मिलना है।" श्रीकृष्ण मुसकराते हुए रुक्मिणी के साथ लग गए।

रथ के स्वर ने वीर संकर्षण को द्वार तक खींच लिया था। श्रीकृष्ण स्यन्दन के स्वर को पहचानने में बलराम के महल द्वार का कोई भी प्रतिहारी भूल नहीं कर सकता था। महल से पर्याप्त दूरी पर ही राजमार्ग पर बढ़ते आते स्यन्दन में जुते अश्वों के खुरों की आवाज के साथ साथ रथ के रंग रूप और आकार ने भी द्वारपालों को सजग कर दिया था और उनका प्रधान दौड़ पड़ा था श्रीकृष्ण-अग्रज को संवाद देने — आपके अनुज आ रहे हैं आपके दर्शनों को। लगता है पर्याप्त शीघ्रता में हैं। रथ की गति असामान्य रूप से तीव्र है।

बलराम को थोड़ा आश्चर्य अवश्य हुआ। अनजाने में निर्धारित परिपाटी के अनुपालन में दोनों भाई प्रातः के स्नान-पूजा के पश्चात माता पिता के चरण वन्दन को प्रायः एक साथ ही उपस्थित होते थे। आवश्यक विचार विमर्श उसी क्रम में हो जाता था। आज कोई विशेष बात होगी तभी श्रीकृष्ण इस महल की ओर प्रस्थित हुए थे।

अग्रज होते हुए भी बलराम ने महल द्वार तक आकर अनुज का स्वागत किया। श्रीकृष्ण ने संकर्षण के पैर छुए। उन्होंने उन्हें उठा कर वक्षस्थल से लगा लिया और कन्धे में पकड़ कर अन्दर मंत्रणा कक्ष में ले गए।

सदा उत्फुल्ल कमल की तरह मोहक तुम्हारा मुख आज मेघ ढके चन्द्र की तरह मलीन क्यों प्रतीत हो रहा है? अग्रज ने दोनों के द्वारा आसन ग्रहण करते ही कहा।

कारण आपको ज्ञात है। श्रीकृष्ण ने संक्षिप्त उत्तर दिया।

ज्ञात तो है किन्तु तुम्हारा स्वयं का जीवन दर्शन तो व्यथा व पश्चाताप की अनुमति नहीं प्रदान करता। मिथ्या कलंक को लेकर तुम इतना व्यग्र होगे यह तो सोचा भी नहीं जा सकता।

पर अपमान तो अपमान है। इस गरल को आसानी से पान किया जा सकता है क्या? श्रीकृष्ण किंचित सोचते हुए बोले।

बलराम के मुख पर स्मिति की एक रेखा खिली। श्रीकृष्ण उनका मुख देखते रह गए। कहा तो वे आन्तरिक पीडा से व्यग्र हो इनसे परामर्श को आए हैं और कहा ये पूर्ण निर्विकार भाव से मुसकराये जा रहे है ?

'तुम्हारी समदृष्टि का क्या हुआ ? बलराम मुसकराते हुए ही बोले।

'नही समझा।

'सुख-दुख, मान अपमान, हानि लाभ जय-पराजय सबमे समदृष्टि रखना सबको एक ही भाव से ग्रहण करना यह तो तुम्हारा ही जीवन सिद्धात है न ? तुम तो जगत म योगिराज के नाम से विख्यात हो। योग की एक परिभाषा तो यह भी है न—समत्व योग उच्यते ? तो आज तुम उसी समदृष्टि का सहारा क्यो नही लेते हो कि व्यथ के अपमान-बोध से विक्षिप्त हुए जा रहे हो ?

अग्रज की बात म श्रीकृष्ण को कुछ सार लगा। व सहसा कुछ बोल नही पाये। यह सत्य था कि अग्रज से हुए अपने कई वार्तालाप म उन्होने इन्ही भावो को स्पष्ट किया था। मान-अपमान, मन के भाव मात्र है। मात्र सोच का अन्तर। इनमे वास्तविक अन्तर तो है नही। इनको लकर सचमुच इतना व्यथित होने की आवश्यकता तो नही। तो क्या वे चुप बैठ जाए ? लोग जो जी म आए कहते रह और वे मूक बन सुनते रह ? जो मिथ्या है असत्य है, उसके प्रतिवाद का भी कोई प्रयास नही करें ? यह तो अकमण्यता होगी ? और जसा कि रुक्मिणी न कहा अकमण्यता म भी तो उनका कभी विश्वास नही रहा।

"तुम कुछ बोलते नही।' अग्रज ने ही मौन तोडा।

'मैं सोचता हू कुछ करना चाहिए। यह सत्य है कि मैंने जीवन म समदृष्टि को महत्त्व दिया है पर अकमण्यता को भी तो मैंने नकारा है ? करणीय को तो करना ही पडेगा ? हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहना तो उचित नही माना हमने—न आपने न मैंने ? परिणाम चाहे जो हो कम तो हम करना ही पडेगा न ? माना फल म हमारा अधिकार नही है पर कम करने के लिए तो हम स्वतन्त्र हैं। कुछ करणीय बताओ भैया। मैं इस कलंक को चन्द्रमा पर लगे धब्बे की तरह इतनी सहजता से धारण नही कर सकता। मैं तो इस लाछना से मुक्त होने के लिए कुछ भी करूगा। भले इसमे मुझे प्राणो की बाजी ही क्यो नही लगानी पडे।'

बलराम पुन मुसकराये, तुम जानते सब हो तब मुझसे पूछना क्या चाहते हो ? करणीय म विलम्ब घातक होता है। मेरा कहना केवल इतना था कि तुम्हे इस मिथ्या कलक से चिंतित नही होकर इसके निवारण-हेतु प्रयत्नशील होना था।

'उसी हेतु तो श्रीचरणो के दर्शन को आया हू। श्रीकृष्ण विनम्र शब्दो म बोले। मुख की म्लानता पूरी तरह नि शेष हो गई थी।

'मतलब ?

मतलब आप समझते हैं भैया। यह सच है कि अपमान अथवा लाछना की बात से विचलित नही होकर हम कुछ करना चाहिए और शीघ्र करना चाहिए। पर क्या करना चाहिए यही बात मेरी समझ म नही आ रही। किंकर्तव्य विमूढता की स्थिति है मेरी। यह स्थिति किसी की हो सकती है भैया जब उसे इस स्थिति म जाने-अनजाने पड जाना पडे। करणीय और अकरणीय के मध्य अन्तर अक्सर विद्वान् भी नही कर पाते। फिर मैं तो ।

"तुम साधारण थोड़े हो—सामान्य ! तुम तो असामान्य हो। जगदीश्वर का अवतार ही लोग मानने लगे हैं तुम्हें। पण्डितों को मति भ्रम हो सकता हो पर परमेश्वर को मतिभ्रम का शिकार क्यों मैं होना पड़ा ?'

श्रीकृष्ण कुछ क्षणों के लिए असमंजस में पड़े। भैया बलराम आज पहले पहल खुलकर वही बात कह रहे थे जो अन्य लोग वर्षों से कहते सुनते आए हैं। वे क्या उत्तर दें उनको ? भैया को नहीं मालूम कि अवतार तो सभी हैं उस परम पुरुष के। सबमें तो वही एक बसता है—ईशावास्य मिदं सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत ।[1] अब किसी में उसका अंश कम आया और किसी में अधिक तो कोई सामान्य रह गया और कोई असामान्य बन गया—अवतार हो आया। द्वारावती के प्रायः चारों ओर हिलोरें लेते सागर में असंख्य ऊर्मियां उठती गिरती हैं—कोई छोटी होती है कोई अत्यन्त बड़ी। सब हैं तो सागर प्रसूता ही। सबमें तो सागर जल ही है। उसी तरह उस परब्रह्म रूपी महासागर की छोटी-बड़ी तरंगें ही तो हैं हम सब। उस परमात्मा के अंश ही तो हैं हम असंख्य आत्माएं। अब किसी आत्मा में वह परम तत्त्व कुछ ज्यादा ही अभिव्यक्त हुआ और कुछ में कम तो यह उसके अपने किसी विशेष विधान के अन्तर्गत ही होता होगा अथवा व्यक्ति के पूर्व जन्म कृत कर्मों के अनुसार। इस पर किसका कितना वश है ? अगर श्रीकृष्ण में लोगों को उस परमतत्त्व के अधिक अंश का दृष्टिगोचर होने लगे तो यह तो उनकी दृष्टि पर निर्भर है। पर क्या भैया बलराम भी अब उन्हें ऐसा मानने लगे हैं ? तब तो बड़ा गड़बड़ हो जाएगा ? तब कौन अग्रज रहेगा और कौन अनुज ? बाल्यावस्था से ही तो इनका निश्छल स्नेह उन्हें उपलब्ध होता रहा है, वही तो उनके एक मात्र सम्बल रहे हैं—सखा भी और स्वामी भी परामर्शदाता भी और पथ निर्देशक भी। और आज जब यही औरों की तरह उन्हें परमेश्वर मान बैठें तो निरसहाय नहीं हो जायेंगे क्या कृष्ण ?

'भैया ! देर के बाद मौन तोड़ा था श्रीकृष्ण ने।

बोलो। संकर्षण उनकी आंखों की ओर देखते रहे थे।

पता है तुम्हें लोग क्या कहते हैं ?

पता है। अनन्त का अवतार। सम्पूर्ण धरित्री को अपने सहस्र फणों पर धारण करने वाले भगवान शेषनाग का ही दूसरा विग्रह। पर इसमें क्या हुआ ? शेषनाग तो शेषनाग ही रहेगा वह शेष शायी (विष्णु) की समानता तो नहीं कर सकता ?'

भैया ! श्रीकृष्ण जैसे बिलख पड़े। दीर्घ नेत्रों के कोनों में अश्रुकण एकत्र हुए और श्रीकृष्ण के नहीं चाहने पर भी वे छलक कर अग्रज के दाहिने पैर पर जा पड़े। तप्त स्पर्श से सजग हो संकर्षण ने आश्चर्य से अपने विशाल नेत्रों को उठाया। श्रीकृष्ण की आंखों में उलाहने का भाव स्पष्ट था। वे अग्रज को अग्रज और अनुज को अनुज की भूमिका में ही देखना चाहते थे। शेषशायी और शेषनाग का यह प्रसंग स्पष्टतः ही उन्हें रुचिकर नहीं लगा था।

"तुम शायद मेरी बात से व्यथित हो गए ! भगवान बलराम ने आरम्भ किया पर छोड़ो इस बात को। तुममें असामान्यता मुझसे अधिक रही है आरम्भ से ही

---

1 ईशावास्योपनिषद्

इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता। माना, मैं तुम्हारा अग्रज हू, अमित बल शाली भी लोग मानते है मुझे। मुझ हलधर के इस हल मे अपार शक्ति की कल्पना कर बठे है लोग। कितना के अनुसार तो मैं इस स्वण हल की नोक से सम्पूण धरित्री का ही उलट देने की शक्ति से सम्पन्न हू।"

"इसम क्या सन्देह ?" श्रीकृष्ण ने टोका।

'खर, छोडो इस बात को। कम भूमि है यह। यहा सबकी अपनी अपनी भूमिका निर्धारित है। माना, मैं तुम्हारा अग्रज हू और एक क्षण को यह भी मान लिया कि तुमसे कुछ अधिक ही विद्या बुद्धि और बल से सम्वलित किया है सृष्टि कर्त्ता ने मुझे। पर इसस क्या ? मेरी भूमिका तो मात्र मागदशक अथवा निर्देशक की है। कमयोगी की भूमिका मे तो तुम्हे ही उतरना है। अभी बहुत कुछ करना है तुम्ह। अपने तीर्थाटना और थोडी बहुत त्याग-तपस्या के बल पर इतना तो विदित हो ही चुका है मुझे कि सम्पूण आयभूमि स अधम के विनाश और धम तथा न्याय की स्थापना हेतु ही विधाता ने भेजा है तुम्ह इस धरती पर। मैं मूक साक्षी रहूगा सबका। कह लो नेपथ्य से कभी-कभी सूत्र-सचालन कर दूगा तुम्हारी गति विधियो का, पर असल सूत्रधार तो तुम्ही रहोगे। रगमचीय भूमिका तो तुम्हारी ही होगी। हमारे काय बटे हुए हैं कृष्ण। यह तुम भी जानते हो। अगर लोगो ने तुम्हे तुम्हारी असली भूमिका म पहचान लिया है और तुम्हे परमेश्वर-तुल्य मानने लगे हैं तो इसम बुरा क्या है ? तुम्हारा दायित्व तो इतना ही है कि अपने काय कलापो और आचरण से उनकी आस्था को निरन्तर बलवती बनाते रहो।"

"अथात नर होकर नारायण का स्वाग करू ?'

'स्वाग कसा ?" सकपण पुन मुसकराए, "नर और नारायण म अन्तर ही कितना है ? नर ही अपने आचरण से नारायण बन आता है। खर, छोडो इस बात को। आज की बात पर आओ। जसा कहा, नेपथ्य की भूमिका तो है ही मेरी। सूत्र सचालन यदा-कदा करना ही पडेगा। मैं एक बात पूछता हू इस मणिवाले प्रसग म।'

पूछिए।' श्रीकृष्ण सावधान हो आए।

'तुमने अपने गुप्तचर तो लगा रखे होंगे सत्राजित् के महल के आस-पास ?"

हा।"

'तो तुम्हारी यह सूचना पक्की है कि मणि नहीं है सत्राजित् के महल म ?'

"हा वहा वह रहती तो छिप नहीं सकती थी। साक्षात सविता के सदृश दैदीप्यमान वह मणि सत्राजित के विशाल महल के किसी भी भाग म होती तो उसका भान हमारे चरो को हो जाता। भू गभ मे भी छिपाया जाय तो उसकी किरणो को धरती को छेद कर बाहर आने म क्षणाध भी नहीं लगेगा।" श्रीकृष्ण ने अपना मत दिया।

"तब यह निश्चित है कि मणि को महल अपितु नगर से ही निकाल दिया गया है ?

'निस्सन्देह।"

वह भी इसलिए कि तुमने उसको महाराज के लिए माग की थी।'

'हा।"

'एक बात पर तो विश्वास करना होगा ?" बलराम ने माथे पर बल देते हुए कहा।

"क्या ?"

'सत्राजित मणि किसी साधारण सेवक अथवा सैनिक के हाथों बाहर नहीं भेज सकता। इतनी महत्वपूर्ण वस्तु को वह किसी अत्यन्त विश्वासपात्र व्यक्ति के हाथों में ही डाल सकता है।'

'इसमें क्या सन्देह'

'अर्थात वह व्यक्ति सम्भवतः उसके परिवार का ही कोई सदस्य होगा ?'

'अग्रज की मान्यता शत प्रतिशत सही है।' श्रीकृष्ण ने स्वीकारा।

'तो तुमने यह पता करने का प्रयास किया है कि मणि के साथ-साथ उसके परिवार का भी कोई प्रमुख सदस्य गायब है अथवा नहीं ?'

'नहीं।'

'नहीं, तो यही गलती की है तुमने।' बलराम ने अपना निर्णय सुनाया। 'अपने चरों से यह पता करो कि सत्राजित के परिवार का कौन सदस्य अनुपस्थित है और कब से।'

छत्तीस

प्रसेन था वह जो गायब था—ठीक उसी समय से जब से मणि का अता-पता नहीं था सत्राजित के महल में। प्रसेन अर्थात् सत्राजित का सगा भाई—सहोदर। श्रीकृष्ण के गुप्तचरों ने पक्की सूचना दे दी थी।

'अब ?' उसी शाम, अग्रज के मन्त्रणा-कक्ष में ही श्रीकृष्ण ने उनका मन्तव्य जानना चाहा था।

'स्पष्ट है कि प्रसेन के हाथों मणि को किसी गुहा-गह्वर में छिपाकर रखने की सत्राजित् की योजना है। महाराज के लिए मणि की तुम्हारी माँग ने उसे इस हेतु विवश किया है।'

'प्रसेन नहीं भी लौट सकता है।' श्रीकृष्ण ने आशंका व्यक्त की।

'यह सम्भव है। उसे लौटना होता तो अब तक लौट सकता था।' संकर्षण ने आशंका की पुष्टि की।

'इसका तात्पर्य यह कि...।' श्रीकृष्ण बोलते-बोलते रुक गए। अब तक प्रायः निर्विकार रहे आनन पर चिन्ता की रेखाएँ पुनः उभर आईं। उनकी बड़ी-बड़ी आँखें दो विशाल प्रश्न चिह्न बन बलराम के मुख से चिपक-सी गईं। दो क्षण को दोनों चुप रहे। मौन का एक सन्नाटे भरा साम्राज्य उस मन्त्रणा-कक्ष में व्याप्त हो गया। बलराम अपने अनुज के दर्द का अनुभव कर रहे थे और पूरी आत्मीयता से कर रहे थे। प्रसेन के नहीं लौटने का तात्पर्य श्रीकृष्ण पर लगे कलंक का स्थायी हो जाना था—ठीक शशांक पर मंद मलीन धब्बों की तरह।

"प्रसेन मारा भी तो जा सकता है। ऐसी बहुमूल्य मणि लेकर वन में एकाकी निकला है। गुप्तचरों की सूचना के अनुसार सत्राजित् की छोटी सेना की टुकड़ी

का कोई सनिक तक अनुपस्थित नही है।" श्रीकृष्ण ने ही मौन तोडा। चाद को छोडकर खिसके बादलो की तरह चिन्ता की रेखाए उनके शुभ्र आनन को क्षण-भर को मुक्त कर गई थी।

'यह सभावना भी बनती है और तब हम इस काय मे और शीघ्रता करनी चाहिए।' बलराम ने एक तरह से अपना निणय सुनाया।

'किस काय म ?'

"प्रसनान्वेपण के काय म। इसक पूव कि उसके शव का भी पता नही लगे और वह मड-गलकर समाप्त हो जाय हम उसे ढूढ ही निकालना चाहिए—मत अथवा जीवित।'

'इसका अथ यह कि हम सभी दिशाओ म सैनिक भेज दें। श्रीकृष्ण कुछ आश्वस्त होते हुए बोल।

बलराम मुसकराए।

इसकी आवश्यकता नही उन्होने आरम्भ किया 'केवल तुम्हारा जाना ही पर्याप्त है। सनिक इस अभियान को उतना महत्त्व नही भी द सकत और फिर इसम वीरता की कम और बुद्धि चातुय की अधिक आवश्यकता है। प्रसन ऐस भी शूर-वीर है, कई सामान्य सनिको के लिए वह एकाकी ही भारी पडेगा। पर तुम्हारा वह कुछ नही बिगाड सकता।'

मैं ? मैं सभी दिशाओ म अकेल कसे जा सकता हू ? मैं तो अभी इसी क्षण प्रस्थान करन को प्रस्तुत हू पर ।

मैं जानता हू। जानता हू तुम्हारे कमयोगी रूप को। कत्तव्य का निर्धारण हो जान के पश्चात् एक क्षण का भी विलम्ब तुम्ह सह्य नही। पर तुम्हारे असमजस को भी पकड पा रहा हू मैं। एक ही साथ तुम्ह सभी दिशाओ म दौडन की आवश्यकता नही। प्रसन तो किसी एक ही दिशा म गया होगा अथवा आग जाकर दिशा-परिवतन कर लिया होगा उसने।' बलराम न गम्भीरता से कहा।

यह तो ठीक। पर उस दिशा का पता कस लगे ? लग जाय तो अभी मैं ।

बलराम के मुख पर पुन एक मुसकान खेली। जसे व इस बात को लकर पूरी तरह आश्वस्त थ। जस उन्ह पता हो कि प्रसन किस ओर गया हो। जैस वह उन्ही की आखो के सामने निकला हो।

तुम्हे लोग अतयामी कहत हैं सकपण न आरम्भ किया बहुत बातें तुम सहज ही सोच-समझ लेत हो। तुम्हारी छठी इन्द्रिय कुछ ज्यादा ही विकसित है अथवा गायत्री मन्त्र क तुम्हारे नित्य जाप न भगवान सविता का कुछ अधिक अनुग्रह ही तुम्ह उपलब्ध करा दिया है और तुम्हारी बुद्धि अत्यधिक प्रखर हो आई है। पर जस सूय को भी ग्रहण लग जाता है वस ही इस समय तुम्हारी सोचन समझने की शक्ति भी कुछ कुठित हो आई है। प्रसन किस दिशा म गया है यह पता लगाना अत्यन्त सहज है।'

कस ?' श्रीकृष्ण कुछ नही समझकर बोल।

'तुम्हार गुप्तचरो ने बताया होगा कि वह रथ पर निकला है अथवा अश्व पर। अगर रथ पर निकला है तो और आसान है। रथ चक्र क चिह्न पकड कर ।

"ठहरिए भया, इतना तो मैं भी समझता था। प्रसेन व रथ चिह्नों की पहचान बहुत कठिन नही थी पर दोनो भाइयो व रथ तो उनके महल म ही पडे हैं। प्रसेन का प्रिय अश्व गायब है।'

"तब तो और आसान है।'

"कसे ? अश्व के खुरो के चिह्न कभी के मिट गए होंगे।"

"मिट तो रथ के चिह्न भी गए होंगे—कम-से-कम वहा तक जहा तक लोगों का आना-जाना बना रहता है। पर अश्व की एक विशषता है।'

"क्या ?'

"अश्व अपनी राह म खुरा व निशान ही नही, कुछ और पहचान भी छोडता है। तुम प्रसेन के अश्व व पोषका स भेद लो—अपन आदमियो को भेजकर। अश्व के मल-मूत्र की पहचान कर लें वे। उसकी गध तक की। एस प्रशिक्षित लोग अपनी सेना म भी हैं। उन्हें ही प्रसेन के यहा भेजकर इन बाता का पता करो। हो सके तो उसके अश्व-सेवका म से एक दो को अपन पक्ष म कर लो।

बलराम की बात समाप्त भी नही हुई थी कि श्रीकृष्ण उठ खडे हुए। उनका कत्तव्य निर्धारित हो चुका था, पथ प्रशस्त। अग्रज की बुद्धि का लोहा उन्हें पुन एक बार और मानना पडा था।

' एक बात और करनी है सकपण न महल-द्वार तक उन्ह छोडते हुए कहा था।

'क्या ? मुख और आख दोना स पूछा था श्रीकृष्ण ने। उन्ह स्पष्टत शीघ्रता थी। वे स्यन्दन की ओर एक पर बढा चुके थे।

'न सही अपने साथ सनिक पर साक्ष्य के लिए नगर के कुछ गण मान्य व्यक्तियो को अवश्य ल लेना। प्रसेन अकेले गया है तो सनिको की सचमुच आवश्यकता नही, पर अगर वह सचमुच काल-कवलित हो गया हो तो नगर-जन ही तुम्हारे काम आयेंगे वरना प्रसेन की हत्या का एक नया कलक भी तुम पर ।"

'ठीक ह ' श्रीकृष्ण ने शीघ्रता म कहा और स्यन्दन पर सवार हो गए। सारथी ने अश्वो की वल्गाए सभाली तो श्रीकृष्ण के मुख पर विषम स्थिति म भी स्मिति की एक रेखा खिच गई। उनका मन अकस्मात गोकुल की गलियो म लौट गया था। मा यशोदा का कान उमेठना याद हो आया था— मत देखना फिर इस चतुर्थी के चाद को।' कलक पर कलक की सभावना बढती जा रही है। सच, कितना अशुभ था वह चाद-दशन ? कौन चाद-दशन ? भगवान का मन अब भावुक हो आया था। गगन के उस चाद के दशन अशुभ भी हो सकते हैं पर गोकुल की गलिया, कुज निकुजो का वह चाद ? राधा का वह चन्द्र-मुख ? हाय अगर राधा आज उनके साथ होती तो ? तो क्या व इस तरह व्यथित और उद्विग्न होते ? उनके मुख की एक एक भगिमा, एक एक सूक्ष्म से सूक्ष्मतम रेखा से परिचिता राधा क्या उनको एक क्षण के लिए भी व्यग्र देख पाती ? सारे दुखो को स्वय पीकर वह उन्ह आश्वस्त और प्रसन्न कर देने के किसी प्रयास से मुख मोडती क्या ? और याद आ रही थी श्रीकृष्ण को कुछ दिनो पूव की एक घटना। रथ की गति सारथी न तीव्र कर दी और उसी तीव्रता से श्रीकृष्ण का मन पीछे की ओर भाग रहा था—उस अद्भुत घटना की आवत्ति-पुनरावत्ति म।

तग आ गए थे श्रीकृष्ण अपनी रानियो महारानियो की कटूक्तिया से। विशेपकर रुक्मिणी की। लाख समझाओ पर उनकी आदत नही छूटती थी अथवा या कहे कि उनकी आशका निर्मूल हान के बदले दिन प्रति दिन वद्धमूल होती जा रही थी।

"राधा कोई नही है।"

"उस मात्र एक कल्पना मान लो। मात्र एक छाया।"

"राधा स मेरा कभी कोई शारीरिक सम्बध नही रहा। हम अर्थात राधा और मैं ऐसा सोच भी नही सकत थे।'

"राधा है भी तो वह मात्र मेरे प्राणो की धडकन के रूप मे। वह तुम लोगो के मध्य कही नही आती और न आएगी।"

"राधा की कोई आकाक्षा नही है सिवा मरी प्रगति के और इस प्रगति से तुम्ही लोगा को लाभ है।"

"राधा अपना नही तुम लोगो का ही सर्वाधिकार मुझ पर मानती है।"

"राधा किसी की याचिका नही। उसे न तुमसे कुछ लेना है न मुझसे। समझो राधा कभी रही ही नही और न वह है। अगर है भी तो मेरे प्राणा की उन अनन्त गहराइया म जहा उसक होने-न होने से तुम्हारा कुछ नही बनता बिगडता।'

असख्य बार असख्य रूपा म श्रीकृष्ण अपनी रानियो, पटरानियो, विशेपकर इस पट्टमहिपी को समझा चुके थे पर कोई उनका तर्क सुनने को प्रस्तुत नही थी। सब ही सदा एक ही रट लगाए रहती—राधा, राधा, राधा ।

'राधा है कसे नही, वह पूरी तरह है।" पट्टमहिपी रुक्मिणी स्वभावत अपने विशेपाधिकार का प्रयोग करना चाहती। शेप रानिया दोनो के वार्तालाप सुनकर ही अपने को आश्वस्त करने का प्रयास करती।

'कहा है राधा? कृष्ण यथासभव कोमल होकर पूछते।

गोकुल की गलिया म। वृदाविपिन के करील-कुजो म। कालिदी के किनारो पर।" रुक्मिणी अपन ज्ञान का इजहार करती।

वह राधा नही है।' कृष्ण आखा मे आसू भर कर बोलते।

'तो वह क्या है?'

वह राधा का प्रेत है।'

तात्पय?'

'वह एक विक्षिप्ता है जो श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण रटती चलती है जो उनके भविष्य को सवारने के लिए ईश्वर से आशीर्वाद मागती फिरती है। वह राधा नही, राधा का ककाल है जिसने वर्षों स कालिदी के जल के सिवा कुछ ग्रहण ही नही किया। वह कभी राधा रही होगी आज वह एक वद्धा है, असमय वद्धा। अब तुम्हे सतोप हुआ?' श्रीकृष्ण अनायास पूरी तरह छलछला आइ आखा को पोछत हुए बोलत।

'अगर राधा कुछ नही है तो उसके नाम पर तुम्हारी आखो म ये आसू क्यो? औरते सौतो के सम्बध म क्रूर स क्रूरतर हो सकती हैं। पर यहा तो राधा सौत भी नही थी उनकी। जो वस्तुत सौत थी वे तो पट्टमहिपी के साथ सयुक्त होकर राधा के विरुद्ध ही मोर्चा बन्दी कर चुकी थी।

"तुम बोलते क्यों नहीं ?" भरी आंखों और अवरुद्ध कण्ठ से कुछ नहीं बोल पाने के कारण कुछ देर तक मूक बन आए मुरलीधारी से रुक्मिणी ने ही पूछा था।

"जानना चाहती हो ?" श्रीकृष्ण ने अब तक अपने को नियन्त्रित कर लिया था।

"हां।"

"तो सदा के लिए जान लो ये प्रेमाश्रु हैं।

"प्रेमाश्रु हैं अर्थात् प्रेम के अश्रु। बाप रे!" रुक्मिणी लगभग चीखी थीं, "किसका प्रेम और किसके प्रति ?

"कम-से-कम मेरा नहीं। मैं तो तुम सबों का हो गया हूं।"

"तब ?"

"राधा का प्रेम है वह। श्रीकृष्ण से नहीं, द्वारिकापति से भी नहीं।"

"तब किससे ?" रुक्मिणी और अन्य रानियां कुछ आश्वस्त हुईं।

"श्याम से।"

"यह श्याम भी तो तुम्हारा ही बाल्यकाल का नाम है और सुना राधा ने ही तुम्हें यह नाम भी दिया था।" रुक्मिणी आज पूरी तरह उन्हें घेरने को प्रस्तुत थीं।

"हां, श्याम मेरा ही नाम है। बचपन का ही नहीं। तुम्हारे लिए बचपन का। राधा के लिए आज का भी।"

"फिर राधा ?" रुक्मिणी खीझी थीं।

"क्या ?

"तुम्हीं ने तो कहा राधा कुछ नहीं है मात्र एक कल्पना है एक छाया।"

"यह तुम्हारे ही हित के लिए कहा था। राधा द्वारिका नहीं आ जा रही और न श्रीकृष्ण वृंदावन की ओर प्रस्थान करने जा रहा तो फिर यह रोना क्यों ?"

"यह रोना है और यह रोना रहेगा। रुक्मिणी भी अपने तर्क पर अड़ी थीं।

"क्यों ?

"क्योंकि तुम दोनों के मध्य दूरी चाहे जो हो, प्रेम तुम सर्वाधिक राधा से ही करते हो। क्या भूल जाते हो कि तुम्हारे कवच मण्डित कलेजे की हर धड़कन से भी एक ही आवाज निकलती है। क्या ?"

"हर क्यों का भी उत्तर चाहिए ?

"क्यों नहीं चाहिए ?" रुक्मिणी आज सब कुछ साफ ही कर लेना चाहती थीं।

"तो सुन लो राधा मुझसे प्रेम करती थी करती है और जब तक उसके शरीर में सांस रहेगी, करती रहेगी। श्रीकृष्ण ने एक स्वर में सब कुछ स्पष्ट कर दिया।

"वह हम लोगों से भी अधिक तुमसे प्रेम करती है ?" रुक्मिणी इठला कर बोलीं, "तुम भूल गए कि मैंने तुम्हें अपहरण का निमन्त्रण दिया था।" रुक्मिणी की आंखें भी छलछलाने को हुईं।

हां, तुम लोगों से भी अधिक प्रेम करती है। (तुम सबों से रुक्मिणी से भी

अधिक प्रेम करती है। और तुम लोग ही क्या सृष्टि की सारी नारियों के सम्मिलित सामूहिक प्रेम—अगर वैसा कुछ होता हो—तो उससे भी अधिक प्रेम करती है वह मुझसे।'

"हम नहीं मानतीं। रुक्मिणी बोली 'तुम तो मेरे आमंत्रण वाली बात को यों ही टाल गए।'

"टाल नहीं गया।"

'तब ?'

'पट्टमहिषी को मैं उनकी इतनी रानियों और महारानियों के समक्ष किसी धर्म-सकट में नहीं डालना चाहता था।"

"वह भी कर लो। अब शेष ही क्या है ?" लगा रुक्मिणी रो देंगी।

'तुमने आह्वान किया था निमंत्रण भेजा था, आर्यावर्त के सर्वश्रेष्ठ नायक श्रीकृष्ण को महारानी, द्वारिकाधीश को। और सुनने की शक्ति हो तो यह भी सुन लो कि उस श्रेष्ठ पुरुष के निर्माण में जिस एक नारी की साधना, प्रेरणा, प्रोत्साहन और त्याग का हाथ था उसने द्वारिका तो द्वारिका, अपने श्याम का हाथ तक नहीं मांगा। एक क्षण के लिए रुक्मिणी का मुख विवर्ण हो आया, एक क्षण के लिए पहले से ही मूक बनी रानियों-पटरानियों के मुख अनायास खुले तो खुले रह गए।

पर रुक्मिणी भी कच्ची गोलियां नहीं खेली थी। आखिर विदर्भ नरेश की पुत्री और रुक्मी की बहन थी वह। और यह भी सत्य था कि शिशुपाल और उसके सदृश कई आकर्षक और प्रतापी योद्धाओं के प्रेमनिवेदन को ठुकरा कर ही नहीं अपने प्राणों पर खेलकर ही उसने श्रीकृष्ण का आह्वान किया था—उन्हें अपहरण का निमंत्रण दिया था। अगर यह प्रेम नहीं था तो क्या वह प्रेम है जिसका उन्हीं के शब्दों में एक विक्षिप्ता ग्वालिन गोकुल की गलियों में राग अलापती चलती है ? जिसके, कृष्ण ! कृष्ण ! की पुकार से गोकुल और वृन्दावन की ग्वालों और गोपियां तक के कान तो पक ही गए हैं वहां के पशु-पक्षी कुंज निकुंज, वृक्ष विटप और लता-गुल्मों यहां तक कि कालिन्दी की लहरों में भी यही स्वर गूंजता सा प्रतीत होता है ? आखिर ब्रज की ओर से आने वाले वणिकों से वह और क्या पूछती रहती है ? कौन भेद अप्रकट है पट्टमहिषी पर ?

'तो तुम्हारा मानना है कि तुम्हें अगर सबसे अधिक कोई चाहता है तो वह राधा ही है। पट्टमहिषी ने स्पष्ट पूछा।

निस्संदेह। श्रीकृष्ण भी अब सारे संकोच छोड़ चुके थे।

'इसका प्रमाण भी कुछ दोगे ?

'प्रेम का प्रमाण स्वयं प्रेम ही होता है ? वह द्वारिका की स्वर्ण मुद्राएं नहीं कि उन्हें गिन अथवा तौल कर उनकी संख्या अथवा भार का अनुमान लगा लो। श्रीकृष्ण स्पष्टतः खीझे।

'यह तो टालने वाली बात हुई। विदर्भ राजकुमारी सौगात को हाथ से जाने देना नहीं जानती थी वरना श्रीकृष्ण हाथ नहीं आए रहते उसके हाथों में।

तो ?'

"प्रमाण तो प्रमाण होता है। माप-तौल से उसका क्या तात्पर्य ? तुम यह प्रमाण दे दो कि राधा तुमसे सर्वाधिक प्रेम करती है हम स्थिति से समझौता कर लेंगी।

"प्रमाण ? कैसा प्रमाण ? अन्तत तुम सब चाहती क्या हो ?' श्रीकृष्ण किंचित् असमत हुए, "वह मेरे नाम पर अग्नि की चिता म अपने को विसर्जित कर अपने प्रेम का प्रमाण दे अथवा कालिन्दी के जल म छलांग लगाकर ताकि इस राधा नाम से ही तुम सबो का पिंड छूट जाय ? '

'मैं यह सब नहीं जानती, रुक्मिणी ने दृढता से कहा "हम तो प्रमाण चाहिए प्रमाण । चाहे वह जिस रूप म प्राप्त हो । हम राधा के प्राणो की भूखी नही । ऐसे भी इस विक्षिप्ता, मान मज्जा विहीना नारी म बचा ही क्या है पर हम तुम्हारी धडकनो का भेद जानना चाहती है कि अन्तत है कितना गहरा यह राधा प्रेम कि तुम्हारी हर सास म, राधा, हर धडकन म राधा ।'

' तो तुम प्रमाण चाहती हो ? ' अन्तत श्रीकृष्ण कुछ निश्चय कर बोले ।

"हा । रुक्मिणी अपनी विजय पर प्रसन्न हो आई ।

"मिल जायेगा वह ?"

' कब ?"

' शीघ्र ही ।'

अडतीस

अगर किसी से यह कहा जाय कि उसके प्राण-पखेरू कुछ ही देर म अनन्त पथ के पथिक होने वाले हैं तो उसे कैसा लगेगा अथवा किसी से कहा जाय कि उसे प्राप्त कोई बहुमूल्य मणि दुर्योग से उसके पास से तिरोहित ही होने वाली है तो उसकी मनोदशा का अनुमान आप आसानी से लगा सकते हैं क्या ? अथवा वय के चतुर्थ भाग म प्राप्त किसी के पुत्र रत्न के शीघ्र ही काल-कवलित होने की भविष्यवाणी कोई मूर्ख ज्योतिषाचार्य कर दे तो उस व्यक्ति की दारुण व्यथा की अनुभूति का चित्रण किसी के वश की बात है क्या ? या या कहे कि अति प्रिय व्यक्ति के प्राणो के कठगत होने का अमगल सवाद किसी के कर्ण कुहरो तक किसी तरह पहुच जाय तो उसके प्राणो की आतुर अकुलाहट का अर्थ किसी सिद्धहस्त लेखक की भी शक्ति से परे है तो इसम कोई अतिशयोक्ति नहीं । वेदो ने नेति-नेति कह कर परब्रह्म की महत्ता का परिचय देने का प्रयास किया है—इतना भी इतना भी नहीं, यह भी नहीं, वह भी नहीं । यही बात मेरे मन म अभी उस वृषभानु कुमारी को लेकर आ रही है जिसने कभी अपने पिता के प्रागण म स्वर्गिक सुख भोगे थे और आज जिसकी विपन्नता और अर्द्धविक्षिप्तता की स्थिति के साथ भी नियति क्रूर खेल खेलने को कटिबद्ध है । जिसके लिए उसने राजमहल के सुख त्यागे व्रज के कुज निकुजो को अपना आवास और मुख्यत कालिन्दी जल को ही अपने प्राणो की रक्षा का आधार बनाया जिसके युग-पुरुष, काल-पुरुष बनने की आकाक्षा अपने अन्दर किसी प्रज्वलित अग्नि सी जमाए वह हर देवी देवता और ईश्वर के समक्ष अपने प्रार्थना-पूरित आचल फैलाती रही उसके सम्बन्ध मे द्वारिका के दूत का यह सवाद अब तक उसके स्वय के प्राणो को ही नही हर चुका था तो उसका कारण था और कारण यह था कि अगर दूत की बात का विश्वास

किया जाय तो द्वारिकाधीश की जीवन रक्षा का उपाय अब भी शेष था और उस महान् पुरुष जिसकी महानता को गढने म पता नही कभी की राजकुमारी पर अब की मात्र एक विरहिणी विक्षिप्ता की प्राथनाओ और मगल कामनाओ ने कितना योगदान दिया था, की प्राण रक्षा का निमित्त वही बन सकती थी।

'घोर उदर शूल व्यथित कर रहा है द्वारिकाधीश को आज चार दिनो स। अन्न का एक दाना और जल की एक बूद भी नही डाली है उन्होने इन दिना मे। उनके बचन का अब ।' कहत-कहत वह राजदूत रो पडा था।

आजीवन जिसकी आखें आसुओ से ही तर रही उसने दूत को इस बात पर रोया या नही, यह कसे कहा जाय? हा उसके अन्तर को किसी ने निममता से मथ दिया हो यह लगा था उस दूत को सामने बठी उस कृश काय, अव्यवस्थित-केश और मलिन वस्त्रा उस नारी के चेहरे की रेखाओ को पढकर जिसस राधा के रूप म परिचित कराया गया था उस?

"तो क्या द्वारिका के भेषज कुछ नही कर पाये?' हताशापूण किन्तु क्षीण स्वर मे पूछा था उसने उस राजदूत से जो अपन हाथो मे एक रजतपात्र लिये उसके पास घुटनो के बल बठा था और मन-ही मन सोच रहा था कि ऐसी कौन-सी विशषता थी उस विपन्ना, विक्षिप्ता नारी म जिसके समक्ष पहुचने के लिए द्वारिका और व्रज क मध्य की इतनी दूरी को पार कर पहुचने हेतु उसे बाध्य किया गया था। पर विशेषता थी और इसका पता उस दूत को तत्काल ही लग गया था।

'भेषजो के किए कुछ नही हुआ। सबा की राय म रोग असाध्य है, मात्र एक तान्त्रिक ने एक यत्न सुझाया है जिसके द्वारा द्वारिकापति के प्राणा पर आये सकट को निश्चित ही टाला जा सकता है।' उसन अपना सवाद सुना दिया था।

"क्या है वह यत्न?' जिस विह्वलता म यह प्रश्न राधा की जिह्वा पर चढा था इसका वणन वह राजदूत ही कर सकता था।

"तान्त्रिक न बताया है कि अगर द्वारिकाधीश की रानिया पटरानिया म से कोई अथवा ऐसी भी कोई नारी जो उन्ह प्राणपण से चाहती हो अपने परो का जल उन्ह पान करने क लिए द द ता उनका दद जाता रहेगा।' अपना सवाद रख दिया था और रजत पात्र की ओर कातर दष्टि डाली थी—पता नही वह यहा से भी रोता ही नहीं चला जाय।

'तो इतन के लिए तुम्हें द्वारिका स व्रज आना पडा?" राधा लडखडाती-सी, खडा होन क प्रयत्न म बाली, 'क्या द्वारिका की किसी रानी, पटरानी और पट्ट-महिषी क परा का जल द्वारिकाधीश के प्राणा की रक्षा नही कर सका?

'करे ता तब जब व दें?' दूत न जो कुछ सुना था, कह दिया।

'क्या तात्पय?' आश्चयचकित और एक आर अपन दुबल परा स प्रस्थित हो चुकी राधा नामधारिणी उस नारी ने पूछा था।

'किसी ने अपन परो का जल नही दिया। यहा तक कि पट्टमहिषी रुक्मिणी ने भी। अन्य ता यह प्रस्ताव सुनत ही अपने प्रकोष्ठा म जा छुपी।

क्या?' आश्चय मिश्रित प्रश्न किया राधा न। अपने लडखडात परा स वह एक ओर निरन्तर गतिशील भी रही। वह अपन दुबल परा म अधिक-से-अधिक गति भरने को व्यग्र थी पर व्रज की लताओ का तरह ही पतले हो आये उनके पैर

अधिक गतिशील होने की चेष्टा में लड़खड़ा ही जाती और वह भूमि पर पड़ते-पड़ते बचती। उसके पीछे-पीछे सहज भाव से चलते दूत को आश्चर्य हो रहा था कि आखिर उस दुर्बल किन्तु पैरों में प्राणों की सारी शक्ति केंद्रित कर भागती सी चली जाती इस पहेली बनी नारी का मन्तव्य क्या था? क्या वह द्वारिका की ओर प्रस्थित हो चुकी थी? तो वहां वह पहुंच भी पायेगी क्या? भले ही वह अपने पैरों न चले और कुछ देर के पश्चात उसे उसकी क्षीण काया को अपने हाथों में ही टांगना पड़े अथवा किसी सवारी आदि की व्यवस्था करनी पड़े पर उसकी जर्जर काया इस दीर्घ-यात्रा को किसी भी स्थिति में पूर्ण कर पायेगी क्या?

"उन्होंने अपने पैरों का जल नहीं दिया क्योंकि पति को अपने पैर धोये जल का पान करा कर कोई भी नर्क की भागी नहीं बनना चाहती थी।" दूत ने पीछे भागते भागते अपनी बात पूरी कर दी। अब तक सचमुच इस नारी के पैरों में पता नहीं कहां की शक्ति उतर आई थी कि अब उसकी गति से चलना भी उस राजदूत को कठिन हो रहा था।

क्या पट्टमहिषी रुक्मिणी ने भी परलोक संवारने के चक्कर में इस लोक की चिन्ता नहीं की? पति के प्राणों का मूल्य नहीं समझा?" राधा बिना पीछे मुड़े पूछ बैठी।

'हुआ तो यही। तभी मुझे आपके पास आने का आदेश दिया गया।

क्यों?'

राजपुरोहित ने कहा कि जहां तक उनको अभिज्ञान है ब्रज में राधा नाम की एक नारी है जो द्वारिकापति को अपने प्राणों से भी अधिक चाहती है। रानियां-पटरानियों के पैरों का जल नहीं मिला तो क्या अगर उस पुण्यात्मा के पैरों से स्पर्शित जल द्वारिकाधीश के कंठ में पड़ जाय तो वह तत्काल रोगमुक्त हो जाय।'

'तो शीघ्रता करो। भरो अपने रजत-पात्र को," राधा ने कहा तो पीछे भागते आते दूत ने अचरज से देखा कि वह कालिन्दी-कूल खड़ा था। तो यही था राधा का गन्तव्य! बात का अनुमान लगते ही वह जल के प्रबन्ध हेतु प्रस्थान कर गई थी और वह सोच रहा था कि कहां दौड़ी जा रही है वह अपनी विक्षिप्तता में!

'आगे बढ़ो। शीघ्रता करो। भर लाओ यमुना जल अपने इस पात्र में।' राधा किनारे होती हुई बोली, 'मैं डुबाती हूं उसमें अपना पैर नहीं दोनों पैर। शीघ्र तुम भागो द्वारिका की ओर। अपने श्याम के प्राणों की रक्षा के लिए मुझे एक जन्म नहीं हर जन्म में नर्क-वास करना पड़े तो कोई चिन्ता नहीं।

अब तक यमुना-जल से रजत-पात्र को भरकर वह दूत वापस आ गया था। राधा ने उसमें अपने दोनों पैर डाल लिए थे और फिर थकान से भरकर कालिन्दी की रेत पर ही पसर गई थी पर दूत अब बिना आगे-पीछे देखे रजत-पात्र को लिये क्षिप्रता से द्वारिका की ओर प्रस्थित हो गया था। द्वारिका-पति के प्राण जो संकट में थे।

किन्तु द्वारिकापति के प्राण संकट में नहीं थे। यह सब अभिनय था और राज

पुरोहित के सिवा इसका किसी को पता भी नही था। श्रीकृष्ण ने वचन जो दिया था पटटमहिषी को कि वह सिद्ध कर देंगे कि है राधा म ऐसी कोई विशेषता जो उन लोगा मे नहीं है। और सच जब दूत राधा के पैरो स स्पर्शित जल लेकर द्वारिका पहुचा था तो पटटमहिषी के आश्चय की सीमा नही रही थी। वह दौडी दौडी फिर श्रीकृष्ण-कक्ष म पहुची थी और आश्चय से आखें फाडकर इस गदले जल को देखा था—ब्रज रज से सने पैरो का डुबाया गया था उसमे। राधा कोई पटटमहिषी थोडे थी कि उसके पैरो मे पदत्राण होते।

अश्व की पीठ पर बैठे श्रीकृष्ण के होठो पर उस घटना को याद कर इस दुरवस्था म भी स्मिति की एक रेखा खिच गई थी। उन्हे याद है राधा के पैरो स पवित्र जल को वह पूरा का-पूरा एक घूट म पी गए थे और अपने पेट पर हाथ फेरत हुए बोले थे, "ओह, सचमुच जाता रहा पेट का दद। क्या पटटमहिषी के परो के ।"

"नही महाराज राधा के परों को पखार कर लाया गया है जल। आपकी पटटमहिषी ने तो नक जाने के भय स । राजपुरोहित बात पूरी कर पायें इसके पूर्व ही पटटमहिषी वहा स चल पडी थी।

उनतालीस

प्रसेन दुर्भाग्यग्रस्त था। जो स्यमतक मणि अन्यो के लिए सौभाग्य सूचक मानी जा रही थी, वह उसके लिए काल-स्वरूप ही सिद्ध हुई। पात्रता भी कोई चीज है। सुपात्र सत्यनिष्ठ एव आध्यात्मिक आस्था वालो के लिए जहा रत्न, और मणि भाग्यप्रद सिद्ध होते रहे हैं वही अनादिकाल स ही ये कुपात्रो, मिथ्यावादियो और अनास्थावानो क लिए दुर्भाग्य लेकर ही आते हैं।

भाई सत्राजित् के आदेश पर वह सूरज की पहली किरणो के क्षितिज-स्पश के पूव ही मणि को एक स्वण मजूषा म रख और बहुमूल्य वस्त्रो की कई पर्तों मे लपट अपने प्रिय और तीव्रगामी अश्व पर आरूढ हो अरण्य की ओर प्रस्थित हो गया था। किसी गुहा-गह्वर म उस दिव्य मणि को छुपा उसने सध्या तक वापस आने की योजना बना रखी थी।

उसके अश्व ने जस ही एक घोर अरण्य म प्रवेश किया वस ही उस एक घोर गजना का सामना करना पडा। अश्व क साथ-साथ प्रसेन के भी प्राण मुख को आ गए। अपनी सहज घ्राण शक्ति से अश्व समझ चुका था कि यह घोर गजन उस वय प्राणी का था जो आसपास ही उसका काल बना खडा था और प्रसेन को तो इस सिंह-गर्जन के सम्बन्ध म कोई सन्देह ही नही था। प्रसेन का अश्व अपने परो को जैसे भूमि म ही सदा के लिए आरोपित कर चुका था। आगे बढ़ने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। प्रसेन उसे वापस लौटाना चाह रहा था। निश्चित मृत्यु क मुह म प्रवेश करने की उसकी कोई इच्छा नहीं थी। पर अश्व का वह क्या कर सकता था? उसकी तो, सारी इच्छा शक्ति ही जस नि शेष हो गई थी। वह न आगे जाने को प्रस्तुत था—न बायें, न दायें, न पीछे।

एक और घोर गजना। अत्यन्त समीप से। सिंह के रूप म काल समीप आ रहा था। अश्व की पशु चेतना को इस तथ्य को समझने म थोडा भी समय नही लगा और वह जहा का तहा चारो परो और पेट के बल भूमि पर कटे वृक्ष की तरह धडाम स पड गया। प्रसेन की टागें अपग होते-होते बची और किसी तरह मतप्राय अश्व स पिंड छुडा पूरी गति से वह उलटी दिशा की ओर भागा। पर सिंह को मानव तन की गध मिल चुकी थी। वह समीप आए शिकार को यो भागने नही दे सकता था।

कुछ पलो म ही सिंह गजन जसे पीठ पर से ही आता सुनाई पडा। सज्ञाहीन होते प्रसेन न किसी तरह पीछे मुडकर देखा। अब समय नही था। सिंह आक्रामक मुद्रा म आ चुका था। धुधलाती आखो स प्रसेन न देखा, मृगराज की पूछ विचित्र मुद्रा म ऐंठ रही थी। अपनी पतली कमर को जसे वह और पतली बना पीछे के परो को धरती पर जोर से जमा चुका था। एक और कणभेदी गजन और उसके बाद प्रसेन आ गया सिंह क पजो की चपट म।

गत प्राण प्रसेन म सिंह ने बहुत रुचि नहीं दिखलाई। उसके रक्त की कुछ बूदो का पान उसने भले कर लिया हो पर पीछे वह एक इसस अच्छा शिकार छोड कर आया था—प्रसेन का पुष्ट अश्व।

सिंह प्रसेन के पास स पीछे मुडा तो एक व्यथ की मुसीबत म फस गया। उसके अगले परो के दाहिने पजे म वह वस्त्र जा फसा जिसम मणि युक्त मजूषा लिपटी पडी थी। सिंह जितना ही इस वस्त्र वेष्टित मजूषा मे पिंड छुडाने का प्रयास करता वह और उसके पजे म फसती जाती। अन्तत सिंह लगडाते घिसटते उस मजूषा के साथ पीछे लौटा। भाग म पडा पुष्ट अश्व उसके मुह म पानी भर रहा था। वह किसी प्रकार अपने आखेट, प्रसेन के अश्व के पास पहुचा।

पर यह क्या ? वहा तो कज्जल गिरि की तरह विशाल एक रीछ पहले से ही खडा था। रीछ मासाहारी शायद ही होता है पर पता नही इस भल्लूक को प्रसेन के अश्व म क्या आकषण दिखा था कि सिंह जब अपने आखेट के पास पहुचा तो वह उसकी परिक्रमा म लीन था।

कभी वह उसके मुख को सूघता कभी नाक के पास मुह लगाता तो कभी कानो के पास। शायद वह जानना चाहता था कि अश्व पूरी तरह गत प्राण हो गया था अथवा जीवन अभी शेष था—क्षीण रूप मे ही सही।

पर इतना धय ही हो तो सिंह क्या ? मगराज भला अपन आखेट पर किसी अन्य वन्य प्राणी की छाया भी कसे पडने दे सकता था ? भल्लूक को कोई अवसर दिए बिना ही वह उस पर अपनी पूण शक्ति स आक्रमण कर बठा। उसने भी शायद अपने जीवन म इतना खूखार रीछ नही देखा था। वह व्यय का खतरा उठाए बिना एक ही वार म उसका काम तमाम कर दन को आतुर था।

वह कज्जल गिरि इस अप्रत्याशित आक्रमण स पहले तो धराशायी हो गया पर दूसरे ही क्षण मजग हो प्रत्याक्रमण की मुद्रा म आ गया। कुशल था कि उसके घन और लम्बे रूक्ष केशो के कारण सिंह क पजे उसका कुछ भी बिगाड नही सक थे। सिंह के लम्बे लम्बे तीक्ष्ण नाखून उसके कृष्ण केशो को सहलाते हुए स ही बिछल गए थ। रीछ के उठने के पूव उसने उसे अपने शक्तिशाली पजो के मध्य दबाचना अवश्य चाहा था पर रीछ का पवताकार शरीर उसके पजो म किसी भी

स्थिति म आने को नही था।

फिर आरम्भ हुआ था दो विशाल वन्य जीवो के मध्य एक तुमुल युद्ध। दोनो घोर गर्जना के साथ एक दूसरे पर आक्रमण प्रत्याक्रमण करते। पतरे बदलते। कभी आगे तो कभी पीछे, कभी दायें तो कभी बायें म एक दूसरे को आहत करने का प्रयास करते। दोनो की घोर गर्जना स वह पूरा वन प्रदेश, आस-पास के घाटी पर्वत देर तक प्रतिध्वनित प्रतिध्वनित होते रहे। छोटे मोटे वन्यजीव मास रोक कर अपने अपने स्थानो म दुबके पडे थे। आस पास के हिरण और वन्य गौ तथा गज आदि क सदृश पशु तो कोशो दूर जा छिपे? मत पडे अश्व के आगे पास की भूमि दूर दूर तक इन दोनो के युद्ध से रक्त रजित हो आई। घास और लता—तथा छोटे मोटे वन्य विटप मसल कुचल कर रह गए।

दिन के प्राय दो प्रहर से आरम्भ हुआ यह भीषण युद्ध सध्या होने होते प्राय समाप्ति पर आ गया। सिंह अपनी प्रचण्ड शक्ति और आक्रमण क्षिप्रता के बावजूद रीछ क भयानक थपडो की मार से श्लथ हो आया। वह प्रचण्ड भल्लूक अपनी जाति की विशेष प्रकृति क फलस्वरूप सवप्रथम निरन्तर सिंह के चेहरे को ही अपने पजो का लक्ष्य बनाता रहा। सिंह पैंतरे बदल और प्रत्याक्रमण के सहारे कुछ देर तक तो अपने चेहरे को सुरक्षित रख सका पर अतत रीछ को सफलता मिल गई और उसने अपने शत्रु को पूरी तरह विद्रूप कर छोड़ा। उसके कान कट गए, ललाट मे अनेक गहरी खरोंचें आ गइ जिनसे रक्त की पक्तिया प्रवाहित हो चली और अन्तत उसे अपनी दोनो आखो से भी हाथ धोना पडा।

अधा शेर विवश हो गया और रीछ के आक्रमण म प्रतिरक्षा का भी कोई उपाय नही रहा उसके पास। आक्रमण करने का तो कोई प्रश्न ही नही था। हवा मे वह पजे मारे तो किधर? दिखाई तो कुछ पडता नही था, ऊपर से आखो की घोर पीडा। कटे पेड की तरह वह भूमि पर पड गया तब भी उसके बलिष्ठ शरीर को स्पन्दन हीन करने मे रीछ को पर्याप्त समय लगा। पजो स उसके अग प्रत्यग को नोच खसोट जब वह पूरी तरह आश्वस्त हो गया कि अब वह वही पडे पडे प्रहर दो प्रहर म अपने प्राणो स हाथ धो बठेगा तब उसने उस स्थान को छोडा पर छोडने क क्रम म वही हुआ जो सिंह के साथ हुआ था। युद्ध के समय वस्त्र-वेष्टित मजूषा जो सिंह के पजे से छिटक कर दूर जा गिरी थी, भल्लूक के लौटते समय वह उसके भी अगले पर के दाहिने पजे म जा फसी। थके माद भल्लूक न कुछ देर तो [illegible] झटके दे उस अवाछित तत्त्व से मुक्त होने का प्रयास किया पर जब वह उसक [illegible] से निकलने के बदले उससे उलझता ही गया तो उसने इसकी चिंता [illegible] उसके साथ ही अपनी गुफा की ओर बढ चला। अश्व मे भी उसकी [illegible] नही थी। अर्द्ध दिवस पर्यन्त युद्ध रत रहने के फलस्वरूप उसकी [illegible] जाग्रत हो आई थी पर उसकी पूर्ति के लिए उसका ध्यान उस समय [illegible] पडे फलो विशेषकर उन बदरिक फलो (बेर) पर लगा था जि[illegible] म उसकी बेटी न बटोर रखा होगा। पूर्ण दक्षा थी उसकी [illegible] म क्योकि वह उसकी तरह चार पैरो पर नही चलती थी। [illegible] पूर्णतया मुक्त रहते थे। पीछे के दो पैरो पर ही वह [illegible] थी। नही उसकी तरह पशु नही थी उसकी बेटा, [illegible] कहानी थी।

अन्तत बलराम की युक्ति सफल सिद्ध हुई। पशुओ विशेष कर अश्वो के मार्गों के अन्वेषक—उनके मल मूत्र की गन्धो द्वारा उनके गमन की दिशाओ का ज्ञान रखनेवाले—लोगो की सहायता से श्रीकृष्ण नगर के उन सम्भ्रान्त लोगो के साथ जिन्हे उन्होंने साक्षी स्वरूप रख लिया था, उस स्थान पर पहुच ही गए जहा प्रसेन मरा पडा था।

श्रीकृष्ण के साथ सभी लोगो ने प्रसेन के वस्त्रो म अच्छी तरह ढूढा-ढाढा, चारो तरफ दूर-दूर तक अन्वेषित किया किन्तु स्यमन्तक मणि को नही मिलना था तो वह नही ही मिली।

"यह तो स्पष्ट है कि प्रसेन की हत्या किसी केसरी द्वारा हुई है।' पशु विशेषज्ञो मे से एक ने कहा।

"यह बात तो स्पष्ट ही है। चारो ओर पडे पजो के चिह्न किसी सिंह के ही हैं।' कइयो ने हामी भरी।

"तो फिर हम उस सिंह के ही अन्वेषण म क्यो नही सक्रिय हो? किसी वृद्ध ने अपना मतव्य रखा।

'क्यो? इसस लाभ?' किसी ने अपनी आशका की अभिव्यक्ति दी।

हो सकता है वह सिंह ही स्यमन्तक ले गया हो।'

वृद्धावस्था मे आपकी बुद्धि कुद हो गई है। भला सिंह का मणि से क्या प्रयोजन? वह भी क्या कोई भोज्य पदार्थ है अथवा सिंह को गले म अलकरण धारण करने की लालसा जगी है?' किसी ने कटाक्ष किया।

'वृद्धस्य वचन ग्राह्य—बूढे के वचन को अवश्य मानना चाहिए। किसी अन्य ने उस वृद्ध का समर्थन किया, मान लिया सिंह का मणि से कोई प्रयोजन नही है किन्तु प्रसेन की हत्या के क्रम म कही मणि उसके पजे म फस गई हो तब?"

'यह सभव है।' पशु विशेषज्ञो म कइयो ने एक साथ कहा। 'चारो तरफ सिंह के तीन पजे ही स्पष्ट दीखते हैं। आगे के दाहिने पजे के स्थान पर बडा ही धूमिल और कुछ बडा-सा चिह्न पडा मिलता है। वस्त्र मे वेष्टित किसी वस्तु का चिह्न लगता है यह। हो सकता है प्रसेन ने किसी मजूषा आदि म स्यमन्तक को रख कर उसे किसी वस्त्र-खड स वेष्टित कर दिया हो और वह वस्त्राच्छादित मजूषा सिंह के पजे से जा फसी हो।'

'आपका कहना उचित प्रतीत होता है। श्रीकृष्ण ने अपनी सहमति व्यक्त की तो सभी सिंह के पजो का अनुसरण करते हुए आगे बढे।

कुछ ही दूरी पर अश्व का शव दृष्टिगोचर हुआ।

'यह अश्व उसी सिंह द्वारा मृत हुआ है।' पशु विशेषज्ञो न कहा।

'कसे? कोई और सिंह या व्याघ्र तो इसके प्राण ले सकता है अथवा कोई रीछ ही। शकालुओ की कमी नही होती।

'कारण स्पष्ट है। माग के पजो और यहा के पजो को मिला लीजिए कोई भेद नही है। पशु विशेषज्ञो म स एक ने स्पष्ट किया।

ठीक है पर अब तो प्रसेन और अश्व दोनो जाते रहे। प्रसेन के पास मणि है नही। इस अश्व की 'जीन म ही ढढ लें कही उसी म छिपा कर प्रसेन ने

स्यमंतक को रखा हो।" कहकर एक दो लोग घोड़े की जीन में तथा आस-पास मणि को ढूंढने लगे।

"व्यर्थ है यह सब। पशु विशेषज्ञों ने कहा, 'मणि सिंह के अगले पंजे में फंसी पड़ी है यह सिद्ध हो चुका है। सिंह यहां से आगे बढ़ा है तब भी उसी की तरह के चिह्न छोड़ता गया है। तीन पंजों के स्पष्ट प्रतीत होते और चौथे के स्थान पर वही धूमिल सा अस्पष्ट चिह्न।

तब तो इन पंजों का पीछा करना ही उचित है।' श्रीकृष्ण ने कहा।

"अवश्य। पशु विशेषज्ञों ने एक साथ सम्पुष्टि की।

सिंह के पद चिह्नों का पीछा करते करते वे उसके प्राण-हीन तन तक पहुंच गए। सबों ने तत्काल उसके पंजों की परीक्षा की। उनमें से किसी में कुछ नहीं था। सन्ध्या के घिरते अन्धकार की तरह सबके मुख पर निराशा का तम घिर आया।

'चिंता की कोई बात नहीं। मणि अब एक भयानक रीछ के अधिकार में है।' तत्काल एक पशु विशेषज्ञ बोला।

"कैसे? कइयों के मुख से एक साथ निकला।

'आस-पास की भूमि का अवलोकन करो। यहां दो विशाल वन्य जीवों में तुमुल युद्ध हुआ है। पंजे के निशानों से स्पष्ट है कि एक तो यह सिंह था और दूसरा एक भीमकाय भल्लूक।' पशु विशेषज्ञों में से एक ने कहा।

"यह कैसे सम्भव है? इस सिंह की हत्या कोई और सिंह भी तो कर सकता है? भला कोई रीछ किसी सिंह के प्राण ले? सम्भ्रान्त नागरिकों में से किसी एक ने शंका की।

अब सत्य को कैसे मिथ्या में परिवर्तित कर दें?' वही पशु विशेषज्ञ कुछ झल्लाया 'इस सिंह के साथ जिस पशु का युद्ध हुआ है उसके पंजों के चिह्न तो उसे स्पष्टतः रीछ सिद्ध करते है। वह भी कोई साधारण रीछ नहीं कोई भीमकाय भल्लूक।

'ठीक है। नागरिकों में से एक ने कहा "हम भल्लूक अथवा शेर से क्या लेना देना? जिससे मतलब है उसका तो यहां भी दूर-दूर तक पता नहीं। इस मध्य सभी ने चारों तरफ पूरी तरह देख लिया था, सचमुच स्यमंतक का कहीं अता-पता नहीं था।

'स्यमंतक यह रीछ ले गया। पशु विशेषज्ञों में से एक अत्यंत अनुभवी-से प्रतीत होते व्यक्ति ने अपना निर्णय सुनाया।

यह क्या नाटक है? एक सम्भ्रान्त नागरिक अपनी खीज पर नियन्त्रण नहीं कर सका यह मणि है या कोई मांस पिंड जिसे कभी कोई सिंह ले जाता है, कभी कोई रीछ?

क्रोधित होने की बात नहीं महाशय हम पशु विशेषज्ञ कुछ सोच समझकर ही कोई बात बोलते हैं मणि जब सिंह के पंजों से गायब है इस अश्व के आस पास भी उपलब्ध नहीं तो उस रीछ के सिवा इस घोर कानन में उसे और कौन ले जा सकता है। कोई मानव-आकृति यदि यहां इस मध्य भूले भटके भी पहुंची होती तो उसके पैरों के चिह्न तो यहां होते?

"बात तो तथ्याधारित है।' इस बार श्रीकृष्ण ने चारों ओर की भूमि का

सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए कहा।

"क्षमा करें द्वारिकाधीश। 'एक वृद्ध नागरिक ने कहा, 'मुझे नहीं लगता कि स्यमंतक मणि कोई भल्लूक ले गया है अपने साथ।

'क्या?" श्रीकृष्ण ने पूछा।

"यह तो पशु विशेषज्ञों से ही पूछ लीजिए।' उस व्यक्ति ने विशेषज्ञों के प्रति एक व्यंग्य भरी दृष्टि डालते हुए कहा।

'क्या कह रहे हैं हमारे यह सम्मान्य नागरिक?' श्रीकृष्ण पशु विशेषज्ञों की ओर मुड़ते हुए बोले।

"मैं बता रहा हूं विशेषज्ञों के नेता ने आरम्भ किया, इनका ध्यान इस बात की ओर गया है कि सिंह की हत्या के पश्चात रीछ ने यहां से प्रस्थान किया है तो सिंह की तरह मात्र उसके तीन पंजों के ही स्पष्ट चिह्न धरती पर नहीं उभरे हैं, अपितु उसके चारों पंजे स्पष्टतः अपना चिह्न छोड़ते उत्तर दिशा की ओर बढ़ गए हैं। है न यही बात? पशु विशेषज्ञ ने पूछा।

हां बात यही है। भल्लूक के किसी पंजे में स्यमंतक मणि की वस्त्र-वेष्टित मंजूषा नहीं फंसी है' उस सम्भ्रान्त नागरिक ने उत्तर दिया 'और उस पशु से यह आशा भी नहीं की जा सकती कि वह मंजूषा को अपनी पीठ पर लाद कर ले गया है।"

'कौन कहता है कि वह उसे अपनी पीठ पर लाद कर ले गया है?' पशु विशेषज्ञ ने आत्मविश्वास से भर कर पूछा।

तो कैसे ले गया है'

मुंह में।'

मुंह में? क्या कहते हैं आप? मैंने पहले ही कहा था कि वह कोई मांस पिंड नहीं कि हर पशु उस पर टूटता चलेगा। उस प्रतिष्ठित नागरिक ने तर्क दिया।

और आपको क्या नहीं पता कि रीछ मूलतः शाकाहारी प्राणी है? पशु विशेषज्ञ भी अपना नियंत्रण खोते हुए बोला।

यही तो यही तो' उस सम्भ्रान्त नागरिक ने कहा जब रीछ शाकाहारी प्राणी है तो वह एक व्यर्थ की वस्तु को अपने मुंह में लिये क्या चलेगा?

इसलिए कि शाकाहारी रीछ को फल बहुत प्रिय हैं और अवश्य सिंह के साथ इस घोर युद्ध में मंजूषा और उसके वेष्टन की हो गई होगी दुर्दशा और स्यमंतक अपनी पूरी चकाचौंध के साथ बाहर आ गया होगा और ।

"और उसे कोई अद्भुत फल समझ रीछ उसे मुंह में लेकर चलता बना होगा। पशु विशेषज्ञ की बात के पूर्ण होने के पूर्व ही उस सम्भ्रान्त नागरिक ने व्यंग्य कसने का प्रयास किया।

आपका कहना सर्वथा समीचीन है। घटना यही घटी है। पशु विशेषज्ञ दृढ़ता से बोला।

'पर आप इसे कैसे भूल सकते हैं महाशय कि वह भल्लूक अपने लुभावने फल को तत्काल अपने पेट के हवाले भी कर सकता है। न टूटे वह दांतों से निगल तो उसे वह सकता ही है। नागरिक ने अकाट्य तर्क प्रस्तुत किया।

'यह संभव है।" पशु विशेषज्ञ ने निराश स्वर में कहा।

इसमें निराशा की कोई बात नहीं श्रीकृष्ण ने तत्काल कहा, मणि यदि

भल्लक ले गया है तो उसे हम प्राप्त कर ही लेंगे। यदि मुख म रखकर ले गया है तो उसे प्राप्त करने म कोई समय नही लगने का और अगर अपने उदर के हवाले कर चुका है तब भी उसके पेट को विदीण कर उसे प्राप्त किया जा सकता है।"

श्रीकृष्ण की बात सबको तकपूण लगी पर एक सम्भ्रान्त नागरिक न अपनी आशका को अभिव्यक्ति दे ही दी। 'भल्लूक अत्यन्त ही भयावह प्राणी होता है। इस कुरूप जीव को तो रूप से घोर वितृष्णा अथवा कहिए ईर्ष्या होती है। यह प्राणियो विशेषकर मनुष्य के आनन को ही अपने खूखार पजो का लक्ष्य बनाता है। ऐसी स्थिति म मणि चाहे उसके उदर के बाहर हो या अन्दर उसे प्राप्त करना आसान नही। हम सब एकत्रित होकर भी युद्ध-रत हो तब भी उस रीछ का कुछ नही बिगाड सकत। है भी वह भीमकाय। पजो के निशान ही यह सिद्ध करत ह। फिर जो भयावह पशु सिंह तक की हत्या कर सकता है उसके समक्ष कुछेक मनुजो की क्या गणना? लगता है हमे रिक्त हस्त ही द्वारिका लौटना पडेगा और श्रीकृष्ण के सिर पर लगे कलक को धोन म हम समथ नही हो पायेंग।'

श्रीकृष्ण एक क्षण का स्तब्ध रहे। यह कलक बना ही रहेगा? बात फिर राधा की मन मे आई। क्या बीतगा उस पर? क्या सोचेगी वह कि ब्रज के जिस माखन चोर छोरे को उसने युग पुरुष पुरुषोत्तम क्या क्या बनाना चाहा था वह मात्र मणि-चोर होकर रह गया! ऐसी जग गई उसके मन म ऐश्वय-लालसा की ख्याति, शौय उत्सग, उत्थान आदि सभी दवी गुणो को तिलाजलि दे वह आसुरी प्रवृत्ति का शिकार हो गया? लोभ का? लालच का? एसा कि अपनी तामसी वृत्तियो की अभिपूर्ति के लिए उसे सचमुच के चौय कम पर उतरना पडा! अभी कुछ ही दिना पूव किस रूप म उसने अपने यथाथ प्रेम को अभिव्यक्ति दी थी। सभी रानियो-पटरानियो यहा तक की पट्टमहिषी के प्रेमाभिमान को भी चूण चूण कर दिया था। अब जब वह इस कलक की सपुष्टि की बात सुनेगी तो क्या बीतगी उस पर?

एसा नही होगा। श्रीकृष्ण के मुह से अनायास निकला। सभी की आखें उनके शुभ्र आनन पर केन्द्रित हो गइ। ऐसा नही होगा, क्या तात्पय आखिर श्रीकृष्ण कहना क्या चाहत थे? सभी के मन म यही बात थी।

"हम उस रीछ का वध करक रहेगे। चाहे वह कितना भी विशाल और भयावह क्या न हो। पहले हम उसका सधान तो पा लें।' और ऐसा कहकर वह रीछ के पद चिह्नो के पीछे-पीछे चल पडे। विवश होकर पशु विशेषज्ञ एव साथ के सम्भ्रान्त नागरिक भी उनके साथ लग गए।

पद चिह्न पर्याप्त स्पष्ट थे क्योकि इधर कोई मानव चरण कभी भूल कर ही आते हो। यमराज सदृश इस रीछराज का भी आतक रहा होगा इस क्षेत्र मे इसीलिए अन्य पशुओ के पदचिह्नो का भी कोई अता-पता नही था इस क्षेत्र म।

पदचिह्नो का पीछा करत उन्ह बहुत समय नही लगा कि व एक भयानक गुफा के पास आकर समाप्त हो गए। निस्सदेह यह गह्वर ही रीछराज का आवास था। गुफा के मुह पर सभी ठिठक गए। साक्षात काल के मुह म प्रवश करें यह साहस कोई नही जुटा पा रहा था। सभी एक-दूसरे के मुह की ओर निहारने म लग थ। श्रीकृष्ण की दृष्टि जिस पर पडती वही अपना सिर नीचा कर लेता—

कहीं उस ही गुफा प्रवेश का आदेश नहीं दे दें। श्रीकृष्ण सबका असमंजस पढ़ गए।

'किसी को अन्दर नहीं जाना है। सभी बाहर खड़े रहें, मैं स्यमन्तक को प्राप्त करूंगा।' उन्होंने अपना निर्णय सुनाया और गुफा के अन्दर प्रवेश करने को हुए।

'यह क्या कर रहे हैं आप?' कइयों ने एक साथ कहा, 'रीछ महाबली है और फिर आपका मुख तो स्वयं नील मणि की कान्ति लिए हुए है। आपको देखते ही आपके आनन को ही अपना आखेट बनाएगा वह। रीछ की प्रकृति के सम्बन्ध में अभी-अभी हम बातें कर चुके हैं।'

'कलंकित मुख को लेकर द्वारिका लौटने के बदले रीछ द्वारा विद्रूप किए चेहरे के साथ लौटना कहीं अधिक अच्छा है।' श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया। उनके मुख की नीलकान्ति उनके आत्मविश्वास के प्रकाश में और दीप्त हो उठी।

'किन्तु...।' कुछ लोगों ने कहा।

श्रीकृष्ण पूरी बात समझ गए और उसी दृढ़ता के साथ बोले, "आप यही न कहना चाहते हैं कि कुरूप मुख से भी द्वारिका तो मैं तभी न लौटूंगा जब वह रीछराज मुझे लौटने दे? वह मेरा कुछ नहीं बिगाड़ेगा। व्रज में विशाल पशुओं से युद्ध का मेरा पर्याप्त अभ्यास है। आप निश्चिन्त रहें। मैं सुरक्षित स्यमन्तक के साथ आऊंगा।'

'अगर आप सचमुच सुरक्षित आ गए तो आपके साथ स्यमन्तक ही नहीं कुछ और भी होगा।' पशु विशेषज्ञों के नेता ने गुफा के आस-पास की भूमि का सूक्ष्मता से निरीक्षण करते हुए कहा।

'क्या?' श्रीकृष्ण ने साश्चर्य पूछा।

'एक सुन्दरी।' पशु विशेषज्ञ ने उत्तर दिया और गुफा के इर्द गिर्द उगे कुछ मानवी पदचिह्नों की ओर इंगित कर कहा, 'निश्चित ही ये किसी सुन्दरी नारी के चिह्न हैं। तलवे की रेखाएं उसे अनुपम सुन्दरी बताती हैं। मैंने थोड़ा बहुत ज्योतिष शास्त्र भी सीखा है। अवश्य एक अनिंद्य सुन्दरी इस गुफा में बन्दिनी बनी पड़ी है। इस गुफा के आसपास से अधिक दूर वह उसे नहीं जाने देता। शायद फल फूल की प्राप्ति के लिए ही वह उसे इतनी अनुमति देता है। ऐसे भी रीछों द्वारा मनुष्य के बच्चों के पालने के कई उदाहरण सुनने में आए हैं।'

'अब जो हो मैं तो चला अन्दर। आप बाहर मेरी प्रतीक्षा करें। मां भवानी ने चाहा तो मैं सकुशल स्यमन्तक के साथ बाहर आ जाऊंगा।'

'हम भी आपके साथ चलते हैं।' प्रायः सभी नागरिकों ने एक साथ कहा। 'हम आपको अकेले काल के गाल में नहीं जाने दे सकते।'

'नहीं।' श्रीकृष्ण ने दृढ़तापूर्वक प्रतिवाद किया, 'मैं एक एकाकी रीछ से एकाकी ही निपटना चाहूंगा। आप जब तक चाहें यहां मेरी प्रतीक्षा करें। विलम्ब हो तो द्वारिका लौट जायं।' इतना कहकर श्रीकृष्ण गुफा के अन्दर प्रवेश कर गए।

जाम्बवती को ठीक ही एक रीछ ने पाला था। वह चार पाच वर्ष की रही होगी कि कन्द मूल की खोज मे अपनी मा के साथ इस घोर कानन के इस भाग मे भटक आई। दुर्भाग्यवश वह रीछराज उस समय गुफा के आस पास ही घूम रहा था। उसके भीमकाय शरीर पर दृष्टि पडते ही मा बेटी दोनो सज्ञा शून्य हो गई। रीछराज ने किसी का कुछ नही बिगाडा पर मा को मरी समझ वह बेटी को उठा कर गुफा के अन्दर प्रवेश कर गया। होश मे आने पर मा ने बेटी को आस-पास नही पाया तो रीछराज द्वारा उसकी हत्या के प्रति आश्वस्त हो स्वय अपने प्राण लेकर भाग खडी हुई।

जाम्बवती को अपना नाम धाम ठीक से याद था। आदिवासी-कन्या होते हुए भी सौन्दर्य दान मे निसर्ग ने उस पर विशेष ही अनुकम्पा की थी। रीछराज देर तक पहले उसके चेहरे को देखता रहा। आकर्षक चेहरो के प्रति स्पर्धा-ग्रस्त होने के बाद भी उस रीछ ने उस बालिका का कुछ नही बिगाडा। वह तब तक उसके पास बैठा रहा जब तक उसे होश नही आया। सज्ञा शून्यता समाप्त होते ही उस भयानक पशु पर दृष्टि पडते ही जाम्बवती एक बार फिर बेहोश होते-होते रही किन्तु रीछ ने एक दुलार भरी चपत अपने दाहिने पजे से उसके गाल पर लगाई। पता नही इस चपत ने उस बालिका के अन्दर आश्वस्ति की सृष्टि की अथवा भय की किन्तु उसके बाद वह कभी बेहोश नही हुई।

रीछ ने अपने अनुसार उसकी सुविधा का पूरा ध्यान रखा। कन्दमूल फल विशेषकर बेर आदि वह उसके लिए बाहर से लाता रहा और जाम्बवती धीरे-धीरे बडी होती गई। रीछ था तो पशु पर उसकी बुद्धि पर्याप्त प्रखर थी। वह जाम्बवती के भोजन की ही व्यवस्था नही करता बल्कि वस्त्र और आभूषण का भी ध्यान रखता। कभी कभार गुफा के आस पास कोई औरत दीख जाती तो वह उसका और कुछ नही बिगाडता पर उसके देखने मात्र से होश खोते ही उस नारी के वस्त्र और आभूषण को अपने अगले पजो मे फसा वह गुफा मे दाखिल हो जाता और जाम्बवती के सामने उन्हे रख देता। वह उसे बेटी की तरह पालने लगा था और जाम्बवती का मन भी धीरे धीरे उस गुफा मे लग गया था। आरम्भ मे एकाध बार उसने वहा से रीछ की अनुपस्थिति मे भागना भी चाहा था पर रीछ के पजे के एक हल्के स्पर्श ने ही उसे मार्ग पर ला दिया था और फिर वह भाग्य से समझौता कर बैठी थी।

जाम्बवती अब पूर्ण यौवना थी। फल फूल पर पलता शरीर पूरी तरह भर आया था और चेहरे की चमक पहले से कई गुनी बढ गई थी। इधर कुछेक वर्षों से वह गुफा उसे सचमुच काटने लगी थी और वह वहा से मुक्ति पाने को व्यग्र हो रही थी। रीछराज को भी उसके मनोभावो को पढ़ने मे अधिक समय नही लगा था और उसने उस पर अपनी चौकसी और बढा दी थी। उसे हर प्रकार से प्रसन्न रखने का भी वह प्रयास करने लगा था और इसी प्रयास के क्रम मे लाया था वह उस मणि को अपने मुह मे दबाकर। नही वह उसे खा नही सकता था न दातो मे बर्बाद ही कर सकता था उसे। उसे तो देना था उसे अपनी बेटी को जिसे पाकर वह शायद फिर इस गुफा को छोडकर कभी नही जाना चाहे। पर उस

रीछराज को यहां पता था कि यह मणि ही उसका काल बनने वाली थी और उसकी पीपिता व पलायन का कारण भी।

श्रीकृष्ण ने गुफा प्रवेश किया तो उनके अनुमान के विपरीत वह पूरी तरह प्रकाश से जगमग लगी। वह अपेक्षाकृत एक विशाल कन्दरा अथवा गुहा थी। पवन के अन्दर दूर तक धमी। वहां किसी तरफ से सूरज की किरणों के प्रवेश का कोई उपाय ही नहीं था। इसके बाद भी वहां दिन से अधिक प्रकाश भरा पड़ा था अपितु ऐसा प्रकाश जिसमे आंखें चौंधिया जाय।

एक क्षण को वह कुछ समझ नहीं सके पर दूसरे ही क्षण उनकी दृष्टि गुफा की एक दीवार पर प्राकृतिक रूप से बने एक छिद्र पर गई और छिद्र में रखी एक बहुदाकार प्रकाश उगलती मणि पर। तो यह स्यमन्तक मणि का प्रकाश था जिससे पूर्ण गुफा प्रदीप्त हो रही थी! श्रीकृष्ण को समझने में समय नहीं लगा। किन्तु इसके पूर्व कि वह गुफा का पूर्ण निरीक्षण समाप्त कर पाते एक कर्णभेदी गुर्राहट उनके कान के पर्दों को फाड़-सी गई। उन्होंने आवाज की ओर दृष्टि फेरी। जैसी उनकी कल्पना भी नहीं थी उससे भी भीमकाय, भयावह भल्लूक उन पर दृष्टि गड़ाए बैठा था। ठीक उससे थोड़ी दूर बैठी थी एक अनिंद्य सुन्दरी जाम्बवती। रीछ द्वारा लाए वस्त्रा आभूषणों से उसने अपने को भरसक अच्छी तरह सजाया-संवारा था किन्तु अगर वह चिथड़ों में भी ढकी रहती तो उसके सौंदर्य और देह-यष्टि किसी को भी आकृष्ट करने को पर्याप्त थे।

श्रीकृष्ण जहां के तहां रुक गए। प्रथमतः वह रीछ और उस युवती पर अपनी उपस्थिति की प्रतिक्रिया का अनुमान लगा लेना चाहते थे। रीछ अपने स्थान पर बहुत कुछ निर्भीक-सा बैठा रहा। पहली गुर्राहट के पश्चात ही वह चुप हो गया था। शायद उसके लिए एक अकेले व्यक्ति के होने और न होने का कोई अर्थ नहीं था। वह जब चाहता अपने एक पंजे के प्रहार से ही उसके प्राण हर सकता था। किन्तु जाम्बवती की भावभंगिमा विचित्र थी। उसने अपने जीवन में इतना सुन्दर पुरुष देखा ही नहीं था। वह चार पांच वर्ष की उम्र में इस गुफा की बंदिनी बनी थी अतः स्त्री-पुरुष के मध्य के अन्तरस वह अनभिज्ञ हो ऐसी बात नहीं थी। किन्तु यह भी सत्य था कि उस उम्र के बाद उसने मानव जाति के दर्शन भी नहीं किये थे। ऐसे में श्रीकृष्ण का विश्वमोहन रूप उसके नेत्रों को बांध गया तो बांध ही गया। वह पूर्ण-यौवना थी और स्वाभाविक था कि उसके मन में पहली बात आई कि वह इस सुदर्शन-पुरुष के साथ इस गुफा से किसी तरह निकल भागे। वह जानती थी कि रीछ भले ही अभी आश्वस्त होकर पड़ा है किन्तु वह किसी भी स्थिति में यहां तक पहुंच आये इस व्यक्ति को जीवित वापस नहीं जाने देगा। जाम्बवती के चेहरे पर उतरते चढ़ते भावों का श्रीकृष्ण सूक्ष्मता से निरीक्षण करने लगे थे। उसकी आंखों में उभरते आश्चर्य भाव को भी लक्षित करने में वह नहीं चूके। रीछ के प्रति तो वे वैसे ही आश्वस्त थे जैसे रीछ उनके प्रति आश्वस्त था। दोनों अपार शौर्य और बल-वीर्य को एक दूसरे से बढ़कर मान रहे थे।

किन्तु श्रीकृष्ण का वास्तविक वक्तव्य न तो अभी जाम्बवती से सम्बन्धित था न रीछराज से। जाम्बवती की उपस्थिति तो उनके अन्दर राधा की स्मृति

जगा गई। वह इस तरह उनकी ओर निनिमेप दृष्टि से देख रही थी कि उन्हे लग रहा था कि वह रीछ का वध कर स्यमन्तक प्राप्त कर गुफा से निकलना भी चाहे तो यह युवती उन्हे अकेले नही निकलने देगी। मानवीय दृष्टि से भी यह उचित नही था कि उसे उस घोर कानन की उस एकान्त गुफा मे छोड दिया जाय। पर राधा! श्रीकृष्ण का मन एक बार पुन विद्रोह करने को प्रस्तुत हो आया। राधा के होने उन्होने रुक्मिणीहरण किया फिर विवशता मे कई रानिया पटरानिया भी रखनी पडी, पर इस सबका कोई अन्त नही होगा? उन्हे महान बनना है उन्हे राधा की बात याद आती है 'परम्परा के अनुसार कई नारिया उनके जीवन मे आ सकती है, इसका बुरा उसे नही मानना है। वह उनकी है यही पर्याप्त है, वह कितना के हैं इसकी चिन्ता उसे नही। पर वे भी सबके होकर भी किसी के कहा हैं? सबके होते हुए भी तो आज भी राधा ही मात्र उनकी प्रेरणा है। पर जो हो भले ही वे मानसिक रूप से राधा के सिवा किसी और से नही जुडे हो और शारीरिक सम्पर्क भी पटटमहिषी के सिवा किसी और को कठिनता से ही यदा कदा सभव होता हो पर पत्नियो की इतनी बडी सेना अपने इर्द गिर्द बटोरते जाना राधा की उदारता का अनुचित लाभ उठाना नही था क्या?

नही कृष्ण के मन ने विद्रोह किया। राधा के साथ वह बहुत छल नही कर सकते और यह सब छल के सिवा कुछ नही था। जाम्बवती अगर उनके साथ जाती है तो निश्चित ही वह उन्ही का होकर रहना चाहेगी। अपने उद्धारक के अलावा नारी किसी अन्य को समर्पित हो नही सकती। और दूसरा कोई उसे ग्रहण भी क्या करेगा? वासुदेव कृष्ण की सगिनी बनकर जो नारी जाय वह सागर-जल मे खडी होकर भी अपने अन्तर बाह्य की विशुद्धता की शपथ ले तो कोई उस पर विश्वास करेगा?

इस एक आकर्षक और एकाकी नारी ने श्रीकृष्ण के कर्तव्यबोध को ही जैसे कुठित कर दिया। उन्होंने मन ही मन दृढ निश्चय किया, भले ही उन्हे स्यमन्तक के बिना ही लौटना पडे, भले ही उनके ललाट पर कलक का टीका सदा के लिए लगा रह जाय पर एक और नारी को अपने जीवन मे स्थान दे वह राधा के साथ और अन्याय नही कर सकते। यह नारी चाहे जितनी आकर्षक अथवा एकाकी हो, यह अपना जीवन काट लेगी। अभ्यस्त हो चुकी है वह इस जीवन का। पर वे राधा की एक और सौत (?) नही रख सकते अपने महल मे।

इधर जाम्बवती की स्थिति दयनीय थी। वह किसी मूल्य पर इस सुदर्शन पुरुष की जीवन रक्षा करना चाहती थी और किसी तरह उसकी होकर ही अपने शेष जीवन को व्यतीत करने को वह दृढ प्रतिज्ञ हो चुकी थी। श्रीकृष्ण को देखकर न केवल उसे अपने नारीत्व का पूर्ण बोध हुआ था अपितु अब तक किस रूप मे वह जीवन के एक अत्यन्त सुखद पक्ष से वचित रही, इसका बोध भी उसे बडी तीव्रता से हो रहा था। काश, वह उस गुफा मे नितान्त एकाकी होती, यह रीछराज यहा पर नही होता तो क्या वह इस कमनीय पुरुष को यो ही छोड देती जिसके दर्शन मात्र से ही उसका सम्पूर्ण अस्तित्व जैसे सूर्य के समक्ष पडे हिम की तरह गला जा रहा था? नही, उसने हिम नही देखा था। सूरज की किरणें अवश्य यदा-कदा देखी थी। पर उसे लग रहा था कि इस पुरुष की उपस्थिति मे उसके अन्दर कुछ विगलित होता जा रहा है पिघलता जा रहा है।

किन

को बचा पाती। पर यह असभव था। यह स्वय काल के गाल म प्रवेश कर चुका था। अभी यह रीछ बठा है पर अपनी तरफ पीठ फेरते ही वह अपने पजे के एक प्रहार से ही इनका काम तमाम कर देगा। वह परिचित थी उसकी शक्ति से। मृगराजा को धूल चटाते उसने इसे देखा था। गुफा के बाहर जब कभी आस-पास घोर गजना होती और उसम इस रीछराज का गजन भी सम्मिलित होता तो वह अवश्य ही गुफा द्वार पर निकलकर बाहर सम्पादित हो रहे तमाश को देखती। उसक मनोरजन का वही एकमात्र साधन था। उसका पालक यह रीछ जिस अब वह अपना पिता भी मानने लगी थी किसी भी वन्य जीव से भिड जाता। चाहे वह गजराज हो या मृगराज या उसी की तरह का भयानक भल्लूक, अधिक-स-अधिक एक दो घण्टे की पतरेबाजी और गजन-तजन के बाद वह उसकी गदन और चेहरे पर अपने खूखार पजो से इतने प्रहार करता कि उसक प्राण देखत-देखते शून्य म मिल जाते। नही किसी का उद्धार नही था यहा स। न इस नीलमणि की काति वाले पीताम्बरधारी व्यक्ति का न उसके अभिशप्त जीवन का। उसकी आखें छलछला आइ। वह तो इस अभिशप्त जीवन को जीने को विवश थी। यही नियति थी उसकी। पर यह किस दुर्भाग्य का मारा स्वय यहा पहुच आया? काश वह बच पाती या नही, पर कम-स कम उस ही बचा देती तो उसक मन को फिर भी एक सन्तोष होता। उस गुफावासिनी अनाडी आदिवासी जगली नारी न प्रेम अथवा त्याग या उत्सग नामक कोई शब्द नही सुना था। न प्रथम दृष्टया आकषण की बात ही वह जानती थी। पर उसे इतना लगता अवश्य था कि इस पुरुष स श्रेष्ठ इस पृथ्वी पर शायद ही और कोई हो। वह सदा सदा के लिए उसका हो जाना चाहती थी पर अगर यह सभव नही था तो वह कम-से कम इस नर-श्रेष्ठ क प्राण ही बचा पाती तो कुछ कम बडी बात नहीं होती। बोलने की आदत उसकी चार पाच वष की उम्र से ही छटी हुई थी। उस समय तक जितन शब्द उसने सीखे थे वे पयाप्त नही थे इस अवसर क लिए। पर उन शब्दो से ही काम चलाना था उस आज।

अगर वह व्यक्ति उसकी तरह यहा बन्दी हो जाय तो क्या अच्छा हो एक क्षण को यह बात उसक मन म आई तब तो उसक दिन भी आराम स कट जाय। एक तो यह बन्दी बनाया नही जा सकता क्योकि उसकी तरह वह हत भाग्य नही होगा जिसका कोई और ठिकाना नहा हो दूसरे वह यहा के कन्दमूल पर अपना जीवन व्यतीत करे तो इसके शरीर की यह काति रह पायेगी?

'पथिक! तुम यहा से चले जाओ। जाम्बवती ने कहा। श्रीकृष्ण इस मोहक स्वर पर एक बार उसकी ओर मुडकर देखे फिर अपनी व्रजवासिनी प्रिया राधा की याद कर मन्द स्वर म बोले मैं जाने क लिए नही आया।

'तब?

'मैं इस स्यमतक मणि क लिए आया हू जिसके कारण गुफा असख्य सूय-रश्मियो द्वारा प्रकाशित-सी हो रही है।

'पथिक, मैं तुम्हारी भाषा नही समझ रही। पर इतना समझ गई कि तुम इस चमकीली चीज के लिए आये हो पर इतना समझ लो इसे हाथ भी लगाया तो मेरा यह पिता तुम्हे जीवित नही छोडेगा। जाम्बवती न अनुनय भरे शब्दो मे कहा।

"तो यह तुम्हारा पिता है ?" श्रीकृष्ण कुछ आश्चर्य से बोले।

"हा।'

"कैसे ?'

'क्योकि इसने मुझे जन्म नही दिया है पर पाला पोसा अवश्य है।

"तो अगर इस स्यमन्तक मणि जिसे तुम मात्र एक चमकीली चीज समझी हो, के लिए तुम्हारे इस विचित्र पिता से मेरा युद्ध हो तो तुम इसी का साथ दोगी ?

'नही मैं तटस्थ रहूगी।

'क्यो ?"

'क्योकि यह मेरा पिता जो हो तुम भी मेरे कुछ अवश्य लगने लगे हो। पता नही क्या एक ही दृष्टि मे मैं कैसे तुम्हे एकदम अपना मानने लगी हू। पर यह युद्ध और इसके सम्बन्ध मे सोचना भी व्यर्थ है। जाम्बवती निराशा से भर कर बोली।

"क्यो ?

'क्या क्या ? उत्तर स्पष्ट है। तुम ठहरे मेरी ही तरह साधारण मनुष्य। अगर तुमने इस मणि को हाथ भी लगाना चाहा तो अपने पजे के एक ही प्रहार से यह जाम्बवान तुम्हारा काम तमाम कर देगा।"

"तुम इस रीछ को जाम्बवान क्से कहती हो ?

'मैं नही कहती।"

"तब ?

'आस पास के लोग ऐसा कहते है। गुफा मे निकलकर कई बार इसे बाहर विचरण करते तो लोगो ने देखा ही है। वे कहते हैं यह वही रीछराज जाम्बवान है जिसने लका-युद्ध मे राम की सहायता की थी। यह महाबली है। भल्लूक यो भी शीघ्र नही मरते। हो सकता है वे ठीक ही कह रहे हो। मैं क्या जानू मैं तो पाच वर्ष की उम्र से ही यहा कैद हू। उस समय जो कुछ सुना समझा उसी के आधार पर कह रही हू। पर मैं तुम्हारे हाथ जोडती हू तुम यहा से चले जाओ।

'लौटना मेरी प्रकृति मे नही। श्रीकृष्ण ने दृढता से कहा।

"तब तुम्हारा कोई शव भी नही पायेगा ? कौन आयेगा इस भयावह गुफा मे तुम्हारी खोज-खबर लेने ? जाम्बवती रोने-रोने को हो आई।

श्रीकृष्ण के मन मे उसके प्रति स्वाभाविक सहानुभूति जगी तुम रोती क्यो हो ?'

'क्योकि तुम मुझे अच्छे नही, अपने लगते हो और अपनी आखो के सामने तुम्हारे शरीर के चिथडे होते देखना मैं सहन नही कर सकती। जाम्बवती के स्वर पर फिर अनुनय चढा था।

'तुम्हारा नाम क्या है ?

जाम्बवती।

यह तुम्हारे माता पिता का दिया नाम है ?

'माता पिता के नाम को लेकर अब क्या करना ? मेरा यह पिता जाम्बवान और मैं इसकी बेटी जाम्बवती।

'जाम्बवती ! श्रीकृष्ण ने सीधे उसे सम्बोधित किया ' मैं इस स्यमन्तक की ओर बढता हू। तुम चाहो तो गुफा के एक किनारे चली जाओ। यहा घोर युद्ध

होगा। पता नहा वह कब तक चले।" श्रीकृष्ण निर्णायक शब्दो म बोले।

'तुम्हे डर नही लगता ?' जाम्बवती अपने स्थान से बिना हटे ही बोली।

'नहीं डर मेरी प्रकृति म नही है।"

'पलायन तुम्हारी प्रकृति म नही है डर तुम्हारी प्रकृति म नही है आखिर तुम हो कौन ? एसा पुरुष ता मैंने अब तक नहीं देखा।

'मैं पुरुषात्तम हू।

'अथात् ? जाम्बवती कुछ नही समझकर बोला।

'मैं सभी पुरुषा म श्रेष्ठ हू अत पुरुषोत्तम हू।

"यह तुम कह रहे हो ?

'नहीं मैं नही कहता। इसे वह कहती है।

'वह कौन ?

"एक है जो मेरी सर्वस्व है। जा मेरे कारण न जीती है न मरती है। वह मुझे ससार का सवश्रेष्ठ पुरुष मानती है और एक दिन । श्रीकृष्ण यहीं पर रुक गए।

'एक दिन क्या ? जाम्बवती न जिज्ञासा की।

एक दिन वह मुझे भगवान के रूप म भी देखना चाहती है।

आदमी कहीं भगवान होता है ?' भोली जाम्बवती न प्रश्न किया।

'होता नही चाहे तो अपने सदगुणा अपने शौर्य-वीर्य अपनी चारित्रिक विशषताओ के कारण लग सकता है।

क्या नाम है उसका ?

'राधा। श्रीकृष्ण ने बडे मीठे शब्दो म कहा।

"तुम भी उसे बहुत मानते हो ?' जाम्बवती के स्वर पर निराशा चढी।

स्वाभाविक है। वह मेरी शक्ति है। मरी प्रेरणा। उसके बिना मैं कुछ नही हू।' श्रीकृष्ण भावातिरेक म बोल गए।

कोई बात नहीं ' जाम्बवती कुछ सोचती हुई बोली मैं फिर भी तुम्हारे साथ रहना पसन्द करूगी। न करो तुम मुझे प्यार। मैं तुम्हारे चरणो की दासी बनकर ही रहूगी।

'यह शब्द तुमने कहा से सीखा ?'

'कौन ?

यही प्यार ? यह तो बडा विशुद्ध और प्रेरक शब्द है और तुम तो पाच वर्ष की उम्र म ही यहा कद हो गई ? श्रीकृष्ण न आश्चय से पूछा।

'हम आदिवासियो म सब कुछ बहुत पहले ही जान लेते हैं। पर प्यार का जो अर्थ तुम मुझे बता रहे हो वह मेरे लिए सवथा अपरिचित है।

'होगा। पर अब वार्तालाप म ही बहुत समय निकल गया है क्या तुम अब मुझे अपने पिता इस रीछराज से युद्ध की अनुमति देती हो ?

एक बात पर ?

'कौन सी बात ?'

'अगर किसी तरह तुम विजयी हुए जो कि कठिन ही लगता है तो तुम्हे मुझे अपने साथ रखना होगा।

'असभव।

"क्यो ?"

"क्योकि मैंने पहले ही कहा कि मेरे अन्दर कोई और बसती है।

राधा ?

'हा।

'तो मैं तुम्हारे अन्दर नही, बाहर बसूगी।

"तो तुम्हारी मुझसे कोई अपेक्षाए नही होगी ?

"नही। न शारीरिक न मानसिक। यह तुम पर निर्भर करेगा कि तुम कैसे रखना चाहते हो।

"ठीक है। तो मैं इस स्यमन्तक की ओर बढता हू।

'पर सावधानी से। तुम्हारे हाथ मे कोई अस्त्र शस्त्र भी नही। पर चारो ओर देख लो। इस गुफा मे चट्टाने ही चट्टान पडी हैं—नुकीली और भारी। अगर तुम पैतरे बदलने में कुशल हो और इन चट्टानो का ठीक से प्रयोग कर सको तो विजयी भी बन सकते हो। पर इसमे लगेगा समय। यह रीछराज इतना शीघ्र मरने का नही। पर मैं तुम्हारी एक सहायता कर सकती हू।

'क्या ?

मैं तुम्हारे हाथ मे युद्ध के समय चट्टानें थमा सकती हू।

तुम ऐसा करोगी ? श्रीकृष्ण आश्चर्य से बोले।

'क्या ?

यह जाम्बवान तुम्हारा पिता है। तुम्ही ने तो कुछ देर पहले कहा था।'

हा, पर किया है क्या उसने ? मुझे बन्दिनी बना दिया है। आरम्भ मे मैं इसके प्रति भावुक अवश्य हो गई थी। पर अब नही। तुम्हे देखने के पश्चात लगा कि तुमसे बढकर कोई मेरा अपना है ही नही। हम आदिवासियो मे विवाह आदि की विधि बचपन मे ही पूरी हो जाती है अत मैं जानती हू कि विवाह के पश्चात पत्नी का प्यार केवल पति के लिए होता है। वह शेष सभी को भूल जाती है।'

'तो तुम्हारा विवाह हो गया ?'

हो तो गया।

"अच्छा ? किससे ?'

'तुमसे।

श्रीकृष्ण का मन खिलखिलाकर हसने को हुआ। कहा आये थे स्यमन्तक लेने कहा बैठे बिठाए यह रीछ-कन्या गले पडी।

"एक बात तो हो सकती है। उन्होंने कुछ सोचकर कहा।

'क्या ?

इस रीछ की हत्या के बाद मैं तुम्हें तुम्हारे मा-बाप के पास पहुचा दू ?

कोई नही है मेरा, जाम्बवन्त ने आरम्भ किया कोई रहता तो अब तक मेरी सुधि किसी-न किसी प्रकार नही लिये रहता ? यह रीछ क्या सदा इसी गुफा मे पडा रहता है ' और फिर मैं भी तो बाहर निकलकर गुफा के आस-पास घूम लेता हू ? और कहा तो कोई हो भी तो क्या ' अब तुम्हारे सिवा मेरा कोई नही।

तो अब मैं यह मणि उठाता हू। श्रीकृष्ण दो पग आगे बढते हुए बोले। रीछ जो अब तक चुपचाप बैठा यह सब तमाशा देख रहा था जोर से गुर्राया और उठकर खडा हो गया। उसे श्रीकृष्ण का मन्तव्य भान हो गया था। मणि मे वह

किसी भी स्थिति म हाथ नही धो मकता था। इमके पूव कि श्रीकृष्ण का हाथ मणि तक पहुचे, उसन पजे स मारकर उस भूमि पर गिरा दिया। और दूसरा पजा उसने श्रीकृष्ण की तरफ चलाया। श्रीकृष्ण पतरा काटकर उमके इस वार को बचा गया। सिंह मे भी अधिक क्षिप्रता स वार बचा जान की इम कला पर जाम्बवती मन-ही मन प्रसन्नता स भर गई। उस लगा कि यह पुरुष देखने म कामल चाहे जो हो पर था युद्ध-कुशल।

अपने वार को व्यथ जाते देख रीछ क्रोध से भर आया और वह बहुत जोर से श्रीकृष्ण की ओर उछला। जाम्बवती ने आखें मूद ली। उस लगा, अब प्राण गए इस पुरुष के। पर दूसरे ही क्षण रीछ की एक दद भरी गुर्राहट स उसने आखें खोली। श्रीकृष्ण उसके दाहिने पजे को अपने हाथ म पकड चुके थ और जोर पूवक उसे ऐंठ रहे थे। दद मे रीछ कराह उठा था। जाम्बवती का मन प्रसन्नता स तानिया बजाने को हुआ पर दूसरे ही क्षण वह रीछ मुक्त था। कुछ दूर जाकर खडा हो वह अपने पजे को जमीन पर रगड रगड उसे कुछ आराम दे रहा था। इसी मध्य जाम्बवती ने एक बडा चट्टान उठाकर उनकी तरफ बढा.। श्रीकृष्ण ने जोर से उस रीछ पर दे मारा। यह ठीक उसके पेट पर लगा। पजे और पेट के दद को भूलकर रीछ इस बार सीधे श्रीकृष्ण की ओर कूदा और उन्हें अपने दोनो पजो म दबोच लिया। जाम्बवती के तो प्राण मुह को आ गए। निश्चित था कि वह रीछ श्रीकृष्ण को अपने बडे-बडे नखो स फाड चीरकर रख देता। पर उसी समय जाम्बवती ने एक नुकीले चट्टान से रीछ के मस्तक पर भीषण प्रहार किया। बडे-बडे काले केशो के कारण रीछ के सिर म वह पत्थर कोई घाव तो नही कर सका पर उस वेदना असह्य हुई। उसने तत्काल श्रीकृष्ण को छोड दिया और जाम्बवती की ओर मुडा। वह उसकी सभी चालो स परिचित थी। बात की बात म वह पास के एक वक्ष पर जा चढी। श्रीकृष्ण को उसकी इस क्षिप्रता पर आश्चय हुआ। पर आश्चय करने का समय नही था। वह भल्लूक श्रीकृष्ण को छोडकर पेड की ओर बढ गया था और पीछे की ओर स पेड पर चढने लगा था। पेड पर चढ जाने पर वह निश्चित ही जाम्बवती को पकडने म सक्षम हो जाता और तब वह उसके चिथडे कर रख देता।

श्रीकृष्ण विकट स्थिति म थे। चूकि भल्लूक पीछे की ओर स ही पेड पर चढ रहा था अत उसके दोनो भयानक पजे और लम्बा कुरूप थूथन (मुह) नीचे की ओर ही थे। उन्हें छूना आसान नही था। फिर भी उन्होंने साहस स काम लिया और दोनो हाथो म उसके दोनो पजो को पकड उसे नीचे खीचना आरम्भ किया। वह नीचे तो नही आ सका पर उसकी गति जहा की तहा रुक गई। भयभीत जाम्बवती को तो लग रहा था कि किसी क्षण वह रीछ की चपेट म आ जायगी। जब देर हुई तो उसने डरते डरते पीछे मुडकर देखा। श्रीकृष्ण पूरी शक्ति स उसके दोनो पजो को पकडकर चल रहे थे और दोनो पिछले पैरो को पेड म फसाये वह अपने थूथन म श्रीकृष्ण के चेहरे पर प्रहार करने के प्रयास म लगा था पर वे उसका हर वार बचाए जा रहे थ। जाम्बवती को कुछ बल मिला। उसने दोनो हाथो म जोर-पूवक रीछ की पीठ पर प्रहार आरम्भ किया। पर खाली हाथो का यह प्रहार घन केशो स भरे रीछ का क्या बिगाडता? वह निश्चिन्त हो अपने पजो को श्रीकृष्ण के हाथो स छुडाने म लगा रहा। पर उसके पजे तो जैस

लौह शिकजे म फम गए थे। उसके लाख प्रयासो के बावजूद वे श्रीकृष्ण के हाथो स नही छुट पा रहे थे। थूयने से उनके चेहरे पर प्रहार करने का उसका सारा प्रयास विफल हो रहा था। उधर जाम्बवती ने एक नया ही उपाय निकाला था। पेड की एक अच्छी मोटी डाली को तोडकर उसने उससे रीछ पर प्रहार आरम्भ कर दिया था।

यह चोट रीछराज पर भारी पड रही थी। उधर श्रीकृष्ण के और जार लगाने और उसके अगले पजो को एठत जाने के फलस्वरूप वह विवश हो गया और अतत पेड को छाडकर वह भूमि पर जा कूदा। जाम्बवती कुछ देर पेड पर ही वठी अपनी उखडती सासो को सहेजती रही।

रीछ उधर दोनो परो पर खडा हो गया था और श्रीकृष्ण पर झपटन को प्रस्तुत था। वह क्रोध म आखें मूद कर श्रीकृष्ण की ओर तीव्रता से बढा। खडे रीछ के दाना पजा को श्रीकृष्ण ने दोना हाथो स पकड लिया। पजो के पकडे जान के बाद भी रीछ ने उन्ह जार का धक्का दिया। उसके भारी भरकम शरीर का धक्का श्रीकृष्ण नही झेल पाय और भूमि पर जा पडे। रीछ उन्ह पुन दबोचने के लिए आगे बढा पर श्रीकृष्ण बिजली की गति से उठ खडे हुए। रीछ भी पुन दोना परा पर खडा हो गया। उसने अगले पजा स श्रीकृष्ण के चहरे पर प्रहार करने का प्रयास किया पर वे उसके प्रहार को पैंतरे काट कर बचा गए और पीछे से अकस्मात सामने आकर उसके अगले पजो को पुन पकड लिया। अब दोनो गुत्थमगुत्था हो गए।

जाम्बवती भी अब तक पड से नीचे उतर आई थी और वह ध्यान स रीछ और श्रीकृष्ण के मल्ल-युद्ध का दखने म लग गई थी। उसे आश्चय हा रहा था कि वह विशालकाय रीछ इस व्यक्ति को अपन लाख प्रयासा क बावजूद भूमि पर गिरान म सफल नही हा रहा था। इस बार श्रीकृष्ण न ही उसके पजो का पूरी शक्ति से मरोड कर एक जार का धक्का दिया और रीछ पीछे की ओर एक खुरदरे चट्टान पर जा गिरा। श्रीकृष्ण उसकी छाती पर जा बठे और मुक्को स उसके वक्ष को पीटना आरम्भ किया। पर इसस उसका क्या बिगडना था? थोडी देर म अपनी मासो पर काबू पा वह कणभेदी आवाज म गुराया और एक जोर की उछाल दे श्रीकृष्ण को अपने ऊपर स दूर फेंक दिया। वह फिर दाना परो पर खडा हो गया। किन्तु उस बार उसने उनक पास आन की हिम्मत नही की। वह दूर म ही भारी भारी चट्टानें उठाकर उनकी ओर फेंकन लगा पर वे हर बार का बडी सावधानी से बचा जान। पत्थर फेंकत-फेंकत जब वह थक गया ता फिर वह दोना परो क बल पर खडा हो क्रोध स फुफकारत हुए उनकी तरफ बढा। क्रोध का अधिकता से उसक मुख स सफेद झाग निकल रहे थी और उसके नथुने जार-जार स फडक रहे थे। उनमे निकली गम सासें श्रीकृष्ण क चहरे का स्पष्ट स्पश कर रही थी। उसकी गदी सासो को झेलना भी उनक लिए कठिन हो रहा था।

व रीछ को आग बढत दख पीछे की आर खिसक और इसी मध्य जाम्बवती ने एक बडो चट्टान उनके हाथ मे थमा दी। उन्होंने उस घुमा कर रीछ क चेहरे पर द मारा। चट्टान भल्लूक क ठीक थूथन पर लगी और उसका नाक से रक्त प्रवाह आरम्भ हो गया। इसी मध्य श्रीकृष्ण न दूसरी चट्टान उठायी और उनका

वह वार भी खाली नहीं गया चट्टान ठीक रीछ के सिर पर लगी और तजी स आग बन्ता वह जहा का तहा बठ गया।

उस मध्य श्रीकृष्ण भी थक कर चूर हो गए थ। वह भी एक किनार बठ गए। जाम्बवती ने उन्ह कुछ फल और मवे लाकर दिए और एक पत्थर क पात्र मे जल भर कर दिया। जाम्बवान अपने स्थान पर बठा यह सब दखता रहा। उसके वाले रक्ष वश क्रोध म उठत गिरत रह। कुछ दर क विश्राम के पश्चात् दोना फिर उठ खडे हुए। रीछ फिर दोना परा स ही बढा। श्रीकृष्ण भी आग बढे और उसक दोना पजा को पकड कर जोर का धक्का दिया। वह तजी स उसी पड स टकराया जिस पर चन्कर कभी जाम्बवती न अपन प्राण बचाय थ। पेड धराशायी होकर भूमि पर जा पडा। उग बलवान रीछ ने इस पड का ही उठा लिया और उसी स प्रहार करने श्रीकृष्ण की ओर बढा। जाम्बवता क प्राण मुह को आ गए। उस लगा अगर पड का यह वार सीधा श्रीकृष्ण पर पडा तो वह बच नहीं पायेंगे। पर श्रीकृष्ण तत्परता स पतर काट गए और भल्लूक क ठीक पीछ आ उसकी कमर को अपनी दोना विशाल भुजाओ स पकड लिया। भारी पड को हाथ म लिये वह रीछ अपनी कमर को छडान के लिए छटपटाता रहा पर जब उसका कुछ वश नही चला ता उसन उस पड को बलपूवक जाम्बवता की ओर ही फेंक दिया। जाम्बवता तजी स पाछ भागी और बाल बाल बच गई।

श्रीकृष्ण अब घोर क्रोध म भर आये और शरीर की सारी शक्ति को अपने हाथा म भरकर उन्होंने भल्लूक की कमर ही मरोड डाली। वह कटे वक्ष की तरह भूमि पर जा गिरा। अब वह चाहकर भी नही उठ सकता था। जाम्बवती के आश्चय का ठिकाना नही रहा। इतन शक्तिशाली विशालकाय भल्लूक को कमर स तोड देना किसी साधारण व्यक्ति का काय नही हो सकता था। वह तीव्रता स श्रीकृष्ण के वक्ष स आ लगी।

यहा नहीं। यहा कोई और रहता है।' श्रीकृष्ण न धीर स कहा और जाम्बवती को वक्ष स हटा अपने पाश्व म खडा कर लिया। भल्लूक उधर भीषण दद स कराह रहा था। उसकी कराह से पूरी गुफा ध्वनित प्रतिध्वनित हो रही थी।

इस इस दद म छोडना ठीक नही।' जाम्बवती न कहा, आखिर इसने मुझे पाला तो है।

'तब ?' श्रीकृष्ण ने पूछा।

'उसके प्राणा को मुक्ति दे दो और फिर इस यहीं गाड दिया जाय जिससे इसक मास को कौए और गीदड नही खाए।'

ठीक कहती हो तुम पर इसकी विशाल काया से प्राणो को निकालना आसान है क्या ?

है। इन चट्टानो का प्रयोग करो। इनकी मार म घण्ट दो घण्टे न सही एकाध दिन म ता इसकी जीवन-लीला समाप्त ही हो जायगी। जीवन भर टूटा कमर लकर कराहने की अपेक्षा चट्टाना की मार का यह दद कम ही लगेगा। मैं जब एक चट्टान भा उस पर नही चला सकती। आखिर मैं उसकी पोषिता पुत्री जा हू।'

श्रीकृष्ण न वही किया और जब इस रीछराज का अच्छी तरह समाधि दे स्यमन्तक और जाम्बवती क साथ गुफा स बाहर आय तो वहा कोई नही था।

निश्चित ही उनके साथी उनकी प्रतीक्षा करते-करते निराश होकर लौट गए थे। गुफा में स्यमन्तक के द्वारा फूटते निरन्तर प्रकाश के कारण दिन और रात का भेद मिट गया था, अतः कहना कठिन था कि कितने दिन और कितनी रातें उन्होंने रीछ के साथ युद्ध में बिताये। बाद में द्वारिका लौटे तो पता लगा, पूरे बारह दिन लगे थे उन्हें गुफा में।

बयालीस

या देवि सर्वभूतेषु शान्ति रूपेण संस्थिता
नमस्तस्यै नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमोनमः।
या देवि सर्वभूतेषु कान्तिरूपेण संस्थिता
नमस्तस्यै नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमोनमः।
या देवि सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता
नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमस्तस्यै, नमोनमः।
या देवि सर्वभूतेषु मातरूपेण संस्थिता
नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमोनमः।

श्रीकृष्ण ने जब स्यमन्तक और जाम्बवती के साथ द्वारिका में प्रवेश किया तो स्थान-स्थान पर सम्पन्न हो रहे अनुष्ठानों और शक्ति-स्तोत्रों ने उनका ध्यान आकृष्ट किया। वे स्वयं दुर्गा भवानी के बहुत बड़े भक्त थे पर इस वृहत स्तर पर आयोजित अनुष्ठानों ने उन्हें आश्चर्य में डाल दिया। पर उनकी जिज्ञासा शीघ्र ही शान्त हो गई।

नगर-द्वार पर आते न आते पुरवासियों के समूह ने अपने प्रसन्नतातिरेक में सब कुछ बता दिया—'अरे आप सकुशल आ गए और साथ में यह सुर-दुर्लभ स्यमन्तक और यह स्वर्गिक सुन्दरी भी! हम सभी तो आपकी प्राण रक्षा और सकुशल वापसी के लिए ही मां भवानी के प्रति प्रार्थना रत थे। आपके साथ गए नागरिकों ने तो यहां यह दुःसंवाद फैला दिया कि आप किसी भयानक भल्लूक के द्वारा गत प्राण हो गए।'

'का-पुरुष!' श्रीकृष्ण के मुख से अनायास निकला, 'वे युद्ध समाप्ति तक मेरी प्रतीक्षा भी नहीं कर सके।'

'वे तो दो ही दिनों में भाग आए!' किसी वाचाल नागरिक ने कहा, 'उनके अनुसार दो दिन क्या दो घटे ही पर्याप्त थे उस खूंखार रीछ के लिए आपके चिथड़े कर देने को। उनके अनुसार उस रीछ के पदचिह्न किसी गज के पद चिह्नों से कुछ कम नहीं थे। वे तो नाखूनों और पंजों के माध्यम से स्पष्ट हुआ था कि वे किसी विशाल रीछ के चरण तल थे वरना कहीं भल्लूक भी होता है इतना विशाल!'

खैर वह भल्लूक मारा गया। श्रीकृष्ण ने लोगों को आश्वस्त किया। वे अपने महल तक लौटे जाम्बवती को रथ में बैठाए। पीछे पीछे प्रसन्नता से उन्मत्त हुआ नागरिकों का अपार समूह। जय-जयकार की गगनभेदी ध्वनि। अब तक

लोगो ने जाम्बवती का नाम भी श्रीकृष्ण मुख स ही पता कर लिया था और एक नई रानी क स्वागत के लिए नगर को मजाने-सवारन निकल गए थे।

श्रीकृष्ण को कुछ समय लगा था रुक्मिणी को प्रकृतिस्थ करने म। एक ओर तो वह श्रीकृष्ण क सकुशल आगमन स प्रफुल्ल चित्त थी वही दूसरी ओर एक अत्यन्त रूपवती अक्षत-यौवना बाला को उनकी पार्श्वगामिनी बनी देख वह एक अनाम पीडा स भी अभिभूत हो आई थी।

श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी के मन के भावो को पढा था और उन्ह आश्वस्त करने के लिए स्पष्ट किया था— यह दुर्भाग्य ग्रस्ता बालिका उस भल्लूक की काल गुहा म ही मिली। इसका कोइ कही नही है। उसन मुझे ही अपना सवम्व मान लिया है और यह भी स्पष्ट किया है कि उससे मुझे कोइ अपक्षा नही। कवल दृष्टि भर मुझे दख लिया करे, यही उसके लिए यथष्ट होगा। यह तुम्हारी सौत नहा सखी बन कर आई है।

पट्टमहिषी कुछ क्षणो तक तो स्तब्ध-सी खडी रही। सोचा पता नही क्या उस पुरुष पर मैं न्योछावर हुई जिस पर हर दिन कोई-न-कोई न्योछावर होकर आ जाता हैं ? अब तक इस महल म रानियों की कमी थी कि एक यह चली आ रही है ठीक स्यमन्तक मणि की तरह ही ददीप्यमान और ज्वलत। पर फिर कुछ सभल कर कहा, ' कोई बात नही स्वागत है नई रानी का। और फिर धीरे स जोडा जिसस बात कवल कृष्ण के कानो तक ही पहुचे जब हमन उस राधा को अब तक झल लिया जो तुम्हारे सास सास म बसी है तो ऐसी कई जाम्बवतियो को झलना भी हमारे लिए कठिन नहीं।

पर रुक्मिणी को क्या पता था कि यह स्यमन्तक मणि प्रसग क लिए जितनी अशुभ रही हो उसके लिए भी उसस कम अशुभ नही। अभी तो यह एक ही सौत लेकर आई है दूसरी इसी नगरी म प्रतीक्षा रत है। पर वह इस आशका स सवथा निश्चिन्त जाम्बवती क सत्कार और स्वागत म लग गई। वर्षों तक रीछ की गुफा म वास करन स उसक शरीर पर धूल गर्द और मन की एक मोटी पत्त सी जम गई थी। तन स भी एक विचित्र गध आ रही थी जो रीछ क शरीर की गध स ही मेल खाती थी।

अत्यन्त के स्नान मजन और सुगन्ध लेपन तथा वस्त्राभूषणो स सुसज्जित होन क पश्चात् ही वह श्रीकृष्ण की पार्श्ववर्तिनी बनन क सवथा उपयुक्त हुई और उस दायित्व को रुक्मिणी न पूरी सतर्कता स निभाया। वह जानती थी कि उस अशरण शरण न अपनी प्रकृति वश भल ही उस जाम्बवती को इस महल म ला पटका है पर उनक तटस्थ स्वभाव और प्राय अन्तर्मुखी प्रकृति क कारण उस श्रीकृष्ण सान्निध्य का अवसर तो मिलन स रहा। जब इतनी सुन्दर रूपवती पट्टमहिषी उनका मन नही मोह सकी और उनक मन क सिंहासन स उस स्वालन राधा को अपदस्थ न कर सकी तो यह रीछ की पालिता पुत्री क्या पाकर उनक मन को बाधगी ?

पर सत्यभामा ? वह तो एक अप्रत्याशित विपत्ति थी। सत्यभामा को क्या दखा नही था उसने ? सत्राजित की उस लाडली और षोडशी कन्या के समक्ष तो सौ पट्टमहिषियो के रूप पानी भरें। क्या सत्यभामा के साथ भी श्रीकृष्ण वही तटस्थ व्यवहार करेंगे, उसी स्थितप्रज्ञता का परिचय देंगे जो वह अन्य रानिया और विशेषकर पट्टमहिषी के साथ देते रहे है ? उसे क्या पता था कि यह स्यमन्तक मणि अपने साथ उसकी दो दो सौतें लेकर उपस्थित होगी ! भले कह लें श्रीकृष्ण उनको मात्र उनकी सखी पर ससार तो उन्हे उनकी सौत के रूप मे ही देखेगा ?

तैंतालीस

नहीं, स्यमन्तक नही रखनी थी श्रीकृष्ण को अपने पास। उनके भाल से कलक की कालिमा पुछ चुकी थी और यही पर्याप्त था। माना स्यमन्तक मणि सौभाग्य शालिनी थी, माना वह बहुमूल्य थी बहुमूल्य ऐसी कि द्वारिका का सम्पूर्ण साम्राज्य तुला पर एक तरफ रख दिया जाय और दूसरी तरफ स्यमन्तक तो भारी स्यमन्तक को ही पडना था—अपनी महत्ता, अपनी मूल्यवत्ता के कारण। माना श्रीकृष्ण बहुत श्रम से काल के मुह म प्रवेश कर ही उसे पुन द्वारिका वापस लाने म समर्थ हो सके थे। इस तरह उस पर उनका सर्वाधिकार था। वह चाहते तो उसे अपने पास ही रख सकते थे अथवा अधिक से अधिक उग्रसेन के कोष के हवाले कर सकते थे। पर नहीं, उनका कार्य अब पूर्ण हो चुका था। न उन्हे किसी धनराशि अथवा बहुमूल्य मणि माणिक्य की आवश्यकता थी न द्वारिका के कोष की ही।

स्यमन्तक को अब सत्राजित के पास लौटना था। प्रथम अधिकार तो उसी का इस पर बनता था। उसका अनावश्यक गर्व अब चूर चूर हो चुका था और उसका व्यर्थ अहकार सर्वथा के लिए आहत।

श्रीकृष्ण ने उग्रसेन को सिंहासनारूढ कर नगरवासियो की सभा आहूत की। सभी सामन्त और सभासद, सेनापति भी उपस्थित हुए। सत्राजित को भी विशेष स्वागत सत्कार के साथ उस सुसज्जित समारोह म उपस्थित कराया गया। एक उच्चासन पर उसे विराजमान कर नृप उग्रसेन की आज्ञा से श्रीकृष्ण ने सत्राजित को सम्बोधित किया—

"महामात्य सत्राजित भगवान सविता के प्रति आपकी आस्था अटूट है। उनके प्रति की गई आपकी तपश्चर्या अद्भुत अनुपम और अपरिमेय है। जगत म आपके सदृश सविता के अनुग्रह का पात्र अब तक न हुआ है न आगे होगा। महीनो तक सूर्य की ओर निर्निमेष रहकर आपने जिस गायत्री मन्त्र का पुरश्चरण किया वह सामान्य व्यक्ति के धैर्य और श्रद्धा के लिए एक अनन्य उदाहरण है। पर काश, सभी म यह निष्ठा जागृत हो पाती, सबम यही तपश्चर्या उदित हो जाती। पर ऐसा सभव नही है। तभी तो भगवान सूर्य की अनुकम्पा-स्वरूप यह स्यमन्तक मणि आप ही को मिली और आपके पूर्व न वह किसी को हस्तगत हुई न आपके पश्चात् ही यह किसी को प्राप्त होने वाली है। इस दृष्टि स आपकी साधना

सराहनीय है, आपकी उपासना अतुलनीय। आप हम सभी के वरण्य है हम सभी के श्लाघ्य, पूज्य और स्तुत्य।

"पर आपने एक ही भूल की। व्यर्थ ही भयभीत हो आपने उस मणि को द्वारिका से बाहर भेजने का प्रयास किया और उस क्रम म न केवल अपने प्रिय भाई प्रसेन से आपको हाथ धोना पडा अपितु आपने मेरे ऊपर भी कलक लगाने का अशोभनीय काय किया। निश्चय ही यह आपके साधक व्यक्तित्व के अनुकूल नही था। आपके तापस रूप को आपके अविवेक ने आच्छादित कर दिया वर्ना जान बूझकर आप मुझ पर चौर्य कम का आरोप नही लगाते। माना मैंने किशारावस्था मे व्रज म दधि माखन की चोरी की। पर वह तो कशोर लीला थी। आप कसे समझ गए कि व्रज का वह दधि माखन चोर द्वारिका म भी एक मणि चोर के रूप म सबकी सहमति का लक्ष्य बन जायगा?

"खैर जो हुआ सो हुआ। मेरे मस्तक स यह कलक भी धुल गया और स्यमन्तक मणि भी द्वारिका को वापस आ गई। पर मै आपको अपने अधिकार से वचित नही करना चाहता। यह निश्चय ही आपकी साधना का प्रतिफल है इसे आप ही को प्राप्त होना चाहिए। भले ही आरम्भ म मैंने इसे राजकोष म जमा करने की बात कही थी पर जब उसके कारण आपको अपने प्रिय भाई से भी हाथ धोना पडा तो मैं इसे नप उग्रसेन के आदेश स आप ही को वापस करना चाहूगा। आप इसे कृपया शिरोधाय करें।

*यह कहकर एक नय स्वण मजूषा म सुरक्षित स्यमन्तक को श्रीकृष्ण न सत्रा*जित की ओर बढाया। उन्होने उसके ढक्कन को थोडा सा उठाया जिससे उसकी झलक से सबकी आखें चौंधियाते चौंधियाते रही और सबको विश्वास हो गया कि मजूषा के अन्दर स्यमन्तक ही है। सत्राजित कुछ दर तक अपने स्थान पर काष्ठवत बठा रहा।

श्रीकृष्ण ने उसे पुन सम्बोधित किया पूज्य चरण सत्राजित आप सकोच क्यो कर रहे है? इस मणि पर अब किसी का अधिकार नही सिवा श्रीकृष्ण क। यह तो आपक तथा सम्पूण द्वारिकावासियो के हाथ स भी जाती रही थी। अब यह मेरी है और मैं स्वय इस आपको समर्पित कर रहा हू।

सत्राजित अब खडा हो गया और बोला आप धन्य हैं वसुदव पुत्र! ये सम्पूण बातें आप ही के मुख से शोभा दे रही है। आप पुरुषोत्तम है परम पुरुष! उस बलशाली रीछ का वध किसी साधारण व्यक्ति के वश की बात नही थी। आपने अपनी उदारता, कतव्य भावना प्रजा प्रियता के साथ साथ अनक बार अपने अद्भुत कायकौशल और बुद्धि चातुय के अलावा अपनी भजाओ के अपार बल और अपने अदम्य पौरुष और अद्भुत शौय का भी परिचय दिया है। कस वध के पूव और उसके पश्चात भी आपकी असामान्य वीरता और साहस स हमारा साक्षात्कार होता रहा है। सत्राजित थोडा रुके और फिर आखो की नम हो आई कोरो को पोछते हुए बोले 'माना कि उस मणि पर आपका सर्वाधिकार है और आप स्वेच्छा स मुझ उसे प्रदान कर रहे हैं पर इस नगर के नागरिक होने के नाते उस राजकोष क प्रति मेरा भी तो कुछ कतव्य बनता है। मैं भी अपनी स्वेच्छा स इस मणि को महाराज उग्रसेन के कोष मे दान स्वरूप प्रदान करता

हू।" सत्राजित के यह कहते ही सभा मे जोर की करतल ध्वनि हुई और दर तक होती रही।

सत्राजित् उतनी दर तक खडे रहे और जैसे ही करतल ध्वनि समाप्त हुई, वह बोले। सकोच का एक पर्दा उनके चेहरे पर स्पष्ट झलका पर दूसरे ही क्षण उसने उसे झटक दिया और गुरुगम्भीर स्वर म आरम्भ किया, "वासुदेव! मैं बहुत लज्जित हू। मैंने आपके साथ अक्षम्य अपराध किया है। पाप किया है मैंने और पाप बिना प्रायश्चित के नही कटता। अत, मैंने उसके प्रायश्चित का भी विधान कर लिया है। मैं इस सभा को साक्षी बनाकर कहता हू कि उस प्रायश्चित स्वरूप मैं अपनी अत्यन्त रूपवती कन्या सत्यभामा को आपको पत्नी रूप मे प्रदान करता हू। वह भी आपके प्रति अनुरक्त है और मुझे विश्वास है, आप मेरे इस अनुरोध को टालेंगे नही। इस स्यमन्तक को आप सत्यभामा का दहेज ही समझिए। दोनो का ग्रहण कर आप मुझे उपकृत करें और मेरे व्यथित और अपराध-बोध से ग्रसित अन्तर को शान्ति प्रदान करने की कृपा करें"। इतना कहकर सत्राजित ने सिंहासन के प्रति सिर झुकाया और बिना कोई एक शब्द बोल सभागृह से बाहर चल गए।

ठहरिए, ठहरिए। आपने यह क्या किया? स्यमन्तक तो ठीक पर यह सत्यभामा? मैं इसे कैसे?' पर श्रीकृष्ण का वाक्य पूरा भी कहा हो पाया? सत्राजित् तब तक उनके शब्दो की पहुच से दूर जा चुके थे।

चौवालीस

सत्यभामा ने देखा था श्रीकृष्ण को। सत्राजित् की एकमात्र सन्तान थी वह। ऐसे नही भी देख पाती वह उन्हे। द्वारावती मे रहती वह अवश्य थी पर पिता के विशाल महल के प्राचीरो ने उसे असूर्यपश्या ही बना छोडा था। महल के महाद्वार के बाहर उसके पैर शायद ही निकल पाते थे। पिता सत्राजित की अपेक्षा पितृव्य प्रसेन का पहरा ही अधिक प्रबल था जो उसके पैरो की बेडिया बन अडा-पडा था। बाल्यकाल तो अतीत की सुखद स्मृतियो के रूप म ही सुरक्षित था पर कैशोर के पदार्पण के साथ ही उसकी स्वच्छन्दता निर्बाध नही रही थी। कृष्ण का भय जो था! वय की पक्की बेला म पहुचकर भी श्रीकृष्ण का आकर्षण असह्य पिताओ की चिन्ता का विषय था। गोकुल की सर्वथा अनर्गल गाथाए द्वारिकापति के व्यक्तित्व से अब भी किसी विशाल वृक्ष के गिर्द गुम्फित लता-गुल्मो की तरह ही लिपटी पडी थी। अपनी वय प्राप्त सुताओ की दृष्टि-पथ म द्वारिकाधीश नहीं आये यही प्रयास अधिकाश पिताओ का रहता विशेषकर उनका जिनकी यौवन प्राप्त पुत्रिया कुछ अधिक ही आकर्षक थी।

और सत्यभामा आकर्षक थी—आवश्यकता से अधिक। चादनी घुले शरीर पर शोभती शख ग्रीवा और उसके ऊपर आकार ग्रहण करता त्रिभुजाकार तेज-पूर्ण आनन। सीधी ऊची नासिका। कानो तक खिंचे दीर्घ नयन। प्रफुल्ल उत्पल की तरह खिले कपोल-युगल। रूप के साथ ही बुद्धि विवेक का उदार दान भी

दिया था प्रकृति ने सत्यभामा को।

इस रूपमी को पृथक ही रखना था श्रीकृष्ण की दृष्टि से, सत्राजित और उसका भाई प्रसेन कोई भी खतरा मोल लेने को तैयार नहीं थे। श्रीकृष्ण सत्यभामा की ओर आकृष्ट हो या नहीं पर सत्यभामा उन पर प्रदीप पर टूटते पतंग की तरह नहीं बिछ जायगी यह नहीं कहा जा सकता था। और हुआ यही था। पर हुआ वही जिसका भय था।

बात कुछ दिनों पूर्व की है। स्यमन्तक मणि की घटना के पूर्व की थी। श्रीकृष्ण उस दिन इन्द्रप्रस्थ से लौट रहे थे। द्वारिकापति के अभिनन्दन में पूरी द्वारावती नगरी नव-नवली वधू की तरह सजाई गई थी। राजमार्ग पर पवित्र जल का छिड़काव किया गया था और मंगल-कलशों को सिर पर सजाए नगर बालाएं मांग के दानों और पीत परिधान में सजी खड़ी थीं— पीताम्बर धारी के अभिनन्दन में। पिता और चाचा किसी विशेष कार्य से नगर से बाहर गए थे और उनकी अनुपस्थिति का सहारा ले सत्यभामा भी सिर पर एक जल-पूरित रंगीन कलश सजाये सहेलियों की पंक्ति में जा लगी।

बहुत सुन रखा था श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में उसने। बचपन में कभी देखा था उन्हें पर उसके बाद तो बस सुनती ही भर रही थी उनके बारे में।

श्रीकृष्ण रथ से उतरे तो दोनों ओर सजी कलश-सज्जित बालाओं के बीच से अपने पीताम्बर के छोर को संभालते आगे बढ़े। पग ऐसे पड़ रहे थे जैसे वनराज केसरी अपनी अलमस्त उन्मुक्तता में बढ़ता जा रहा हो—आगे-पीछे बायें दायें का ख्याल किये बिना! स्वागत में खड़े नगर जनों और ललनाओं-बालाओं पर उन्होंने एक दृष्टि डाली थी—उड़ती हुई-सी। उनके स्वागत को अपने मुख पर सदा खेलती मन्द मुस्कान को थोड़ा विस्तार दे अपनी स्वीकृति भी प्रदान की थी पर सत्यभामा को तो शायद वह देखकर भी नहीं देख पाये थे। जैसे कोई षोडश व्यंजन से सजी थाली पर एक उपेक्षा की दृष्टि भी नहीं डाले। जैसे किसी के लिए निरभ्र आकाश में उगे कार्तिक के पूर्ण चन्द्र का भी कोई अस्तित्व नहीं हो—उसकी ओर आँखें उठें तो पर उसका स्वर्गिक स्वरूप जो सागर-लहरों तक में हलचल मचा देता है उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखता हो।

सत्यभामा का सौन्दर्य आहत हुआ था। आकर्षण-जनित उसका दर्प एक क्षण पूर्व किसी भुजंग के तने फन के सदृश सहसा दूसरे ही क्षण सिमट सिकुड़ कर नत हो आया था। अपनी ओर से वह पूरी तरह तैयार होकर गई थी। किसी कोण से भी अपने का शृंगार-सँवारने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। पर वरांगनाओं की रूपशिखा के विवश पतंग के रूप में ख्यात इस व्यक्ति ने तो इसकी साज सज्जा, सौन्दर्य आकर्षण यहाँ तक कि शरीर-सौष्ठव को कोई महत्त्व ही नहीं दिया था।

श्रीकृष्ण नगरजनों में विलीन हो गए थे। कुमारिकाएं अपने जल-पूरित घटों को लेकर अपने घरों को विदा हुई थीं। पर सत्यभामा बहुत देर तक पथ के किनारे ही खड़ी रही थी। एक झंझावात सा जो उसके मन के अन्दर जग आया था। अब लगा था पिता सत्राजित और विशेषकर पितृव्य प्रसेन उसकी दृष्टि तक भी कृष्ण पर क्यों नहीं पड़ने देना चाहते थे। ओह! ऐसा सौन्दर्य उसकी तो कल्पना भी सत्यभामा ने नहीं की थी। लोग कहते हैं श्रीकृष्ण साक्षात ईश्वर हैं परमेश्वर। तो ईश्वर का ही सौन्दर्य था क्या वह? ब्रह्म-सौन्दर्य? हां,

किसी मानवीय आकृति में यह आकर्षण तो सत्या ने अब तक नहीं देखा था। या बहुत घूमी फिरी नहीं थी। पर पिता के घर आते-जाते बहुतों को देखा था। नगर के बाहर के लोग भी किसी न किसी कारण प्रति दिन वहां आते ही रहते थे। प्रत्यक्ष नहीं तो प्रासाद के गवाक्षों से तो बहुतों को निहारा ही था उसने। नगर के अधिकांश नागरिकों को भी देखा था पर्व-त्योहारों और उत्सवों पर। पचास प्रतिबंधों के बावजूद सहज पुरुष आकर्षण ने उसे बार बार लोगों की ओर खींचा ही था—उसकी दृष्टि अनचाहे भी उन पर अटकी ही थी। पर रूप का यह सागर! इस वय में भी श्रीकृष्ण का यह आकर्षण! अब तक का देखा सुना सब कुछ व्यर्थ हो गया था। अब पुरुष की कोई परिभाषा, उसकी कोई पहचान सत्या के लिए कुछ अर्थ रखती थी तो वह श्रीकृष्ण ही थे। उनके अलावा अब उसे कुछ भी, कोई व्यक्ति या दृश्य भी बांधने वाला नहीं था।

पर अभी तो काल ही जैसे थम गया था सत्यभामा के लिए। पृथ्वी अपनी धुरी पर चलते चलते जैसे रुक गई थी। क्षण पलों में बदल गये और पल भी इतने लम्बे खिंच गये कि, राजपथ पर उतरती लम्बी छाया का भी ध्यान उसे नहीं रहा था।

ठीक इसी समय अश्व पर आसीन पितृव्य उधर आ निकले थे। सत्यभामा को यहां और इस रूप में पा उनकी आंखों में आश्चर्य से अधिक प्रश्न उभरा था। सत्या को लगा था कि अश्व की पीठ पर पड़ने वाला कशाघात पितृव्य के हाथों सहसा उसकी पीठ पर नहीं पड़ जाय। पर ऐसा हुआ नहीं था। प्रसेन अश्व से उतर गए थे और सत्यभामा को अपने संग चलने का संकेत किया था।

श्रीकृष्ण के स्वागत में आई थी? अन्य जनपद-वालाओं की तरह?' प्रसेन ने कुछ ऊंचे स्वर में ही पूछा था।

सत्या ने अंतर में साहस बटोरा था और छोटा-सा उत्तर दिया था, "हां।"

यह जानते हुए भी कि वह हम लोगों का घोर शत्रु है?'

सत्यभामा इस बार कुछ नहीं बोली थी। उसके पितृव्य की आंखों में कुछ क्षण पूर्व तैरता प्रश्न अब उसकी बड़ी-बड़ी सजल आंखों में तैरने लगा था—शत्रु! इतना सुदर्शन व्यक्ति भी किसी का शत्रु हो सकता है क्या? हो भी तो वह अकारण कैसे होगा, अनायास? अंदर का सौंदर्य ही बाहर प्रस्फुटित होता है कि नहीं? जो भीतर से सुंदर नहीं हो वह बाहर से सुंदर हो पाएगा क्या, वह भी इस रूप में? नहीं श्रीकृष्ण किसी के शत्रु नहीं हो सकते। पिता और पितृव्य ने यों ही शत्रु भाव पाल लिया होगा उनके लिए। सत्यभामा कुछ निश्चय कर रही थी अंदर ही-अंदर। प्रसेन ने अनुभव किया था कि उसने उसके प्रश्न का उत्तर नहीं दिया था पर अब पूछने से लाभ भी नहीं था। वह इतना बेवकूफ नहीं था कि सत्यभामा के मन की बात को नहीं पढ़ सके। उसने भी अपना कर्तव्य निर्धारित कर लिया था और घर आते ही भाई सत्राजित को सतर्क कर दिया था—'आखिर उस जादूगर के मोह पाश में हमारी बेटी भी बंध ही गई। अब इसके बंधनों को और कड़ा करना पड़ेगा।'

उधर दूसरे ही क्षण बिना कुछ विलम्ब किए सत्यभामा ने अपनी विश्वस्त परिचारिका से श्रीकृष्ण को लिखित संदेश भिजवाया था—"यह जीवन पुष्प आपके चरणों में चढ़ गया। चाहें तो इसे उठाकर अपने हृदय से लगा लें या अपने पैरों के नीचे मसल कर इसके अस्तित्व को ही निःशेष कर दें। सत्यभामा अब

श्रीकृष्ण के सिवा किसी और पुरुष की कामना तो अलग, उसकी छाया से भी दूर रहने का दृढ़ प्रतिज्ञ हो गई है।"

श्रीकृष्ण ने इस सन्देश को पढ़ा था। कुछ कहा नहीं था परिचारिका को। पर मन-ही मन कुछ निश्चय किया था। सत्यभामा को भले ही उस दिन, उस भीड़ में भी उन्होंने देखकर भी नहीं देखा हो। पर उसके रूप के आकर्षण से कहा अपरिचित थे वह? परिचारिका ने उनकी आंखों में तैरते भाव को पढ़ा था और आकर सत्यभामा को अपना निर्णय सुना दिया था— श्रीकृष्ण आपको या तड़पत नहीं छोड़ सकते। वे जो चाहते हैं पा सकते हैं। मुझे तो लगता है पहले से ही वे आपको अपनाने का व्रत-संकल्प हैं। आपको अब और कुछ नहीं करना है सिवा प्रतीक्षा के।'

और अब प्रश्न नहीं रहा था। पिता के द्वारा अपने को श्रीकृष्ण को सौंप देने की बात भी सत्यभामा ने सुन रखी थी। अब कोई बाधा नहीं थी। उसका आरम्भिक आकांक्षा की पूर्ति का समय आ गया था पर भय वही था जो प्रायः द्वारिका की प्रत्येक किशोरी के मन में था—श्रीकृष्ण तो सबके होकर भी किसी के नहीं हैं। अगर वह पूरी तरह किसी के हैं तो है वह रा धा? पर क्या लेना देना था सत्यभामा को राधा से? वह जहां पड़ी है पड़ी रहे। श्रीकृष्ण को नित्य देखने का, उनके सान्निध्य का अधिकार तो उसे मिल गया था! यही पर्याप्त था उसके लिए। जलना हो तो जलें पट्टमहिषी राधा से। उसे किसी से कोई ईर्ष्या नहीं। श्रीकृष्ण उसके हो गए—मन से अथवा बेमन से—इसी में उसकी सार्थकता थी। पता नहीं पिताजी को भगवान ने कैसे सुबुद्धि दी कि जिस प्रस्ताव पर पितव्य दावाग्नि की तरह भड़क उठते थे उसी प्रस्ताव को पिता ने स्वयं दे दिया।

पैंतालीस

श्रीकृष्ण ने ही गीता में कहीं कहा है कि मनुष्य के अन्दर विराजमान ईश्वर ही उसे नाना नाच नचा रहा है जैसे किसी यन्त्र पर चढ़ा मनुष्य घूर्णायित होने को विवश हो—' भ्रामयन् सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि मायया।

इसी कालचक्र के वशीभूत हो श्रीकृष्ण की बुआ के पुत्र और उनके प्राण-सखा पाण्डव दर दर भटकने को विवश थे। कौरवों को वे फूटी आंखों भी नहीं सुहाते थे, वे ही कौरव जो उनके पिता पाण्डु के सहोदर भाई के पुत्र थे। दुर्योधन, दुःशासन एवं उनके मित्र कर्ण आदि उनके प्राणों के पीछे पड़े थे। हस्तिनापुर के सिंहासन पर या तो पाण्डवों अर्थात युधिष्ठिर, भीम अर्जुन नकुल सहदेव आदि का अधिकार बनता था क्योंकि उनके दिवंगत पिता पाण्डु ही उस सिंहासन के अंतिम अधिकारी थे किन्तु अंधे धृतराष्ट्र ने पाण्डु के देहावसान के पश्चात जब राज्य भार संभाला तो उनके ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन के मन में स्वार्थ ने कुछ ऐसी जड़ जमाई कि पाण्डवों को अपने मार्ग से ही हटाने को कटिबद्ध हो आया। वह

अपने पथ को निष्कटक कर हस्तिनापुर के सिंहासन को अपने लिए सदा के लिए सुरक्षित करना चाहता था।

दुर्योधन की कुटिल गति-नीति म उसके मामा गाधार-नरश शकुनि की महती भूमिका रही और वह अपने राज्य का छोडकर हस्तिनापुर म ही डेरा डाल बठा रहा।

शकुनि ने पाण्डवो से मुक्ति पाने का एक बहुत अच्छा यत्न निकाला। राजधानी हस्तिनापुर से कुछ दूर वारणावत्त नामक एक स्थान था। शकुनि न वहा लाक्षागह नामक एक विश्राम स्थल का निर्माण कराया—इस विश्रामालय की विशेषता यह थी कि यह लाक्षा एव सन आदि ऐसे पदार्थों से निर्मित था जो बात-की-बात मे आग पकडकर सम्पूण गह को स्वाहा करने मे समथ थे।

शकुनि ने धतराष्ट्र को परामश दिया कि वे पाण्डवा को अपनी माता कुती के साथ इस विचित्र विश्रामगह म कुछ दिन विश्राम करने को बाध्य करें। स्वाथ से भरकर अदर की आखो को भी खो चुके धृतराष्ट्र को शकुनि की यह योजना पर्याप्त रुचिकर लगी और उन्हाने युधिष्ठिर को सपरिवार वारणावत्त जाने के लिए सहमत कर लिया।

विदुर दासी-पुत्र थे। पर थे वडे नीतिज्ञ, कुशल और धमवेत्ता। वे धतराष्ट्र और पाण्डु के भाई हुआ करत थे क्योकि तीनो एक ही पिता कृष्ण द्वैपायन व्यास के पुत्र थे। पाण्डवा क प्रति हो रहे अयाय और अनीति ने उह अदर से अव्यवस्थित कर दिया था पर वे कर भी क्या सकते थे? धतराष्ट्र और शकुनि तथा दुर्योधन के समक्ष उनका कोई वश नही चलता था। दुर्योधन पूणतया उद्दड था और युधिष्ठिर को समाप्त कर युवराज बनने के सपने उस रात तो रात, दिन म भी आते थे।

लाक्षागह म वास के लिए प्रस्थान के पूव विदुर न युधिष्ठिर को वहा की स्थिति को इशारे स ही स्पष्ट कर दिया।

पाण्डवा क साथ गया था पुरोचन—दुर्योधन का परम मित्र। उसे ही अवसर पाते ही लाक्षागह को अग्नि की लपटो के हवाले करना था। युधिष्ठिर सतक थे। वे बारी-बारी स दिवा रात्रि एक-न एक भाई को प्रहरी के रूप म नियुक्त कर पुरोचन को अपन दुष्कम के सम्पादन का अवसर ही नही प्राप्त करन देत। इसी मध्य पाण्डव-बधुओ ने गह के अदर स एक सुरग खोद निकाली जो एक दूर के बियावान वन मे निकलती थी।

सुरग की समाप्ति के दिन ही पाण्डव लाक्षागह से बाहर निकल गए। पुरोचन ने पहरे पर किसी को न पाकर उस दिन अद्धरात्रि मे लाक्षागह को लपटा के हवाले कर दिया। भाग्य की मारी एक भीलनी ने उसी दिन अपन पाच पुत्रा के साथ उस गह को रिक्त पा उसी म अपना डेरा डाल दिया था। रात्रि म आग की लपलपाती जिह्वाओ ने जब लाक्षागृह को भस्मीभूत कर दिया तो शयनावस्था म ही भीलनी और उसके पुत्र जलकर भस्म हो गए।

सुबह दखी पुरोचन न व जली लाशें। वह निश्चित हो गया—पाण्डव अपनी माता के साथ जल मरे।

वह प्रसन्नता स भरा हस्तिनापुर लौटा और यह सुख-सवाद दुर्योधन, शकुनि और धतराष्ट्र तक पहुचाया। दुर्योधन और शकुनि का तो प्रसन्नता का पारावार

नही पर अधे धृतराष्ट्र को पश्चात्ताप ने घेर लिया। सब कुछ होते हुए भी वे अभी ऐसी निष्ठुरता के लिए प्रस्तुत नही थे। पर हो भी क्या सकता था? वे कुछ दिनो तक पश्चात्ताप की अग्नि म भस्म होते रहे फिर शन शन सब कुछ सामान्य हो गया।

रात, बात की बात म जगल की आग की तरह सवत्र फैल गई। उसकी लपटो को द्वारिका पहुचने म भी कुछ समय नही लगा।

पाण्डव बुआ कुन्ती के साथ लाक्षागृह म जल मरे इससे अधिक दु खद सवाद श्रीकृष्ण के लिए क्या हो सकता था? बलराम भी इससे बहुत दु खित हुए। दोनो भाइयो ने हस्तिनापुर जाकर स्थिति का सही अनुमान लगाना चाहा।

बलराम और श्रीकृष्ण के रथ द्वारिकापुरी से हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान कर गए। राज्य का सचालन-सूत्र तो महाराज उग्रसेन के हाथो म था ही। नगर की सुरक्षा-व्यवस्था को और सुदृढ कर दिया गया और मन्त्रियो-सामन्तो को आवश्यक निर्देश दे दिए गए जिसस नप उग्रसेन को राज्य-सचालन मे कोई असुविधा नही हो।

छियालीस

हस्तिनापुर के लिए बलराम श्रीकृष्ण के प्रस्थान के पूव सत्यभामा श्रीकृष्ण का परिणय राज्योचित गरिमा के साथ सम्पन्न हुआ था। आखिर न तो सत्राजित को किसी वस्तु की कमी थी न श्रीकृष्ण को। ठीक है कि सत्यभामा को उस सबका पता था जो हर द्वारिकावासी की जिह्वा पर था अर्थात राधा-कृष्ण का अब तक प्राय अमर हो गई गाथा पर श्रीकृष्ण के साथ अपन ववाहिक सम्बध को उसने उनके प्रथम विवाह की ही शालीनता प्रदान करने का कोई प्रयास शष नहीं रखा। वह जानती थी कोई स्थान नही बना पायेगी श्रीकृष्ण के अ तस्तल म वह, पर उनके राजमहल म ही स्थान बनाना कम बडी बात थी क्या? वहा प्रतिदिन श्रीकृष्ण को दृष्टि भर देखन का सुख तो मिलता?

पटटमहिषी के लिए क्या करना था? नियति के साथ समझौता। वह तो वह पहले ही कर चुकी थी। अब चाह जितनी सत्यभामाए आयें अथवा जाम्बवतिया, उन्हें सबको सहना था। उनके पूर्व भी कुछ कम ललनाओ ने श्रीकृष्ण-महल की शोभा बढाई थी? पर वे सब थी दत्ता। प्रसन्न और उपकृत पिताओ द्वारा आर्यावर्त की सेवा म स्वय समर्पित न्याए। वे विशाल महल के कोनो म पडी रहती थीं। श्रीकृष्ण की दृष्टि उन पर पडते-पडते भी नही पडती। पर एक तरह म उन उपेक्षिताओ को रुक्मिणी न अपनी अतरग सखिया ही बना डाला था और कुछ नहीं तो 'राधा' का नाम लेकर श्रीकृष्ण को चिढाने मे तो वे उसकी सहायता करती थी।

पर जाम्बवती और सत्यभामा? य तो एक तरह से श्रीकृष्ण की स्वय उपार्जिता अनिद्य सुन्दरिया थी। स्यमन्तक मणि ने सत्राजित् को चाहे स्वर्ण जितना दिया हो, श्रीकृष्ण को भी उसने कुछ कम नही दिया जाम्बवती और सत्यभामा

के रूप म। उम्र के जिस मोड पर पटटमहिपी पहुच चुकी थी वहा उह अब सहायिकाओ की आवश्यकता थी—अतरग सहायिकाओ की जो उनके दुख सुख को बाट सकें और श्रीकृष्ण सेवा म उनकी सहायिका वन सकें। ऐसे, महल म दास-दासियो की क्या कमी थी, पर सबकी सेवाए ली भी तो नही जा सकती थी? अत, इन सौत सुन्दरियो का भी स्वागत पटटमहिपी न एक तरह से पूण मन से ही किया और व उनकी अभिन बनकर रह गइ। हा रुक्मिणी की एक मात्र प्राथना यही थी कि अब कोई और श्रीकृष्ण पर अपना अधिकार जताने नही आ जाय। पर भविष्य के गभ मे इस सवस भी अकल्पनीय और असह्य पीडा पडी थी, इसका पता भी उह कहा था?

श्रीकृष्ण और सत्यभामा क परिणय क काल ही लाक्षागह म पाण्डवो के जल मरने की बात बलराम और श्रीकृष्ण के पास पहुची थी। अत इस विवाह कम की समाप्ति के पश्चात ही वे दाना पाण्डवा के अवेपण म चल पडे। उह पूण विश्वास था कि पाण्डव उतन मूख नही कि दुर्योधन क बिछाए जाल म वे किसी विवेक शून्य पशु की तरह प्रवेश कर जायेंग। अवश्य वे अपनी प्राण रक्षा मे सफल हुए होंग। पर व कहा ये कस थ और उन तक पहचा कस जा सकता था, उन प्रश्नो का उत्तर आसान नही था।

विवश उह पहले हस्तिनापुर ही जाना पडा। धतराष्ट दुर्योधन आदि उनक अपरिचित नही थ। उनसे उनका साक्षात्कार भल न हुआ हा पर श्रीकृष्ण के राष्ट्रव्यापी स्वरूप से उनका अब तक परिचय नही हुआ हो एसा सभव ही नही था। फिर उह यह भी पता था कि पाण्डव माता कुन्ती उनकी बुआ थी अत पाण्डवो के प्रति उनका विशेप आकपण भी स्वाभाविक था।

हस्तिनापुर म बलराम और श्रीकृष्ण को वही सवाद दिया गया जिस वहा सुविचारित रूप म प्रचारित किया गया था—पाचो पाण्डव राजमाता कुन्ती के साथ लाक्षागह म जल मरे। किसी से उह कोई आशा नही थी।

आशा के केन्द्र बिन्दु थे तो विदुर। कौरव होकर भी जा कौरवा की कुटिलता से सवथा अछूत थे। श्रीकृष्ण क बाल्यकाल की घटनाओ और कस-वध की बात स लेकर द्वारिका म सदश समुद्र गभ म एक स्वगपुरी ही बसाने की बात का उन्हे पूरी तरह पता था। समग्र भारत के असख्य नर-नारिया की तरह वह भी इस मानव तनधारी श्याम वण सुन्दर किन्तु अनन्त पराक्रमशाली व्यक्ति मे नर नही नारायण का वास मानत थे।

विदुर न उह वास्तविकता से परिचित कराया और बलराम श्रीकृष्ण के प्राण लौटे।

'नही वे लाक्षागह म नहा मरे। विदुर ने उह बताया मैंन उनके प्रस्यान काल पर्याप्त इगित कर दिया था। बाद म मैंने वहा पाय गए शवो की परीक्षा भी स्वय की। उनम किसी पाण्डव का कोई शव नही था। कम-से-कम उस मत्त गजराज को भी मात दन वाल भीम का शव तो उन मृतका म कही नही था। भीम की हड्डियो का जला-बचा ढाचा भी किसी छोट मोटे पहाड से कम क्या लगता? व लाशें थी किन्ही अधमरे भिखारियो और उनकी माता की। मा का

शव कुछ कम ही जल पाया था पर दुर्योधन के उस मूख सहायक पुरोचन को यह भी नही दिखाई पडा कि एक भीलनी के आधे जले आधे बचे मुख पर राजमाता का मृत तेज भी कही नही था। वह चाहता तो केवल इसी शव के आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लेता कि पाण्डव सकुशल बच गए। पर एक मदान्ध युवराज के सहायक की खुली किन्तु अन्धी आखो को इतना कुछ देखने-समझने का अवसर कहा था, उसने तो हस्तिनापुर लौटकर स्पष्ट घोषित कर दिया कि भस्मीभूत हो गए पच पाण्डव अपनी दुर्भाग्य दग्धा माता के साथ।

"पर उनका मन्धान कैसे मिले ? श्रीकृष्ण ने पूछा।

"आप सर्वज्ञ होकर मुझसे यह पूछते है। इस आर्यावर्त म कौन नही जानता कि अमित बल बुद्धि विद्या युक्त आप स्वय ही परमात्मा है। आपको सब कुछ पता होगा। विदुर ने हाथ जोडकर कहा।

अब आप भी अन्य लोगो की तरह अन्धविश्वासपूर्ण बातें करने लगे। मैं भगवान आदि कुछ नही, आप ही लोगो की तरह एक सामान्य जन हू। नारायण नही नर हू मैं। कृपया मुझे अनावश्यक मान नही दें। श्रीकृष्ण ने निवेदन किया।

'श्याम सुन्दर ? विदुर का स्वर सहसा बदला 'मैं धृतराष्ट्र का सगा भाई सही पर मैं उनकी तरह अन्धा नही और न राजमहल के भोगो से सर्वथा असम्पृक्त रह, एक पर्ण कुटीर म साधना रत रह मैंने धूप मे ही अपने केश श्वेत किए हैं। मैं जानता हू तुम कौन हो। ठीक है तुम भगवान पैदा नही हुए थे पर मनुष्य अपनी साधना और शौर्य के बल पर भगवान का भी अगूठा दिखाने की क्षमता से युक्त हो सकता है। किशोरावस्था म ही कस के प्राण हरने वाला अठारह-अठारह बार जरासध की तईस-तईस अक्षौहिणियो को धूल चटाने वाला सागर की लहरो के मध्य अलकापुरी को भी मात देने वाली द्वारिकापुरी को बसाने वाला आदमी तो आदमी एक दुर्दात पशु—साक्षात मृत्युस्वरूप उस रीछराज की गुफा म प्रवेश कर निरन्तर बारह दिन तक युद्ध रत रह अन्तत उसके प्राणो को हरने म सफल होने वाला नर नारायण नही तो और क्या होगा ? और सब कुछ भूल भी जाय तो गुरु सादीपनि के आश्रम म अलग-थलग रह तुमने जो यौगिक साधना की जिसके बल पर भूत वर्तमान भविष्य सभी तुम्हारे लिए हस्तामलकवत हो गए इस बात को कैसे भूल जाऊ ? तुम्हारे नये जीवन दर्शन, तटस्थता और समता के धरातल पर स्थित तुम्हारे नूतन योग सिद्धान्त की बात क्या मुझसे छिपी है ? सादीपनि के शिष्यो ने मुझे सब कुछ बता दिया है। तुमने और कुछ नही तो अपनी अलौकिक योग साधना के बल पर अदभुत यौगिक शक्तिया तो उपार्जित की ही है। उन्ही का उपयोग करो और पाण्डवो का सधान अभी मिल जायगा।

'यौगिक शक्तियो का यो दुरुपयोग नही किया जाता। श्रीकृष्ण ने अन्तत विदुर के समक्ष प्राय पहल-पहल साधना के बल पर उपार्जित अपनी यौगिक शक्तियो को स्वीकारा।

तब एक ही उपाय है। विदुर ने कुछ सोचकर कहा।

क्या ?

तुम्हे वारणावत जाना होगा। उस लाक्षागृह से निकलने का पाण्डवो ने अवश्य कोई यत्न किया होगा। तुम जाकर उस स्थान का सूक्ष्म निरीक्षण करो और उनके पद चिह्नो का अनुसरण करते हुए उन तक पहुच जाओ। विदुर ने बताया।

सुरग के पास स पाण्डवा और माता कुन्ती क पदचिह्नो का पीछा करत हुए और एकचक्रा नगरी हात हुए श्रीकृष्ण और बलराम जिस स्थान पर पहुचे वह पाचाल नरेश की राजधानी से कुछ दूर स्थित एक सामान्य मी बस्ती थी। जगल म पद चिह्ना का पीछा करना कोई कठिन काय नही था क्योकि उनके इतना शीघ्र मिलने की कोई सभावना नही थी। पाचाल नरश की राजधानी के पास स्थित वह स्थली निस्सन्देह कुम्भकारा की थी। इनमे पाण्डवो को ढूढ निकालना टेढी खीर सिद्ध हुआ। एक तो ग्राम की गली कूची मे पगचिह्न अपनी पहचान खो चुके थे दूसरे पता नही उन्होंने कौन पाठ पढाया था यहा के निवासिया को कि कोई भी उनका अता-पता बताने को प्रस्तुत नही था।

बलराम और श्रीकृष्ण प्राय निराश हो पाचाल-नरश के यहा ही पहुचे। पाचाल नरेश द्रुपद उन दोनो भाइयो का देखकर बहुत प्रसन्न हुए। कुछ ही दिनो म वह अपनी पद्मगन्धा पुत्री द्रौपदी का स्वयवर करने वाले थे। बलराम, श्रीकृष्ण को उत्सव के अन्त तक वहा रुक जान की उन्होने प्रार्थना की।

'पर हम ता स्वयवर मे भाग नही लेना। हम दोना विवाहित हैं। भइया बलराम की तो खैर एक ही पत्नी है और उनका विवाह भी मुझसे पूव हुआ था पर मेरे पास तो अपनी पत्निया की गणना नही। श्रीकृष्ण ने कहा।

'आप भले स्वयवर म भाग नही ले। पर हमारे मुख्य अतिथि तो हो ही सकते हैं। स्वयवर देखकर ही जाय। द्रुपद न अनुरोध किया।

बलराम, श्रीकृष्ण को यह प्रस्ताव भा गया। हो सकता था इसी बहाने पाण्डवो स उनकी मुलाकात ही हो जाय। व रुक गए स्वयवर तक।

सैंतालीस

अनन्त आकाश म किसी ने दीपमालिकाआ को सजे देखा है? आकाश गगा और उसके आस-पास टिमटिमाती तारिकाआ को? विशेषकर तब जब उन्मुक्त आकाश का वह एकाधिकारी व्योमपति राकाशशि उस नील-नभ का अपनी पीतवर्णी आभा से आच्छादित करने वहा उपस्थित नही हो? तब? तब कैसी बन आती है आकाश की शोभा? तब कसी झिलमिलाती हैं ये तारिकाए? विस्तृत आसमान को आक्षितिज आच्छादित करती ये मिट्टी नही पर न जाने किस धातु की बनी दीपमालिकाए?

कुछ एसी ही शाभा बन पडी थी द्रुपद की राजधानी काम्पिल्य नगर की। आकाश के स्पश का आतुर स्वण-खचित शिखरो वाले महल आपाद मस्तक दीपवर्तिकाओ स सज स्वण रजत दीप-पात्रो म शाभित थे। एस पात्र जिनम स्वण रजत नलिकाआ द्वारा ही निरन्तर घृत पूरित रखने का प्रबन्ध था।

स्वयवर मुहूर्त क एक सप्ताह पूव स ही आयोजित थी यह दीपावली जा पूरे नगर क लिए मनामक स्वरूप ले चुकी थी। नप का प्रासाद ज्योतित था भीतर-बाहर स तो पुरवासिया के छोटे बडे महल ही क्या वचित होते? घर घर म दीपावली सजी थी। नृप प्रासाद अगर विस्तृत गगन का आकाशगगा था ता य

सजे-सवरे प्रकाशित महल आकाश म यत्र-तत्र सवत्र विकीर्ण नक्षत्र समूहो की शोभा स ही होड ल रहे थे।

राज प्रासाद के सामने के विस्तत मदान यत्र चालित फव्वारो स सज्जित हो असमय ही वर्षा-वभव प्रस्तुत कर रहे थे। वही पुष्करणी म खिल कुमुदिनी-पुष्प जसे ऊपर आकाश क तारा-मडल को ही प्रतिबिम्बित करने को आतुर थे। दिन म इन्ही सरोवरो म विकसित कमल-पुष्प, गुनगुनात भौरो की काली पक्तियो मे विभूषित हो सौदय के साथ-साथ दिशाओ मे सुगध भी बिखेर रहे थे। सरोवरो के कूल खिले विशाल स्थल-कमल भी वातावरण म कुछ कम मादकता नही घोलत थे। रात्रि म खिलन वाल रजनीगधा एव पारिजात के श्वेत पुष्प अपनी सुगध से दिदिगन्त को व्याप्त करने म सर्वाधिक भूमिका निभा रहे थे। हा नगर सजा था पाचाली क आसन्न स्वयवर के लिए। यानसनी के लिए उपयुक्त वर के अन्वेषण के लिए। स्वयवरा बनन वाली थी द्रौपदी। जिसकी ग्रीवा म उत्फुल्ल कमल-पुष्पो का मान डाल देगी यह पद्मगधा उसके ग्रह गण अनुग्रहशील हो जाएगे उसके भाग्य क बन्द कपाट सहसा खुल जाएगे।

पर यह आसान नही था। ग्रहो की यह अनुकूलता भाग्य क बन्द कपाटो का यह उद्घाटन।

बडी कडी शत थी द्रुपद की। धनुर्धारियो का युग था वह और आर्यावत के सवश्रेष्ठ धनुर्धारी की ग्रीवा म ही याज्ञसनी की वरमाला पडे इसका पूरा प्रबध कर लिया था राजा द्रुपद न।

महल के समक्ष निर्मित यज्ञ मडप क मध्य एक कृत्रिम सरोवर निर्मित था जिसका पारदर्शी जल पारद की तरह ही स्वच्छ और चकमक था। उसक ठीक ऊपर टगा था एक काष्ठ निर्मित यत्र जो लगातार किसी कृत्रिम प्रक्रिया से द्रुत गति स चलायमान किया जा रहा था। यत्र के ठीक मध्य जडित था एक काष्ठ-निर्मित सुन्दर मीन। यत्र के साथ ही यह मछली भी लगातार तीव्र गति स चलायमान हो रही थी। इस मोहक किन्तु कृत्रिम मीन की आखें अपेक्षा स कुछ अधिक ही छोटी थी। इन आखो म से दाहिनी आख को जो धनुर्धारी एक ही बाण से बेध देगा उसी की हो जाएगी पद्मगधा पाचाली। पर ऐसे नही, धनुर्धारी को इस नन्ही आख को निशाना बनाने के लिए ऊपर नही नीचे देखना था।

नीचे इसलिए कि लक्ष्य बनाना था मछली की आख म सीधे देखकर नही अपितु सरोवर म पडत उसके प्रतिबिम्ब को लक्षित कर।

कठिन था यह काय—दुष्कर। द्रुतगति से चलायमान उस मीन का कठिनाई से दृष्टिगोचर होने वाली उस आँख को ऊध्व दृष्टि से भेद पाना ही कठिन था। जल म प्रतिबिम्बित उसकी आख पर अचक शर सन्धान तो असभव ही प्रतीत होता था।

स्वयवर के लिए दूर-दूर स आये राजाओ की पक्ति सजी। बलराम और श्रीकृष्ण तो इस समारोह क मुख्य अतिथि ही थे अत उनक लिए रत्न-जटित उच्च सिहासनो की व्यवस्था की गई थी। उनके समक्ष दोनो पक्तियो म, स्वयवर मे भाग लेने के इच्छुक नृपतियो के आसन सजे थे।

निर्धारित दिन स्वयवर सभा दो घडी दिन चढते चढते ही आरम्भ हो गई। पता नही कितना समय लग मछली के अक्षि भेद म और कौन तथा कब करे?

अगर प्रयास करते-करते ही दिन व्यतीत हो गया तो रात में तो यह क्रिया होने से रही। जब दिन के प्रकाश में स्पष्ट प्रतिबिम्बित लक्ष्य भेदने में नहीं आये तो रात में कृत्रिम प्रकाश की कितनी भी व्यवस्था हो वह भिदने से रहा।

सभा में बलराम, श्रीकृष्ण पहले से ही आ विराजे थे। उनके पार्श्व में ही द्रुपद भी थे। उनका पुत्र धृष्टद्युम्न भी पास खड़ा था। सामने के स्वर्णासन भरने लगे। एक-से-एक किशोर, युवा और वृद्ध नरपति तथा योद्धा इन आसनों की शोभा बढ़ाने लगे। सर्वप्रथम दुर्योधन ही अपने अभिन्न मित्र कर्ण के साथ मण्डप में उपस्थित हुआ। आखिर हस्तिनापुर का युवराज जो था वह और अपने अनुसार उसका भावी अधिपति भी। मार्ग के कंटक तो कभी के लाक्षागृह में जलकर भस्म हो गए थे।

फिर अन्य नराधिपतियों का आगमन आरम्भ हुआ। वाराणसी, मिथिला, कलिंग, कम्भोज, कर्नाटक, द्रविणप्रदेश, गुर्जर प्रदेश, मालवा, सिंध पंचनद आदि के नरेश एवं धनुर्धर एक-एक कर आसन ग्रहण करते गए।

जैसे ही कोई नृप या धनुर्धर आसन ग्रहण करता उसके साथ आये चारण उसके राज्य, शौर्य और कुल-वंश की प्रशंसा के पुल बाँध किनारे हो जाते।

द्रौपदी एक बात का अनुभव करने से वंचित नहीं रह पाई। दुर्योधन के साथ ही आये और उसके पार्श्व में बैठे एक तेजस्वी युवक का परिचय तो उसके विरदावली-गायकों ने महान धनुर्धारी अंग-नरेश के रूप में दिया पर उसके कुल-गोत्र पर किसी ने प्रकाश नहीं डाला। वरमाला लिये वह धृष्टद्युम्न के पार्श्व में ही खड़ी थी। उसने धीरे से अपने अग्रज से इसका कारण पूछा—वह तेजस्वी युवक सूत-पुत्र कर्ण था।

'*इसका यहाँ आने का साहस कैसे हुआ? हंसों के मध्य में बगुला?*" पांचाली की त्योरियाँ चढ़ गईं। बात केवल धृष्टद्युम्न को ही सुनाकर कही गई थी पर वह पास बैठे कृष्ण तक भी पहुँच गई और उनके मन के कमल खिल उठे। अभी तक जितने योद्धा उपस्थित थे उनमें कर्ण ही यह दुष्कर कार्य सम्पन्न करने में समर्थ था। उन्हें पता था पाण्डव अर्जुन के साथ किसी भी क्षण पहुँच सकते हैं। न सही पांचाली को पाने के लिए क्योंकि जिस वेष में वे होंगे उसमें पांचाली क्या एक चांडाल-कन्या भी उनके गले में वरमाला नहीं डाल सकती पर अपने लक्ष्य भेद का कौशल दिखाने पृथा-पुत्र वहाँ नहीं आ सकें, यह हो नहीं सकता था। यह सही था कि उसे ज्ञात था कि उसके सभी शत्रु वहाँ अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होंगे और उसे अपनी पहचान को छुपाने के लिए निःशस्त्र ही आना पड़ेगा शायद किसी ब्रह्मचारी यति के वेष में ही।

और वह क्षण आ ही गया जिसकी श्रीकृष्ण को आतुरता से प्रतीक्षा थी। सभा मण्डप के दूसरे किनारे पाँच ब्रह्मचारी खड़े थे। उनमें एक अप्रत्याशित रूप से विशाल और बलिष्ठ था। भीम है यह श्रीकृष्ण ने सोचा। उसी के पार्श्व में पुष्ट वृषभ के स्कंधों वाला एक दूसरा ब्रह्मचारी खड़ा था। देखने से ही असामान्य धनुर्धर प्रतीत होता था वह। बीच में खड़ा था एक प्रौढ़ावस्था को पार करता सौम्य सा व्यक्ति। शान्ति उसके चेहरे से टपक-टपक पड़ती थी। धर्मराज युधिष्ठिर है यह। नकुल और सहदेव को पहचानना अब कठिन नहीं रहा। श्रीकृष्ण आश्वस्त हो गए। पांचाली को अब पार्थ का ही होना था।

द्रुपद के इंगित पर श्रीकृष्ण ने सभा के संचालन का भार संभाला और सभी को सम्बोधित करते हुए खड़ा होकर बोले, 'स्वयंवर सभा में उपस्थित देव, दानव और मानव वीरो! आप चौंकिए नहीं, मैं जानता हूं कि इस पद्मगंधा पांचाली के पाणि ग्रहण के आतुर सभी लोकों के पति यहां उपस्थित हैं। महात्मा विदुर ने कहा था कि मैं अपनी योग शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहता पर पांचाली के लिए उसके व्यय को मैं अपव्यय नहीं मानता। तो मैं आप सभी को पहचान गया हूं। कृष्ण की बात पर कर्ण ने उनकी ओर एक दृष्टि डाली। मन ही मन उनके चरणों में नमन निवेदित किया और फिर नत मस्तक बैठ गया।

'इस स्वयंवर की एक शर्त है,' श्रीकृष्ण ने अपना कथन जारी रखा। "उससे शायद आपका परिचय भी हो गया हो। मण्डप के मध्य बने उस सरोवर में एक कृत्रिम काष्ठ-यन्त्र द्वारा चालित मछली प्रतिबिम्बित हो रही है और साथ ही उसकी दो छोटी पर सुन्दर आंखें। मीन की आंखें या भी सुन्दर होती हैं और किसी सुन्दर वस्तु पर शर संधान कभी सराहनीय नहीं कहा जा सकता। पर विवशता है आपकी। नृप द्रुपद ने यह शर्त रख दी है कि जो प्रतिबिम्ब को ही अवलोकित कर इस मीन की दाहिनी आंख को अपने शर का अचूक निशाना बना लेगा पद्मगंधा पांचाली अपने हाथ में पड़ी पद्म माल उसी के गले में डाल उसे धन्य कर देगी। उसका सौभाग्य सूर्य उदित हो जायेगा क्योंकि साधारण नहीं है यह श्यामवर्णा याज्ञसेनी। इसके अप्रतिम सौंदर्य के तो आप स्वयं साक्षी बन ही रहे हैं इसके सौभाग्य की ओर मैं थोड़ा इंगित कर दूं क्योंकि आपसे तो अब छिपा नहीं रहा कि मैंने यौगिक शक्तियों का कुछ विकास कर लिया है। जिस किसी का भी वरण करेगी, यह अप्रतिम रूप की धनी राज्य-कन्या सम्पूर्ण आर्यावर्त का वैभव उसके चरणों पर लोटेगा। चक्रवर्ती सम्राट होगा वह और अगर देव, यक्ष, गन्धर्वों में से कोई ले गया इसे तो वह भी कई लोकों का अधिपति बन कर रहेगा।

'पर अनधिकार प्रयास नहीं कर मनुष्येतर प्राणी तो अधिक अच्छा" श्रीकृष्ण ने अपना वक्तव्य जारी रखा 'मैं योग-बल से इतना तो जानता ही हूं कि किसी नर की ग्रीवा में ही गिरने जा रही है पांचाली की पद्म माल। अतः और लोग स्वयंवर का आनन्द लें आर्य भूमि के एक-से एक उद्भट वीरों के शौर्य, पराक्रम और लक्ष्य भेद के प्रयासों का आनन्द लें पर शर-संधान का कार्य छोड़ दें किसी मानव वीर के लिए ही। और उनकी कमी भी नहीं है। मैं देखता हूं मेरे समक्ष इन सुवर्णासनों पर विराजमान हैं एक से एक वीर। हस्तिनापुर के युवराज दुर्योधन अपने अनुज दुःशासन, दुर्विमोचन, विविंसु निषंगी, अग्रयायिन, विकर्ण और विकट आदि के साथ सामने की पंक्ति में विराजमान हैं तो उनके अन्तरंग सखा अंगराज महाधनुर्धारी कर्ण भी उनके पार्श्व में ही उपस्थित हैं।

उधर देखता हूं तो वीर बहूटियों की सजी-संवरी पंक्ति की तरह एक-से एक पराक्रमी पुरुष उपस्थित हैं। मल्लों में श्रेष्ठ मगध नरेश जरासंध, महान योद्धा सिन्धुराज जयद्रथ, मद्राधिपति महान शल्य, चेदिराज शिशुपाल से लेकर चेकितान, चित्रायुध, महाराज भोज भूरिश्रवा दृढधन्वा सुषेण सोमदत्त सहदेव, सौबल, भगदत्त, शक सुकेतु मणिमान रोचमान, रुक्मरथ, शिवि, वृषक बृहद्बल भूरिश्रवा के साथ साथ अपने सुपुत्र प्रद्युम्न को भी बैठे पाता हूं। देखना तो यह है कि इन नरश्रेष्ठों में कौन याज्ञसेनी का हृदय जीतने में समर्थ होता है,

किसके सूचीभेद शर की नोक पर चढकर पाचाली रूपी राजलक्ष्मी उसके चरणो पर चढती है।

"आइए, स्वयवर को विधिवत उदघाटित घोषित किया जाता है। इसके सम्यक सचालन के निरीक्षण और आवश्यकता पडने पर निणय को न्याय से सवलित करने वाले अग्रज महा गदा-योद्धा बलराम भी यहा उपस्थित हैं। आप बारी-बारी स आगे बढें। यह तो निश्चित ही भाग्य का खेल है जिसका शर सवप्रथम मीन के नेत्र को विद्ध कर देगा, मीनाक्षी पाचाली भी उसकी हो जाएगी।

"मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हू। आप अपना काय आरम्भ कीजिए द्रोणाचाय, कृपाचाय, भगवान परशुराम आदि धनुर्वेद के ज्ञाताओ के शिष्यो को अपने धनुर्ज्ञान का परिचय देने का अच्छा अवसर उपस्थित हुआ है, आप इसका लाभ उठाए और स्वय के साथ-साथ अपने कुल वश और गुरु के गौरव की भी अभिवृद्धि करें।

इतना कहकर श्रीकृष्ण ने अपना आसन ग्रहण कर लिया। जस शा त सागर के वक्ष पर वायु के हल्के स्पश मे ऊर्मिया का आलोडन अवडोलन आरम्भ हो जाता है और वातावरण म जलधि का म द मधुर गजन व्याप्त हो जाता है वस ही सभागार मे उपस्थित नृपतियो और योद्धाआ म खलबली सी मच गई। काना-फूमी आरम्भ हो गई और मबमे पहले कौन शर स धान को बढे यह होड लग गई।

सामा य योद्धाओ ने पहले शात रहना ही उचित समझा। आर्यावत म आसेतु हिमालय जिन वीरो के नाम विख्यात थे पहले उ ही को अवसर देना उचित था, इससे इस दुष्कर काय की दुस्साध्यता का भी कुछ अनुमान हा जाता।

अ तत सवप्रथम दृढध वा ने अपने भाग्य की परीक्षा का साहस जुटाया। दृढ धनुर्धारी होने के फलस्वरूप उसके मित्रो और प्रजा-जनो ने उसका नाम ही दृढ ध वा रख छोडा था। वह मस्त गजराज की चाल स ममस्त उपस्थित वीरो पर एक अहकारपूण दष्टि निक्षेप करता हुआ पापाण निर्मित सरोवर की ओर बढा। पाश्व की ही एक वेदी पर एक विशाल धनुप रखा था और रख थे कई तरकशो से भरे भाति भाति क शर। पर कोई शर म धान ता तब करे जब वह विशाल धनुप को उठाकर उस पर प्रत्यचा चढा सके।

पता नही त्रेता मे आयोजित जानकी स्वयवर के लिए उपलब्ध शिव धनुप की तरह ही प्रचड धनुप कहा से राजा द्रुपद ने प्राप्त कर लिया था कि उस पर प्रत्यचा चढाना तो पृथक, दढध वा के सदश धनुधर के लिए भी उस उठाना कठिन हो गया। सवप्रथम तो उसन एक हाथ स ही उसे उछाल लेना चाहा पर जब उस विशाल धनु ने अपन स्थान से हिलने का नाम तक नही लिया तो दढ ध वा ने दोनो हाथ लगा दिए। पर स्थिति वही की वही। उसने अपने सुगठित एव बलशाली शरीर की सम्पूण शक्ति को अपनी भुजाओ म समेटा और किमी विशाल भुजग की तरह ही धनुप को उसम लपेट भूमि से उसका मम्ब ध विच्छेद करना चाहा। इस क्रम म धनुप का तो कुछ नही विगडा पर दढध वा के फेफडे अवश्य फटने फटने को हो आये। एक ललचाई किन्तु विवश दष्टि उसने पाचाली की ओर डाली और अपनी पराजय स्वीकार कर नत सिर अपने स्थान को लौट आया।

दृढधन्वा की इस दुर्दशा के पश्चात् अधिकांश योद्धा हिम्मत खो बैठे। फिर भी कुछ अपने इष्ट देव का स्मरण कर उस सजल किन्तु हृदयहीन पाषाणी सरोवर तक जाकर धनुष को उठाने का प्रयास करते रहे।

सबकी विवशता पर मुसकराता और अपनी वीरता एवं बाहुबल के अहंकार से मदोन्मत्त चेदिराज शिशुपाल अब सरोवर की ओर बढ़ा। धनुष को हाथ लगाने के पूर्व उसने जी भरकर पांचाली को देखा जैसे वह उसे आश्वस्त करना चाहता हो कि प्रतीक्षा की घड़ी समाप्त हुई और उसके हाथों की वरमाला अब चेदिराज की ग्रीवा की शोभा बढ़ाने ही वाली है। यन-केन प्रकारेण उसने धनुष को उठा तो लिया पर प्रत्यंचा चढ़ाते समय उसकी आंखों की पुतलियां बाहर आती-आती रहीं और इस बार पांचाली की ओर एक दृष्टि निक्षेप का भी साहस किए बिना वह अपने स्थान पर जा बैठा।

अब बारी थी मगध-नरेश महात्मा जरासंध की। किसी मत्त वृषभ सा ही कंधों को उचकाता वह सरोवर की ओर बढ़ा। उसके दो-एक पग आगे बढ़ते ही किसी ने व्यंग्य भी किया—'यह मल्ल युद्ध का अखाड़ा है क्या कि गदा प्रहार से किसी के प्राण ले बैठें? यहां तो धनुष पर शर चढ़ा लक्ष्य भेद करना है। यह धनुष उठा भी लें और उस प्रत्यंचित भी कर लें तो धनुष से छूटा शर मीन की आंख में लगेगा या स्वयं उसकी आंख में आ धंसेगा कौन जाने?'

हुआ भी प्रायः वही। महामल्ल जरासंध ने देखा देखत धनुष को उठा तो लिया। उस पर प्रत्यंचा भी चढ़ा दी पर एक के बाद एक, चार शर छोड़ने के बावजूद कोई भी मछली के शरीर के किसी भाग को भी स्पर्श नहीं कर सका और द्रुत गति से चक्रायित काष्ठ-यन्त्र से टकरा कर सभी शर दूर जा पड़े।

जरासंध भी उल्टे पैरों लौट आया और उसी के साथ तिरोहित हो गई अब तक राजा द्रुपद, राजकुमार धृष्टद्युम्न और राजकुमारी पांचाली के होठों पर सजती मन्द स्मिति भी। क्या यह स्वयंवर व्यर्थ जायगा? कोई नहीं कर पायगा मीन की आंख का भेदन? तब तो सब किये-कराये पर पानी फिर जाएगा।

तभी उठा दुर्योधन। उसके अनेक अनुजों और उसके अभिन्न मित्र अंगराज कर्ण ने उसकी हिम्मत बढ़ाने के लिए जोर से जयघोष किया—हस्तिनापुराधिपति यशस्वी महाराज धृतराष्ट्र के सुपुत्र दुर्योधन जयतु जयतु। जयघोष से प्रफुल्लित दुर्योधन के चरण वेग से सरोवर की ओर बढ़े और बात की बात में वहां पहुंचकर उसने सबके देखते देखते हो किसी फूल की तरह ही उस विशाल धनुष को हाथों में तोल लिया। महाराज द्रुपद और धृष्टद्युम्न के होठों की लौटी मुस्कान वापस आ गई पर पांचाली के मुख का प्रकाश सहसा बुझ गया। इस विलासी कौरव की कहानी उस तक बहुत पहले पहुंच चुकी थी। वह उसे लक्ष्य भेद में रोक भी नहीं सकती थी। पिता के प्रण में बंधी जो थी वह। बात जिह्वा पर आते आते रह गई कि नहीं व्यर्थ का प्रयास कीजिए आप। धनुष भले आपके हाथ में हो पर वरमाला मेरे हाथों में पड़ी है, लक्ष्य भेद के पश्चात् भी वह आपकी ग्रीवा तक नहीं पहुंच पाएगी।

पांचाली कुछ बोल तो नहीं सकी पर मन-ही-मन अपनी इष्टदेवी का स्मरण किया—हे जगज्जननी कुछ ऐसा करो कि मुझे इस दुराचारी मद्यपायी अहंकारी की अंक भागिनी नहीं बनना पड़े।

और सुन ली द्रौपदी की इप्टदेवी न उसकी प्राथना को। दुर्योधन ने धनुष उठाया, बात की बात मे उसे ज्या सज्जित भी किया पर उस गदा-वीर को धनुर्वेद का ज्ञान ही कितना था? पहले ही णर के काप्ठयत्र से टकराकर चूर चूर होत ही वह क्रोधाभिभूत हो एक पर एक कई वाण मछली की ओर फेंकता गया। पर सबका परिणाम एक ही हुआ। तीव्रता से गतिशील इस काप्ठयत्र ने सभी तीरा को दूर फेंक दिया और मछली के किसी अग का स्पश भी वे नही कर सके। दुर्योधन के हाथो म काष्ठ निर्मित वह धनु कोई विशाल लौह खण्ड बन आया और पीडा स उसकी दोनो कलाइया मुडने मुडने का हो आइ। अपमान से भरकर उसने धनुप को उसकी वेदी पर उछाल दिया और अपने स्वर्णासन पर वापस आ गया।

पाचाली क मुख का प्रकाश लौट आया। श्रीकृष्ण के होठो पर भी एक स्मिति मली—चलो एक पारिजात-पुष्प किसी व्यभिचारी की गदी झोली मे गिरत गिरत रहा।

पर पाचाली की पीडा दूसरे ही क्षण वापस आ गइ। कौन सा खेल खल रही थी नियति उसके साथ? दुर्योधन के अपमान से आग की तरह ही प्रज्वलित तन लिये यह व्यक्ति जो द्रुत गति मे सरोवर की ओर बढ रहा था वह तो वही था जिसका परिचय महाधनुर्धारी सूत पुत्र कण क रूप मे उसे दिया गया था। यह तो लक्ष्य भेद करेगा ही। तो क्या एक राजकुमारी किसी सारथि पुत्र की शय्या-सहचरी होन को विवश होगी? आह! कोई रोकता क्या नही इस? वह तो मत्त सिंह सा सीधे वेदी की ओर ही बढा जा रहा था और लो इसने एक हाथ से ही धनुप को किसी नन्हे कदुक की तरह ही उठा लिया और इसक पूव कि पाचाली पलक भी झपका पाये, इसन उस पर प्रत्यचा भी चढा डाली। कसा वीर है यह? सच धनुर्विद्या तो इसकी चेरी ही प्रतीत होती है। और अब? अब तो तरकश से उसने एक विचित्र वाण खीचा है। सूचीभेद शर है यह द्रौपदी इसे खूब पहचानती है। खूब जानत है इस वीर को कि किस काय के लिए किस शर का प्रयोग हो सकता है। और यह लो वीरासन साध लिया है इसने सरोवर के तट के ऊपर और शर को धनुप पर सधान कर नीचे जल म प्रतिबिम्ब पर इस तरह ध्यान गडाया है इसने जसे कोई बक किसी जलाशय की मछली के ऊपर ध्यान गडाता है। पाचाली को विश्वास हो गया, लक्ष्य भद कर छोडेगा यह महान धनुधर। क्षण की दर जो हो रही है वह इसलिए कि जल म प्रतिबिम्बित मीन की आख को शर के सामने आन की वह प्रतीक्षा कर रहा है। किन्तु वह जानती है कि तीव्रता से चक्रायित मीन को शर के सीध म आने के थोडा पूव ही वह शर स उस सूची भद वाण को छोडगा जिमस शर की नोक और मछली की आख का मिलन एक क्षणाध म हो हो जाय।

नही। द्रौपदी जोर से चीखी। दुर्योधन के शर-सधान के समय जिह्वा पर जो लगाम उसन दे रखी थी वह अनजाने ढीली पड गई। दुर्योधन कुछ भी था या तो क्षत्रिय, युवराज या शायद हस्तिनापुर का भावी सम्राट भी। पर यह सूत पुत्र नही, नही, इसका वरण नही कर सकती द्रुपद-नरेश की दुलारी दुहिता। पद्मगधा पाचाली अपनी कमल-गध को अश्व गध स युक्त किसी सारथि पुत्र पर नही लुटा सकती।

इस जोर से उच्चरित 'नही' न मण की एकाग्रता को भग कर दिया और उसके हाथ का सूची भेद शर कठोर काष्ठ-यन्त्र मे टकरा कर चूर चूर हो गया। इसके पूव कि वह पास पडे तरकश स दूसरा बमा ही तीर खीच, द्रौपदी की निर्णायक किन्तु निर्भीक वाणी सभा मण्प के इस छोर से उस छोर तक गूज गई—"प्रयास बद करो अगपति। पाचाली की पद्ममाल एक सूत-पुत्र की ग्रीवा की शोभा नही बढ़ा सकती। लक्ष्य भेद के पश्चात् भी तुम उससे परिणय के स्वप्न को साकार नही कर पाओगे। वह यहा किसी क्षत्रिय के वरण को आई है, किसी अश्वसवी के पुत्र की सहचरी बनने नही।'

तरकश के पास पहुचे कण के हाथ जहा के तहा रुक गए जसे कोई रस्सी पकडने के प्रयास म किसी विपल सप के शरीर पर हाथ डालने का प्रमाद करते-करते बचा हो। वह विद्युत गति से सरोवर-तीर से उठा और किसी विपल नाग की तरह ही उसने एक विष बुझा फुफकार छोडा जो किसी के कानो तक पहुचा तो किसी के कानो तक पहुचते-पहुचते रह गया— सूत-पुत्र ! हू। अगर सूत पुत्र से इतनी घृणा ही थी तो यह प्रण ही क्यो रोपा गया कि मीन की आख को भेदने वाला कोई भी धनुर्धारी पाचाली के वरण का अधिकारी होगा। महगा पडेगा महारथी कण का यह अपमान पाचाली। बहुत महगा।

अडतालीस

अपमान स बढ़कर मानव-मन को पीडित करने वाली कोई बात नही गढी विधाता ने उस सृष्टि म। मानव का आजीवन प्रयास प्राय दो उद्देश्यो की ओर ही उत्प्रेरित रहता है—मान की वद्धि और अपमान स रक्षा।

कण का घोर अपमान हुआ था वह भी पूरे आर्यावत के समस्त नपो और योद्धाओ के समक्ष। वह नीलकण्ठ नहा था कि अपमान रूपी उस गरल को ग्रीवा के मध्य ही स्थगित कर मुक्त हो जाय उससे। वह तो उसकी गदन के नीचे उतर गया और उसके सम्पूण शरीर ही नही पूरे अस्तित्व को विषाक्त कर गया। पहले स ही अभिशप्त उसका जीवन जसे और शाप-ग्रस्त हो आया। क्यो नियति किसी के साथ ऐस क्रूर खेल खलती है? क्यो जल से लबालब भरे सागर म ही बादल सर्वाधिक जल-दान करते है और क्यो मरुभूमि का सिकता कण-कण प्यासा का प्यासा रह जाता है। क्यो ऐश्वयशालियो के पास ही सम्पत्ति का अम्बार लगता जाता है और क्यो दरिद्र और हीन सदा वचित और अभाव ग्रस्त ही रह जाते हैं?

पर कण प्रतिशोध लेगा इस घोर और अप्रत्याशित अपमान का वह मन ही मन प्रतिज्ञा कर रहा था और उसके मुख की भाव भगिमा को पढ सदा सस्मित-वदन कृष्ण के चेहरे पर भी आशका की परतें बढती जा रही थी।

पर उधर द्रुपद और उनके पुत्र धृष्टद्युम्न की स्थिति गम्भीर होती जा रही थी। कण के सदश योद्धा के असफल और अपमानित लौटन के पश्चात अब कोई योद्धा सरोवर की ओर बढने की बात तो दूर, उसकी ओर मुख भी नही करना

चाहता था।

'क्या वीर प्रसूता यह आय धरती आज वीरो से शू य हो गई? क्या द्रोण और कृप के सदश धनुर्धारियो की शिष्य परम्परा नि शेप हो गई? प्राप्त-यौवना पाचाली को इसलिए आजीवन कौमाय-व्रत धारण करने का बाध्य होना पड रहा है कि आज यहा ऐसा कोई भी धनुधर नही जा एक सामा य सी शत को पूण कर द? पेड के पक्षी की आख को एक ही शर से सर से बेधन वाले पृथा पुत्र अजुन के लाक्षागह मे ज मरन के साथ ही इस राष्ट्र की धनुर्विद्या ने भी मत्यु का वरण कर लिया क्या?' राजा द्रुपद का यह कथन समाप्त भी नही हुआ था कि मण्डप के एक छोर से वपभ-स्क धो वाला वही व्यक्ति गम्भीर पद वि यास करता हुआ सरोवर की ओर बढा जिसे देखकर कृष्ण को उसके अजुन होने का भ्रम हुआ था।

जटा-जूट और श्मश्रु (दाढ़ी मूछ) से युक्त पूरे शरीर म भस्म लगाए और वस्त्र के नाम पर स यासियो की तरह एक सामा य अधोवस्त्र धारण किए इस व्यक्ति को देखकर एक और व्यक्ति को इसके अमल व्यक्तित्व के सम्ब ध मे आशका हुई और वह व्यक्ति था स्वय दुर्योधन। भस्माभिभूत अजुन के शरीर का नीला रग भले ही लुप्त हो गया था और केश-ढके उसके आनन की रेखाए भल स्पष्ट नही हो पा रही थी पर तु जो चीज दुर्योधन के मन मे भय की एक भयकर लहर जगा गई वह थी अजुन की तीर की तरह सीधी चाल। गति मे भरे इस पार्थीय आत्मविश्वास को पहचानने मे दुर्योधन कभी भूल नही कर सकता था। उसके शरीर का रक्त जमे महसा सूख गया। नही, इस विश्वास के कारण नही कि द्रुपद राजकुमारी अब उसी की होकर रहेगी अपितु इस रहस्य के अप्रत्याशित उद्घाटन से कि पाथ लाक्षागह म जल कर मरा नही। कि वह जीवित है तो निश्चित ही उसके जागत और सोत के सपना मे उसे अ यवस्थित करन वाला वह दत्याकार महाबली भीम भी अवश्य जीवित होगा। तो उसका काल, काल के गाल म जाते जात भी नही गया और उसके शेष जीवन को सदा भय ग्रस्त और सशकित रखने के लिए यह जीवित और सुरक्षित था।

श्रीकृष्ण की आखो म चमक उसी अनुपात म बढती गइ जिस तीव्रता स पाथ के पर उस कृत्रिम सरोवर की ओर बढन गए। इस सिह चाल को रोकन का साहस काई नही जुटा पा रहा था न तो दुर्योधन, न दु शासन और न अपमान के बोझ स दबा-कुचला कण ही। यद्यपि स्पष्ट था कि यह भगवा वस्त्रधारी युवक वीर चाहे जसा हो राज्य के नाम पर तो उसके पास भूमि का एक टुकडा भी नही था। वह तो अपने ही पेट को भिक्षान स भरने को बाध्य होगा द्रुपद की राजकुमारी को वह कहा से राजसी भोग दे पायेगा।

होठो पर ताना लग गया पाचाली के भी। कुछ था ही इस व्यक्ति के सम्पूण व्यक्तित्व म एसा, उसकी चाल म एक ऐसी मस्ती और आखो मे ऐसा असामान्य निर्भीक भाव कि दरिद्र होकर भी द्रौपदी को वह महान ऐश्वयशाली लगता था। वह पहल पहल सोचन को बाध्य हुइ कि महान केवल सिहासनो के अधिपति ही नही होते महान वे भी होन हैं जिन्होंने साधना और अध्यवसाय से तन और मन दोना को परिष्कार के स्पृहणीय उत्कष पर पहुचाया हो।

आश्चय तो यह था कि पाचाली मन-ही-मन यह प्राथना भी करन लगी कि यही भस्म और भगवाधारी व्यक्ति उसके पिता के प्रण को पूण करने म सफलता

प्राप्त करे। उसने सारे संकोच का त्याग कर उच्च सिंहासन पर विराजमान श्रीकृष्ण की आखो मे अनुनय भरी आखो से देखा भी। श्रीकृष्ण की आखो म आश्वस्ति की चमक आई और रक्ताभ होठो पर स्मिति की एक हल्की रेखा। द्रौपदी आश्वस्त हो गई। श्रीकृष्ण औरो की तरह उसके मन म भी भगवान के तरह ही उतर चुके थे। श्रीकृष्ण इस वीर की विजय के प्रति आश्वस्त थे और वह उनके मन को भा गया था तो द्रौपदी को और कुछ नही सोचना था।

और वहा शर-संधान कर चुका था वह भगवाधारी, उस महान धनुष पर बात की बात म और आखें गड गई थी उसकी सरोवर जल मे। जसे एक बार उसे गुरु द्रोण के समक्ष परीक्षा देते समय न वक्ष दिखाई पडता था न उसकी शाखा, न उस पर आसीन पक्षी और दिखाई पड रही थी तो मात्र उसकी आख, उसी तरह सरोवर मे पडते काष्ठ्य-त्र कृत्रिम मछली और मण्डप के एक भाग के प्रति बिम्बो को देख कर भी वह नही देख पा रहा था। उस दिखाई पड रही थी तो मात्र मछली की तीव्रता से चक्रायित दाहिनी आख की छाया और जसे ही वह छाया अपने दूसरे ही चक्कर म उसके ऊर्ध्वमुखी शर की नाक के सामने आने आने को हुई उसने उस सूची भेद बाण को प्रत्यचा युक्त कर दिया और वह मछली के दाहिने नेत्र की पुतली के बीचोबीच जा धसा। काष्ठ-यन्त्र का धड धडाना रुक गया और सम्पूर्ण मण्डप तालियो की गडगडाहट स गूज उठा। उस स्वर मे अगर किसी की करतल ध्वनि नही सम्मिलित थी तो वह थी दुर्योधन और उसके मित्र कण की।

एक पल का भी विलम्ब किए बिना द्रौपदी पदम माल को दोना हाथो मे सहेजे क्षिप्र पद वि-यास से सरोवर के तीर ही जा पहुची और इसके पूव कि अर्जुन उस कुण्ड स एक पग भी आगे बढ सके उसकी ग्रीवा मे वह कमल माल डाल दी।

सभा एक क्षण को स्त-ध हुई पर दूसरे ही क्षण उस वस्तु स्थिति का ज्ञान हुआ। एक राजकुमारी एक भिक्षुक का वरण कर चुकी थी। यह वहा उपस्थित सभी नपतियो का घोर अपमान था। दखते-देखते जरासध, शिशुपाल दुर्योधन दु शासन आदि वीरो ने उसे घेर लिया। दुर्योधन को उधर जाते देख कण भी अपने अपमान को भूल धनुष-बाणो स युक्त हो उस स-यासी से प्रतीत होने दु साहसी युवक के पास जा पहुचा। दुर्योधन की आखें उसी समय फटी की फटी रह गइ। मण्डप के एक कोने स जो पहले वाले व्यक्ति की तरह ही भस्मपूरित और जटाजूटधारी मस्त गजराज की गति को भी मात देता हुआ उनकी ओर बढता आ रहा था वह भीमसेन के अलावा कोई नहा था। उसी के पीछे थे दो किशोर-से लगते स-यासी। निस्सन्देह वे नकुल और सहदेव थे। तो पाचो पाण्डव जीवित थे। पाण्डव जीवित थे तो वह राजमाता के नाम स अपने को सम्बोधित कराने की आदी अहकार ग्रस्ता कुन्ती भी अवश्य जीवित होगी।

पर अभी कुछ सोचने समझने का समय नही था। यथाथ अगारे की तरह आखो के समक्ष चमक रहा था। प्रमाद के लिए अब कोई समय नही था। दुर्योधन ने कण के कानो म कुछ कहा और कण का चेहरा पलाश के फूल की तरह

रक्ताधिक्य से लाल हो आया। वह ऊंचे स्वर मे सिंह-गर्जन कर बोला, "आप सभी नृप-जन अपने-अपने स्थानो पर बैठ जायें, मैं महाबली कर्ण सूत-पुत्र जो हो‌ऊं पर इस शृगाल को मैं इतने सिंहो के आखेट को अपना बनाते नही देख सकता। मैं अकेले ही उसे यमलोक भेजने को पर्याप्त हू।"

क्षण भर मे ही स्वयंवर-मण्डप रण प्रागण मे परिवर्तित हो गया और अर्जुन तथा कर्ण म घोर बाण-युद्ध शुरू हो गया। कर्ण तो पहले से अस्त्र शस्त्र सुसज्जित था पर अर्जुन वेदी पर पडे उस विशाल धनुष और वहा पडे तरकशो के तीरो से ही युद्ध रत हो आया।

श्रीकृष्ण ने इस स्थिति को देखा। वह चिन्तित हुए। स्वयंवर के लिए प्रयुक्त होने वाले बाण निश्चित ही सख्या म सीमित थे और वह धनुष भी अपेक्षाकृत भारी था। बहुत देर तक इनके सहारे कर्ण के सदृश धनुर्धर का सामना नही किया जा सकता था। साथ ही कर्ण की उद्घोषणा की परवाह किए बिना शल्य, शिशुपाल, जरासध और जयद्रथ के समान योद्धा अर्जुन की ओर अधाधुध बाण छोडने लगे थे। सब ईर्ष्याग्नि म जलने लगे थे और उसे बुझाने का दायित्व वे केवल कर्ण पर नही छोडना चाहते थे।

श्रीकृष्ण ने भीम को इगित किया। भीम इस समय गदाधारी तो नही थे पर मडप के स्तम्भो को उखाड-उखाड ही उन्होने आक्रमणकारियो पर प्रहार आरम्भ कर दिया। दुर्योधन डर कर किनारे हो गया। उसका काल उसके सामने था। उससे दूर रहने मे ही बुद्धिमानी थी। भीम के प्रहारो को सह सकने मे असमर्थ बहुत से और नृप भी किनारा कर गए। अब असल युद्ध अर्जुन, भीम और जरासध, शिशुपाल के मध्य ही सीमित हो गया। अर्जुन के समाप्त होते शरो की मार की पूर्ति, भीम अपने स्तम्भ प्रहार से निरतर करते जा रहे थे।

पर अर्जुन अब बहुत देर तक रणागण म टिक नही सकता था। उसके तरकश के तीर समाप्त हो रहे थे। अकेले भीम के लिए इतने महारथियो का सामना आसान नही था। श्रीकृष्ण चिंतित हुए। पर उसी क्षण एक घटना घटी जिसने श्रीकृष्ण की आखो की लौटती चमक को वापस ला दिया। कर्ण का पुत्र सुदामन जो अब तक एक कोने म बैठा था अपने पिता की सहायता के लिए बढा। श्रीकृष्ण समझ गए, युद्ध की समाप्ति का समय आ गया। सुदामन की इस धृष्टता को कर्ण नही देख सका और इसके पूर्व की सुदामन अपने पिता की रक्षा म कोई भूमिका निभा पाता, एक सनसनाता हुआ तीर कही से आकर उसके हृदय को बींध गया और वह एक चीत्कार के साथ पिता के ठीक पीछे धराशायी हो गया। पुत्र का चीत्कार को कर्ण नही पहचाने यह हो नही सकता था। उसने पीछे मुड कर देखा, एक क्षण को वह स्तब्ध हुआ पर पुत्र मोह भी जिसे युद्ध से विमुख कर दे तो वह कर्ण क्या? इसके पहले कि अपने उत्तरीय से आखो के भीग कोना को पोछकर वह फिर अर्जुन पर शर-सधान को तत्पर होता, श्रीकृष्ण की गम्भीर वाणी गूंजी—

बस! आर्यावर्त के वीरो बस। इस युद्ध म एक बडा भारी अपशकुन हो गया। एक निरपराध किशोर किसी के शर का आखेट हो खेत रहा। बाणो की इस अनवरत वर्षा म यह तय करना कठिन है कि किसके बाण ने इस वीर के प्राण लिए। महारथी कर्ण का पुत्र मारा गया। यह अपशकुन इस बात का द्योतक है

कि एक यह युद्ध धर्म-युद्ध नहीं होकर अधर्म-आधारित है। हम अन्याय के द्वारा न्याय का गला घोटना चाहते हैं। यह भगवाधारी वीर चाहे जो हो, उसने पाप-पूर्ण रीति से पांचाली को प्राप्त किया है। उसको उसके सहज प्राप्य से वंचित करना अधर्म और अन्याय के सिवा कुछ नहीं है। आप इस युद्ध को तत्काल बन्द करें वरना और भी अनर्थ हो सकते हैं।"

कृष्ण की बात पर सभी योद्धाओं ने अपने अस्त्र शस्त्र डाल दिए पर अपने स्थान को लौटते-लौटते शिशुपाल के मुख से निकल ही गया—'गंवार ग्वाला। इसके कारण बनता हुआ काम बिगड़ कर रह गया। भगवान बना फिरता है यह पाखंडी! और कैसे मूर्ख है ये तथाकथित योद्धा जो इसकी बातों में आ शस्त्र त्याग कर बैठ गए।

उनचास

कौन कहता है कि पराक्रम ही सब कुछ है और प्रारब्ध कुछ नहीं? कौन कहता है कि विधि का विधान मात्र व्यक्ति की कोरी कल्पना है? कि मनुष्य परिस्थितियों के वश में नहीं अपितु पराक्रमी मनुष्य परिस्थितियों को ही वशवर्तिनी बनाकर रखता है!

अगर यह बात सत्य होती तो पार्थ के साथ वह सब क्या घटता जो अकल्पित अप्रत्याशित रूप में घटित हो रहा है?

पदमगंधा पांचाली को तो उसने अपने ही एकाकी प्रयास या कह लीजिए पराक्रम से अपनी पत्नी के रूप में स्वयंवर सभा में प्राप्त किया था। तो वह क्यों पांच भागों में विभक्त हो गई—केवल पार्थ की पत्नी नहीं रहकर वह पांचों पांडवों की पर्यंकशायिनी क्या बना दी गई? क्या? माना, माता कुन्ती के अभ्यासवश, द्वार खटखटाते समय युधिष्ठिर के यह कहने पर कि देखो आज हम क्या लाए हैं, यह कह दिया हो कि आपस में बराबर-बराबर बांट लो, पर यह बात ब्रह्म-वाक्य कैसे बन गया? तब जबकि पांचाली कोई पदार्थ नहीं थी, हाड़ मांस-मज्जा की बनी सजीव लावण्यमयी पुतली थी।

अपनी भूल का ज्ञान होने पर माता कुन्ती को पश्चात्ताप भी हुआ था। तब धर्मराज कहे जाने वाले युधिष्ठिर ने क्यों नहीं स्पष्ट कह दिया था कि यह धनंजय की परिणीता है, इस पर पांचों का अधिकार नहीं बनता। कि वर माला इसने केवल पार्थ की ग्रीवा में पहनाई है अतः वह केवल उसकी होकर रहेगी।

इस नियति का कुटिल परिहास नहीं तो और क्या कहने का मन करता है? क्या पार्थ ने मन से इस व्यवस्था को अपनाया था? शायद कभी नहीं और पांचाली ने शायद उसने भी नहीं। कौन नारी ऐसी होगी जो अपने स्वयंवर विजेता को छोड़कर अन्य पुरुषों की पार्श्ववर्तिनी बनना चाहे? पर हो तो यही रहा था। पार्थ अथवा पांचाली का इस पर वश ही कितना चलने को था?

बलराम और श्रीकृष्ण पहुचे थे पाण्डवो की पीठ पर ही उस कुम्भकार के घर जहा छद्मवेश म पाचो पाण्डव और कुन्ती निवास करते थे। पहुचा था द्रुपद पुत्र धृष्टद्युम्न भी लुक छिपकर बलराम और श्रीकृष्ण के ठीक पीछे। आखिर जाने तो वह कि जो धनुर्धारी स्वयवर म अपनी अदभुत वीरता का परिचय दे उसकी बहन को विजित कर ले गया था वह सचमुच एक भगवाधारी, भिखारी था अथवा किसी उच्च कुल स सम्बद्ध कोई धनुर्धारी जो किन्ही कारणो से अपने परिचय को गुप्त ही रखना चाहता था।

बलराम और श्रीकृष्ण न बुआ कुन्ती और पाण्डवो से सारा पिछला वृत्तान्त सुना था। कौरवो के दुर्व्यवहार और अन्याय की कहानी भी सुनी थी और सुनी थी लाक्षागृह से उनके चमत्कारिक रूप से निकल भागने की गाथा भी।

साथ ही सुना था द्रुपद-सुत धृष्टद्युम्न ने भी सब कुछ और मन ही मन प्रसन्न हुआ था कि चलो याज्ञसेनी किन्ही और हाथो म नही जाकर विख्यात धनुर्धर धनजय की ही पत्नी बनी थी। पर माता कुन्ती के एक भ्रामक आदेश से पाचो भाइयो मे उसका बट जाना उसे अच्छा नही लगा था। पर वह भी अब कर क्या सकता था? दैव को प्रबल मान उसने भी इस व्यवस्था को स्वीकार कर लिया था और घर लौटकर पिता द्रुपद को सारी बातें बताई थी।

थोडे ही दिनो म धूमधाम से पाचाली का पाणिग्रहण-सस्कार सम्पन्न हुआ था और पाण्डव कुम्भकार के घर से उठकर द्रुपद के महल मे आ गए थे।

पचास

व्यक्ति चाहता क्या है और हो क्या जाता है? बहुत सतर्कता और बुद्धिमानी से बनाई उसकी योजनाओ पर बात की बात म पानी फिर जाता है और आकाक्षा के ऊचे आकाश म उडान भरते उसके मन के पखेरू बात की बात म समय रूपी बहेलिये के बाणो से विद्ध होकर पृथ्वी पर आ गिरते हैं। वह सपने देखता है, सोते म नही जागते मे किन्तु जब तक वह अपने सपनो को साकार करे, उनके आकार ही धूमिल और ध्वस्त हो जाते हैं।

कम-से कम दुर्योधन के साथ तो यही हुआ था। अपने जाने तो उसने पाण्डवो को लाक्षागृह म जला ही मारा था और हस्तिनापुर के सिंहासन का एक मात्र अधिकारी बन बैठा था। पर चूर चूर तो हो गए उसके सपनो के शीश महल। लाक्षागृह तो धू धू कर जल गया पर पाण्डव तो पता नही पुण्य के किस प्रताप स बच निकले। अब तो द्रौपदी के समान सुगधित जीवन-सगिनी भी उन्ह मिल गई थी। वही द्रौपदी जिसके रूप और गन्ध पर किसी मुग्ध भ्रमर-सा मोहित हो, उसने किसी तरह उस स्वयवर म विजित करना चाहा था, भले ही इस हेतु लक्ष्यभेद उसे नही कर्ण को ही करना पडे।

और अब एक नई योजना पक रही थी हस्तिनापुर के राजमहल मे। पितामह विदुर और द्रोण आदि सभी धृतराष्ट्र को समझाने म लग थे कि जब पाण्डव बच ही गए और द्रुपद से उनका सम्बन्ध हो ही गया तो उन्ह ससम्मान

राजमहल मे लौटा लाना ही उचित है।

धृतराष्ट्र और गांधारी दोनो को यह बात जच गई और पाण्डव राजमाता कुन्ती और पत्नी पांचाली के साथ हस्तिनापुर मे आ विराजे।

दुर्योधन को उनकी उपस्थिति असह्य लग रही थी। स्वयंवर-सभा म अपनी पराजय की बात वह अब तक नही भूला था और उसी के राजमहल मे द्रौपदी पाच-पाच पतियो की पत्नी बनकर उन्हें सुख पहुंचाए यह बात उसे सह्य नहीं थी।

उसने धृतराष्ट्र विशेषकर माता गांधारी के कान भरने आरम्भ किए और धृतराष्ट्र को इस बात के लिए राजी करा लिया कि पाण्डवो को इन्द्रप्रस्थ का राज्य देकर विदा कर दिया जाए।

इन्द्रप्रस्थ कोई बसा-बसाया नगर नही था। कभी रहा होगा वह किसी नृप या राजा की राजधानी पर आज वह पूरी तरह वनाच्छादित था। भयंकर जंगली जानवरो से भरा और अभेद्य।

युधिष्ठिर ने सम्राट धृतराष्ट्र के इस न्याय को सिर झुका कर स्वीकार कर लिया और इन्द्रप्रस्थ को अपनी राजधानी बनाने चल पडे। बलराम और श्रीकृष्ण भी द्रुपद के यहा से पाण्डवो के साथ ही हस्तिनापुर लौटे थ। वे भी स्वभावत पाण्डवो के साथ लग गए।

इन्द्रप्रस्थ के वन को काटकर वहां शीघ्रातिशीघ्र एक सम्भ्रान्त नगर बसाने म बलराम और श्रीकृष्ण ने भी पाण्डवो की सहायता की। श्रीकृष्ण न द्वारिका से शिल्पी और श्रमिक बुला लिये और शीघ्र ही इन्द्रप्रस्थ सचमुच इन्द्रपुरी अलका की तरह शोभायमान हो गया। पाण्डवो का सभागार तो विशेष रूप स विस्तृत और मोहक बनाया गया था। लगता था उसे देवताओ के शिल्पी साक्षात् विश्वकर्मा ने बनाया हो। यह सभा भवन अत्यन्त विस्तृत था और उसके खम्भों मे मणि-माणिक्य तथा हीरे मोती जडे थे।

राजमहल का अन्तःपुर भी विशेष रूप से सजाया गया था और पांचाली तथा राजमाता कुन्ती के विस्तृत कक्ष इन्द्राणी के शयनागारो को भी मात करते थे।

इन्द्रप्रस्थ शीघ्र ही वैभव के शिखर पर पहुंच गया। दूर-दूर के व्यवसायी वहा व्यापार करने आने लगे और वहा धन धान्य की वर्षा होने लगी।

प्रतापी पाण्डवों की राजधानी के विकास को देखकर हस्तिनापुर के बहुत से सम्भ्रान्त व्यक्ति भी वहा आकर बस गए। पाण्डवों की दिन-दूनी रात चौगुनी प्रगति दुर्योधन के लिए असह्य हो गई और उसके कलेजे पर साप लोटने लगा। उसकी रातो की नींद हराम हो गई। जिस बात के लिए उसने पाण्डवो को इन्द्रप्रस्थ के बीयावान म खदेडा था वह तो बनी नहीं ऊपर से वे और धनाढ्य और प्रसिद्ध हो आये। उसे तो विश्वास था कि उस जंगल म वे दाने-दाने को तरस कर मर जायेंगे अथवा राजधानी बसाने के लोभ को तिलांजलि दे हाथ मे भिक्षा पात्र लेकर पेट की आग बुझाने निकल पड़ेंगे वहा से पर प्रतापी पाण्डवो ने तो जंगल को भी स्वर्ण म परिणत कर दिया।

दुःख एक बहुरूपिया है क्या ? कितने तो आयाम हैं इसके। अनेक छदम रूप। कब वह किस रूप मे आये कौन जानता है ? पर दुःख का एक रूप सुख भी है क्या ? यह तो बडा जटिल प्रश्न है। दुःख अपने चाहे जितने रूप ले ले पर वह सुख कैसे हो सकता है ? हो भी सकता है। जैसे अन्धकार के गर्भ मे प्रकाश छिपा रहता है जैसे प्रसव-पीडा के पीछे सन्तान सुख विद्यमान रहता है, जैसे नासूर फूटने की वेदना के पीछे उससे मुक्ति का आनन्द निहित रहता है वैसे ही कुछ दुःख, सुख का सन्देशवाहक बनकर आयें तो इसमे आश्चर्य क्या ?

पर जो दुःख एक ही साथ दुःख और सुख दोनो की अनुभूति दे उसके सम्बन्ध मे क्या कहा जाय ? अथवा जब यह निर्णय करना कठिन हो कि समक्ष प्रस्तुत इस स्थिति से दुःखी हो अथवा सुखी तब कौन सी सज्ञा देंगे उस स्थिति विशेष को ? दुःख कहेंगे उसे या सुख ? किन्तु जो दुःख सुख के द्वन्द्व से ऊपर उठ गया हो उसके लिए ये दोनो शब्द व्यर्थ और निरर्थक हो जाते हैं। यह स्पष्टत दुःख था पर देखा जाय तो सुख भी। पर जो इस द्वन्द्व से परे था उसके लिए यह कुछ नही था। थी वह एक सामान्य घटना।

यह हो रहा था श्रीकृष्ण के साथ। कितनो के लिए यह स्थिति दुःखद थी कितनो के लिए सुखद। पर वे तो द्वन्द्वातीत थे। जीवन भर की साधना और अनुभव ने जिन कुछेक शब्दो से उनका गहरा परिचय कराया था उनमे यह शब्द भी था अथवा कह लें यह स्थिति भी थी—द्वन्द्वातीत की।

ठीक ही पूरी द्वारिका मे फैल गए इस सवाद से कि उनका अपना अन्तरग सखा पृथा-पुत्र अर्जुन उनकी अपनी ही बहन सुभद्रा के प्रति आकृष्ट है और एक दिन वह उसके हरण की भी इच्छा रखता है उन्हे न दुःख हुआ था न सुख। यद्यपि बलराम एव अन्य यादववीर इस सवाद मे विचलित हो गए थे और सबो ने मिलकर पार्थ की हत्या की भी योजना बना ली थी। बलराम तो स्पष्ट बोले थे—"श्रीकृष्ण ! तुम्हारे इस तथाकथित मित्र की यह उद्दडता मुझे उद्विग्न कर रही है। हाल हाल तक जगल-जगल देश विदेश मारा मारा फिरने वाला यह भिक्षुक हमारी बहन की आकाक्षा रखे, यह मुझे सह्य नही। वह तुम्हारा मित्र नही होता तो अपने हल के प्रहार से ही मैं उसके मस्तक को विल्व फल की तरह दो टुकडे कर देता।

"पर वह भिक्षुक कैसे है ? पाण्डु पुत्र है वह। इन्द्रप्रस्थ के सम्राट का सगा भाई—सहोदर। श्रीकृष्ण बोले थे। द्वारिका मे फैले अफवाह का भी उन्हे पूर्ण पता था पर किसी शान्त सागर की तरह अनुद्वेलित और अप्रभावित ही बने रहे थे वह अग्रज के इन कोप-पूर्ण शब्दो पर।

'सम्राट का भाई ! हू ! बलराम का क्रोध पराकाष्ठा की ओर बढ़ा था 'राज्य तो हस्तिनापुर है। खाडव वन मे बस गए उस राज्य को राज्य कौन कहता है ? दुर्योधन युवराज और भिक्षुक और वनचारी तो है ही तुम्हारा तथाकथित महाधनुर्धर मित्र जो अपने सभी भाइयो के साथ कौरवो के डर से बचते जगल-जगल डोलता चला और अब भी वही कर रहा है एक मूर्खतापूर्ण साधारण प्रतिज्ञा के पालनार्थ। अभी वह एक वनचारी से अधिक है क्या ? सुभद्रा

का विवाह ही सम्पन्न करना है तो दुर्योधन ही क्या बुरा है ? वह मेरा गदा शिष्य भी है।"

अग्रज की बात पर श्रीकृष्ण किंचित चिंताग्रस्त हो आये। अभी तो सचमुच वनचारी था अर्जुन।

हुआ यह था कि अर्जुन यह प्रतिज्ञा तोड बैठा था कि पांचाली के साथ जब कोई और भाई एकांत में हो और दूसरा कोई इस एकांत को भंग करेगा तो उसे बारह वर्षों तक स्वेच्छया वनवास भोगना पडेगा। उस रात पांचाली के प्रकोष्ठ में युधिष्ठिर थे। पर इधर एक ब्राह्मण के गोधन को चुराकर कुछ चोर भाग निकले। वह ब्राह्मण अपने गोधन की रक्षा के लिए अर्जुन के पास पहुंचा—'तुम्हारे सदृश धनुर्धर के रहते एक अग्निहोत्री द्विज के गोधन का चोर हरण कर ले यह उचित है ? अब तो मेरा अग्निहोत्र कार्य भी बन्द हो जाएगा और इसका पाप भी तुम्हें ही लगेगा।'

अर्जुन चिंतित हुए। जिस घर में उनके अस्त्र रखे थे उसी में तो अग्रज पांचाली के साथ विद्यमान थे। अब वह उस प्रकोष्ठ में प्रवेश कर बारह वर्षों के वनवास का वरण करे या ब्राह्मण को उसके गो धन से वंचित होने दे। उसने वनवास वरण के मूल्य पर भी ब्राह्मण को उसके गो धन से युक्त करा देना उचित समझा और वह पांचाली के प्रकोष्ठ-द्वार पर पर्याप्त इंगित कर अग्रज और पत्नी को सावधान कर अन्दर प्रवेश कर गया।

ब्राह्मण के गोधन को वापस करा वह वनवास के लिए प्रस्थान कर गया। युधिष्ठिर ने इसे आपत धर्म बता कर अर्जुन को बहुत रोकना चाहा पर उन्होंने सामूहिक प्रतिज्ञा भंग करना उचित नहीं समझा और राजधानी से बाहर निकल गया।

इसी क्रम में अर्जुन कई स्थानों का भ्रमण करते हुए द्वारिका आ पहुंचे थे और वहां सुभद्रा को देखकर वे उसे अपना मन दे बैठे। सुभद्रा और अर्जुन से संबंधित बात सबसे पहले श्रीकृष्ण तक ही पहुंची थी। उन्हें एक क्षण को आश्चर्य एवं दुःख भी हुआ था पर दूसरे ही क्षण उन्हें सुख की अनुभूति हुई। उन्हें याद आई थी अपनी और राधा की बात। प्रेम को उन्होंने उचित मर्यादा देना आवश्यक समझा। राधा ने तो उनके नाम पर आजीवन कौमार्य ही ग्रहण कर लिया था। कहीं सुभद्रा भी यही कर ले तब ? और प्रेम अपने में कितनी बडी प्रेरक शक्ति है यह उनसे अधिक कौन जान सकता था ? अगर आज राधा नहीं होती तो कृष्ण उसी रूप में होते क्या जिस रूप में वे हैं ? क्या पता सुभद्रा, अर्जुन के जीवन में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन ही ला दे अथवा उसकी प्रतिभा को और निखार दे। पर इस सम्बन्ध में कुछ निर्णय लेने के पूर्व उन्होंने दोनों का मन्तव्य जानना आवश्यक समझा था।

सर्वप्रथम उन्होंने अर्जुन से इस सम्बन्ध में पूछा था। अर्जुन ने मिथ्या का सहारा लिये बिना स्पष्ट कह दिया था—"जनार्दन ! अब तुम मुझे अपराधी मानो या विश्वासघाती पर यह सत्य है कि मैं सुभद्रा को चाहता हूं और उसके बिना नहीं रह सकता।

'तो तुम उससे विवाह करना चाहते हो ?

"हां, केशव !

"मेरी सहमति है।' श्रीकृष्ण ने कहा था और अजुन कृतनता के भार से दबकर बोला था "मैं तुम्हारे इस उपकार को कभी नही भूल सकता हृषीकेश! तुमने मेरे प्रेम को उचित मान दिया है।"

"नही, एसी कोई बात नही, श्रीकृष्ण गम्भीर होकर बोले थे, 'मित्र की सहायता करना मित्र का वक्तव्य है। तुमने मेरी बहन से विवाह का निणय ले मेरा ही मान बढाया है। तुमसे बडा वीर इस पृथ्वी पर कौन है? तुम सवथा सुभद्रा के योग्य हो।'

'यह तुम्हारी उदारता है जनादन कि तुमने इस बात को इस रूप म लिया। दूसरा कोई तो इसे एक मित्र के प्रति एक मित्र का विश्वासघात ही मानता।" अजुन नत मस्तक बोला।

'एसा नहा सोचने अर्जुन! तुम्हारा सुख मेरा ही सुख है। तुम्ह प्रसन्न दखने के लिए मैं कुछ भी कर सकता हू।

इसके पश्चात श्रीकृष्ण ने सुभद्रा का मन्तव्य जान लेना भी आवश्यक समझा था और उससे स्पष्टत पूछा था कि क्या वह अजुन से विवाह को प्रस्तुत है।

सुभद्रा क्या बोलती? उसने सिर झुका लिया था और इसे उसकी मौन स्वीकृति मान ही श्रीकृष्ण अग्रज बलराम से भी भिडने म नही हिचके थे।

"तुम कुछ बाले नही।' बलराम ने पूछा था।

'मैं क्या बालू? मैं तो यह साच भी नही सकता था कि आप सुभद्रा का हाथ दुर्योधन के हाथा मे देने की कल्पना भी कर सकते हैं।" श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया।

"क्या दुर्योधन म कौन बुराई है? हस्तिनापुर के राज्य के सदृश इस पृथ्वी पर न तो कोई राज्य है न दुर्योधन की तरह कोई गदा-वीर।"

"और भीमसेन? अजुन ने पूछा।

"वह गदा-वीर हो सकता है पर वह युवराज तो नही है।"

तो आप दुर्योधन की वीरता के समक्ष उसकी सारी बुराइयो की ओर से आखें मूद लीजिएगा? श्रीकृष्ण ने स्पष्ट पूछा।

चलो मान ली तुम्हारी बात, पर दुर्योधन से विवाह नही होगा सुभद्रा का तो इस वनचारी अजुन से भी नही होगा। बलराम ने अपना निणय सुनाया।

पर अजुन का वनवास तो अब समाप्त होने को आ रहा है। वह अब इन्द्रप्रस्थ लौटेगा।"

अभी समाप्त होने को आ रहा है फिर कब आरम्भ हो जाय इसका क्या ठिकाना? य वही पाण्डव-बन्धु ता हैं जो लाक्षागह से जीवित निकलकर भी कौरवो के डर स जगल-जगल डोलत रह? बलराम न अपना तक दिया।

तो आप पाण्डवो को भीरु समझत हैं? द्रुपद के यहा आयोजित स्वयवर के समय तो आपने इनकी वीरता को देखा था और उसकी प्रशसा भी की थी। जो अजुन द्रौपदी को जीत सकता है वह सुभद्रा के हाथ का भी अधिकारी नही?"

श्रीकृष्ण! तुम व्यथ म तक दिए जा रहे हो। मैं उस व्यक्ति क हाथो म अपनी बहन का हाथ नही द सकता जो आया तो अतिथि के रूप म और डोरे डाल बठा घर की युवती पर ही वह भी अपन मित्र की बहन पर।'

ता आपका निणय अन्तिम है? श्रीकृष्ण ने अग्रज स आग्रहपूवक पूछा।

"तो तुमने क्या समझा ? तुम्हारा अग्रज क्या दो बार निर्णय लेता है ?"

"तुम्हारे लिए अब एक ही उपाय बचता है।' श्रीकृष्ण ने अर्जुन से एकान्त में कहा।

"क्या ?"

"तुम सुभद्रा का हरण कर लो।"

'यह तुम क्या कह रहे हो केशव ? ससार तुम्हें क्या कहेगा ? यही न कि तुमने स्वयं अपनी बहन का अपहरण कराया ?"

'मैं मित्र के लिए कुछ भी कर सकता हूं। फिर इसमें सुभद्रा के सुख का भी प्रश्न है। ससार क्या कहेगा इसकी मुझे चिन्ता नहीं। मैं ससार को मार्ग दिखाने के लिए आया हूं उससे मार्ग निर्देश लेने नहीं।'

'बलराम इसका बुरा नहीं मानेंगे ?' अर्जुन ने शंका प्रकट की।

"मानेंगे। बहुत से यादव वीर भी इसका बुरा मानेंगे। वे तुम पर आक्रमण भी करेंगे, पर मुझे विश्वास है तुम इन सबों का सफलतापूर्वक सामना कर लोगे।

'फिर तुम्हीं मार्ग बताओ।

बताऊंगा। पूर्णिमा के अवसर पर सुभद्रा देवी पूजन करने महल से बाहर जाएगी। मैं उसके रथ में पहले से ही पर्याप्त अस्त्र शस्त्र रख दूंगा। तुम इसी अवसर पर सुभद्रा का हरण कर लेना।

अर्जुन ने वही किया। देवी-पूजन के पश्चात ही वह सुभद्रा के साथ-साथ ही रथ पर जा बैठा। सारथि को रथ के नीचे ढकेल उसने अश्वों की बल्गाएं स्वयं सभाली और रथ को इन्द्रप्रस्थ की दिशा में ले भागा। श्रीकृष्ण ने पहले से ही रथ में तीव्रगामी अश्व जुतवा दिए थे जो बात की बात में हवा से बातें करने लगे। सुभद्रा के सैकडों अंगरक्षकों—यादव वीरों—ने अर्जुन पर तीखे बाण छोडने आरम्भ किए पर सबके प्रहार को व्यर्थ कर अर्जुन सुभद्रा को ले भागा।

श्रीकृष्ण को कुछ देर के लिए बलराम का कोपभाजन अवश्य बनना पडा। बलराम का विचार था कि अर्जुन के इस कृत्य से द्वारिका की गरिमा को ठेस पहुंची है। पर श्रीकृष्ण के यह समझाने पर कि कन्याओं का बलात अपहरण कर उनसे विवाह करना वीरोचित कार्य ही है और इससे किसी पक्ष की कोई अवमानना नहीं होती बलराम शान्त हुए और फिर तो वे सुभद्रा के लिए बहुत सा वस्त्राभूषण ले श्रीकृष्ण के साथ इन्द्रप्रस्थ पहुंचकर अर्जुन सुभद्रा के विधिवत परिणय के साक्षी भी बने।

बावन

मानवीय आकांक्षाओं के अश्वों के मुंह में वल्गाएं नहीं दो तो वे महत्त्वकांक्षाएं बन जाती हैं और इन वल्गा हीन अश्वों पर सवारी करने का लोभ करो तो वनाश्वों की तरह ये तुम्हें किस विजन विपिन में ला पटकेंगे उसका कोई पता नहीं।

आकांक्षाओं पर अंकुश इसीलिए आवश्यक है। आकांक्षाओं के उन्मुक्त विहग अपार महत्त्वाकांक्षाओं के पर धारण कर तुम्हारे मन के असीम आकाश में उड़ानें भरेंगे तो ये कब तुम्हें किस ऊंचाई से वहां धाराशायी करेंगे इसका पता नहीं। ससीम और सामर्थ्याधीन महत्त्वाकांक्षा बुरी नहीं और तुम्हारे प्रगति-पथ को प्रशस्त ही करती है पर अपनी सामर्थ्य और सीमा की उपेक्षा कर जब तुम अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को आधारहीन कल्पनाओं की टांगों पर विभिन्न दिशाओं में दौड़ लगाने को उन्मुक्त छोड़ देते हो तो वे तुम्हें दिग्भ्रमित कर तुम्हारे सर्वनाश का भी कारण बन जाय तो इसमें आश्चर्य क्या?

तो इन्द्रप्रस्थ में अलकापुरीवासियों की तरह विचरण करते पाण्डव महत्त्वाकांक्षा की उन्हीं लुभावनी डोरों के सहारे आकाश चढ़ने को आतुर हो रहे थे, विशेषकर महाराज पद से विभूषित धर्मराज युधिष्ठिर और अपने बल के अहंकार से ग्रस्त भीमसेन।

अनादि काल से सबल से सबल व्यक्ति की एक दुर्बलता होती है और वह है उसकी प्रशंसा। प्रशंसा के पीछे पागल बना मनुष्य असंभव को भी संभव करने दौड़ता है। वह अपना सर्वस्व दांव पर लगा कर भी अपने यश और कीर्ति के ध्वज को आकाश में ऊंचे से ऊंचे लहराकर अपनी प्रशंसा और प्रचार की पिपासा को शांत करने को व्यग्र रहता है।

प्राचीन काल में राजसूय यज्ञों के आयोजन के मूल में मनुष्य की यही महत्त्वाकांक्षा, प्रशंसित और पूजित होने की यही आदिम भावना काम करती थी। और इससे वंचित विरले ही होते थे। राजलक्ष्मी ने अल्प कृपा-कटाक्ष से भी कृतार्थ किया नहीं, सैन्य बल में थोड़ी भी वृद्धि हुई नहीं सामन्तों सभासदों ने यशोगान का थोड़ा सहारा लिया नहीं कि राजा ने राजसूय यज्ञ की योजना बना ली। पृथ्वी के सम्पूर्ण नरेशों को अपने अधीनस्थ कर लेना किस राजा या नृप, नराधिपति को प्रिय नहीं है?

तो पाण्डवों ने भी राजसूय यज्ञ की बात ठानी। कहना आवश्यक है कि राजसूय यज्ञ की यह आकांक्षा महत्त्वाकांक्षा ही पाण्डवों की आरम्भिक आपत्ति, दीन हीन से उनके वन-वन भटकने और अन्ततः महाभारत के सदृश महासमर का कारण बनी। पर राजलक्ष्मी पास हो तो उसका प्रचार नहीं करना, शौर्य और सैन्य का बल हो तो उसे प्रदर्शित नहीं करना कुछेक संयमियों के ही वश की बात है।

और राजा युधिष्ठिर धर्मराज पद से विभूषित होते हुए भी उतने संयमी नहीं थे।

वे सभासदों, सामन्तों, अधीनस्थ नरेशों और सदा-सुलभ भाटों चारणों के बहकाने में आये और राजसूय यज्ञ सम्पन्न करने का प्रण ले बैठे।

श्रीकृष्ण के पास यह अद्भुत संवाद पहुंचा तो वे आश्चर्यचकित हुए। सहायतार्थ उन्हें निमंत्रित किया गया था। पाण्डव और राजसूय यज्ञ? बात उनकी समझ में नहीं आ रही थी। अभी अभी तो कौरवों से किसी तरह खाण्डवप्रस्थ की भूमि ले श्रीकृष्ण की सहायता से ही उन्होंने वहां इन्द्रप्रस्थ को बसाया था और अभी वे

पले अपनी सामर्थ्य का प्रदशन करन । कौरवो का यह बात फूटी आखो भी सुहायेगी और किसी दुष्चक्र म फसा क पुन इन्ह माग का भिखारी बना देंगे या नही ?

पर निणय तो लिया जा चुका था। द्वारिका म कुन्ती पुत्र का सदेश आ चुका था शीघ्र इन्द्रप्रस्थ पधारने को राजसूय यज्ञ को सफल बनाने को अब किया भी क्या जा सकता था ?

बलराम और श्रीकृष्ण ने पहले तो इन्द्रप्रस्थ पहुचकर इस यज्ञ को रोकने का पूण प्रयास किया पर जब पाचाली भी अड गई तो व क्या करत ? स्त्रियो का दूसरा को जलाने म विशष आनन्द आता है और कृष्ण न पाया कृष्णा भी इसका अपवाद नही है अपितु प्रदशन और प्रचार की भावना उसम आवश्यकता से कहा अधिक ही प्रबल है।

श्रीकृष्ण का बाद म सोचना पडा था कि यदि पचाल का वह स्वयवर नही होता और पाचाली पाण्डवा की पत्नी नही बनती तो शायद महाभारत का समर भी नही होता।

तो राजसूय यज्ञ की योजना बन गई और इसके क्रियान्वयन का एक तरह स पूण दायित्व श्रीकृष्ण क ऊपर ही आ पडा। उन्होने अपनी बुआओ के लडके विशषकर पाचाली के इस अनुरोध को सिर आखो पर उठाया और अपने कत्तव्य-पालन म प्रवत्त हो गए।

तिरेपन

गिरिव्रज की अगम्य स्थली म अपनी राजधानी बसाये मगधराज जरासध इन तीन विचित्र वेशधारियो के स्वागत के लिए कदापि प्रस्तुत नही था। पर सम्पूर्ण शरीर पर भस्म रमाए, मगछाल पहने इन त्रिपुडधारी ब्राह्मणो को जब उसके परिचरो ने उसकी सभा म उपस्थित ही कर दिया तो वह क्या करता ? प्रतापी जरासध की राजसभा सम्पन्न सम्राटो बुद्धिमान सामन्तो और सभासदो के लिए थी भस्मधारी भिक्षुको के लिए नही। पर प्रहरी और परिचर भी क्या करते ? भस्मधारी होने पर भी उनक अग स ऐसी कान्ति प्रस्फुटित हो रही थी जसे कि वे राख स आवत्त अगारो स भी अधिक जाज्वल्यमान हो। अगर य तजस्वी ब्राह्मण श्राप देन पर उतर आत तो अपने सम्पूण पाषाणी परिवेश क पश्चात भी सम्पूण गिरिव्रज जलकर खाक नही हो जाता ?

तो ये तीनो तपोपूत ब्राह्मण जरासध के सिहासन क समक्ष पक्तिबद्ध खड थे। मगधराज ने इन्हे बठने के लिए नही कहा। उसकी अनुभवी आखो और अप्रतिम मेधा को धोखा दना आसान नही था।

'सम्राट तुम अहकार मे भरकर हम ब्राह्मणा को न तो नमस्कार ही निवेदित कर रहे हो न हमारे योग्य आसन ही प्रदान कर रहे हो। तीना मे जो भस्मपूरित होते हुए भी नीलवर्णी प्रतीत हो रहा था बोला और यही पर वह गलती कर गया। यह स्वर तो मगधराज का पहचाना हुआ था। पर अभी उसने

इस भेद को भेद ही रहने दिया।

"तुम ब्राह्मण हो नही, तो ऐसी अपेक्षाए क्या करते हो?" उसने स्पष्ट खनकते शब्दो मे पूछा।

'पर तुम्हे ब्राह्मण नही प्रतीत होते? अहकार ने तुम्हारी दृष्टि को मलीन कर दिया है क्या?" इस बार जो तीनो मे सबसे पुष्ट था, वह बोला।

"प्रतीत होने और वस्तुत होने मे अन्तर होता है वृकोदर।" जरासध ने भीम को सीधे सम्बोधित कर दिया। शेष दो ब्राह्मणो के तन से भस्म अपने आप या झडने लगे जैसे पतझड मे पेडो से पीत पत्ते।

"यज्ञोपवीत धारण करने के पश्चात् भी अपने तन से तुम धनुष और उसकी प्रत्यचा से निर्मित चिह्नो को नही मिटा सके धनजय! गाडीव फेंक कर आने के पश्चात् भी गाडीव ने ही तुम्हारी पहचान करा दी। प्रथम दृष्टि मे ही मैं समझ गया था कि तुम सभी छद्मवेशधारी हो। आमन की आशा कैसे कर रहे हो तुम? और मगधराज सिर कटा सकता है पर वह यो भिखारियो के समक्ष उसे झुका नही सकता। नमन की आशा कर तो तुम आकाश कुसुम की आकाक्षा ही कर रहे थे।"

'और तुम?" जरासध तीसरे भस्मधारी की तरफ मुडा, "तुम्हारे परिचय की भी अब आवश्यकता रही? तुम्हारे स्वर से ही मैं पहचान गया था कि तुम वही भगोडे यदुवशी हो जो मेरे भय से भाग कर एक मूषक की तरह द्वारिका की बिल मे जा छुपे हो। छल करना तो तुम्हारी पुरानी आदत है। सन्देह नही कि यह सारा स्वाग तुम्हारे ही इगित पर किया गया है।'

जरासध की बात सत्य थी। यह सम्पूर्ण कार्यक्रम कृष्ण की योजना के अतर्गत ही बना था। इन्द्रप्रस्थ पहुचते ही उन्होने धर्मराज से कहा था—' राजसूय यज्ञ का सकल्प तो आपने ले लिया, पर आपको यह तो पता होगा कि इसे सम्पूर्ण राजाओ को विजित कर ही सम्पन्न किया जाता है। हस्तिनापुर के शासक तो आपके बधु ही हैं अत उनको विजित करने का प्रश्न नही उठता पर औरो के सम्बन्ध में क्या सोचा है? विशेषकर जरासध के सम्बन्ध मे?

'आप ही का भरोसा है।' धर्मराज ने सक्षिप्त उत्तर दिया था।

"मेरा? जो स्वय जरासध के अठारह आक्रमणो से भयभीत हो मथुरा छोड कर ही भाग चला?

वह तो आपकी लीला थी। द्वारिका बसाने का एक बहाना। नही जरासध आपके समक्ष क्या टिकता?'

वह मेरी लीला चाहे जो रही हो। पर जरासध के पराक्रम पर भी प्रश्न चिह्न नही लगाया जा सकता। रुद्र का भक्त होने से वह अजेय-सा बन आया है और थोडे दिन उसको और उन्मुक्त छोड दिया गया तो वह सचमुच अपराजेय हो जायेगा। उसने एक विशिष्ट अनुष्ठान का व्रत लिया है जिसके अतर्गत वह एक सौ राजाओ के शीश रुद्र के चरणो मे चढायेगा। उसने चौरासी राजाओ को पराजित कर पहले ही बन्दी बना रखा है। सोलह और राजाओ को विजित करने के पश्चात वह अपना यह नरमेध पूर्ण कर देगा।

"अगर हम किसी तरह इन चौरासी राजाओं को बंधन मुक्त करा सकें तो इन चौरासी राजाओं पर हमारा सहज ही अधिकार हो जाएगा और उनके प्राण भी बच जायेंगे।"

'उसके लिए तो जरासंध-वध आवश्यक होगा।' धर्मराज ने कहा।

"अवश्य! यों वह इन राजाओं को नहीं छोड़ने जा रहा और न जीते-जी आपकी अधीनता को स्वीकार कर वह आपके राजसूय यज्ञ की महत्त्वाकांक्षा को ही पूर्ण होने देने जा रहा।"

'यह काम तो आप ही कर सकते हैं।' धर्मराज ने आरम्भ किया "आप हमारे सुहृद् सखा और सम्बन्धी हैं। आप ही जरासंध-वध का कोई यत्न निकालें।"

'जरासंध की हत्या सेना के बल पर नहीं हो सकती।" श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया।

'तब?'

"उसके लिए छल छद्म का सहारा लेना पड़ेगा। आप मेरे साथ अर्जुन और भीम को कर दें। मैं जरासंध का काम तमाम कर लौटूंगा।' श्रीकृष्ण ने अपनी योजना बताई।

"एवमस्तु।" महत्त्वाकांक्षी धर्मराज ने आदेश दे दिया।

हां तो ब्राह्मण तो भिक्षाटन में विश्वास करते हैं। बोलो क्या डाला जाय तुम्हारी झोली में?" जरासंध ने कृष्ण, अर्जुन और भीम को सम्बोधित किया।

"युद्ध।" श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा।

'युद्ध? जरासंध ठठा कर हंसा, 'ब्राह्मण और युद्ध?'

"अब तो भेद खुल ही गया तो कहां के ब्राह्मण और कैसे ऋषि मुनि? हम तुम्हारे यहां युद्ध की आकांक्षा से ही आये हैं। देना चाहते हो तो युद्ध दो—युद्ध देहि।' श्रीकृष्ण ही बोले।

'युद्ध? किससे?' जरासंध के अहंकार रूपी सर्प ने पुनः अपने फन को ताना, 'तुमसे? जो मुझे पीठ दिखा चुके हो? इस धनंजय से जो मेरे समक्ष निरा बालक है?'

'तो फिर भीम से ही युद्ध कर लो। शोभा भी तुम्हारी इसी में है। एक प्रसिद्ध गदाधारी का सामना एक गदाधारी से हो।' श्रीकृष्ण ने जाल फेंका और जरासंध उसमें फंस गया।

'तो उठाओ भीम, कोने में पड़ी गदा। उतारो इस मृग चर्म को और धारण करो उस तरफ पड़ा वह कवच-कुंडल। मैं तुम्हारे नग्न शरीर को अपने गदा प्रहार के आरम्भ में ही ध्वस्त नहीं करना चाहता।

और चौदह दिन चला जरासंध और भीमसेन का गदा-युद्ध। पैंतरे बदल कर वे एक-दूसरे के मर्म प्रदेश पर आक्रमण करने को इच्छुक थे पर परिणाम होता था गदा से गदा का ही टकराना और उस टक्कर से दूर तक उड़ती स्फुलिंग—

भीषण चिनगारिया।

इस युद्ध का आनन्द उठाने के लिए पूरा गिरिव्रज अपने राजा के प्रसिद्ध अखाडे के इद गिद आ जुटा था। अच्छा मनोरजन बन आया था यह दो मत्त गजराजो का आपस म टकराना।

चौदह दिनो तक (बीच म अवश्य नित्य कम और भोजनादि का अवकाश प्राप्त होता था) जब यह गदा-युद्ध चलता रहा और भीमसेन का पराक्रम-सूय जब जरासध रूपी राहु से ग्रसित होता जान पडा तो श्रीकृष्ण की चिन्ता बढी।

उन्होंने अपनी स्मति पर जोर दिया और सहसा उन्हें जरासध की जन्म कथा याद आई। जरासध के पिता वृहद्रथ को कोई सन्तान नही हो रही थी। उन्होंने एक ऋषि की बडी सेवा की तो पुत्र के रूप म जरासध की प्राप्ति हुई। पर यह कसा पुत्र? बीच से दो भागो म बटा हुआ! उस समय उसके राज्य म एक प्रख्यात दाई हुआ करती थी जो सन्तान उत्पन्न कराने की कला और नवजातो की प्राण रक्षा मे अत्यन्त कुशल थी। उसी ने आकर नवजात जरासध के शरीर के दोनो भागो को तत्काल एक साथ मास-मज्जा के सहारे जोड दिया पर जरासध का शरीर मध्य भाग से दुवल ही रह गया।

इसके स्मरण होते ही श्रीकृष्ण ने श्लथ पडते और बार-बार अपनी ओर सहायताथ देखते भीम को दिखाकर एक तिनका उठाया और उसे दो भागो मे मध्य से चीर दिया।

भीमसेन इगित समझ गया और उसने सम्पूण शक्ति को अपने हाथो म केन्द्रित कर जरासध की एक टाग पकडी और उसे तब तक ऊपर उठाता गया जब तक वह कमर को चीरते हुए वक्षस्थल और मस्तक के दो भाग नही कर गई।

जरासध की मत्यु के पश्चात ही तीनो उस स्थान पर गए जहा चौरासी राजा बन्द थे और बलि की प्रतीक्षा कर रहे इन राजाओ को मुक्त कर उन्हें युधिष्ठिर की अधीनता स्वीकार कर उनके यज्ञ म भाग लेने का निमन्त्रण दिया।

इस प्रकार श्रीकृष्ण की योजना से दिग्विजय का प्राय आधा काय अत्यन्त आसानी स सम्पन्न हो गया।

चउअन

कौन कहता है कि मादकता केवल मदिरा म होती है अथवा केवल सम्पत्ति एश्वय अथवा वभव म? किसने पहल-पहल कहा था कि कनक (धतूरे) की मादकता स्वण की मादकता से सौ गुनी है कि एक को खाकर ही मनुष्य मति खो बठता है तो दूसरे को पाकर?

मादकता होती है एक और स्थान पर भी। वह होती है प्रभुत्व म। युद्ध म मिली अपनी जय म, शत्रु को मिले पराभव म। किसी प्रसिद्ध कलि-कवि ने ठीक नही कहा क्या कि प्रभुत्व पाकर कौन मद मत्त नही हो जाता?

तो जसे ही जरासध-वध की सूचना ले और एक नही दो नही चौरासी राजाओं द्वारा अधीनता स्वीकार करने और राजसूय म सम्मिलित होने की सूचना लेकर श्रीकृष्ण, अजुन और भीम के साथ जसे ही धमराज के समक्ष

उपस्थित हुए वैसे ही धमराज का प्रभुत्व उनके विवेक पर हावी हो आया। हाथ मे पडे सुवण निर्मित राजदण्ड से थोडी देर तक उन्होने यो ही खेला और फिर गम्भीर स्वर मे बोले—"अब पाण्डवो को दिग्विजय के लिए निकलना चाहिए। इसके पश्चात् ही राजसूय प्रारम्भ होगा।

"पर इसमे अत्यधिक रक्तपात की सभावना है महाराज।" श्रीकृष्ण ने निवेदन किया।

"तो क्या हुआ? क्षत्रियो के राज्यो की नीव का सिचन तो मानव रक्त से सदा होता रहा है।"

'यह आप कह रहे हैं महाराज?' श्रीकृष्ण ने साश्चय पूछा।

नही यह वह नही कह रहे। यह इनका मद कह रहा है। इनका प्रभुत्व, सृष्टि का सवनाश हो इनकी जिह्वा पर चढ बोल रहा है। यह काल पुरुष का स्वर था जिस किसी ने सुना हो या नही। श्रीकृष्ण ने अवश्य सुना था।

मेरा कहा मानिए महाराज तो इस दिग्विजय की योजना का त्याग ही दीजिए अपितु राजसूय यज्ञ की बात ही मन से निकाल फेंकिए। कस और जरासध के सदृश प्रतापी पर दुराचारी राजाओ का वध सम्पन्न हो गया, अब अधिक रक्तपात से क्या लाभ? अब आप विजय अभियानो के निरथक मोह म नही पड शान्तिपूवक इन्द्रप्रस्थ के समृद्ध राज्य का सत्र सचालन कीजिए। मुझे तो भावी यज्ञ की खूख्वार लपटो म विनाश का स्पष्ट ताण्डव दृष्टिगोचर हो रहा है। आप इस राजसूय की महत्त्वाकाक्षा को तिलाजलि दे दीजिए।'

युधिष्ठिर को श्रीकृष्ण की यह बात पसन्द नही आई और बोले, 'केशव! मनस्वी और केसरी जब अपने पग को आगे बढा देते हैं तो वे फिर पीछे नही मुडते।'

"यह आपकी आज्ञा है?" श्रीकृष्ण ने आश्चय से पूछा।

'आपके लिए अनुरोध पर अपने अनुजो के लिए आज्ञा नही, राजाज्ञा। अब वे दिग्विजय के लिए प्रस्थान करें।'

अन्तत अग्रज की आज्ञा से चारो अनुज चार दिशाओ म दिग्विजय के लिए प्रस्थान कर गए। अजुन उत्तर को गए तो भीम पूव को, नकुल पश्चिम की ओर तो, सहदेव दक्षिण दिशा को प्रस्थित हुए।

अजुन की वीरता प्रसिद्ध थी। उन्हे देखते ही उत्तर के सभी भूपालो ने इनकी अधीनता स्वीकार कर ली। केवल प्राग्ज्योतिषपुर का अहकारी नृप भगदत्त उनसे आ भिडा। पर व्याघ्र और वृक का युद्ध कितनी देर चलता? कुछ देर पश्चात ही भगदत्त ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और यज्ञ म आकर भेंट देने का वचन दिया।

बिना विशेष रक्तपात किए ही अजुन ने उत्तराखण्ड के प्रसिद्ध नृपति चित्रायुध, वृहद्रथ, लोहित और रोचमान आदि को पराजित कर लिया और उनसे भरपूर भेंट ले इन्द्रप्रस्थ लौटे। उनके गाडीव की टकार से ही अधिकाश राजाओ के होश हिरण हो जाते थे और वे उनसे भिडने की अपेक्षा, पराजय स्वीकार कर लेना ही स्वीकार कर लेते थे।

भीम, नकुल और सहदेव का अवश्य अपने अभियानों में समय लगा। भीमसेन तो जब तक अपनी गदा के प्रहार से किसी राजा नहीं तो उसके गजराज का ही मस्तक नहीं फाड़ देते तब तक उनके हाथ की खुजली ही नहीं मिटती। सबसे अधिक रक्तपात उन्होंने ही किया। नकुल और सहदेव को निरा किशोर समझ बहुत से राजा उनसे भिड़ने की भूल कर गए पर तलवार-युद्ध के धनी इन दोनों कुमारों की पराधीनता उन्हें अंततः स्वीकार करनी ही पड़ी।

जब चारों भाई चारों दिशाओं से प्रचुर सम्पत्ति—गज, अश्व, रत्न, मणि, माणिक आदि लेकर लौटे और चारों दिशाओं के नृपों को पराभूत कर इन्द्रप्रस्थ के अधीन कर लिया तो धर्मराज ने राजसूय-यज्ञ का मुहूर्त निकलवाया और यज्ञ प्रारम्भ करने की तिथि तय कर दी।

पचपन

हस्तिनापुर में राजसूय का निमन्त्रण मानो दुर्योधन के लिए दुःख का पारावार लेकर पहुंचा। अभी अभी उसकी कृपा के बल पर खाण्डवप्रस्थ के कानन को इन्द्रप्रस्थ नामक नगर में बदलने वाले ये पाण्डव अब राजसूय का आयोजन करने लगे? और वह क्या करता रहा अब तक? केवल पाण्डवों के पराभव अथवा विनाश के प्रयास? कभी भीमसेन को विष देने की योजना तो कभी पाण्डवों को सपरिवार जला मारने का यत्न—ये ही रहीं इसकी उपलब्धियां? इसने क्या नहीं किया कोई राजसूय और जब तक नहीं किया तो अब कब करेगा? अब तो सारे नृप इन्द्रप्रस्थ के अधीन आ गए।

वह अपने दुःख का रोना किसके पास रोता? उसके एकमात्र परामर्शदाता तो मामा शकुनि थे। वह उन्हीं के पास पहुंचा।

"क्या इस निमन्त्रण को स्वीकार करना उचित होगा?" उसने मामा से पूछा।

"सर्वथा उचित होगा भांजे।"

"कैसे?"

"यह कैसे कि इस तरह तुम्हें शत्रु-दुर्ग में प्रवेश का पूर्ण अवसर मिलेगा। तुम उसके वास्तविक पराक्रम, धन-सम्पत्ति का अनुमान लगा पाओगे और भविष्य में अपने उत्कर्ष और उनके पराभव की योजना बना पाओगे।

"ठीक कह रहे हैं मामा आप। सुना, पाण्डवों की राज सभा इन्द्र की सभा को भी मात देती है। मुझे भी देखना है कि पाण्डवों का यह सभा भवन कैसा है और उनके राज भवन में सम्पत्ति का कैसा अम्बार लगा है।"

"मामा सदा ठीक कहता है भांजे! अब तुम इन्द्रप्रस्थ चलने की तैयारी करो। धृतराष्ट्र, गांधारी आदि तो पहले से ही प्रस्तुत हैं। अपने अधिक-से-अधिक भाइयों को ले लो ताकि आवश्यकता पड़े तो पाण्डवों से वहीं दो-दो हाथ कर लें। जो राजा कूटनीति से काम नहीं लेता उसका विनाश अवश्यम्भावी है भांजे! पाण्डवों ने राजनीति की उपेक्षा कर इतना शीघ्र ही अपने **ऐश्वर्य-प्रदर्शन**

की योजना बना ली है। इनकी आसन्न नियति की तुम कल्पना नही कर सकते। बस तुम देखत जाओ भाज।'

निर्धारित तिथि क पूव ही हस्तिनापुर क पाण्डवो क सभी सम्बधी सदल बल पहुच गए। धतराष्ट्र गाधारी पितामह गुरु द्रोण दुर्योधन दु शासन कण आदि सभी आ जुटे।

युधिष्ठिर ने अपन इन बधुआ के मध्य इनकी प्रतिष्ठा क अनुकूल कतव्य का निर्धारण करने के लिए वयोवृद्ध पितामह स निवेदन किया।

पितामह ने द्रोण स परामश कर सबक दायित्वा को परिभाषित कर दिया। गुरुपुत्र अश्वत्थामा स्वागताध्यक्ष बन। आगत अतिथियो का स्वागत कर उनक रहन ठहरन आदि की व्यवस्था उन्होने सभाली।

दु शासन का काय अतिथियो का खिलाने का हुआ। उ ह अनक सहायक दिए गए जिनक माध्यम स उ ह यह सुनिश्चित करना था कि कोई भी किसी शाम भी भूखा न रहे और सबको अपने मनोनुकूल भाजन प्राप्त हो।

सजय ने सेवाव्रत लिया। अतिथियो की हर प्रकार म सेवा करना उनके उपचार एव स्नान-मज्जन आदि की व्यवस्था का भार उनके ऊपर पडा।

धर्मात्मा विदुर का व्यय भार सौंपा गया।

सबस महत्त्वपूण काय युधिष्ठिर क परामश पर पितामह ने हस्तिनापुर क युवराज दुर्योधन को दिया। उसका काय था राजाओ स भेंट और हीरे मोती जवाहरात अन्न, अश्व गज आदि ग्रहण कर उन्हे यथा स्थान सचित करना।

श्रीकृष्ण चिन्तित हुए। इतना बडा यज्ञ और उन्हे तो कोई काय ही नही मिला। वे क्या पुण्यसचय स वचित ही रह जायेंगे?

'पितामह मेरा दायित्व? अन्तत उन्होंने भीष्म स पूछ ही लिया।

'आप तो सबक पूज्य है। आप कौन काय करेंगे? पितामह ने उन्हे टालना चाहा।

'नही, मुझ भी कुछ कार्य चाहिए। अकमण्य बठना मेरे सिद्धान्त म नही। तो अपना काय आप स्वय चुन लें।

मैंने चुन लिया।

'क्या?'

मैं विद्वानो ब्राह्मणो और ऋषि मुनियो क चरण पखारूगा। श्रीकृष्ण ने अपना निणय सुनाया।

'यह आपको शोभा देगा? पितामह न पूछा।

खूब शोभा देगा। इस तरह मैं सर्वाधिक पुण्य भी अर्जित करूगा।

जसी आपकी इच्छा। पितामह ने अपनी अनुमति दे दी।

छप्पन

शुभ काय म विघ्न नही उपस्थित हो शायद एसा हो ही नही सकता। नही? तभी तो हमारे आचार्यों ने किसी भी पुण्यायोजन क पूव विघ्न विनाशक गणश की

पूजा का विधान किया है और विडम्बना यह कि इन्हीं आचार्यों ने इन्हे विघ्न राज की भी उपाधि दे दी है—विनायक, विघ्नराज, द्वैमातुगणाधीप ।

पता नही राजसूय यज्ञ क याज्ञिको ने विघ्नेश्वर गणपति का आवाहन पूजन किया या नही—ॐ गणानां त्वा गणपति ग्व हवामहे, प्रियाणा त्वा प्रिय पति ग्व हवामहे—पर यज्ञ के आरम्भ मे ही घोर विघ्न आ उपस्थित हुआ ।

यह विघ्न उपस्थित हुआ 'अग्रपूजा' को लेकर । राजसूय यज्ञो म परिपाटी है कि समुपस्थित व्यक्तियो म सवश्रेष्ठ व्यक्ति की 'अग्रपूजा' होती है । पहला अघ्य उसे ही अर्पित होता है ।

धमराज को भी इस यन म 'अग्रपूजा' की परिपाटी निभानी थी । किसकी हो अग्रपूजा ? वय और विद्या मे तो पितामह ही सवश्रेष्ठ थे । पर यह यज्ञ भी तो उन्ही का था । कौरवो और पाण्डवो म अन्तर ही क्या था—ऊपर ऊपर । अदर अदर चाहे विद्वेष और घणा की कितनी अन्तर्धाराए प्रवाहित होती हो ।

तब ?

युधिष्ठिर और पितामह ने आपस म परामश कर श्रीकृष्ण को 'अग्रपूजा' के योग्य माना ।

"श्रीकृष्ण, इस युग के सवश्रेष्ठ साधक, पराक्रमी, नीतिज्ञ और धम-परायण हैं । उस पुरुष-श्रेष्ठ की अग्रपूजा सवथा उचित है ।' भीष्म ने अपना निणय सुनाया और माद्री-पुत्र सहदेव ने श्रीकृष्ण की अग्रपूजा सम्पन्न की । श्रीकृष्ण ने इसे महष स्वीकार किया ।

श्रीकृष्ण के घोर शत्रु शिशुपाल को यह बात बर्दाश्त नही हुई । वह फन कुचल नाग की तरह, अपने स्थान से उठकर फुफ्कारने लगा ।

उसन सवप्रथम धर्मराज को ही अपने क्रोध का शिकार बनाया ।

'पितामह तो वद्ध हुए । इनकी इद्रिया शिथिल हुई । इनके विवक को पक्षाघात ग्रसित कर गया, पर धमराज आपको क्या हुआ कि स्वाथ-वश आप उस व्यक्ति को अग्रपूजा के योग्य मान बठे जा किसी रूप म पूजाह है ही नही । न तो वह किसी देश प्रदेश का राजा है न विप्र-ब्राह्मण । आपने क्वल इसीलिए तो यह कुकम किया कि वह आपका सम्बधी है—आपकी अपनी बुआ का भाई ।

'माना कि धतराष्ट्र अधे है । वे प्रज्ञा चक्षु जो हा उनकी बाहर की आखें बन्द है पर आप तो अधे नही । आपका तो दिखाई पडना चाहिए कि इस यज्ञ मण्डप म एक स-एक पूजनीय व्यक्ति वत्तमान है । क्या आपको द्वपायन व्यास गुरु द्रोण, बलशाली कण, गुरुपुत्र अश्वत्थामा, पाचाल-नरेश द्रुपद, गुरु कृप, मद्रपति शल्य, हस्तिनापुर-युवराज दुर्योधन आदि म कोई व्यक्ति अग्रपूजा के योग्य नही दिखाई पडा कि आपने इस कुत्सित कृष्ण को यह सम्मान दिया ?

युधिष्ठिर ने इन बातो को धयपूवक सुना और फिर स्वय शिशुपाल क आसन तक जाकर उस समझाया कि वीरो को एस कटु वचन शोभा नही देते ।

शिशुपाल इस पर पितामह की ओर मुडा और बोला, 'जब वृद्धावस्था के कारण आपका विवक काम ही नही कर रहा तो पथ ही आप लोगो को परामश देत हैं । आपको इतने श्रेष्ठ जनो को आमत्रित कर उह अपमानित करन का क्या अधिकार था ? अगर आपकी विद्या बुद्धि ने आपका साथ छोड दिया है तो आप यहा उपस्थित और श्रेष्ठ लोगो स परामश कर लत । आपको अपन एकागी

निर्णय को इन श्रेष्ठ लोगों पर थोपने का क्या अधिकार था ?'

'श्रेष्ठ यहां कोई हो सकता है पर श्रेष्ठतम द्वारिकापति पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही हैं। भीष्म ने स्पष्ट शब्दों में कहा 'मैंने पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि सारे पुरुषोचित गुणों में श्रीकृष्ण अग्रणी हैं। पराक्रम, शौर्य, साहस, ध्यान, साधना, उपासना, नम, व्रत, सत्य, निष्ठा, याग, संकल्प, शौर्य, वीर्य, धर्म, पुण्य, नीति, राजनीति, विनम्रता और मृदुता सभी में द्वारिकाधीश अग्रगण्य हैं अतः इनकी अग्रपूजा सर्वथा योग्य है।

भीष्म से पार नहीं पाकर उसने वहां उपस्थित राजाओं को ललकारा 'आप सभी मेरे सेनापतित्व में युद्ध करें। मैं इस अन्याय का प्रतिकार करूंगा। मैं पितामह और इस ढोंगी धर्मराज के साथ इस तथाकथित द्वारिकापति को भी पाठ पढ़ाऊंगा।' जब उसकी ललकार पर कुछ ही नृपों ने उसका साथ दिया और अधिकांश अपने स्थान पर बैठे रहे तो वह श्रीकृष्ण की ओर मुड़ा और अपने मन की घृणा के असीम ज्वार को उन्मुक्त छोड़ते हुए बोला— क्या तुम भी अपने को इस अग्रपूजा के योग्य समझते हो ?

कृष्ण चुप।

क्योंकि तुमने अपना बाल्यकाल गोपालकों में गौ और बछड़े चराते बिताया है ?

कृष्ण चुप।

क्योंकि तुम क्षत्रिय नहीं यदुवंशी हो अतः तुम्हारे मस्तिष्क में न तो क्षत्रियोचित मेधा है न तुम्हारे हृदय में साहस ?

कृष्ण चुप।

'क्योंकि तुमने स्वयं अपने ही हाथों अपने मामा की हत्या की है ?'

कृष्ण चुप।

क्योंकि तुमने विवाहिता अविवाहिता गोपांगनाओं के साथ रास रचाने में ही अपनी बाल्यावस्था और किशोरावस्था को बिताया।

कृष्ण चुप पर उनका मुंह इस अभियोग पर पलाश के फूल की तरह लाल हो आया।

'क्योंकि तुम संग्राम में सदा पीठ दिखाते रहे और जरासंध से अठारह बार हार कर अन्ततः समुद्र में जा छिपे ?

कृष्ण चुप।

क्योंकि तुमने छल से जरासंध का वध कराया और अपने बुआ के भाइयों के लिए इन्द्रप्रस्थ का साम्राज्य स्थापित करने के लिए द्वारिका की सम्पूर्ण सम्पत्ति लगाकर अपनी ही पूजा का स्वयं प्रबंध किया।'

कृष्ण चुप।

'क्योंकि तुमने राधा नामक एक किशोरी से प्रणय-लीला रची और फिर उसकी ओर मुड़कर भी नहीं देखा।

कृष्ण अब चुप नहीं रहे।

'शिशुपाल सावधान !' श्रीकृष्ण सहसा गरजे। मेघ मन्द्र स्वर यज्ञ मडप के इस छोर से उस छोर तक आतक का एक अभ्र पर्त फैलाता व्याप्त हो गया। बहुत सारे योद्धाओ के प्राण अनायास कठगत होने को आ गए। श्रीकृष्ण के इस रौद्र रूप को तो उन्होने कभी देखा ही नही था। सदा प्रफुल्ल उनका आनन आज कस पलाश के रक्त पुष्प की तरह विस्मयकारी रूप मे रक्तवर्णी हो आया था ? सदा सयत रहने वाला सुगठित आकर्षक वपु आज किस झझा के झकोरे मे पड आपाद मस्तक दोलायमान हो रहा था। श्रीकृष्ण का क्रोध ! आज क्या प्रलय के दिन ही आ गए। सभी अपने-अपने स्थानो पर जडवत खड़े रह गए।

शिशुपाल कुछ न समझ कुछ क्षणो के लिए स्तब्ध रह गया। किसी बरसाती निर्झर की तरह खुले उसके मुख से झडने वाले दुर्वचनो की झडी थोडी देर के लिए रुक गई। वह पूर्णतया अवाक और जड हो आया। एक प्रश्नचिह्न उसके भयभीत नेत्रो मे उभरा—बात क्या थी ? यह सावधान होने की चेतावनी अभी क्यो ? इसी क्षण ?

"गणना भूल गए शिशुपाल !" श्रीकृष्ण मुसकराए, पर इस मुसकान का कोई अर्थ नही था। वह क्रोध पर नियत्रण का बहाना मात्र था। ठडा लौह ही तप्त लौह पिंड को काट पाता है। क्रोधावेश मे लक्ष्यच्युति की सभावना रहती है। उधर होठो पर मुसकान खेली थी, उधर सकल्प-बल से आहूत सुदर्शन चक्र उगलियो पर खेलने लगा था। शिशुपाल का श्वेत पडा आनन किसी विवर्ण पत्र की तरह ही रक्त-हीन हो आया था।

गणना भूल गए शिशुपाल !' श्रीकृष्ण ने अपने कथन को दुहराया। सौवी गाली तुम्हारे मुख से एक क्षण पूर्व हो निकल गई। यह एक सौ एकवी गाली थी। तुम्हारी मा को मैने वचन दिया था तुम्हारी एक सौ गाली बर्दाश्त करने का। उस सीमा को भी तुम मूढता-वश लाघ गए। लो सभालो अपने को।' और श्रीकृष्ण मुख से अतिम बात निकलते-न निकलते सुदर्शन चक्र युक्त उनकी उगली शिशुपाल की गर्दन की दिशा मे लपकी और चक्र की गति से घूमता हुआ सुदर्शन शिशुपाल की गर्दन का मूलोच्छेद कर वापस आ ही रहा था कि श्रीकृष्ण की तर्जनी ने उसे थाम लिया। इस आपाधापी मे थोडी गलती तो हो ही गई और चक्र का एक तीक्ष्ण दत श्रीकृष्ण की उस दाहिनी तर्जनी को हलका-सा छू गया। रक्त की कुछेक बूदें छलछला कर भूमि पर गिरी और यज्ञ मडप मे जितनी शिशुपाल-वध से अव्यवस्था नही छाई जितनी श्रीकृष्ण की उगली से निकले रक्त ने पाडव पक्ष के स्त्री पुरुषो मे एक हाहाकार का सृजन कर दिया। उगली का रक्त बद नही हो रहा था। आवश्यकता थी मात्र वस्त्र के एक टुकडे की। चारो ओर आपाधापी, दौड भाग मची हुई थी। लोग महल के भीतर-बाहर भाग दौड रहे थे। पर कपडे का कोई टुकडा किसी के हाथ मे नही दिखाई पडता था।

'श्रीकृष्ण, जरा इधर आना।" याज्ञसेनी युधिष्ठिर के साथ गठबधन कर यज्ञवेदी के पास बैठी हुई थी।

श्रीकृष्ण बायें हाथ से अपनी दाहिनी तर्जनी को पकडे उसके पास पहुचे "क्या बात है पाचाली !" श्रीकृष्ण ने पूछा।

'एक क्षण ठहरो।" पाडव-पत्नी ने कहा और अपनी सबसे बहुमूल्य साडी जिसे उसने पहन रखा था, का आचल चर से फाडा और उसे श्रीकृष्ण की आहत उगली म लपेट दिया।

"इस उपकार का प्रत्युपकार कसे होगा याज्ञसेनी? ' श्रीकृष्ण ने आहत उगली को पकडे हुए कहा।

'अपनो के उपकार का भी प्रत्युपकार?" पाचाली ने उपालम्भ भरे स्वर में कहा।

"अवश्य ! श्रीकृष्ण का स्वर था, ' यह साधारण उपकार नही, अत इसका प्रत्युपकार भी साधारण नही होगा। '

' यह छोटा-सा उपकार असाधारण कसे हो आया ? द्रौपदी ने पूछा। घम राज मत्रोच्चारण मे लीन थे।

'असाधारण तो यह है। श्रीकृष्ण ने कहा ' यह मेरे प्रति तुम्हारी प्रीति और आत्मीयता का द्योतक है, तुम्हारी त्याग-भावना का प्रतीक। देखा ता यहा बहुता ने मरी उगली को रक्त रजित होते हुए पर एक साधारण वस्त्र खड भी किसी के दिए नही दिया गया और तुमने अपनी सबसे बहुमूल्य साडी के टुकडे करन म एक क्षण का भी विलम्ब नही किया। यह तुम्हारे असामान्य अनुराग का द्यातक नही तो और किस बात का द्योतक । '

"बस-बस !" द्रौपदी ने बीच म ही श्रीकृष्ण को रोक दिया ' किया ता मैंने कुछ नही पर तुम मानत ही हो तो मानो। देखना अब यह है कि तुम प्रत्युपकार किस रूप मे करते हो ?'

' वह तो मैं करूगा ही ' श्रीकृष्ण धीरे से बोले ' मेरी चिन्ता यह है कि तुमने मुझ पर बहुत बडा बाझ डाल दिया। मैं तुम्हारे इस ऋण स पूणतया उऋण कसे हो पाऊगा मोचने की बात यही है।'

' यह क्या आवश्यक है ?" द्रौपदी ने पूछा। याज्ञिक उधर घमराज स आव श्यक कमकाड कराय जा रहे थे। द्रौपदी का ग्रन्थिबन्धन युधिष्ठिर के साथ हा ही चुका था, अत उसकी कोई विशेष भूमिका अभी नही थी। पाश्व म आसीन श्रीकृष्ण से वह बहुत सहजता से वार्तालाप किए जा रही थी।

"आवश्यक है। ' श्रीकृष्ण ने कहा।

"क्या ?'

"क्योकि मैं किसी का बिना दिए उससे कुछ लेता नही हू।" श्रीकृष्ण गम्भीर होकर बोले।

"और देन भी हो तो जितना लेत हो उमसे कई गुणा अधिक।

शायद। श्रीकृष्ण न सक्षिप्त सा उत्तर दिया।

तो तुम ऐसा क्यो करत हो ?"

मैं नही जानता।

लेकिन मैं जानती हू। '

' क्या ?

क्योकि तुम भगवान हो और भगवान एक लता है तो एक महस्र देता है।' पाचाली न श्रीकृष्ण की आर सीधे देखत हुए कहा।

तुम भी एमा मानती हो ? श्रीकृष्ण कुछ उदाम-स बोले।

'क्या ?'

'कि मैं भगवान हू ?

"जब सभी मानते हैं तो मुझे भी यह मानना पड़ेगा।

'पर मैं भगवान नहीं, मनुष्य हू और मनुष्य ही रहना चाहता हू।' श्रीकृष्ण ने जोर देकर कहा।

"पर तुम्हे लोग मनुष्य रहने दें तब तो ?

'नहीं रहने दें पर मैं केवल एक व्यक्ति एक के लिए मात्र श्रीकृष्ण रहना चाहता हू। मात्र एक ?" श्रीकृष्ण का स्वर आर्द्र हो आया।

कौन है वह व्यक्ति ?" द्रौपदी ने फिर श्रीकृष्ण की ओर सीधे देखा।

उसका नाम सुनना चाहती हो ? श्रीकृष्ण गम्भीर हुए।

'हा।'

तो सुन लो, वह है पाचाली।

श्रीकृष्ण ! द्रौपदी आश्चर्यचकित हो बोली।

हा पाचाली ! मैं तग आ गया हू इस भगवान और अवतार आदि की गाथाओं से। कहीं तो मुझे मात्र मनुष्य के रूप में देखा जाय। कम-से कम तुम तो मुझे केवल कृष्ण मानो। एक साधारण मनुष्य।'

'क्यों मुझमें तुम्हारी इतनी रुचि क्या है ? द्रौपदी ने दो टूक पूछा।

'मैं नहीं जानता। शायद इसलिए कि हम लोगों का कोई जन्म जन्मान्तर का सम्बन्ध है। कि शायद तुम मेरी बुआ के बेटों की प्रिय पत्नी हो। कि शायद पाच पाडवों के रहते भी तुम असुरक्षा की भावना से ग्रस्त हो और तुम्हें मेरी सुरक्षा की आवश्यकता है।' श्रीकृष्ण एक सास में बोल गए।

"नहीं, इनमें से कोई कारण सही नहीं है। द्रौपदी ने कहा।

तब ?' श्रीकृष्ण ने आश्चर्य से पूछा।

'तब यह कि मैंने अपना सबकुछ—दुख सुख, मगल अमगल, वर्तमान, भविष्य, पति-पुत्र—सब तुम्हीं को मान लिया है। अपना योग क्षेम पूर्णतया मैंने तुम्हारे हाथों में सुरक्षित छोड़ा है। मेरा अपना कुछ नहीं है। जो कुछ है तुम्हारा है। मेरा चलना उठना खाना-पीना, सोना जागना रोना-हसना देना-लेना सब कुछ तुम्हें ही अर्पित है। तुम भगवान हो या नहीं, मैं नहीं जानती, नहीं हो तो और अच्छा है क्योंकि तब मैं तुम्हें अपने अधिक समीप पाऊगी पर मैं इतना अवश्य जानती हू कि मैं हू तो न अपने लिए न अपने पति पुत्र अथवा अन्य स्वजनों के लिए। मैं बस तुम्हारे लिए हू मात्र तुम्हारे लिए । इतना कहते कहते द्रौपदी की आखों में आसू आ गए जिन्हें उसने अपने फटे आचल के छोर से ही पोछा।

'कृष्णे ! श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय सम्बोधन का प्रयोग किया।

द्रौपदी ने मात्र आखें उठाई जैसे वह पूछना चाहती थी—बोलो।

'तुमने सच कहा। मैं तुम्हें इसीलिए इतना मानता हू कि तुमने अपना सर्वस्व मुझ पर छोड़ रखा है। और सच पूछो तो यही बात मुझे भयभीत करती है कि कहा मैं सचमुच लोगों के बनाए बनाते भगवान बन ही तो नहीं गया क्योंकि अगर सचमुच भगवान कहीं है तो उसकी पहली शर्त यही है कि वह व्यक्ति से सर्वस्व समर्पण की ही अपेक्षा-आकांक्षा रखता है। श्रीकृष्ण उस समय यह कह तो गए

पर तब उन्हें भी कहां पता था कि एक दिन सचमुच व इसी द्रौपदी के एक पति के समक्ष स्वय को स्पष्टतया भगवान घोषित करेंगे और जिस शर्त की बात व आज कर रहे हैं ठीक वही शर्त उनके समक्ष रखेंगे—सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज—सभी कुछ छोडकर केवल मेरी शरण म आ जाओ।

श्रीकृष्ण अब उठने लगे तो द्रौपदी ने उनका पीताम्बर पकड़ लिया।

'अब क्या ?' उन्होंने आश्चय म पूछा।

वह प्रत्युपकार वाली बात तो तुमने बताई नहीं।' द्रौपदी की आखो मे उत्सुकता थी।

"उस समय बतायेगा कृष्ण !" श्रीकृष्ण ने कहा और धीरे-से अपने पीताम्बर का किनारा छुडाकर यज्ञ मडप से बाहर आ गए।

अट्ठावन

अपनी बुद्धि और दूसरे की सम्पत्ति किसे अधिक नहीं लगती ? कौन है ऐसा जो दूसरे के उत्कर्ष को अपनी ही प्रगति मान प्रसन्न होता है और कितने हैं ऐसे जो अन्यों के उत्थान के लिए सोपान का निर्माण करने के बदले उसके पैरों के नीचे की चट्टान भी नहीं खींच लेते है ?

कितने हैं ऐसे मनस्वी जो दूसरों के सुख म सुखी और दूसरों के दुख म दुख मानते हैं। अपने प्रतिद्वन्द्वी विशेषकर पडोसी की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा कितनों को प्रफुल्ल करने म समर्थ होती है ?

कितने हैं ऐसे जिनके वक्षस्थल का अपने ही भाई-बन्धुओं की उपलब्धियों के पुष्प, कटक बनकर नहीं विद्ध कर जाते ? कितने दूसरों के हर्ष से विक्षुब्ध और दूसरों के विषाद से प्रसन्न नहीं होते ?

अन्तत हुआ वही जिसका श्रीकृष्ण को भय था। पाडवों की राजलक्ष्मी दुर्योधन के वक्ष पर वज्र बनकर गिरी। उनके भेंटों का प्राप्तिकर्त्ता तो दुर्योधन ही था। उनके समृद्ध हो आए कोप ने उसकी ईर्ष्याग्नि म घृताहुति का ही काय किया।

ऊपर से वह अपमानित भी हुआ। पता नहीं उसे कौन-सी धुन सवार हुई कि वह पाडवों की प्रसिद्ध राजसभा को देखने की जिद पकड बैठा। उस भवन के सम्बन्ध म ख्याति थी कि उसे मय राक्षस ने रातों रात अपने सहायकों के माध्यम से निर्मित कराया था। कि वह वास्तुकला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण था।

मामा शकुनि पर उसने अपनी इच्छा को अभिव्यक्त किया।

अवश्य देखो भागिनेय ! देखो और जलो। अन्तत यही देखने तो तुम आए हो। देखोगे नहीं तो अपने इन शत्रुओं से इनकी सम्पदा, सम्पत्ति और ऐश्वय को हडपने की प्रवृत्ति तुम म कहां से जगेगी ? इस राजमहल इस राजसभा पर आधिपत्य स्थापित करने की आकाक्षा किधर से तुम्हारे अन्दर जाग्रत होगी ?'

इसीलिए तो मैं लाया हू। चलो, देखें पाडवों की उस प्रसिद्ध राजसभा को।

दुर्योधन राजसभा देखने तो गया पर उसकी चकाचौंध म उसकी आख धोखा

खा गइ। वह वास्तविक्ता और कृत्रिमता मे अन्तर भी नही स्थापित कर सका।

एक स्थान पर सतह सूखा था। पर उसे ऐसा बनाया गया था कि लगता था कि वहा सलिल भरा हुआ है। भीगने के डर स उसने अपने वस्त्रो को ऊपर कर लिया। कितनी हसिया आस पास बिखर गइ। लोग उसकी मूखता पर हस पडे।

आगे बढा तो सचमुच एक सरोवर था पर उसे लगा कि वह स्थान पूणतया सूखा है। वह आग बढा और पूरी तरह सरोवर म गिर गया। उसके राजसी वस्त्र भीग कर व्यथ हो गए। हसिया इस बार कुछ अधिक ही खनकी और इन हसिया म कुछ उस सभागार के ऊपर बनी बठको से भी आ रही थी। भीग वस्त्रा म ही उसन सिर ऊपर किया। हसन वाली नारियो मे पाचाली भी थी—वही पाचाली जो कभी उसके सपनो की परी हुआ करती थी जिससे विवाह रचान का वह स्वप्न देख रहा था।

वह किसी प्रकार अपने वास-स्थल को लौटा।

'यह क्या भागनेय ? तुम तो पूरी तरह भीग गए। ऐसा लगता है जैसे किसी मूषक के बिल मे पानी भरा गया हो और यह प्राण लेकर निकलता भीगता बाहर आया हो।" शकुनि जो पहले ही से वहा उपस्थित था, बोला।

दुर्योधन को मामा की यह बात पसन्द नही आई। वह पहल ही से जला भुना बठा था। उसने वस्त्र-परिवतन किए और बोला—'मामा।"

कहो भागनेय ?"

"मुझस अपने ही भाइयो का यह उत्कष सहन नही होता।'

"यह तो मुझसे भी सहन नही होता भागनेय।

"ऊपर स यह मेरा अपमान तो और असह्य है।"

"यह तो मेरे लिए भी असह्य है भागनेय !

'तब ? दुर्योधन ने स्पष्टत पूछा।

'मेरे पास इसका उपाय है।'

क्या ?"

"उसे यहा नही बताऊगा। मत्र और भेद स्थान और पात्र देखकर ही प्रकट किए जाते हैं।'

'तो मैं पात्र नही हू ?" दुर्योधन खीज कर बोला।

'मेरा इगित अभी पात्र की ओर नही स्थान की ओर है।" शकुनि ने दुर्योधन की क्रोधाग्नि पर ठडे पानी के छींटे दिए।

"तब ?'

तब लौट चलो हस्तिनापुर। वहा चलकर सब ठीक नही कर दिया तो मैं मामा नही, तुम भागनेय नही।

वहा चलकर यहा की बात ठीक करोगे ? राज-लक्ष्मी तो यहा है। श्रीकृष्ण की अग्रपूजा के कारण बहुत सारे राजा अभी तक क्रोध मे जल रहे हैं। मेरे सभी भाई अभी भी यही हैं। पितामह और द्रोण भी साथ म हैं। अभी जो करना हो कर लो।" दुर्योधन क्रोध से भर कर बोला।

'शान्त भागनेय ! शान्त ! जो बात बल से नही बनती उस बुद्धि स बनाना पडता है। अभी हम कुछ नही कर सकत। कोई युद्ध किसी के घर म घुसकर नही जीता जाता। अभी हम कुछ नही कर सकत। तुम हस्तिनापुर तो लौटो। मैं एक

बूंद रक्त बहाए बिना ही सब ठीक कर दूंगा।"

"तो लौटो।" दुर्योधन ने अपना निर्णय सुनाया और दूसरे दिन तक सभी हस्तिनापुर लौट आये।

उनसठ

"अब बानो।" हस्तिनापुर लौटते ही दुर्योधन ने मामा को पकड़ा।

'अब बोलने का नहीं करने का अवसर आ गया है।'

"तो कुछ करो और शीघ्र करो। पांडवों के वैभव को देख चुकने के बाद मैं ईर्ष्याग्नि में जला जा रहा हूं। मेरे खाक होने पर तुमने कुछ किया तो क्या किया?" दुर्योधन खिन्न मन बोला।

"करना मुझे नहीं तुझे है।"

"तो मुझे आज्ञा दो।"

'तुम अपने पिता धृतराष्ट्र के पास जाओ। उनको भक्ति भाव और प्रेम से प्रसन्न करो।'

"किसलिए?"

"इसलिए कि वह विदुर को इन्द्रप्रस्थ भेजें और युधिष्ठिर को द्यूत क्रीड़ा के लिए यहां आमंत्रित करें। मैं जानता हूं युधिष्ठिर युद्ध और द्यूत की चुनौती को कभी अस्वीकार नहीं करता।"

'और तुम द्यूत में पांडवों का सबकुछ हड़प जाओगे?'

'मामा पर सन्देह नहीं करो भागनेय! द्यूत क्रीड़ा में उसका कोई जोड़ नहीं।'

और वही हुआ। विदुर के प्रस्ताव को ठुकराना असम्भव था अतः धर्मराज अपने पूरे परिवार—यहां तक कि पांचाली को भी साथ ले हस्तिनापुर आ पहुंचे।

मार्ग में विदुर ने धर्मराज से स्पष्ट कह दिया "मैं द्यूत क्रीड़ा का घोर विरोधी हूं। यह एक विनाशकारी व्यसन है, उस पर शकुनि इस कला में पारंगत। मुझे इस क्रीड़ा में तुम्हारे विनाश के स्पष्ट लक्षण दिख रहे हैं। जरा संभल कर खेलना।"

खचाखच भरी कौरव सभा में द्यूत का चौसर बिछ गया। धृतराष्ट्र अंधे थे अतः सर्वसम्मति से उनकी ओर से पासे फेंकने शकुनि बैठा।

धर्मराज शकुनि के कपट खेल में सब कुछ खो बैठे। राज्य पाट गजशाला अश्वशाला कोषागार, वस्त्राभूषण सब कुछ।

'अब? अब क्या दांव पर रखते हो?" शकुनि ने ललकारा।

धर्मराज कुछ क्षण मौन रहे। फिर बोले, 'मैं इस बार अपनी धर्मपरायणा पत्नी द्रौपदी को दांव पर रखता हूं।' धर्मराज यह दांव भी हार गए।

'द्रौपदी को राजसभा में उपस्थित किया जाय।' युवराज दुर्योधन ने आज्ञा दी।

"द्रौपदी रजस्वला है। एक वस्त्रा है। वह सभा में आने से इनकार करती

हैं।" दु शासन खाली हाथ लौट कर बोला।

"उसे केशो से खीचकर बलात लाया जाय। अब वह रानी नही दासी है। इस बात को तुम कसे भल गए दु शासन ?"

वही हुआ। केशो को पकडकर रोती बिलखती पाचाली को दु शासन ने कौरव-सभा मे उपस्थित किया।

दुर्योधन ने अपनी जाघा का निवस्त्र किया और दु शासन को आज्ञा दी—'पाचाली को भी निवस्त्र कर मेरी जाघा पर बठने का आदेश दो। सम्पूण सभा सन्न रह गई। शम से धतराष्ट्र और गान्धारी क सिर झुक गए। पितामह द्राण कृप, कण, अश्वत्थामा आदि सभी उपस्थित योद्धाओ के मुह से दुर्योधन की आना के विरुद्ध एक शब्द भी नही निकला।

दु शासन ने आज्ञा का पालन आरम्भ किया। एक-वस्त्रा द्रौपदी के वस्त्र कटि प्रदेश स खीचने लगा।

"बचाओ, बचाओ मेरी शम की रक्षा करा। मेरे साथ अ याय हो रहा है। स्वय का हारे धमराज को मुझे दाव पर रखने का कोई अधिकार नही था।" चिल्लाती बिलखती अपने वस्त्र को जोर स दाना हाथा से पकडे हुई द्रौपदी कातर दष्टि से पितामह कृप द्रोण सबकी ओर देख गई। एक तरफ खडा कण मुसकराता रहा। स्वयवर सभा म मुझे सूत पुत्र कहकर अपमानित करने वाली अहकारिणी अब अपने उस कृत्य का फल भोग वह मन-ही मन बोला।

कोई सहायता का नही आया। द्रौपदी अब नग्न ही होनेवाली थी। वह जानती थी श्रीकृष्ण इस सभा म नही थ पर उसने अ त म जोर से पुकारा—"कृष्ण! और जिन हाथो से अपने एकमात्र वस्त्र को पकड रखा था उ ह प्रणाम की मुद्रा मे जोड दिया—अब जो होना हो हो—सोचकर उसने आखें मूद ली।

पर वह नग्न नही हुई, उसके शरीर पर से वस्त्र की एक लम्बी पक्ति सरकती गई—नीली-पीली, हरी लाल, विभिन्न रगा की, उसक शरीर को पूरी तरह ढके। उसने कुछ देर बाद आखें खोली तो इस लीला को देखकर आश्चय-चकित हो गई। महाबलशाली दु शासन वस्त्र खीचने खीचत थक गया था और अ तत वस्त्रो के उस ढेर पर ही ढहकर बठ गया।

हुआ यह कि श्रीकृष्ण को पहले से ही इस सबकी आशका थी। वे छदम रूप म कौरव-सभा मे उपस्थित थे। जब तक द्रौपदी ने अपने हाथा स अपनी साडी को पकडे रखा उन्होंने कुछ नही किया। जसे ही उसने अपनी शक्ति का सहारा छोड उन्हें हाथ जोडे वस ही उ होंने अपनी सकल्प शक्ति का तत्काल प्रयोग किया। गुरु सादीपनि के आश्रम मे की गई उनकी साधना रग लाई और उनके सकल्प से वहा वस्त्रा का अम्बार लग गया।

द्रौपदी की लाज बच गई और उसे याद आई शिशुपाल वध के पश्चात कही श्रीकृष्ण की बात, "इस फटी साडी का मूल्य कभी चक्रवद्धि ब्याज के साथ चुकाऊगा।

द्रौपदी निवस्त्र होने से तो रह गई पर द्यूत के अ तिम परिणाम के रूप म उस पाडवा के साथ तरह वष के वनवास पर जान को बाध्य होना पडा। उसम अन्तिम वष अनात वास था। उस समय अगर पाडव पहचान म आ जाते तो तरह वष का दूसरा वनवास आरम्भ हो जाता।

तेरहवें वर्ष को पाण्डवों ने विराटनगर में बिताया—वेश बदलकर। युधिष्ठिर द्यूत खेलकर विराट का मनोरंजन करने लगे। भीम ने रसोइए का काम संभाला। अर्जुन वृहन्नला नाम की नर्तकी बनकर विराट-पुत्री उत्तरा की सेवा में लग गया और उसे नृत्य गान की भी शिक्षा दी। नकुल-सहदेव ने अश्वशाला का भार लिया।

अज्ञातवास का वर्ष समाप्त हुआ तो श्रीकृष्ण विराट के यहां पहुंचे। अब तक विराट को भी पता लग गया था कि पांचों पाण्डव ही छद्म वेश में यहां टिके थे क्योंकि एक बार उनके गोधन को चुराने के लिए कौरवों की पूरी सेना ने उन पर आक्रमण किया तो अर्जुन ने ही सबको मार भगाया। तब तक तेरहवां वर्ष पूर्ण हो गया था, अतः पाण्डवों ने अपना भेद विराट पर खोल दिया।

श्रीकृष्ण ने प्रस्ताव रखा कि अब पाण्डवों को उनका हक मिलना चाहिए क्योंकि उन्होंने सफलतापूर्वक वनवास की अवधि पूरी कर ली है। उस समय आर्यावर्त के अधिकांश राजा वहां उपस्थित थे क्योंकि विराट ने अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन पुत्र अभिमन्यु से आयोजित किया था। सबको यह प्रस्ताव पसन्द आया।

द्रुपद ने अपने पुरोहित को धृतराष्ट्र के यहां यह प्रस्ताव लेकर भेजा कि वह पाण्डवों को अपना हक वापस कर दे वरना युद्ध होगा और उसका दायित्व धृतराष्ट्र का ही होगा।

पुरोहित खाली हाथ लौटा। उलटे नृप धृतराष्ट्र की ओर से संजय संधि का प्रस्ताव लेकर आये और कहा कि 'दुर्योधन उद्दण्ड है वह कुछ सुनने को प्रस्तुत नहीं। ऐसी स्थिति में पाण्डव अपने हक के लिए हठ करते रहे तो युद्ध अवश्यम्भावी है पर धर्मराज तो धर्म की साक्षात् मूर्त्ति और नीतिज्ञ हैं अतः उन्हें युद्ध का विचार छोड़ कौरवों को सिंहासन पर बने रहने देना चाहिए। पाण्डवों का क्या वे तो वन्य जीवन के आदी हो गए हैं फिर विराट और द्रुपद के सदृश उनके सहायक भी मिल गए हैं।

संजय की बात पर श्रीकृष्ण किसी भयानक ज्वालामुखी की तरह भड़क उठे किन्तु उन्होंने दूत को अपमानित करना उचित नहीं समझा और कहा— अमुक तिथि को मैं स्वयं संधि प्रस्ताव ले कुरुओं की राजसभा में उपस्थित होऊंगा। अगर मेरा प्रस्ताव अस्वीकृत हुआ तो युद्ध को कोई नहीं रोक पायेगा।

सम्पूर्ण हस्तिनापुर में यह बात बड़वानल की तरह व्याप्त हो गई कि अमुक तिथि को श्रीकृष्ण स्वयं पधार रहे हैं। दुर्योधन की उपेक्षा कर उस दिन सभी नगर वासियों ने नगर-पथों को भलीभांति सजाया। उन पर गुलाल छिड़के। सुगंधित पुष्पों से सजे अनेक तोरण-द्वार बनाए और उस दिन प्रातःकाल से ही उस युग पुरुष के स्वागत में राजपथ के दोनों ओर पंक्तिबद्ध खड़े हो गए। उनमें धृतराष्ट्र और दुर्योधन को छोड़कर सब लोग थे—पितामह, द्रोण, कृप यहां तक कि कर्ण भी श्रीकृष्ण के स्वागत में नगर-द्वार के बाहर निकल आये।

श्रीकृष्ण के रथ के पहुचते ही उस पर पुष्पो की वर्षा होने लगी। पाटल, कमल, पारिजात आदि-आदि पुष्पो से वे इस तरह ढक गए कि यह निश्चय करना कठिन था कि रथ पर कोई नीलमणि की कान्ति वाला पुरुष खडा था कि वहा मात्र विविध रगो और गधो के पुष्पो का अम्बार लगा था। किसी तरह उनका प्रफुल्ल नील आनन मात्र दिखलाई पड रहा था। बाल, वद्ध युवा वृद्धा युवतियां, किशोरिया सबने उनके दशन के लिए राजपथ को पूरी तरह सकुल कर दिया था और सबने मुटठी भर भर भाति भाति के पुष्प फेंककर उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की।

दुर्योधन ने साम, दण्ड और भेद सबसे अपना काम बनाना चाहा था। भल ही वह श्रीकृष्ण के स्वागत मे नगर-द्वार के बाहर नही गया था पर महल मे उनके स्वागत का पूण प्रबन्ध किया था।

भाति भाति के पकवान्न और हीरे-मोतिया से भरे भेंट के लिए सजे थाल भव्य रूप म पक्तिबद्ध किये गए थे। कही कृष्ण इन पर रीझ गए और कौरवो के मन की बात कर दी तो क्या कहना ? पर कृष्ण ने इन भोज्य और भेंट-सामग्रियो को देखकर भी नही देखा और सीधे राजसभा पहुच धनुष से निकले किसी शर की तरह ही तीव्रता से ही वे सीढिया चढ गए और अपने लिए निर्धारित आसन पर खडे होकर सभासदो को सम्बोधित किया

"नृप धतराष्ट्र, राजमाता गाधारी और उपस्थित विशिष्ट जनो ! मैं पाण्डवो की ओर से सधि प्रस्ताव लेकर आया हू। उन्होने सफलतापूवक अपना वनवास समाप्त कर लिया है। न्याय की पुकार है कि अब उन्हे अविलम्ब इन्द्रप्रस्थ का राज्य वापस कर देना चाहिए जिस पर छलपूण तरीके से कौरवो ने अपना आधिपत्य जमा रखा है ।

"कौन कहता है छलपूण तरीके से।' दुर्योधन बठे-बठे ही बोला, 'पाण्डव द्यूत म अपना राज्य स्वय खो बठे हैं। शकुनि के चयन पर ध्यान दो युग पुरुष कहे जाने वाले केशव।'

"माना तुम्हारा अधिकार न्याय-सगत ही था, पर अब तो तुम न्याय के आधार पर ही उसे वापस करोगे ?'

"नही ! दुर्योधन ने दृढता से कहा।

क्यो ?' श्रीकृष्ण ने पूछा।

"क्योकि वनचारी पाण्डव राज्य करने म सक्षम नही और न उनके लिए राज्य के टुकडे ही किए जा सकते हैं।'

'तो उन्हे पाच गाव ही दे दो भरण-पोषण के लिए।" श्रीकृष्ण ने कहा।

'नही और कभी नही।' दुर्योधन गरजा।

'क्यो ?"

'क्योकि युद्ध के बिना सूई के नोक पर अटने भर भूमि भी पाण्डवो के भाग्य म नही—सूच्यग्र न दातव्य विना युद्धेन केशव !

"तो उस युद्ध के भयकर परिणामो के भागी भी तुम्ही बनोगे। ससार तुम्हे ही दोषी ठहरायेगा।'

'ससार ठहरायेगा या तुम ? दुर्योधन की इस बात पर भीष्म पितामह की भृकुटिया तन गई और वे दुर्योधन को सम्बोधित कर बोले— 'अपनी जिह्वा पर

नियन्त्रण करो दुर्योधन ! ध्यान रखो तुम किससे बातें कर रहे हो।"

"मुझे पूरा ध्यान है, आपकी दृष्टि म एक ईश्वरावतार से, युग-पुरुष से। अपनी दृष्टि म एक कुटिल कूटनीतिज्ञ स, एक कायर और पराक्रम हीन पलायन वादी स।" दुर्योधन गरजा। वह सम्पूण शिष्टाचार खो बठा। यह भी कि इसी कृष्ण के लिए उसने भाति भाति के व्यजन बनवा रखे है। उनकी क्षुधा-पूर्ति के लिए।

'तुम्हारे इन दुवचनो का उत्तर अब रण क्षेत्र म ही मिलेगा दुर्योधन ?' श्रीकृष्ण ने भी क्रोध म भरकर कहा।

'वह तो तब मिलगा जब युद्ध होगा। मैं तुम्ह ही बन्दी बना लेता हू और तुम्हारे बिना पाण्डव युद्ध भूमि म उतरने स रहे। दुर्योधन का अहकार उसके शब्दो पर पडा।

'मुझे बन्दी बनाओगे, श्रीकृष्ण मुस्करा कर बोल, 'तुम्हारा दुस्साहस अब इतना बढ गया है ?

'दुस्साहस नही साहस कहो। दुर्योधन ने कहा और अपने आस-पास खडे परिचरो को आज्ञा दी 'पकड लो इस मायावी को और हाथ-पैर बाधकर डाल दो उसे बन्दी-गृह म।'

बीसो की सख्या म परिचर आगे बढे। श्रीकृष्ण को एक बार पुन अपने सकल्प का आह्वान करना पडा और बोले, 'लो पकड लो मुझको, पकड सको तो। इसके साथ ही उनका शरीर विकराल होता गया। तेजी से बढता सिर छत को छू बठा। भुजाए अनन्त हो आइ। शरीर से अग्निकण निकल निकल दूर-दूर तक फलन लगे जिससे पूरी सभा म भगदड मच गई और दुर्योधन सहित सभी सभासद और सहायक भाग खडे हुए। केवल पितामह हाथ जोडकर खडे रहे— श्रीकृष्ण तुम सचमुच परमश्वर हो। अधे धतराष्ट्र और आखो पर पट्टी वाली गाधारी को कुछ पता नही चला। श्रीकृष्ण के शरीर से निकली आच ने पितामह का तरह उन्हें भी स्पश नही किया।

पितामह की प्राथना पर श्रीकृष्ण अपने सौम्य रूप म आये और तेजी से सीढियाँ उतर अपने रथ तक पहुच गए। दारुक रथ को प्रस्थान के लिए प्रस्तुत रखे हुआ था। पर कृष्ण एक क्षण को रुके। उनको छोडन जो गिने चुने लोग थे उनम कण भी था। उनके अन्दर एक बिजली सी कौंधी और उन्होंने कण को दाहिनी बाह स पकड अपन रथ मे बठा लिया।

इकसठ

एक अपेक्षाकृत सूने स्थान म एक विशाल बरगद पड के नीचे दारुक को रथ रोकने की आज्ञा दे वे कण को लेकर उस पड के नीचे एक शिला पर बठ गए।

तुम्ह आश्चय होना होगा कि इतन लोगो के मध्य म मैंने केवल तुम्ह ही क्यो चुना अपन साथ बठन के लिए। श्रीकृष्ण ने बिना किसी भूमिका के आरम्भ किया।

"आश्चय से अधिक सुख हो रहा है।'

"क्या ?'

"आपके क्षणिक ही सही सानिध्य का अवसर तो मिला।' कण ने श्रद्धा नत हो उत्तर दिया।

'तो तुम भी मुझे भगवान मानत हो ?"

"मानता क्या हू जानता हू। बहुत पहले से और आज जो देखा वह क्या भूलने की बात है ?"

'तो तुम अपने भगवान का कहना मानोगे ?' श्रीकृष्ण से स्पष्ट पूछा।

कण कुछ देर तक चुप कर गया।

क्यो ? चुप क्यो हो गए ?' श्रीकृष्ण ने पूछा।

मैं आपकी मारी आना का पालन कर सकता हू केवल एक को छोडकर।

'कौन सी ?'

"दुर्योधन से अलग हाने की बात को।"

'तुम इस पर दढ हो ?' श्रीकृष्ण ने उसका मन टटोला।

"चटटान की तरह ?

"क्यो ?

'क्योकि वह मेरा एकमात्र सखा और सरक्षक है। मैं जब सूत-पुत्र की सज्ञा स सम्बोधित हो चारो ओर से प्रताडित हो रहा था तो उसी ने मेरे सिर पर अगराज का मुकुट रख मुझे अपमान और प्रताडना से बचाया था। मैं उसक प्रति अकृतज्ञ नही बन सकता। मैं इस समय जब हस्तिनापुर के आकाश में युद्ध के बादल मडरा रहे हैं उससे पृथक नही हो सकता।'

'पर मैं वही कहने वाला हू।

क्या ?'

दुर्योधन को छोडकर पाण्डवो से आ मिलने की बात।"

असभव जनादन! असभव! मैं कौरवो को छोड भी दू तो पाण्डवो से मेरा मिलना उसी तरह असभव है जैसे जल मे तैल का मिलन। कण दढता से बोला।

'अब मैं एक कटु सत्य कहन जा रहा हू। श्रीकृष्ण ने पूरी गम्भीरता स आरम्भ किया 'शायद यह सत्य तुम्हारी चिन्तन धारा के साथ जीवन धारा को भी परिवर्तित कर दे।'

'कह दो जनादन! सत्य सदा कटु होता ही है पर तुम यह आशा कभी नही रखना कि मैं पाण्डवा का स्वप्न म भी हा पाऊगा।'

'खर जो हो मुझे तो उस सत्य को उदघाटित करना ही पडेगा श्रीकृष्ण ने कहा और तत्काल जोडा, "तुम उस सत्य को झेलने की शक्ति सचित करो और मैं जो कहने जा रहा हू उस पर आखें मूद कर विश्वास करो क्योकि तुम कह चुके हो कि तुम मुझे भगवान मानत हो।'

'कह डालो हृषीकेश! मैं प्रस्तुत हू।'

तुम सूत-पुत्र नही हो। तुम एक क्षत्राणी की कोख स उत्पन्न हुए क्षत्रिय वीर हो। तुम राजमाता कुन्ती के ज्येष्ठ पुत्र हो। तुम ज्येष्ठ पाण्डव।

'श्रीकृष्ण!' कण बीच म ही चीखा 'तुम यह क्या कह रहे हो ? मैं सूत

पुत्र नहीं हू ?"

"नही तुम सूर्य पुत्र हो।"

"सूत-पुत्र नही! सूर्य-पुत्र। यह क्या पहेली है श्रीकृष्ण! शीघ्र समाधान करो इसका। मेरे शरीर का सारा रक्त अत्यधिक तीव्रता से मेरे मस्तिष्क की ओर प्रवाहित होने लगा है मेरी नसें फट जायेंगी। मैं जीवित नहीं बचूंगा माधव! आज तुम मेरे जीवन-मच की कौन-सी यवनिका उठा रहे हो?" कर्ण लगभग चीखता-सा बोला।

"ठीक ही कर रहा हू और ठीक ही कह भी रहा हू। तुम जीवन भर सूत पुत्र के रूप म प्रताडित-अपमानित निंदित होते रहे। यह नियति की विडम्बना ही थी या तुम्हारा पूर्व-जन्म कृत कर्म-फल। किसी ऋषि द्वारा दिए मन्त्र के प्रभाव से सूर्यांश से ही तुम कुन्ती की कुक्षि से उत्पन्न हुए पर उस समय वह कुमारिका थी, अत अपने कलेजे पर पत्थर रखकर उसने तुम्हे नदी म प्रवाहित कर दिया। राधा ने तुम्हें पाला-पोसा, बडा किया अत तुम कौन्तेय होकर भी राधेय हो गये।

कर्ण बहुत देर तक चुप रहा। फिर बोला, 'अगर तुम्हारा यह कथन सत्य भी है कृष्ण, तब भी मैं अब कौरवो का साथ छोडकर कौन्तेय नहीं बनने जा रहा। जिस राधा माता ने मुझे अपने स्तन का दूध पिलाया उसे छोडकर नदी म बहा देने वाली निष्ठुर कुन्ती की गोद म अब मैं बैठने नहीं जा रहा। जिन पाण्डवो—अर्जुन और भीम ने मुझे आजीवन सूत-पुत्र कहकर अपमानित किया अब मैं उन्हें अपने सहोदरो के रूप मे नही अपनाने को। पर यह भेद खोलकर तुमने मेरा भला ही किया कृष्ण! अब मैं सूर्य-पुत्र के रूप म ही चमकूगा और सारी कुठाओ-ग्रन्थियो से मुक्त होकर अब दुर्योधन के कार्य साधन के लिए कुछ नहीं उठा रखूगा।

"अर्थात् अपनी ही माता के पुत्रो का वध करोगे?

"कैसी माता और किस तरह? केवल जन्म देने से कोई माता नही हो जाती। माता तो राधा माता है जिसने अपने रक्त से मुझे सीचा है।'

"अर्थात अपने अनुजो की ही तुम हत्या करोगे?'

'आवश्यकता पडी तो अवश्य। और कैसे अनुज? जिनका मैं कभी अग्रज नही रहा वे मेरे अनुज कैसे हो गए?'

तो मेरा यह भेद खोलना व्यर्थ गया? श्रीकृष्ण के स्वर पर निराशा चली।

'पूरी तरह। अब तो मैं पाण्डवो का प्रबलतर शत्रु हो आया विशेषकर अपने को मेरी जननी कहने वाली कुन्ती के सबसे प्रिय पुत्र अर्जुन को तो मैं अब कभी छोडने वाला नही। कुन्ती को अपने कुकृत्य का, निष्ठुरता और पाषाण हृदयता का फल भोगना पडगा। एक पुत्र को उसने नदी की धारा को अर्पित किया तो दूसरे को कर्ण के अचूक शरो का शिकार बनना पड़ेगा।'

'तो तुम यह सब जानकर भी दुर्योधन की ओर से ही युद्ध करोगे? भाइयो और माता की ममता को तिलाजलि देकर?'

हा, दुर्योधन की ओर से ही युद्ध करूंगा क्योकि प्रताडना और अपमान के दिनो मे मैंने केवल उसको अपने पार्श्व म चट्टान की तरह खडा पाया है। उसने मुझे अपमान-बोध से बचाने के लिए सब कुछ किया है। और जो ममता कभी उपजी ही नही, उसकी तुम बात क्या कर रहे हो! फिर कहता हूं कैसी

माता और कमे अनुज ?"

"तो मैं चलू ?" श्रीकृष्ण ने कहा।

"नही।"

"क्यो ?"

"एक बात का उत्तर देते जाओ।'

'कौन बात ?"

"इस भेद को तुमने आज ही क्यो खोला ? आज जब युद्ध का समय समीप है। इसीलिए तो कि मुझे पाण्डवो की ओर कर तुम अपने सखा अर्जुन के जीवन को सुरक्षित रख सको ? बोलो ! मैं जब जीवन भर सूत पुत्र के रूप म अपमानित होता रहा तो तुम मौन क्यो रहे ? आज जब अर्जुन के सिर पर मौत का साया मडराने लगा तो तुम मुखर क्या हो आये ? केवल पाण्डवो की विजय को सुनिश्चित करने के लिए ही तो ?'

"नही," श्रीकृष्ण चीखे, 'मुझे गलत नही समझो कर्ण ! केवल अपने रूप मे नही सोचो, अब तक मैं उन्ही कारणो से चुप रहा जिन कारणो से माता होकर भी कुन्ती चुप रही।'

"अर्थात राजमाता की प्रतिष्ठा धूल धूसरित नही हो इसलिए ?"

"यही बात है।' श्रीकृष्ण ने स्वीकारा।

"तब आज उस प्रतिष्ठा की चिन्ता क्यो नही रही ? इसीलिए तो कि सखा का प्रेम सामने आ गया ? उसकी जीवन रक्षा आवश्यक हो गई।" कर्ण ने स्पष्ट पूछा।

"नहा ' कृष्ण फिर गरजे 'तुम अब भी मुझे गलत समझ रहे हो। युद्ध म कौन मरेगा कौन मारेगा यह कोई नही जानता। मैंने आज भेद इसलिए खोला कि एक कौन्तेय दूसरे कौन्तेय की हत्या का कारण न बने। अब स्पष्ट हुआ ?"

हुआ पर तुम अपनी योजना म सफल नही हुए। युद्ध भी अब अवश्यम्भावी है जसा कि तुम जानते हो और कर्ण भी दुर्योधन को छोडने नही जा रहा जसा कि वह जानता है। एक कौन्तेय दूसरे से अवश्य भिडेगा और दोनो म एक अवश्य मारा जायेगा।'

'तुम्हारी प्रतिज्ञा अटल है ?" कृष्ण ने चलने के पूर्व पुन पूछ लेना उचित समझा।

'हा पर मुझे एक वचन दोगे, तुम तो भगवान हो। तुमसे वचन भग की अपेक्षा नही की जा सकती।'

'मागो, देता हू। श्रीकृष्ण बोले, "यद्यपि तुमने मुझे कुछ नही दिया।'

"माग ही तुम असभव रहे हो। अगर कुरुक्षेत्र के युद्ध म कौरवो की विजय हो गई और मैं जीवित रहा तो उस समय तुम मुझसे मेरा सिर भी मागो तो मैं सहर्ष दे दूगा। पर अभी नही। अभी दुर्योधन को मध्य धार म छोडने की कृतघ्नता मैं कदापि नही कर सकता।'

"खैर तुम मागो क्या माग रहे थे।' श्रीकृष्ण ने स्मरण कराया।

'इस भेद का अब तक तीन ही व्यक्ति जानते हैं—तुम कुन्ती और मैं ?'

हा।

"प्रतिज्ञा करो कि अब चौथा कोई नही जानेगा।'

"क्यो ?'

'क्योकि ऐसा हुआ तो बात राधा माता तक पहुचगी बात दुर्योधन तक पहुचगी। बात अजुन और भीम तक पहुचेगी। राधा माता का कलजा फट जायेगा। दुर्योधन का मुझ पर से विश्वास उठ जायेगा। वह मुझे राधेय नही कौतय समझ मुझ पर गुप्तचर बठा देगा। हा सकता है वह मुझे अपने से पृथक भी कर दे। पर मैं उसस पथक भी नही होना चाहता, इसम उसी का अकल्याण होगा। अजुन और भीम ? हा, वे मुझे अपना सहोदर समझ बठेंगे और मुझ पर मारक प्रहार नही करेंगे, पर मैं नही मानूगा और वे शायद नही मरने वाले होकर भी कुरुक्षेत्र क रणागण मे मेरे शरो से मार जायेंगे। मैं उनके साथ अयाय नही करना चाहता।'

'मैं वचन देता हू कण ! चौथा कोई व्यक्ति इस भेद को नही जानगा, पर मैं तुम्हारी न्यायप्रियता क लिए तुम्हारा साधुवाद भी करता हू। कण सदा नही पदा हुआ करते राधेय, नही कौन्तेय !

'मैं भी तुम्हारा बहुत उपकार मानता हू जनार्न्न !'

'तुमने जीवन के उत्तराध म ही सही, मुझे सूत पुत्र से सूय पुत्र बना दिया। अब रणागण म पाण्डवो का सामना सूय बिम्ब की तरह देदीप्यमान कर्ण से ही होगा, सूत पुत्र के रूप म कलकित और लाछित कण से नही।

तो अब चलू ? श्रीकृष्ण उठते हुए बोले।

'मुझे माफ करना जनादन ! तुम्हे पूज्य मानते हुए भी मैं तुम्हारे आदेश का पालन नही कर पा रहा। यह कहकर कण ने कृष्ण के चरणा पर अपना सिर रख दिया।

बासठ

श्रीकृष्ण को कण से निराशा ही हाथ लगी लेकिन चिता उह इसकी नही थी। चिन्ता अवश्यम्भावी युद्ध को लकर थी।

सधि वार्ता असफल हुई तो युद्ध अनिवाय हो गया। यह असह्य था। आसन युद्ध की परिकल्पना ने ही श्रीकृष्ण को अदर तक कपा दिया। कौरव सभा क लिए प्रस्थान के पूव तक आशा की एक क्षीण लौ मन म कही प्रज्वलित थी—शायद दुर्योधन अपनी हठधर्मिता को त्याग दे। शायद प्रज्ञा चक्षु कौरव-पति महाराज धतराष्ट्र की प्रज्ञा ही उह विनाश की ओर से विमुख कर इस महान समर को टालने मे सफल हो जाय। शायद पितामह के सदश तपोपूत और आचाय द्रोण के सदश विद्यावारिधि का विवेक ही दुधय दुर्योधन को स माग पर ला सक। शायद पति की अधी आखो को देखते ही अपने मीन सुदर नयनो पर सदा के लिए पटटी बाध लनवाली उस गाधार-सुता की न्याय भावना ही जाग्रत हो अपने विपथगामी पुत्रो को सुपथ पर ला सके। शायद नीतिन विदुर की नीति ही इस अनीति की समाप्ति मे सफल हो जाय। शायद शायद शायद। अनेक शायदो और सभावनाओ की बसाखी के सहारे ही अपन महान स्यदन पर सवार पहुचे थे

श्रीकृष्ण कौरव-सभा को। पर हुआ कुछ नही। सम्भावनाओ की इट इट चुनी उनकी आशा-अटटालिका बात की-बात म सिक्ता निर्मित दीवारो की तरह धराशायी हो गई। इस आय भूमि को महान नाश से मुक्त करा ले जाने का उनका स्वप्न शीशे की तरह ही टूटकर असख्य टुकडो म टूक-टूक हो बिखर गया। टूटे मन स ही वह चल पडे थे। दुर्योधन की भोजन शाला म सजे भाति भाति के पक्वान, विविध व्यजन और रस भरे फल मेव भी उनकी क्षुधाग्नि को हवा देने में असफल हो गए थे और दुर्योधनादि के द्वारा बार बार दिए गए भोजन निमन्त्रण ठुकरा कर बाहर आ गए वे कौरव-महल क महाद्वार से।

अधिकार के साथ जब अहकार सयुक्त हो जाता है तब बुद्धि अकरणीय को करणीय और करणीय को भी अकरणीय मान बठती है। कृष्ण सोच रहे थे क्या प्रभुत्व सदा से ही मद का कारण रहा है? क्या अधिकार सदा ही असन्तुलित कर देता है मनस्वी स मनस्वी के मन मस्तिष्क को भी? क्या सिर चढ बोलने लगता है सत्ता और साम्राज्य का दप? दुर्योधन तो दुर्बुद्धि था ही पर महाराज धतराष्ट्र? सौ पुत्रो के यशस्वी पिता और सती गाधारी के सदृश साध्वी पत्नी के पति? समस्त आर्यावत के एकछत्र अधिकारी होने के कारण उसकी न्याय-तुला का एक मात्र सन्तुलन-पुरुष? कहा गई उनकी न्याय प्रियता? कहा गया भ्रातृ पाडु के प्रति उनका कतव्य बोध, उस महान सहोदर के प्रति उनका स्नेह भाव कि आज उन्ही के पाच पुत्रो को वे पाच ग्राम तक देने को प्रस्तुत नही? और क्या पक्षपातग्रस्त हो गई पितामह द्रोण, कृप और गाधारी तक की न्याय प्रियता? क्यो शान्त बठे रहे सभी? मौन स्वीकार तलक्षण की उक्ति का सहारा लिए क्यो पक्षधर बन आए दुर्योधन की दुर्नीति का वे? कसे सह्य हो आई दुमति दुर्योधन की गर्वोक्ति उन्हे, राज्य और साम्राज्य की बात क्या कहते हो केशव, सूई की नोक के बराबर भी धरती नही मिल सकती आपके पाडव मित्रो को युद्ध के बिना।

महाद्वार से निकल श्रीकृष्ण रथारूढ हुए तो विचार के अश्वो को थोडा विराम मिला। नही, अब कुछ सोचना शेष नही रह गया था। चिन्तन का नही अब कम का काल उपस्थित था। शायद भवितव्यता को टालना सच ही सदा सम्भव नही होता। कम म उन्होने सदा विश्वास किया है। यह गलती ही थी कि कम म विमुख हो वे कौरवो को सुमाग पर लाने के अपन सुनहले सपन को साकार करन चले थे। स्वप्नजीवी कभी नही रह वह। ठोस यथाथ, कठोर कम के पक्षधर को पडना था सम्भावना का सूत्र पकड असम्भव को साधने के प्रयास म? पर उपाय भी क्या था? कम पथ जब महानाश के स्पष्ट गत की ओर ही इगित कर रहा हो तो उस पर निस्सकोच बढ चलन क पूव कुछ तो सोचना ही था—महाकाल रूपी महाभुजग को उन्मुक्त नतन का अवसर प्रदान करन के पूव ठीक कालिय नाग की तरह ही उसको नचान' का प्रयास अगर उन्होने किया ही तो उसम बुरा क्या था? समर अशुभ है अवश्य। अशुभ को विलम्ब म और शुभ को शीघ्र सम्पादित करना ही तो आचारनीति और राजनीति दोनो के अन्तगत आता है। सत्य है कि कुछ अति मूल्यवान क्षण व्यथ ही बर्बाद हुए दुर्योधन की दर्पाग्नि को शमित करन क प्रयास म, पर यह भी आवश्यक था। आनवाला कल अब उन्ह इस आसन्न विनाश का एकमात्र कारण बतान के पूव बार-बार सोचेगा। नही मान सका वह उन्ह सूत्रधार दावाग्नि सदृश उस महाखूख्वार-समर का जो अपनी

सर्वग्रासी लपटों में सम्पूर्ण आर्य भूमि के समस्त शूर-वीरों को बिना लपेटे अब नहीं रहने का। रथ के अश्वों के गतिमान होने के साथ ही विचारों के घोड़े पुनः स्वच्छन्द दौड़ने लगे थे कि सारथि के शब्दों ने उन्हें लगाम दी थी—'कहाँ चलना है ?"

बस बताए वह ? कहाँ चलना है इस क्षण उन्हें भी कहाँ पता था ? कहाँ था वह स्थान जो विचारों की इस आँधी को नियन्त्रित करने में सक्षम हो ? कौन था वह जो अभी अभी भोगी असफलता की आग में दग्ध हो रहे तन-मन को सान्त्वना और स्नेह के कुछ शीतल छींटे दे सके ? अभी तो कर्म-क्षेत्र ही पुकार रहा था—टेर रहा था अपनी शत सहस्र जिह्वाओं से। सदा ऐसा ही होता रहा है उनके साथ। एक बार कर्म-पथ निर्धारित हो गया तो मार्ग के कण कण ही जैसे शत-सहस्र मुख हो आते हैं और उनसे निकली अनगिन पुकारें ही उन्हें प्रोत्साह पूरित करने लगती हैं। यों अभी जाना तो था सीधे कुन्ती के पाँच महान पुत्रों के पास—कर्म का संघर्ष का सन्देश लेकर। समर के लिए उन्हें सन्नद्ध करना ही अब प्रथम और प्रमुख कर्तव्य था उनका। पर उसके पूर्व ? हाँ उसके पूर्व कोई पड़ाव नहीं था क्या जहाँ वे इस मरु-पथ के तप्त सिकता-कणों से कुछ क्षणों के लिए भी त्राण पा सकें ? असफलता-जनित अशान्ति की इन अग्नि-स्फुलिंगों पर अपने स्नेहिल शब्दों के कुछेक छींटे बिखेरने वाला कोई नहीं है क्या इधर ? मन कह रहा था है पर कौन, कहाँ किधर ?

'इधर !' श्वेताश्वों की वल्गाओं को खींचकर रथ को न जाने कब से निस्पन्द किए सारथि को उन्होंने दाहिनी ओर इशारा किया था।

श्रीकृष्ण का महान स्यन्दन अब जिस मार्ग पर दौड़ चला था वह कोई राजमार्ग नहीं था—पतला-सा, संकीर्ण सर्पिल पथ था वह। जीवन का रथ भी कहाँ प्रशस्त राजपथों पर ही कहाँ दौड़ पाता है श्रीकृष्ण सोच रहे थे असंख्य बार उसे संकरी गलियों से ही गुजरना पड़ता है। और इस क्रम में उसे अनगिन व्यवधानों अवरोधों का भी सामना करना पड़ता है। इनका स्वयं का भी जीवन क्रम भी तो यही रहा था। कहाँ अप्रतिहत रही उनकी जीवन गति ? समस्या-संकुल जीवन के समक्ष विरोध-अवरोध और बाधा-व्यवधान के असंख्य पर्वत शिखर लगातार सिर उठाते रहे। गोकुल के दुर्दान्त असुरों से लेकर मामा कंस और आततायी जरासन्ध तथा स्यमन्तक मणि की चोरी लगाने वाले सत्राजित तथा अनेक छोटे-बड़े शत्रुओं और वंचकों ने कब निर्बाध रहने दिया उनके जीवन प्रवाह को ?

पर कहाँ जा रहे थे वह ? अनुताप-तप्त मन प्राणों को किस स्नेह सरोवर में स्नान कराने ? किधर था वह हरीतिमा-कुंज जिसके पार्श्व में पल दो पल बिता वह थके हारे मन को हरा करने को आतुर थे ? जानते थे वह अपने गन्तव्य को। भले ही रथ को उस संकीर्ण और ऊबड़-खाबड़ पथ पर सन्तुलित रखने के कठिन प्रयास में रत सूत का मन प्रश्नों के वितान में घिरता जा रहा हो—कहाँ जा रहे हैं इस विचित्र वीथी में किससे मिलने को आकुल-आतुर हैं द्वारिकाधीश ? प्रेम ही खींचता है उन्हें सारथि का मन तर्क कर रहा था भक्ति के रज्जु से ही सदा सदा बाँधा है इस वीतराग मनस्वी को वरना कहाँ बँध पाता है वह कभी किसी बन्धन में ? आज दुर्मति दुर्योधन ने भी उन्हें बाँधने का कम प्रयास किया ? कभी साम, कभी दाम और अन्ततः दण्ड के माध्यम से भी ? उसकी ललकार पर सशस्त्र सैनिक महाद्वार को अवरुद्ध कर ही खड़े हो गए थे। पर उनको एक ही क्रुद्ध

हृदृति न रिस तरह मवन। आपाद-मस्तक वपा दिया था और सभी व हाथा के शस्त्र भूमि पर जा पडे थ। बाधना चाहता था उन्ह दुर्योधन। सभव होता ता वह उन्हें कारागार म भी डाल दता पर कहा बाध पाया वह उन्ह? ठीक ही वहत हैं लाग, नर नही साक्षात नारायण हैं कृष्ण, सारथि सोच जा रहा था। अनक चमत्कार दस थे उसन इनके। दुर्योधन क्या खाक र वधन-मुक्त कर पाता उन्ह, जो अपन भक्ता को ससार-पाश म ही मुक्त करन म समय मान जात हैं। पर कौन सा पाश अभा आबद्ध कर रहा था इन्ह—किस प्रेम रज्जु का कौन कहा स खीच रहा था कि अवश म खिच जा रहे थ वह उन दिशा म जिधर स्वय वह भी कभी नहीं करना चाहता अपना मुख। उसक अश्व भी किस तरह मुह फेर-फेर लते हैं पीछ की आर। कितना कठिन हो रहा है उन्ह माग पर रखना? पर प्रेम क पिपासु इस प्रेम पथिक न पकडा है इस पथ का तो किसी महान् भक्त किसी महान् प्रेमी क द्वार ही जाना होगा वह। जानता था सारथि भी खूब समझ रहा था उनके अतर म उठ रहे उस तूफान को जिसस सदा शान्त रहनवाले उनक आनन पर भी अशान्ति की असख्य रखाए खिच चली थी। जहा चलना हो चलें वह अगर वहा कुछ शान्ति कुछ स्थिरता का लाभ हो सक उन्ह। वह तो चला ही रहा इस सकरे पथ पर उनक स्यन्दन को किसी तरह अगर इसी से सुख मिलता है इनक व्यथित, पीडित प्रताडित मन का।

तिरेसठ

रथ जहा रुका वह एक कुटी थी—पर्ण-कुटी। कोई साधना-स्थली सी ही लगती थी वह। निस्सन्देह कोई सिद्ध, साधक ही बसता होगा इन दीवारो के भीतर जिनकी बाहर की सादगी अन्दर की पुनीतता की स्पष्ट साक्षी बन रही थी।

वभव म लोट-पोट करती हस्तिनापुर नगरी क पाश्व म ही खडी इस लघु कुटी म कौन वीतराग, वरागी बसता था जिसके दशनो का आतुर दौडाया था द्वारिकाधीश न अपना रथ इस कुपथ पर? सारथि का मन प्रश्न कर ही रहा था कि उत्तर म जो व्यक्ति दरवाजे पर आ खडा हुआ उसे देखकर आश्चय चकित रह गया था वह। विस्मय से विस्फारित हो आये थे उसके दीघ नयन। जिसकी कल्पना भी नही कर सकता था वह वही आ खडे हुए थे द्वार पर रथ-चक्रो की आवाज और अश्वो की हिनहिनाहट सुन। घोडे भी जसे एक अनाम प्रसन्नता और पुलक से भर आवाज कर रहे थ पर्ण-कुटी के समक्ष रथ क रुकत ही। तभी सारथि का लग गया था कुछ विशेष बात थी। जिन्ह कुछ पल पूव राजदरबार म उच्चासन पर विराजमान दखा था व अभी इस जीण शीण कुटी के द्वार पर खडे थे—निशब्द पर आनन्दाश्रु स पूरित आखो और बद्ध हाथों क साथ। श्रीकृष्ण के दरबार छोडन के कुछ क्षण पूव ही वे दुर्योधन के व्यवहार से क्षुब्ध हो बाहर हो गए थे महाद्वार स। इस स्थान के अणु-परमाणुओ म एक अदभुत पुनीतता व्याप्त थी। इसीलिए अश्व भी आह्लादित थे यहा आकर। सारथि जानता था कि अश्वो से अधिक बुद्धिमान शायद ही कोई पशु होता है। जसे अच्छी जाति का

घोडा शायद ही कभी बठता है और नीद भी चारा परो पर खडे-खडे ही लेता है, उसी तरह अच्छे वण के अश्व का बुद्धि चातुय भी अप्रतिम होता है। वातावरण की गध स हा वह परिस्थितिया की प्रतिकूलता और अनुकूलता का भाप लेता है। आखेट क लिए वन म निकलो तो दूर स ही हिंस्र जन्तुआ—सिंह-व्याघ्र आदि की आहट पा वह कान खड कर लेता है और लाख विवश करो आगे बढ़न का नाम नही लेता। घायन और शक्ति-हीन सवारो को सुरक्षित पहुचाने की कहानी तो साधारण घोडा के साथ भी जुडी हाती है। और श्रीकृष्ण क स्यन्दन म जुट इन श्वेत-वर्णी श्रेष्ठ अश्वा की बुद्धि की विलक्षणता और कुशाग्रता का उदाहरण तो कही और था नही। प्रसन्नता-सूचक इनके समवेत स्वर से ही वह समझ गया था कि किसी सामान्य स्थान पर नही रुका था श्रीकृष्ण-स्यन्दन। हा सामान्य नही थे व जो द्वार पर आ खडे हुए थ।

विदुर थे यह। महान नीतिज्ञ और सदाचार सम्पन्न श्रीकृष्ण भक्ति को पूणतया समर्पित श्रेष्ठ कौरव विदुर।

धन्य हुआ मैं—कृतकाय। आपको अपन द्वार पर पाकर। वद्ध विदुर बद्धाजलि बोले। आखा म सहसा उमड आये आनन्दाश्रुआ को उन्होंने अपने उत्तरीय के छोर से पोछा।

पर श्रीकृष्ण वहा नही थे। उनकी आखें पण कुटी क द्वार को लाघ अन्दर कुछ ढूढ रही थी—उसके प्रागण म।

विदुरानी किधर हैं? सहसा श्रीकृष्ण क मुख स निकला। विदुर की ओर उनका जसे ध्यान भी नही था पर विदुर पण कुटी के दरवाजे पर अब भी खड थे जडवत, पाषाणवत—विस्मय विमुग्ध।

मैं जानता हू गोविन्द तुम मेरे लिए नही आये। भक्त मैं भी हू तुम्हारा पर मेरी भक्ति मे वह शक्ति कहा कि इस द्वार तक खीच लाये चराचर पति को। विदुरानी के प्रेम ने ही पागल किया है गोपाल तुम्ह। सब जानता हू मैं। जब से सुना कि तुम हस्तिनापुर पधारन वाल हो, तुम्हारे नाम स अन्न का एक दाना भी कहा डाला विदुरानी ने मुख म? कब आयेंगे गोविन्द? कब पधारेंगे मुरली मनोहर यही बडबडाती रही है वह, 'आयेंगे भी तो क्या इस ओर मुख भी करेंगे द्वारिकापति? दुर्योधन के नानाविध व्यजनो और सुमधुर पक्वान्नो को छाड मेरे घर के *शाक का भोग लगाने क्यो पधारने लगे वह*'?

अब माग भी देंगे आप या द्वार पर ही रोक रखेंगे?' श्रीकृष्ण ने प्रागण की ओर देखते हुए ही कहा। प्रेम के इस भिखारी के हृदय को एक वद्ध तपस्विनी का मूक आकषण मथे जा रहा था। एक क्षण का विलम्ब भी उसे सह्य नही हो रहा था। हृदय की आकुल पुकार तो हृदय को छू ही लती है। विदुरानी की व्यथा श्रीकृष्ण के मन को व्यग्र किए जा रही थी। विदुर को लगभग धक्का सा ही देते हुए वे अन्दर प्रविष्ट कर गए थे। विदुरानी ने देखा तो दौड पडी जसे सद्य प्रसूता धेनु दौडती है नवजात वत्स की ओर— श्रीकृष्ण! द्वारिका पति! मेरे आराध्य! आखिर आ ही गए इस दरिद्रा के द्वार?' विदुरानी डबडबाई आखो और भरे गले से बोली।

दारिद्र्य का वरण तो आप लोगो ने स्वय किया है माता वरना कुरुपति धतराष्ट्र के अपने भाई विदुर को महलो की शोभा बढाने के बदले इस पण-कुटी

मे साधना रत होने की क्या आवश्यकता थी ? पर नीति निपुण हैं आपके पति। ऐश्वय की निस्सारता स भली भाति परिचित। कीचड म रहकर भी कमल की तरह असम्पृक्त रहने वाले इस महान पति को पाकर धन्य कर लिया अपने जीवन को आपन अम्ब !" श्रीकृष्ण एक साम म कह गए।

'धय तो मैं अब हुई मरे आराध्य ! मुझे तो विश्वास ही नही हो रहा कि मैं स्वप्न देख रही हू या सत्य से साक्षात्कार हो रहा है मरा ! जिसके दशना के लिए वर्षो स तडपती रही जिसके नाम की रट लगाते लगात जीवन के इतन वष व्यतीत हो गए, जिसके ध्यान म ही साधक पति के साधना-पथ पर सहज ही अग्रसर हो सकी, वह गोपाल, वह व्रजवल्लभ वह श्रीकृष्ण, वह द्वारिकापति आज मेरी आखा के सामने साक्षात् खडा है इसका विश्वास ही नही हो रहा तो क्या करू मैं ? जरा और समीप तो आना श्रीकृष्ण, तुम्हारे अग प्रत्यग का स्पश कर आश्वस्त हो लू कि स्वप्न नहा सच है यह सब !' पागल-सा प्रेमाधिक्य से विह्वल सी रो ी हुई विदुरानी बोल जा रही थी।

"स्वप्न नही सत्य है यह विदुरानी ! तुम्हारा कृष्ण सचमुच ही तुम्हार सामने खडा है। प्रेम का यह भिखारा, भक्ति का यह दास, दर्योधन के स्वागत आयोजन को ठुकराकर तुम्हारे द्वार तुम्ह नही अपन का कृताथ करने पहुचा है। लो छूकर ही देख लो कि स्वप्न अथवा सत्य से साक्षात्कार हो रहा है तुम्हारा।' पीताम्बर धारी पूरी तरह समीप सरक आये विदुरानी क और विदुरानी न अपने धून मन कापत हाथा स उन्ह नीच स ऊपर तक टटोलना आरम्भ किया।

अरे यह क्या कर रही हो, विदुर जो स्वय भी आगन म आ इस विचित्र प्रेम-लीला को देख रहे थे, बोल पडे ' अपन पागलपन म इनक पीताम्बर पर मिट्टी का ही लेप चढाये जा रही हा ! अब कही जायेंगे भी ये कम इस धून धूसरित परिधान को धारण कर ?"

कौन इतना शीघ्र जाता है यहा से ? श्रीकृष्ण विदुर जी को टोकत हुए बोले बडा आनन्द आ रहा है मुझे विदुरानी के इस वात्सल्य म। आप चुप करें, वचित न करें मुझे इस स्नेह-लाभ से। इसी क लिए इतनी व्यग्रता से मैं पहुचा हू आपके द्वार।"

अब तो तुम्हें विश्वास हुआ अम्ब कि तुम मुदी आखो से स्वप्न नही अपितु खुली आखो स अपने कृष्ण को साक्षात देख रही हो ? श्रीकृष्ण ने प्रम से विदुरानी के गगा यमुनी केशा पर अपना दाहिना हाथ फेरत हुए कहा।

'हा हा विश्वास हुआ विश्वास हुआ श्रीकृष्ण कि तुम सचमुच इस भिक्षुणी के घर पधारे हो। कहा बठाऊ कहा उठाऊ मैं तुमको ब्रह्माडपति ।'

अरे तुम बठाओगी क्या ? विदुर पुन बीच म ही बोल पड, ' तुम्ह पता है कि काष्ठ के जिस नन्हे आसन का तुमने तीन दिना स धो पाछ कर इनक बठने के लिए तयार किया था उस पर तो तुम स्वय बठ गइ हो और य अब तक खडे खडे ही ।

अर अरे सच मैं कसी पगली हू विदुरानी हडबडाकर इस काष्ठासन से उठती हुई श्रीकृष्ण का हाथ खीचकर उन्हें उस पर बठाने का उपक्रम करती हुई बोली।

' नही, नही, मैं खडा ही ठीक हू। श्रीकृष्ण न विदुरानी क क धे पर अपना

कर रखते हुए कहा, "तुम ही बैठो अम्ब, इस आसन पर बेटा मां के समक्ष बैठ भी कैसे सकता है?"

"मुझे भुलावे में नहीं डालो भगवान।" विदुरानी खड़ी-खड़ी ही बोली, "लोग कहते हैं पर मैं अपने अंतमन के साक्ष्य के आधार पर अपनी इस दीर्घ साधना के बल पर भली भांति जानती हूं कि तुम किसी के भी बेटा अथवा सन्तान नहीं बल्कि यह सम्पूर्ण सृष्टि, यह अनन्त ब्रह्माण्ड तुम्हारी ही सन्तान है। तुमने सबकी सृष्टि की, तुम किसी द्वारा सृष्ट नहीं हो।"

"तुम साध्वी ही नहीं विदुषी की तरह भी बात कर रही हो विदुरानी!" श्रीकृष्ण मुसकराते हुए बोले, "यह तथाकथित विद्वान और सिद्ध-साधक मुझे व्यर्थ ही भगवान की संज्ञा दिए जा रहे हैं। मैं तो साधारण मनुष्य हूं अम्ब, तुम्हारा एक साधारण सुत। उससे अधिक कुछ भी नहीं।"

"किसी और को बहकाना ब्रजवल्लभ, विदुरानी तुम्हारे झांसे में आने से रही। लीलापति हो तुम लीलाधर! नारायण होकर भी नर-लीला करने को उद्यत हो तो कौन रोक सकता है तुम्हें अपने मन की करने से? यों ही नहीं तड़पती रही मैं तुम्हारी एक झलक के लिए और बार-बार इष्ट प्रतीक्षा करती रही तुम्हें यहां तक लाने को! नर तो इस हस्तिनापुर में अनेक हैं पर जबसे सुना तुम नारायण यहां आ रहे हो दुर्योधन दरबार में तब से पलक-पांवड़े ही बिछाए रही इस पथ पर। चलो इस टेढ़े मेढ़े मार्ग पर भी अपना रथ दौड़ाकर आ तो गए तुम इस दुखिया के द्वार।"

"आ तो गया पर मुझे बातों से ही बहलाती रहोगी या मेरी उदर-पूर्ति का भी प्रबन्ध कर रखा है तूने? भूख बड़ी भूख लग आई है विदुरानी।"

"हां हां प्रबन्ध कर रखा है और खूब कर रखा है। अभी आई।" कहकर विदुर-पत्नी दौड़ी आंगन में खुलने वाले एक द्वार की ओर। श्रीकृष्ण खड़े-खड़े लम्बे डगों जाती विदुर भार्या को निहारते रहे। प्रेम की अधिकता उसके पैरों को असंतुलित कर रही थी। कमान बन आई कमर से टेढ़े-मेढ़े डग भरती विदुरानी प्रवेश कर गई उस कमरे में और लौटी तो उसके हाथ में चन्द केले और नारंगी के कुछ फल थे। एक छोटी डलिया में बड़े यत्न से सजा रखा था उन्हें। दुर्योधन के पक्वान्नों और फल-मेवे भी जिनकी क्षुधाग्नि को हवा देने में विफल रहे थे उनके मुख में इन सूखे अधसूखे फलों को देखकर ही पानी भर आया।

"तुम इन्हें खिलाओ तब तक मैं बाहर सारथि का कुछ प्रबन्ध कर आता हूं।" विदुर कहते हुए बाहर हो गए।

"हां, हां आप अपना काम देखें। मैं अम्ब के आतिथ्य से तब तक अपने को तृप्त करता हूं।"

"तृप्त तो आप जमा होंगे वैसा मैं भी जानता हूं।" विदुर ने मन ही मन कहा और बाहर हो गए।

विदुर जी कुछ देर के बाद अन्दर लौटे तो अपनी आशंका को सही पा हतप्रभ से हो गए। धन्य था कृष्ण का स्वजन प्रेम। एक क्षण को उन्हें लगा कि वे कृष्ण के कमल-कोमल परों पर अपना सिर रोप दें और बोलें— "पागलपन की भी सीमा होती है द्वारिकापति! माना तुम प्रेम के वशीभूत हो विदुरानी के भक्ति-भाव ने ही खींचा है तुम्हें इस बीहड़ पथ पर इस पर्ण-कुटी की ओर पर यह क्या

कि तुम्हारा प्रेम, तुम्हारी शालीनता इस तरह विवश कर दे तुम्हें कि खाद्य अखाद्य का भी भेद किये बिना उदरस्थ करते जाओ वह सब जो प्रेम के नाम पर परोसा जा रहा हो तुम्हारे समक्ष। किन्तु कृष्ण को कुछ नहीं कह विदुरानी पर ही बरस पड़े थे वह धीरे से—'यह क्या विदुरानी ? क्या सचमुच, तुम विक्षिप्ता ही बन आई हो ?'

"क्या ?' अश्रु विगलित अपने वृद्ध नयनों को विस्फारित करते हुए पूछा था विदुरानी ने।

'क्या क्या ? कुछ समझती भी हो क्या करती जा रही हो तुम ?'

"क्या ? क्या कर रही हूं मैं ?' स्वर लड़खड़ाये थे विदुरानी के। एक बार उन्होंने श्रीकृष्ण के सस्मित मुख की ओर देखा था और दूसरी बार अपने पति के आश्चर्य मिश्रित चेहरे की ओर दृष्टिपात कर पूछा था, "फल तो खिला रही हूं अपने और तुम्हारे आराध्य को।"

'खाक फल खिला रही हो।' विदुर अपनी खीझ नहीं रोक पाये थे, फलों के गूदे तो नीचे डाले जा रही हो और छिलके उन्हें थमाये जा रही हो। देखो न नीचे केले और नारंगी के गूदे भरे पड़े हैं और इनके छिलकों का कहीं पता नहीं। सबके सब उदरस्थ कर गए ये, पता नहीं तुम्हारे प्रेम में पड़कर या सच ही क्षुधाग्नि से प्रेरित होकर।

'अरे अरे सच कैसी बावली हूं मैं,' विदुरानी ने एक बार नीचे की धरती और दूसरी बार श्रीकृष्ण के मुंह की ओर देखकर कहा। केले का एक छिलका अभी भी कृष्ण के होठों के बाहर झांक रहा था और दूसरा उनके दाहिने हाथ में पड़ा था।

'हाय, हाय, क्या अनर्थ कर दिया मैंने," टेढ़ी कमर को किसी तरह सीधी कर कृष्ण मुख से झट से अध खाये छिलके को झटकती हुई वह बोली 'दधि और माखन मिसरी की आदी जिह्वा को मैंने रूखे छिलके खाने को बाध्य किया हाय कितना कष्ट दिया मैंने अपने आराध्य को ? जिसके लिए इतने दिनों से सजोये रही इन फलों को आज ।"

'कोई बात नहीं, कोई बात नहीं विदुरानी!' कृष्ण ने तृप्त भाव से मुख पोंछते हुए कहा, 'तृप्त हो गया मैं। जोरों की भूख लगी थी। सच मुझे तो ध्यान ही नहीं रहा कि मैं छिलके खा रहा हूं या गूदे। तुम्हारे प्रेम के मिठास ने इन छिलकों को भी इतना स्वादिष्ट कर दिया कि ये साधारण छिलके नहीं रह कर ।'

'नन्दन-कानन के अमृत फल बन आये यही न ?" विदुर ने बीच में ही टोका, सच तुम बड़े लीलाधारी हो लीलापति। कहां तो दुर्योधन के यहां के वे सरस व्यंजन और कहां विदुरानी के ये सूखे छिलके ? बड़ा स्वाद आया तुम्हें, नहीं ?'

प्रेम आप तो जानते ही हैं प्रेम का ही भूखा हूं मैं विदुर जी! प्रेम से कोई पत्र, पुष्प[1] फल जल जो भी दे दे मैं उसे बड़े भाव से ग्रहण करता हूं।

हां हां ठीक कहा आपने। उसी प्रेम की मारी तो व्रज की गोपियां अब भी

1 पत्र, पुष्प फल तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । —गीता

मर रही है मुरलीधारी ! भले ही आपके हाथों में मुरली के बदले अब शंख, चक्र शोभा पाने लगे हों पर आपके मयूर-पंखी रूप की मारी राधा तो अब भी करील कुंजों के पात पात से कृष्ण का ही हाल पूछ रही है कुंजविहारी ! कभी उसके प्रेम का भी...।

बड़ी दुखती रग पर हाथ रखा है विदुर जी आपने। ब्रज-गोपियां विशेष कर राधा तो प्रेम की साक्षात पयस्विनी हैं। काश यमुना जल की तरह ही पावन उस प्रेम-सलिल के कुछेक और घूंट भी पान कर पाया रहता ब्रज छोड़ने के पूर्व ! पर नहीं समझेंगे आप। शायद आप ऐसे अनेक नहीं समझ पायेंगे युग-युगांतर तक उस अशरीरी प्रेम की पुनीतता को। राधा का ही प्रेम तो अब तक की मेरी सारी उपलब्धियों के मूल में रहा है। राधा प्रेरणा है मेरी शक्ति है वह, उसके बिना मेरी तथाकथित शक्ति शून्य से अधिक कुछ नहीं। यह एक गुह्य रहस्य है विदुर जी जिसे समझना सबके वश की बात नहीं। राधा का प्रेम भी उतना ही पवित्र उतना ही निश्छल और सच उतना ही पागल है जितना इस वृद्धा विदुरानी का, इस अम्बे का। हां विदुर जी प्रेम का भूखा हूं मैं प्रेम ही मेरी शक्ति मेरा सम्बल है क्योंकि वह बांधता है जोड़ता है तोड़ता नहीं। पर शर्त यही कि वह निःस्वार्थ, निश्छल हो पुनीत हो शरीरी नहीं अशरीरी हो। हां हां वह तन के आकर्षण नहीं मन के बंधन से बंधा हो। राधा का प्रेम अब भी मेरे मन में विराजमान है विदुर जी ! गोपियों और राधा के ब्याज मुझे उपालम्भ नहीं दें कुरु-श्रेष्ठ ! आप तो स्वयं साधक हैं। राधा मेरे रोम रोम में बसी है। वह मेरी गति है उसे कहा मेरी शक्ति। उसके बिना मैं पूर्ण नहीं अपूर्ण हूं। पर मैं उससे और वह मुझसे पृथक भी कहां हैं हम दो होकर भी एक हैं। दूर होकर भी समीप हैं। शरीरों की दूरी, दूरी नहीं। उनका निकट होना आवश्यक भी नहीं। मन एक हो गए तो तन कहीं भी रहें। राधा कृष्णमय है विदुर जी और कृष्ण राधामय। अच्छा हुआ आपने यह बात निकाल दी। मैंने कहा दुखती रग पर आपने हाथ रखा। ठीक ही कहा। सारे जागतिक सम्बन्धों के बहाने मैं राधा की याद को ही जीवित रखने का प्रयास करता हूं। आपके प्रेम में विदुरानी के प्रेम में अर्जुन और रुक्मिणी के प्रेम में मैं राधा के उस अपार्थिव, अशरीरी प्रेम को ही ढूंढता हूं। क्षमा करना विदुरानी !' वह सहसा विदुर-पत्नी की ओर मुड़कर बोले थे, 'मैं तुम्हारे प्रेम, तुम्हारी भक्ति के महत्त्व को न्यून नहीं कर रहा पर यह सत्य है कि मैंने जो राधा में पाया है वह तुममें भी ढूंढने का प्रयास करता हूं। तुम्हारे इन छिलकों और धूल सने राधा के दही माखन के स्वाद में मुझे विचित्र समानता मिली है। क्षमा करना अगर मैं कहूं कि कृष्ण के लिए राधा और कुब्जा तथा रुक्मिणी और विदुरानी में कोई अंतर नहीं कोई भेद नहीं।

तो अब चलूं विदुर जी कर्म-पथ मुझे पुकार रहा है। राधा की प्रेरणा मुझे अकर्मण्य बैठने देने की नहीं। चलूं विदुरानी बहुत तृप्त किया आपके वात्सल्य ने आपके प्रेम ने और गोकुल की याद दिलाकर तो बड़ा ही उपकार किया विदुर जी आपने मेरा।'

'तुम रूठ गए यदुनन्दन ?' विदुर और विदुरानी ने एक साथ श्रीकृष्ण के उत्तरीय के छोर को पकड़कर कहा।

'नहीं विदुर जी, नहीं विदुरानी मैं रूठा नहीं। मैं प्रसन्न हूं अति प्रसन्न,

अति उत्फुल्ल।" श्रीकृष्ण ने विदुरानी के पैरों की ओर अपना हाथ बढाया। नत सिर वृद्धा की आखा से विगलित दो अश्रु-बूदें पारिजात पुष्पो की तरह झड पडी। उसने कापते हाथो कृष्ण को ऊपर उठाया और पर्ण कुटी के दरवाजे तक उन्ह छोडती हुई बोली— भूल नही जाना व्रजनन्दन।"

"फिर मिलेंगे विदुर जी," विदुरानी से मूक विदा लेते हुए विदुर को ही सम्बोधित कर रथारूढ हुए द्वारिकाधीश और जब तक रथ अगले मोड से मुड नही गया तब तक पलट-पलटकर बार-बार पीछे की ओर देखते रहे—नही विदुर की ओर नही, साक्षात प्रेम-स्वरूपा वृद्धा विदुरानी की ओर।

चौसठ

रात मौन म कुछ बिलम्ब हो गया था। आसन्न युद्ध की विभीषिका श्रीकृष्ण के अन्तर को उद्वेलित किए जा रही थी। लडकपन म गोपियो को और मा यशोदा को भी दही बिलोते देखा था। मिट्टी के हड के दधि को काष्ठ की मथानी बडी निममता स मथ छोडती थी। चक्राकार घूमती चक्र के आकार की ही वह धारदार मथानी दधि का क्षत विक्षत, खड-खड कर देती थी। उन्ह लग रहा था वसी ही किसी धारयुक्त वस्तु स कोई उनके हृदय को निरन्तर मथता जा रहा है। युद्ध वे चाहते नही थे पर चाहना पडा था। समग्र आर्यावर्त के मान्य महापुरुष के रूप मे उनकी एक भूमिका थी - महती भूमिका। वे चाहते तो इस युद्ध को टाल सकते थे। कौरव नही तो पाडव तो उनके परामश को मान इस समर से पराङमुख हो ही सकते थे। तब यह आसन्न प्रलय टल जाता। पर वे ऐसा कर भी कसे सकते थे श्रीकृष्ण न सोचा था, अन्याय का पक्ष लेना कैसे और कितना सम्भव था। तेरह वर्षों तक वन वन की खाक छानने वाले पाच पाच राजपुत्रो और द्रुपद के सदश समथ सम्राट की पुत्री द्रौपदी का वह कब तक अकिंचन और अनाथ के रूप मे जीवन-यापन को बाध्य कर सकते थे? कब तक उन्हें अपने वैधानिक अधिकार से वचित रखा जा सकता था? और क्यो? क्या इसलिए कि वे धमपरायण थे और छल द्यूत म सब कुछ हारकर अपनी धन धान्य पूरित समद्ध राजधानी और स्वजन परिजन को छोड मात्र द्यूत की शर्तों के रक्षाथ वन वन भटकते रहे थे कि मात्र पाच ग्रामो की भीख भी उन्हे मागे नही मिली थी?

नही, युद्ध को वह रोक नही सकते थे। अपनी ओर से तो उन्होने प्रयास किया ही था। कौरव सभा मे अपने दौत्य काय और उसकी असफलता को वे अभी तक भूल भी कहा पाए थे। अगर टाल सकते तो इस महासमर को वे अवश्य टाल देते। पर उनके टाले भी वह नही टला। सच कम फल बहुत प्रबल है न? प्रारब्ध सर्वोपरि? वह पुरुष तो पुरुष परमेश्वर के बदले भी नही बदल पाता न? लोग तो उन्हे परमेश्वर ही कहते आए है। पर कहा हुआ इनके किए भी कुछ। व्यक्ति और समष्टि दोनो को अपने किए का फल भोगना ही पडता है। कौरवो की अनीति अत्याचार और अधम का घडा अब भर चुका है। उन्ह समाप्त होना ही है। इन्ही के साथ पाडव पक्ष के भी कुछ लोग काम आए तो आए। होगा यह भी

उनके पूवजन्मा क किसी कृत्य का फल। किसने किस जन्म म कौन सा कम किया और कब और किस जन्म म उसका फल मिलता है यह कौन जान? जानन का प्रयास कर वह जान भी सकत हैं वह परमेश्वर हा अथवा नही पर उनकी यौगिक शक्तिया तो इतनी विकसित हैं ही कि व्यक्तिया और स्थितिया का भूत तो भूत भविष्य भी उनक लिए हस्तामलक के सदृश है। पर कौन कर सकता है कुछ भी? जब प्रारब्ध को घटना ही है। घटना क्या है, सबकुछ घटा पडा है, उस मात्र सामने आना है।

हा! पूवजन्मा क कर्मों क फल पर एक बात उन्ह याद आ रही है। वह सिद्ध करती है कि किस तरह कम क रूप म वपन हुआ बीज कभी-न-कभी अकुरित, पल्लवित पुष्पित तथा फलित हाता ही है। बध्या धरती म पडा कोई बीज भले व्यथ हो जाय पर मनुष्य की कम भूमि पर भूल मे भी पडा कोई बीज व्यथ नही जाता।

हा! महाराज धतराष्ट्र ही थे जिन्हाने उस दिन यह बात अकस्मात चलाई थी। आज भी वह उनको पूरी की पूरी स्मरण है।

मेरा दुर्भाग्य कि जब तुम इस धरती को धन्य करन के लिए अवतरित हुए तो विधाता न मुझे दृष्टिहीन करके भेजा। सुना तुम-सा रूपवान आज तक न तो इस पृथ्वी पर उत्पन्न हुआ न भविष्य म उसके उत्पन्न होन की सम्भावना है। रूप की पराकाष्ठा कहा जाता है तुम्हें, सौन्दय और लावण्य की परिभाषा तुम्ही से आरम्भ होकर तुम्ही पर समाप्त होती है। खर! मैं भाग्यहीन इस सौभाग्य से तो वचित ही रहा कि तुम्हारे अपरूप रूप, तुम्हारे अतुलनीय लावण्य की एक झलक भी पा सकता पर ।"

क्या कहे जा रहे हैं आप? उन्हान अव्यवस्थित होकर पूछा था।

गोकुल के ग्वाल बाला और गोप-बालाओ विशेषकर उस वृषभानु सुता द्वारा अपनी रूप माधुरी की बहुत विरुदावली सुनी थी उन्हाने पर आज अन्धे धतराष्ट्र भी यही बात ले बठेंग, इसका इन्हे मान भी नही था।

नही। मैं दूसरी बात कह रहा था, धतराष्ट्र न गम्भीरता से आरम्भ किया था।

'कौन बात?' श्रीकृष्ण क मुख पर उत्सुकता जगी थी।

तुम तो योगिराज भी हो न?' धतराष्ट्र न पूछा था। उसके सदा दढ रहने वाले चेहरे पर एक बाल सुलभ औत्सुक्य जग आया था। बडी आतुरता से वह श्रीकृष्ण के उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा था।

'मैं नही जानता। लोग ऐसा कहते हैं।' श्रीकृष्ण न सक्षिप्त उत्तर दिया था।

जानत तो तुम सब हो। सब। भूत भविष्य, वतमान सब। और कहन को क्या तुम्हे लोग मात्र योगिराज ही कहन हैं? क्या मैं नही जानता कि इसी आर्यावत के अधिकाश चितक, विद्वान और वीर तुम्हे ईश्वर का ही साक्षात अवतार मानने लग हैं? धतराष्ट्र के शब्दा म एक अस्पष्ट याचना थी जो श्रीकृष्ण स छिपी न रही।

'लोगा को जो जी म आए कह लेन दीजिए। लोग अपने-अपने रूप से सोचते और कहते हैं। आप कृपया बताए कि अभी आप क्या कहना चाहत हैं।"

"बहुत छोटी-सी विनती है मेरी, मानोगे?" धतराष्ट्र स्पष्ट याचक बन आया था।

'विनती नही, आदेश दीजिए। आप कुरु श्रेष्ठ है। आपके आदेश का पालन कर मुझ प्रसन्नता ही होगी।"

'तुम कम फल म विश्वास करते हो न?" धतराष्ट्र न सहसा बात को अप्रत्याशित मोड दिया था। क्या जानना चाहता था वह?

'विश्वास करता हू।"

"तो कम फन मिलकर ही रहता है?"

"अवश्य मिलता है वह, अगर कम निस्सग और तटस्थ भाव से नही किया जाए। अगर कर्ता होकर भी अकर्त्ता का भाव अपने अन्दर नही भरा रहे।" श्रीकृष्ण बोल गए।

"तुम अपन दशन और सिद्धान्त की बात अभी छोडो। जानता हू कि एक नये सिद्धान्त के प्रचार मे लगे हो तुम। कम-योग के सदृश एक नूतन योग-पद्धति ही गढ ली है तुमने।"

'कम फल से ही घबराकर। लोगो को कर्मों के फल से मुक्त रखने के लिए ही। श्रीकृष्ण बीच मे ही बोल पडे थ।

"तो यह बात पूणतया सिद्ध हुई न कि कम फल अवश्यम्भावी है कम से कम हम अज्ञो के लिए—उनक लिए जो तुम्हारे कम-योग की दीक्षा म अब तक दीक्षित नही हुए हैं?"

'हा।" श्रीकृष्ण ने छोटा सा उत्तर दिया था।

"तो मेरा यह अधापन भी तो किसी कम का फल ही होगा? निश्चित ही पूव-जन्म कृत किसी कृत्य का क्योकि जन्मान्धता इस जन्म के किसी कर्म का फल होने से तो रही।"

"बात आप ठीक कह रहे है।" श्रीकृष्ण ने कहा और उन्ह लग गया कि अन्धे धतराष्ट की पहले की सारी भूमिका मात्र यह जानन के लिए थी कि वह जन्मान्ध हुआ तो क्या?

"तो कृपया अपनी योग शक्ति का प्रयोग कर यह पता कर दो कि मेरा कौन सा कृत्य मेरे इस दुर्भाग्य के मूल म है?" धतराष्ट्र विवश-सा बोला।

"लाभ? श्रीकृष्ण के मुख से सहसा निकला जो होना था वह तो हो चुका उसका कारण जानकर क्या करेंगे? अतीत को कुरेदना कभी आह्लादकारी नहीं होता है।"

'अब वह चाहे जसा हो पर मेरे अतीत पर से एक बार तुम पर्दा तो हटा ही दो। कम-से कम मुझे विश्वास तो हो जाय कि कम फल मिल कर रहता है।"

'अभी तक विश्वास नही है?

"विश्वास तो है पर स्वय की अनुभूति ही अधिक विश्वसनीय होती है। अपने साथ जो घटा वह तो एक अकाटय प्रमाण बनकर प्रस्तुत ही हो जाता है।" धत राष्ट्र तक नही करना चाहता था पर श्रीकृष्ण उसे बाध्य किए जा रहे थे तक पर उतरने को। वह तो जसे कोई बालक चाद को पकडने को मचले उसी प्रकार आज अपने अतीत के उस कृत्य को पकडने के लिए व्यग्र हो आया था जिसके कारण उसे ज्योति विहीन हो इस धरा पर आना पडा था।

"वह स्वय की अनुभूति भी कहा होगी ? जो कुछ मैं कहूगा उसी पर तो विश्वास करना पडेगा ? ' श्रीकृष्ण ने शायद उसके विश्वास की परीक्षा लेनी चाही थी।

"तुम्हारी वात पर अविश्वास का कोई प्रश्न ही नही। तुम्हारे प्रमाण को मैं अपनी अनुभूति ही मानूगा। इतनी कृपा तो करो केशव ! मैंने आज तक तुमसे कुछ मागा नही। ' धतराष्ट्र के स्वर मे स्पष्ट याचना उभरी।

' आप कहते है तो मैं प्रयास करता हू। ऐसे भूत को उकेरना कभी अच्छा नहीं माना मैंने। स्रष्टा को शायद यह इष्ट नही कि हम अपने पूर्व-जन्म के कृत्यो को स्मरण रखें वरना वह इस ज्ञान से हमे वचित कर क्यो भेजता ? '

' कहा न स्रष्टा तो तुम्ह ही कहते है लोग। ' धतराष्ट्र के मुख से अनायास निकला ' ऐसी स्थिति मे तुम प्रकृति अथवा सष्टिकर्ता के नियमो का उल्लघन भी करते हो तो उसे उल्लघन नही कहेंगे। '

' नियम सबके लिए समान हैं। अगर आपके कथनानुसार मैं ही स्रष्टा और नियामक हू तो मुझे तो नियमो के पालन पर और ध्यान देना चाहिए। खर मैं आपकी इस इच्छा की पूर्ति अवश्य करूगा। मैं समाधि लगाता हू। आप परिणाम की प्रतीक्षा करें।' कहकर व समाधिस्थ हो गए थ। उन्होने क्षण भर म ही धृतराष्ट्र के पूवजन्म का सिहावलोकन कर लिया था। कुछ नहीं था उसमे ऐसा जिसके कारण उन्हें नेत्रो से रहित होना पडे।

' पूवजन्म तो आपका पूरी तरह पुनीत है। मुझे कोई कारण नहीं मिलता आपके इस जन्म की इस दृष्टिहीनता का।

' तब तो कम फल का सिद्धान्त गलत हुआ न ?" धतराष्ट्र तटस्थ मुद्रा म बोला। '

'रुकिए। मैं और जन्मो की बात भी देखता हू। श्रीकृष्ण न कहा था और पुन समाधि म चले गए थे। इस बार समाधि बहुत लम्बी खिची थी। धतराष्ट्र का धय नि शेष होने लगा था। वह लगातार श्रीकृष्ण के होठो के खुलने की प्रतीक्षा कर रहा था।

अन्तत उनकी समाधि टूटी थी। मिल गया राजन ! भेद मिल गया आपकी दृष्टिहीनता का। उन्होंने गम्भीरता से कहा।

' क्या ? धतराष्ट्र के स्वर पर उसकी सारी उत्सुकता चढी थी।

' मैंने एक विचित्र घटना देखी राजन !

"क्या ?"

' यह आपके एक सौ आठवें जन्म की घटना है।

'अर्थात एक सौ आठ जन्म पूव की ?'

'हा।"

क्या देखा केशव ? ' धतराष्ट अपनी अन्धी आखो की पलको को ऊपर नीचे कर उत्सुकतापूवक बोला।

देखा मैंने एक ऊच वक्ष को। उस पर बने एक घामले को। देखा ।

इसम मेरे प्रश्न का क्या सम्ब ध है ? यह पेड यह घामला ? धतराष्ट्र का धय जमे जवाब दे रहा था।

हे राजा ! थोडा धय रखें। श्रीकृष्ण ने आरम्भ किया मैं उस घामले म

देख रहा हू दो लघु पक्षी शावको को।' श्रीकृष्ण जस एक बार पुन ध्यानावस्थित हो गए थे।

"तो ?"

'पक्षी शावका क माता पिता कही गए है। शायद उनक लिए दाना चुगने। वे शावक-युगल बडी आतुरता से उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रह हैं।

फिर ?' धृतराष्ट्र की उत्सुकता अधिक जाग्रत हा आई थी।

"राजन्! मैं एक सोलहवर्षीय बालक को उस पड पर चढ्त हुए देख रहा हू। स्वभाव से ही वह नटखट और उद्दड लगता है।'

क्या चढ रहा है वह वक्ष पर? क्या वह निरीह शावका को उठा लायगा? अपना भक्ष्य बना लेगा?"

रुकिए राजन! वह ऐसा कुछ नही करता है। अब वह घोसले तक पहुच गया है। दोनो शावको को वह बारी-बारी से अपने हाथो म उठाता है। पक्षी शावक कोई विरोध नही करते। वे टुकुर-टुकुर उस बालक की ओर देखते जात हैं। उन्हे लगता है शायद उनक माता पिता ही उनक लिए भोजन लेकर लौटे है। उनकी आखो म एक विचित्र चमक उभरती है। बालक उनकी आखो की इस विचित्र चमक को निहारता है। उसकी अपनी आखा म एक शरारत उभरती है।'

'तब?' धृतराष्ट्र की सारी इन्द्रिया कणवत हो गई है।

'तब बडा विचित्र घटता है राजन्?"

"क्या?'

"लडका पेड की एक पतली टहनी तोडता है, उसे और पतली बनाता है और एक पक्षी शावक की दोनो आखो म वह उस बारी-बारी घुमड देता है। रक्त की दो पतली धाराए उस शावक की आखो से बह चलती हैं। वह दद स तडप कर ऊचे स्वर म ची ची कर उठता है। इतनी जोर स कि पास ही कही भटकते उसके माता पिता लौट आते है और अपने घोसले तक पहुच आये उस चोर पर चचु प्रहार करने लगत है। बालक दूसरे शावक की वही गति किए बिना पेड स उतर कर भागता है। पक्षी उसे दूर तक खदेडते है फिर घासले म लौटकर घायल शिशु को घर कर बठ जात है।

सुना आपने राजन? श्रीकृष्ण, धृतराष्ट्र स जो अपनी दोना आखो को अपनी दोनो हथेलियो से ढक कर प्राय सना शून्य सा बठ गया है पूछत हैं।

'सुना।' आवाज जैसे किसी गहरी अधेरी खाई स आती है।

केशव!'

'राजन?

यह बालक तो मैं ही हू न!

हा राजन यह आपके ही एक सौ आठवें जन्म की कहानी है। अब आ गई कम फल के अव्यथ जाने की बात समझ म?

आ गई केशव, धृतराष्ट्र बहुत देर के बाद बोला, 'पर एक बात नही आई समझ म?'

क्या?

'यह कौन सा न्याय है कि एक सौ आठ जन्म पूव के कृत्य का फल आज दिया जाय?

श्रीकृष्ण मुसकराए। काश, अंधा धृतराष्ट्र उस मुसकान को देख पाता। वहां और कोई था भी नहीं इस मोहिनी मुसकान का साक्षी बनने वाला। जंगल में फूल खिला और मुरझा गया।

केशव? धृतराष्ट्र अपने दोनों हाथों को हवाओं में फैलाते हुए बोला। उसे लगा कहीं श्रीकृष्ण उठ कर चल तो नहीं दिए। कौन रखता है जघन्य पापों के समक्ष जो निरीह शावकों की आखें फोड़ता चलता है, भले ही वह कई जन्म पूर्व की बात हो।

"बताता हूं राजन्! आपके सुकृत्यों ने ही इस कुकृत्य के फल को घटने में इतने दिनों तक रोक रखा। आपके उस जन्म के पूर्व के जन्मों के पुण्य-फल इतने अधिक थे आपने इतने यज्ञ-जाप इतनी तपस्या व्रत उपवास, दान-पुण्य कर रखे थे कि उनके निःशेष होने में काफी समय लगा। और जब उन पुण्यों का फल बहुत कुछ निःशेष हुआ तो आपको उस कृत्य का फल मिला। मैं अपनी लम्बी समाधि में तुम्हारे कई सौ जन्मों का कृत्य देख गया राजन्! आपके द्वारा कई सहस्र गौओं और धरती के दान के फलस्वरूप ही यह राज्य सुख मिला है। आखें नहीं रहीं कुकृत्य से तो राज्य मिला सुकृत्यों से।

'कब तक के लिए केशव?' धृतराष्ट्र ने एक गम निःश्वास लेकर पूछा।

'यह आप भी जानते हैं राजन् और मैं भी, पर दोनों विवश हैं। आपका पुत्र न आपकी सुनता है न मेरी। उसे भी अपने कर्म के फल भोगने हैं। औरों को भी उसके साथ भोगना है।' कहकर वे उठ गए थे। अब वे भी पूरी तरह समझ गए थे कर्म फल को टालना संभव नहीं था। नहीं, उनके लिए भी नहीं।

पैंसठ

हर वस्तु यहां ससीम है न? अर्थात हर चीज एक सीमा तक ही जा सकती है उसका उल्लंघन न तो शोभनीय है और न ग्राह्य। निस्सीम है यहां तो मात्र एक ब्रह्माण्ड जिसके विस्तार का कोई अंत नहीं और जो नित्यप्रति और विस्तृत ही होता जा रहा है।

खैर, हम इस ब्रह्माण्ड के छोटे-से छोटे भाग धरती और वहां पर रहनेवाले मनुष्य की बात कर रहे थे। उसकी सीमाएं कुछ स्थितियों में स्वनिर्धारित हैं जैसे अब तक बिना यान के सहारे वह आकाशचारी नहीं बन सकता जल भरे सरोवर को मात्र पैरों के बल पार नहीं कर सकता, एक सीमा से अधिक भार का उत्तोलन नहीं कर सकता एक सीमा से अधिक देख नहीं सकता, सुन नहीं सकता आदि आदि।

पर कुछ स्थितियों में सीमाएं हम स्वयं निर्धारित करनी पड़ती हैं। उदाहरणार्थ एक सीमा से अधिक हम झुक नहीं सकते एक सीमा से अधिक हम दे नहीं सकते एक सीमा से अधिक हम ले भी नहीं सकते और एक सीमा से अधिक हम शर्महीन भी नहीं हो सकते। इस सीमा का अतिक्रमण हमें खतरे में डाल सकता है, हमें हास्यास्पद बना सकता है।

अपनी लक्ष्मण रेखा का निर्माण अधिकांश क्षेत्रों में हमें स्वयं करना होता है।

पर दुर्योधन तो लांघ गया उस दिन लक्ष्मण-रेखा को अथवा उसकी कोई लक्ष्मण-रेखा ही नहीं थी इस सन्दर्भ में। वह लांघ गया बेशर्मी की सीमा को! शर्म या तो उसे आई नहीं और आई भी तो उसने उसे बिन-बुलाए अतिथि की तरह अपने मन से भगा दिया।

श्रीकृष्ण का अपमान अभी उसने कुछ दिन पूर्व किया था। उन्हें बांधने तक की मूर्खता और निर्लज्जता पर उतरा था, उन्हें अपमान-जनक शब्द कहे थे और आज वही श्रीकृष्ण-द्वार के समक्ष वह खड़ा था। पौ फटने में भी अभी विलम्ब था। श्रीकृष्ण शयनागार में थे। वह उनसे अतिआवश्यक काम से मिलने का हठ करने लगा।

महल के परिचारक करते भी तो क्या? हस्तिनापुर का युवराज स्वयं रात्रि पर्यन्त रथ दौड़ाता हुआ पहुंचा हो तो बात गम्भीर हो सकती है। उसे नहीं मिलाना भी उनकी दायित्वहीनता का बाधक हो सकता था।

विवश, उन्होंने अन्तःपुर की परिचारिकाओं तक संवाद भेजा—द्वारिकापति के शयनागार को अन्य लोगों से पूर्णतया रिक्त कराया जाय।

शयनागार तो रिक्त हो गया। रुक्मिणी का महल था वह। बाहर निकल आईं वह अपने शयन-कक्ष से पर पीताम्बर से मुंह-ढके सोये पड़े द्वारिकापति की निद्रा में बाधा डालना उसने भी उचित नहीं समझा—सेविकाएं परिचारिकाएं क्या उन्हें जगा पातीं?

"द्वारिकाधीश अभी विश्राम में हैं। शयनागार में उनके अलावा और कोई नहीं है आप चाहें तो उनकी निद्रा भंग होने तक वहीं प्रतीक्षा कर सकते हैं।" परिचारकों ने अपने सिर की बला से शीघ्र मुक्ति लेनी चाही। कौन प्रात की इस बेला में ही परिचर्या का प्रबन्ध करे हस्तिनापुर के इस उद्दण्ड युवराज का? सारे सभासद, सामन्त, अमात्य तक तो अभी सोए पड़े थे। परिचरों को पता भी था कि इस अवसर पर क्या करना चाहिए?

दुर्योधन को मुंहमांगा मिल गया। 'ठीक है मैं वहीं प्रतीक्षा करूंगा,' कहकर वह एक परिचर के साथ अन्दर चला गया।

श्रीकृष्ण के विस्तृत शयनागार में बैठने के स्थानों की कमी नहीं थी। स्थान-स्थान पर स्वर्ण अथवा रजत-जटित मंचक पड़े थे जिन पर चीनांशुक-वेष्टित आरामदायी गद्दे पड़े हुए थे।

पर्यंक के पास भी ठीक ऐसे ही दो मंचक थे—एक श्रीकृष्ण के पैर की ओर, दूसरा उनके मस्तक की ओर।

दुर्योधन को एक क्षण नहीं लगा यह निर्णय लेने में कि उसे कहां विराजमान होना चाहिए। हस्तिनापुर का युवराज श्रीकृष्ण के मस्तक की ओर पड़े मंचक पर जा विराजा।

पर परिचरों की आपत्ति का अन्त नहीं था। युवराज को अन्दर भेजे अभी कुछ ही क्षण हुए थे कि श्रीकृष्ण मित्र पृथापुत्र धनंजय का स्यन्दन आ पहुंचा। वह भी श्रीकृष्ण से तत्काल मिलना चाह रहे थे। परिचरों का काम अब आसान हो गया था। जब दुर्योधन को अन्दर कर दिया गया था तो पार्थ को श्रीकृष्ण तक

पहुचाना क्या कठिन था।

अजुन अन्दर गए तो दुर्योधन को पहल स ही वहा विराजमान पा आश्चय चकित हुए। वह पर की आर पड मचक पर वठ गए। दोना प्रतिद्वन्द्वी आमने सामन पर सवाद की कोई सम्भावना नहा। दोना एक-दूसर स आखें बचात रहे। दानो का धय चरम को स्पश कर रहा था—कब श्रीकृष्ण नि॰।निद्रीन हो कि उनके मध्य व्याप्त तनाव समाप्त हो।

अन्तत श्रीकृष्ण न पीताम्बर को सिर म उठाया और 'जय दुर्गे।' बोलते हुए एक अगडाई लेकर उठ वठे। आखो का दोनो तलहथियो से मलकर हाथ की रेखाओ पर दृष्टि निक्षेप किया और सामन देखत ही आश्चय चकित हो बोले "पाथ तुम ? इम समय ?'

अजुन कुछ वाला नही। उठकर उसन श्रीकृष्ण के चरणो पर प्रणिपात किया और फिर अपने स्थान पर जा वठा।

"मैं भी उपस्थित हू और अजुन क पहल से। सिर की ओर से स्वर उभरा तो उन्हान पीछे मुडकर देखा—हस्तिनापुर-युवराज दुर्योधन अपने दप म तना बठा था। उसने उठने और अभिवादन की भी आवश्यक्ता नही समझी।

तो आप भी उपस्थित हैं। नही, श्रीकृष्ण के स्वर मे व्यग्य नही था। उन्हे पूरा तरह स्मरण था कि अभी ज्यादा दिन नही बीत थे जब उसने उन्हे बन्दी बनान का प्रयास किया था। वे चाहत तो उसे अभी इसी क्षण अपने कारागार म डाल सकते थे। पर वह जानत थे दुर्योधन अभी उनका अतिथि था। अतिथि होकर तो वह भी गए थे कौरव सभा म अपितु अतिथि से भी अधिक दूत बनकर—वह भी शान्ति-दूत। पर दुर्योधन ने मर्यादा का निर्वाह कहा किया ? अतिथि को ही नही दूत शान्तिदूत को ही जजीरो म बाधने के कुत्सित उपक्रम पर उतर आया। किन्तु कृष्ण दुर्योधन नही हो सकत थे। यह बात दोनो को ज्ञात थी—कृष्ण को भी और दुर्योधन को भी। अत दोनो सामान्य थे। श्रीकृष्ण सौम्य और शान्त, जस उनके मध्य कभी कुछ घटा ही नही हो और दुर्योधन निभय निश्शक—श्रीकृष्ण अपने ही यहा उसे बन्दी बना अपनी उज्ज्वलतम हो आई कीर्ति पर कलक नही लगा सकते थे।

पाथ। बोलो। क्यो कष्ट किया इस प्रात वेला म ही ? कोई विशष बात ही होगी।'

'मैं यहा पहले से उपस्थित हू अत यह प्रश्न पहले मुझसे पूछा जाना चाहिए। दुर्योधन अव्यवस्थित हुआ कि कही जो वह मागने आया है, श्रीकृष्ण उसे अजुन को ही नही दे दें।

अच्छा।" श्रीकृष्ण ने आश्चय से कहा "पर दष्टि तो मेरी सवप्रथम पाथ पर ही पडी।

इसलिए कि वह परो के पास वठा था। यहा भी दुर्योधन का दप उसके स्वर पर चढने से रहित नही रहा। अजुन युवराज तो था नही अत वह ठीक स्थान पर बठा था। मन्तव्य यही था दुर्योधन का।

पर मन जब पहले-पहल उसे देखा है तो प्रथम अवसर तो उसे ही प्राप्त होगा।' श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कर दिया।

'जसी आपकी इच्छा। पर यह अन्याय है। दुर्योधन ने कहा।

'न्याय-अन्याय की बात याचको के मुख मे नही शोभती।' श्रीकृष्ण ने संक्षिप्त भाषण द्वारा ही दुर्योधन का मुह बन्द कर दिया। दुर्योधन क्या बोलता, वह याचक तो था ही और वह इतना मन्द-बुद्धि भी नहीं था कि यह समझे कि प्रत्यूष मे ही दरवाजे पर आ पहुचनेवाला याचक ही हो सकता है इस बात को श्रीकृष्ण को समझने म विलम्ब हो सकता है।

ठीक है,' दुर्योधन बोला, 'तो याचना पहल पार्थ की ही पूरी होगी ?"

"नीति तो यही कहती है, पर आप कह लें आप चाहते क्या हैं।' श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को सम्बोधित किया।

"आसन्न महासमर म आपकी सहायता।

"और पार्थ तुम ?" श्रीकृष्ण अर्जुन की ओर उन्मुख हुए।

वही।'

'समस्या तो विकट है। तुम दोनो एक ही वस्तु चाहते हो। दुर्भाग्य यह है कि उपलब्ध तो वह किसी एक ही को हो सकती है। किसे उपलब्ध हो वह ?' श्रीकृष्ण मुख स निकला।

'मुझे। दुर्योधन ने असयम का परिचय दिया। उसे भय था पार्थ को ही *सहायता का वचन न दे बठें श्रीकृष्ण।*

'क्यो ? श्रीकृष्ण ने पूछा।

'क्योकि न्याय न सही पर औपचारिकता की माग यही है कि जो प्रथम प्रस्तुत हुआ हो प्राथमिकता उसे ही प्राप्त होनी चाहिए। आप द्वारपालो से पूछ सकते हैं कि पहल कौन आया।'

'इसकी आवश्यकता नही " श्रीकृष्ण न कहा मुझे युवराज के वचन पर सन्देह करने का कोइ अधिकार नही पर मेरी दृष्टि प्रथम पार्थ पर ही पडी, अत प्राथमिकता उसी को मिलेगी। यह मेरा निर्णय है।'

"तो मैं निराश वापस लौट जाऊ ? दुर्योधन उठने का उपक्रम करते हुए बोला।

नही' श्रीकृष्ण न गम्भीरता स कहा, 'उसका समय अभी नही आया। आशा अब भी दोनो के लिए है। निर्णय थोडी देर पश्चात लेना।

'क्या आशा है ?" दुर्योधन निराश स्वर मे बोला, 'प्राथमिकता तो पार्थ को देने का बात आपने कह ही दी।'

आशा है," श्रीकृष्ण ने गम्भीर होकर कहा, एक योजना मेरे मन म आई है। इसस दोनो का काम हो सकता है।

क्या ? दुर्योधन को लगा वह हारी हुई बाजी जीत रहा है। अर्जुन इस मध्य निरन्तर चुप था।

मेरे पास देने के लिए दो वस्तुए हैं अगर उन्हे वस्तु मान लें।

क्या ? दुर्योधन ही था यह। स्पष्ट व्यग्रता उसके स्वर पर चढी थी।

मैं और मेरी चार अक्षौहिणियो की नारायणी सेना। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया 'अब यह आप लोगो पर है कि आपस कौन किसे चाहता है। पर मैं साथ ही स्पष्ट कर दू कि युद्ध म मैं निशस्त्र ही रहूगा। मैं स्वय इस युद्ध म भाग लेने नहीं जा रहा।'

अर्जुन के चेहरे पर सहसा एक अद्भुत चमक लौटी। उस उसका मनोवांछित

प्राप्त होने वाला था।

"तो मागेगा अजुन ही पहल।" दुर्योधन को अब वहा रुकने मे कोई साथकता नही दिख रही थी।

"स्वभावत।" श्रीकृष्ण अपने निणय पर अडिग थे।

"तो माग ले वह? दुर्योधन ने थोडी देर प्रतीक्षा कर लेना ही उचित समझा। कही अजुन मतिभ्रम का ही आखेट नही हो जाय। इन मूख कुन्ती पुत्रो की बुद्धि का क्या ठिकाना? वही होती उनके पास तो अब तक जगल-जगल भटकते रहते?

तो पाथ चुन लो तुम्हे क्या चुनना है?' श्रीकृष्ण ने अजुन को सम्बोधित किया।

एक क्षण भी अजुन को नही लगा अपना निणय सुनाने म, पर यह क्षणाद्ध ही दुर्योधन को एक युग के सदृश लगा—कही धनजय श्रीकृष्ण की महती नारायणी सेना ही नही माग ले।

पर दूसरे ही क्षण उसकी बाछें खिल गइ। अजुन ने स्पष्ट स्वर म कहा— मैं आप ही को चाहता हू।

"नि शस्त्र?"

'हा" अजुन ने अपना दृढ निश्चय सुनाया।

'तो नारायणी सेना मेरे पक्ष मे आई? दुर्योधन अपनी प्रसन्नता को अभिव्यक्ति दिए बिना नही रह सका।

"अवश्य। यह तो निर्णीत ही हो गया स्वयमेव। श्रीकृष्ण न कहा और उठ खडे हुए। उन्हे अभी नित्यकम से भी निबटना था।

दोनो प्रसन्न चित्त हो श्रीकृष्ण के शयनागार से बाहर आये। अजुन प्रसन्न कि अन्तत श्रीकृष्ण उसे मिल गए। दुर्योधन हर्षित कि अन्तत यह पथा पुत्र अपनी मूर्खता प्रदशन से बाज नही ही आया। अवसर तो इसे ही पहले-पहल मिला था पर मागा भी इसने तो एक नि शस्त्र व्यक्ति को। क्या था वह चार सुसज्जित अक्षौहिणियो के समक्ष।

विनाश काले विपरीत बुद्धि। दुर्योधन बुदबुदाया और अपने स्यन्दन पर सवार हो त्वरित गति से प्रस्थित हुआ हस्तिनापुर की ओर। इस सवाद को शीघ्रातिशीघ्र पहुचाना था धतराष्ट्र और कण के पास जिनके परामश से वह पहुचा था द्वारिका को।

'यतो कृष्णस्तो जय' अजुन के मुख से भी निकला अपने स्यन्दन पर आसीन होते समय और वह भी व्यग्र हो आया अग्रज धमराज को यह सवाद देने के लिए कि अन्तत धम को अपने पक्ष मे करने मे वह सफल हो ही गया।

छियासठ

अपने कतव्य के रूप म श्रीकृष्ण अजुन का सारथ्य स्वीकार कर चुके थे। पर मन वायु आलोडित सागर की तरह उद्विग्न था। भवितव्यता को लाख चाहकर भी वे

टाल नही सक थे। दुमति दुर्योधन की हठधर्मिता और कण तथा शकुनि की कुटिलता न कुरुक्षेत्र का रणक्षेत्र म परिवर्तित कर दिया था।

श्रीकृष्ण जब पाडव शिविर म पहुचे तो कुरुक्षेत्र के चारो ओर देश-देश के योद्धाओ के शिविर लग चुके थे। एक महानगर ही उग आया था वहा। मगध, कलिंग, कम्बोज, सिधु, अवन्ति, मद्र, चेदि, गोवासन आदि देशा के राजा अपनी-अपनी सेनाओ के साथ पडाव डाल चुके थे। गजा, अश्वा और पदाति सैनिका की चित्र विचित्र आवाजा से एक कोलाहलपूण वातावरण ही वहा निर्मित हो गया था। मनुष्या और पशुआ का ऐसा महासमुद्र इसके पूव न ता किसी ने देखा था न सुना।

श्रीकृष्ण न इस महासमुद्र पर एक दृष्टि डाली और पुन पाडवो के शिविर म वापस आ गए। युधिष्ठिर, भीम, अजुन नकुल, सहदव सभी मत्रणा म लगे थे। अजुन का पुत्र अभिमयु तथा द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न भी एक ओर बठे थे।

जस जगमगाते सूय मडल को मेघ का कोई भूला भटका टुकडा आवृत्त कर लेता है वसे ही *धमराज युधिष्ठिर का तेजोदीप्त मुख म्लान पडा हुआ था।* शेष पाडव और धष्टद्युम्न प्रत्यक्षत उन्ह ढाढस बधान का प्रयास कर रहे थे।

'हमन व्यथ ही यह युद्ध मोल ले लिया। इसम हमारी पराजय प्राय सुनिश्चित लगती है।" धमराज थे यह। एक विचित्र मौन पसरा पडा था वहा। कोई कुछ बोल नही रहा था। अजुन के चेहरे पर अवश्य कुछ भाव उतर-चढ रहे थे। श्रीकृष्ण का आनन निर्विकार था। लगता था वे अजुन की प्रतिक्रिया जानन के इच्छुक थे।

'आप जो सदा आशा को ही जीवन-सम्बल बनाकर चलते थ, आज इस तरह निराश-ग्रस्त क्यो हो रहे हैं तात?" अजुन ने अतत अपना मुख खोला था। उसके चेहरे के भावों म स्थिरता आ गई थी। कोई दृढ निश्चय उसके अदर जम ले चुका था।

'निराशा की बात है," युधिष्ठिर ने आरम्भ किया था, 'तुमन वर्षा ऋतु की उफनती सरिताओ की तरह कौरवो की सेनाओ को देखा है? कितनी सख्या है उनकी, तात है? ग्यारह अक्षौहिणी? और अपनी मात्र सात। प्राय दूने से थोडा ही अन्तर है दोनो म। कौरव-सना क इस महासागर को हम अपनी इन कुछ काष्ठ-तरियो से कसे तिर पायेंगे?" युधिष्ठिर के मुख का अधकार अमावस्या के तिमिर की तरह घनीभूत हो आया।

"श्रृगालो क क्षुद्र-के-क्षुद्र भी शेर का बाल बांका नही कर सकते। इस समय जब उत्साह और धय ही हमारे सम्बल हो सकते हैं, आप व्यथ ही निराशाग्रस्त हो उत्साह हीन और धय-रहित हो रहे हैं।'

'श्रृगाल किसे कह रहे हो तुम? आजीवन ब्रह्मचारी, परशुराम-जयी पितामह को अथवा धनुर्विद्या की साक्षात् प्रतिमूर्ति गुरु द्रोण को, केसरी तुल्य कृप को महारथी कण को, महान् धनुधर महाराज शल्य को? किसको? क्या यह हमारा दुर्भाग्य नही है कि आर्यावत के प्राय सभी प्रतिष्ठित योद्धा दुर्योधन के साथ जा लगे है। महासमर रूपी महासमुद्र के इन मगरमच्छो मे हमारी सेना क मीन-मत्स्य किस आधार पर विजय प्राप्त करेंगे? उनके खुले मुख म विवश प्रवेश के अलावा ये करेंगे भी क्या?'

"भया !" भीम थे यह। जसे किसी गिरि-गुहा म केहरी-नाद गुजित होता है वसे ही वह पाडव शिविर भीमसेन के कर्ण भेदी स्वर से भर गया। लगा शिविर की वस्त्र निर्मित छत तथा उसको धारण करन वाले काष्ठ स्तम्भ तक एक साथ किसी प्रभजन की चपेट म आ काप गए। सच ही केसरी नाद ही था वह उस नर केसरी का जिसने भरी सभा म द्रौपदी को नग्न करने के व्यथ प्रयास म लीन दु शासन के हृदय को विदीण कर रक्त-पात करने और पाचाली को अनावृत्त जघा दिखान वाले दुर्योधन के जङ्घ ओ को गदा प्रहार स तोड देने का प्रण ले रखा था। उसके स्वर की प्रचण्डता से प्रभावित होते हुए धमराज न उसकी ओर अपनी प्रश्न भरी आखें उठाई थी।

किसे कहते हैं आप मीन मत्स्य ? किरात रूपधारी साक्षात शिव को भी पराजित करन वाले पथा पुत्र अजुन को शस्त्रधारियो म अग्रगण्य अश्विनी कुमार सुतो नकुल और सहदेव को राजा द्रुपद अथवा वीरो म अग्रगण्य धष्टद्युम्न या वीरता और पराक्रम के पुज सदश अजुन-पुत्र अभिमन्यु को ? या इसे अहकार न मानें तो मदमत्त गजराजो के विशाल मस्तको को भी गदा के एक प्रहार स ही छिन्न भिन करने म समथ अनुज इस भीमसेन को ही ?

"और किसे मगरमच्छ मान रहे हैं आप ? पापी दुर्योधन के पापान्न पर पल रहे सस्कार-पतित पितामह, द्रोण और कृप सदृश गलित नख दन्त कुछ वद्ध व्याघ्रों को जिनकी जघाए अजुन के गाडीव के टकार पर ही कापने वाली है और जिनके अन्याय, अनीति और अपराध भाव उन्हे आत्मग्लानि के गत म डालकर उनके मनोबल को इस तरह तोड चुके है कि रण क्षेत्र म वे मिटटी की कुछ मूर्तिया से अधिक नही सिद्ध होन जा रहे ?

भीम !" गम्भीर मेघ गजन की तरह ही धमराज का स्वर गूजा था। अहकार न तो तुम्हारी आखो को सदा बन्द रखा। गुरु-जनो के प्रति अपशब्द कहते हुए तुम्हारी जिह्वा कापती तक नही। जिन्हे मनोबल से रहित और वद्ध व्याघ्र कहत हो उस कौरव-सेनापति भीष्म को तुमने आज देखा है ? श्वेत शिरो वस्त्र, हिमधवल अधोवस्त्र एव दुग्धोज्ज्वल उत्तरीय एव शारदारम्भ के काम पुष्पो की धवलता को मात देती और उन्ही की तरह लहराती श्मश्रु (दाढी मूछ) से शोभायमान, स्वण छत्र से मडित एव तपे सुवण के रग के स्यदन मे विराजमान उस महान पुरुष-व्याघ्र की आभा मैंन देखी है भीमसेन। स्वच्छ शुभ्र, मेघ मालाओं मे दमकती दामिनी की शोभा को भी मात करत पितामह के आनन पर लक्षित आत्म विश्वास को भी मैंने पढा है। मैं नही समझता उनसे अधिक तो अधिक उनके समतुल्य योद्धा को भी पाडव-सेना के समक्ष खडा करन की स्थिति में हम हैं। पितामह के व्याज से साक्षात यमराज ही ग्यारह अक्षौहिणियो की जिस विशाल वाहिनी का नेतत्व कर रहे हो उसे परास्त करन का हमारा प्रयास वसे ही विनाशकारी सिद्ध होनेवाला है जसे प्रभजन के माग मे पडे निरुपाय पादप छिन्न भिन हो भू-लुठित हो जाते हैं।"

भाइयो के इस वार्तालाप से लगा श्रीकृष्ण का अच्छा-खासा मनोरजन हो रहा था। कुछ देर तक सस्मित वदन वे इस वाद विवाद का रस लेते रहे। अजुन और भीम का आत्मविश्वास उन्हें आनन्दित कर रहा था पर धमराज का इस तरह भीरु हो जाना उन्हे आश्चय म डाल रहा था। अतत युधिष्ठिर को

सम्बोधित किया था उन्हान—"तो यह समर नहीं लडना है ? अगर अपनी शक्ति के प्रति इसी तरह सशकित होना था आपको तो युद्ध की तयारी म इतनी तल्लीनता ही क्यो दिखाइ थी आपन ? आप अग्रज है—पाचो पाडवो मे ज्येष्ठ। आप ही के नेतत्व म महासमर रूपी इस महासमुद्र का तिरने की आशा रख है आपके अनुज। अगर आप ही इस तरह भीत और शकाग्रस्त हो आय तो किसके सहार उठायेंगे ये शस्त्र ?

"आपने देखा है पितामह को ?" धमराज की आखो म भय की छाया अब भी वतमान थी।

"अनेक बार।"

"मैं इस बार की बात कर रहा हू। साक्षात कराल काल की तरह खड है वे कौरवो की अपार वाहिनी के आग। आत्मविश्वास स भर उनक आनन क अदभुत तेज से चौधिया जाती हैं आखें! जिस सना का एमा तज पुज प्राप्त हो सनापति के रूप म उसे पराजित करने का स्वप्न पालना मग मरीचिका स कुछ अधिक नही सिद्ध होने का।"

'भया!" अजुन थे यह।

युधिष्ठिर ने अपनी प्रश्न भरी आखो को उठाया था उनकी तरफ।

आपको पता है कि आप क्या कर रहे हैं? पितामह की प्रशसा क व्याज से आप पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण का निरन्तर अपमान किय जा रहे हैं। किस तज और ओज की बात कर रहे हैं आप ? पितामह क्या खाकर कौरवो को विजय श्री मे मण्डित कर पायेंगे ? कृष्ण क प्रताप के पासग म भी पडते हैं क्या वे तथाकथित तेज-पुज पितामह ? किशारावस्था से लेकर आज तक जिस श्रीकृष्ण न अनगिनत दुधष राक्षसों और योद्धाओ का मान मदन किया, कस और जरासध की तरह छल-बल सम्पन्न नरेश जिसकी बल-बुद्धि के समक्ष आधी क तिनको की तरह उड गए समुद्र-तीर के सिकतापूण धरती पर जिसने अपने पराक्रम स द्वारावती की तरह श्री-समद्धि-सम्पन्न नगरी का निर्माण कर सम्पूण आर्यावत को चमत्कृत कर दिया। और तो और स्वय आपन ही राजसूय यज्ञ मे जिन्ह अग्रपूजा का अधिकारी बना आपने सभी तथाकथित क्षत्रीय-वीरो के शीष पर जिन्ह स्वण किरीट की तरह स्थापित कर दिया, उसी श्रीकृष्ण के मान की जरा भी परवाह किये बिना आप कौरवो के मोह-पाश मे जकडे पितामह के प्रताप का यशोगान किये जा रहे हैं? क्या आप भूल गए कि इसी श्रीकृष्ण को साथ लेने के लिए मैंने इनकी चार अक्षौहिणी सनाए दुर्योधन क हवाले कर दी। नही तो, जिन अक्षौहिणी सनाओ की जिस ग्यारह सख्या से आप व्यथ ही विचलित हो रहे है वह सख्या हमारी ही होती और कौरवो के पल्ले पडती मात्र सात अक्षौहिणिया। यह चुनाव तो हमारा अपना है भया। हमन पुरुषो म परम पुरुष श्रीकृष्ण को अपनाया है। उनकी चिन्ता की है। सामान्य सनिको की साधारण अक्षौहिणियो की नही। और हमारा एक श्रीकृष्ण सकडो पितामहो और द्रोणाचार्यो स अधिक है। एक सूय के उदित होन ही गगन-मण्डल के सारे नक्षत्र अपना प्रकाश खो बठते है। अभी आप पितामह, कृप और द्रोण के सदश कुछ टिमटिमाते तारो के प्रकाश मे ही चकाचौध का शिकार हो जाये है। श्रीकृष्ण के रूप म हमारे इस मातण्ड को अवतरित होने दीजिए मदान म तो देखिए ये सभी किस तरह तेज हीन हो जाते है।

"पर श्रीकृष्ण ने तो शस्त्र नही धारण करने की प्रतिज्ञा कर रखी है।' धमराज का भय निशेष नही हो पा रहा था।

"श्रीकृष्ण की उपस्थिति ही पर्याप्त है। उन्होंने मेरा सारथ्य ग्रहण किया है। ये मेरे युद्ध रथ के ही सचालक नही हमारे जीवन रथ के भी दिशा निर्देशक हमारे नीति नियामक होगे। कहने की आवश्यकता नही भया कि श्रीकृष्ण आज सम्पूर्ण आयभूमि के सवश्रेष्ठ नीतिज्ञ अतुलित बलशाली एव विलक्षण अध्यात्म शक्ति सम्पन्न है। निष्काम कम-योग के प्रचारक ये पुण्योत्तम धम के सवश्रेष्ठ धारक भी हैं। आप तो स्वय धमराज कहे जाते हैं आपको क्या बताया जाय कि जहा धम है वही विजय है। तो श्रीकृष्ण के रहते हम किसका भय है? जहा धम है वही कृष्ण है और जहा श्रीकृष्ण है वही विजय है—यता धमस्ततो कृष्ण । यतो कृष्णस्ततो जय ।"

श्रीकृष्ण इतनी देर तक गम्भीर बने यह सब सुनते रहे। उन्होंने अब युधिष्ठिर की आखो मे सीधे देखा था और मुस्कुराये थे। धमराज अब बहुत कुछ आश्वस्त लग रहे थे पर श्रीकृष्ण की मुसकान का कुछ भी अथ समझने म वे असफल रहे। उन्होंने सोचा था शायद धमराज के विशेषण से युक्त होने पर भी इस तरह भय भीत होने की बात पर ही द्वारिकापति के मुख पर वह मुसकान खली थी। पर योग शक्ति स प्राप्त उनकी भविष्य-दृष्टि शायद उस श्रेष्ठ पाडव को आश्वस्त करना चाहती थी कि कोई बात नही धमराज परीक्षा की विकट घड़ियो म सभी का धय इसी तरह डगमगाने लगता है। चिन्ता नही करो अभी जो तुम्हारा अनुज धम और कम की इतनी ऊची ऊची बातें करता है कल वही कुरुक्षेत्र के मदान मे तुमसे भी अधिक भयभीत मोहग्रस्त और व्याकुल होने वाला है।

तो अब चलें। मुझे लगता है धमराज अब पूणतया आश्वस्त हो आये है। पितामह के तेज से अब ये परास्त नही प्रतीत होते। अजुन तुमने यथ ही मेरे सम्बन्ध मे इतनी ऊची ऊची बातें कर दी। तुम्हारे अग्रज यो भी कुछ क्षणो म प्रकृतिस्थ हो आते। वस्तुत, पितामह से रक्षित अपरिमित कौरव-सैन्य अजेय तो प्रतीत हो ही रहा है। इसम युधिष्ठिर का काई दोष नही। तुमने पितामह का आज का तेजोद्दीप्त स्वरूप नही देखा देखते तो तुम भी इसी तरह शका ग्रस्त हो आते। आजीवन अखण्ड ब्रह्मचय व्रत धारक तप और साधना का वह तेजपुज सचमुच तारक मण्डल स घिरे पूर्णिमा के पूण चन्द्रमा सा ही प्रतीत हो रहा है। सच है कि जहा धम है वही विजय का वास है। पर अपने पिता की एक साधारण कामना की पूर्ति के लिए जिसने अपने सुरभित जीवन-पुष्प को निर्विकार भाव से तप-त्याग की अग्नि की समिधा के रूप म अर्पित कर दिया उस तो कम की प्रतिमूर्ति मानना ही पडेगा। तुम लोग चाहे जितना उन्हें दुर्योधन के पापान्न पर पला बताते रहो पर उनकी धम निष्ठा पर प्रश्नचिह्न लगाना तुम्हारे वश की बात नही। हा अगर यह सत्य है कि जहा धम है वहा विजय है तो जहा पितामह हैं विजयश्री भी वही हाथ बाधे खडी मिलेगी।

'तो? युधिष्ठिर अजुन नकुल सहदेव धृष्टद्युम्न और अजुन पुत्र अभिमन्यु सभी एक साथ बोल पडे थे। अजुन के द्वारा निर्मित किया गया आत्मविश्वास का वातावरण सहसा दिनमणि के अस्तापरान्त के गहन अधकार म परिवर्तित हो गया था। सबके चेहरे से जसे एक ही जलता सा प्रश्न चिपका पडा था—तो?

और इस 'तो' का उत्तर किसी के पास नही था। देर तक सन्नाटा बिछा पडा रहा था पाडवो के इस प्रमुख शिविर मे।

"तो इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक पितामह जीवित हैं, विजय हमारे लिए स्वप्न ही बनी रहेगी।"

सन्नाटे को पुन युधिष्ठिर ने ही तोडा था। अब उन्हे लग गया था कि उनका भय निर्मूल नही था। आखिर अग्रज होने के कारण अपने पक्ष के कल्याण-अकल्याण की चिन्ता तो उन्हे ही करनी थी। और जब श्रीकृष्ण ने ही कह दिया कि पितामह के रहते पाडवो की विजय असम्भव थी तो अब किसी के लिए क्या कहना सोचना शेष रह गया?

'आपने ठीक कहा।' श्रीकृष्ण चलते चलते बैठ गए थे "पितामह के रहते आपको विजय की बात सोचना भी नही चाहिए। और शत-सहस्र अर्जुन मिलकर भी पितामह का वध नही कर सकते। माना अर्जुन धनुर्धारियो मे श्रेष्ठ है पर पितामह के पासग मे भी नहीं पडता हमारा पथा-पुत्र। ऐसे भी इच्छा जीवी हैं बाल ब्रह्मचारी वृद्ध श्रेष्ठ भीष्म। वे नही मरना चाहे तो कोई मार भी नही सकता उन्हे।'

'तो?" यह 'तो' पुन सबकी आखो मे तैर आया था। तो किस बूते पर हो रही थी यह सारी तैयारी? किस आधार पर श्रीकृष्ण ने भी सन्नद्ध और प्रेरित किया था पाण्डवो को युद्ध के लिए? यह तो ज्ञात ही था उन्हे कि कौरवो को छोडकर पाडवो के पक्ष मे नही आने को पितामह। यह उनकी विवशता थी। कह लें तो वचन बद्धता भी। ऐसे भी, जिस अन्धे धृतराष्ट्र के लिए उन्होंने इतना कुछ किया, गाधार नरेश की निरुपम सुन्दरी सुता को उनके हित अपने बाहुबल से विजित किया उसके उद्दण्ड और दुर्मति कुल को अपनी मौन किन्तु विवश स्वीकृति देते रहे उसे वह जीवन के इस मोड पर एकाकी, अरक्षित नही छोड सकते। तो क्या फूकने दिया युद्ध का शखनाद श्रीकृष्ण ने पाडवो को? हस्तिनापुर के जिस राजभवन से वे निराश और युद्ध को अनिवार्य मान लौटे थे, वहा पितामह भी तो बैठे थे? उनके चेहरे के भाव, कह लें तो कौरव-पक्ष मे बने रहने की विवशता का भी तो स्पष्ट ही पढा होगा उन्होने उनके मुख पर? तो क्यो झोका पितामह के सदृश सरक्षक से रक्षित कौरव वाहिनी के खुले मुख मे उन्होंने पाचो पाडवो और उनके सहायक नृपतियो और उनकी मात ही नही, अक्षौहिणी सेनाओ को? इसका उत्तर किसके पास हो सकता है उनके सिवा?

श्रीकृष्ण की दृष्टि एक एक कर सबके मुख पर फिर गई। सब जैसे उनमे एक ही प्रश्न पूछ रहे थे—क्या, क्यो, क्यों?

श्रीकृष्ण के मुख पर पुन एक स्मिति खेली। कितना नादान और विवश होता है मनुष्य भी? परिस्थिति की साधारण विपरीतता भी अन्दर तक विचलित कर उसे किंकर्त्तव्यविमूढ कर निष्प्राण छोड जाती है। कितनी दुर्बल है मनुष्य की आस्था कि आशका का एक साधारण झोका ही उसे उखाड फेंकने मे सक्षम हो जाता है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन की ओर सीधे देखा। आश्वस्त हुए। नही, यहा वह आशका उस रूप मे कुण्डली मार कर नही बैठी थी, जैसी वह औरो के चेहरो पर जमी थी। अर्जुन आश्वस्त है तो यह महासमर विजित होकर ही रहेगा। कौरवो के सैन्य रूपी सागर को अर्जुन के शौर्य और धर्म के जलयान मे ही तो पार करना

था पाडवा को। पता नही कसा भावनात्मक बधन था जो उन्हें निरतर उनमे बाधे रहता था। अर्जुन की प्रसन्नता के लिए वह कुछ भी कर सकते थे। तभी तो उसके सारथ्य को भी प्रस्तुत हो गए थे। क्या पता इसमे उसके सान्निध्य की अभिलाषा ज्यादा प्रबल थी या पास रहकर उसे आगत अनागत भयो से मुक्त रखने की भावना।

'तो हम यह युद्ध नहीं लडें ? अब भी समय है। राता रात हम अपने शिविरो को समेट न सकते हैं। युधिष्ठिर ने शायद सबकी ओर से कहा था। श्रीकृष्ण अदन म लौटे थे। आनन की स्मिति कुछ और फली थी।

यह पलायन नहीं होगा क्या ? समर भूमि म पीठ दिखाना ? क्षत्रियो को यह शोभा देता है क्या ?' श्रीकृष्ण सस्मित बोल थे। युधिष्ठिर और अन्य योद्धा कुछ समझ नही पा रह थ। इधर वे स्वय पितामह के रहते पराजय को अवश्यभावी मान रह थे और इधर युद्ध के लिए भी कटिबद्ध लगते थे।

'आपको समझना सदा कठिन रहा है। जो आप कहें हम वही करने को प्रस्तुत हैं। जय हो या पराजय हम उसकी कोई चिंता नही। अतत युधिष्ठिर का आत्म विश्वास लौटा था। सभी उनकी ओर देखन लग थ—भीम नकुल सहदेव, धृष्टद्युम्न व अभिमन्यु सभी। समाधान तो अभी मिला नही था। पितामह रूपी प्रचड समस्या तो अभी जहा की तहा थी तो कसे हिम्मत बटोर ली थी पाडव-श्रेष्ठ ने।

यही तो यही तो श्रीकृष्ण ने धर्मराज की ओर देखते हुए कहा था सदा तो मैं यही कहता आया हू—कतव्य स मुह मोडन की आवश्यकता नही। फल जसा मिले जब मिले उसकी चिंता व्यर्थ है। शायद कोई माग निकल ही आय अतत। पितामह के भय म हम पीछे नही लौटने को। हम अपना काय करेंगे। नियति अपना। फल पर हमारा वश नहीं तो प्रयत्न पर तो है! युद्ध हम लडेंगे एक नही सौ पितामह भी कौरव सेना का नेतृत्व करेंगे तब भी।

बात सबकी समझ म आ गई थी और सबने समथन म जोर स करतल ध्वनि की थी और श्रीकृष्ण की जय-जयकार भी। भीमसेन की दाहिनी मुट्ठी अपनी गदा पर कुछ ज्यादा ही कस आई थी और अर्जुन ने कधे से लटकते अपने गाडीव को अनजान ही एक हल्का स्पश दिया था।

तो अब चलें। श्रीकृष्ण फिर सहसा उठ खडे हुए थे। आप सब भी अब विश्राम करें। प्रात ही युद्ध के लिए सन्नद्ध होना पडेगा। सेनापति का चुनाव तो आपने कर ही लिया है। द्रुपद पुत्र इस महाबली धृष्टद्युम्न स अच्छा सेनाधिकारी आपको मिल ही नही सकता था।

श्रीकृष्ण के साथ ही सभी उठ खडे हुए थे। उन्हे वे उनके शिविर तक छोड कर आये थे। धर्मराज का मन फिर भी आशकाओ से पूरी तरह निवृत्त नही हुआ था। भीमसेन के चेहरे से स्पष्ट था कि वे सोच विचार की दुनिया स ऊपर उठ चुके थे। गदा पर बार-बार कसती उनकी मुट्ठी युद्ध सम्बन्धी उनके सकल्प को दृढ से दृढतर करता प्रतीत होती थी। सबसे अधिक अश्वस्त थे अर्जुन। उनका मन पता नहीं क्या बार बार यही दुहरा रहा था—कृष्ण के रहते पराजय कसी ? प्रकाश के पास अधकार कब टिक पाता है ? रह रहकर उन्हें अपने द्वारा ही कुछ पल पहले कही बात बार-बार याद आ रही थी—जहा कृष्ण है वही धर्म है और जहा धर्म है वही विजय है—यता कृष्णस्तता धर्म यतो धर्मस्तता जय।

सडसठ

सभी ने वैसा ही पाया था पितामह को जैसा कल सायं धर्मराज ने बताया था उन्हें। उधर पूरब के क्षितिज पर सविता किसी स्वर्ण थाल की तरह उदित हो रहे थे, इधर धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र के बीचों-बीच भी उग आया था एक स्वर्णिम सूर्य। भीष्म कौरव-सेना के सेनापति के रूप में आत्मविश्वास के साक्षात विग्रह के रूप में विराजमान थे। स्वर्ण-मंडित रथ पर स्वर्ण-कवचों में ही आवेष्टित तप्त स्वर्ण के रंग का ही गौरवर्णी तन। सिर पर सूरज की पहली किरणों में जगमगाता धवल शिरोवस्त्र। किसी वन्य केसरी की तरह ही निर्भीक निश्चल वीरासन में बैठे थे भीष्म विशाल रथ के मध्य। दाहिने कंधे पर शोभित महान धनुष और दोनों स्कंधों पर लटकते भांति भांति के शरों से ठसाठस भरे तूणीर। विस्तृत रथ में स्थान-स्थान पर सजे गदा, शूल, परशु, परिघ, पाश, खड्ग, तोमर, भल्ल, इषु, शक्ति, ऋष्टि, आयास, चक्र, चमा एव शार थे इनके अलावा अन्य अनेकानेक अस्त्र शस्त्र। पूरा रथ जैसे एक विशाल शस्त्रागार के रूप में ही सुसज्जित था। रथ के आगे कुछ निचाई पर आसीन सारथि और पिछले भाग में बैठे सहायक जिनका एक मात्र काम था स्कंधों से लटकते तरकशों के खाली होते ही शरों से उन्हें भर देना अथवा हाथ का इंगित पाते ही परशु, पाश अथवा गदा को सेनाध्यक्ष के हाथ में थमा देना।

सच, अजेय थे पितामह यही एक बात सबके मस्तिष्क में एक साथ कौंधी थी। सूर्योदय के साथ ही तेज हीन हो जाने वाले तारक समूहों की तरह ही सबके चेहरे बुझ गए थे—ठण्डी राख की तरह तेज-हीन और म्लान। युधिष्ठिर का भय भी पुनः वापस आ गया था। नहीं परिवर्तित हुआ था तो श्रीकृष्ण के आनन का रंग। अर्जुन के श्वेताश्वों की वल्गाओं को अपनी पतली पर रक्ताभ उंगलियों में थामे वे कौरव-सेना से कुछ दूरी पर रुक गए थे। पितामह ने इस पीताम्बर-धारी को सश्रद्ध निहारा था और उनका गर्वोन्नत सिर एक क्षण को सहसा नत हो आया था—श्रीकृष्णाय परब्रह्मणे नमः—उनके मुख से एक अस्फुट स्वर निकला था। दुर्योधन के साथ साथ अन्य कौरव पाण्डव-वीरों ने भी पितामह के झुकते सिर और हिलते होंठों को देखा था पर शायद ही कोई इस भेद को समझ पाया था। सबको लगा था पूरबी क्षितिज के उस तेजपुंज सविता को ही सिर नवाया था कौरव-सेनापति ने। श्रीकृष्ण के होंठों पर एक मंद स्मिति ही खेली थी पितामह के प्रणाम की स्वीकृति में। चाहकर भी वे अपनी कमल-कोमल दाहिनी हथेली को आशीर्वाद अथवा आश्वस्ति की मुद्रा में नहीं उठा पाये थे। इसका गलत अर्थ लगाया जा सकता था—दोनों सेनाओं के योद्धाओं के साथ साथ पितामह के द्वारा भी। नहीं, वे भीष्म को भ्रम नहीं पालने दे सकते थे।

धर्मराज, अपने भाइयों और अन्य पाण्डव-वीरों से घिरे खड़े थे। विराट, पुरुजित, कुंतीभोज, शैब्य, धृष्टकेतु, निश्राल, चेकितान, काशिराज, द्रुपद, उत्तमौजा तथा युधामन्यु के अलावा भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव एवं द्रौपदी के सभी पुत्र युधिष्ठिर के दाहिने-बायें आसीन थे। सेनापति धृष्टद्युम्न भी एक विशाल रथ में आसीन हो धर्मराज के पार्श्व में आ लगे थे। सूर्योदय के पूर्व ही उन्होंने अर्जुन की सहायता से अपनी सेना की व्यूह रचना कर दी थी। यह वज्र

व्यूह था जिसके मुख द्वार पर मत्त गजराज के सदश दुधष भीम जमे थे। उधर पितामह ने पतत्रि नामक व्यूह की रचना की थी। पक्षी के आकार के इस व्यूह का मुह चारो तरफ था, अर्थात किधर से भी जाइए इसके मुह मे ही जाना पडेगा। कौरव-पक्ष के महान सेनानियो से घिरे पितामह मृगो के मध्य मृगराज की तरह ही शोभित हो रहे थ। उनके रक्षाथ द्रोणाचाय, कृपाचाय अश्वत्थामा, जयद्रथ कलिगदेशपति केतुमान, अवति के विद और अनुविद वाह्लिक, विकण भूरिश्रवा दुमुख दु मह आदि सन्नद्ध थ। दुर्योधन की स्पष्ट आज्ञा थी कि पितामह की रक्षा हर स्थिति म करनी थी। वह भी इस तथ्य मे पूणतया परिचित था कि भीष्म ही कौरवो को विजय श्री का वरण कराने म एकमात्र सक्षम योद्धा थे। जब तक भीष्म रूपी छत्र की छाया कौरवो को उपलब्ध थी तब तक उनकी विजय सुनिश्चित थी। हा एक और व्यक्ति था कौरव-सेना म—कण जिसम दुर्योधन की अडिग आस्था थी और जिसके शौय वीय की समानता करने वाला पाण्डव-सेना म अजुन के अलावा कोई नही था। परतु कण मान किये बठे था। भीष्म पितामह ने महारथियो की गणना के समय उसके नाम की उपेक्षा कर दी थी। अब वह वीर प्रण कर बठा था कि जब तक भीष्म सेनाध्यक्ष रहगे वह शस्त्र नही उठायगा। रणागण के एक किनारे वह अपने शिविर म पडा था। दुर्योधन के लिए यह दुर्योग मह्य नही था। इसी क्षण के लिए उसने कण को वर्षों से तयार किया था। उस पर अपने प्राण छिडके थे। सूत पुत्र की सज्ञा स सदा सम्बोधित होते-होते हीन भावना से ग्रस्त हो जाय इस दुदम्य वीर के सिर पर अग-देश का मुकुट सजा उसने उसे सहसा एक सामान्य सारथि से एक बडे भू भाग का शासक बना दिया था। आज अगर पितामह के प्रमाद ने उसे ऐसा भीषण प्रण करने को विवश नही किया होता तो कौरव-सेना म एक नही दो दो सूय साथ-साथ चमकते होते—प्रतापी भीष्म और महाबली कण। तब इन दो प्रचड सूर्यों के प्रकाश म पाण्डव-सेना स्वय ही श्री-हीन हो जाती और बिना युद्ध ही विजय-श्री कौरवो की झोली म आ टपकती।

क्या कहे दुर्योधन इसे? अपना दुर्भाग्य अथवा पथा-पुत्र अजुन का सौभाग्य? जानता था वह, अजुन रूपी वट-वक्ष को निमूल कर धराशायी करने मे प्रचड झझावात की तरह एक ही व्यक्ति सक्षम था और वह था महाधनुर्धारी कण—दुर्योधन के तरकश का सर्वाधिक महत्त्वपूण तीर। हा, बलशाली थे भीष्म। किसी को भी समरागण म वीर-गति प्रदान करा देने मे पूणतया सक्षम। माना कि उनके रहते कौरव-सेना अजेय थी पर पाण्डवो की पराजय भी इससे कहा *सुनिश्चित होती थी? जब तक वह सब शस्त्रास्त्रो का ज्ञाता अजुन और सारथि* के व्याज से उसका सहायक बना बठा वह चमत्कारी कृष्ण पाण्डव-सेना म जीवित है तब तक पाण्डवो को पराजित करने का उसका सुनहला स्वप्न दुःस्वप्न ही बना रहेगा? और लेंगे प्राण इनम से किसी का पितामह? कभी नहीं। दुर्योधन इस धोखे म नही आने वाला था कि पाचो पाण्डवो म से किसी पर ममान्तक प्रहार करेंगे पितामह। आखिर उन्ह भी तो अपने परिवार का ही *सदस्य मानते* थे वे? कौरवो की ओर से लड चाहे वे जो लें—दुर्योधन के दुर्व्यवहार अथवा लोक-लाज के भय से—पर पाण्डवो के प्राण लेगे वे यह बात सोचने की भी नही थी। और वह कृष्ण? उसे तो भगवान ही मानते हैं वे और मूर्खों की तरह।

बुद्धि, वृद्ध हो आई है पितामह की भी वृद्धावस्था म। औरो से भले छिपा हो पर दुर्योधन को इसम कोई सन्देह नही कि रणागण मे पधारते ही जो प्रणाम निवेदित किया था पितामह ने, वह आकाश के सूय को नही होकर अजुन के इस सारथि को ही था। ऐसे मे काल भी वाका करेंगे वे इसका? सारथि या भी अवध्य होता है। पर युद्ध मे सब चलता है। कितने महारथी विरथ और सारथि रहित हो जात हैं। कोई भूला भटका शर आ ही लग किसी कोचवान के कठ से ता इसम योद्धा का क्या दोष? पर करेंगे ऐसा कभी पितामह? स्वप्न म भी नही। उनका वश चले तो सबक समक्ष ही बिछ जाय उसके आले परा पर वे।

एसे म कर्ण का युद्ध मे विरत होना कितना खलता है? कृष्ण पर तो वह भी शस्त्र नही उठाता, ज्ञात है दुर्योधन को। नित्य प्रात राशि राशि मणि माणिक और रजत-स्वण को अभ्यागतो म मुक्त हस्त वितरित करने वाल इस धम भीरु को भी इस कपटी कृष्ण म भगवान ही दिखाई पडत हैं। अजुन का कट्टर शत्रु होन के बाद भी आज तक एक भी अपशब्द नही चढा उसकी जिह्वा पर अजुन-सखा कृष्ण के लिए, बल्कि अनेक बार कृष्ण के लिए उसकी आखा म उमडते श्रद्धा भाव को भी देखा है दुर्योधन ने विवश और निरीह बना-सा। कर भी क्या सकता था वह जब सब पर अपनी माया का जाल फला रखा है इस मायावी ने?

न सही कृष्ण का विनाश पर अजुन के लिए तो काल ही था कण। कृष्ण ऐसे भी कहा युद्ध रत होने जा रहा था समर म? यह भी अच्छा ही है कि इसका सारा सैन्य-बल अपनी ओर आ गया है और वह मात्र अश्वा की वल्गा थामने पाण्डवो के पक्ष म जा मिला है। शस्त्र नही छूने की शपथ खा रखी है इसने भी। अब इसका आशीष कितना काम आन को पाण्डवो के? व्यर्थ ही भयग्रस्त हो रहा है वह इस सारथि को लकर। होगा वह किसी क लिए परब्रह्म परमेश्वर, निखिल ब्रह्माडपति? पडती होगी दिखाई इसमे कोई अलौकिकता पितामह की वूढी आखो को और जाह्नवी जल म पहर पहर तक खडे रहकर सूय को अर्घ्य अर्पित करने वाने कण के तथाकथित अन्तचक्षुओ को अथवा इन्ही की तरह के अनक धर्मान्धो को, पर मूख बनाना आसान नही है दुर्योधन को। कुछ नही कर सकता यह मायावी यदि मात्र अजुन और अजुन स रहित हो जाय पाण्डव-सेना। अजुन और भीम ही सदा से भय के कारण रहे है उसके। लाक्षागह मे पाण्डवा को जला मारन के षडयन्त्र म वह इन्ही दोनो से मुक्त होना चाहता था। द्यूत प्रेमी उस तथाकथित धमराज और निरीह नकुल सहदेव से वह कब कुछ भी भय ग्रस्त हुआ है? भीमसेन से निपट लेने को तो वह स्वय का ही पर्याप्त मानता है। वर्षों तक इस वृकोदर की लौह मूर्ति के साथ गदा युद्ध क अनवरत अभ्यास क पश्चात भीम इस अब अपराजेय नहीं लगता। पर यह अजुन? किसी नुकीले काटे की तरह वह वर्षों स उसकी छाती मे अडा पडा है यह। इस अवाछित काटे को निकाल फेंकने मे एक मात्र समथ वह अगराज कण तो युद्ध विरत हो किनारे पडा है। हाय कण! पता नही तुम्हारे नही रहने से यह युद्ध कितना लम्बा खिच जाय? कितना पश्चात्ताप हो रहा है उसे आज भीष्म के स्थान पर कण को ही सेनाध्यक्ष नहीं बनाकर? और क्या ठिकाना है कब तक अडे रहगे रणागण मे पितामह और कब तक वचित रहेगी कौरव सेना पराक्रमी कण के प्रताप प्रदशन से? स्वय नही मरें तो कौन मार सकता है इच्छा मृत्यु के वरदान से मडित इस

वद्ध पितामह को ? तो क्या इस युद्ध का परिणाम पहले से ही निर्धारित है— पाण्डवो की विजय और कौरवो की पराजय ? अजुन का अवध्य रहना और दुर्योधन का उमक अथवा किसी और पाण्डव वीर के हाथा ? 'नही, नहीं, ऐसा नही होगा।" दुर्योधन बडबडाया। कण को उतरना पडेगा रणागण म। भीष्म को स्थान बताना पडेगा उसके लिए। पाण्डव ही कितने दिनो तक झेल पायेंगे पितामह को ? काई उपाय निकालेंगे वे ही इनसे मुक्ति का। पर तब तक ? तब तक तो कण के बिना ही लडा जायगा यह युद्ध ? हाय कण, एक तुम्हार नही होन से दुर्योधन की इतने दिनो की यह योजना यो ही व्यथ सिद्ध होने जा रही है। क्या रखा है बिना-मन, बिना निष्ठा से लडे जा रहे युद्ध म ? जिस सना के सनाध्यक्ष का मन ही माया विद्ध होकर दो भागा म विभक्त हो, उस सेना को समर सागर के पार कौन ले जाएगा ? कितना चाहता है दुर्योधन कि इस प्रथम दिन के सग्राम म ही काम आ जाय पितामह और कण के सिर पर वह सेनापति का सेहरा बाध दे ? पर उसके चाहने मात्र से क्या होता है ? चाहा उसने क्या कुछ नही ? चाहा तो उसने भीम को विष देकर मार देना भी लाक्षागृह मे माता सहित पाण्डवो को जला मारना भरी सभा मे पाचाली को वस्त्र विहीन कर देना, द्यूत म उनका सवस्व-हरण कर उन्हे जगल-जगल भटका मारना और इस पर भी उनकी जिजीविषा नही शेष हुई तो तरहवें वष के अज्ञात वास मे उनका पता लगा उन्हे फिर अगले बारह वर्षों के लिए वनवासी बना देना। पर उसके चाहने मात्र मे क्या हुआ ? पता नहीं क्यो द्यूत के पाशो को उसक पक्ष म पडने के बावजूद भाग्य का पाशा उसके लिए सदा उलटा ही पडता रहा है। जिन पाण्डवो को वह चींटियो की तरह परो के नीचे ही मसल कर समाप्त कर देना चाहता था व सामने खडे हैं सात अक्षौहिणिया जुटाये और अजुन तथा भीम और ऊपर स इस तथाकथित द्वारिकापति को अपने पक्ष म मुकुट व मयूर-पख की तरह सजाए। और वह ? वह एक कण के बिना निराधार, हताश और भविष्य के प्रति शकाकुल। हाय कण ! तारो से सजे रात्रि आकाश म मात्र एक चाद क नही होने से राशि राशि नक्षत्रो का होना-न होना कितना व्यथ हो जाता है ? इस तथ्य को इस हत भाग्य दुर्योधन से अधिक कौन समय सकता है ? कण ! कण !! कण !!! काई अत नही था दुर्योधन की अन्तर्वेदना का ? जल से निकल सरिता कूल के सिक्ता-कणा पर तडपती एक बेबश मछली स अधिक नही पा रहा था दुर्योधन अपन को। उसके सपनो के शीशमहल को पितामह क मिथ्या आभिजात्य ने सदा सदा के लिए चूर चूर ही कर दिया था। कण के बिना इस महासमर रूपी महासमुद्र को पार करना पतवार रहित पोत से सागर पार करने की तरह ही था। दुर्योधन जानता था इसे पूरी तरह और इसीलिए उद्विग्न था वह, व्यथित। ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओ का सरक्षण प्राप्त कर भी असुरक्षित अव्यवस्थित असतुलित और भविष्य क प्रति शका एव अविश्वास स ग्रस्त। क्या ही अच्छा होता इस समय भी यह युद्ध टल जाता ! कण नही तो महाभारत क्या ? नही वश चलता उसका तो मुह ही मोड लेता वह इस युद्ध स इसी क्षण।

पाण्डवा की मना व निरीक्षण का निकल उद्धत दुर्योधन ने जब उनकी व्यूह रचना को प्राय अभेद्य और उनक सन्य-बल को अजय पाया ता वह घबरा कर वापस लौट आया। उसका अन्तर किसी तूफान आन्दालित सागर की तरह उद्वेलित हा रहा था। क्या करू क्या न करू का स्थिति म उसने सारथि को आचाय द्रोण के शिविर की आर रथ मोडने का आदश द दिया।

आचाय अपने कक्ष म चिन्ता मग्न थ। भावी युद्ध की भयानकताओ न उनके मन-मस्तिष्क को आक्रान्त और आन्दोलित कर रखा था। आखिर इस युद्ध म केवल पाण्डव-पक्ष के लोग ही तो सभावित मरण के आखेट होन वाल नही थे। उनके अपन अत्यन्त प्रियजन-स्वजन भी तो इस विनाशकारी समर-यज्ञ की आहुतिया बनने को प्रस्तुत थे। और तो-और उनका एकमात्र प्रिय पुत्र समस्त ज्ञान विज्ञान और दशन का प्रकाण्ड पण्डित अश्वत्थामा भी ता किसी विल्व फल की तरह अपने मस्तक को अपनी अजलि म लिए कौरवा की ओर से समर-हेतु सन्नद्ध हो गया था। वे इस युद्धाग्नि म स्वाहा हा गए तो कोई बात नहो जीवन के असख्य उत्थान-पतन, अवदान उपदान देख चुक थे व पर यह उनका हृत्खड आत्मज अश्वत्थामा? उसने कहा कुछ दखा था इस वभव सम्पन्न धरती की विपुलता को इसकी प्राकृतिक सुषमा और श्री सौन्दय तक को भी? आसतु हिमाचल विस्तृत इस आकषक आयभूमि का कितना कुछ अनदखा अनछुआ शेप था उसके लिए? अगर ईश्वर न करें वह इस महासमर मे काम आ गया तो ।

गुरु द्रोण इस विचार के नाते ही सहसा इतने व्यथित और व्याकुल हो गए कि उन्ह अपन ऊपर ही ग्लानि होन लगा। क्या कुरुक्षेत्र के इस विस्तृत प्रागण म मत्यु का जो महा नतन होने जा रहा था उसक मूल म उनकी भूमिका सर्वाधिक नही थी? क्या दुर्योधन को दुर्दान्त बनाने म उनका हाथ कुछ भी नही था— उसक अहम की अग्नि का हवा देने म, उसको उपन ध उनके प्रत्यक्ष समथन और समय-समय पर उसके शौय-वीय की प्रशसा का कोई महत्त्व नही था। महज क्षुधा-पूर्ति के लिए ही क्या आजीवन दारिद्र्य के दश झेलन को अभिशप्त व, हस्तिनापुर क इस राजकुमार की शरण म जान का बाध्य हुए थे? नही महज भूख की पुकार नही थी वह जिसने उन्ह कौरवो का पक्षधर बनन को बाध्य किया था सारी अनीति अन्याय और असम्य अत्याचारो की ओर स आखें मोड लेने को विवश किया था। उन्हे आज भी स्मरण है इतिहास-पृष्ठा म काल अक्षरो म अकित हो गई वह घटना जिसम एक वस्त्रा पाचाली का पूणतया नग्न करने के प्रयास मे रत दु शासन को सभी कौरव बन्धु तालिया बजा बजाकर उत्साहित कर रहे थ—केवल एक उस कौरव विकण को छोडकर। क्या इस समुपस्थित समर के लिए अन्तिम आह्वान नही थी वह लज्जा का भी लजा देने वाली घटना? यदि नही तो उसी क्षण और उसी जगह सहस्र गजो की शक्ति स सम्पन्न उस पाण्डु-पुत्र भयानक भीम न कस सावजनिक रूप म उद्घोपित कर दिया था— एक दिन दु शासन के वक्ष रक्त से ही पाचाली के केशा का सीचने के प्रण के साथ साथ दुधप दुर्योधन क उरुओ (जघाओ) को गदा प्रहार स भग करने की बात को? क्यो नही तब भी जगी थी आचाय की सुपुप्त चेतना? अगर द्रौपदी की

व्यथा-पूर्ण आह्वान, उसके अनुनय विनय और लज्जा रक्षार्थ उसके करुण क्रन्दन ने भी अन्य कौरव-वीरों की तरह इनके कर्ण रन्ध्रों में भी प्रवेश से इन्कार कर दिया था तो भीम के स्वर में प्रकट होते काल-देवता के स्पष्ट इंगित को समझने में भी कैसे प्रमाद कर गए थे वे ? क्यों नहीं सोच पाये थे व कि एक विवश नारी का यह अकल्पनीय अपमान उस महान् समराग्नि को सुलगाने जा रहा था जिसकी आहुति वे भी बन सकते थे और उनका एक-मात्र सुत अश्वत्थामा भी ?

अश्वत्थामा, मेरे प्रिय अश्वत्थामन् ! आखिर इसमें तुम्हारा अपराध ही कितना है, तुम तो निरपराध ही मृत्यु मुख की ओर चरण बढ़ाने को बाध्य कर दिए गए हो ? पर नहीं नहीं होगा इनके पुत्र के प्राणों का असमय अवसान इस नरमेध में, उनके आजीवन की तपस्या उनके अंश, उनके सुत को बचा लेने में अवश्य सक्षम होगी, भले ही उनकी जर्जर वृद्ध काया अर्जुन के शरों का आखेट हो जाए ।

चिन्ता, चिन्ता और चिन्ता, गुरु द्रोण की चिन्ता का कोई अन्त नहीं था। सहसा उनकी चिन्तनधारा स्व की परिधि को अतिक्रमित कर गई, अब वह मात्र उनके और उनके पुत्र के जीवन-मरण से सम्बद्ध नहीं रही व्यष्टि नहीं समष्टि की चिन्ता ने उन्हें आ घेरा। वे चाहते तो यह समर रुक जाता जो केवल उनके और उनके पुत्र के लिए ही काल बनकर उपस्थित नहीं हुआ था बल्कि जिसकी सर्वग्रासी क्षुधा के ग्रास लक्ष-लक्ष निर्दोष और निरपराध होने जा रहे थे आखिर जिन लोगों के भरोसे दुर्योधन ने इस युद्ध का आह्वान किया था उनमें उनका ही तो नाम शीर्ष पर था ? गुरु थे वह शस्त्र-गुरु पाण्डवों और कौरवों दोनों के। उनसे बड़ा शस्त्रज्ञ, अस्त्रज्ञ, धनुर्धारी कौन था इस धरती पर ? वह अपनी असहमति का स्वर ऊंचा करते तो दुर्योधन को शत सहस्र बार सोचना पड़ता समरांगण में उतरने के लिए प्रस्तुत होने के पूर्व। स्वार्थ स्वार्थ और भोग, राजसी सुखों का मुक्त भोग बरगद के विशाल वृक्ष की छाया की तरह आश्वस्ति-पूर्ण राज्याश्रय। इन्हीं सबों ने तो मलीन किया था उनके विवेक को वरना जिस अर्जुन के लिए उन्होंने एकलव्य का अंगूठा मांग लेने की अमानुषिकता तक का प्रदर्शन कर विशुद्ध गुरु शिष्य परम्परा को सदा के लिए कलंकित कर दिया था, उसी अपने प्रिय शिष्य के विरुद्ध समर में उतरने को प्रस्तुत होते वे ?

कोई अन्त नहीं था द्रोणाचार्य की चिन्ता का कि तभी रथ चक्रों का स्वर उनके कानों में पड़ा। पहचाने हुए थे ये स्वर। द्रोण सतर्क हो गए। हस्तिनापुर का राजकुमार उनका भावी सम्राट आ रहा था उनके शिविर की ओर। पर क्यों ? किसलिए ? अब जब दोनों ओर की अक्षौहिणियां एक दूसरे पर टूट पड़ने को तैयार हैं और पितामह का सेनापति के रूप में अभिषेक हो चुका है और स्वयं वह भी शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रणांगण में जाने को प्रस्तुत हैं राजकुमार के इधर आने का प्रयोजन ?

दुर्योधन ने आते ही आचार्य के चरणों में प्रणिपात किया। आचार्य ने उसे उठाकर अंक से लगाया और मुख से कुछ नहीं बोलकर आंखों में ही प्रश्न भरा—'इस असमय तुम यहां ?'

दुर्योधन आचाय के इगित को समझ गया और अत्यन्त विनम्रता से मस्तक झुकाकर बोला—'गुरुप्रवर! पाण्डवो की इस महती सेना को देखने की कृपा करें जो आप ही के शिष्य, विद्वान द्रुपद पुत्र (धृष्टद्युम्न) के द्वारा व्यूहाकार की गई है।

आचाय शिविर से बाहर आये। उन्होंने पाण्डवो और कौरवा दोना की सेना पर दृष्टिपात किया। आचाय को कौरवा के व्यूह म अपने लिए निर्धारित स्थान पर स्थारुढ हो उपस्थित हो जाना था पर इधर दुर्योधन था कि अनावश्यक भय का शिकार हो रहा था। पाण्डवा के बराबर के सदृश सैन्य-बल के समक्ष कौरवो को सागर की तरह तरगायित सेना को अवलोकन कर दुर्योधन को तो उत्साह पूरित होना चाहिए था, वह हताशा का आखेट बन हो गया? भला सात अक्षौहिणिया और ग्यारह अक्षौहिणिया म कोई तुलना थी? दूनी से थोडी ही तो न्यून थी कौरवा की सैन्य शक्ति।

'इस युद्ध म भीम और अर्जुन के सदृश पराक्रम प्रदर्शित करने वाले महान धनुर्धर है जैसे युयुधान विराट और द्रुपद की तरह के महारथी दुर्योधन, निम्मन्देह भयाक्रान्त दुर्योधन अपनी रौ म बोलता जा रहा था, 'इनम धृष्टकेतु है चेकितान है, बलशाली काशिराज है पुरुजित है कुन्ति भोज है और शैल्य आदि ये नरपुगव हैं।

विक्रान्त युद्धाम यु है बलवीययुक्त उत्तमौजा है, सुभद्रा का पुत्र (अभिमन्यु) है और हैं द्रौपदी के सभी पुत्र। ये सब महारथी है।'

द्रोण हत प्रभ हुए। पाण्डवा से अनावश्यक रूप से भयभीत यह उद्दड और उद्धत हम लोगो के शौय-वीय की उपेक्षा ही कर जायेगा क्या? अधे महाराज की तरह इस मदान्ध किन्तु अभी भय कातर इस कुमार को मैं नही दिखाई पड रहा तो नही पड रहा क्या बालब्रह्मचारी शस्त्रज्ञो म श्रेष्ठतम कुरु-श्रेष्ठ पितामह की उपस्थिति भी इसे आश्वस्ति नहीं दे पा रही?

तभी दुर्योधन म कुछ धय का सचार हुआ। शायद यह पाश्व म ही विराज मान आचाय के फलस्वरूप ही हो और कौरव दल की ओर दृष्टिपात करते हुए वह मन्द स्वर म बोल पडा, 'द्विज श्रेष्ठ! हमारी ओर के भी जो विशिष्ट जन हैं, उन्हें भी आप जान लें। अपने सैन्य-नायको का नाम मैं आपके अभिज्ञान के लिए प्रकट कर रहा हू। इनम आप हैं पितामह भीष्म हैं कण है और युद्ध विजयी कृपाचाय हैं। अश्वत्थामा है विकण है तथा सोमदत्त का पुत्र भी विद्यमान है।'

अश्वत्थामा का नाम सुनकर आचाय का मुख विवण हो आया कि दुर्योधन पुन शुरू हो गया, 'इनके अलावा मेरे लिए अपने प्राणो को भी उत्सग करने वाले और बहुत-से शूर वीर है ये सभी अनेक प्रकार के शस्त्रा के सचालन म निपुण है और सभी युद्धविशारद है।

तब तो यह व्यथ ही चिन्तित हो रहा है एक क्षण को आचाय द्रोण ने सोचा पर दूसरे ही क्षण दुर्योधन का भय पुन उसके स्वर पर चढ आया, "भीष्म द्वारा अभिरक्षित हमारा यह सैन्य-बल फिर भी अपर्याप्त है और भीम द्वारा रक्षित इनका बल पर्याप्त। अत, यह आवश्यक है कि सभी युद्ध वीथिया मे अपने अपने स्थान पर अवस्थित हो आप लोग सब ओर से भीष्म की ही रक्षा करें।'

बातें करते करते दोना भीष्म के समीप ही आरक्षित द्रोण के स्थान तक पहुच गए थे और शायद भीष्म ने दुर्योधन की अन्तिम बात सुन भी ली थी। उन्हे

दुर्योधन के भयातुर होने की बात बुरी लगी थी और उस प्रतापी कुरु-वृद्ध ने दुर्योधन के हृदय को हर्ष-पूरित करने के लिए सिंह के सदृश गर्जना कर शंख ध्वनि की थी।

फिर तो जैसे वाद्यों में होड़ सी लग गई।

सहसा शंख बजने लगे, रणभेरियाँ बजने लगीं, ढोल बजने लगे, गोमुख बजने लगे और चारों ओर एक तुमुल कोलाहल व्याप्त हो गया।

द्रोण ने देखा, उसी समय धवल अश्वों से युक्त एक महान रथ में आसीन श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी दिव्य शंख बजाए।

श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य शंख बजाया तो अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख फूंका। भीमकर्मा वृकोदर भीम भी कहाँ चूकने वाले थे, उन्होंने पौंड्र नामक शंख में ध्वनि की।

कुन्ती-सुत राजा युधिष्ठिर ने अनन्त विजय नामक शंख बजाया तो नकुल ने सुघोष नामक और सहदेव ने मणिपुष्पक नामक। परमधनुर्धर काशिराज ने महारथी शिखण्डी ने, धृष्टद्युम्न ने, विराट ने, कभी न पराजित होने वाले सात्यकि ने, राजा द्रुपद ने, द्रौपदी के सभी पुत्रों ने, महाबाहु अभिमन्यु आदि सभी ने अलग अलग शंख ध्वनि की।

नभ और पृथ्वी के अंतराल को भर देने वाले इस तुमुल निनाद ने धृतराष्ट्र पुत्रों के हृदयों को ही जैसे विदीर्ण कर दिया।

इसी समय एक अकल्पनीय और अद्भुत घटना घटी।

कपिध्वज अर्जुन ने जब देखा कि सभी धृतराष्ट्र वीर व्यवस्थित हो गए तो शस्त्रास्त्रों के छूटने के उस काल में उसने अपने धनुष को उठाकर श्रीकृष्ण से कहा, 'हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य खड़ा करो। युद्ध की कामना से उपस्थित इन लोगों को मैं जरा देखूं कि अंतत: इस उपस्थित युद्ध में मुझे किन किन लोगों से रण रत होना है। दुर्बुद्धि धृतराष्ट्र पुत्रों के शुभेच्छु जो युद्ध कामी यहाँ एकत्रित हुए हैं उन्हें मैं जरा अवलोकित करता हूं।

अर्जुन की इस बात को सुनकर श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के मध्य भीष्म और स्वयं द्रोण तथा सभी राजाओं के सम्मुख अपने श्रेष्ठ रथ को खड़ा कर कहा 'अर्जुन! देख लो सभी कुरुओं को एक साथ।

अर्जुन ने वहाँ अपने पिताओं (पिता-तुल्यों) को देखा, पितामहों को देखा, आचार्यों को देखा, मामाओं को देखा, भाइयों को, पुत्रों और पौत्रों को देखा तथा मित्रों, श्वसुरों, सुहृदों को भी अवलोकित किया।

वहाँ स्थित सभी बंधु-बांधवों को देखकर अपार करुणा से अभिभूत हो विपन्न कुन्ती सुत अर्जुन बोल पड़ा, युद्ध कामी अपने स्वजनों को यहाँ उपस्थित देख, कृष्ण! मेरे शरीर के अंग कांपने लगे हैं, मेरा मुख सूखने लगा है, शरीर डोलायमान हो गया है तथा रोम कंटकित हो रहे हैं।

हाथ में गाण्डीव छूटा जा रहा है, त्वचा में भी जलन हो रही है। मैं तो खड़ा भी नहीं रह सकता हूं। मेरा मन भ्रमित हो रहा है। हे केशव! मैं सभी परिणामों को मैं विपरीत ही देख रहा हूं। युद्ध में अपने ही लोगों का वध कर मैं कोई कल्याणकारी परिणामों को नहीं देख पा रहा।

हे कृष्ण! मुझे न तो विजय की इच्छा है, न राज्य की, न सुखों की। हे

गोविन्द ! उस राज्य, उन भोगो अथवा कहो तो इस जीवनधारणा से ही हम क्या लेना-देना है ?

'जिनके लिए हम राज्य चाहिए भोग चाहिए सुख चाहिए वे तो अपने धन और प्राणो तक को ताक पर रख यहां इस युद्ध म खड़े है। आचार्य जन हैं यहां पितृतुल्य लोग हैं पुत्र हैं पौत्र है श्याला है तथा अन्य सम्बन्धी हैं।

हे मधुसूदन ! मैं अपने मारे जाने के मूल्य पर भी इन्हे मारना नही चाहता। तीनो लोको के राज्य के लिए भी नही इस पृथ्वी की तो बात ही क्या ?

'इन धृतराष्ट्र-पुत्रो का बध कर हम कौन सी प्रसन्नता होगी जनार्दन ? इन आततायियो को मार कर तो हम पाप ही लगेगा।

अत, माधव ! अपने ही बन्धुओ धृतराष्ट्र-पुत्रो को मारना हमारे लिए उचित नही। भला अपने ही स्वजनो की हत्या कर हम कैसे सुखी हो सकते हैं ?

'यद्यपि लोभ से जिनकी चेतना ग्रस्त हो गई है ऐसे ये लोग कुलनाश के दोष और मित्रद्रोह-जनित पाप को नही देख पा रहे हैं किन्तु कुलक्षयकृत दोष को जानते हुए भी हम इस पाप से निवृत्ति का उपाय क्यो नही सोचें ?

अर्जुन के शान्त होने का कोई लक्षण ही नही दृष्टिगोचर हो रहा था वह बोला तो बोलता ही गया। श्रीकृष्ण को मुह खोलने का उसने अवसर ही नही प्रदान किया। मानो धर्म अधर्म के सम्पूर्ण विवेचन पर, विश्व ब्रह्माण्ड के सारे ज्ञान पर उसका ही एकछत्र अधिकार हो। इस आगत युद्ध म उसे अपने सम्पूर्ण वंश का विनाश स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा था। उसे लग रहा था कौरव तो कौरव पाण्डवो म भी शायद ही कोई बचने वाला था, अत कुल-समाप्ति की आशंका उसके समक्ष अपनी सम्पूर्ण भयावहता म खड़ी थी।

'कुल के क्षय से सदा से आते कुल धर्म नष्ट हो जाते हैं अर्जुन आगे बोला 'और धर्म के नष्ट होने पर सम्पूर्ण कुल को अधर्म घेर दबाता है। अधर्म की प्रधानता से हे कृष्ण कुल की ललनाएं प्रदूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय ! स्त्रियो के इस पतन से वर्णसंकर सन्तान की उत्पत्ति होती है। कुलघातियो के कुल को यह वर्णसंकर नरक म पहुचाता है। साथ ही पिंड-पानी आदि के दान की समाप्ति से इनके पितर भी पतन को प्राप्त करते हैं।

अर्जुन की आशंका का अन्त नही था। वर्णसंकरो की उत्पत्ति की संभावना से व्यथित वह बोलता गया 'कुलघातियो के इन वर्ण-संकरकारक दोषो से शाश्वत जातिधर्म और कुल धर्म दोनो समाप्त हो जाते हैं और जनार्दन ! मैंने तो यह भी सुना है कि जिनके कुल धर्म समाप्त हो गए है ऐसे मनुष्य सदा नरक म ही वास करने को विवश होते हैं।

अर्जुन अन्तत अपने को रोक नही सका और स्पष्ट शब्दो म उसने कृष्ण से निवेदित कर ही दिया 'अरे हमसे कितना पाप बनने जा रहा था कि हम राज्य-सुख के लोभ से अपने ही स्वजनो की हत्या को उद्यत थे। मैं तो अब इस युद्ध का भागी नही ही बनूगा और न हाथो म शस्त्र ही धारण करूगा। ऐसे मुझको अगर ये शस्त्रधारी धृतराष्ट्र पुत्र लड़ाई म मार भी देते हैं तो मैं इसे अपने लिए क्षेमकारी ही मानूगा।

अर्जुन ने केवल कहा ही नही। अपने कथन को क्रिया के स्तर पर भी उतारा

और उपर्युक्त कथन के पश्चात, शोकग्रस्त मन से युक्त वह, धनुष-वाण का त्याग कर उस सग्राम मे अपने रथ के पिछले भाग म जा बठा।

उनहत्तर

अजुन के इस आकस्मिक व्यवहार पर जहा पाण्डव सेना म इस छोर स लेकर उस छोर तक भय आशका और निराशा का वातावरण व्याप्त हो गया वही कौरव सेना म आनन्द और उत्साह की लहर जग आई। बात, बात की बात म दोनो पक्षो म व्याप्त हो गई।

भीष्म पितामह सिहनाद कर और लम्बी खीची शख ध्वनि द्वारा युद्धारम्भ की घोषणा कर चुके थे। इस ओर से भी उत्साह म आ पाण्डव महारथियो ने शख ध्वनि की थी। जिस समय भीम न अपना विशाल 'पौड्र' शख फूका था तो धमराज ने अपने 'अनन्त विजय' शख म फूक मारी थी। अनुज नकुल और सहदेव न भी युद्ध के लिए अपने को सन्नद्ध करते हुए सुघोष और मणि पुष्पक' शखो की ध्वनि की थी। उस समय तो पाथ का उत्साह देखने योग्य था कृष्ण सोच रहे थे पर सहसा जसे स्वच्छ आकाश म विचरते सूय को किसी ओर से आकर मेघ का कोई मलिन खण्ड ढक ले उसी तरह अकस्मात उत्पन्न हुए उनके मोह न ही यह दारुण स्थिति पदा कर दी थी।

धमराज और अन्य योद्धा जहा अजुन को गाडीव फेंकते देख हताशा से भर एक दूसरे से परामश म लीन हो गए थे वही दुर्योधन प्रसन्नता से भर पितामह के पास पहुचा था और उनके श्रवणो के पास मुख ले जाकर बोला था— यही समय है तात! रथ म विपण्ण पडे उस अहकारी पृथा पुत्र का सिर आप एक अद्ध चन्द्र वाण स ही इसी क्षण विच्छिन्न कर दें। लडाइ अभी समाप्त हुई जाती है। रह गया वह पेटू भीम तो मैं उसको गदा के एक ही प्रहार से ।

"चुप करो। दुर्योधन अभी अपनी बात पूरी भी नही कर पाया था कि पितामह खिन्न हो बोल पडे थे, ' सच्चे योद्धा नि शस्त्रो पर प्रहार नही करत। फिर अभी तो युद्ध आरम्भ भी नही हुआ है। पता नही कौन सी बात पाथ और श्रीकृष्ण के मध्य आ पडी है। हम प्रतीक्षा करेंगे। युद्ध के नियमो की अवहेलना उसके आरम्भ म ही कर मैं इतिहास के पृष्ठो को कलकित करने को प्रस्तुत नही।

'भाड म जाय आपका आदश। दुर्योधन मन-ही मन बडबडाया था। आज कण का न होना उसे कितना कितना तो खल रहा था। अगर वह अगराज इस कुन्द मस्तिष्क वद्ध के स्थान पर होता तो महाभारत अभी का अभी समाप्त हो जाता इसी क्षण।

उधर श्रीकृष्ण न अश्वो की वल्गाओ को रथ दण्ड से बाधा ताकि वे अनियत्रित न हो और हाथ के प्रतोद को एक किनारे रख रथ क पिछले भाग म बठ प्रथा पुत्र के पास जा पहुचे। उसके स्वेद सिक्त हाथो को उठाते अपने कमनीय करा म थामा था और बोल पडे थे— 'आज तो बहुत बडी-बडी बातें सूझ रही हैं। नही ?

"कैसी बडी बात ?" कुरुक्षेत्र के विस्तत मैदान पर जमे चमचमात रथा, विशाल गजा, अश्वारोहियो और पदातिया पर एक उडती दृष्टि डाल वह खिन मन बोला था।

यही धम अधम, पाप-पुण्य की बात और क्या ? याद्धा स सहसा दाशनिक बन आए आज। मैंने समझा गुरु द्राण न शस्त्रास्त्र सचालन की कला म ही निपुण किया तुम्ह पर जिस दशन का रणागण म किसी वद्ध व्याघ्र की तरह अडे आचाय को भी शायद पता नही वह तुम पर हावी हो गया, आश्चय है!"

अगर गुरुजन गलत रास्त पर जाए ता हम भी वही माग अपनाना चाहिए क्या ? जन-सहार और कुल-नाश अपितु साक्षात मत्यु के इस महाताण्डव की बात उनकी समझ म नही आ रही जनादन तो क्या हम भी नत्र रहत नत्र-हीन हो जाए ? विवकपूण होन हुए भी विवकशून्य हो जाए ? नही नही, इस महासमर का टालो गापाल! मत्यु के साक्षात मुख म जात इन निरीह रथियो अतिरथियो और महारथिया का रोका। इन अठारह अक्षौहिणिया की इस युद्ध-यज्ञ की आहुति नही हान दो। तुम चाहो ता सब हो सकता है। पर तुम कब चाहन लग ? एक बार पर आग बढाकर पीछे लौटना सीखा कब तुमन ? चलत रहना, सदा चलत रहना तो तुम्हारा जीवन-दशन रहा। जहा स जाय वहा पलट कर भी नही दखा। वन्दावन स मथुरा, मथुरा स द्वारिका और द्वारिका स पता नही कब कहा चल दोग ? पर तुम जो चाह करो, अग्रज धमराज और पितामह भीष्म को चाहे जो पसन्द हो करें पर पथा पुत्र अजुन मत्यु के नतन का न तो साक्षी बन सकता है न निमित्त ।

किसी न नीलमणि पर पडती सूरज की पहली किरणा को दखा है अथवा नील कमल का सहलाती प्रात की रवि रश्मियो को अथवा नील क्षितिज पर हौले-हौले पसरती पहली लाली का ? कसी अद्भुत दिखती है तब वह नीलमणि, कैसी अनुपम आभा बिखरता है तब वह नीलोत्पल कसा मोहक लगता है तब पूरब का वह क्षितिज ? सब कुछ अलौकिक स्वर्गीय अपार्थिव और कल्पित। नही ? कुछ एसी ही, नही उससे भी शत सहस्र शायद अनन्त-गुना अधिक आकषक, मोहक मारक छवि उभरी था श्रीकृष्ण के मुख कमल पर उस समय कुरुक्षेत्र के उस समरागण म। अजुन का कायरतापूण, अनगल, अथहीन प्रलाप उनक मुख पर एक हलकी मुसकान जा बिखर गया था। धम अधम पाप पुण्य की बात कर रहा था वह पथा पुत्र जिसन इसी घडी के लिए जीवन भर साधना की थी, असख्य दिव्यास्त्र सजाय थे घार तपश्चर्या और साधना द्वारा। धम की बात कर रहा था वह—कुल धम की—जो स्वय अपना क्षात्र धम ही विस्मृत कर बठा था। पितरो के पिण्ड-दान के विलुप्त होन की बात कर रहा था वह पाथ जिसे पता था कि उनके कापुरुषत्व, उसकी कायरता का अभी निशप नही किया जाए तो दुर्योधन की आर स लडी ग्यारह अक्षोहिणिया पाडव-कुल म एक व्यक्ति भी नही छोडेंगी उसके पितरो को अजलि भर जल दान के लिए भी। कुलनाओ के भ्रष्ट होन की बात कर रहा है यह कुन्ती पुत्र जिसके समक्ष सारे पाडवो के जीते-जी इसकी स्वय की पत्नी पाचाली को नग्न करा दुर्योधन अपने अनावत्त जघा पर बठान को व्यग्र था।

अब और कोई उपाय शेष नहीं है, श्रीकृष्ण ने सोचा सिवा इसके कि शस्त्रास्त्र त्याग कर रथ के पिछले भाग में जा बैठे इस तथाकथित वीर को जीवन का सही दर्शन समझाया जाए। धर्म अधर्म और कर्म अकर्म की वास्तविक प्रकृति से इसका परिचय करा कर इसे युद्ध के लिए उद्यत किया जाए वरना जैसे जलप्लावन-सा दृश्य उत्पन्न करने वाली नदी की आकस्मिक-असामयिक बाढ़ कृषि क्षेत्रों को डुबो कर कृषकों के सारे श्रम पर पानी फेर जाती है, उसी तरह इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर जब रण वाद्य बज उठे हैं, इस गांडीवधारी पार्थ का अनावश्यक मोह पांडवों के भविष्य को सदा सदा के लिए समाप्त कर जाएगा।

ऐसा सोचकर श्रीकृष्ण ने दया के वशीभूत हो आये आंखों में अश्रु भरे और विषाद ग्रस्त हुए अर्जुन से कहा, 'अर्जुन इस विषम घड़ी में तुम्हें इस अकीर्तिकर और आर्यों के लिए अनुचित कलंक ने कहां से आ घेरा? यह तो स्वर्ग के मार्ग का भी बाधक है।"

इतना कहकर ही कृष्ण शांत नहीं हुए। उन्हें नहीं कहने योग्य बात भी कहनी पड़ी। अर्जुन को सम्बोधित कर उन्होंने स्पष्ट कहा 'पृथा-पुत्र तुम नपुंसकत्व को कैसे प्राप्त हो रहे हो? यह क्या तुम्हारे लिए उचित है? हे परंतप! तुम हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता का त्याग कर उठ खड़े होओ।

किन्तु कृष्ण की इतनी भी बात से अर्जुन संतुष्ट कहां होने वाला था? उस ओर नहीं तो सामने डटे गुरुजनों पर शस्त्रास्त्र उठाने की बात तो बड़ी कष्टदायक दुस्सह लग रही थी।

उसने श्रीकृष्ण से स्पष्ट पूछा, मधुसूदन, अरिमर्दन जरा यह तो स्पष्ट करना कि जो पूजा के अधिकारी हमारे भीष्म और द्रोण हैं उन पर मैं संग्राम में शरों का प्रहार कैसे करूंगा?

मैं एक बात कहूं? अर्जुन आगे बोला, मेरा तो विश्वास है कि महानात्मा गुरुजनों की हत्या करने से अच्छा तो इस संसार में भिक्षान्न पर जीवन व्यतीत कर देना अधिक अच्छा है। अर्थलोलुप गुरुओं की भी हत्या करना रक्त-सना भोगों का ही ग्रहण करना है।

अर्जुन बोलता गया यह मैं समझ ही नहीं पाता कि हमारे लिए क्या उचित अथवा श्रेष्ठ है यह भी नहीं कि वे विजय-श्री का वरण करेंगे कि हम। जिनको मारकर हम जीवित रहने की भी इच्छा नहीं रखते वे धृतराष्ट्र-सुत हमारे सामने खड़े हैं।'

अन्ततः अर्जुन को अपनी दुर्बलता स्वीकारनी पड़ी और वह बोला कायरता के दोष से ग्रसित प्रकृति वाला मैं (सच पूछिए तो) धर्म के विषय में विमूढ़ चित्त हो गया हूं। अब मैं आपकी शरण में हूं अपने को आपका शिष्य समझता हूं इस लिए मुझे ज्ञान-ध्यान दीजिए और मेरे लिए जो उचित हो वही निश्चय करके बताइए। निष्कंटक और समृद्ध भूमि का राज्य तो राज्य देवताओं पर अधिकार प्राप्त कर भी मैं अपनी इंद्रियों को व्यथित करने वाले शोक से मुक्त होने का कोई उपाय नहीं देख रहा।

इसके पश्चात तो अर्जुन ने हद ही दी। ऊपर की सारी बातों को कृष्ण से

कहने के पश्चात उसने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि 'मैं युद्ध नहीं करूंगा" और फिर चुप बैठ गया।

श्रीकृष्ण फिर हंसे और दोनों सेनाओं के मध्य विपन्न-से खडे अर्जुन से बोले—

"नहीं सोचने योग्य बातों को तो तुम सोचते हो और उधर पांडित्य पूर्ण बातें भी करते हो। जिनके प्राण चले गए हैं अर्थात् जो गत प्राण हो गए हैं और जिनके प्राण नहीं गए हैं उन सबों में से किसी के सम्बन्ध में बुद्धिमान् शोक नहीं करते।

"तुम क्या सोचते हो हम और तुम पहले-पहल इस धरती पर आये हैं ? सच बात तो यह है कि न तो तुम, न मैं और न ये नृप गण इसके पूर्व कभी नहीं थे और यह भी नहीं कि इसके बाद भी हम सब नहीं होंगे।

'आत्मा के निवास-स्थल शरीर को जैसे कौमार्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था प्राप्त होती है, वैसे ही मृत्यु के पश्चात् उसे अन्य देह प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में बुद्धिमान् व्यक्ति इस मृत्यु के भय से अनावश्यक रूप से भयभीत नहीं होता।

श्रीकृष्ण समझते थे कि अर्जुन के मन में मृत्यु का भय भर गया है—यह मृत्यु स्वजनों की हो या परजनों की। इसीलिए वह द्रोण भीष्म एवं अन्य परिजनों आदि की मृत्यु की दुहाई देकर युद्ध विमुख होना चाहता था। श्रीकृष्ण मृत्यु के इस अनावश्यक भय को पूरी तरह उसके अन्दर से निकाल देना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने विभिन्न उपमा उपमानों एवं दृष्टान्तों का सहारा लेना आवश्यक समझा जिससे अर्जुन मृत्यु की व्यर्थता के प्रति पूर्णतया आश्वस्त हो जाए। मृत्यु सामान्य जन के लिए निश्चय ही दुःख का कारण है। दुःख और चिन्ता का कारण है। विश्व का सबसे बडा दुःख है यह, अतः मृत्यु के साथ साथ अन्य दुःखों और चिन्ताओं से भी अपने शिष्य को मुक्त करने हेतु वे कटिबद्ध थे। दुःख अथवा सुख का नाम अक्सर इन्द्रियों से होता है, अतः श्रीकृष्ण ने यहीं पर उनके सम्बन्ध में कुछ कह देना आवश्यक समझा और वे बोले—

कौन्तेय ! इन्द्रियों और इन्द्रियों के विषय ही शीत ताप तथा सुख-दुःख के कारण हैं। ये सब अर्थात् सुख दुःख, आने जाने वाले अर्थात् अनित्य हैं अतः तुम इनकी चिन्ता नहीं करो।'

अर्जुन चकराया। इन्द्रियों की बात तो समझ में आती है। आंख, कान, नासिका, जिह्वा आदि ये सब इन्द्रियां हैं। सुख दुःख भी माना आने-जाने वाली चीज है पर यह इन्द्रियों का विषय ? इससे क्या तात्पर्य है श्रीकृष्ण का। वह उत्सुक हुआ तो श्रीकृष्ण बोल उठे—

'इन्द्रियों का विषय नहीं समझे ? इन्द्रियों का विषय अर्थात इन्द्रियों का सुख अथवा दुःख प्रदान करने वाली वस्तुएं। एक दो उदाहरण लो। आंख एक महत्त्वपूर्ण इन्द्रिय है पर इसका विषय क्या है ? रूप। यदि आंख किसी सुन्दर दृश्य को देखती है तो उसे सुख प्राप्त होता है लेकिन वह कोई कुरूप विद्रूप वस्तु देख ले कोई दुर्घटना उसके समक्ष घट जाए तो उसे निश्चय ही दुःख होगा। उसी तरह कान को प्रशंसा अच्छी लगती है, संगीत उसके लिए प्रिय हो सकता है पर निन्दा, कटु अथवा कर्कश स्वर उन्हें दुःख पहुंचाएंगे न ? तो आंख का विषय रूप हुआ, कान का स्वर नाक की गन्ध त्वचा का स्पर्श जिह्वा का स्वाद। इसी तरह अन्य

इंद्रियो और उनके विषयो की बात समझो। इनके द्वारा प्राप्त सुख दु ख की बात भी तो समझ गए ? मैंने कहा ये सुख दु ख आने-जाने वाली वस्तुए है। वसत मे तुम्हारी त्वचा को सुख मिल सकता है लेकिन यह सुख, यह शीतलता, ग्रीष्म के आने के साथ ही समाप्त हो जाती है पर ग्रीष्म की यह उष्णता भी तो जाकर रहती है। इसीलिए कहा कि सुख-दु ख ताप शीत आदि इंद्रिय और उनके विषयो के सयोग का परिणाम है। ये अस्थायी है क्षणभगुर हैं अत, दु ख-सुख की चिंता ही क्या करो ?'

"बोलो, अब तो मेरी बात स्पष्ट हुई ? श्रीकृष्ण ने पूछा।

"अवश्य।' अर्जुन का उत्तर था।

'अब आगे बढू ?

'बढो।"

पुरुष श्रेष्ठ अर्जुन ! जिनको ये इंद्रिय जनित सुख-दु ख व्यथित नहीं करते और जो सुख-दु ख मे सम रहते है वे ही अमरत्व को प्राप्त कर सकते है।'

यह अमरत्व की बात किधर से आ गई ? अर्जुन ने कुछ नहीं समझ कर पूछा।

'वह इसलिए कि अमरत्व की अभिलाषा तो मनुष्य मात्र की सबसे बडी आकाक्षा है। व्यक्ति मर कर भी लोगो की स्मृति मे जीवित रहना चाहता है। और साथ ही यह भी कि इंद्रियो और उनके विषयो पर नियन्त्रण ही मनुष्य को अमरता के राज-पथ पर अग्रसर कर सकता है वरना किनारो के खाई-खदको मे गिरने की सभावनाए कुछ कम नहीं हैं।

अब कहो तो उस मृत्यु और विनाश वाली बात पर पुन आऊ ? श्रीकृष्ण को ज्ञात था कि मृत्यु के भय को उसके अन्दर से दूर करने मे अभी वह पूरी तरह सफल नहीं हुए है।

'अवश्य।

'जो असत् अर्थात अयथार्थ है उसका तो अस्तित्व है नहीं और जो सत है अर्थात यथार्थ है उसका अभाव हो नहीं सकता अर्थात उसे समाप्त नहीं किया जा सकता। इन दोनो की इस स्थिति का ज्ञान तत्व दर्शियो ने कर लिया है।

यह तुम किस सन्दर्भ मे कह रहे हो ? अर्जुन कुछ नहीं समझ कर बोला।

'यह मैं वही मृत्यु अथवा आत्मा और शरीर के सम्बन्ध की बात को लेकर कह रहा हू। शरीर असत है अयथार्थ अत उसका अस्तित्व क्षणिक है, आत्मा सत है यथार्थ है अत उसका कभी अभाव नहीं उसकी अनुपस्थिति नहीं। वह सदा विद्यमान है शरीर के होने पर भी, शरीर के नहीं होने पर भी। अत मैंने आरभ मे कहा मृत्यु कुछ नहीं आत्मा का शरीर परिवर्तन मात्र है। समझ गए तुम ? श्रीकृष्ण ने पूछा।

समझ गया।

अब तुम यह समझो कि यह आत्मा अथवा आत्मतत्व अविनाशी है और इसी के द्वारा यह सम्पूर्ण सृष्टि आच्छादित है। इस अव्यय आत्मा का कोई विनाश करने मे समर्थ नहीं है। कृष्ण ने बात आगे बढाई।

आत्मा का विनाश सभव नहीं है यह तो समझ मे आने की बात है पर इसके द्वारा यह सम्पूर्ण सृष्टि आच्छादित है यह कैसे मान लू ? अर्जुन के लिए ये

दार्शनिक बातें बहुत भारी पड रही थी।

'वह इस तरह कि आत्मा एक परमतत्व अर्थात परमात्मा का ही अश है और उस परमात्मा द्वारा यह सम्पूण सृष्टि व्याप्त है।

"मैं बताऊ, कृष्ण आग बढे, 'यह जा आत्मा अथवा दूसर शब्दा म इस शरीर का मालिक शरीरी है वह अविनाशी ह, परिवतन रहित है नित्य है, यह जिन शरीरो म रहता है व ही नाशवान हैं अत तुम युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाओ।'

'जो इस आत्मा को मारने वाला अथवा मारन योग्य समझता है व दोनो इसके स्वरूप को जानत नही न ता यह मरता है न मारा जाता है।

यह न ता कभी जन्म लता है न कभी मरता है न यह एक बार होकर पुन कभी नही होता, यह अजन्मा है नित्य है, शाश्वत है, अति प्राचीन अथवा अनादि है। इस मार जाने म समथ शरीर मे रहकर भी यह नही मरता।

'पाथ! जो इसे अविनाशी, नित्य एव अव्यय समझ लता है वह व्यक्ति कस किसी का घात, कस उसकी हत्या करता है?

श्रीकृष्ण न बार-बार आत्मा को अविनाशी और नित्य बताकर अजुन क मन से मत्यु का भय भगाना चाहा। जब उन्ह लगा कि इन सूक्ष्म बाता स बहुत काम नही चलन का ता उन्हान एक बडी अच्छी उपमा का सहारा लिया—

'जस पुराने अर्थात जीण शीण वस्त्रा को त्याग कर मनुष्य दूसर नय वस्त्र धारण करता है उसी तरह जीण शरीरो का छोडकर आत्मा दूसरे नय शरीरा को धारण करता है।

"अब मैं तुमस एक अत्यन्त महत्त्वपूण बात कहता हू। श्रीकृष्ण न अपनी बात जारी रखी, तुम बहुत मरन मारने की बात करत हो न शस्त्र अस्त्र के प्रयाग की? मुझस सुनो इस आत्मा को—

'न तो शस्त्र काट सकत है न आग जला सकती ह न इसे जल गला सकता है न इस धूप क्लेश द सकता है न इस हवा ही सोख सकती ह। दूसर शब्दो म कह तो यह अछेद्य है अदाह्य है अक्लेश्य ह और है अशोष्य अर्थात नही सोखन योग्य है। यह नित्य है सभी म एक साथ विद्यमान है, स्थायी है, अचल है और सनातन अर्थात अनादि काल स है।

'इस अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकारी कहा जाता है अत इस एसा जान-समझ कर तुम्ह चिन्ता करन की कोई आवश्यकता नही।

श्रीकृष्ण इतना कह कुछ दर मौन हुए फिर कुछ सोच कर कहा— अच्छा यदि तुम इस सदा जन्म लने वाला और सदा मरने वाला भी मानत हो तथापि महाबाहु अजुन तुम्हे चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नही।

'क्यो? अजुन क मुह से सहसा निकला।

क्योकि जो जन्म लता है, उसकी मत्यु निश्चित ह, इस अपरिहाय स्थिति म तुम्हे शोक-ग्रस्त होन का कहा प्रश्न उठता ह?

बात तो बडी सटीक है। अजुन न कहा।

'बात इतनी ही नही बात और भी है किन्तु कुछ टेढी है उस भी सुन लो।

"सुना डालो। अजुन ने कहा।

ये जो सभी जीव हैं य आरम्भ म तो अव्यक्त अथवा अदृश्य रहत है बीच म व्यक्त अथवा दृश्य हो जात है तथा अन्त म पुन मत्यु क पश्चात अव्यक्त हो

जाते हैं, अत यह वेदना-ग्रस्त होने की बात कहा उठती है।"

"समझे ?

"नही।' अर्जुन ने स्पष्ट कहा।

"बात स्पष्ट है। साधारण रूप में हम जन्मपूर्व की अपनी स्थिति को नहीं जानते जन्म के पश्चात की स्थिति जिसे जीवन कहते है को जानते हैं जीवन की समाप्ति के पश्चात हमारा क्या होता है, उसका हम पता नही अत, सोच करने की बात व्यर्थ है।

"समझ गए ?'

'हा।' अर्जुन ने हामी भरी।

तो आगे सुनो" श्रीकृष्ण ने कहा और आरम्भ किया, कुछ इसके सम्बन्ध में आश्चर्य से भरकर कहते हैं कुछ लोग इसे आश्चर्यपूर्वक सुनते है किन्तु सुनने के पश्चात भी इसे कोई जान नही पाता है।

और तुम मुझे वही आत्म-तत्व समझाने का प्रयास कर रहे हो? अर्जुन ने किंचित विनोदपूर्वक कहा।

हा।'

'क्यों ?"

'क्योंकि तुम इसके पात्र हो और अधिक सुनना चाहते हो तो यह भी कि तुम मेरा शिष्यत्व स्वीकार कर चुके हो मेरे द्वारा सब कुछ जान समझ लेने की इच्छा भी प्रकट कर चुके हो।

अब आगे बढू? श्रीकृष्ण ने पूछा।

बढो।

हे भारत! सभी शरीरो के अन्दर जो यह आत्मा है वह नित्य अवध्य है अत सभी जीवो (के मरने जीने की बात) के सम्बन्ध में तुम्हे चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नही।

'एक बात और कहनी है। श्रीकृष्ण ने बात बढाई।

'क्या ?

अपने धर्म अर्थात स्वधर्म की बात को ध्यान में रखो तब भी तुम्हे इस तरह कम्पित अथवा भयभीत होने की आवश्यकता नही क्योंकि धर्म-युद्ध से बढकर क्षत्रियो के लिए अन्य कोई श्रेयस्कर बात है ही नही जो स्वयं ही स्वर्ग के उन्मुक्त द्वार को उसे उपलब्ध करा देता है। भाग्यशाली क्षत्री ही इस प्रकार के युद्ध में सम्मिलित हो पाते हैं।'

श्रीकृष्ण रुके नही अत तुम यदि इस धर्म युद्ध से विमुख होते हो इसे नही करते तब तुम अपने स्वधर्म और कीर्ति की हत्या कर पाप प्राप्ति का कारण बनोगे।

तुम्हारी अनन्त अकीर्ति की गाथा लोगो द्वारा गाई जाएगी। और तुम यह जानते हो कि सज्जनो के लिए अकीर्ति अथवा अयश मृत्यु से भी बढकर है।

ये सब महारथी तुम्हें भय के कारण युद्ध त्याग कर भागने की बात कहेंगे और जिनके समक्ष आज तुम महान हो उन्ही के सामने तुच्छ हो जाओगे।

तुम्हारे शत्रु तुम्हारे लिए अनेक नही कहने योग्य बात कहेंगे। तुम्हारी सामर्थ्य की वे निन्दा करेंगे– उन पर प्रश्नचिह्न लगायेंगे—क्या यह तुम्हारे लिए

दु:खतर नहीं होगा ?"

श्रीकृष्ण अपनी लौ में बोलते गए—"अगर तुम मारे गए तो स्वर्ग प्राप्त करोगे अगर जीवित रह गए तो पृथ्वी (के राज्य) का भोग करोगे, इसलिए हे कुंती-पुत्र, युद्ध के लिए कृत-संकल्प हो तुम उठ खडे होओ।

'सुख में, दु:ख में, लाभ में, हानि में और जय तथा पराजय में समभाव रख तुम युद्ध के लिए प्रयास करो, तुम्हें कोई पाप नहीं लगेगा।

अर्जुन युद्ध जनित पाप को लेकर भी बहुत चिन्तित था अतः श्रीकृष्ण को यह बात भी कहनी पडी।

श्रीकृष्ण ने जब यह समझ लिया कि मृत्यु के भय को अपने विभिन्न तर्कों से उन्होंने अर्जुन के मन से पूरी तरह निकाल दिया तो उन्होंने सहसा विषय-परिवर्तन किया और दूसरी किन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण बात पर आ गए।

श्रीकृष्ण ने कहा—"अब तक मैंने जो कुछ बताया वह सांख्य (ज्ञान-योग) से सम्बंधित था अब तुम बुद्धि-योग की बात सुनो। इस बुद्धि से मुक्त होकर तुम कर्म बंधन से मुक्त हो जाओगे।

"बुद्धि-योग का अर्थ बुद्धि से युक्त होना है?" अर्जुन ने स्पष्ट कराना चाहा।

"अवश्य," श्रीकृष्ण ने कहा, "मैं तुम्हें अभी बताऊंगा कि यह बुद्धि किस प्रकार की होगी। मुझे पहले अपनी बात पूरी करने दो—यह बुद्धि-योग ऐसा है कि एक बार इसका आरम्भ हो जाय तो छूट जाने पर भी जो कुछ उपलब्ध हो गया है उसका विनाश नहीं होता। साथ ही उसका कोई विपरीत फल भी नहीं होता। इस धर्म (बुद्धियोग) का थोडा पालन भी महान् भय से रक्षा करता है।

पार्थ! व्यवसायिका बुद्धि एक ही होती है किन्तु जो अव्यवसायी है उनकी बुद्धियां अनेक और बहु शाखा वाली होती है।'

'यह बात मेरी समझ में नहीं आई।' अर्जुन ने स्पष्ट कहा, 'यह व्यवसायिका बुद्धि क्या हुई और ये अव्यवसायी क्या हुए? उनकी बुद्धियों का अनन्त और बहु शाखाओं वाली होने का क्या अर्थ हुआ?'

'बात बहुत सीधी है,' श्रीकृष्ण ने कहा, 'व्यवसायिका बुद्धि वह है जो किसी व्यवसाय अथवा कार्य को सम्पादित करने के लिए प्रयुक्त हो। उसे एक ही होना होता है—एकाग्र। जो अव्यवसायी है जिन्हें किसी कार्य को पूर्णता तक पहुंचने का कौशल प्राप्त नहीं है उनकी बुद्धि अनेक दिशाओं में दौडती है अर्थात् वह अनेक और बहु शाखाओं वाली होती है।

"मैं कहूं," श्रीकृष्ण ने आगे कहा, "जो भ्रमित चित्त वाले वेदवाक्यों में रत कामनासिद्धि को आतुर, स्वर्ग जाने को व्यग्र, उस भोग और ऐश्वर्य को प्रदान करने वाली बहुत क्रिया—कर्मकाण्ड वाली उस बुद्धि की सराहना बडे लच्छेदार शब्दों में करते हैं तथा इसके अलावा और कुछ नहीं है ऐसा मानते हैं। भोग और ऐश्वर्य को समर्पित ऐसी उनकी बुद्धि के द्वारा उनकी चेतना के अपहृत होने के कारण वह बुद्धि कभी स्थिर नहीं होती अर्थात् समाधि को नहीं प्राप्त करती।

वेद तीनों गुणों (सत, रज और तम) के पक्षधर हैं। तुम्हें इन तीनों गुणों से ऊपर उठ जाना है अर्थात् निस्त्रैगुण्य बनना है निर्द्वन्द्व बनना है तथा नित्य सत्य में

स्थित हुए योगक्षेम के प्रति भी विरक्त हो आत्मावान होना है अर्थात् आत्मा को ही सर्वश्रेष्ठ मानना है।

'जैसे चारों ओर जल ही जल फैल जाने से कुएं का कोई महत्त्व नहीं होता उसी तरह ज्ञानी विद्वान के लिए वेदों का कोई अर्थ नहीं रहता।'

वही हुआ जिसका कृष्ण को डर था। अर्जुन ने पूछ बैठा, 'तो तुम वेदों के विरुद्ध हो?'

श्रीकृष्ण अपने दायित्व के प्रति सजग थे। उन्होंने कहा, 'मैं वेदों का विरोधी नहीं, पर उनकी उस कर्मकांड पक्ष का अवश्य विरोधी हूं जो मात्र किसी कर्म के फल की इच्छा से किया जाता है। मैं तुम्हें एक बात अत्यंत स्पष्ट रूप में कहना चाहता हूं—

'तुम्हारा अधिकार केवल कर्म में है, उसके फल में नहीं। तुम कर्म फल का हेतु बनने का प्रयास नहीं करो। साथ ही अकर्मण्यता के भी तुम आदी नहीं होओ।'

'अर्थात?' अर्जुन ने स्पष्ट कराना चाहा।

'अर्थात यह कि कर्म करते जाओ फल की चिंता नहीं करो और हाथ पर हाथ रख कर बैठो भी नहीं।'

'तब तो एक बड़ी चिंता से मुक्ति हो गई,' अर्जुन ने गद्गद कहा, 'हमारी सबसे बड़ी चिन्ता तो यही रहती है कि किस कर्म का फल क्या होगा। हमें सफलता मिलेगी कि असफलता? यह कार्य पूर्णता तक भी पहुंचेगा अथवा नहीं?'

'यही चिंता तो मैं तुम्हारे अन्दर से दूर करना चाहता हूं। तुम तो स्वयं चिंतित थे कि पता नहीं इस युद्ध में क्या हो, उन्हें हम जीतेंगे या वे हमें? है कि नहीं?'

'वह तो है ही।' अर्जुन को कहना पड़ा।

'तो आगे सुनो,' श्रीकृष्ण ने आरम्भ किया, 'उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तुम्हें योगारूढ़ होकर कार्य करना पड़ेगा। निस्संग होकर। सफलता और असफलता के मध्य सम भाव रखना ही योग है।'

'अर्थात बुद्धि योग?' अर्जुन ने स्पष्ट कराना चाहा।

'अवश्य। बुद्धि को तो ही इस रूप में प्रशिक्षित करना है कि वह सफलता असफलता, मान अपमान, जय पराजय के मध्य कोई अंतर नहीं देखे।

'कर्म के साथ बुद्धि को युक्त कर दो तो वही योग हुआ—कर्म योग।

'मैं आगे बढ़ता हूं।' श्रीकृष्ण ने कहा।

'ठीक है।' अर्जुन ने हामी भरी।

'इस बुद्धि योग से मात्र कर्म सचमुच बहुत श्रेष्ठ है। इसीलिए तुम बुद्धि की शरण में जाओ। फल की इच्छा रखने वाले दया के पात्र हैं।

"बुद्धि से युक्त होने वाला पाप-पुण्य सब कुछ यहीं छोड़ जाता है। अतः तुम योग प्राप्ति के लिए ही प्रयास करो। योग कर्म का कौशल है।'

'योग कर्म का कौशल?' क्या मतलब?' अर्जुन को बात समझ में नहीं आई थी।

'योग कर्म का कौशल इस रूप में है कि हम इसके द्वारा यह सीखते हैं कि किस कुशलता, किस चातुर्य से हम कार्य करें कि हम उसके प्रति उसके फल के

प्रति निस्सग हो जायें। तटस्थ हो जायें। अगर ऐसा नही हुआ तो असफलता की स्थिति म कष्ट पीडन और सताप अवश्यम्भावी है।'

"बात तो बडे पते की है।" अजुन को मानना पडा।

'आखिर यह मग कम-याग जो है, बुद्धियोग। श्रीकृष्ण मुसकराए। मैं एक और महत्त्वपूण बात कहने जा रहा हू। वह आग बोले।

'कहो।"

बुद्धि स युक्त होकर अथवा बुद्धि योग का सहारा ले कम-जनित फल को छोडने वाला मुनि जम के बधन स मुक्त होकर उस स्थान को प्राप्त करता है जहा कोई कष्ट नही है।

और साथ ही एक बात यह भी।

क्या ?' अजुन ने पूछा।

जब तुम्हारी बुद्धि इस माया रूपी कलुष से मुक्त हो जायेगी अर्थात तुम अपने पराय फल-कुफल सफलता असफलता के इन व्यथ बधना स अपने को मुक्त कर लोग तब तुम जो कुछ सुनने योग्य है अथवा जो कुछ तुम्हारे द्वारा सुना जा चुका है उस सबक प्रति तटस्थ हो जाओग।

क्या मतलब ? अजुन इस बात को नही समझ सका "यह सुनने योग्य और सुन चुके कि बात क्या हुई ?"

उस एम समझा' श्रीकृष्ण न कहा सुनने योग्य बात तो यह हुई कि अक्सर तुम प्रशसा सुनना चाहते हो अपने बधु-बाधवो का कुशल क्षेम सुनना चाहते हो अपनी हर माग की स्वीकृति चाहते हो पर ऐसा सदा थोडे सम्भव होता है ? जो कुछ सुना जाता है वह अक्सर अपनी निन्दा ही होती है अपने परिजना-स्वजना से सम्बधित अनिष्टकारी बातें भी होती हैं अपनी मागा की अस्वीकृति भी होता है। इनम पीडित नही होने का एक ही उपाय है कि तुम्हारी बुद्धि माया के बधन को काट डाले। यह अपने पराये यह प्रिय अप्रिय यह निन्दा प्रशसा य सब माया ही तो हैं। कि नही ?

है' अजुन को मानना पडा।

श्रीकृष्ण ने सहसा बात को एक नया मोड दिया 'श्रुतियो अर्थात वेदो की (कम फल) सम्बधी भिन्न बाता स तुम्हारी बुद्धि जब विचलित नही होगी तब वह समाधि म स्थिर हो जाएगी अथात उसकी भाग-दौड समाप्त हो जाएगी और तभी तुम योग को प्राप्त कर सकाग।

अर्थात योग की प्राप्ति के लिए बुद्धि का निश्चल होना आवश्यक है ? अजुन न पूछा।

अवश्य। शाखा मृग की तरह दौडती भागती बुद्धि स्थिर कम होगी और वह निस्सगता जो योग की प्रथम और अतिम शत है को कम प्राप्त करगी ? वह व्यक्ति स्थित प्रज्ञ कम होगा जिसका बुद्धि पर नियत्रण नहा है ?

अजुन को एक नई बात मिल गई स्थित प्रज्ञ। वह इस सुनने म तो अच्छी लगी ही, स्थित प्रज्ञता का प्राप्ति भी उसक लिए बडी आवश्यक लगी। कैसे होते होंगे वे जो सही अर्थों म स्थिति प्रज्ञ होते हैं यह जिज्ञासा स्वाभाविक रूप म उसके अन्दर जगी

और वह पूछ बठा—

"केशव ! जो स्थित प्रज्ञ है अथवा समाधिस्थ है उसकी पहचान क्या होती है वह कम बात्तता है कसे चलता है कमे बठता है ?'

श्रीकृष्ण न तत्काल उत्तर दिया, ' मन म उत्पन्न सारी कामनाओ का जब व्यक्ति त्याग देता है, स्वय के द्वारा ही जो सतुष्ट रहता है उसी को स्थित प्रज्ञ कहत हैं।

"यह स्वय के द्वारा सन्तुष्ट हाने की बात क्या हुई ?" अजुन न जिज्ञासा की।

"अपने को अर्थात स्वय को इस तरह प्रशिक्षित करना कि अपन अन्दर ही वह सन्तुष्टि ढूढे। सन्तुष्टि कही बाहर हानी नही। वह मग मरीचिका है उसक पीछे नही भागो।

ठीक है ?

'ठीक अजुन की जिज्ञासा शान्त हो गई थी।

तो और सुना।

सुनाओ।

जो दुख म उद्विग्न नही होता सुख म व्यथ ही आनन्दित नही होता अर्थात स्वय का स्पहणीय नही समझता। जिसकी इच्छाओ का अन्त हो गया है जिसम भय नही है क्रोध नही है मुनि अर्थात ज्ञानी लोग उसी का स्थित प्रज्ञ कहत है।

एक बात और बहुत महत्त्वपूण है।

'क्या ? अजुन न पूछा।

जो सब कही स्नेह रहित है। शुभ और अशुभ दोना मे किसी की प्राप्ति जिसके अन्दर कोई अन्तर नही लाती अर्थात जा न तो सुख की प्राप्ति म आनन्दित हाता है न दुख की प्राप्ति मे व्यथित ही होता है उसी की बुद्धि को स्थिर मानो। उसकी प्रज्ञा स्थिर है। वही स्थित प्रज्ञ है।

इसका एक उपाय है। कृष्ण फिर बात को बदलने वाले थे।

बालो।

मैंने पहले भी कहा था कि इन्द्रियो और इन्द्रियो के विषय ही सुख-दुख दने वाले हाते हैं। फिर मैं उन्ही इन्द्रियो पर आऊगा।

'आओ। अजुन सतक हाकर बठ गया।

जस कछुआ अपने अगो को चारो ओर स समेट लता है उसी तरह जो व्यक्ति इन्द्रिया को उनके विषया की ओर से मोड लता है उसी की प्रज्ञा स्थिर है वही स्थित प्रज्ञ है।

'किन्तु इन इन्द्रियो को विषयो की ओर से हटाना बहुत कठिन है श्रीकृष्ण ने स्वय आरम्भ किया निराहार रहने के पश्चात भी लोगो की विषया की ओर मे प्रवृत्ति ता निशेष हो जाती है पर उसका भाव रह ही जाता है अर्थात लिप्सा नही छोडती और उससे भी मुक्त हान का एक ही उपाय है, वह है परम तत्व का दशन।'

बात बडी थी। अजुन के पल्ल यह परमतत्व की बात नही पड रही थी। उसे

पूछना पडा—"यह परम तत्त्व क्या है ? और उसकी प्राप्ति ? यह कसे मम्भव है ?'

"परमतत्त्व की बात मैंने पहले बताई है। यह परमतत्त्व परमात्मा ही है किन्तु उसकी प्राप्ति की बात पर फिर आयेंगे। शायद उसके दशन तुम्हें हो ही जाए। अभी क लिए एक महत्त्वपूण बात सुनो।

"क्या ?"

'ये उत्पातकारी इन्द्रिया नाख प्रयास के बावजूद विद्वान् व्यक्ति के सबल मन का भी हरण कर लती हैं उसे विचलित कर दती हैं।'

"इन सभी इन्द्रियो को सयमित कर, (बुद्धि द्वारा) युक्त होकर और मरा आश्रय ग्रहण कर अपनी इन्द्रियो को वश म कर। जिसकी इन्द्रिया वश म है उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित है अर्थात वही स्थित प्रज्ञ है।

"एक बात और सुनो। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट करना चाहा।

"क्या ?"

'इन्द्रियो के विषयो अर्थात रूप, रग, स्वर आदि का ध्यान करने से उन विषयो के प्रति सग भाव अर्थात आसक्ति की उत्पत्ति होती है। सग से काम (वासना) की उत्पत्ति होती है इस काम की पूर्ति नही होन स क्रोध की उत्पत्ति होती है और क्रोध स सम्मोहन और सम्मोहन स स्मृति के भ्रमित होन की स्थिति आती है और भ्रमित स्मृति अर्थात क्या करणीय है और क्या अकरणीय, इसका ज्ञान नही होन स बुद्धि का विनाश होता है और जिसकी बुद्धि का विनाश हो गया उसका नाश अवश्यम्भावी है।

यह तो बडी महत्त्वपूण बात है। अजुन ने कहा।

'वह तो है ही और आग सुनो। एक उपाय है इसस बचन का।

"क्या ?

जो आत्मनिष्ठ व्यक्ति अपनी वश म की हुई, रागद्वेष से रहित इन्द्रियो द्वारा इन्द्रियो का उनके विषयो म भ्रमित होने देता है, अर्थात इन विषयो के प्रति न तो प्रम प्रदर्शित करता है न घृणा, न आकषण न विकषण वही आनन्दपूण स्थिति को प्राप्त करता है।

"और जब वह इस आनन्द की स्थिति को प्राप्त कर लेता है तो इसके सम्पूण दुखो का विनाश हो जाता है। जिसकी चेतना जिसका मन प्रसन्न है उसकी बुद्धि भी स्थिर हो जाती है।

"एक बात और कहू ?'

'क्या ?'

"इस सब म मेरे द्वारा बताये योग का बहुत महत्त्व है। जो अयुक्त अथवा योग रहित है उसम बुद्धि की उपस्थित नही रहती, उसम भावना भी नही होती और भावना के नही होने से शान्ति नही मिलती और जहा शान्ति नही है, वहा सुख कहा स आयेगा ?"

यह भावना द्वारा शान्ति की बात मेरी समझ म नही आई। अजुन ने अपनी विवशता प्रकट की।

'इस ऐसे समझो। यह भावना तो तुम्हें करनी ही होगी कि ये इन्द्रिया के विषय हैं इनस मन को हटाना है, काम स, क्रोध स बचना है तो जब तक ऐसी

भावना नही जगेगी तब तक इंद्रिया, उनके विषयो पर नियन्त्रण कसे होगा और जब इस नियन्त्रण का अभाव होगा तो शान्ति किधर से मिलगी ? आई बात समझ म ?"

"आ गई। अजुन ने स्वीकारा।

"तो और सुनो।

"क्या ?"

"इन चचल इंद्रिया के पीछे जिसका मन भागता है उसका मन उसकी बुद्धि का वस ही हरण कर लता है जस जल म नाव को हवा अपने वश मे कर लती है और उस लहरो पर उठाती गिराती है।

"इसलिए हे महाभाग ! जिसकी इंद्रिया सभी ओर से नियन्त्रण म हैं, जो विषया के पीछे नही दौडती उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है अर्थात वही स्थित प्रज्ञ है।'

"मैं बताऊ ? कृष्ण ने आगे पूछा।

'बोलो। अजुन को इन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बाता म रुचि आ रही थी।

यह इंद्रियो का विषया क प्रति आकषण यह राग अनुराग सामान्य व्यक्तियो के लिए प्रकाश के सदश ह वे इहा म जागते है इनका आनन्द लत है किन्तु सयम शील व्यक्ति इन सबम इस अधकार म सोया सा रहता है उस पर उनका कोई प्रभाव नही पडा।"

यह तो विचार करने योग्य बात है।' अजुन को मानना पडा।

'यह तो है ही, अत एक ही उपाय है।

क्या ?

"जसे भर हुए अचल और अपरिवत्तनशील समुद्र म पानी बिना उसम कोई विकार लाये—बिना उसक जल म वद्धि लाये—प्रवश करता जाता है उसी तरह सारी कामनाआ का जिनक अन्दर प्रवश होकर भी प्रवेश नही होता उनस जो अप्रभावित रहत हैं वे ही शान्ति प्राप्त करत ह। कामनाओ क पीछे भागने वाला को शान्ति नही मिलती।

'अब मुझे इस सम्बन्ध मे अन्तिम बात कहने दो। कृष्ण न आगे कहा।

कहो।

"जो व्यक्ति सारी कामनाआ का त्याग कर निस्पह भाव स विचरण करता है जो कहीं ममता नही रखता जो अहकार रहित है वही शान्ति प्राप्त करता है।

'इसी स्थिति को ब्राह्मी अर्थात ब्रह्म को प्राप्त कर लने की स्थिति कहते है। इसको प्राप्त कर लेन के पश्चात व्यक्ति मोह ग्रसित नही होता। इसी म अगर वह स्थित रह सके तो वह ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त कर जाता है।

सत्तर

कुरुक्षेत्र पर उतरी सनाआ म कोलाहल मचा हुआ था। जो व्यूहा की अगली पक्तिया म थे वे तो श्रीकृष्ण और अजुन क मध्य चल रहे इस सवाद के

रसास्वादन म लीन थे। कुछ काल के लिए वे यह बात भी विस्मृत ही कर बठे थे कि यहां वे एक भीषण युद्ध के सहभागी के रूप म उपस्थित हुए थे। किन्तु जो पिछली पक्तिया म थे उनका धैय नि शेष हो रहा था। सेनापतियो के आदेश के अभाव म वे निष्क्रिय बठने को बाध्य थे और व्यथ की वाता और जिज्ञासा प्रति जिज्ञासा मे समय काट रहे थे। नाना तरह की भ्रामक बातें उनक मध्य चल रही थी। कोई कह रहा था कि श्रीकृष्ण के सद्प्रयास से युद्ध टल गया तो कोई बता रहा था कि कौरवो की भारी सेना को अवलोकित कर पाण्डवो ने स्वय शस्त्र डाल दिए। कौरव-पक्ष म हो कोई यहा तक कहने लगा था कि दुर्योधन को ही सुबुद्धि आ गई और अपनी ओर से ही, आरम्भ के पूव ही युद्ध समाप्ति की उसने घोषणा कर दी।

विभिन्न महारथियों, अतिरथियो और पदातियो के मध्य चल रहे तार तम्यहीन सवादा स यहा का वातावरण तो निनादित हो ही रहा था, निरुद्देश्य खड गजा की चिंघाडो एव अश्वा की हिनहिनाहटा स भी सम्पूण समर भूमि के साथ-साथ उसक आस-पास का प्रदेश भी उद्वेलित हो आया था।

दोना ओर के सेनाध्यक्षा ने अपने सनिका को सयम रखने का सदेश भेजा तो मानव-जनित कोलाहल म कुछ कमी आई पर पशु फिर भी अनियत्रित ही रहे। अकुशो से गजा को नियन्त्रित करने क प्रयास म महावत उनकी चिंघाडो म कमी लाने के स्थान मे वद्धि ही ला रहे थे और वल्गाओ पर अपनी पकड को बार-बार मजबूत कर भी अश्वा के सारथि उनके स्वर को शान्त करने म सफल नही हो पा रहे थे। पर इन सारे स्वरा के प्रति पूणत तटस्थ श्रीकृष्ण एव अजुन अपने अपने रूप म अपनी वाता एव तर्कों को प्रस्तुत करने म रत थे।

श्रीकृष्ण को लग गया था कि कमयोग की उनकी व्याख्या से अजुन सतुष्ट नहीं हुआ था। वे कुछ क्षणा के लिए मूक हो उसकी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा करते रहे जो अन्तत इस रूप म प्रकट हुई थी—

"बुद्धि अर्थात ज्ञान ? यही न ? तो ज्ञान का स्थान प्रधान हो गया और कम का गौण ? क्यो केशव ?" अजुन ने अकुलाहट भरे स्वर म श्रीकृष्ण को सम्बोधित किया।

श्रीकृष्ण किंचित मुसकराए। यह मुसकराहट अन्तर की गहराइयो से उभरी थी। वह जानत थे अजुन का इगित किधर था। वह अपने को कूप से उबार कर खाई म गिरने की स्थिति म पा रहे थे। भया म सर्वोपरि मत्यु भय से तो उन्होन उसे मुक्त कर लिया था। सामान्य जना को अक्सर भ्रमित करने वाली सफलता असफलता, सिद्धि-असिद्धि सम्बन्धी चिन्ता रूपी आधि से भी मुक्त कर उसके समक्ष एक स्वस्थ जीवन दशन का राजपथ भी उन्होंने प्रशस्त कर दिया था। पर उधर जीवन-दशन की इस व्यवस्था को सही सदभ म नही लकर अजुन एक नये द्वन्द्व से ग्रसित हो आया था। अपना और परायो के मृत्यु भय से मुक्त कर भी उसे युद्ध रत करने की स्थिति म व आते-आते भी नही आ पाये थे। वह जानते थे अजुन अब क्या कहने वाला था। ज्ञान अर्थात ज्ञान जनित सन्यास की आड ले वह युद्ध तो युद्ध, सारे कर्मों से विरत होने की बात सोचने लगा था। यह नई स्थिति थी जिसके लिए वह प्रस्तुत नही थे। यही कारण था उस गहरी मुसकरा हट के उनके नीलमणि सदृश आनन पर स्वच्छ धूप की तरह खिल आने का।

"हा, बुद्धि अर्थात ज्ञान," श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया था, "बोलो, आगे क्या पूछना है ?"

'पूछ तो रहा हूं जनार्दन जब ज्ञान का स्थान कर्म से ऊंचा हो गया तब तुम मुझे कर्म में क्यों झोंकना चाहते हो ? वह भी इस युद्ध-कर्म में ?

"तो क्या मैं तुम्हें संन्यास ग्रहण कर गाडीव के स्थान पर हाथ में भिक्षा पात्र ले द्वार-द्वार भिक्षा रत होने का आदेश दूं ? नहीं, श्रीकृष्ण के स्वर में खीझ नहीं थी। क्षोभ का कहीं लेश भी नहीं। जैसे कोई पिता अपने अबोध बालक को सहज स्नेह और उपालम्भ के साथ समझाता है उसी तरह उन्होंने अर्जुन को समझाना चाहा।

"ज्ञान को कर्म के ऊपर मानने का अर्थ तो यही होगा।' अर्जुन ने कुछ उद्विग्नता से कहा।

श्रीकृष्ण कुछ क्षणों तक चुप रहे। अर्जुन का तर्क ऊपर से तो सर्वथा उचित प्रतीत होता था किन्तु वह उन्हें समझने में असमर्थ हो रहा है। पर इसमें उसका दोष ही कितना है ? बात पूरी तरह उस पर स्पष्ट ही कहां हो पाई ? उन्होंने ज्ञान को कर्म से ऊपर मानने की बात कहीं ही कहां ? ज्ञान अथवा संन्यास जिसके लिए सर्वोपरि महत्त्व का होगा उसके लिए होगा, अर्जुन के लिए वह कब और कैसे महत्त्वपूर्ण हो गया ? उसके लिए अर्थात उसके मन्तव्य शत सहस्र क्या लक्ष-लक्ष व्यक्तियों के लिए भी ? यहां तक कि स्वयं उनके लिए भी ? अगर उन्होंने ज्ञान अथवा संन्यास अर्थात कर्म-त्याग को इतना महत्त्व दिया होता तो आज हाथ में प्रतोद लिये उसके अश्वों की परिचर्या में जुटे होते ?

तुमने ठीक से समझा नहीं। अंततः श्रीकृष्ण ने अपना लम्बा मौन तोड़ा।

'क्या नहीं समझा ?

मेरी बात और क्या ? अप्रशिक्षित अश्वों की तरह तुम मैं जिस दिशा में ले जाना चाहता हूं, ठीक उसकी विपरीत दिशा में ही दौड़ना चाहते हो।

बात अलग अलग व्यक्तियों की अलग-अलग आवश्यकता की है। सच ही दो प्रकार के आचरण इस विश्व में प्रचलित हैं—संन्यास और कर्मयोग। बहुत पहले अपने किसी और जन्म में मैंने स्पष्ट किया था कि विश्व विरत व्यक्तियों के लिए ज्ञान-योग अथवा संन्यास श्रेयस्कर है पर सांसारिक दायित्वों के प्रति प्रतिबद्ध व्यक्तियों के लिए तो कर्मयोग ही एक मात्र मार्ग है—कर्मयोग अर्थात जैसा कि पहले कहा, फल की आकांक्षा से सर्वथा रहित होकर निरंतर कर्मरत रहना।

'अर्जुन कुछ अज्ञानियों द्वारा फैलाई इस भ्रान्ति के चक्कर में तुम नहीं पड़ो कि सभी कर्मों को छोड़कर हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाने से ही कोई सारी क्रियाओं के सम्पादन से मुक्त हो जाता है अथवा नैष्कर्म्य को प्राप्त हो जाता है। ऐसा सोचना स्वयं को व्यर्थ के तनाव में डालने के सिवा कुछ नहीं है। उसी प्रकार यह भी गलत है कि मात्र संन्यास मार्ग ही सिद्धि अथवा मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र पथ है।'

'एक बात पूछूं ? श्रीकृष्ण ने आगे पूछा। अपनी ओर से उठाए गए एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न को श्रीकृष्ण द्वारा इस तरह महत्त्वहीन बनाते देख अर्जुन ने सोचा निश्चित ही कोई अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात अब उठाने जा रहे हैं भगवान—हां

भगवान से कम उन्हें मानता भी कहा है वह ? भले ही यदा-कदा वह संशय-ग्रस्त हो जाता हो और उनके कुछ आलोचकों की बातों में आ वह भी उन्हें सामान्य मनुष्य की कोटि में गिनने की गलती कर जाता हो पर अक्सर तो उसने उन्हें सर्वशक्तिमान परमेश्वर, साक्षात ब्रह्मांड संचालक के रूप में ही देखा है।

"पूछिए।" उसने अपनी स्वाभाविक निश्छलता से कहा।

तुम नैष्कर्म्य की बात कर रहे थे न ? कर्म छोड़ने की ? कभी सोचा है कितना भ्रामक और व्यर्थ है यह सोच ? कोई एक क्षण हां एक क्षण के लिए भी कर्म विरत होता है क्या ? नहीं करते हुए भी वह कुछ-न-कुछ करता ही रहता है कि नहीं ? हाथ-पांवों का हिलाना, उठना-बैठना चलना घूमना खाना सोना, यहां तक कि पलकें झपकाना—ये सब कर्म नहीं है क्या ? जाने या अनजाने सम्पादित कर्म ? प्रकृति ने तो विवश कर रखा है सबको कुछ-न-कुछ करते रहने के लिए। कुछ भी कोई भी निष्क्रिय है यहां ? मनुष्य तो मनुष्य पशु-पक्षी पेड़-पौधे—यह सम्पूर्ण जीवन-जगत क्षण भर के लिए भी निष्क्रिय है ? वृक्ष के पत्तों का यह मंद मंद कम्पन, सागर की लहरों का उठना गिरना नदियों का कल कल निनाद के साथ प्रवहमान होना झरनों से जल का अबाध झरना, सूर्य-चन्द्र एवं अन्य ग्रहों का सतत गतिमान रहना, यह सब कौन सी कहानी कहते हैं अर्जुन ? गतिशीलता की अथवा निष्क्रियता की, कर्महीनता की ? जब इस प्रकृति में कहीं भी कोई भी निष्क्रिय नहीं है तो तुम निष्क्रिय होने कर्म रहित होने की बात सोच भी कैसे सकते हो ?

श्रीकृष्ण ने देखा उनकी बातों का अर्जुन पर स्पष्ट प्रभाव पड़ा था। वे प्रसन्न हुए—चलो निष्क्रियता की बात निःशेष हुई तो अब बात बनते बहुत देर नहीं लगेगी।

'लेकिन कुछ लोग तो यह सब देखते हुए भी हाथ-पर-हाथ रख बैठे रहते हैं। अपने को कर्म विरत मानते हैं। दूसरों के द्वारा उपार्जित अन्न पर पलने वाले ऐसे लोगों की कमी है क्या ?' अर्जुन ने शायद कहने के लिए ही कहा था।

'ढोंगी हैं उनमें अधिकांश' श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया, 'मिथ्याचारी। हाथ पैरों से तो कार्य नहीं करते पर विषय वासना के ये कीट शांत प्रतीत होकर भी अंदर से स्थिर नहीं रहते। इस शाखा से उस शाखा पर छलांग लगाने वाले वानर की तरह ही इनका मन विषयों के चिंतन में वहां से यहां दौड़ता-फांदता रहता है। बाह्य रूप से कर्म से विरत होकर भी इंद्रियों को विषय चिंतन की खुली छूट दे दी तो संन्यासी अथवा त्यागी कैसे मानोगे उन्हें ?'

'इनसे अच्छे तो वे हैं जो इंद्रियों के व्यर्थ के भटकाव को नियन्त्रित कर निस्संग भाव से करणीय कार्यों का सम्पादन करते हैं। असल कर्मयोगी हैं ये।'

अकर्मण्यता की बात करते हो अर्जुन ? अकर्मण्य होने से तो तुम अपनी स्वयं की जीवन-यात्रा को भी सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं कर पाओगे। औरों की क्या सहायता करोगे तुम ? इसलिए सबसे अच्छी बात यही है कि तुम नियत कर्म को निष्ठापूर्वक सम्पादित करते चलो। कर्मरत रहना अकर्मण्यता से सदा श्रेष्ठ है।'

यह 'नियत कार्य क्या है ?' अर्जुन की उत्सुकता जगी थी।

'नियत अथवा निर्धारित। देश, काल और परिस्थिति ने जो कार्य तुम्हारे लिए निर्धारित कर दिए हैं उनका तटस्थ भाव से सम्पादन ही तुम्हारा दायित्व है।

अभी तुम्हारा नियत काय युद्ध रत होना और मेरा, तुम्हारा सारथ्य करना है। इन कार्यों के सम्पादन म प्रमाद न तुम्हारे लिए योग्य है न मेरे लिए।

'ता एक बार जो काय जिमके लिए निर्धारित हो गया वह मदा-सग के लिए उसका दायित्व हो गया ? मेरा तात्पय हमारे अभी के कार्यों से नहीं है। लकिन आप शाय यह तो कहना चाहगे ही कि क्षत्रिय होने से मेरा नियत काय युद्ध है और अगर कोई ब्राह्मण-कुल म पदा हो गया तो उसका नियत काय अध्ययन अध्यापन और वेद-उपनिषदो का पारायण हो गया।

"मेरा तात्पय यह नहीं है। पर मेरी दृष्टि वतमान पर अवश्य है। भूत और भविष्य व्यथ हैं। भूत बीत गया भविष्य अनिश्चित है। तभी स्थिति म वतमान के स्वर्णिम क्षण म जो तुम्हारा दायित्व है वही तुम्हारा सवश्रेष्ठ काय है। वही तुम्हारा नियत काय। रह गई बात वण और जाति के आधार पर कार्यों के निर्धारण की तो मेरे विचार से यह कोई आवश्यक नहीं कि व्यक्ति की जन्मगत परिस्थितिया ही उसके नियत काय की निर्णायिका बनें। सूत-पुत्र कहला कर भी अगराज कर्ण क्षत्रियोचित कार्यों का सम्पादन कर रहा है ब्राह्मण-कुलोदभव होकर भी द्रोण और कृप युद्ध-क्षेत्र म मरने मारने पर उतारू हैं, क्षत्रिय होकर भी विश्वामित्र ब्राह्मणो के लिए दुष्प्राप्य ब्रह्मर्षि-पद प्राप्त कर चुके थे और ब्राह्मण होकर भी परशुधारी जमदग्नि-पुत्र परशुराम ने अनेक बार क्षत्रिय-वीरो का शिरोच्छेदन कर इस धरती को रक्त रजित कर दिया था। ऐसी स्थिति म जन्मगत विशेषता तुम्हारे दायित्वो के निर्धारण म बाधा किधर से बनती है ? जिस व्यक्ति म जो सम्भावनाए हो उनका विकास और उनके अनुसार ही उसे आचरण करना चाहिए। पर वतमान सबसे बडा सत्य है। इस काल जो काय तुम्हारे हाथ म है वह तुम्हारा नियत अथवा निर्धारित काय अवश्य है और उसम तुम मुह नहीं मोड सकते। तुम्हे याद है न कि एक वर्षीय गुप्त आवास के दौरान स्त्री-वेश धारण कर बृहन्नला के रूप म तुम्हारा काय राजा विराट के अन्त पुर म उनकी पत्नी और पुत्री की केश सज्जा और उन्हे नृत्य-गान सिखाना भी था ? उस समय वही तुम्हारा नियत काय था। ध्यान दो कि अगर उस काल तुमने अपने काय के सम्पादन म थोडा भी प्रमाद किया होता तो उसका क्या फल होता ? तब कहा की यह युद्ध भूमि और कसा युद्ध ? तब तो पाडवो को अतिरिक्त बारह वर्षों का वनवास झेलना पडता और ये अतिरिक्त वष तुम सभी को पूरी तरह तोड देने के लिए पर्याप्त होते। इसीलिए कह रहा हू कि नियत काय ही सवश्रेष्ठ है और फलाशा से रहित हो उसका सम्पादन ही व्यक्ति का सवश्रेष्ठ दायित्व।

"आई मेरी बात कुछ समझ म ? श्रीकृष्ण ने ध्यानावस्थित-से हो आये अर्जुन से पूछा। लगा वह उनकी एक एक बात को उसी तरह पीता चला जा रहा है जसे आजीवन पिपासित कोई चक्रवाक पक्षी स्वाती-नक्षत्र की मजिल बूदो का पान करे।

'आई। पर अभी कुछ पूछने का नहीं मात्र सुनने का मन करता है। अर्जुन ने छोटा सा जवाब दिया।

श्रीकृष्ण मुसकुराए। नहीं, यह मुसकान नीलमणि पर पडने वाली रवि रश्मियो की आभावाली वह मोहक मुसकान नहीं थी। इसम कहीं से शावता एक हल्का व्यग्य था—परिहास।

"तो सुनो। पर पूछना तो पडेगा ही। जिज्ञासा से कहा मुक्ति है ?" मुसकराहट म अभिव्यक्त व्यग्य शब्दा क माध्यम स मुखर हो आया था 'जिस समय तुम्हारी जिज्ञासा पूरी तरह नि शप हा जायगी उस समय तम अपनी अनिश्चितता को त्याग कर स्वय युद्ध क लिए सन्नद्ध हो जाओग। खर, इस समय कोई और बात कह रहा था। कम विमश के इस क्रम म मुझे यज्ञ की याद आ गई।

यज्ञ ? उसका यहा क्या सदभ है ?

कृष्ण पुन मुसकराए। तात्पय स्पष्ट था—आखिर तुम्हे पूछना पडा तो। कितना शीघ्र जग आई तुम्हारी नि शप हो जाइ जिज्ञासा ?

सदभ है, श्रीकृष्ण न आरम्भ किया, यद्यपि मैंने आरम्भ म कहा था कि वदिक ज्ञान सच्चे ज्ञानी क लिए कुछ महत्त्व नही रखता, पर वदो की सारी बातें उपेक्षणीय नहा हैं। यज्ञ भी एक वसी ही बात है। इसका सदभ यहा कम की निष्कामता को लेकर है। किसी भी कम को यदि यज्ञ-स्वरूप मान कर किया जाय ता वह बधनकारी नही हाता। कम से ता लोग इसीलिए भयभीत रहत हैं कि वह मुक्ति माग का भारी बाधक है। हर कम का फल अवश्य मिलता है और उसक भोग क लिए जन्म-मरण क चक्कर म भी फसना अनिवाय हो आता है।

'मैंने पहल फलाशा का छाडने अथवा निस्सग कम की बात, चिता मुक्ति के सदभ म की थी, अब उसका उल्लख बधन मुक्ति क सदभ म कर रहा हू। मोक्ष सभी का परम साध्य है और कम है कि वह अगर निस्सग नही हुआ तो इस मोक्ष का असम्भव बना दता है।

'तो तुम्हारा कथन है कि यज्ञ-हेतु किए गए काय बधनकारी न होकर मोक्ष दायी होत हैं ? अजुन ने जिज्ञासा की।

हा, और यह भी कि हर कम को यज्ञ समझ कर करो तब भी वह निस्सग कम की ही श्रेणी म आता है और बधनकारी नही होता।

बात स्पष्ट नही हो रहा" अजुन न जिज्ञासा की, 'यज्ञ क हतु किए गए काय बधनकारी नही होने यह बात मान भी लू तो कम को यज्ञ समझ कर करन की बात और वसा करन स उसक माक्षदायी हो जान की बात समझ म नही आती।

'समझाता हू श्रीकृष्ण न कहा, "पहल दूसरी बात का ही लता हू क्योकि यज्ञ क सम्बध म बहुत कुछ कहना है।

'यज्ञ का साक्षात विष्णु कहा गया है— यज्ञो व विष्णु । एसी स्थिति म यज्ञ समझ कर कुछ करन का अथ विष्णु क लिए ही कुछ करना है। विष्णु ता स्वय मोक्षप्रदाता है उसका जो कम अर्पित हा गए व बधनकारी किधर से होंग ?

'विष्णु ता तुम्ही का कहत हैं—विष्णु का द्वितीय विग्रह उसका पूण अवतार। अजुन सहसा बाल पडा।

कहने और मानन म अन्तर होता है। श्रीकृष्ण मुसकराए फिर वही मारक मुसकान—नीलकान्त मणि पर पडती प्रात की स्वण किरण।

'अर्थात् मैं तुम्हे भगवान नहीं मानता हू यही न ?

'एक दिन मानन भी लगोग, श्रीकृष्ण की मुसकान अथपूण हा आई 'खर, उस पर बाद म बातें हागी। अभी यज्ञ की चचा कर रहा था। कम का यज्ञ समझ कर सम्पादित करना किस तरह कम-जनित बधन स मुक्त रखता है यह

स्पष्ट कर दिया, अब यज्ञ के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात बताऊं।"

'क्या?' अर्जुन का औत्सुक्य उसके स्वर पर चढा।

यज्ञ बडी चीज है। मनुष्य की सभी इच्छाओं की पूर्ति का साधन। सद्य फलदायक।'

'अभी तो तुम फलाशा से मुक्त होने की बात कहते थे? निस्संग और तटस्थ कर्म की बात?'

'वह अब भी करता हूं। आगे भी करता रहूंगा। यही तो वास्तविक योग है—कर्म-योग। पर फलाशा से रहित होकर कर्म रत होने का मतलब यह कहां हुआ कि तुम्हें फल मिले ही नहीं, तुम्हारा श्रम व्यर्थ चला जाय? नहीं, सृष्टि का नियन्ता इतना निष्ठुर नहीं हो सकता। फलाशा का त्याग तो चिन्ता मुक्त होने का आधार है। फल जो मिलना है वह तो मिलेगा ही। उसको लेकर व्यर्थ की चिन्ता नहीं पाल लेना ही बुद्धिमानी है यही तो वह जीवन दर्शन है जिससे मैं तुम्हें परिचित कराने का प्रयास कर रहा हूं। पर फल तो तुम्हें चाहिए ही। तुम्हारे जीवन के सारे प्रयास निष्फल चले जाएं यह न तुम चाहोगे, न तुम्हारा निर्माता।

तो यज्ञ सभी के लिए आवश्यक है। यही न?

हां, उन सभी के लिए जो फल की चिन्ता से मुक्त हैं फिर भी फल चाहते हैं। उसके लिए कर्म करते हैं। निस्सन्देह यज्ञ उनकी फल प्राप्ति को सुनिश्चित कर देता है। उनका दायित्व मात्र प्रयासरत रहना होता है—निश्चिन्त और निर्लिप्त होकर।

अर्जुन, यह बात विचित्र लग सकती है पर है सत्य, श्रीकृष्ण ने अपना कथन जारी रखा जिस तरह शिशु के लिए पोषण के सृष्टिकर्ता उसके जन्म के साथ ही जननी के स्तनों में दूध की सृष्टि कर देता है, उसी तरह अपनी प्रजा—मनुष्य जाति—की सृष्टि के साथ-साथ उसके पालन-पोषण और अभ्युदय विकास के लिए उसने यज्ञ की सृष्टि कर दी। उसकी आकांक्षाओं, अभिलाषाओं की पूर्ति का प्रमुख साधन है यज्ञ—उसकी प्रगति और उन्नति का कारण।

इस विश्व में रहना है अर्जुन और कुछ करके रहना है तो देवताओं को प्रसन्न करना होगा, वे ही तो प्रसन्नता और प्रगति के कारक हैं। और देवता प्रसन्न और पोषित होते हैं यज्ञ से। यह सब कुछ पारस्परिक है। यज्ञ द्वारा तुम देवताओं को प्रसन्न और सबल करो तो देवता तुम्हें समृद्ध और समर्थ करेंगे।

'यज्ञ द्वारा प्रसन्न हुए देवता निश्चित ही तुम्हारी इच्छित वस्तुओं को प्रदान करते हैं किन्तु नियम यही है कि उन वस्तुओं का एक अंश तुम यज्ञ के माध्यम से देवताओं को भी प्रदान करो। उनके द्वारा दिए साधनों का उपयोग जो बिना उनको सहभागी बनाए करता है उसे चोर के अलावा क्या कहोगे?

यज्ञ के माध्यम से देवों को प्रसन्न कर शेष बचे साधनों को ग्रहण करने वाला के सारे पाप-ताप विनष्ट हो जाते हैं, लेकिन वे तो घोर पापी हैं जो देव प्रदत्त वस्तुओं को अकेले खा-पी जाने में जरा भी संकोच नहीं करते।

'और एक बात बताऊं?' श्रीकृष्ण ने कुछ सोचते हुए कहा।

अवश्य। यज्ञ की इस महिमा से तो मैं अब तक अनभिज्ञ ही था। अर्जुन ने हामी भरी।

'तुम्हें शस्त्रास्त्र की प्राप्ति और उनके सन्धान के प्रशिक्षण से अवकाश ही कब

मिला कि तुम जीवन के इन मूल विषयों पर विचार करो। यहा सब कुछ पारस्परिक है। कुछ लेने के पहले कुछ देना पडता है। देना उन सभी को पडता है कम या अधिक, जो कुछ प्राप्ति के आकाक्षी है। राजा रक सभी को। इस नियम का कोई अपवाद नही है।

'एक राजा हाथी पर सवार होकर कही जा रहा था। मार्ग मे एक भिखारी मिला। उसने अपने भिक्षा-पात्र को दोनो हाथो म टाग कर ऊपर उठाया—'भिक्षा देहि—राजा भीख दो।'

"राजा ने भिखारी की ओर देखा और कहा, 'पहले तुम कुछ दो'।

भिखारी अवाक। राजा उस भिखमगे से माग रहा है? माग रहा है या यो ही हसी कर रहा है? राजा की बात को अनसुनी कर वह हाथी के पीछे पुन दौडा, 'राजा, मैंने कहा मुझे भीख दो।

राजा ने कहा 'मैंने भी तो कहा कि पहले तुम कुछ दो।

भिखारी ने क्रोध म भर कर अपने भिक्षा पात्र म चावल के चार दाने निकाल कर राजा की ओर फक दिए। राजा ने ध्यान स देखा चार चावल। उसने हाथी को रोका, अपने बटुए म हाथ लगाया और सोने के चावल के चार दाने भिखारी के पात्र म डाल दिए। हाथी आगे बढ गया। भिखारी ने ध्यान स देखा आखिर इस कजूस राजा ने दिया क्या? देखा तो चार सोने के दाने पात्र म चमक रहे थे। वह प्रसन्नता स भर आया और सोचा, उसे अपने सारे दाने फेंक देने थे। पर तब तक पर्याप्त विलम्ब हो चुका था। हाथी बहुत आगे बढ गया था।'

"अर्थात देवताओ अथवा ईश्वर को भी हमसे कुछ लेने की अपेक्षा रहती है?

अवश्य। वे तुम्हारे भक्ति भाव और त्याग भावना की परीक्षा करते हैं। सुपात्र को ही सभी देते है जो कुपात्र है उसे क्या देना?

'खैर मैं दूसरी बात कह रहा था यह बात तो प्रसग वश आ गई। मैं कह रहा था कि यह तो मानोगे कि अन्न पर ही हमारा जीवन आधारित है?'

'अवश्य।'

और अन्न का उत्पादन बिना वर्षा के सम्भव नही?

'यह भी सत्य है।

तो यह बात भी जान लो कि वर्षा के लिए यज्ञ भी आवश्यक है। यज्ञ का धूम बादलो की सृष्टि करता है और समुद्र जल स बने बादल बरसें-न-बरसें यज्ञाग्नि स बने ये बादल बरस कर रहते है।

'पर एक बात तो मानोगे?' श्रीकृष्ण ने ही आगे कहा।

'क्या?

यज्ञ भी तो कर्म के बिना सम्भव नहो है। कर्म नही करो तो यज्ञ सामग्री किधर स आयगी अन्न और घृत? तो कर्म की महत्ता हुई न? उसी कर्म की जिससे तुम मुह मोडने को तयार हो?

अर्जुन चुप। प्राय हर बात को कृष्ण कर्म स ही सयुक्त कर देते हैं। कितनी गलती की उसने गाण्डीव फक कर। उसका मन करता है अभी इसी क्षण वह गाडीव हाथ म ले रथ के अग्रभाग म जा बठे और चिल्ला पडे नो श्रीकृष्ण, हो गया मेरा मोह भग। कर्म विमुख अब नही रह सकता मैं एक क्षण भी। ऐसे भी

कहा हू, कम हीन, जैसा तुम स्वय कहते हो।'

पर नही अभी वह एसा नही करगा, वह आग सोचता है। अच्छा सुयोग आ बना है यह। कितनी अच्छी अच्छी बातें ता कह रही हैं श्रीकृष्ण मुख स। अब सब कुछ सुन ही लना है आज, भल युद्धारम्भ म विलम्ब हो। उसन दानो सनाओ पर फिर एक उडती दृष्टि डाली। उनकी व्यग्रता का उसे बोध हुआ। पर कोई उपाय नही था। सखा जब इतनी सारी बातें सुनान का सन्नद्ध थे ता उन्ह बीच म ही रोक देना अपने हित म नहीं है।

"एक बात और सुनो। श्रीकृष्ण बोलत हैं तो अजुन की विचार शृखला टूटती है। वह पूरी तरह पुन उनकी आर उन्मुख हो आता है।

'यह कम मात्र इसलिए महत्त्वपूण नही है कि वह तुम्हारी जीवन-यात्रा का सम्बल है और यज्ञ-काय म सहायक है। मैंन यज्ञ को कम स उत्पन्न हाने अथवा उस पर आधारित हान की बात की न, और जानत हा इस कम की उत्पत्ति का स्रोत कौन है? इसका उत्स?

'कौन?

स्वय ब्रह्म। मैंन बताया था न कि प्रकृति किसी को निष्क्रिय रहन नही दती? कि क्रियाशीलता उसकी स्वय की प्रकृति म है। ता यह प्रकृति है क्या? यह तो ब्रह्म की ही सहायिका शक्ति है उसी स उत्पन्न। इस तक क आधार पर कम ब्रह्म स ही उत्पन्न हुआ न? वह ब्रह्म जो स्वय अविनाशी है, अक्षर तत्त्व स समुत्पन्न है। खर, बात यहा तक पहुची कि यज्ञ क कम पर आधारित होने अथवा उसस उत्पन्न होने और स्वय कम के ब्रह्म स उत्पन्न अथवा सयुक्त होन क कारण ब्रह्म ही सदा यज्ञ म प्रतिष्ठित रहता है। यह है इस यज्ञ का महत्त्व ब्रह्म स किसी तरह कम नही है इसीलिए ब्रह्म और विष्णु म अन्तर ही क्या है, जो ब्रह्म वही विष्णु, जा विष्णु वही ब्रह्म जो ब्रह्म वही यज्ञ।

तो यज्ञ सचमुच महत्त्वपूण है?' अजुन ने आश्चय व्यक्त किया।

'महत्त्वपूण ता है ही और यह भी जान लो कि जो इस महत्त्वपूण चक्र को तोडने अथवा बाधित करन का अपराधी होता है उसका जीवन पाप-पूण और व्यथ ह। उसका जीना नही जीन स अच्छा है। श्रीकृष्ण न गम्भीरतापूवक कहा।

'कौन-सा चक्र?

'यही कम से यज्ञ की यज्ञ स वर्षा की, वर्षा स अन्न की और फिर अन्न से यज्ञ की उत्पत्ति का चक्र। यह चक्र ही सृष्टि का धारक है। यज्ञ नहा ता वर्षा नही, वर्षा नही तो अन्न नही, अन्न नही तो जीवन नही। नही?

बात तो ठीक है। अजुन ने स्वीकृति मे सिर हिलाया।

"तो बात अन्तत पुन कम पर आई न?

"आई ही। अगर कम नही तो यज्ञ कहा सम्भव ह?

'पर कम स कुछ लोगो का मुक्ति अवश्य है श्रीकृष्ण कुछ सोचत हुए बोल, अर्थात वे कुछ नही करेंगे तब भी चलगा।

'कौन है व सौभाग्यशाली? अजुन न उत्सुकता स पूछा।

'सौभाग्यशाली क्या कहोग उन्ह कम विरत होना सौभाग्यवान योन्हे होना है किन्तु जो अपन ही म लीन रहत है जो कुछ उपलब्ध है उसी म तृप्त हैं व कुछ करें-न-करें उनक लिए क्या अन्तर पडेगा? उनक कुछ करन का भी कोई महत्त्व

नही और नही करने का भी कोई महत्त्व नही। ऐस आत्मलीन प्रकृति के व्यक्तियो का उदाहरण हमारे लिए आदश नही हो सकता। अत जैसा पहन कहा आमक्ति रहित होकर सदा कम म तत्पर रहना ही हमारी नियति है, हमारा दायित्व भी। और यह व्यथ है कि सिद्धि अथवा मोक्ष या परम पद की प्राप्ति केवल कम-हीनो अथवा स यासियो के लिए ही सुरक्षित है। निस्सग भाव स किया गया काय भी मोक्ष ही प्रदान करता है क्याकि फलाशा युक्त नही होने से वह ब धनकारी बन नही पाता।

तुमने राजर्षि जनक की बात तो सुनी ही होगी। वही जनक जिनकी पुत्री स त्रेता म भगवान राम का परिणय सम्पन हुआ। कहा मुह माडा उन्होंने कम से। और किसी सामा य कम म निरत रहे वह ? सम्पूण मिथिला प्रदेश के शासन का सफलतापूवक सचालन कोइ साधारण काय था ? फिर भी व ऋषि ही नही राजर्षि का उपाधि स विभूषित हुए कि नही ? कम ही उनकी सिद्धि का कारण बना न ?

"और एक बात और है।' श्रीकृष्ण न कुछ रुकत हुए कहा।

"कौन-सी बात ?'

'तुम और मैं कोई साधारण व्यक्ति नही। अर्थात लागो की दृष्टि म एक विशिष्ट स्थान है हमारा। सामा य जन हमारे आचरण से ही स्वय का आचरण निर्धारित करत है। हम जसा करेंग वे भी वसा ही करेंग, अत लाक को समाज को सही दिशा मिल, वह दिग्भ्रमित नही हो इसलिए भी तुम्हारा और मरा कम निरत रहना आवश्यक है। यह स्पष्ट है कि श्रेष्ठ-जन जिस माग का निर्धारण करत है, दूसरे उसी का अनुगमन करत है। वसी स्थिति म हम उदाहरण तो वही प्रस्तुत करना चाहिए जो सबा के लिए अनुकरणीय हो। अब अगर तुम्हार अनु करण मे तुम्हारे भाई और पुत्र तथा अ य याद्धा भी अपने अस्त्र शस्त्र फेंक कर रथो क पीछे जा बठें तो बिना श्रम ही विजय हा गई दुर्योधन की कि नही ?

इसके बाद श्रीकृष्ण के मुख पर एक अनाम गाम्भीय व्याप्त हो गया। अजुन को लगा अब व कुछ विशिष्ट करना चाहत हैं। उनकी मुखाकृति स स्पष्ट था कि अब तक बहुत ध्यान स गापित रख जिस भद को स्पष्ट करने का व अपन का प्रस्तुत कर रहे थे पर शायद कुछ सोचकर अपन निश्चय को क्रियान्वित करन म झिझक भी रह थे।

'आप किसी द्वन्द्व के शिकार हा रहे हैं।' अजुन न ही चटटान की तरह दाना के मध्य अड आय इस मौन को तोडने का प्रयास किया गया।

शायद। श्रीकृष्ण न छाटा सा उत्तर दिया था।

जो स्वय दूसरो को निद्व न्द्व होन का परामश दता है वह कस द्वन्द्वग्रसित होता है ? अजुन को आश्चय हुआ था।

"बात उस द्वन्द्व की है नही। यह एक बडी बात है' श्रीकृष्ण न धीरे-धीरे आरम्भ किया था 'वास्तविकता यह है कि हमारा वातालाप उस मोड पर पहुच गया है जहा मुझे बाध्य होकर उस भेद को प्रकट करना पड रहा है जिस मैंने गोपनीय ही रखने को सोचा था।

'मुझसे भी ? जिस आप अपना अन्तरग सखा मानत हैं ?'

'हां, तुमस भी क्योकि विश्वास शायद उस पर तुम भी नही करोग **यद्यपि**

विश्वास करने का प्रयास तुम अब तक करते आये हो।"

'किस बात पर?"

"तुम शायद मेरा इंगित समझ रहे हो।" श्रीकृष्ण ने मुसकराने का प्रयास किया।

'वह आपके परमेश्वर होने वाली बात पर?' अर्जुन कुछ सोचते हुए बोला।

"शायद।'

'जब अधिकांश आपको परब्रह्म परमेश्वर का स्वरूप मानते ही हैं तो मेरे संशय ग्रस्त होने से क्या होगा फिर आपने ही तो कहा कि मैं भी विश्वास करने का प्रयास कर रहा हूं। ऐसे मैंने भी तो कई बार आपको उसी रूप में देखना चाहा है कहा भी है।

'कहने और विश्वास करने में अन्तर होता है अर्जुन मैंने पहले भी यह बात कही थी। कहने को हम किसी के लिए बहुत ऊंची ऊंची बात मुंह से कह लेते हैं पर आवश्यक नहीं कि उसमें हमारे अन्तःकरण हमारे विश्वास का भी साथ हो। उससे हमारी आस्था भी जुड़ी हो। और यह भी कोई आवश्यक नहीं कि मैं आज अभी अपने मुंह से कह भी दूं कि सच में वही हूं जो अधिकांश लोग मानते रहे हैं तो तुम पूर्णतया विश्वास ही कर लो। लेकिन बात यहां तक आ गई तो उसे बीच में छोड़ा भी तो नहीं जा सकता?' कह कर श्रीकृष्ण ने अर्जुन की आंखों में सीधे देखा। वहां विश्वास था, नहीं भी था। उनके ढेर सारे देखे सुने चमत्कारों ने कई बार स्वयं उसके मुंह से ही उन्हें भगवान के रूप में सम्बोधित कराया था। कई बार स्वयं उसने भी इसी मान्यता के पक्ष में तर्क दिए भी थे। पर उनकी आंखों में तैर रहे संशय को भी वे कैसे सहसा उपेक्षित कर दें? चमत्कार तो आंखों का भ्रम भी हो सकता है। साथ ही केवल चमत्कार के भरोसे भगवान नहीं हुआ जा सकता। ऐसा होता तो संसार के सारे बाजीगर ईश्वर ही बन बैठते। खैर अभी तो जो कहना है उसे कह ही देना है विश्वास दिलाने की घड़ी आयेगी तो वह भी किया जाएगा। श्रीकृष्ण ने सोचा और आरम्भ किया यहीं नहीं तीनों लोकों में भी मेरे लिए कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है। श्रीकृष्ण यहीं पर रुके। बात अब अप्रत्यक्ष नहीं प्रत्यक्ष रूप से कही जा चुकी थी। तीनों लोकों का अर्थ हो था कि वे त्रिलोक्यपति हैं। अर्जुन पर इसका प्रभाव देखना था इससे पूर्व कि बात आगे बढ़ाई जाय। प्रभाव अपेक्षित ही था। वह पहले की अपेक्षा अधिक ही सावधान हो सुनने की मुद्रा में आ गया था पर आंखों में तैरते संशय के समाप्त होने में अभी विलम्ब था। पर बात तो अब स्पष्ट करनी ही पड़ेगी। जब तक दूसरे उन्हें त्रिलोक्यपति, सर्वेश्वर और साक्षात परब्रह्म मान रहे थे आज उन्होंने उसे स्वयं स्वीकारा था। अब पीछे मुड़ने की स्थिति में ये थे कहां?

हां तो मैं कह रहा था उन्होंने आरम्भ किया कि तीनों लोकों में मेरे लिए कुछ भी करणीय नहीं है। कुछ करने की आवश्यकता नहीं है मुझे क्योंकि कुछ भी ऐसा प्राप्य नहीं है जिसे मुझे प्राप्त करना है। कोई आवश्यकता मेरी अपूर्त नहीं है। ऐसी स्थिति में भी मैं सदा कर्म रत रहता हूं। और कुछ नहीं तो अभी तुम्हारा सारथ्य ही कर रहा हूं। जानते हो क्या?

नहीं। अर्जुन ने छोटा सा उत्तर दिया। शायद सारथ्य की बात वह सोच रहा था। शायद यह कि त्रिलोकाधीश्वर आज उसके रथ का सारथि बना बैठा है

और तब भी वह भय ग्रस्त है, भय ग्रस्त नही तो मोह-ग्रस्त ! यह विडम्बना नही तो क्या है ?

'क्योंकि यदि मैं सावधान होकर सदा कम रत नही रहू तो शेष लोगो का क्या होगा ? सभी तो मेरे द्वारा ही दिखाए माग पर चलेंगे ? तब तो मेरे अकमण्य होते ही सभी कम छोड बठेंगे। यदि मैं कम नही करू तो पृथ्वी ही नही शेष सारे के-मार लोक कत्तव्यहीनता का शिकार हो समाप्त हो जाय। हा अकमण्यता, निष्क्रियता एव गतिहीनता का ही सूचक है और गतिहीनता सूचक है अन्त का मत्यु और सवस्व-समाप्ति का।"

"कुछ समय रह हो तुम ? श्रीकृष्ण न रुक कर पूछा।

"समझ रहा हू जनादन ! समझन का प्रयास कर रहा हू, नही समझ रहा तो केवल इतना कि अब तक तुम्हे क्या ठीक से नही समझ सका। तुम तीनो लोको के महेश्वर सदा मेरे साथ डोलते रहे और मैं तुम्हे एक सामान्य मनुष्य ।

छोडो इस बात को श्रीकृष्ण ने बीच म ही टोका मैं कहने जा रहा था कि इस प्रकार सभी अकमण्य हो जाय तो म सभी लोको म घोर अव्यवस्था और असन्तुलन का कारण बन सकता हू। इस प्रकार तुम जिस वणसकरता की बात कर रहे थे उसका कारण म स्वय बन सकता हू और अन्तत इस घोर अव्यवस्था, असन्तुलन और अकमण्यता के फलस्वरूप मेरे ही द्वारा सष्ट सारी प्रजा, सम्पूण चराचर सष्टि विनाश को प्राप्त हो सकती है।

अजुन आश्चय चकित सा यह सब सुन रहा था। तो यह महत्त्व था कम का कत्तव्य का। सभी लोको का सष्टि कर्ता जिसकी इच्छा मात्र से सब कुछ सष्ट सम्पन्न हो जाता है वह भी क्रियाशील होने को बाध्य है।

"अब मैं कम के सम्बन्ध म मूल बात पर आऊ ?

मूल बात ? इतना कुछ सुनने के बाद भी अभी मूल बात रह गई है क्या अजुन ने सोचा।

जिस तरह विद्या बुद्धि हीन व्यक्ति फलाशा के कारण पूण आसक्ति भाव से कम-सम्पादन म लगे रहते है उसी तरह विद्वानो को भी कम म सवदा प्रवत्त रहना चाहिए अन्तर इतना ही कि उनम आसक्ति का अभाव होना चाहिए। हमारी तथाकथित बुद्धिमत्ता और ज्ञान को कम-सम्पादन के आडे नही आना चाहिए। यह तुम्हारी बुद्धिमत्ता ही तो है जो तुम्हें निश्चय अनिश्चय और निणय अनिणय की स्थिति म डालकर कम च्युत कर रही है वरना ये असख्य महारथी, रथी और पदाति तो बिना एक क्षण भी विचार किए युद्ध म रत होने को तत्पर खडे हैं। कहा है इनम कोई सशय कोई मोह ?

तो भीष्म, द्रोण और कृप के समान ये सभी आचाय मूर्खो—सामान्य जनो—की श्रेणी म आते है ? ये ही तो युद्ध के लिए तत्पर खडे है।

नही, ये मूख नही है पर तुम्हारी तरह ग्रन्थ का ज्ञान जिसे अज्ञान ही कहोगे इन पर हावी नही है। ये उम्र और अनुभव म तुमसे बडे हैं और ये निश्चय ही सत्य से परिचित है। इनकी अनासक्ति ही इनका कत्तव्य प्रेरित कर रही है, जबकि अधिकाश की आसक्ति ने उन्हे समर भूमि म ला खडा किया है। भीष्म द्रोण और कृप आदि को जय-पराजय से क्या लेना है ? धरती का एक टुकडा भी तो नहा चाहिए इन्हे यद्यपि शेष लोग तो इस लालच म बधे होगे कि अपने पक्ष

जय हुई तो कुछ-न-कुछ तो हाथ लगता ही।

"बड़ी अच्छी बात है जिस तथ्य को मैं सिद्धान्त द्वारा समझाना चाहता था उसे तुमने स्वयं ही प्रमाण द्वारा स्पष्ट कर दिया। तो जिस तरह बहुत सारे सेनानी और योद्धा आसक्ति से वध कर और जिस तरह भीष्म, द्रोण और कृप की तरह महापुरुष अनासक्ति भाव से कर्म के लिए सन्नद्ध हैं, तुम भी वैसा ही करो अन्तर यही कि तुम्हारे उदाहरण ज्ञानवान् गुरुजन ही बनें, दुर्योधन की तरह दुर्बुद्धि और अज्ञानी नहीं। जैसा कि पहले कहा बुद्धिमानों को दूसरों के पथ प्रदर्शन के लिए भी सही मार्ग निर्धारित करना पड़ता है, अतः कर्म तुम्हारे और मेरे सदृश लोगों के लिए भी अनिवार्य है।

'बल्कि मैं तो यह भी कहूँगा कि जो आसक्त भाव से ही सही कर्म में लगे हैं उन्हें व्यर्थ का उपदेश देकर आसक्ति-अनासक्ति की बात कर उन्हें संशय में डालने का प्रयास भी उचित नहीं है क्योंकि महत्त्व कर्म का ही है—किसी भाव से सही वे कर्म कर तो रहे हैं? बुद्धिमानों के लिए स्वयं के आचरण को सम्यक रखते हुए अर्थात् निस्संग रहकर कर्मयोग का आचरण करते हुए उनसे कर्म सम्पादित कराते रहना ही उचित है। कम-से-कम, कर्म रत तो रहेंगे वे। कर्म-योग जब सीखना होगा सीख लेंगे। सृष्टि का क्रम तो नहीं प्रभावित होगा उनकी अकर्मण्यता से।

अर्जुन सोच रहा था श्रीकृष्ण कितना महत्त्व दे रहे हैं कर्म को कि अपने प्रिय कर्म-योग—निस्संग भाव से कर्म रत रहने की बात—की भी बलि चढ़ाने को तत्पर हैं। सच कर्म कितना महत्त्वपूर्ण है इस कर्मयोगी के लिए तभी तो यह कहता है कि तीनों लोकों में कुछ भी करणीय नहीं रहने पर भी वह कुछ-न कुछ करता ही रहता है।

तुम कुछ सोच रहे हो। श्रीकृष्ण ने टोका।

'नहीं कुछ खास नहीं। तुमसे सुनना ही अच्छा लगता है। कृपया सुनाते जाओ।

"मात्र सुनने से क्या होगा श्रीकृष्ण मुसकराए, 'उसे हृदयंगम भी करना होगा।

'हृदयंगम-योग्य बातें तो स्वतः हृदय में बैठ ही जाती है, अर्जुन ने निवेदन किया अब तक तुमने जो कुछ कहा मैंने माना ही तो। भले ही अपने समझने बूझने के लिए कहीं पर कुछ प्रश्नचिह्न लगाए हों, कुछ तर्क किया हो पर अंततः उस सबको तो अपनाना ही पड़ा जिसे तुमने कहा। कहा मैं उतर रहा हूँ किसी कुतर्क पर?

उतरोगे भी कैसे? श्रीकृष्ण ने रस लेते हुए कहा, शिष्यत्व को पहले ही ग्रहण कर चुके हो—शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्—मैं तुम्हारा शिष्य बना, अब तुम मुझे उपदिष्ट करो। शिष्यत्व स्वीकारे बिना मैं तुम्हें इतना कुछ बताने वाला भी कहाँ था?

ठीक है। जारी रखो इस क्रम को। पूर्ण मार्ग निर्देशन हो रहा है मेरा। बहुत सारी व्यर्थ की ग्रंथियाँ छिन्न होती जा रही हैं।

एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कहने जा रहा हूँ श्रीकृष्ण ने मुसकराते हुए कहा।

अर्जुन इस मुसकान का अर्थ नहीं समझ सका पर सारी इंद्रियों को उसने कर्णवत अवश्य कर लिया।

"यह कम भी बडा विचित्र है। यहा कौन कुछ करता है और कौन कराता है ? ठीक वस ही जसे कौन किसे मारता और मरवाता है ?

"यह अहकार व्यथ है कि मैं कर्ता हू—मैं कुछ करने जा रहा हू अथवा मेरा मन, मैं कुछ नही करूगा।"

यह क्या हुआ ? अजुन को लगा एक करारा चाटा ही जड दिया जनादन ने उसके चेहरे पर। अब बात समझ मे आई। क्या कह रह हैं वे यही न कि वह कौन है कुछ करन वाला दूसरे शब्दा मे यह कहने वाला कि वह युद्ध नही करेगा।

"हा अहकार ही है यह सोचना,' श्रीकृष्ण ने अपनी बात को जारी रखते हुए कहा, ' कि मैं कर्ता हू। प्रकृति सबको विवश कर रही है अपने अनुसार काय करने को। प्रकृति अथवा परिस्थिति। प्रकृति की कुछ-न-कुछ कर लेने के इसी गुण इसी विशेषता के कारण तो सारे कम सपादित हो रहे हैं और अपने अहकार का शिकार मूढ व्यक्ति यह सोचता है कि वही सब कुछ कर रहा है ठीक वसे जसे दोना टागो को आकाश की ओर उठाकर सोने वाला वह पक्षी विशेष सोचता है कि सम्पूण आसमान उसके टिकाए ही टिका है।

"तत्त्वा को, यथाथ को जानने वाले इस बात को अच्छी तरह जानते है अजुन कि प्रकृति के गुण ही एक दूसरे मे बरत कर कर्मों का सम्पादन कर रहे हैं। इस सत्य को जानने वाले कभी तुम्हारी तरह मोह ग्रस्त नही होत। प्रकृति के इन गुणा अथवा विशेषताओ गुणा को एक दूसरे मे बरतने की बात नही जानने वाले ही प्राकृतिक गुणो द्वारा सम्पादित हो रहे इन कार्यों से अपने को सयुक्त कर व्यथ के बधन म पडन है। ऐसे मन्द बुद्धि वाले मूर्खों को जसा कि पूव म ही कहा उसी रूप म कमरत रहने देना ही श्रेयस्कर है। तत्त्व का उपदेश देकर और आसक्ति अनासक्ति के चक्कर म डालकर उ हे कत्तव्य विमुख करना बुद्धिमानी नही होगी।

श्रीकृष्ण ने बात समाप्त की तो अजुन अवाक उनकी ओर देख रहा था। उन्हे लग गया कुछ बातें उस पर अब भी स्पष्ट होनी शेष हैं।

'शायद मेरे समझाने म कही कुछ कमी रह गई।'

'कोई विशेष नहीं हा प्रकृति के गुणो का ही गुणा मे बरत कर कम सचालित कराने वाली बात मेरी समझ म नही आई।

श्रीकृष्ण मुसकराए और बोले, ' बात है ही कुछ टेढी। टेढी तो यह प्रकृति ही है—मेरी ही शक्ति जो है वह—तो उससे सम्बन्धित बातें तो कुछ कठिन होगी ही।

प्रकृति के गुणा का गुणो मे बरतने की बात समझाई जा सकती है। कुछ उदाहरण लो। गम हवा का गुण है ऊपर उठना, सामाय हवा का गुण है खाली स्थान को भरने के लिए दौड पडना। इससे क्या होता है झझावात की सष्टि। सूय रश्मियो का गुण है पानी को वाष्प म परिवर्तित करना, इस वाष्प का गुण है ऊपर जाकर बादल के रूप मे परिवर्तित हो जाना और फिर पहाडो और वृक्षो का सान्निध्य पा जलधार बनकर बरस पडना। प्रकृति मे ऐसे सारे उदाहरण हैं गुणा के गुणो मे बरतने के। मनुष्य प्रकृति से परे नही है उसी से उत्पन्न है, उसी का अग। उसके साथ भी यही गुणा म गुणा के बरतन का खेल चलता है और यह खेल ही उसे क्रियाशील करता है। शरीर के अन्दर जठराग्नि है उसका गुण है जो कुछ ग्रहण किया जाए उसे गला-पचा देना। उसका दूसरा गुण है प्रदीप्त होकर पुन कुछ पाने की आशा करना उसका यह गुण तुम्हा

अन्दर क्षुधा की सृष्टि करता है और क्षुधा का गुण है तुम्हें व्यग्र कर देना, कुछ-न-कुछ कहीं-न-कहीं से प्राप्त कर उदर में डालने के लिए बाध्य करना और क्षुधा का यह गुण उसकी यह विशेषता ही तुम्हें कर्म के लिए प्रेरित करती है। तुम उत्कृष्ट या निकृष्ट कार्यों द्वारा क्षुधा-पूर्ति को बाध्य होते हो। कर्म स्वतः बन आता है। प्रकृति स्वयं इसे तुम्हारे समक्ष उपस्थित कर देती है अपने गुणों को अपने ही गुणों में 'बरता' कर। अभी न तुम बड़ी-बड़ी बातें कर रहे हो। देखना तो यह है कि थोड़ी देर बाद क्षुधा की ज्वाला अन्दर जगती है तो तुम हाथ पर हाथ रख बैठे रहते हो या कहीं-न-कहीं से क्षुधा पूर्ति का प्रयास करते हो। अब बात आई समझ में प्रकृति के गुणों के गुणों में बरतने की?' श्रीकृष्ण ने पूछा।

'आ गई।'

'आ गई तो ठीक है पर है एक सामान्य व्याख्या ही किन्तु तुम्हारे समझने के लिए पर्याप्त है। इस मुझ परमेश्वर की इस अपार शक्ति प्रकृति के गुणों, विशेषताओं और उनकी क्रिया प्रतिक्रिया को समझना बहुत आसान भी नहीं है। गहराई में जायें तो प्रकृति के सारे पदार्थ एक ही ऊर्जा से बने हैं और यह अणु-परमाणुओं के अनुपात की विशेषता है कि कोई वस्तु कुछ दिख रही है और कोई कुछ, प्रकृति में कहीं कुछ हो रहा है तो कहीं कुछ। पर है यह सब गुणों का गुणों में बरतना ही।

खैर छोड़ो इन बातों को। इनका अभी यहाँ कोई सन्दर्भ नहीं। मैं तुम्हारी वर्तमान स्थिति के सन्दर्भ में एक उपयोगी बात कह रहा हूँ।'

'कहिए।' अर्जुन ने उत्सुकता से भर कर कहा।

'कर्म बन्धन-कारक लगते हैं इसीलिए तुम उनसे भागना चाहते हो। युद्ध में गुरु-जनों स्वजनों की हत्या पाप और अधर्म का कारण बनती है इसीलिए तुम युद्ध विरत हो रहे हो। यही न?'

'हाँ बात तो यही है।'

'तो इसका एक उपाय मैंने पहले बताया—निस्संग होकर कार्य करो। यह कार्य तुम्हें बंधन में नहीं डालता। कर्म में निर्लिप्तता नहीं है तो तुम पाप-पुण्य के भागी नहीं बनते। अब एक दूसरी और उससे भी महत्वपूर्ण बात कह रहा हूँ।'

"क्या?"

'कर्मों का दायित्व अपने ऊपर नहीं लो। अपने सारे कर्मों को मुझ परमेश्वर को समर्पित कर दो। इस समर्पण के बाद तो तुम्हारे पास कुछ नहीं बचता है जो तुम्हें बाँधे जो तुम्हारे लिए पाप-पुण्य का कारण बने।'

'यह कैसे सम्भव है। कार्य मैं करूँ और यह मान लूँ कि कह देने मात्र से वह आपको समर्पित हो गया और मैं उसके फलाफल से रहित था।' अर्जुन ने अविश्वास से भर कर कहा।

'सम्भव है' श्रीकृष्ण ने आरम्भ किया 'पर इसके लिए मात्र कह देना पर्याप्त नहीं होगा। इसके लिए एक विशेष प्रकार के भाव, विशेष चेतना का विकास करना होगा। यह चेतना अध्यात्म चेतना होगी।'

'यह अध्यात्म चेतना क्या है?' अर्जुन पूछ बैठा। श्रीकृष्ण समझ गए कि यह बात उसके पल्ले नहीं पड़ रही।

'अध्यात्म शब्द का सम्बन्ध है आत्मा से ही। यह तो मैं आरम्भ में ही बता

चुका कि यह आत्मा एक सर्वव्यापी तत्व है अर्थात वह सभी प्राणियों में तो व्याप्त है ही, सभी प्राणियों के कर्ता मुझ परमेश्वर में भी वह अवस्थित है। यहां उसकी सत्ता है परमात्मा। आत्मा एक तरह से परमात्मा का ही अंश है जैसे समुद्र की लहर समुद्र का ही भाग है। आत्मा और परमात्मा के इस सम्बन्ध का ज्ञान ही अध्यात्म चेतना है। अध्यात्म चेतना के विकसित होने पर कर्मों का परमेश्वरार्पण अर्थात परमेश्वर को समर्पित करना कहां कठिन है? जब आत्मा परमात्मा प्रायः एक ही हैं तो आत्मा द्वारा सम्पादित कार्य को परमात्मा को तुम समर्पित क्यों नहीं कर सकते? और यह तो पहले ही कहा कि तुम देह नहीं आत्मा हो अतः जिन कर्मों को तुम देह द्वारा सम्पादित मानते हो, वह मूलतः आत्मा द्वारा ही सम्पादित हैं।

'क्यों अब भी कुछ अस्पष्ट रह गया?' श्रीकृष्ण ने पूछा।

"नहीं रहा।"

नहीं रहा तो चिंतारहित होकर तुम युद्ध करो और युद्ध के सारे फला फल मुझे समर्पित करते चलो। अब तो ठीक?

बात तो ठीक ही लग रही है।' अर्जुन ने हामी भरी।

हां, बात ठीक है अर्जुन! जो मेरी इस उक्ति में सन्देह नहीं करते और सदा श्रद्धापूर्वक इसके अनुसार आचरण करते हैं वे सारे कर्म-बन्धनों से स्वतः मुक्त हो जाते हैं। और जो सारे ज्ञानों से रहित मूढ़ लोग मेरे इस मत में अविश्वास कर उसके अनुकरण से मुंह मोड़ते हैं उनको नष्ट ही समझो। उनके विनाश और पतन को कोई नहीं रोक सकता।

श्रीकृष्ण ने बात समाप्त की। उन्हें लगा कि कर्म को लेकर अब इतना कुछ कहा जा चुका कि वह पर्याप्त है। अर्जुन के मुख की ओर देखकर भी वे आश्वस्त हुए। उसकी मुख मुद्रा में स्पष्ट था कि उनकी बातों पर पूरी तरह उसको विश्वास जम आया था। पर उनको इसी मोड़ पर वे नहीं छोड़ सकते थे। उन्होंने प्रकृति की बात चलाई थी और अगर वे प्रकृति द्वारा सम्भावित संकटों की ओर उसका ध्यान आकृष्ट कर उनसे सुरक्षा के यत्न नहीं बता देते तो उनका कार्य अधूरा ही रह जायगा।

अर्जुन! उन्होंने आश्वस्त से लगते पार्थ को सम्बोधित किया।

जनार्दन!

'जानते हो प्रकृति का एक अर्थ स्वभाव भी है—तुम्हारा मेरा अन्य सारे लोगों का स्वभाव?'

जानता हूं।" अर्जुन ने स्वीकार में सिर हिलाया।

"तो एक बात यह भी जान लो' श्रीकृष्ण ने शब्द शब्द पर जोर देते हुए कहा, 'मूर्ख से लेकर विद्वान् तक अपने स्वभाव के वश में है। अपनी प्रकृति के अनुसार ही आचरण करते हैं। यद्यपि इस बात का यहां प्रसंग नहीं है पर यह बता देना आवश्यक है कि यह प्रकृति बहुत प्रबल है। निग्रह का हर उपाय यहां व्यर्थ हो जाता है। व्यक्ति ही क्या हर जीव की प्रकृति अपने अनुसार ही उससे आचरण करा लेती है।

'जब हम प्रकृति की बात करते हैं तो स्वभावतः इन्द्रियों के महत्व की बात सामने आती है। इस सम्बन्ध में पहले भी कह चुका हूं। यहां यह बताना है कि यह इन्द्रिय का अपने अर्थ अर्थात् लक्ष्य के प्रति राग और द्वेष स्वाभाविक है।

इस राग और द्वेष से ही मुक्त होने की आवश्यक्ता है क्योंकि ये ही व्यक्ति के प्रगति-पथ के सबसे बडे लुटेरे है—सबसे बडे बाधक।"

अजुन अवाक। श्रीकृष्ण को समझते देर नही लगी कि अजुन किस बात पर भटक रहा है।

'इन्द्रिय का इन्द्रिय के 'अथ के प्रति राग द्वेष की बात तुम शायद नही समझे। मैं समझता हू। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। एक बार मैं ऐसा कुछ पहले भी कह चुका हू।

'आख को ही ला। आख का 'अथ एव लक्ष्य—विषय—क्या है, दृश्य। यह दृश्य सुन्दर भी हो सकता है असुन्दर भी। सुन्दर हुआ तो वह उसे आकृष्ट करेगा, उसके प्रति राग उत्पन्न होगा असुन्दर होगा तो उसके प्रति दुर्भाग्य, वितृष्णा पदा होगी यह द्वेष होगा। दोनो बन्धनकारी हैं। प्रेम हुआ तब भी निरन्तर उसी की चितना करोगे द्वेष हुआ तब भी उसी पर ध्यान केन्द्रित रहेगा। मनुष्य न तो मित्र को भूल पाता है न शत्रु को। बाधते दोनो है अलग-अलग रूपो म। समझ गए अब?'

"समझ गया हृषीकेश! अच्छी तरह समझ गया।

तो ठीक है। लगे हाथो एक बात और भी कह दू। मैंने कभी नियत काय की बात की थी। नियत कम ही व्यक्ति का धम है। धम यहा सामान्य अथ म प्रयुक्त न होकर विशेष अथ म प्रयुक्त हो रहा है—करणीय के अथ मे। उदाहरण के लिए अग्नि का धम है जलाना तो व्यक्ति का जो स्वधम अर्थात नियत निर्धारित काय है उसे हठात् त्याग कर दूसरे का धम अथात काय इसलिए नही ग्रहण कर लेना चाहिए कि अपना काय देखने म निकृष्ट प्रतीत होता है और दूसरे का उत्कृष्ट। अक्सर ऐसा होता है व्यक्ति को दूसरे का व्यवसाय अथवा काय और अपनी बुद्धि सदा श्रेष्ठ मालूम पडते हैं। मैं तो यही कहूगा कि अनावश्यक रूप से पर धम अथवा पर-काय को अपना लने की अपेक्षा मत्यु का ही वरण करना पडे तो वह श्रेयस्कर है। पर धम सदा भयावह होता है।'

पर आपने तो नियत काय की व्याख्या क समय स्पष्ट किया था कि नियत काय म परिवतन भी हो सकता है। आपने परशुराम और विश्वामित्र आदि के उदाहरण भी दिए थे। अजुन ने याद दिलाई।

मैं उस बात पर अब भी दढ हू। यहा पुन प्रकृति अथवा स्वभाव की बात आती है। अगर कोई और काय जो तुम्हारे प्रकृति के अनुकूल आता है तो अपने नियत काय को छोडकर तुम उसे अपनाने मे स्वतत्र हो। मैं तो हठात धम अर्थात कम के परिवतन की बात कर रहा था। जसे तुम अभी की सहसा अपने क्षत्रिय धम को छोडकर ब्राह्मणो के लिए उचित सन्यास माग को अपनाने के लिए प्रस्तुत बठे हो। श्रीकृष्ण ने मुसकराकर कहा।

मुसकुराने का प्रयास अजुन ने भी किया। शायद वह कहना चाहता था क्या बार-बार मुझे मेरे स्खलन का स्मरण दिला मुझे सकोच मे डाल रहे हैं?

श्रीकृष्ण ने अजुन मुख की मुस्कान को लक्षित किया और इस प्रकरण को यहा समाप्त करना चाहा कि अजुन ने अपने मन म देर से उमडते घुमडते एक प्रश्न को प्रस्तुत कर दिया। वस्तुत जब स जनादन ने प्रकृति और उसके गुणो की बात चलाई थी तभी से यह प्रश्न उसे मथ रहा था।

"एक बात पूछनी है हृषीकेश !" अर्जुन ने अपनी जिज्ञासा प्रकट की।

"पूछो।" श्रीकृष्ण ने उसका मन बढ़ाया।

"पूछने मे सकोच होता है फिर भी पूछना ही पडता है कि ऐसा क्यो होता है कि नही चाहते हुए भी हम बलात नियोजित होने की नाइ पाप करने को बाध्य हो जाते है ? कौन प्रेरित करता है इसके लिए हम ?'

"काम।" कृष्ण ने एक शब्द मे उत्तर दिया।

"काम ?" अर्जुन ने जोर देते हुए पूछा।

"हा, रजोगुण से उत्पन्न यह महाभक्षी महापापी काम अर्थात वासना ही इस ससार म हमारा सबसे बडा शत्रु है। यह काम ही क्रोध का भी कारण है—काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भव ।

'मैं बताऊ ज्ञानियो का यह नित्य शत्रु काम हमारे ज्ञान को ठीक उसी प्रकार ढक देता है जिस प्रकार धुआ अग्नि को ढकता है धूल दर्पण को ढक देती है और झेली गर्भ को ढके रखती है। कौन्तेय यह काम ऐसी अग्नि है जिसकी क्षुधा की पूर्ति कभी नही होती। इससे बचो अर्जुन ! इससे बच गए तो सब कुछ से बच गए।' श्रीकृष्ण ने प्राय विह्वल होकर कहा।

"पर इसका स्थान ?" अर्जुन ने पूछा। "शत्रु का वास-स्थान जान लें तो उसकी समाप्ति मे सुविधा होती है।

"इद्रिया, मन और बुद्धि ही काम के वास स्थल हैं। इन्ही को वश म कर वह व्यक्ति के ज्ञान को समाप्त कर उसे मोहित कर देता है। अकरणीय करा बैठता है।

'इसलिए आवश्यकता तो इस बात की है कि इद्रियो को नियन्त्रित कर ज्ञान विज्ञान के महान शत्रु पाप-स्वरूप इस काम को विनष्ट किया जाय।'

'इद्रियो का नियन्त्रण आसान है ?" अर्जुन ने शका व्यक्त की।

नही है" श्रीकृष्ण ने कहा "पर मैं इनके नियन्त्रण का यत्न बताता हू। माना इद्रिया प्रबल है पर इद्रियो के ऊपर मन है जो इनसे ज्यादा प्रबल है, इनका नियन्त्रक है अत मन को नियन्त्रित कर इद्रियो को नियन्त्रित किया जा सकता है। पर मन भी दुर्बल होता है और जसा कहा काम का वास वहा भी है, अत, मन की नियन्त्रिका शक्ति जो बुद्धि है उसको वश म कर उसके द्वारा मन को नियन्त्रित कर उस नियन्त्रित मन द्वारा इद्रियो को नियन्त्रित किया जा सकता है।

'पर बुद्धि भी तो विचलित हो सकती है ? आप ही ने तो उसे भी काम का एक वास-स्थल बताया ?'

'हा बताया,' श्रीकृष्ण ने कहा 'पर मेरी पूरी बात को सुन लो। बुद्धि से भी प्रबल उससे भी ऊपर एक वस्तु है और वह है आत्मा। काम के विनाश के लिए तुम्हे इस आत्मा का सहारा लेना होगा। अपनी विकसित आत्मा द्वारा अपनी बुद्धि को पूरी तरह नियन्त्रित कर तुम काम रूपी इस दुर्धर्ष शत्रु को समाप्त कर सकते हो।'

'अर्थात आत्मा से बुद्धि को बुद्धि से मन को और मन से इद्रियो को नियन्त्रित कर इस काम को नियन्त्रित किया जा सकता है ?"

"हा मार्ग तो यही है।' श्रीकृष्ण ने कहा और थोडी देर के लिए मौन हो गए।

प्रात की बेला म जसे दिशाए शान्त रहती हैं और एक अलौकिक अनाम सौन्दय चारो ओर व्याप्त रहता है दीघ समाधि से जगे योगी का मुख जसे प्रफुल्ल पद्म की तरह निर्विकार एव निर्विकल्प प्रतीत होता है, वायु के शात पडे रहने मे मध्य रात्रि को सरोवर-सलिल जसे अनुद्वेगित और अनालोडित पडा रहता है वातहीन स्थिति म जसे दीप शिखा निष्कम्प और निश्चित प्रज्ज्वलित रहती है वसे ही उस समय अजुन का आनन निश्चिन्त निर्विकार और निद्वन्द्व प्रतीत हो रहा था।

श्रीकृष्ण न अपने शिष्य और सखा की इस परिवर्तित स्थिति को देखा और प्रसन्न हुए। उनकी बातो का अपेक्षित प्रभाव पडा था, अत वे आश्वस्त हुए। पर बात निकल पडी थी तो अभी बहुत कुछ कहना शेष था। अजुन ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया था सखा के स्थान से उठाकर सहसा गुरु के उच्चासन पर आसीन कर दिया था उन्ह। गुरु का दायित्व तो उन्ह निभाना ही था। एक सम्यक जीवन दशन को जो उसकी जीवन-यात्रा को पूणतया सफल कर दे उसके समक्ष उन्ह स्पष्ट ही कर देना था। शिष्य से कुछ भी छिपा कर तो नही रखा जा सकता। उसके लिए तो कुछ भी अदेय नही है। श्रीकृष्ण ने निश्चित कर लिया जीवन-यात्रा के सभी विघ्न-बाधाओ स तो अजुन को अवगत करा ही देना है, एक स्वस्थ और सतुष्ट जीवन प्रणाली की आवश्यकताओ से भी उसे पूणरूपेण परिचित कराना है।

वे जानते थे जो बात वह अजुन को बता रहे थे वह नई नही थी। पहले भी इसका ज्ञान औरलोगो को था काल के अनन्त प्रवाह म वह विलुप्त हो गया था। फिर जसे कोई सफल गोताखोर समुद्र के गहरे गभ म उतर रत्नो को चुनता है उसी तरह आज के भूत के गभ स इन ज्ञान मोतियो को चुन चुन अपन शिष्य और सखा के समक्ष सजाने के उपक्रम म लगे थे।

'जानते हो जिस योग—ज्ञान—कमयोग—की बात तुमने सुनी उसके प्रथम श्रोता तुम नही हो?' श्रीकृष्ण ने सहसा कहा। इसकी आवश्यकता नही होकर भी थी। अजुन को इस बात का अहकार भी हो सकता था कि साक्षात परब्रह्म परमेश्वर म ऐसे सारगर्भित उपदेश के प्रथम श्रवण का सौभाग्य उस ही प्राप्त हुआ है और अहकार का लेश मात्र भी श्रीकृष्ण अपने अनुयायियो म सह लें ऐसा सभव ही नही था।

'मैं इसका प्रथम श्रोता नही हू तो कौन है?' अजुन पर अपेक्षित प्रतिक्रिया हुई थी। उसके शान्त मुख पर सहसा अशान्ति की कुछ रेखाए उभर आई थी। अच्छा किया उन्होंने श्रीकृष्ण न सोचा कि अहकार के इस अकुर का विकसित होने के पहले ही निर्मूल कर दिया।

'हा, इसके प्रथम श्रोता तुम नही ग्रहपति विवस्वान सूय हैं।' श्रीकृष्ण न सक्षिप्त उत्तर दिया।

क्या कह रहे हैं गोविन्द?' अजुन ने किंचित आश्चय स पूछा मात्र प्रकाशपुज य सूय किसी व्यक्ति की तरह श्रोता अथवा वक्ता बन सकते है?

सूय मात्र प्रकाशपुज नही हैं श्रीकृष्ण मुसकराए 'गायत्री के अधिष्ठाता देवता जो सभी प्राणियो के जीवन का कारण और इस सम्पूण सष्टि का धारक होने के साथ हमारी बुद्धि और विवेक के भी महान प्रेरक हैं को तुम मात्र अग्नि

पिण्ड अथवा प्रकाश-पुज कमे कहते हो ?"

"जानता हू गोविन्द, तुम सूर्योपासक हो और गायत्री-मन्त्र के आस्थावान जापक भी पर सूय को मैं एक विशाल जाज्वल्यमान अग्नि पिण्ड से अधिक मानू, इसके लिए मेरा मन तयार नही हो रहा। अजुन अपने प्रतिवाद पर अटल था।

"बात यहा मन की नही, बुद्धि की है और बुद्धि से परे आस्था की। सूय को एक ग्रह तो मानते हो न ? तो हर ग्रह का एक अधिष्ठाता दवता होता है यह मान लो। वह देवता तुम्हारे और मेरी तरह श्रोता और वक्ता कुछ भी हो सकता है। बात मात्र आस्था और दष्टि की है।'

"तो तुम्हारा मतलब कि वह दवता दृष्टिगम्य है ?'

"आस्थावानो के लिए है ही। जिस तरह गणेश, शिव, दुर्गा, लक्ष्मी आदि की तरह दवता और देवी आस्थावान भक्तो क लिए दष्टिगम्य है उसी तरह तुम्हारे इस तथाकथित मात्र अग्नि पिण्ड सूय का अधिष्ठाता-दवता अर्थात भगवान सविता भी भक्त प्राण व्यक्तियो के लिए दृष्टिगम्य हैं।"

"तो तुमने इस कम-योग का पाठ सवप्रथम सविता को ही पढाया ?"

'हा।

चलो मान भी लिया कि सूय का अधिष्ठाता-देवता श्रोता अथवा वक्ता बन कर किसी के समक्ष उपस्थित हो सकता है पर इस बात को कसे भूल जाऊ कि तुम तो आज उत्पन्न हुए हो प्राय मेरे समकालीन हो और सूय पता नही कब से है। ऐसी स्थिति म तुम उसके गुरु बने यह बात विश्वसनीय प्रतीत होती नही।

हा ! हा ! हा ! हा ! श्रीकृष्ण उन्मुक्त हसे।

क्या ? ' अजुन ने आश्चय किया।

मेरी बात इतना शीघ्र विस्मत कर गये ? कहा था न मैंने कि आत्मा परिधान-परिवतन करती है और अनेक बार उसे नया परिधान अथवा शरीर मिलता है ? तो आज पुन बताना पडेगा कि तुम्हारा और मेरा अभी का होना ही होना नही है इसके पूव भी हम अनेक बार हो चुके हैं जन्म ग्रहण कर चुके हैं। अन्तर इतना ही कि मैं इन सारे जन्मो को जानता हू, तुम नही जानते।'

"क्योकि तुम मनुष्य नही ईश्वर हो, इसीलिए न ?"

"हा।' श्रीकृष्ण ने निसकोच कहा। भेद तो बहुत पहले ही प्रकट हो चुका था। अब छिपाने को रह भी क्या गया था ?

"तो परमेश्वर भी बार-बार जन्म लेता है ?" अजुन ने श्रीकृष्ण को गलत मोड पर पकडना चाहा था।

श्रीकृष्ण पुन मुसकराए थे, 'लेता है उसका जन्म नही होता अवतरण होता है। आज वह श्रीकृष्ण रूप म अवतरित है। इसके पूव भी वह कई रूपो म अवतरित हो चुका है। अन्तर यही है कि कभी वह अपनी कुछ कलाओ से अवतरित होता है और कभी कुछ। सभी कलाओ म सयुक्त, पूर्णावतार कभी-कभी ही होता है।

'पर तुम्हे तो लोग पूर्णावतार ही मानते हैं अवतार भी नही बल्कि साक्षात जगदीश्वर भगवान ?'

तब ज्ञान-युक्त होकर भी अज्ञानी बनने की क्या आवश्यकता है ? जब मुझे ईश्वर मान ही लिया तो मेरी बातो का विश्वास भी करो। ईश्वर के प्रति

अनास्था उचित है क्या ?" श्रीकृष्ण ने मुसकराते हुए कहा।

"चलो मान लिया कि कर्म-योग की यह शिक्षा पहले-पहल तुमने सूर्य को दी। कम-से-कम इसके द्वितीय श्रोता होने का सौभाग्य तो मुझे प्राप्त है ?"

"नहीं।"

"क्या ?" अर्जुन का अहंकार और टूटा।

"मनुष्य को यह ज्ञान आदि मानव मनु के माध्यम से ही प्राप्त हुआ।"

"अर्थात् सूर्य के पश्चात तुमने स्वयं यह ज्ञान मनु को दिया ?" अर्जुन का अहंकार अब निराशा में परिवर्तित हुआ।

"नहीं।" श्रीकृष्ण ने कहा "मनु को यह ज्ञान स्वयं सविता ने ही दिया।"

"अर्थात् सूर्य के अधिष्ठाता-देवता ने ? मनु के समक्ष प्रकट होकर ?" अर्जुन ने जिज्ञासा की।

"नहीं, सूर्य के लिए यह आवश्यक नहीं था। गायत्री-मन्त्र के जापकों को इसका अनुभव है। सूर्य स्फुरणा-मात्र से तुम्हारे अन्दर ज्ञान का संचार कर सकते हैं। गायत्री मन्त्र ही बुद्धि को प्रखर करने के लिए मन्त्रराज है तो इस मन्त्रराज के अधिष्ठाता सविता को किसी के मानस को संस्कारित करने हेतु रूप ग्रहण करना पड़ेगा ?"

"समझ गया" अर्जुन ने कहा।

"कर्म-योग का यह ज्ञान सर्वप्रथम आपने सूर्य को दिया, सूर्य ने मनु को इसे प्रदान किया ? उसके पश्चात ?"

"मनु ने इक्ष्वाकु को दिया। इस प्रकार परम्परा द्वारा यह जनक आदि राजर्षियों तक पहुंचा।"

"किन्तु अभी तो यह किसी ऋषि अथवा राजर्षि महर्षि के पास नहीं है ?"

"हां रहता ही तो मुझे पुनः इसे तुम्हारे समक्ष उपस्थित करने की आवश्यकता क्यों पड़ती ? काल के अबाध प्रवाह में यह ज्ञान लुप्त हो गया था। चूंकि तुम मेरे सखा हो भक्त हो इसीलिए मैंने तुम्हारे समक्ष इस उत्तम रहस्य का उद्घाटन कर दिया।"

श्रीकृष्ण की बात समाप्त होते ही अर्जुन के मुख पर सहसा एक स्मिति खेली जैसे सांझ में मुर्झाये किसी कमल पुष्प रवि रश्मियों का स्पर्श मिल गया हो।

"क्या बात है ?" श्रीकृष्ण ने भी प्रसन्नता से भरकर जिज्ञासा की।

"मेरा सौभाग्य तो सिद्ध हुआ न ? आप मुझे जिस अधिकार से वंचित समझ रहे थे, वह अधिकार तो मेरा सुरक्षित ही रहा न ?" अर्जुन की मुसकान रहस्यमय हो आई।

"मैं कुछ समझ नहीं सका।" श्रीकृष्ण समझते हुए भी नहीं समझने का नाटक करते हुए बोले।

"तुम समझते सब हो गिरिधारी।" अर्जुन की मुसकान जब उन्मुक्त हास्य में बदल गई थी "लीलाधर हो न ? लीला करने में ही तुम्हें आनन्द आता है। मैं कह रहा था कि मनुष्यों में तो मैं ही वह व्यक्ति हूं जिसने सीधे तुमसे यह ज्ञान ग्रहण किया ?"

श्रीकृष्ण हंसे "बात तो तुम ठीक कह रहे हो, पर इसका अहंकार नहीं करना।"

"आपके समक्ष अहकार करने की मूर्खता कौन करेगा ? किसको पता नही कि भक्ता-आश्रिता का अहकार ही आपका प्रिय भोज्य पदाथ है ?' अजुन न सिर झुकाकर निवेदन किया।

कृष्ण प्रसन्न थे कि बहुत दर के पश्चात अजुन के मुख पर प्रथम प्रथम हसी लौटी थी। वह अपने प्राप्त नान, परब्रह्म के प्रत्यक्ष शिष्यत्व पर अदर स आह्लादित हो आया था तो यह अच्छी बात थी, एक शुभ चिह्न। पर अभी तो उस बहुत कुछ सीखना था, उन्हे बहुत कुछ बताना।

"बात चल ही पडी तो अपन सम्बध म और कुछ बता ही दू।" श्रीकृष्ण ने ही मौन तोडा।

'यह मेरा अतिरिक्त सौभाग्य है कि आप मुझ पर इस तरह सदय है। मुझे आज पूरी तरह लग रहा है कि किस तरह इतन दिनो तक आपके साथ रहकर भी मैं नही रहा। आपको जानकर भी नही जाना। सच कितना कुछ जानना शष रह गया है उसक सम्बध म ही जिस मै अपना अतरग मानता रहा हू। इसके लिए मैं किस दोप दू, आपको, अपने का या परिस्थिति को ?

'किसी को नही श्रीकृष्ण ने आश्वस्त किया। सब कुछ समय स घटता है। समय पूव कुछ नही। इस सबको आज इसी दिन इसी कमक्षेत्र-कुरुक्षेत्र म घटना था तो यह पहले कसे घट जाता ?

हा तो आप अपन सम्बध म कुछ कह रह थ ? अजुन न श्रीकृष्ण को स्मरण दिलाने का प्रयास किया।

हां। वह अपने जन्म-कम क सम्बध म था। मैंन पहल कहा कि मरे अनक जन्म हा चुक है—अनक अवतार। मैं यहा स्पष्ट कर दना चाहता हू कि मैं वास्तव म अजन्मा हू और हू अविनाशी अर्थात अज और अव्यय। वस्तुत न तो कभी मैंने जन्म लिया है न कभी मेरा विनाश होगा। सभी प्राणियो का इश्वर हू मैं और मात्र अपनी प्रकृति विशपत ईश्वरीय वातावरण की स्थापना हतु मैं अपनी माया क द्वारा ही अपन को सृष्ट करता रहता हू। दूसर शब्दा म कहो ता उत्पन्न होना रहता हू।

ह भारत! जब जब धम का विनाश होता है और अधम का प्रचार बढ़ता है तब-तब मैं उत्पन्न हुआ करता हू। सामु म ता सज्जना क रक्षाथ और पापियो, दुराचारियो क विनाशाथ मैं हर युग म अपन को सृष्ट करता आया हू।

इस प्रकार मरा यह जन्म धारण करना और धम-सस्थापन अथवा दुष्ट-दलन य सब काय सामान्य नही हैं असामान्य है, प्राकृत नही, दिव्य है। जो उनकी दिव्यता को पहचान लेता है मुझे सामान्य व्यक्ति नही समझ कर वह जन्म मरण क बधन से मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त हो जाता है और फिर इस ससार म नही लौटता।

तुमने ता कहा कि सबको जन्म धारण ही करना पडता है। अजुन न छोटा सा प्रतिवाद किया।

यह तो नियम है। नियम का अपवाद नही होना है क्या अजुन ? नियम का अपवाद ही ता नियम को सिद्ध करता है। जन्म सभी लत हैं, ठीक है, पर यह भी इतना ही ठीक है कि मुझ परमश्वर को प्राप्त हुए का आवागमन का चक्कर समाप्त हो जाता है।

"और ऐसे लोगो की कमी नही है जो राग, भय और क्रोध से मुक्त हो, मुझ म ही नग रहकर मेरी उपासना और ज्ञान तथा तप क बल पर अपने को शुद्ध कर मुझम ही आ मिले हैं।

"और सच तो यह है कि जो जिस रूप म मुझे चाहते हैं मैं भी उन्हे उसी रूप मे अपनाता हू सभी प्रकार से मनुष्य मेरे ही मार्ग का तो अनुसरण करता है।'

"नही समझ सका इस बात को। जो जिस रूप म आपको चाहता है, उसी रूप म उसे अपनाने का अर्थ क्या हुआ?"

"समझाना कोई कठिन नहा है। यह तो सबक समक्ष है। गोपियो ने मुझे बाल-सखा के रूप म चाहा, मैं उन्हे उसी रूप म मिला पिता वसुदेव और माता देवकी ने पुत्र रूप म चाहा था उन्हे वैसे ही प्राप्त हुआ, तुमने मुझे सखा के रूप म चाहा तो सखा तो सखा तुम्हारा सारथि बन बैठा। हुआ कि नही? कितने उदाहरण लोगे?

"और सभी प्रकार से लोग आप ही के मार्ग का अनुसरण करते है, इसका अर्थ?

'क्योकि सब कुछ मेरे ही द्वारा सृष्ट है, अत जो कोई जो कुछ भी करता है, मेरा ही कार्य तो करता है।

यदि पाप भी करता है तो आप ही के कारण।'

'अवश्य, क्योकि वह कर्म फल क नियम के अनुसार ऐसे कर्म म प्रवृत्त होता है और यह नियम भी तो मेरे ही द्वारा निर्मित है।

कर्म-फल क नियम के अनुसार तो उसे अपने पाप का फल मिलेगा, मैं पाप म लीन होने की बात कर रहा था। अर्जुन ने स्पष्ट करना चाहा।

बडे भोले हो तुम। श्रीकृष्ण किंचित हसे पाप की ओर प्रवृत्ति भी तो किसी पूर्व-कर्म के कारण ही होगी। दुर्योधन ने यह जो संहार-लीला आयोजित की है इसके पीछे तो उसके पाप-कर्म ही हैं। पाप का फल मिलता है यह निश्चित है और वह फल अनुकूल नहो प्रतिकूल ही होगा यह भी असंदिग्ध है तो किसी से पाप-कार्य भी तो उसका कोई पूर्व कृत दुष्कर्म ही करायगा?

'अर्थात तुम्हारे इस दुष्चक्र का कोई अन्त नही। अर्जुन मुसकराया।

अन्त क्या नही है? अभी तो बताया। मेरे को प्राप्त हो जाना। फिर तो आवागमन का बंधन ही समाप्त। फिर कैसा पुण्य और कैसा पाप? और दूसरा उपाय तो पहले ही बताया—निस्संगता। फलाशा का त्याग। निस्संगता की स्थिति म भी पाप-पुण्य कुछ भी कहा छू पाता है?

'सखे! अर्जुन के ध्यान म कोई और बात आई थी। उसे आश्चर्य हो रहा था कि श्रीकृष्ण के बार-बार स्वय को परमेश्वर उद्घोषित करने के बावजूद वह अभी तक उन्हे सखा शब्द से ही सम्बोधित किए जा रहा था।

'बोलो।

लोग यहा देवताओ की पूजा भी तो करते हैं। मात्र तुम परमेश्वर की आराधना कर तुमम लय हो जाने का प्रयास कितने करते है?

'इस बात पर मैं विस्तार से बाद म आऊगा इस समय क लिए इतना ही कि देवताओ की पूजा लोग मात्र प्राप्ति क लिए नहा आकांक्षा-पूर्ति के लिए करते हैं। देवताओ की आराधना से कर्मों म सिद्धि सद्य मिलती है। इस बात का उल्लेख मैं

यज्ञ सम्बन्धी विश्लेपण के समय भी कर चुका हू। अत किसी मनोरथपूर्ति की आवश्यकता हो तो देवताओ की उपासना निस्सदह फलदायक है।

'एक बात और।' भगवान न आरम्भ किया 'पूजा की बात करन लगा तो वण अथवा जाति की बात भी अवश्य आ जाती है—अमुक वण क लाग अमुक पूजा के अधिकारी ह। अमुक क नही, अमुक वण क लाग मन्दिर प्रवश कर सकत हैं अमुक क नही।

तो एक बात स्पष्ट कर लें। इन चार वर्णों की सष्टि मैंने ही की है पर इसका आधार जम नहीं, कम है। कम क कारण ही कोइ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र होता है। जो इस वणावस्था को रुढ और जन्म-आधारित कर दत ह वह मरी इच्छा क प्रतिकूल आचरण क ही भागी होत है। हा, यद्यपि मैं अकर्ता हू, अव्यय हू तब भी गुण और कम क आधार पर वर्णों का यह विभाजन मरा ही किया हुआ है और इस आधार पर बनाई यह व्यवस्था अब तक तो सम्यक रूप म ही चल रही है। द्रोण क समान ब्राह्मण का क्षत्री होने और जनक क सदश क्षत्री को राजर्षि तक होन स कौन कब रोकता है?

यह बात भी है कि यह सब करत हुए भी मैं अपने द्वारा सस्थापित नियम का उल्लघन नही करता अथात निस्सग भाव स ही सब कुछ करता हू। न तो मैं कर्मों म लिप्त होता हू न मुझे कमफल की इच्छा ही है।

हे अजुन! जो इस सत्य का ज्ञान भर लेते हैं व भी कम-बन्धन स मुक्त हो जात है।'

'इसलिए कि व भी तुम्हार सदश ही आचरण करत है। यही न?' अजुन न जिज्ञासा की।

'हा इसस भी।

'इसलिए कि परमश्वर क गुण धम को पहचानना उनका चितन करना व्यक्ति को उसके समीप तो लाएगा ही और अन्तत उस सुफल अथात मोक्ष की प्राप्ति होगी ही।

उपर मैं यह कहना चाहता था कि इसी सिद्धान्त को ध्यान म रखकर अर्थात कर्मों म लिप्त नही होत हुए और फल की इच्छा नही रखत हुए पहल भी मोक्षार्थियों द्वारा कम किए गए ह। अत तुम भी पूव म अपनाई गइ पूवजो की कम प्रणाली को अपनाकर ही उन्हीं की तरह काय करो।

'एक बात और ह।' श्रीकृष्ण न कुछ सोचत हुए कहा।

क्या?

'कम का सिद्धान्त स्वय म बडा जटिल और अहम है। कम और अकम दोनो क मध्य क अन्तर का समझना विद्वानो के लिए भी दुष्कर रहा है।

सच कहो तो कम, अकम और विकम, कम के य तीन प्रमुख प्रभेद है और इन तीनो को जानना आवश्यक है।

मैं तुम्हार समक्ष कम सिद्धान्त को पूरी तरह स्पष्ट अवश्य करूगा जिससे तुम्हे कभी पाप का भागी नही होना पड़े।

किन्तु केशव अगर आग बढन के पूव आप कम अकम और विकम म अन्तर बता दत तो अच्छा होता। मरी जिज्ञासा जग आई है।' अजुन न निवेदन किया।

"कर्म को तो यो समझो कि जो भी करणीय है वह कम है, अकम को कर्महीनता की स्थिति माना और जो अकरणीय है, निकृष्ट है वह विकम है।

"पर बात जटिल यह नही है। जटिल है कम को भी अकम के रूप म और अकम को कम के रूप म लना। कम म भी अकम और अकम म भी कम की उपस्थिति हो सकती है।'

'अर्थात कुछ करके भी कुछ नही किया जा सकता है और कुछ नही करते हुए भी बहुत कुछ किया जा सकता है। यही न ?" अजुन न पूछा।

श्रीकृष्ण प्रसन्न हो आये "बात का अब तुम ठीक स समझन लगे हो। निस्सग होकर कम करो तो वह कम होकर भी अकम है, हाथ-पैरो को बाधकर बैठ रहो और मन स इद्रिय और इनके विषयो का चिन्तन करते रहो तो वह अकम होकर भी कम है।

'अजुन जिसके सभी काय इच्छा या सकल्प स सयुक्त नहा हैं अर्थात उनके पीछे किसी आकाक्षा-पूर्ति की व्यग्रता नही है उनके इन कार्यों को ज्ञान रूपी अग्नि म दग्ध समझो। एस विचारवान कर्मियो को ही बुद्धिमान लोग पण्डित की सज्ञा से अभिषिक्त करते हैं।

'और हा, ज्ञान स तुम सन्यास की बात नही समझन लगना। यहा ज्ञान स तात्पय कम और अकम के भेद स है। कुछ नही करके भी करने की बात और कुछ करके भी कुछ नही करने स है। अर्थात कम की निस्सगता और उसके महत्व का ज्ञान ही सही ज्ञान है। यही कम योग है—बुद्धि के साथ कम का योग—कुछ करते हुए भी कुछ नही करने का सुख।

कम फल की आसक्ति स रहित जो सदा स्वय म सन्तुष्ट है और अपनी इच्छा पूर्ति के लिए किसी पर आश्रित नही है वह कम करता हुआ भी कुछ नही करता है।

'मैं तुम्हे शाति का माग दिखलाने को व्यग्र हू। मृत्यु के भय स तो मैंने तुम्हे मुक्त कर ही दिया। किन्तु इस शान्ति की प्राप्ति जरा कठिन है। सारा विश्व इसी के अन्वेषण, इसी की उपलब्धि को समर्पित है। मानव-मन की यह शाश्वत भूख है। और इसका सम्बन्ध हमारे जीवन-दशन और दूसर शब्दो म कहो तो हमारे विचारो और कर्मों म है। यही कारण है कि कम को लेकर हम बार-बार कहना पडता है, कई प्रकार स अपनी बात को स्पष्ट करना पडता है।

'अभी मैं यह कहना चाहता था कि आशा ही अनेक कष्टो के मूल म है। किसी व्यक्ति स कोई आशा—उपकार के बदले उपकार की आशा सतति स सेवा-श्रद्धा की आशा, मित्र स सकट मे साहाय्य की आशा—अशाति का कारण है। अत सुखी और शान्त वही है जो कोई आशा पालता ही नहीं। कम फल की अनुकूलता की आशा भी नही। तो आशारहित व्यक्ति जिसकी बुद्धि और आत्मा पूणतया वश म है और जो किसी प्रकार के सचय म विश्वास नही करता अर्थात जो अपरिग्रही है और कवल शरीर निर्वाह मात्र के लिए काय करता है वह कुछ करते हुए भी नहीं करता, अत किसी पाप का भागी भी नही बनता।

अगर यही मात्र शरीर निर्वाह के लिए काय करने लग तो यह सृष्टि चलगी ? इसका विकास होगा ? इसकी प्रगति अवरुद्ध नही हो जाएगी क्या ?" अजुन न अपनी जिज्ञासा प्रकट की।

"मनुष्य का लक्ष्य शांति की प्राप्ति है" श्रीकृष्ण ने धीरे से आरम्भ किया, 'बहुत सारे भौतिक साधनों का विकास करके और उन्हें सजाकर भी अगर वह अशान्त ही बना रहा तो यह विकास किस काम का? और विकास की चिन्ता मनुष्य को क्यों हो? उसके चाहने से ही विकास होता है क्या? प्रकृति अपना विकास स्वयं करती चलती है। मनुष्य निमित्त मात्र होता है। हर युग में ज्ञान विज्ञान का स्फुरण किन्हीं विशेष मेधावी व्यक्तियों में प्रकृति स्वयं करती है और फिर वह स्फुरण एक विचार एक सिद्धांत, एक क्रिया, एक अन्वेषण-अनुसंधान का रूप लेता है। मनुष्य इसको लेकर व्यग्र क्यों हो? सृष्टि को जहां तक विकसित होना है, वह होगी ही, प्रकृति अपने नियमों को मनुष्य पर जितना प्रकट करना चाहेगी करेगी ही, अतः *व्यग्रता किस बात की? चरम लक्ष्य शांति है, शांति के* सिवा सब व्यर्थ है। अतः, भौतिक प्रगति की दौड़ में अन्धे अश्व की तरह कूद पड़ने से कुछ प्राप्त नहीं होने का। प्राप्त होगी तो बस निराशा, कुंठा और अशान्ति। जीवन को अभिशप्त बनाकर छोड़ेंगे ये। अतः, मैं तो कहूंगा कि स्वतः जो कुछ उपलब्ध हो जाए, उसी में जो संतुष्ट रहता हो और सुख-दुख, मान-अपमान, जय पराजय, हानि-लाभ के द्वंद्वों से जो रहित है, ईर्ष्या से जिसका दूर का भी सम्बन्ध नहीं तथा सफलता-असफलता दोनों जिसके लिए बराबर हैं वह कर्मरत होकर भी बंधन-युक्त नहीं होता। कर्म उसे बांधते नहीं पाते अर्थात् कर्म-फल का वह भागी *नहीं बनता। कर्म फल का भागी बनना भी दुख-सुख की प्राप्ति के मूल में है।*

"तो तुम दुख के साथ सुख को भी त्याज्य मानते हो?'

"सुख के त्याग की बात नहीं। सुख तो व्यक्ति के अन्दर पहले से ही विद्यमान है। वह तो सच्चिदानन्द का अंश ही है। आनन्द स्वरूप तो है ही वह। नहीं कुछ करे और जैसा कि कहा केवल शरीर धारण सम्बन्धी ही कार्य करे अथवा निस्संग होकर जो करणीय हो उसे करे तो सुख तो उसे मिलना ही है। अर्जित तो व्यक्ति दुख को ही करता है अकरणीय कर्मों को करके अथवा फलाशा से बंधकर। आशा जब निराशा में परिवर्तित होती है तो वह अशांत, व्यग्र और दुखी होता है। जैसा कि ऊपर कहा ईर्ष्या अथवा अहंकार भी कष्ट का कोई कम कारण नहीं। दूसरों की प्रगति और उपलब्धि भी अपनी अशान्ति का कारण बनता है, अतः इस ईर्ष्या से भी ऊपर उठना होगा। सही जीवन-दर्शन वही है जिसमें आशा आकांक्षा, लोभ, अहंकार एवं द्वंद्व का कोई स्थान नहीं।

"अपनी बुद्धि और आत्मा को पूर्णतया वश में रखने की बात आपने ऊपर कही है। बुद्धि को तो वश में रखने का प्रयास किया जाए यह समझने की बात है, पर आत्मा को आप सर्वशक्तिशाली अनादि और अनन्त मानते हैं उसे वश में *करने का क्या तात्पर्य?*

हां आत्मा पर भी नियन्त्रण संभव है। आत्मा परमात्मा का ही अंश है, अतः जो परमात्मा का हो गया उसकी आत्मा तो अन्य लोगों की आत्माओं की तुलना में श्रेष्ठ और नियन्त्रित होगी ही।

"खैर छोड़ो। प्रधान बात निस्संगता की है—संगहीनता की। जो किसी भी व्यक्ति वस्तु या स्थिति में रागात्मक सम्बन्ध नहीं स्थापित करता वस्तुतः वही मुक्त है। दूसरे शब्दों में निस्संगता से बढ़कर सुख नहीं, उससे बढ़कर शान्ति का कोई साधन नहीं। वही सुख है वही शान्ति है और अन्ततः वही मोक्ष है। जहां

सग है, सयोग है वहा वियोग अवश्यभावी है। सग अगर क्षणिक सुख और शान्ति का साधन है तो वियोग शाश्वत अशान्ति और दुख का मूल। बातें बार बार दुहरानी पडती है पर उनके प्रति तुम्हारी अदम्य आस्था स्थापित करने का और कोई यत्न भी नही है। तो जो गत-सग है वही मुक्त है और वही सच्चा ज्ञानवान् है—उसकी चेतना सर्वोच्च ज्ञान में स्थित है। ऐसा व्यक्ति जो कुछ कर्म करता है वह यथार्थ ही होता है और निस्सग भाव से किया हुआ उसका यह यज्ञ हित कर्म भी उसे बाधता नही, वह स्वय ही समाप्त हो जाता है—विलीन।

आप अभी केवल शरीर रक्षार्थ कर्म की बात कर रहे थे, पुन यज्ञ पर आ गए? अर्जुन ने शका व्यक्त की।

श्रीकृष्ण मन्द मुसकराए। उत्फुल्ल कमल की पखुडियो पर पुन सूर्य की प्रथम रश्मिया चमकी। वे बोले— शरीर रक्षार्थ तो कर्म करना है पर यह शरीर रक्षा भी निष्प्रयोजन है क्या—विशेष कर मानव शरीर की रक्षा? शरीर रक्षा तो पशु पक्षी भी कर लेते है। ऐसे कार्य का विधान तो मैंने केवल उनके लिए किया जो जीवन-जगत मे पूर्णतया विरक्त हो गए है और मात्र ज्ञान साधना ही उनका लक्ष्य है। किन्तु ससार के सारे मनुष्य ऐसे हो जाए तो इस सृष्टि-चक्र का क्या हो? यज्ञ की चर्चा के काल मैंने कहा था कि इस चक्र को तोडने मे जो सहायक होता है अर्थात् यज्ञ-कर्म से विमुख होता है वह पापात्मा के सिवा कुछ नही है।

तो यज्ञ का महत्व है। अर्जुन के मुख से अनायास निकला।

अब भी इसे कहने की आवश्यकता है? पर अब मैं यज्ञ के सम्बन्ध मे कुछ गूढ बातें कहूगा।

'कहिए। अर्जुन और एकाग्र हो आया।

सामान्यत यज्ञ अग्नि मे हवि अर्पित करने की क्रिया है। नहीं?

हा।

तो इस यज्ञ को सम्पादित करने के लिए प्रथम आवश्यकता तो अर्पण पात्रो की होती है अर्थात स्रुवा आदि दूसरी महत्त्वपूर्ण वस्तु होती है हवि—घी अथवा हविष जिसे अर्पित किया जाता है। तीसरी वस्तु है अग्नि जो उस हवि को देवताओ तक पहुचाने का कार्य करती है और इन सबके ऊपर होता है—यज्ञ कर्ता जो हवि को अग्नि के हवाले करता है।

ठीक है न? श्रीकृष्ण ने प्रश्न भरी आखो से अर्जुन की ओर देखा।

हा, यज्ञ की सामान्य प्रक्रिया तो यही है। अर्जुन ने हामी भरी।

तो इस सामान्य प्रक्रिया के पीछे के असामान्य विचार पर प्रकाश डालना चाहता हू। मैंने एक बार पहले कहा था कि वस्तुत ब्रह्म ही सभी यज्ञो मे प्रतिष्ठित है। उसी सर्वव्यापक ब्रह्म को लेकर याज्ञिक क्रिया के सम्बन्ध मे एक और महत्वपूर्ण बात कहने जा रहा हू।

वह बात यह है। जो सही अर्थो मे यज्ञ कर्ता है वह यज्ञ की इस सामान्य-सी प्रक्रिया मे भी सदा ब्रह्म की ही परिकल्पना करता है। जो अर्पण पात्र है उन्हे भी वह ब्रह्म मानता है अर्पणीय पदार्थ अर्थात हवि को भी ब्रह्म समझता है जिस अग्नि मे हविष अर्पित होता है उसे भी ब्रह्म-स्वरूप मानता है और यज्ञ-कर्ता अर्थात स्वय को भी ब्रह्म रूप मे ही यज्ञ लीन देखता है।

'इसका परिणाम जानते हो क्या होता है?

"क्या ?"

"इस प्रकार वह होता—वह यन कर्ता—जो समाधिस्थ-सा हुआ अपन को इस यन-कम क माध्यम स ब्रह्म का ही निमित्त बनाता है, अतत ब्रह्म का ही प्राप्त होता है।

"अर्थात मत्यु उपरात ब्रह्मलीन हो जाता ह ?

'हा।

'तो ब्रह्म प्राप्ति अथवा मोक्ष प्राप्त करन का साधन यज्ञ ही ह ? ' अजुन को शका हुई।

श्रीकृष्ण मुसकराए, 'नही यन ही है यह बात नही यन भी ह यह बात है और फिर वही यन जो उपयुक्त रूप म सम्पन्न हो। ब्रह्म भाव स। स्वाथपूति क लिए किए गए वदिक कमकाड और यन ता फलदाइ हान के कारण बधन क ही कारण बनेंगे। मोक्ष कस सधेगा उनस ?

"तो क्या यह मान कर चला जाय कि यन का अथ मात्र अग्नि म आहुतिया का अपण है ? या यन का काई और भी प्रकार हो सकता है ? अजुन न प्रश्न किया।

'वडा सटीक प्रश्न है। मात्र आहुति अपण ही यन नही ह। तुमने बात चलाई ता मैं यन क विभिन्न प्रकारा का वणन करूगा।

आहुति वाल यन और उसकी साथकता का बात तुमन सुना—उसक माध्यम स मोक्ष प्राप्ति की भी। यन का यह एक प्रकार ह।

कुछ योगी लोग दव यन भी करत है ?

'यह दव यज्ञ क्या है ? अजुन नही समझ सका।

'इस यन की चर्चा पहल की जा चुकी है। दवताआ को प्रसन्न करन क लिए जो यन किए जात हैं वे दव यन है। मैंन कहा था मनुष्य और दवता इस यन क द्वारा एक दूसर को तुष्ट करत हुए अभिवृद्धि को प्राप्त होत हैं।

हा आपन बताया था नर-लोक म इसस कर्मों म शीघ्र ही सफलता मिलता है—'क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।

हा श्रीकृष्ण न कहा यज्ञा को लकर वदा म बडा प्रपच खडा हुआ है। खूब महत्त्व दिया गया ह उन्ह पर य सभी यन आकाक्षा-पूर्ति क साधन मात्र ही ह इसीलिए मैं यज्ञ क अय स्वरूपा का निरूपण कर रहा हू—श्रेष्ठ यना को।

एक यज्ञ वह भी है जिसम ब्रह्म को ही अग्नि मान कर यन क द्वारा यन का ही हवन किया जाय। बात बाकर श्रीकृष्ण कुछ समय तक मौन रह शायद इस कथन का अजुन पर पडे प्रभाव का जानना चाहत हा।

अजुन चुप। बात उसक पल्ल नही पडी थी।

अग्नि को ही ब्रह्म मानकर यन करन की बात ता आपन पहल भी की थी। वह अन्तत बोला। बात की मूल तक वह जाना चाह रहा था पर जा नही पा रहा था।

वहा अग्नि का ब्रह्म समझन की बात थी यहा ब्रह्म का ही अग्नि मानन की बात है। अतर ता स्पष्ट है। रह गई बात इस अग्नि म यज्ञ द्वारा यन क हवन की बात तो मैं उसका भी स्पष्ट ही कर दू। आत्मा का एक ऐसा यन भी है। ब्रह्म तो

परमात्मा है ही, अत जो व्यक्ति अपनी आत्मा (यन) को परमात्मा (ब्रह्माग्नि) म हवन (विलीन) कर दता है वही यज्ञ द्वारा यन का हवन करता है ब्रह्म रूपी अग्नि म। अर्थात आत्मा को परमात्मा स सयुक्त कर दना भी यन क्रिया ही है।

'इसीलिए आपन यन द्वारा य ा क हवन की बात कही ?

हा। अर्थात् यह यन अग्नि म आहुति अर्पित हानवाला यन न हाकर भी है यज्ञ ही इसीलिए यज्ञ द्वारा यन (आत्मा) क ब्रह्माग्नि म हवन (अपण) की बात कहनी पडी।'

आप कभी-कभी बाता को बहुत उलझा कर प्रस्तुत करते है। अजुन न उलाहना भरे शब्दा म कहा।

'यह उलाहना तुमन पहल भी दिया था। लाग भी दोग। पर मरी विवशता है कि कुछ बातें है ही पहल स उलझी हुई। मै ता उन्ह मात्र समझान का प्रयास कर रहा हू। तुम स्वय जानत हा वदा की कसी-कसी व्याख्याए आज प्रचलित है और उनके कमकाण्ड-पक्ष की कसी दुगति हा रही है। सम्प्रदायवादिता का युग आ गया है और लाग सन्यास क नाम पर कर्मो का त्याग कर सष्टि-चक्र को ही बाधित करन पर कटिबद्ध हा गए हैं। उसी कुचक्र क प्रभाव स ता तुम भी ग्रस्त हो गए हो और अपन सहज कम का तिलाजलि दकर सन्यासियो के आचरण को अपनान को व्यग्र हो रहे हा।

खर, अभी मैं यन की बात कर रहा था। वदा न ता कवल अग्नि को अर्पित होन वाले आहुति दान का ही यन की सना दा जसा कि पहल कहा मैं तो यन का कई रूपा म दखता हू। तुम्ह मरी यह व्याख्या अटपटी भी लग सकती है पर है यह सही और उपयागी।

अब दखो मैंन पहल काम (वासना) और उसम इद्रियो क योगदान की बात की थी। यन की बात चल रही है ता मैं कहना चाहूगा कि कान आख आदि इन इद्रिया की प्रवत्तिया का सयम की अग्नि म स्वाहा कर दिया जाय ता इसस बडा यन क्या होगा ?

'प्रभु! अजुन ने विचलित स्वर म कहा और श्रीकृष्ण न उसक इस सम्बोधन पर उसकी आर अपनी आश्चय भरी आखो को उठाकर देखा।

'आपन कितनी महान बात कही। अजुन न हा आरम्भ किया 'मुझे याद है आपकी काम एव क्रोध एव की बात और विषया की ओर अनियंत्रित अश्वो की तरह इद्रिया के भागन की बात। इद्रिया क इस प्राबल्य को दखत हुए सचमुच सयम की अग्नि म इनकी वत्तिया को जला दन स बडा मात्र अन्न और घत को जलानवाला यज्ञ क्या हागा ? मैं आपकी इस व्याख्या स उपकृत हुआ।

'ठीक है, श्रीकृष्ण न प्रसन्न होकर कहा, तो साथ ही यह भी सुन लो कि इद्रिया क जा विषय अथवा प्रिय लक्ष्य ह उन्ह इद्रियो की अग्नि म ही जला डालता है, वह भी यज्ञ ही करता ह।

कृष्ण पुन चुप हुए। अजुन की प्रतिक्रिया का जानना आवश्यक था।

'यह तो महान उपलब्धि होगी। अजुन का बात समझ म आ गई थी।

हा, उपलब्धि तो होगी ही। इसका अथ होगा इद्रिया का पूण दमन इद्रियो का जलान की अपक्षा इद्रिया के विषया का हा इद्रिया पर हावी नही होन दना उच्चतर उपलब्धि ता है ही। विषया की ओर इद्रियो की प्रवत्ति ही न

हो तो इन्द्रियो को सयमाग्नि मे जलाओ या नही क्या अन्तर आता है ?"

'यह बात तो सचमुच ग्राह्य है। मुझे दु ख है जसा मैंने पहल भी कहा कि आपके सग को इतने दिना तक निरन्तर सुलभ रहने के बाद भी मैं आपके वास्तविक सम्पक से वचित ही रहा। नान विनान की इतनी सारी बातें आज सुनने को मिल रही हैं, विशेष कर तब जब युद्ध सिर पर आरूढ है और समय अल्प है, अगर यही अवसर ।"

"सबका समय होता है अजुन श्रीकृष्ण ने अजुन को मध्य मे ही टोकते हुए कहा, "इस समय को आज ही आना था, खर मैं आगे की बात करने वाला था इन्द्रियो की प्रवत्तिया अथवा उनक विषया को जला डालना तो यज्ञ है ही किन्तु अगर यह सम्भव नही भी हो पाता है तो यज्ञ का एक और प्रकार है जिसम इन्द्रिय जनित सभी कर्मों और प्राणजनित सभी क्रियाओ को ज्ञान स प्रदीप्त आत्म-सयम रूपी योगाग्नि म योगी जला डालते हैं।

'बात दुरूह हो गई शायद मैं स्पष्ट कर रहा हू कृष्ण आग बोले सयम की बात मैंने पूव म भी की है और इन्द्रियो अर्थात इन्द्रियो की प्रवत्तिया को उसम स्वाहा करन की बात भी बताई है। यहा मैं नान से प्रदीप्त सयमाग्नि की बात कर रहा हू यही योगाग्नि है। सयम सायास होता है तब वह मात्र सयम हेतु होता है। यह सयमाग्नि बहुत प्रदीप्त नही होती। पर इस नान से प्रदीप्त अग्नि की वासना विनाशकारी है अनियन्त्रित इन्द्रिया सचमुच अनथकारी है और निस्सगता ही मुक्ति है यह इन्द्रिया के कर्मों को भी जला मारती है और प्राणा के कर्मा को भी।'

"पर प्राण क्रियाओ की बात मैंने नही समझी अजुन ने अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। इन्द्रिया के कर्मों की बात तो ठीक पर प्राण-कम क्या हुए ? क्या इन्द्रियो की क्रियाओ के पीछे प्राणो का हाथ नही हता ? प्राणो की प्ररणा और सहयोग के बिना भी कोई काय सम्भव है क्या ?

श्रीकृष्ण मुसकराए पता नही तुमने प्राणा का क्या अथ लिया ? शरीर के अ दर जा आत्मा है प्राणा का आधार वही है। सही है कि प्राणो की शक्ति क बिना कोई कम नही होता इन्द्रियो के कम के पीछे भी प्राणो का योगदान है। प्राणहीन शरीर की इन्द्रिया भी निष्क्रिय मत हो जाती हैं। पर इन्द्रिय-जनित कार्यों के अलावा प्राणो द्वारा सम्पादित और काय भी तो हैं। सामान्यत जब हम इन्द्रियो की बात करते हैं तो हमारा तात्पय तथाकथित ज्ञानेन्द्रियो—आख, कान नाक आदि स होता है। तथाकथित मैं इसलिए कह रहा कि ज्ञानेन्द्रिय होते हुए भी अधिकाश अनानाधारित काय भी ये ही करती हैं। विषय वासना की बात इन्ही को लेकर उठती है। किन्तु कर्मेन्द्रियो से भी तो काय बनत हैं—हाथ पर से। ये प्राणो के ही तो काय हैं ? इसीलिए मैंन कहा कि ज्ञान स प्रदीप्त सयम रूपी योगाग्नि म इन कर्मों को जला मारना भी एक यज्ञ ही है।

अर्थात् नान से प्रज्ज्वलित सयम रूपी अग्नि सभी प्रकार के कर्मों को नि शेष कर देती है।

'हा कर्मों स मेरा अथ यहा निस्सदेह अकरणीय कार्यों स है। मैंने पहले ही कहा है कि कम अकम और विकम—कम के ये तीन प्रभेद हैं। यहा मेरा तात्पय विकम स है। ज्ञान स प्रदीप्त सयम किसी विकम को सम्पादित होने ही नही देगा

चाहे वे इन्द्रिय आधारित हों या प्राण आधारित। बात आई तुम्हारी समझ में?
"आ गई।" अर्जुन ने स्वीकार में सिर हिलाया।
'आ गई तो आगे बढ़ते हैं। अब तक कुछ सूक्ष्म बातों की चर्चा होती रही अब कुछ स्थूल की भी ले लें।
यज्ञ के स्थूल प्रकार लें तो ये मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं—द्रव्य यज्ञ तपो यज्ञ योग यज्ञ और स्वाध्याय जनित ज्ञान-यज्ञ। कठोर व्रतधारी, यत्नशील लोग ही इन यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं।"
"आपने तो यज्ञ को विविध आयाम दे दिए और देते ही जा रहे हैं, अर्जुन ने कहा 'यज्ञ की मूल परिभाषा जिसके अनुसार यज्ञ मात्र अग्नि में अन्न, घृत आदि को स्वाहा करना था, का तो आपने मूलोच्छेद ही कर दिया।
'नहीं यज्ञ के उस प्रकार का भी मैं विरोधी नहीं हूं पर यह कहना अवश्य चाहता हूं कि यज्ञ के और भी प्रकार हैं और इनके लिए सम्पादित कर्म भी यज्ञार्थ कर्म ही हैं। ऐसा इसलिए स्पष्ट करना पड़ रहा है कि मैंने आरम्भ में ही कहा कि यज्ञार्थ कर्मों के अलावा सभी कर्म बंधनकारी होते हैं।
"तो इन यज्ञों को स्पष्ट करने की कृपा करें।" पार्थ ने प्रार्थना की।
'द्रव्य-यज्ञ दान-यज्ञ है। तुम जानते हो तुम्हारा प्रतिद्वंद्वी और दुर्योधन-सखा कर्ण नित्य सहस्रों मुद्राओं और मणि-माणिक्य का दान करता है वह मूर्ख तो नहीं है, वह द्रव्य-यज्ञ का सम्पादन करता है। दूसरी ओर पारम्परिक यज्ञ भी द्रव्य-यज्ञ ही है क्योंकि बिना द्रव्य के उनका सम्पादन भी कहां सम्भव है?
'तपो यज्ञ तपस्याजनित यज्ञ है। नाना विध तप करना व्रत रखना तीर्थों का पर्यटन करना, निरन्तर निराहार नाम-जप करना ये सब तपो-यज्ञ के उदाहरण हैं। तपस्या रूपी यज्ञ के बल पर बड़े-बड़े कार्य सिद्ध हुए हैं। तपस्या के माध्यम से ही विश्वामित्र क्षत्रिय वंश में उत्पन्न होकर भी ऋषि तो ऋषि ब्रह्मर्षि तक बन बैठे, और तो और एक नवीन सृष्टि तक रच डाली। तप को साधारण नहीं समझो। इसी के बल पर ब्रह्मा सृष्टि करते हैं विष्णु इसका पालन करते हैं और शिव इसका संहार करते हैं। तप-यज्ञ निस्सन्देह श्रेष्ठ यज्ञ है।
"और यह योग-यज्ञ? अर्जुन ने अकस्मात पूछा।
"अभी तक योग के सम्बन्ध में जानना तुम्हारे लिए शेष ही रह गया है?' श्रीकृष्ण ने किंचित मुसकराकर पूछा।
'नहीं, जानना शेष नहीं है। जानना इतना ही है कि यह योग-यज्ञ पातंजल योग है जिसमें ध्यान, धारणा समाधि आदि की बात आती है अथवा आपके द्वारा व्याख्यायित कर्म-योग है, दूसरे शब्दों में बुद्धि-योग।
"तुम क्या सोचते हो? श्रीकृष्ण मुख की मुसकान वर्तमान थी।
मैं तो सोचता हूं आप कर्म-योग की ही बात कर रहे हैं।
तुम ठीक सोच रहे हो। पातंजल योग पर मैं कभी आऊंगा। अभी मेरा तात्पर्य कर्म-योग से ही है। मैं तुम्हें आगे बताऊंगा कि कर्म-योगी, तपस्वी ज्ञानी आदि सभी से श्रेष्ठ है अतः योग यज्ञ में तो तुम कर्म-योग रूपी यज्ञ को ही समझो अर्थात् फलाकांक्षा रहित कर्म को।
' रह गया स्वाध्याय जनित ज्ञान यज्ञ तो यह आप ग्रन्थों वेद, उपनिषद् आदि के पारायण और चिन्तन मनन से सम्बंधित है। अच्छे ग्रन्थों का अध्ययन भी यज्ञ

ही है क्योकि ज्ञान के आगार होने के कारण वे हमारे बुद्धि विवेक को परिष्कृत और आचरण व्यवहार को विशुद्ध बनाते हैं। स्वाध्याय ज्ञान का मूल है, अत स्वाध्याय यज्ञ को ज्ञान-यज्ञ भी कह ले सकते हो।

'अब मैं तुम्हारे पातजल योग पर भी आता हू। प्राणायाम का विशेष महत्त्व है उसमे। प्राणायाम मे वायु का साधत है। वायु के दो प्रकार है—अपान और प्राण। कुछ लोग अपान म प्राण का हवन करते है अर्थात प्राणायाम की पूरक क्रिया द्वारा प्राण वायु को भीतर भरते हैं। कुछ लोग प्राण म अपान का हवन करते हैं अर्थात रेचक द्वारा भीतर की अपान अपवित्र वायु को बाहर फेंकते है। कुछ लोग प्राण अपान दोनो वायुओ को अवरुद्ध कर प्राणायाम की कुम्भक क्रिया करते हैं।

"दूसरे लोग अपने आहार की मात्रा को नियन्त्रित कर अदर के प्राण को शन शन बाहर विस्तृत प्राण म (क्योकि बाहर फैली प्राण-वायु प्राण ही है) विसर्जित करते है।

ये सभी लोग यज्ञ विधियो के ज्ञाता ही हैं यज्ञ-कर्ता हैं यज्ञो के सम्पादन द्वारा इनके कलुष अर्थात पाप कट चुके हैं। यही यज्ञ का महत्त्व है, प्रकार उसका जो हो पाप काटता वह अवश्य है।

"तो ये सभी यज्ञ कर्ता, पापो के क्षय के कारण परमलोक को प्राप्त होते होंगे?" अर्जुन की जिज्ञासा स्वाभाविक थी।

परलोक क्या? साक्षात ब्रह्म को ही। मैंने कहा था न कि यज्ञो म ब्रह्म स्वय उपस्थित होता है। तो जो व्यक्ति यज्ञो मे बचे अन्न अथवा समय का उपभोग कर्ता होता है वह सनातन अनन्त ब्रह्म म विलीन हो जाता है।

एक बात बताऊ अर्जुन? कृष्ण सहसा रुक कर बोले।

अवश्य जनार्दन! अर्जुन ने उत्सुकतापूवक कहा।

'इन विभिन्न यज्ञो म किसी भी एक यज्ञ को जो व्यक्ति सम्पादन नही करता उसका इस लोक म भी कुछ नही सधता दूसरे लोक की तो बात ही छोडो।

"यज्ञो के ये सब प्रकार ब्रह्म द्वारा स्वय कहे गए हैं।

ब्रह्म तो लोग आप ही को कहते हैं अर्जुन ने टोका, फिर आपने ही तो कहा था कि यह ज्ञान जो आप मुझे आज प्रदान कर रहे हैं सवप्रथम आपने ही उसे सूर्य को दिया था।

श्रीकृष्ण हलके हसे अच्छा पकडते हो तुम खर मैं कहना चाहता था ये सभी यज्ञ जो लोक और परलोक के लिए इतने महत्त्वपूर्ण हैं कर्म से ही उत्पन्न हैं बिना कर्म के ये सधने को नही। यही बात मैंने आरम्भ म ही कही थी।'

'अर्थात् घूम फिरकर बात कर्म पर आ गई।

"उसे तो आना ही है" श्रीकृष्ण ने दृढता से कहा "कर्म के बिना निस्तार कहा है? जब इस सत्य को पूरी तरह समझ जाओगे तो मुक्ति हेतु अन्य प्रयास नही करने पडेंगे स्वय विमुक्त हो जाओगे।

किस बात का?" अर्जुन ने स्पष्ट कराना चाहा।

"इसी कर्म की बात को अपितु कर्मयोग की बात को निस्सग होकर कर्म करने की बात को फलाकाक्षा रहित कर्म रत होने की बात का दूसरे शब्दो म कर्म-योग की बात का। समझ गए।

'आपने इतनी तरह इतने प्रकार से समझाया कि समझे बिना रहा भी कहाँ"

जा सकता ?" अर्जुन मुसकराया। धीरे धीरे उसकी आरम्भिक जिज्ञासा पूर्णतया निःशेष होती जा रही है, यह देख कर श्रीकृष्ण को प्रसन्नता हुई।

"ठीक है यज्ञ के सम्बन्ध में अब अंतिम बात कहूंगा—निष्कर्ष।'

'वह क्या है।

"वह यह है कि द्रव्य द्वारा सम्पन्न होने वाले सभी यज्ञों से ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है।" श्रीकृष्ण ने निर्णय सुनाया।

अर्जुन मौन।

"क्या ?' श्रीकृष्ण ने मौन तोडा।

'कहीं यह कर्म के ऊपर ज्ञान की श्रेष्ठता का आरोपण तो नहीं ? अब तक तो आप कर्म को ही सर्वश्रेष्ठ बताते रहे हैं।'

"नहीं, ऐसा नहीं है' श्रीकृष्ण ने जोर देकर कहा। "मैंने अभी बताया कि सारे यज्ञ कर्माधारित हैं अर्थात् कर्म के बिना ज्ञान यज्ञ भी सम्भव नहीं है। ज्ञान यज्ञ की व्याख्या करते हुए मैंने कहा कि स्वाध्याय इस यज्ञ में सहायक है। तो क्या स्वाध्याय कर्म के बिना सम्भव है ? आगे मैं ज्ञान प्राप्ति का एक और मार्ग भी बताने जा रहा हूं। वह भी कर्म साध्य ही है। खैर अभी मैं यह जोडना चाहूंगा कि सारे कर्मों का लक्ष्य ज्ञान प्राप्ति ही है और अगर सम्यक ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई तो कर्म का करना-न करना व्यर्थ हो गया।"

"इस ज्ञान प्राप्ति के किसी और साधन की भी आप चर्चा कर रहे थे।

हां, ज्ञान प्राप्ति के दो सुनिश्चित साधन है, स्वाध्याय और श्रवण। स्वाध्याय की बात मैंने पहले कर दी। श्रवण उससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। श्रवण अर्थात गुरु मुख से श्रवण अधिकारी से श्रवण। यह भी कर्म-साध्य है। घोर कर्म साध्य। उसके लिए तत्त्वदर्शी गुरु ज्ञानी की चरणोपासना करनी पडती है विनम्र भाव से प्रश्न प्रतिप्रश्न जिज्ञासा की आवश्यकता होती है सेवा भी सम्पादित करनी होती है। सेवा से प्रसन्न होकर ही तत्त्ववेत्ता गुरु तुम्हें ज्ञान सम्पन्न कर सकता है। इस ज्ञान को तुम प्राप्त कर लो तो फिर इस प्रकार मोहग्रस्त होने की आवश्यकता ही नहीं रह जाय।'

"वह ज्ञान है क्या ? अर्जुन का आश्चर्य चरमबिन्दु पर आ गया था।

'ज्ञान के एक भाग की चर्चा तो मैं पहले कर चुका हूं निस्संग होकर कर्म करने की बात की फलाकांक्षा रहित होने की बात की, शरीर के अनित्य और आत्मा के नित्य अथवा अक्षय और अविनाशी होने की बात की। ज्ञान का यह दूसरा पक्ष है और पहले से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।

'क्या है यह ?' अर्जुन आश्चर्यचकित हो बोला।

"यह है संसार के सभी जीवों को अपने अन्दर ही देखना और फिर सबको मेरे अन्दर (परमात्मा के अन्दर) भी देखना।

"अर्थात ?'

अर्थात यह कि अपने और संसार के सारे जीवों में अभेद देखना, सबको एक समझना। उनमें और अपने में कोई अन्तर नहीं देखना और अन्ततः अपने को तथा सबको मुझसे ही उत्पन्न मानना।

'इसका दूसरा अर्थ यह हुआ कि सब जीवों में आप ही व्याप्त हैं ?

'निश्चय ही।"

"तो यही ज्ञान सर्वोपरि है ? अर्थात सवत्र सबम आप ही के दशन ?"

"हाँ, सब मे समभाव।" भगवान ने हामी भरी।

"एक बात और बताऊ ?" श्रीकृष्ण ने पूछा।

"आपकी कृपा। मैं तो या ही आपकी अहतुकी दया से दबा जा रहा हू। आप जो कुछ कहगे, शिरोधाय होगा।"

"बात है उस ज्ञान की ही," श्रीकृष्ण ने आरम्भ किया, "यह नान सारे पापो का विनाशक है। यदि कोई ससार के पापियो म सर्वाधिक पापी हो तब भी ज्ञान रूपी नौका से पाप के महासागर का वह बडी सहजता से पार कर पायेगा ? जसे अच्छी तरह प्रज्वलित अग्नि काष्ठ समूह (इधन) को भस्म कर छोडती है वसे ही नान रूपी अग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है।"

"अर्थात उनका काई शुभाशुभ फल नही होता ?

"हो ही नही सकता। नान को मैंने दो भागो म बाटा। पहले भाग को पुन याद करो। निस्सगता को साध लिया, कम मे भी अकम को उतार लिया तो कम फल रहे कहा ? दूसरे पक्ष को लो तो जब सवत्र मैं ईश्वर ही विराजमान हू यह भावना तुम्हारे अदर घर कर गई तो तुम जो कुछ कर रहे हो मेरे लिए कर रहे हो, तुम्हारा किया-कराया मुझे ही प्राप्त हो रहा है तो कम फल तुम्ह कसे मिलेगा ? वह मुझे भले मिल जाय।"

"तो पाप भी करू कुकम भी तो वह भी तुम्हारे निए ही कर रहा हू ?"

श्रीकृष्ण खिलखिलाकर हस। मेघाच्छन आकाश मे दामिनी दमकी। उत्फुल्ल पदम दल पर रवि रश्मिया बिखरी बरसत आकाश के एक छोर पर इद्र धनुप उभरा, 'बडे भाने हो पाथ।'

'क्यो ? अजुन ने आश्चय से पूछा।

'जब सब कुछ मेरे लिए ही करोग, मेरी देखती आखो के सामने करोगे तो पाप-कम किधर से कर पाओग ? खर इस बात पर मैं बाद म विस्तार से चर्चा करूगा। अभी के लिए इतना कि नान सचमुच एक अमूल्य निधि है—दुलभ उपलब्धि। व्यक्ति के अदर-बाहर को पूत-पुनीत करने का इससे बडा कोई साधन नही। और इसकी विशषता यह है कि स्वाध्याय और गुरु के माध्यम से जो जानो सो जानो, यदि योग पथ पर अग्रसर हो तो यह स्वय धीरे धीरे तुम्हारे अदर प्रकट होता है जसे रात्रि के अधकार को चीर कर प्रत्यूप काल म धीरे धीरे प्रकाश प्रकट होता है।"

"ज्ञान भी तो प्रकाश ही है।

"और अनान अधकार।

"इसीलिए आपने ज्ञान प्राप्ति की उपमा प्रकाश के प्राकटय से दी।'

'शायद। श्रीकृष्ण ने कहा।

'पर एक बात मेरे मन म आ रही है।' अजुन ने कहा।

"क्या ?

"मान लीजिए किसी म इतना धय नही हो कि वह ज्ञान को अपने अदर धीरे धीरे प्रकट होने की प्रतीक्षा नही कर सक तब ?

तब तो मैंने स्वाध्याय और गुरु-सेवा की बात कर ही दी है। पर इस प्रकार म ज्ञान प्राप्ति की एक बडी शत है।

"क्या ?"

"श्रद्धा।"

"हा श्रद्धा,' श्रीकृष्ण ने आगे कहा, "स्वाध्याय मे, आप ग्रन्थो के पारायण मे श्रद्धा, उनमे निहित सत्य के प्रति श्रद्धा, गुरु के प्रति श्रद्धा, उसके वचनो के प्रति श्रद्धा, उनमे विश्वास। साथ ही तत्परता और इद्रिय-सयम। तत्परता ज्ञान-ग्रहण के प्रति—प्रमाद रहित होकर एक एक शब्द का पीना-पचाना। और यह सब सम्भव है इद्रिय निग्रह से ही—इद्रियो के सयम द्वारा ही।

"और एक बात और कहू ?" श्रीकृष्ण के मुख पर बच्चो के मुखडे पर खेलती प्रसन्नता खेली।

"क्या ?' अर्जुन ने उत्सुकता से पूछा। कोई बडी बात ही निसृत होने जा रही थी श्रीकृष्ण मुख से।

"शान्ति सबकी इष्ट है न ? सभी इसी के लिए लालायित हैं न—व्यग्र। शान्ति की एक बूद भी मनुष्य के लिए चातक की स्वाती बूद की तरह होती है न ?'

"इसमे क्या सन्देह ?

'तो अर्जुन यह ज्ञान जब सध जाय तो शान्ति भी सुलभ हो जाती है। ज्ञान के अन्दर से शान्ति उसी तरह प्रकट होती है जिस तरह पुष्प के अन्दर से पराग। ज्ञान मिल गया तो शान्ति मिली ही जानो—शान्ति अर्थात सारी सासारिक चिन्ताओ से मुक्ति। यही तो मनुष्य का साध्य है युग युग की उसकी अभिलाषा। और इसी की प्राप्ति का मैं साधन बता रहा हू। अब अगर कोई इस सहज प्राप्त वस्तु को भी प्राप्त करने मे प्रमाद करे तो मैं क्या करू ? ज्ञान क्या है मैं कई बार कह चुका। तुम ज्ञान के बनो शान्ति तुम्हारी बन कर रहेगी।

एक बात और सुन लो। विनाश के तीन ही प्रमुख कारण हैं—अज्ञानता, अश्रद्धा और सशय। ये तीनो जिसके साथ लग हो उसकी प्रगति सम्भव नही। सशयात्मा का तो विनाश सुनिश्चित है। उसका यह लोक भी गया परलोक भी, सुख तो खैर सशयात्मा क्या पायेगा ?'

'यह तो बडी बात है जनार्दन ! अर्जुन के मुह से सहसा निकला।

"बडी तो है ही। सशय सबसे बडा शत्रु है व्यक्ति का। सशय ही द्वन्द्व की सृष्टि करता है—यह ठीक है कि गलत ? इस मार्ग पर अग्रसर होने से सफलता मिलेगी या असफलता ? यह व्यक्ति मित्र है अथवा शत्रु ? सशय कही का नही छोडता। सशय छोड कर विश्वासपूर्वक कर्म-पथ पर अग्रसर हो जाओ तो सफलता असदिग्ध हो जाती है। तुम भी तो इस समय इसी सशय रूपी घोर शत्रु के शिकार हुए हो। सशय ही निश्चय अनिश्चय निर्णय अनिर्णय के द्वन्द्व मे डालता है। सशय सर्वनाश का कारण है धनजय इससे बचो।"

तो इस सशय से कैसे रक्षा हो ? अर्जुन का प्रश्न स्वाभाविक था।

'ज्ञान के द्वारा।" श्रीकृष्ण ने कहा अज्ञान ही तो सशय के मूल मे है। बातें ठीक से जान लो तो सशय क्योकर रहे ? अज्ञान अधकार है ज्ञान प्रकाश। अधकार मे तो रज्जु को सर्प समझ लेना बडा आसान है। जहा वस्तुस्थिति का पूर्ण ज्ञान है वहा अज्ञान का अधकार रहेगा नही और तब तुम्हारे सशय ग्रस्त होने का भी प्रश्न नही उठेगा।

"अब इस सम्बन्ध मे मेरा निर्णय सुनो।"

"क्या ?"

"कर्मों को अथवा कर्म फल को तो योग (कर्म योग द्वारा) समाप्त कर दो, सशय को ज्ञान द्वारा निःशेष कर दो। अपनी आत्मा को—उसके महत्त्व—को ठीक से समझ लो। मैं पहले भी बता चुका हूँ आत्मा की महत्ता को। जो भी व्यक्ति इन तीनो पद सम्यक् ध्यान देता है वह कर्म-बन्धन मे नही बधता।

'तो अन्तत अज्ञान ही रह गया सभी अनर्थ के मूल में। अज्ञान और इससे उत्पन्न सशय। हृदय में स्थित, अज्ञान से उत्पन्न इस सशय को तुम ज्ञान की तलवार से काट फेंको और तब तुम सचमुच योगारूढ हो जाओगे। कर्मयोग साध लोगे तुम।

बहत्तर

कर्ण ने सुना तो उसको अपने कानो पर सहसा विश्वास नही हुआ पर द्वार रक्षक अपनी बात पर दृढ था। द्वार पर सुयोधन विराजमान थे। अपने उत्तरीय को सभालते हुए वह झटपट द्वार पर उपस्थित हुआ।

' क्या बात है मित्र ! जब इस समय दोनो पक्षो की सेनाए समरागण मे एक दूसरे के विरुद्ध जमी हैं, तुम यहा कैसे ?"

"खाक जमी है" दुर्योधन के मुख पर झुझलाहट स्पष्ट थी, "भीतर चलो तो बातें करें।"

कर्ण शिविर के रेशमी पर्दे को हटाकर दुर्योधन के साथ अन्दर आया। उसे आसन प्रदान कर सामने बैठते हुए बोला, बोलो, बात क्या है ? इस समय हस्तिनापुर के भावी अधिपति को, युद्ध विरत कर्ण के पास आकर आश्चर्य हो रहा है। आखिर हो क्या रहा है रणागण में ? एक बार शख ध्वनि सुनी, रण भेरियो, गोमुखो का नाद सुना। उसके बाद से सब शान्त शान्त सा प्रतीत हो रहा है। दिशाए शान्त। वायु शान्त। आकाश शान्त। नही कही शरो की सरसराहट, न आहत अश्वो गजो की कर्णभेदी चीत्कार न कोई कोलाहल, न कोई स्वर। भला ऐसे भी कोई समर रचित होता है ? बात क्या है सुयोधन ? '

"स्वर है और वह है उस सारथि कृष्ण का। आज उसका जादू उसके स्वरो पर चढ़ उस पाखण्डी पृथा-पुत्र के कर्ण रन्ध्रो मे अमृत उडेल रहा है। सुयोधन अपनी खीझ मे बोला।

कर्ण को बात कुछ समझ म आई नही। वह आज प्रत्यूष से ही अपने शिविर म किसी मत्त गजराज-सा इस कोने से उस कोने तक चहलकदमी कर रहा था। कान निरन्तर समरागण की ओर लगे थे। पर हाथ लगातार निराशा ही लग रही थी। ऐसा कुछ इगित ही नहीं हो रहा था कि महाभारत का आरम्भ हो गया हो, कि ग्यारह अक्षौहिणी सेनाए आपस म इन्द्र-कुलिशो की तरह जा टकराई हो और इस टकराहट-जन्य स्फुलिंगो से दिशाए व्याप्त हो गई हो। क्या हो रहा था यह सब ? उसे तो आशा थी कि प्रथम आमना सामना म ही दो नर

शार्दूलों — पितामह और पार्थ — में एक का अन्त हो जाएगा। और तब या तो सेनापतित्व सहसा उसकी झोली में आ गिरेगा या पार्थ की समाप्ति के साथ ही यह महासमर आरम्भ के पूर्व ही शेष हो जाएगा। पर उसकी आशाओं के विपरीत, समरांगण तो शान्त पड़ा था जैसे वह कोई उद्वेलित तरंगायित सागर नहीं होकर कोई श्मशान हो — सदा से मृत और शान्त। और अब यह कौन-सा प्रस्ताव लेकर आया है सुयोधन? इस संकट-काल में अपनी सेना को छोड़ मेरे शिविर तक भागे भागे आने के मूल में कोई विशेष बात तो होगी ही। दुर्योधन के उर्वर मस्तिष्क की कोई नवीन परिकल्पना ही इसे यहाँ तक खींच लाई होगी। पता नहीं वह करणीय की अपेक्षा करता है मुझसे या अकरणीय की। पर अभी यह कृष्ण और अर्जुन के किस संवाद की बात कर रहा था? क्या उसी ने अभी तक समर आरम्भ को रोक रखा है?

'तुम श्रीकृष्ण के किस कथन की चर्चा कर रहे थे?'

"तुम तो लगातार उस सारथि को श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण ही पुकारे जाते हो। किधर से और कौन-सी श्री संयुक्त है उसके साथ कि सारथि नहीं होकर एक निपट लपट गोपाल यदुवंशी नहीं होकर तुम्हारे लिए सर्व श्रीसम्पन्न बना वह 'श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण' ही बना रहता है?" पहले से ही अव्यवस्थित दुर्योधन और उद्वेलित हुआ था और मूल बात को विस्मृत कर राधेय पर झुंझला पड़ा था।

मन-ही मन हँसा था राधेय कर्ण। यह सही था कि दुर्योधन उसका अंतरंग मित्र था। वह उसके लिए प्राणाहुति के लिए भी कृतसंकल्प था पर यह अंतरंगता मात्र संयोग की थी। सुविधा की। सुयोधन को अर्जुन की काट चाहिए थी और इस रूप में सहज ही उपलब्ध हो गया कर्ण जिसके सिर पर अंग राज का मुकुट चढ़ा उसने उसे सदा के लिए अपना ऋणी और उपकृत बना लिया था। सारथि-पुत्र से सहसा शासक बना दिया था — पूज्य और वरेण्य जिसके समक्ष बड़े-से-बड़े योद्धाओं को भी मस्तक टेकने में अब अपमान-बोध नहीं होता था।

कर्ण को चाहिए था अपने घोर शत्रु अर्जुन को परास्त करने के लिए राज्याश्रय — उसके माध्यम से उपलब्ध साधन और संयोग। संयोग ही तो था यह महासमर और कुरु-राज से अधिक साधन-सम्पन्न कौन था अभी इस आर्यावर्त की भूमि पर जिसका सहारा ले वह अर्जुन से इस धरा को मुक्त करने की अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति कर पाता? एक वन में तो एक ही सिंह रह सकता है। इस धरा को या तो कर्ण को धारण करना था या अर्जुन को। पर अभी तो बात ही कुछ और थी। समर का आरम्भ नहीं होना कोई शुभ शकुन नहीं था उस पर युवराज सुयोधन का यहाँ आ उपस्थित होना। बात जानने के लिए सुयोधन को शांत करना पड़ेगा। व्यर्थ ही उसने अनचाहे में श्रीकृष्ण का नाम उच्चारित कर इस उद्धत कौरव की अहंकार-अग्नि में घृत-आहुति डाल दी थी। चाहे जो हो, दुर्योधन के उपकार को तो आजीवन वह भुलाने वाला नहीं था। कृतघ्न नहीं हो सकता था कर्ण।

"बात बताओ मित्र!" कर्ण ने शब्दों में यथेष्ट माधुर्य घोलकर कहा था। 'तुम जानते हो मैं तुम्हारे लिए कुछ भी करने को प्रस्तुत हूँ। मेरे प्राण तुम्हारी ही थाती हैं इनका और कोई उपयोग नहीं। राधेय कर्ण अगर जीवन धारण करता है तो मात्र अपने परम हितैषी और एक मात्र सुहृद् सुयोधन के लिए।

बोलो, कौन सी वात तुम्हे इस सकट काल म यहा खीच लाई है ?"

"वचन दो कि जो मैं कहूगा वह करोग। अभी तुमने कहा कि तुम्हारे प्राण केवल मेरे हित के लिए हैं। दुर्योधन न उल्लसित होकर कहा।

"यह सत्य है। और मैं तुम्हे वचन भी देता हू। पर एक वचन को छोडकर।"

'कौन सा?'

"वही जिसको लेकर म यहा अलग शिविर म पडा हू। जब तक पितामह सेनाध्यक्ष रहग, मुझे युद्ध नही करना है।"

दुर्योधन एक क्षण को असमजस म पडा। बात तो युद्ध की ही थी और भीष्म ही सेनापति भी थे। पर दूसरे क्षण उसके दिमाग ने एक यत्न ढूढ लिया।

युद्ध का अर्थ तो समझते हो?" वह कुछ ऊचे शब्दो म ही बोला।

कर्ण को आश्चय हुआ। अब यह सुयोधन उसे युद्ध का अर्थ भी समझायेगा? वह सुयोधन जो केवल इस युद्ध रूपी महासागर को कर्ण रूपी विशाल पोत के सहारे ही पार करने का स्वप्न देखता है।

"कहना क्या चाहते हो मित्र? कर्ण ने प्रश्न का उत्तर प्रश्न म ही दिया।

'कहना यह चाहता हू कि युद्ध म दो पक्षो की भूमिका होती है। दोनो ओर स अस्त्र शस्त्र सचालन होता है। द्वन्द्व युद्ध हुआ तो दो वीर आपस म मरने मारने की घडी तक गुत्थम-गुत्थ हो जाते है। मैं तुम्हे युद्ध करने की बात नही कहने आया फिर भी तुम्हे शस्त्र सचालन करना है। इसम भीष्म पितामह के सेनापति रहने या नही रहने स कोई अतर नही पडता। तुम्हारी प्रतिज्ञा अपने स्थान पर बनी रहेगी और मेरा काम भी हो जाएगा।

"अर्थात मुझे किसी निहत्थे पर शस्त्र सचालित करना है? कर्ण ने पूछा।

'शायद।

'शायद नही स्पष्ट बातो और यह भी कि वह दुर्भाग्य दग्ध व्यक्ति है कौन? क्योकि तुम जानते हो कि शस्त्रधारी के लिए भी कर्ण का वेग झेलना आसान नही तब वह नि शस्त्र तो तत्काल काल कवलित होकर ही रहेगा।

यही तो मैं चाहता हू और इसीलिए इस सकट के काल भी तुम्हारे द्वार तक दौडा आया हू। जानता हू, तुम्हारे द्वार स कोई याचक निराश नही लौटता। महादानी कर्ण का द्वार है यह।

"पहेलिया नही बुझाओ मित्र! स्पष्ट बोलो। मुझे क्या करना है। और कैसे तुमने सोच लिया कि राधेय कर्ण किसी नि शस्त्र को अपने शस्त्र का लक्ष्य बना देगा?

क्योकि इसम हम दोनो का कल्याण है और हम दोनो का ही नही, सम्पूर्ण आर्यावर्त का। अभी अभी जो रक्त की वेगवती धारा इस कुरुक्षेत्र म प्रवाहित होने वाली है उसके सभावना मात्र मान कुछक बूदो के पतन के साथ ही समाप्त हो जाएगा। तुम चाहो तो यह महायुद्ध अभी और इसी क्षण समाप्त हो जाएगा।

कर्ण को आश्चय हुआ। अभी अभी तो वह ठीक इसी रूप में सोच रहा था और यह सुयोधन भी यही बात कह रहा है। वह कुछ उत्तेजित होकर बोला—मैंने कहा न पहेलिया नही बुझाकर स्पष्ट बात कहो। लेकिन अभी तक किसी नि शस्त्र पर शस्त्र उठाने की बात मेरी समझ म नहा आई। फिर तुम अपनी बात बताओ।

"वह नि शस्त्र कोई साधारण व्यक्ति होता तो मैं यह प्रस्ताव तुम्हारे सामने रखता ही नही। मैंने कहा न कि उसकी समाप्ति के साथ ही इस विनाशकारी युद्ध की समाप्ति भी है।"

"वह पाण्डव-पक्ष का है?'

"निस्सन्देह!"

"अजुन?'

"तुमने ठीक समझा।

"और तुमने कहा कि वह अभी चुप बैठा कृष्ण का कोई सन्देश सुन रहा है।'

"चुप और नि शस्त्र। गाडीव का उसने त्याग कर दिया है। रथ के पार्श्व भाग मे बैठा वह कृष्ण स मनोबल प्राप्त कर रहा है। जीवन और मरण की समस्याओं की चर्चा सुन रहा है। वह युद्ध निरत होना चाहता है और जितनी बातें मुझ तक पहुची हैं उनके अनुसार वह कृष्णि-वशी सारथि इस कई-कई युक्तियो-उक्तियो का सहारा ले युद्ध रत करना चाहता है। यही वह सुअवसर है जिसका लाभ उठाया जा सकता है।'

"अर्थात मैं गाडीव फेंक कर बैठे अजुन पर शर-सधान कर एक ही बाण स उसकी गदन को धड से अलग कर दू?'

"हा।"

"सुयोधन!' कण जोर से चीखा। कणभेदी आवाज म। शिविर की वस्त्र निर्मित छत भी एक क्षण को उडन उडने को हो आई।

दुर्योधन हत प्रभ। कण का हो क्या गया है? इतने अच्छे अवसर की अव हलना करने पर वह क्या उतारू है?

'सुयोधन! कण ही आगे बोला। अबकी बार इसका स्वर पहले की अपेक्षा कृत शान्त था। 'मुझे अफ्सोस है कि मैं तुम्हारी यह इच्छा पूण नही कर सकता। मैं नि शस्त्र अजुन पर शस्त्र चलाने नही जा रहा। माना अजुन मेरा सबसे बडा शत्रु है और उसी के प्राणो की बलि चढाने के लिए मैं समरागण मे जमा हुआ हू। पर नही, ऐसा नही, जब तक अजुन के हाथ में गाडीव नही आता कण उसके पास भी फटकने की बात नही सोच सकता।'

सोच लो, यह सुनहरा अवसर है।

"मैंने सोच लिया। पर क्षमा करना मुझे तुम्हारे सोच पर दया आ रही है। तुमने यह सोचा भी कसे कि कण यह कुकृत्य कर सकता है?

'तुम वचनबद्ध हो। दुर्योधन ने पतरा बदला तुमने अभी कहा है कि तुम एक को छोडकर मेरी कोई भी बात मानन को तयार हो।

'पर मैं तुमसे वीरोचित बात की अपेक्षा करता था। मुझे कभी भी यह विश्वास नही हो सकता था कि तुम ऐसी बात करोगे जो न राजा सुयोधन के योग्य है न योद्धा सुयोधन क लायक।

"और तुम्हारी दान-वीरता का क्या हुआ? तुम्हारे यहा से कोई याचक खाली हाथ नहीं लौटता। दुर्योधन से अपना अतिम अस्त्र छोडा।

'इतना नीचे नही गिरो सुयोधन' कण दुर्योधन की ओर पीठ कर खडा हो गया 'तुम दान मागन आते तो मैं अवश्य तुम्हे खाली हाथ नही भेजता पर अफ्सोस है कि तुम पाप मागने आये हो। जाओ, लौट जाओ मित्र!' कण महादानी

हो सकता है पर वह महापातकी की सना से विभूषित होना नही चाहेगा। जाओ, उस दिन की प्रतीक्षा करो जब भीष्म अजन के हाथा समरागण म गिरेंगे। उस दिन तुम्हारा यह मित्र तुम्ह निराश नही करेगा। पर तब तक के लिए क्षमा सुयोधन, क्षमा। मुझस यह घोर पाप नही कराओ।

"मैं तो चल रहा हू पर सोच ला, युद्ध म सब चलता है और इस बात की कोई निश्चितता नही कि तुम्हारे इस आदश का पालन तुम्हारे शत्रु भी करेंगे। भगवान नही करे, किसी दिन तुम्हें नि शस्त्र और निस्सहाय ही शत्रु अस्त्र का सामना करना पडे।"

"अगर वह दिन आया भी तो इतिहास के पन्ने मेरे कृत्यो से काले नही माने जायेंगे। कम-से-कम इस विश्वास के साथ ही मैं अपने प्राण विसजन करूगा।

दुर्योधन चलते चलत दरवाजे पर रुक गया था और अपनी अन्तिम बात कह कर ही वह विदा हुआ "तुमन सामन आये सुअवसर को ठुकराया है राधेय यह शायद बहुत महगा पडे। खर मैंने अपना कतव्य कर दिया। मैं भी यही चाहूगा कि तुम्हारे आदर्शों का पालन वह घोर शत्रु पाथ और उसका प्रपची सारथि भी करे पर मुझे उनसे ऐसी कोई आशा नही है। ऐसी हालत मे भगवान ही मालिक है तुम्हारे प्राणो का।'

"मुझे माफ करना सुयोधन। योद्धा प्राणा का मोह लेकर रणागण मे आते नही। अगर मुझे प्रपच म पडकर भी प्राणा से हाथ धोना पडा तो काल पुरुष कम-से कम तुम जिन व्यक्तियो को अपने कठघरे मे खडा करेगा, मुझे प्रसन्नता है कि मैं उनम नही होऊगा।

तिहत्तर

'तब तुम सचमुच यागारूढ हो जाओगे। कम योग साध लोगे तुम।" उधर अजुन ने पकडा था श्रीकृष्ण के इन्ही शब्दो का। कौन सा खेल था यह? कैसी विडम्बना चल रही थी यह? माग स्पष्ट होने-होते भी अस्पष्ट क्या हो जाना था—सहसा विलीन? जस मरु कान्तार का पथिक पथ पाकर भी नही पाता रेत के विस्तार मे सब कुछ गडम गड्ड हो जाता है। ठीक वसी ही हालत पा रहा था पाथ अपनी।

कुछ देर पहल तो कृष्ण ज्ञान की विशद व्याख्या कर रहे थे। ज्ञान की आग म सभी कम सारे पाप पुण्य के जल जाने की। यहा तक कि ज्ञान के सदश पापनाशक और पुण्यप्रदायक कोई अन्य वस्तु ही इनकी दृष्टि म नही आ रही थी—न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते। और फिर ले बठे अपना वही पुराना राग—"कम का, कम योग का—तब तुम सचमुच योगारूढ हो जाओगे। कम योग साध लोगे तुम।

'हू क्या पूछे वह इस व्यक्ति से जो सुबोध होते-होते ही दुर्बोध हो जाता है, सुगम होते-होते ही दुगम। जस हाथ म आता-आता पारा फिसल पडे उगलियो के पोरो की राह, जस टिकत टिकत भी नही टिक पाये कमल-पत्र पर जल बिन्दु। पर पूछना तो पडेगा ही। पूछने के सिवा निस्तार भी क्या है? जब गुरु मान ही लिया

जगद्गुरु को ही, वह भी इस विषय परिस्थिति म, इस अदश दश, इस रण प्रदेश मे तो पूछत ता जाना ही होगा अपने प्रश्ना को जब तक व सार क सार नि शप न हो जाय, जब तक सशय का लेश मात्र भी नही पडा छुपा रह जाए अन्तर के किसी कोने मे। ठीक उसी तरह जसे प्राणा पर पड आये धनुर्धारी को तब तक अपने धनुष पर शर-सधान करत ही रहना पडता है जब तक उसके तरकश का अतिम तीर तक नही निकल जाए। और पूछ लिया पथा पुत्र न बिना किसी सकोच के, सारथि बने बठे अपन नान गुरु स— कभी तो तुम ज्ञान के उपदेश के माध्यम स कर्मों से सयास की बात करत हा और कभी योग की प्रशसा करन लगत हो। भई, इन दानो म जो श्रेयस्कर हा उसे ही तुम सवथा निश्चयपूवक क्यो नही बता देत ?"

श्रीकृष्ण पुन मुसकराए। अजुन को लगा, मुसकान जस उनक व्यक्तित्व का अग ही बन बठी है। छोटी सी बात पर भी वह चिपक आती है उनक होठा स ठीक वैस ही जस प्रत्यूप हुआ नही कि लानिमा आ विराजी प्राची क क्षितिज पर। क्या अवतारो की यही पहचान है ? अजुन क्षण भर को अपने मन म सोचन लगा। सदा प्रसन्न रहना ही उनकी विशपता ? कृष्ण को परब्रह्म का अवतार तो मानने ही लगे हैं लोग तो ब्रह्म तो आनन्दमय, प्रमात्मय होता ही है। तब जब बात की बात म व मुसकरा पडत हैं उत्फुल्ल कमल-सा खिल उठत है तो इसम आश्चय क्या ? पर नही जानता है अजुन, अभी कृष्ण की मुसकान मात्र उसकी अनानता पर है। जसे पिता पुत्र की अनानता पर मुसकराता है और गुरु शिष्य की अबोधता पर, उसी तरह श्रीकृष्ण मुसकरा रह हैं अभी अजुन क प्रश्न पर जा उसक लिए तो बहुत महत्व रखता है, पर उनक लिए जसे उसका कोई अथ ही नही। ठीक वस ही जस गुरु द्रोण के लिए कठिन-स-कठिन लक्ष्य भी कही से कठिन नही लगता था। नही व पड पर बठे पक्षी की आख की पुतली पर शर-सधान का आदश कस दे बठत उस दिन अपने सभी शिष्या का। यह तो सौभाग्य था कि लक्ष्य च्युत नहा हुआ उसका मूर्चा सिर शर वरना असफल ही हा जाता वह अपनी परीक्षा म, ठीक वसे ही जस अन्य सारे उसके सहपाठी हो गए थ।

क्या पता इसी तरह सारे लक्ष्या पर शर-सधान म निपुण हो, उसक सारथ्य का नाटक करने वाला यह नान विनान सम्पन्न व्यक्ति, जा किसी क लिए ब्रह्म है तो कुछ लागो के लिए मात्र एक वृष्णि-वशी जादूगर, कुटिल कूटनीतिज्ञ और पता नही क्या-क्या विशपकर दुर्योधन और उसके मित्रो क लिए।

उत्तर आया था और अजुन ने जसी अपक्षा की थी वसा ही आया था। कम को अभी भी कहा छोडने वाल थे श्रीकृष्ण !

सन्यास और कम-योग दोना श्रयस्कर हैं पर दोनो की तुलना ही करें तो *कम-सयास से कम-याग श्रष्ठ है। श्रयस्कर होने की बात ही तो तुम पूछ रहे थे ?* वह बता दी मैंने।

अब आग कुछ सुनो। पूरी तरह भ्रमर निवारण कर लो अपना। वह कभी भी किसी सयासी स कम नहा (भल ही वह मात्र कमयोगी ही क्यो न हो) जिसका मन द्वेष और आकाक्षा स शून्य है। ऐसा निद्वन्द्व व्यक्ति बडी सहजता स सार बन्धनो स मुक्त हो जाता है।

बात तो समझ म आन लायक थी, द्वेष आकाक्षा और द्वन्द्व स रहित होना

मन को बन्धन-मुक्त तो कर ही देता है पर इसके आगे जो बात श्रीकृष्ण कहने जा रहे थे वह शायद ज्यादा गूढ थी क्योंकि उनके मुख की मृदु मुसकान ने अब एक नई भगिमा अपनाई थी, अब वह कुछ अधिक ही गहरी हो आई थी। किन्तु बहुत प्रतीक्षा नही करनी पड़ी थी अर्जुन को। एकदम दो-टूक कहा था श्रीकृष्ण ने, व बालक से अधिक कुछ नही है जो साख्य और योग को पथक-पथक कर देखते है दो भागो म विभक्त कर। जाह्नवी के जल म रेखा खीचकर उसे दो भागो में बाट दोगे क्या? किसी भी घाट पर पानी पी लो प्यास तो बुझा ही देगा गगा-जल कि नही? सन्यास और योग दोनो म किसी एक को ठीक से साध लो तो दूसरा स्वत सध जाता है। दोनो का फल मिल जाता है ऐसे व्यक्ति को।

'अरे मरणोपरान्त जिस लोक म ये ज्ञानी-सन्यासी जाते हैं उसी म ये निष्काम कर्मोपासक कर्मयोगी भी जाते ह। सन्यास और योग दोनो को जो एक ही समझते है, एक ही दृष्टि से देखते है जिनके लिए दोनो म अभेद है, वस्तुत वे ही सच्ची दृष्टि से सम्पन्न हैं। शेष आखें रखकर भी नही देखते। बाहर की आखो को खुली रहने से क्या खुली तो अन्दर की आखो को रहना चाहिए।"

'एक बात और बताऊ? श्रीकृष्ण कुछ रुककर बोले।

बताइए अर्जुन अपनी जिज्ञासा को अभी पूरी तरह शात नही पा रहा था।

'तुम सन्यास की बात कर रहे हो। यह सन्यास भी कर्मयोग के बिना बहुत कठिनाई से सधता है। निष्क्रिय भाव से कर्मरत रहकर, व्यक्ति यदि बाद म सन्यास भी ग्रहण करना चाहे तो वह उसके लिए सहज होता है क्योकि कर्म योग तो उसे त्याग का पाठ पहले ही पढा देता है।

'ऐसे भी बिना सन्यास ग्रहण किए मात्र कर्मयोग से ही व्यक्ति उस चरम लक्ष्य ब्रह्म को सन्यासियो की अपेक्षा शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है।

"यह क्यो? अर्जुन को आश्चय हुआ।

यह इसलिए कि सन्यासी तो कर्म विरत हो सुविधा का जीवन जीता है। जीवन-यापन के लिए दूसरे पर भार बन जाता है। कर्मयोगी तो निरन्तर कर्मरत रह सन्यासियो तक की सुख सुविधा का कारण बनता है तटस्थ भाव स काय करने के कारण वह बन्धनमुक्त भी रहता है अत ब्रह्म को वह सन्यासी की अपेक्षा अधिक शीघ्र प्राप्त कर ले तो इसम आश्चय क्या?

बात तो आप बहुत तर्क-पूर्ण कह रहे है केशव! अर्जुन ने अपनी सहमति प्रकट की।

'ठीक तो कह ही रहा हू कृष्ण ने आरम्भ किया 'मैं फिर कहूगा कि बात मात्र लिप्तता और अलिप्तता की ह। तुम कितना भी कर्म करते जाओ लेकिन निस्सग और निर्लिप्त भाव से करोगे तो व तुम्हे बाधन से रहे। जो योग-युक्त है अर्थात् कर्म योगी है जिसकी आत्मा शुद्ध है और जिसने उसे जीत भी लिया है जिसने इन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर ली है और जो सभी प्राणियो म एक ही आत्मा, अपनी ही आत्मा को देखता है अर्थात जो व्यक्ति-व्यक्ति म, प्राणी प्राणी म अन्तर नही देखता वह कर्म रत होकर भी कर्म फल का भागी नही होता। बोलो, इससे अच्छी बात क्या हो सकती है?

समझ रहा हू। अर्जुन किंचित मुसकराते हुए बोला।

"क्या समझ रहे हो ?" श्रीकृष्ण ने उत्सुकता से पूछा।

"यही कि तुम आत्मा की शुद्धता और इन्द्रियों के निग्रह पर भी कम जोर नहीं दे रहे और फिर सम दृष्टि के भी तुम उतने ही कायल हो जितना निर्लिप्तता और तटस्थता के। सब प्राणियों में अपनी ही आत्मा को देखना कोई छोटी बात थोड़े है ?'

'लेकिन मैं इससे भी एक बड़ी बात कहने जा रहा हूं।' श्रीकृष्ण ने देखा भूमिका अब पूरी तरह बन गई है।

'वह भी कह डालो।' अर्जुन ने अपने ध्यान को और केन्द्रित करने का प्रयास करते हुए कहा।

'कुछ कर्म तो स्वयं करते हो और कुछ स्वतः सम्पादित होते जाते हैं। है न यह बात ?'

'अर्थात् ?' अर्जुन समझने का प्रयास करते हुए बोला।

'अर्थात् चलने फिरने, शस्त्र-सचालन करने आदि के कार्य तो तुम्हें सायास करने होते हैं किन्तु श्वास लेने पलक झपकाने आदि के सदृश कार्य ? क्या इनके लिए तुम्हें कोई प्रयास करना पड़ता है ? ध्यान भी रहता है इन कार्यों का ? कृष्ण गम्भीरता से बोले।

'नहीं तो। पर तुम कहना क्या चाहते हो ?' अर्जुन बात के इस आकस्मिक मोड़ का कोई अर्थ नहीं निकाल पा रहा था।

'कहना यह चाहता हूं कि ये भी कर्म ही हैं और तत्ववेत्ता सच्चा कर्मयोगी देखने, सुनने स्पर्श करने, सूंघने खाने चलने, सोने श्वास लेने त्यागने, मल मूत्र विसर्जित करने हाथ से अनायास अथवा सायास कुछ लेने, पलक खोलने और बन्द करने आदि इन सभी क्रियाओं में भी स्वयं को कर्त्ता के रूप में कभी नहीं देखता। वह इन सबको इन्द्रियों का खेल—इन्द्रियों को अपने विषयों लक्ष्यों में बरतने के अलावा कुछ और नहीं मानता। इतनी सारी बातें एक साथ कहकर श्रीकृष्ण गम्भीर हो अर्जुन पर इनकी प्रतिक्रिया देखने लगे।

'यह तो पराकाष्ठा ही है ?' अर्जुन ने सहसा मुख खोला।

किसकी ?"

तुम्हारे कर्मयोग की और किसकी ?'

'हां है यह पराकाष्ठा। निर्लिप्तता हो तो पूरी तरह। शरीर अथवा इन्द्रियों के किसी व्यापार के हम सहभागी क्यों बनें ? जिन कार्यों का सम्पादित होना है वे स्वयं सम्पादित होते जाते हैं। हम कर्त्ता नहीं अधिक से-अधिक द्रष्टा हैं। तटस्थ द्रष्टा। बात समझी तुमने ?

समझ गया। ठीक ही है जब निर्लिप्त ही होना है तो पूरी तरह निर्लिप्त हो जाए। शरीर की स्वचालित क्रियाओं का भी तटस्थ भाव से ही लें। सच्चा कर्म योग—कर्म के प्रति तटस्थता और अनासक्ति—की यही उच्चतम स्थिति होगी। मान लिया मैंने तुम्हारी बुद्धि का लोहा। अर्जुन सहमति के स्वर में बोला।

"इस तटस्थता और निर्लिप्तता को आसान करने का एक और उपाय है।

'वह क्या ?

ब्रह्मार्पण।'

"अर्थात् ?

"जो भी कम हो, सायास अथवा अनायास सबको ब्रह्म को अर्पित कर दो। तुम्हारा उससे कोई लेना-देना नही। जसे भगवान की मूर्ति को कोई भोग लगाता है उसी तरह अपन कर्मो को नवेद्य बनाकर ब्रह्म को अर्पित कर दो—तुम्हारी यह लीला, तुम्हीं को भावे। मैंन कुछ नही किया अपने लिए। जो कुछ किया है वह तुम्हारा है, तुम्हारे लिए है।"

"तब ?"

'तब यह होगा कि जसे कमल के पत्ते पर जल की बूद नही ठहरती है इसी तरह निस्सग भाव से, ब्रह्मापण हेतु किए गए किसी काय से भी व्यक्ति को कोई पाप नही लगता।'

"अर्थात युद्ध करने से भी ?' अजुन मुसकराया।

"अथ तो यही है।'

एक बात और है। श्रीकृष्ण आगे बोल 'और वह महत्वपूण है।

"महत्वपूण तो तुम्हारी सारी बातें है।' अजुन के चेहरे पर गाम्भीय का भाव उभरा।

"नही, इस पर कुछ विशेष ध्यान देन की आवश्यकता है।'

'कह जाओ। मैं तुम्हारी सारी बातो पर समान रूप से ध्यान दे रहा हू। बातें अब पल्ल पडने लगी हैं। ऐसे भी जसा पहले कहा, तुम्हे गुरु तो मान ही चुका हू, ता तुम्हारी बाता पर ध्यान नही देने का प्रश्न ही कहा उठता है ?

"मैं कहना चाहता था कि बहुत सारे काय तो आत्मशुद्धि के लिए करन पडत है चाहे वे शरीर से करने पडें, मन से करन पडें बुद्धि से करने पडें अथवा केवल इद्रियो स करने पडें। ऐसे कार्यों को भी कमयोगी निस्सग भाव स सम्पादित करत है।'

'बात तो सचमुच महत्वपूण है अथवा प्रथमदृष्टया मेरी समझ मे ही नही आ रही। कम द्वारा आत्मशुद्धि का क्या अथ हो सकताहै ?

कम द्वारा आत्मशुद्धि होती है श्रीकृष्ण समझान का प्रयास करते हुए बोल शरीर की स्वत सचालित—मल विसजन आदि—क्रियाआ को छोड भी दें तो जप-तप, पूजा-पाठ, हवन भजन, तीर्थाटन आदि के सदृश क्रियाए तो आत्म शुद्धि म सहायक हैं ही।

जब इनके फल की तुम आकाक्षा ही नही करने तो इनसे आत्मशुद्धि कस सम्भव है ? अजुन को लगा उन्होने कृष्ण को एक गलत मोड पर पकड लिया है।

कृष्ण मुसकराए फल की आकाक्षा नही करना और फल प्राप्त हो जाना ये दोनो दो बातें हैं। मैंन आरम्भ म ही कहा था कि कम करन म तुम्हारा अधिकार है, फल म नही। मिलना होगा तो वह मिल ही जाएगा। यही बात आत्म शुद्धि सम्बधी क्रियाओ को लेकर है। अग्नि मे जान-बूझ कर हाथ डालो या अनजाने म वह ता जलायगी ही अत निस्सग भाव से किया भी आत्मशुद्धि सबधी कम तुम्हे शुद्ध करेगा ही। निस्सगता पर तो मैं बार-बार जोर इसलिए दे रहा हू कि वसी स्थिति म कोई भी कम बधनकारी नही होता। वह अपना फल देकर भी नि शेष निर्वीय हा जाता है। यही पर कमयोगी और साधारण कर्ता म अन्तर होता है। फल मिल या न मिल, इस भाव से काय कर कमयागी जहा सारे ऊहापोह

से रहित हो अपार शान्ति का लाभ करता है वही सामान्य व्यक्ति, अयुक्त (योग हीन) व्यक्ति, फनाशय अथवा कामना के वश हो नाना नाच करता और अशान्त होकर कर्म-बंधन का भागी बनता है।

"एक बात सोचने योग्य है और बात भी शायद इससे स्पष्ट हो।" श्रीकृष्ण ने आगे कहा।

'क्या?'

"कभी ध्यान दिया है कि तुम्हारी यह आत्मा जिस गृह में रहती है उसमें कितने दरवाजे हैं?"

'नहीं तो।"

'तो सुनो। इसमें नौ छिद्र है, अर्थात नौ दरवाजे। मुख, दो आंखें, नाक के दो छिद्र दो कान मल-मूत्र विसर्जन की दो इंद्रियां। ये नौ हुए न?

'हुए।" अर्जुन ने कहा और सोचा पता नहीं श्रीकृष्ण कहना क्या चाहते हैं। थोड़ी देर पूर्व ऊंचे दर्शन की बात करते हुए अकस्मात ये सामान्य इंद्रियों के स्तर पर कैसे आ गए।

'जरा सोचो, एक ही दरवाजे वाले मकान में रहना कितना कठिन होता है। पता नहीं वह गलती से खुला रह गया तो कौन किधर से आ जाए। अब जो व्यक्ति नौ दरवाजों वाले मकान में रहे उसकी व्यथा-कथा का क्या कहना? उसे तो निरन्तर सजग रहना पड़ेगा। यही हालत हमारे साथ है। ये नौ इंद्रियां हमें कभी भी बहका कर गलत मार्ग पर ले जा सकती है। हमसे अकरणीय करा सकती है। ऐसी स्थिति में उपाय यही है कि मन में सभी कर्मों के प्रति अनासक्ति उत्पन्न कर ली जाए, इंद्रियों को वश में रखा जाए और तब सुखपूर्वक इस नौ दरवाजों वाले विचित्र मकान में निवास किया जाए।

'क्यों? अर्जुन को चुप देख श्रीकृष्ण ने ही पूछा। बात तो सही है तुमने द्वारों की उपमा से उसे अधिक आकर्षक बना दिया है। अर्जुन मुसकराते हुए बोला।

जो हो। बात को ठीक से तुम्हारे दिमाग में बठाने के लिए कई युक्तियों का सहारा लेना पड़ता है। अब जब बात निकल ही गई तो इसे पूरी तरह स्पष्ट ही कर लेता हूं। अब देखो न, बहुत सारे अज्ञानी अपने दुखों और कष्टों के लिए प्रारब्ध और परमेश्वर को दोष देने लगते हैं। कोई भी कष्ट आया कि कह उठेंगे, भगवान ने ऐसा किया। अब मैं बताऊं परमेश्वर न तो कर्तृत्व (करने की भावना) न कर्म, न कर्म फल के लिए उत्तरदायी है। इनमें किसी का सृजन वही नहीं करता। सब कुछ प्रकृति-वश, स्वभाव-वश होता है। तुम लिप्त भाव से अच्छा और बुरा कर्म करते हो और उसका अच्छा या बुरा फल पाते हो। परमेश्वर किसी के पाप अथवा पुण्य को अपने ऊपर नहीं लेता अर्थात वह इन दोनों में से किसी का कारण नहीं है। सारा खेल कर्म का है। पाप भी कर्म से। पुण्य भी कर्म से। मैंने पहले भी कहा था कि कर्म अकर्म और विकर्म को जानना आवश्यक है। अब तुम विकर्म करोगे तो पाप के भागी बनोगे ही कष्ट उठाओगे ही। इस सबमें बेचारा परमेश्वर किधर से आता है? वह तुम्हें थोड़े कष्ट दे रहा है? कष्ट के कारण तो तुम्हारे स्वयं के कर्म हैं। भाग्य को कोसने की अपेक्षा तो अच्छे कर्मों में निस्संग भाव से संलग्न होना अधिक अच्छा है।

"और जानते हो यह सब क्यों होता है ? ' कृष्ण ने आगे पूछा ।
"क्यों ?"
"अज्ञान के कारण । ज्ञान तो तुम्हारे अन्दर सजित पडा है पर वह अज्ञान से ढका है जैसे राख मे अग्नि ढकी हो । राख को उडा दो, अग्नि का तेज प्रत्यक्ष हो जायेगा । यह अज्ञान समाप्त हो जाय कि कर्म ही बधनकारक है सुख-दुःख दोनो का कारण है तो फिर सुख ही सुख है ।"
"और इसी ज्ञान को तुम बार-बार मेरे अन्दर भरना चाहते हो ?' अर्जुन ने परिहास किया ।
"हा, ज्ञान को भरना चाहता हू और अज्ञान को समाप्त करना चाहता हू । अपितु अज्ञान के समाप्त होते ही ज्ञान स्वय प्रकट हो जायेगा । जैसे सूर्य तो आसमान म होता ही है । मेघ उसे ढके रहते हैं । मेघो को हवा हटा दे तो सूर्य का प्रकाश बिम्ब तो स्वय चमक उठता है ।"
"यह मेघ और सूर्य की उपमा बडी अच्छी रही, ' अर्जुन ने कहा । "इससे आखें स्वत खुल जाती हैं । ज्ञान तो अपनी आत्मा म ही है । अज्ञान के, मोह के, ममता और आसक्ति तथा भोग और कामना की इच्छा के कारण वह ढका पडा है । इन सारी इच्छाओ म निवृत्ति पा लें तो ज्ञान स्वत हमारे पथ को आलोकित कर देगा । हमसे करणीय करवायेगा और अकरणीय से दूर रखेगा । क्यो ?"
'वाह ! वाह ! श्रीकृष्ण खिलखिला पडे, "बात आखिर तुम्हारे पल्ले पड ही गई । '
' तो तुम मुझे क्या नीरा मूढ ही समझ बैठे हो ? अर्जुन की परिहास भावना अभी जाग्रत थी । श्रीकृष्ण के द्वारा कही अधिकाश बातो का गूढार्थ अब उसके समझ म आ गया था और वह अपने को अत्यन्त हलका अनुभव कर रहा था जैसे हवा के कधो पर सवार कोई पत्ता, जैसे दूर आकाश मे तरता कोई मेघ-खण्ड, जैसे जल धार पर तरता जाता कोई भारहीन तिनका ।
' तुम कही खो गए लगते हो ।' श्रीकृष्ण ने टोका ।
' नही, मैं तुम्हारी बातो पर ही विचार कर रहा था । कहा न यह मेघ और सूर्य वाली उपमा मुझे अत्यन्त पसन्द आई ।"
सूर्य की उपमा का प्रयोग तो मैं अभी एक और सन्दर्भ मे करने वाला हू । ' श्रीकृष्ण ने आरम्भ किया 'कहना यह था कि जिस व्यक्ति ने इस प्रकार अपने अज्ञान म मुक्ति प्राप्त कर ली है उसका ज्ञान सचमुच सूर्य की तरह ही प्रकाशमान हो उस परम तत्व को उसके समक्ष प्रकाशित, उदघाटित कर छोडता है ।'
' किस परम तत्त्व को ?"
परब्रह्म को । परमात्मा को । और किसको ? जिस तरह मेघ हमारे और सूर्य के मध्य बाधक है उसी तरह यह अज्ञान भी हमारे और परब्रह्म के बीच का परदा है । अज्ञान का यह परदा हटा नही कि परब्रह्म अथवा परमात्मा का स्वरूप प्रकट हुआ ।
"यह इतना आसान है ?"
'क्या ? '
' परब्रह्म के दर्शन ? अर्जुन ने पूछा ।

"है ही। इसमे आश्चय की क्या बात है? जब अज्ञान हट गया, कम शुद्ध हो गए और उनके प्रति लिप्तता का भाव नि शेष हो गया तो वह परम तत्त्व तो तुम्हारे समक्ष स्पष्ट होगा ही। वही परम तत्त्व अथवा परब्रह्म जिसकी एक झलक के लिए योगी-यति और साधक वर्षों साधना-लीन रहते हैं, तपस्या रत रहते हैं। और अधिक क्या कहू अनान की समाप्ति के पश्चात जिसकी बुद्धि उसी परम तत्त्व से लग जाती है, जिसकी आत्मा उसी से एकाकार अनुभव करती है जिसकी सारी निष्ठा उसी को समर्पित हो जाती है जो उसी का होकर रह जाता है अर्थात उसी के पारायण हो जाता है वह ज म मरण के ब धन स भी मुक्त हो जाता है क्योकि उसका नान उसे स्वय ही पूत पवित्र निष्काम कर देता है। और यह क्या कम बडी उपल धि है? आज तक के सारे तपस्वियो मनस्वियो का लक्ष्य तो यही रहा कि वे इस ज म-मरण, इस आवागमन के चक्कर से मुक्त हो जाए। तुम्हारी सहमति है मुझसे? श्रीकृष्ण ने रुककर पूछा।

असहमति का कोई कारण नही। मोक्ष किसे प्रिय नहीं, मुक्ति? ज म मरण के चक्कर म कौन पडा रहना चाहता है?'

'ठीक है तो अब एक सवथा पथक बात पर आता हू। यह है सम भाव समत्व की बात। मैंने कभी कहा था कि समत्व ही योग है (समत्व योग उच्यते)। उसी बात को दूसरे रूप म मैं कहना चाहता हू। अभी अभी हम परम सत्ता और उससे साक्षात्कार की बात कर रहे थे। कुछ समय पूव मैंने अपनी आत्मा को शेष आत्माओ म और शेष सभी आत्माओ को अपनी आत्मा म ही देखने की बात कही थी।'

'अभी तुम क्या कहना चाहते हो? अजुन ने श्रीकृष्ण को अनावश्यक विस्तार म जाने से रोका।

अभी मैं यह कहना चाहता था कि चूकि परब्रह्म सव यापी है सारी आत्माए एक ही हैं उसी परमात्मा परब्रह्म का अश, अत जो सही अर्थों म नानी और पण्डित हैं वे प्राणी प्राणी म अन्तर नही देखते वे उनम भेद नही अभेद का दशन करते हैं। अपने शब्दा मे कहू तो पण्डित लोग विद्या विनय से युक्त ब्राह्मण म तथा तथाकथित नीच चाण्डाल म गौ कुत्ते और हाथी सबम समदृष्टि रखत हैं। यहा केवल मनुष्यो-ब्राह्मण और शूद्र की बात नही यहा तो समस्त प्राणी-जगत की बात है। पण्डित के लिए सबमें एक ही परब्रह्म का वास है, अत उनक लिए सभी समान हैं।

'इस समबुद्धि को जिसने साध लिया उसने जीते-जी ही स्वग प्राप्त कर लिया। ब्रह्म सवथा निर्दोष, शुद्ध विशुद्ध और सम है अत इसलिए समदृष्टि-युक्त व्यक्ति ब्रह्म के स निकट पहुच जाता है। उसी मे स्थित हो जाता है। सम-दृष्टि की यह बात आगे तक जाती है। प्रिय अथवा इच्छित वस्तु का प्राप्त कर न तो वह प्रस नता को प्राप्त होता है न अप्रिय अथवा अवाछित को प्राप्त कर अप्रसन्नता को। ब्रह्म को जान लनवाले व्यक्ति की बुद्धि स्थिर हो जाती है उसकी मूढता नि शेष हा जाती है और वह जसा कि पहले कहा ब्रह्म मे ही स्थित रहता है। उसे नित्य उसका सान्निध्य सुलभ रहता है।

"मनुष्य के लिए तो सबसे बडा सुख इन्द्रिय सुख ही है न, उसम भी स्पश सुख? कृष्ण ने बात बदल कर पूछा।

"सो तो है ही !" अर्जुन ने हामी भरी।

"तो जिसने आत्मा पर अधिकार नही किया वह इस स्पश-जनित सुख को प्राप्त कर जितना आनन्दित होता है उसके कम सुख ब्रह्म से युक्त आत्मा को नही प्राप्त हाता। अन्तर इतना ही है कि पहल का सुख क्षणिक होता है और दूसरे का स्थायी अक्षय। इंद्रियो से प्राप्त हानेवाले ये जो भी सुख अथवा भोग हैं वे दु ख के कारण हैं, इनका आरम्भ है तो अन्त भी है अर्थात ये नितान्त अस्थायी हैं विद्वान् व्यक्ति कभी ऐंद्रिक भागो के पीछे नही भागता। इस सम्बध म मैं प्रकारान्तर से पहल भी कह चुका हू। अब भी कहता हू।

'इस शरीर म रहत रहत हा जो काम और क्रोध से उत्पन्न वगो को निर्विकार भाव स सह लेता है वही असली यागी है और वही सुखी है।

"इस शरीर म रहत-रहत का क्या अथ ? अर्जुन को कृष्ण की बातो म रस आ रहा था। फिर भी वह अपनी शका को रोक नही सका।

"अथ मह कि इस शरीर से ही तो साधना सोती है। कम शरीर तो यही है। और काम क्रोध के सदश शत्रुआ को विजित करने क लिए कुछ कम साधना-सयम की आवश्यकता होती है ? इसीलिए इस शरीर म रहत रहत काम और क्रोध पर नियत्रण रखन की बात मैंने कही।

"अब सुख का असली भेद सुना अजुन ! सारा ससार सुख की मग मरीचिका के पीछे दौडता जा रहा है पर सुख है कि हाथ आता नही। आता भी है तो कुछ देर के लिए और फिर अपने से अधिक दु ख की सष्टि कर तिराहित हो जाता है।

क्या है सुख का वह भेद ? अजुन की उत्सुकता उसके स्वर पर चढ आई थी।

वह भेद है कि सुख अ दर की वस्तु है, बाहर की है नही। जो बाहरी व्यक्तिया स्थितियो अथवा वस्तुओ मे सुख ढून्ता है वह छला जाता है। मेरे द्वारा सुनो तो जो अपनी आत्मा म ही सुख ढू" लेता है अपनी आत्मा मे ही आराम अथवा शाति पा लेता है जो वही से प्रकाश प्राप्त कर अपन पथ को आलोकित कर लेता है वह कमयोगी स्वय ही ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है और अन्तत ब्रह्म को प्राप्त कर ही रहता है। ब्रह्म प्राप्ति की इस स्थिति को प्राप्त करने की कुछ शर्तें हैं—तुम्हारे सब पापो को प्रथमत नष्ट होना है और यह ज्ञान द्वारा सम्भव है जैमा कि पन्ल कहा तुम्हे सारे शकाओ, आशकाओ, तर्को-कुतर्को से रहित होना है, अपनी आत्मा को नियन्त्रित करना है सभी जीवा के हित माधन मे रत होना है क्योकि सभी म एक ही परब्रह्म विराजता है। एमी स्थिति को प्राप्त कर और काम क्राध म रहित हो जो कमयोगी अपनी बुद्धि अथवा चेतना पर भी नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है ऐसे आत्मज्ञानी व्यक्ति के चारो तरफ ब्रह्म ही ब्रह्म हाता है। उसे ब्रह्म निर्वाण ढूटने की आवश्यकता कहा रहती है ? ब्रह्म निर्वाण अथवा मुक्ति तो उसकी चेरी बन आती है। उत्फुल्ल कमन पुष्पो स युक्त सरोवर के मध्य प्रवेश करने वाले के लिए कमल-पुष्प और उसकी सुगध के अन्वषण की आवश्यकता होती है क्या ? वह तो उनसे घिरा ही रहता है। पद्म-पराग और उसकी सुगध तो उसके नासिका रध्रो म प्रवेश ही करत रहत हैं। ठीक यही स्थिति आत्मजयी योगी की समझो काम क्रोध विजेता की समझो सम-दृष्टि-सम्पन्न की समझो

निर्लिप्त और तटस्थ भाव से अपने निर्धारित कर्मों म सलग्न कर्म-योगी सच ज्ञानी को समझो।

"अब तक मैं तुम्हें प्राय सिद्धान्त की बात बताता रहा। अब कुछ व्यवहार की भी बात बताऊंगा।"

"बताइए।" अर्जुन ने उत्सुकता प्रकट की।

"पर पहले तुम्हें एक बात बतानी होगी।"

'क्या?" अर्जुन को लगा पता नही अब कौन सी पहेली लेकर श्रीकृष्ण उपस्थित हुए हैं।

'मनुष्य का सर्वोच्च अभीष्ट क्या है?"

अर्जुन कुछ देर चुप रहा फिर बोला—'सुख।

'क्या कुछ गलत कहा? श्रीकृष्ण पर कुछ प्रतिक्रिया होते नही देख उसी ने पूछा।

"नही गलत तो बहुत नही कहा। पर सही बात भी नही कही। मैं ही इसे आसान किए देता हू। सुख कहा है?"

'शान्ति म।' अर्जुन झट स बोला।

'ठीक, तो मैं इसी शान्ति की प्राप्ति की बात बता रहा हू।

'तो अब तक क्या कर रहे थे?' अर्जुन को लगा सुख और शान्ति की ही बात तो अब तक हो रही थी।

'कहा न अब तक सिद्धान्त पर अधिक जोर था। अब व्यवहार पर दूगा।'

'ठीक है बताओ। बिना व्यवहार के सिद्धान्त मधुता भी कहा है और बिना गुरु के ज्ञान व्यवहार के धरातल पर उतरता भी नही। फिर तुमसे बडा गुरु मिलेगा भी कहा? तुम तो जगत् गुरु हो।' अर्जुन ने विनम्रतापूर्वक कहा।

'कहते हो तो अब यह बात मान भी लेता हू। पर उस बात पर अभी थोडी देर बाद आऊगा। पहले वह व्यवहार वाली बात सुनो। यह क्रिया-योग है। इसको व्यवहार मे लाने से वह सब कुछ सधेगा जिसकी अब तक चर्चा करते रहे हैं। इस पर आगे भी विस्तार से प्रकाश डालूगा पर अभी सक्षेप म ही सुनो।

'सवप्रथम तुम्हे इन्द्रियो के विषयो अथवा लक्ष्यो को अपने मन से बाहर करना पडेगा। फिर दृष्टि को दोनो भौंहो के मध्य स्थिर करना पडेगा। प्राण और अपान अर्थात् नाक से निकलनेवाले श्वास और उच्छवास को सम करना पडेगा अर्थात जितना श्वास भीतर जाएगा (प्राण) उतना ही बाहर आयेगा (अपान)। इन्द्रिय मन, बुद्धि को नियन्त्रित करना पडेगा और मोक्ष परायण अर्थात मुक्ति का आकाक्षी बनना पडेगा। मुक्ति का अर्थ यहा जीवनापरान्त मोक्ष से नही। यही रहकर सारे बन्धनो से मुक्त होने की बात है। इच्छा भय और क्रोध से रहित होना पडेगा। इस तरह जब तुम आचरण करोगे तब तुम सचमुच मुक्त हो जाओगे। और जो तुम मेरे जगदगुरु होने की बात कह रहे थे और बार-बार कहते आये हो, वह भी सुन लो। मैं ही सभी प्रकार के यज्ञो और तपस्याओ का भोक्ता हू, इसी लोक नहीं सभी लोको का ईश्वर ही नही महेश्वर हू सभी जीवो का मित्र अथवा शुभेच्छु हू। मुझको इस तरह जानना ही शान्ति का सही रास्ता है।

'क्या? अर्जुन के मुख से महसा निकला।

'क्योकि जब मैं सभी जीवो का मित्र हू तो तुम्हारा भी हू तो जब परमेश्वर

ही तुम्हारा मित्र हो गया तो तुम्हें कैसा भय, कैसी अशान्ति ?"

"श्रीकृष्ण !" अर्जुन सहसा गद्गद होकर बोला।

"बोलो।"

"तुम कितने महान् हो। तुमने मेरे मन से तो भय का भूत ही भगा दिया। सचमुच तुम जब सबके सखा और सुहृद् हो तो मनुष्य व्यर्थ ही भयभीत और अशान्त रहता है।"

"यह तो है ही और इस पर पुन और प्रकाश डालूगा। भय का भूत इतनी आसानी से नही भागता। जन्म जन्म से लिपटे पडे संस्कारो से बहुत आसानी से पिंड नही छूटता। खैर अभी मैं व्यावहारिक बातें कर रहा था।

"उनमे केवल एक बात का प्रयोजन मेरी समझ म नही आया।

"किसका ?"

"यही दृष्टि को भौंहो के बीच रखने का।"

"इससे नेत्र इन्द्रिय नियन्त्रित होती है। और तुम जानते हो नेत्र ही सभी अनर्थों की जड मे है। दृष्टि कही इधर उधर नही जाकर भौंहो के बीच ही फसी रहे इससे अच्छी बात क्या होगी ? देवी गाधारी की आखो पर पट्टी बाधने की बात भूल गए ? उन्होने यह जितना धृतराष्ट्र को प्रसन्न करने के लिए नही किया था उतना रूप के माया-जाल से अपने को मुक्त करने के लिए किया था। आखो वाले पति की आखो का भय तो पत्नी को भटकने से रोक लेता है पर जहा पति की आखो का अकुश ही नही हो, वहा भटकने म कितना समय लगता है ? और फिर भौंहो के मध्य दृष्टि को रखना साधना का एक उत्कृष्टतम साधन भी है। यही तो तीसरा नेत्र है। मैं व्यवहार की बात कर रहा था न ? क्रिया योग की ? इस पर और बातें बाद म करूगा। अभी के लिए इतना ही कि इस स्थान पर दृष्टि गडाए तुम त्रिनेत्र हो जाओ—तुम्हारी अन्तर की आख खुल जाय मेरे शब्दो म अन्त-र्ज्योति हो जाए तो इससे बडी उपलब्धि क्या होगी ?"

चौहत्तर

मैं 'क्रिया-योग' की बात कर रहा था। इसी क्रम मे मैंने अन्तर्ज्योति को जाग्रत करने की बात भी कही। अन्तर्ज्योति के जगने से बहुत कुछ स्वत स्पष्ट होने लगता है। भविष्य की बहुत सी घटनाओ का भान होने लगता है विधि निषेध का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। करणीय-अकरणीय का भेद स्पष्ट होने लगता है। खैर, इस क्रिया योग पर मैं पुन थोडी देर के बाद आऊगा।

कुछ देर पहले तुमने सन्यास और योग की बात उठाई थी। बात पूरी नही हो सकी। आजकल लोगो म सन्यास की प्रवृत्ति कुछ अधिक ही बढती जा रही है। परजीवी बनने जा रहे हैं बहुत-से लोग। कुछ नही करके भी जीवन-यात्रा चलती रहे तो क्या हर्ज ? यही मनोवृत्ति घर करती जा रही है। गृहस्थो का सकट बढ गया है इससे। उन्हे अपने स्वजनो-परिजनो का तो भरण-पोषण करना ही पडता है, सन्यासियो के इस नित्य वर्द्धिशील सख्या का भार भी अन्तत उन्ही पर आता

है। यह स्वस्थ प्रवत्ति नही है। हम इसे रोकना होगा। अत मैं क्रिया-योग पर लौटने के पूव सयास और कमयोग को लेकर कुछ कहूगा।"

अर्जुन श्रीकृष्ण की बातें ध्यान से सुन रहा था। उसे अतज्योति वाली बात बडी पसद आई थी। वह तत्सम्बधी माधना करने को भी प्रस्तुत था। पर श्रीकृष्ण फिर अपन प्रिय विषय कमयोग के प्रतिस्थापन पर लौटना चाहते थे यह बात उससे छिपी नही रही। इस क्रम म वे सयास की धज्जिया भी उडायेंग वह समझ रहा था। आखिर युद्ध म विरत होन का निणय किसी-न किसी रूप म सयास की वतमान प्रवृत्ति से ही तो जुडा है? अगर सयास का विकल्प उसक पास नही रहता तो वह गाडीव फेंक कर युद्ध भूमि म पलायन की बात सोचता भी कसे? निस्सदेह उसक अवचेतन म सयास अथवा अकमण्यता का भाव कुडली मारकर बठा है और श्रीकृष्ण है कि इस प्रवत्ति को निमूल करने पर ही पडे हुए हैं।

"तुम सुन रहे हो गुणाकेश! श्रीकृष्ण ने अजुन को कहीं गहरे खोय देख टोका है।

"मैं सब सुन रहा हू केशव!" अजुन अपने मे लौटा है "आपकी एक भी बात को अनसुनी कर दू यह अपराध मुझसे कसे बन सकता है? आप अपना कथन जारी रखें।"

हा तो मैं सयास और कमयोग की बात कर रहा था। सयासी कोई अपने म महान व्यक्तित्व अथवा अधिक वरेण्य और अनुकरणीय पूजनीय हो एसी बात नही। कमयोगी भी एसा हो सकता है। सयासी अग्नि तक स्पश नही करने अर्थात भोजन तक नही पकाने का व्रत लिये बठ रहते हैं। अकमण्यता अपना जमसिद्ध अधिकार मानते हैं।

मुझे तो केवल इतना कहना है कि कमफल पर आश्रित नही होकर जो करणीय कम करता जाता है उसम महान उससे वरेण्य उससे श्लाघ्य कोई नही। मुझस सुनो तो वही सयासी भी है वही योगी भी है और जो निरग्नि (आग तक नही छून) और अक्रिय होन का स्वाग रचत हैं वे ही सयासी है यह बात नही।

जिसे सयास की सज्ञा दी गई है उसे ही तुम योग भी समझो। सकल्प को कामेच्छा को सयस्त कर ही योगी योगी बनता है अत वह किसी सयासी से कम कसे है?'

"और एक बात बताऊ? श्रीकृष्ण ने रुककर कहा।

"बताइए।' अजुन न हामी भरी।

"जो मुनि अथवा साधक योग की साधना के पथ पर अवरूढ होने का इच्छुक है *उसका प्रथम सोपान कम ही है। और जो योगारूढ हो गया है उसके लिए शम'* अर्थात इद्रियो पर नियत्रण अथवा सयम ही असल पहचान है। दूसरे शब्दो म जो इद्रियो के विषयो लक्ष्यो और कम फल म लिप्त नही होता और जिसन सभी प्रकार की शकाओ इच्छाओ म अपन को मुक्त कर लिया है उसे ही हम योगारूढ अथवा पूण योगी कहते हैं।'

'सखे! क्या आपको नही लगता कि कुछ विशेष बातो को आप बार बार दुहरात हैं। उदाहरणाथ इद्रिय निग्रह और फलाशा को छोडने अथवा उसमे सयास लेन की बात?

"हा, यह ठीक है," श्रीकृष्ण ने गम्भीरतापूर्वक कहा, "और इसका स्पष्ट लक्ष्य है इन तथ्यो को तुम्हारे अन्दर पूरी तरह बठा देना। और आगे तो मैं यह कहने जा रहा हू कि आत्मोद्धार और आत्मोत्थान का मार्ग भी यही है विशेषकर यह इन्द्रिय निग्रह।

"मैं यह स्पष्ट कहना चाहूगा और यह बात पूर्णतया मन मे बठा लेने योग्य है कि व्यक्ति अपने सारे प्रयासो म अपनी आत्मा का उद्धार करे। आत्मा को किसी प्रकार अवसाद-ग्रस्त नही होने दे। आत्मा ही मूल तत्व है, नियन्ता से मिला मनुष्य को बहुत बडा वरदान। वही उसके उत्थान-पतन, प्रगति अवनति, सफलता असफलता के मूल म है। उससे बडा न तो अपना कोई मित्र है न उससे बड़ा कोई शत्रु।

"यह बात तो बहुत महत्त्वपूर्ण है अजुन ने कहा 'पर मैं इसे ठीक से समझ नही सका। क्या आत्मा सचमुच इतना महत्त्वपूर्ण है?'

'है।' श्रीकृष्ण ने जोर देकर कहा, "यह बात अब तक तुम्हारी समझ मे नही आई तो मैं क्या करू? इसीलिए तो कई तथ्यो को मैं बार-बार दुहराता हू। इस जीवन मे, इस जगत् म जो कुछ भी है वह आत्मा का ही खेल है। तुम महान् भी हो तो एक महान आत्मा के कारण तुम दीन-हीन, बेबस और दरिद्र तथा कापुरुष भी हो तो एक दीन हीन दरिद्र और अपेक्षित अविकसित आत्मा के कारण अत सब कुछ छोडकर इस आत्मा के विकास पर जोर दो इसे उत्साहित करो, इसे अवसाद ग्रस्त नही होने दो।

'कसे?' अजुन ने जिज्ञासा की।

'कसे क्या? बात स्पष्ट है। अच्छे काय इन्द्रिय निग्रह, सत्याचरण परोपकार, परदु खकातरता, फलाकाक्षा रहित कम, भक्तिभाव यज्ञ-जप ये सब आत्मा के उद्धार, उत्थान क कारण है और इनस विपरीत काय इसके पतन इसकी अवनति क कारण। अब इससे अधिक स्पष्ट क्या करू?

"दूसरे शब्दो मे कह कि जिसने इस आत्मा को जीत लिया है आत्मा उसका मित्र है पथ प्रदशक है और जिसने इस आत्मा पर विजय नही पाई है आत्मा उसके साथ शत्रुवत व्यवहार ही करता है।

"अर्थात?"

"वह उन्हें अनय की ओर ले जाता है तुम्हारी तरह निश्चय अनिश्चय निणय अनिणय के द्वद्वो म फसाता है करणीय की ओर से मुख मोडवाता है और अकरणीय करने को बाध्य करता है।

'समझ गए? श्रीकृष्ण ने रुककर पूछा। अजुन को थोडी ग्लानि भी हुई। दूसरे शब्दो म सखा यही तो कहना चाहत है कि मैंने इस समय इस मोह का प्रदशन कर रण से विरत होने का प्रयास कर एक अविकसित आत्मा का ही परिचय दिया है।

"समझ गया।" अजुन ने उत्तर दिया 'पर तुम क्रिया-योग पर कुछ और प्रकाश डालना चाहते थे। शायद उस व्यावहारिक ज्ञान से आत्मोद्धार म कुछ अधिक ही सफलता मिले।'

'अवश्य मिलेगी, मैं उस पर भी शीघ्र आऊगा पर पहले मैं जो कह रहा था उसे पूण कर लेने दो।'

"पूरा कर लो। मैं ध्यान स सुन रहा हू।"

"जिसने आत्मा को जीत लिया है, जो शात हो गया है, जो परमात्मा म ही समाहित है गर्मी-सर्दी सुख-दुख तथा मान अपमान म जो समान भाव रखन लगा है जो ज्ञान और विज्ञान का अनुसरण कर अपनी आत्मा को तृप्त कर चुका है जो अपन अदर ही निहित है अर्थात् जिसके विचार व्यथ के भटकाव के शिकार नही होत जिसने इद्रिया पर विजय प्राप्त कर ली है जिसके लिए लोह और मान म कोई अतर नही है वही योगी है। श्रीकृष्ण इतनी बातें एक साथ कहकर कुछ रुके।

'शर्तें तो तुमने कई रख दी?' अजुन कुछ सोचते हुए बोला।

'कई अवश्य रख दी, पर सब ध्यान देने योग्य हैं और इनमे कोई नई नही है। प्रत्यक्ष या प्रकारातर से मैं सब पर जोर देता रहा हू। बात तुम्हारे अदर ठीक स बैठ जाय, इसीलिए उन्हे कई रूपो म और कई बार कहना पडता है। अब इसी इद्रिय निग्रह की बात लो। इसे मैंने कई बार कहा और अभी शायद कई बार कहूगा भी। इससे यह तो स्पष्ट होता ही है कि इद्रिय निग्रह प्रथम आवश्यकता है, विकास का प्रथम और अतिम सोपान। इद्रिय निग्रह के बिना शेष सब व्यथ है।

'हा मैं पुन समत्व की बात भी कर रहा था। लोहे और स्वण को समान समझने की बात मैंने कही। इस और स्पष्ट करूगा। सम-बुद्धि महत्त्वपूर्ण है। सम बुद्धि अर्थात् अभेद दशन। जिसने इस समबुद्धि अथवा समत्व भाव का विकसित कर लिया है उसके लिए शुभेच्छु मित्र शत्रु तटस्थ मध्यस्थ (न मित्र न शत्रु) द्वेषी अबधु (परिजन) साधु और पापी म कोई अन्तर नहीं होता। वह सबम समदृष्टि रखता है और इसीलिए वह अय व्यक्तियो की अपक्षा विशिष्ट होता है। वह सही कमयोगी होता है।

'अर्थात् समदृष्टि इस रूप म महत्त्वपूर्ण है?' अजुन ने प्राय आश्चर्यचकित होकर पूछा।

'है ही तभी तो मैं समत्व को ही योग मानता हू—समत्व योग उच्यते। खर अब तुम्हारे द्वारा अति प्रतीक्षित क्रिया योग पर आता हू।

साधु। अजुन ने अपनी प्रसन्नता व्यक्त की।

'जो सही अर्थों म योगी बनना चाहता है अर्थात योग-साधना का इच्छुक है।'

'व्यवधान के लिए क्षमा करना अजुन ने बीच म ही टोक कर कहा, तुम्हारा अथ यहा भी कमयोगी स है अथवा मात्र साधक से जो धारणा ध्यान आदि प्रक्रियाओ द्वारा योग की प्राप्ति का प्रयास करता है।

श्रीकृष्ण मुसकराए तुम ध्यान स सुनो तो इसम स्वत दोनो आ जायेंगे।'

कहो।

जो योगी होने का इच्छुक है वह प्रथम इतने काम करे।

'क्या?

'वह एकात म अर्थात जन शून्य स्थान म एकाकी (कोई साथी अथवा धम पत्नी को भी साथ नही रखकर) सतत साधना करे।

"बस?

'चित्त और आत्मा दोनो पर नियन्त्रण करे। अर्थात चित्त-वृत्तियो को इधर उधर नही भागने दे। आत्मा को शुद्ध विचारो भावो से युक्त कर उसे ऊचा उठाए, आशा आकाक्षा से मन को अलग कर और अपने पास कोई सामान नही रखे अर्थात अपरिग्रह का आश्रय ले।

"इतने से योग सध जायगा ?'

'नही और सुनो। यह साधना है। इसकी प्रक्रिया तो कुछ विशद होगी ही। पर अधिक विशद भी नही है।

एक शुद्ध स्थान का चयन करे। शुद्ध अर्थात नदी तट, किसी मदिर का एकान्त कोना, वन उपवन। वहा सर्वप्रथम अपने बैठने के लिए एक आसन का प्रबन्ध करे। यह आसन न तो ऊचा हो न बहुत नीचा। पहले कुशा (दर्भ) बिछाये, उसके ऊपर मृगचर्म और उसके ऊपर वस्त्र बिछाए। इसी आसन पर योगाभ्यास करे।'

बस ?"

सर्वप्रथम मन को एकाग्र करे। उसे इधर उधर भटकने से रोके। चित्त और इन्द्रियो की क्रियाओ को भी नियन्त्रित करे।

'अर्थात ?'

'अर्थात यह कि चित्त मे अच्छे विचार ही उठें। ईश्वर की भावना हो। इन्द्रियो के व्यर्थ के कार्य कलाप बन्द हो। आखें मुदी रहे तो अच्छा। कानो को व्यर्थ की बातो की ओर से मोड दिया जाय। नासिका छिद्र केवल श्वास प्रश्वास की क्रिया मे सयमित रूप मे भाग लें। ऐसे ही और इन्द्रियो के सम्बन्ध मे समझो।

इस प्रकार वह आत्मशुद्धि के लिए योग साधना मे तत्पर हो।'

अर्थात यह साधना आत्मशुद्धि मे सहायिका होती है ?

अवश्य। जब आत्मा की शुद्धि हो जायगी तब कर्म योग भी स्वय सध जाएगा। तुम वही बात तो पूछ रहे थे। सामान्य योग और कर्म योग की बात। शुद्ध आत्मा वाले व्यक्ति के अन्दर निस्पृहता समत्व एव परोपकार आदि के भाव स्वय विकसित हो जायेंगे। वह साधक वह योगी स्वत कर्मयोगी बन जायगा। मूल बात तो मन और इन्द्रियो के नियन्त्रण की है आत्मशुद्धि की है। कर्म-योग तो स्वय सध जाएगा। श्रीकृष्ण ने समझाया।

अर्थात यह साधन-योग कर्म योग का आरम्भ ही है इसका सोपान अथवा उसकी पूर्व पीठिका ?'

मैं तो यही कहूगा। मूल तो कर्मयोग ही है। साधना तो उसे ही है। मैं जिस क्रिया योग की चर्चा कर रहा हू वह आत्मनियन्त्रण आत्मशुद्धि के लिए ही तो है। खैर अब आगे की प्रक्रिया सुनो। पहले थोडा कह भी चुका हू। यहा विस्तार से कहूगा।

आसन पर बैठने के पश्चात, शरीर, मस्तक और गले को अचल रूप मे एक रेखा मे धारण कर स्थिर हो जाए।

शरीर मस्तक और गर्दन को एक रेखा मे धारण करने का अर्थ क्या हुआ ? क्या मस्तक और गर्दन शरीर के भाग मे नही है ? अर्जुन की उत्सुकता जगी।

तुम्हारी जिज्ञासा ठीक है श्रीकृष्ण ने कहा 'यहा शरीर से मेरा तात्पर्य गर्दन के नीचे के भाग से ही है। मरदन्ड से। स्पष्ट शब्दो मे समझो तो सुखासन या

पदमासन मे बैठ कर मेरुदड सिर और गर्दन को एक सीधी रेखा म रखना मन को एकाग्र करने की उपयुक्त स्थिति है।

'फिर तुम आखो को नासिकाग्र पर टिकान की बात करोगे?"

'अवश्य, श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया, नासिकाग्र पर ध्यान दने के लाभ का वर्णन मैं पहले भी कर चुका हू। नासिकाग्र पर ध्यान रखकर किसी भी अन्य दिशा मे दृष्टि नही डालना साधक के लिए आवश्यक है।

"इसके पश्चात?'

इसके पश्चात यह कि वह अपने को शात कर, भय छोडकर, ब्रह्मचय का पालन करते हुए, मन को सयमित कर, मुझम चित्त लगाकर अपने को मेरा ही समझकर स्वय को याग म स्थित करे।'

"इस साधना स कोई विशेष लाभ होगा?' अजुन न पूछा और उस लग गया कि श्रीकृष्ण न स्वमुख स ही स्पष्टत अपन को परब्रह्म अथवा परमात्मा का स्वरूप स्वीकार कर लिया। वरना व अपने म ही चित्त लगाने दूसरे शब्दो मे ही ध्यान करने का क्या कहत?"

'लाभ होता है,' श्रीकृष्ण न कहा इस प्रकार जा योगी मन को नियन्त्रित कर सदा इस योग मे तत्पर रहेगा वह अवश्य शान्ति प्राप्त करेगा जो मनुष्य का परम लक्ष्य है।

वह शाति कसी हागी? अजुन ने जिज्ञासा की।

'कसी होगी का तात्पय क्या? मेरा ध्यान करने म वह मुझम ही स्थित मोक्ष स्वरूपा शान्ति हागी। अर्थात इसी जीवन म ही वह कर्मों के फलाफल स मुक्त हो मोक्ष अथवा मुक्ति को प्राप्त कर आनन्ददायक शाति का अनुभव करगा।

अर्थात शाति के स्रोत तुम्हा हो?'

अगर तुमको विश्वास हो तो अवश्य।

तब ता तुम्ह परब्रह्म का अवतार मानन वाले ठीक ही कहत है? अजुन की शका नि शष नही हा रही थी।

तुम भी तो कहते ही हा। पर पूरी तरह नही। यही न? तो शायद वह भी समय आ जाय कि तुम औरो की अपेक्षा अधिक ही मुझे अपार्थिव अथवा इस जीवन-जगत् स भिन्न वह परमात्म शक्ति मानन लगो। वह समय शायद दूर नही है। श्रीकृष्ण ने गम्भीरता से कहा।

कहना क्या चाहत हो हृषीकेश, मैं समझा नही। अजुन न विनम्रतापूवक कहा।

'समय सब कुछ कह देगा अजुन। प्रतीक्षा करो पर अभी तो मुझे इस उप योगी क्रिया योग की व्याख्या समाप्त करने दो। यद्यपि यह अन्तत कमयोग अर्थात निलिप्त भाव से काय सम्पादन की आर ही ले जाती है तथापि जसा कि पहले स्पष्ट किया आत्मोत्थान आत्मशुद्धि और एकाग्रता के लिए यह क्रिया-योग अत्यत आवश्यक है। यह साधना-योग है। एक तरह स प्रचलित याग प्रणाली यही है। मेरा कम-योग ता मेरा अपना अनुसधान है पर सहस्रो वर्षों स आ रही इस याग साधना की उपक्षा भी उचित नही। अन्तत आत्मशुद्धि के माग स होकर यह मर कमयोग तक पहुचत ही है।

'तो स्पष्ट कर दो शेष बातो को भी। अजुन ने उत्सुकता दिखलाई।

"इस योग साधना म मध्यम मार्ग की आवश्यकता है।"

"क्या अथ ? '

"अथ यह कि यह न ता अधिक खाने वाल को सिद्ध होता है न एकदम उप वास रखने वाले का, न तो अधिक सोन वाल का न निरंतर जाग्रत रहने वाले का।'

तब तो यह मर भाई भीम का कभी नही सिद्ध हागा क्योकि वह बहुत खाता है। ' अजुन के मन म यह परिहास जगा पर उसे दबा उसने पूछा 'तब ?"

तब यह कि आहार विहार म सयम रखने वाल, अथवा अति स बचन वाल, कर्मों म भी मध्यम माग अपनाने वाल अर्थात न अधिक श्रम करन वाल न कम स एकदम मुह मोडन वाल और जागन और सोन म भी युक्तायुक्त का विचार रखन वाल व्यक्ति ही यह याग सहजता से सिद्ध हो जाता है। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया।

'तब ता कठोर तपा म अपन तन को व्यथ ही सुखान वाल मूखता ही करत ह ?

"और क्या ? श्रीकृष्ण न कहा, शरीर ही तो सार साधनो का मूल है, उस ही भाजन और निद्रा के अभाव म अथवा हठयोग द्वारा कृश और अशक्त कर डालो तो कौन-सा योग सधेगा ? मैंन कहा न माध्यम माग ही सदा कल्याणकारी है।

' प्रमुख लक्ष्य आत्मसाधन का ह। श्रीकृष्ण ने थोडा रुककर आरम्भ किया इस सबका लक्ष्य यही है कि चित्त को नियन्त्रित कर अपने अन्दर अपनी आत्मा म ही स्थित हो जाय। सभी कर्मों क प्रति निस्पहता विकसित कर लें। एसा व्यक्ति ही योगी कहान का अधिकारी हाता है।'

एक बात और कहू ? श्रीकृष्ण ही कहत गए।

कहो।

किसी तज हवारहित स्थान मे किसी दीपक की जलती लौ को देखा है।

' देखा है।

कसी हाती है वह ? '

स्थिर, शात।

"ता इसी तरह वह योगी हाता ह जो दत्तचित हाकर आत्मयाग म तल्लीन हाता ह अर्थात दीप की लौ की तरह उसका चित्त भी पूरी तरह अचचल हो जाता है। यही सिद्धि है पहचान है इस साधना की और इसका परिणाम जानत हो ?"

क्या ?

इस तरह याग-साधना से जब साधक का चित्त निरुद्ध हो जाता है तब वह जहा रहता है वह और कुछ नही आत्मा ही होती है। वह योगी आत्मा द्वारा आत्मा को ही देखता हुआ आत्मा म ही तुष्ट प्रसन्न रहता है।

अर्थात आत्म-दशन ही सुख प्रसन्नता और शान्ति का कारण है ?

अवश्य। श्रीकृष्ण ने जोर दकर कहा। पर यह आत्मा द्वारा आत्मा म ही देखत हुए आत्मा म ही तुष्ट होन की बात नही समझ म आई। अजुन विवश सा बोला।

' नही आई ? मैं बताता हू।

'एक अधेरे कमरे म दीप जला दो तो क्या होता है ?

"प्रकाश।"

'वहा प्रकाश के सिवा कुछ होता है ?"

नहीं।"

' उस प्रकाश का कारण क्या हाता है ?"

दीप।"

' दीप अथवा प्रकाश ?

प्रकाश ही कह लो।

"और इस प्रकाश को भी क्या प्रकाश के बिना देख सकते थे ?

"नही।" अर्जुन ने कहा।

"और इस प्रकाश से प्रसन्नता होती है न? बोलो? कि अंधकार से प्रसन्नता होती है ?

"नही, यहा तो प्रकाश से ही प्रसन्नता होती है।

"तो प्रकाश द्वारा प्रकाश को देखकर प्रकाश से ही प्रसन्नता प्राप्ति की बात सिद्ध हुई न ?'

'हो तो गई।' अर्जुन ने हामी भरी।

'तो इसी तरह आत्मा द्वारा आत्मा को देखते हुए आत्मा में ही प्रसन्न होने की बात समझो। दरअसल प्रसन्नता का उत्स अपने अन्तर में ही है—जाग्रत आत्मा के ही अन्दर और उसे प्राप्त करने के लिए ही ये सारे साधन बताए गए। कस्तूरी-मृग की तरह प्रसन्नता शांति और सुख रूपी गंध के अन्वेषण में कहीं और भटकने की आवश्यकता नही। सब कुछ अन्तर में ही उपलब्ध है।

यह योग-साधन तो सचमुच महत्त्वपूर्ण है ? अर्जुन ने उत्साह दिखलाया।

"महत्त्वपूर्ण तो है ही। आत्म-तत्त्व से योगी जब विचलित नहीं होता अर्थात आत्मा में ही रमा रहता है तो जानते हो वह कैसा सुख प्राप्त करता है ?

' कैसा ?

'ऐसा जो मात्र बुद्धिग्राह्य है। इन साधारण इन्द्रियों के द्वारा तो यह ग्राह्य भी नहीं।'

'*अर्थात आंखों से जो रूप दिखलाई देता है उससे भी सुन्दर रूप योगी को* मात्र बुद्धि द्वारा प्राप्त होता है। अनुभूत होता है ? अर्जुन ने आश्चर्य से पूछा।

हां, आत्म राज्य में इन्द्रिय-जनित सुखों का महत्त्व क्या है ? वे तो तुच्छ से तुच्छ हैं। जैसे कोई हीरे को पाकर कांच को फेंक देता है बस ही आत्म-सुख की अनुभूति के समय इन्द्रिय-जनित इन सुखों की स्थिति होती है। जो बात आंखों के सम्बन्ध में कही उसे ही अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी समझ लो।

यह वह लाभ है अर्जुन जिसके समक्ष और सभी लाभ इससे न्यून ही मालूम पड़ते हैं। योग की इस स्थिति में पहुंचकर मनुष्य गम्भीर से गम्भीर दुःख से भी विचलित नहीं होता।

'हां यह योग दुःख सम्बन्ध का नाशक है अर्थात इसकी प्राप्ति से दुःख का संयोग सदा के लिए समाप्त हो जाता है। अब बताओ इस योग का प्रसन्नतापूर्वक साधना आवश्यक है या नही ?

'निश्चय ही आवश्यक है। अर्जुन ने उत्तर दिया।

"तो इस क्रिया-योग को और ठीक से समझाएं ? श्रीकृष्ण ने आगे कहा।

"समझाए।"

'इसके कई चरण हैं।"

"बताते जाय।'

'पहली बात तो वही कामनाओं वाली है। संकल्प अथवा इच्छा से उत्पन्न होने वाली जितनी कामनाए हैं उन्हें पूरी तरह छोड दें।"

"यह तो प्रथम चरण हुआ।"

"हा।"

'फिर?

"मन द्वारा सभी इन्द्रियों को नियंत्रित करें और धैर्य न छोडते हुए बुद्धि द्वारा धीरे धीरे विषयों से पिंड छुडा लें।"

"जब इन्द्रिया नियंत्रित हो जायेंगी तो विषयों से स्वतः पिंड नहीं छूट जायगा क्या? अर्जुन ने सन्देह किया।

'नहीं, मैंने मन, बुद्धि और आत्मा के महत्त्व को इन्द्रियों के सम्बन्ध में पहले भी स्पष्ट किया है। मन द्वारा इन्द्रियों पर नियन्त्रण संभव है पर मन को बुद्धि की लगाम आवश्यक ही होगी। यह भी धीरे धीरे ही करना होगा। धैर्य रखना होगा। आत्म-तत्त्व की प्राप्ति तो यहा लक्ष्य ही है अतः आत्मा की बात मैं अलग से नहीं कर रहा। बल्कि कहना तो यह है कि मन को एकदम आत्मा में स्थित कर किसी बात को सोचें ही नहीं। सर्वथा चिंता शून्य विचार शून्य हो जायें।

'पर मन तो चंचल है। वह तो भागेगा। अर्जुन ने सन्देह व्यक्त किया।

यही तो परीक्षा है' श्रीकृष्ण ने कहा जहा-जहा से जिन जिन द्वारों, छिद्रों में यह चंचल और अस्थिर मन भागने का प्रयास करे वहीं वहीं में उसे रोक कर उसे आत्मा में केन्द्रित करे।

'ऐसा योगी तो ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। उसका मन शांत रजोगुण रहित और पापरहित हो जाता है और वह उत्तम सुख को प्राप्त होता है। यही साधना का महत्त्व है। इस प्रकार मन को अपने को योग साधना में रत रखने वाला निष्कलुष योगी अत्यन्त आसानी से ब्रह्म प्राप्ति रूपी अपार सुख की प्राप्ति करता है।

'अर्थात तुम्हारे विचार से ब्रह्म प्राप्ति का साधन मात्र यह योग साधना ही है? अर्जुन ने शंका की।

यही है यह बात नहीं। परन्तु यह अवश्य है। और साधन भी हैं इसकी प्राप्ति के। मैं उन पर आऊंगा भी पर अभी बताया गया क्रिया योग ब्रह्म और अनंत सुख की प्राप्ति का निश्चित साधन तो है ही।

और बताऊ?

'बताते जाओ।'

"क्या बताऊ? एक ही बात तो कई बार आ जाती है।

वह तो आयेगी ही। मेरी मूर्खता भी तो अपनी ही तरह की है। तुम बताते जाओ। पुनरुक्ति की चिन्ता नहीं करो। मेरा उद्धार भी इसी में है। अर्जुन ने स्पष्ट कहा।

'वही समदृष्टि वाली बात पुनः आती है। जो सचमुच में योग-युक्त हो जाता है वह सब जीवों में अपने को और अपने में ही सब जीवों को देखता है। उसकी

भेद-दृष्टि समाप्त हो जाती है। इसका दूसरा अर्थ सर्वत्र मुझे ही देखना है क्योंकि सब जीवों में तो मैं ही हूं। अतः, जो सर्वत्र मुझे ही देखता है और सब कुछ को मेरे अन्दर ही स्थित देखता है वह न तो मेरे लिए कभी नष्ट होता और न मैं इसके लिए कभी नष्ट होता हूं। अर्थात् हम दोनों सदा एक दूसरे के लिए प्रत्यक्ष रहते हैं। वह मेरी उपेक्षा नहीं करता फलतः मैं भी इसकी उपेक्षा नहीं करता।

अर्थात् तुम्हारी उपेक्षा से बचने के लिए यह आवश्यक है कि सर्वत्र तुम्हारा ही दर्शन किया जाय?

'हां, सर्वत्र मुझको देखा जाय और मुझको सर्वत्र देखा जाय। कई घड़ों को सरोवर में डुबो दो तो क्या होगा? सब घड़ों में पानी होगा और सब घड़े पानी में होंगे। यही सम्बन्ध सभी प्राणियों का मुझ परब्रह्म में समझो। जो इस भेद को जान लेता है वह न मुझे छोड़ सकता है न मैं उसे छोड़ता हूं। ऐसा योगी जो मुझ सभी जीवों में स्थित समझ एकान्तिक भाव से मुझे ही भजता है वह सभी प्रकारों के क्रिया-कलापों में रत रहकर भी मेरे में ही रहता है अर्थात् मुझसे पृथक कभी नहीं होता।'

'अर्थात् एक लम्बी डोरी से बंधी हुई कोई गौ खूंटे के इर्द गिर्द चाहे जितना चक्कर काट ले अन्ततः वह खूंटे से ही बंधी रहती है, क्यों ही न?' अर्जुन ने बात साफ करनी चाही।

"वैसे ही समझ लो अथवा उस वृहत् सरोवर के मगरमच्छ की बात लो जो जो किनारे किनारे लोट-पोट जाने के बाद पुनः-पुनः सरोवर की ही शरण जाता है, उसी तरह समदृष्टि सम्पन्न योगी सब कुछ करते हुए भी मुझसे अयुक्त नहीं होता अर्थात् सदा युक्त ही रहता है।

और समता की ही बात लो तो सुख हो अथवा दुःख हो जो सभी स्थितियों में सबको अपने ही मापदण्ड से मापता है वही योगी मेरे विचार से श्रेष्ठ है। अर्थात् जिससे अपने सुख को सुख का अनुभव होता है और जिससे अपने को दुःख का अनुभव होता है उसी से क्रमशः दूसरों को भी सुख दुःख का अनुभव हो सकता है, ऐसी दृष्टि जो विकसित कर लेता है, वही व्यक्ति श्रेष्ठ योगी कहलाने का अधिकारी है।

'क्या तुम इस क्रिया-योग को ठीक से समझ गए पार्थ?' श्रीकृष्ण ने अपने इस महत्त्वपूर्ण वक्तव्य के अन्त में पूछा।

'तुम्हारी यह समदृष्टि वाली बात तो बड़ी अच्छी है। मैं इसकी प्रशंसा करता हूं। पर एक बात है।'

'क्या?'

"इसे प्राप्त तो कर लिया जा सकता है लेकिन इस स्थिति, इस विचार को चंचलत्व के कारण स्थिर रखना इस पर टिके रहना बहुत आसान नहीं है।

श्रीकृष्ण! तुम जानते हो कि मनुष्य का मन अत्यन्त चंचल है बलवान् और दृढ़ है तथा मनुष्य के अंतर का निरंतर मथते रहने वाला है। स्पष्ट कहूं तो जैसे कोई शाखा मृग (बन्दर) एक डाली से दूसरी डाली पर कूदता फांदता रहता है वैसे ही मन किसी एक धारणा अथवा विचार पर स्थिर नहीं रहता। मेरे विचार से तो जिस तरह वायु को नियन्त्रण में रखना कठिन है उसी तरह मन को नियन्त्रित रखना दुस्साध्य।'

"तुम्हारा कहना तो ठीक है। मन चचल है। इसीलिए तो मैं बार-बार उसे पर सयम रखने, उसे नियत्रित रखने की बात करता रहा हू।" श्रीकृष्ण ने सहमति व्यक्त की।

"तब इस चचल मन को नियत्रित कैसे किया जाय?"

'अभ्यास और वैराग्य से। श्रीकृष्ण ने छोटा-सा उत्तर दिया।

अभ्यास की बात तो समझ में आई। धीरे धीरे अभ्यास रत रहने से असभव भी सभव हो जाता है, दुसाध्य भी साध्य हो जाता है पर यह वैराग्य? इसका यहा क्या तात्पर्य? अर्जुन ने बात स्पष्ट करनी चाही।

"तात्पर्य है। मैंने विषयो की ओर से मन खीचने की बात बार-बार कही है। इन्द्रिय निग्रह पर जोर दिया है। आकाक्षाओ को सीमित करने पर बल दिया है। कामनाओ की ओर से मुह मोडने की बात कही है। यही है वैराग्य। वैराग्य अर्थात् वीत राग होना। मन में राग उत्पन्न ही नही होने दो वह कही रमे ही नही, वैराग्य शनै शनै स्वत सध जायगा और मन पर नियन्त्रण भी आसान हो जायगा।

"समझ गए?' श्रीकृष्ण ने पूछा।

'समझा।'

"तो यह भी समझ लो कि योग सयत व्यक्ति की ही वस्तु है। जिसमे सयम नही है मन पर जिसका नियन्त्रण नही है, ठीक ही उसके लिए योग दुष्प्राप्य है। लेकिन जिसने अपने को धीरे धीरे वश में कर लिया है, वह यदि लगा रहे तो उसका यत्न व्यर्थ नही जायगा। वह उसे साध लेगा।

मेरा विचार है इसी दृष्टि से तुमने क्रिया-योग और ध्यान आदि की बात कही।

'अवश्य।" श्रीकृष्ण ने स्वीकारा, 'मुख्य बात तो मन का साधने की है ही। सयम के बिना तो कुछ सयम नही। बिना लगाम के अश्व की तरह दौडता भागता मन तो तुम्हे भटका भटकाकर मार ही डालेगा। कर्म-योग में तो फल की ओर से मुह मोडना प्रथम आवश्यकता है और असयमित, अनियत्रित मन तो सर्वप्रथम फल की ओर ही दौडता है। जैसे अनियत्रित अश्व अपने गन्तव्य की चिन्ता छोड मार्ग के तृणो-पौधो की ओर मुह मारने को लालायित रहता है।

'एक बात मन में आ रही है। श्रीकृष्ण के लम्बे भाषण के पश्चात अर्जुन ने कहा।

'क्या?

यह तुम्हारा योग तो जरा कठिन कार्य है। मुझे पूछना यह है कि मान लो कोई पूर्ण श्रद्धा के साथ इसको साधने में लग भी जाता है किन्तु उससे पूरा यत्न सभव नही हो पाता और वह योग-पथ से विचलित हो योग-सम्बन्धी सिद्धि नही प्राप्त कर पाता तो उसकी क्या स्थिति होती है? क्या वह लोक-परलोक दोनो को गवाकर नष्ट भ्रष्ट तो नही हो जाता ठीक वैसे ही जैसे कोई मेघ-खड वायु की चपेट मे पड छिन्न भिन्न हो जाता है? ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग पर बढा वह व्यक्ति चचलता के कारण विमूढ हुआ उस मार्ग पर जब पूरी तरह टिक नही पाता तो आखिर उसकी क्या गति होती है? मेरे इस सशय को पूरी तरह समाप्त करने में तुम्ही सक्षम हो, तुम्हारे अलावा कोई इस शका का निराकरण

नही कर सकता अत तुम्ही से इसका समाधान करा लेना उचित समझता हू ।'

श्रीकृष्ण पुन मुसकराए। अजुन को इस मुसकान का अथ समझ म नही आया। एक बार उसने कुरुक्षेत्र के विस्तृत मदान की ओर दष्टि डाली। दोनो तरफ के योद्धा युद्ध आरम्भ होने म इस अनावश्यक विलम्ब से उतावले प्रतीत हो रहे थ। स्वाभाविक था कि उनके चहरे पर एक क्रोध एव खिनता का भाव स्पष्टत अकित था। अर्जुन समझ पा रहा था कि यह खिनता, यह क्रोध उसी को लेकर था। सारे योद्धा सोच रहे होगे कि अगर मुझ युद्ध से ऐसी ही विरक्ति है तो मैं श्रीकृष्ण को रथ मोड कर लौट जाने को क्यो नही कहता कि व्यथ के वार्ता लाप म रत हो सबके बहुमूल्य समय को नष्ट कर रहा हू। पर अजुन की भी विवशता थी। बात तो आरम्भ म बहुत छोटी थी और लगा था शीघ्र ही उसका निष्कप सामने आ जायगा। पर वह उसके रथ के ध्वज पर आरूढ हनुमान की पूछ की तरह बढ़ी तो बढती ही चली गई। अब श्रीकृष्ण की बात म इतना रस आने लगा था कि उसे मध्य म छोडा भी नही जा सकता था। लोक-परलोक राग विराग, जीवन मुक्ति की इतनी सारी गुत्थिया इस तरह सुलझती जा रही थी और जीवन जगत की विभिन्न जटिल समस्याओ का ऐसा सुदर समाधान मिलता जा रहा था कि बात को बीच म ही छोड देना वसा ही अव्यावहारिक और कष्ट कर होता जसे कोई समुद्र के मध्य ही जलपात को छोड किनारे तक स्वय की क्षमता पर पहुचने की बात सोचे। अब तो यह वार्तालाप लम्बा खिच ही गया था और उसने उसके मन म इतने प्रश्न प्रति प्रश्न उत्पन्न कर दिए थ कि इसकी शीघ्र समाप्ति सभव भी नही थी। अब योद्धाओ को जो सोचना हो सोचें जो करना हो करें पर वह तो श्रीकृष्ण से अपने सारे प्रश्नो के उत्तर प्राप्त कर ही दम लेगा। वह पूरी तरह जानता था कि अगर युद्ध का यह प्रथम दिन ही नही होता तो युद्ध सम्बन्धी सारे नियमो को तिलाजलि दे प्रतिपक्ष के योद्धा प्रहार पर उतर आते किन्तु युद्धारम्भ के काल ही अधम युद्ध पर उतरने का साहस शायद ही कोई कर पाये।

पर अभी तो बात श्रीकृष्ण की मुसकान को लेकर थी। अजुन जानता था श्रीकृष्ण की यह मुसकान जितनी ही सामान्य होती है उतनी ही अथ-पूर्ण। इस मुसकान के माध्यम से अवश्य ही वह अजुन की मूर्खता की ओर सकेत करना चाहते हैं अथवा अपने किसी पूर्व कथन का स्मरण दिलाना ही उनका लक्ष्य है।

'क्या जनादन ? मैंने क्या कुछ गलत पूछा ?' अतत अजुन ने अपने सखा के मुसकान के रहस्य का उद्घाटित करा लेना ही उचित समझा।

गलत अवश्य पूछा श्रीकृष्ण ने मुसकराते हुए ही उत्तर दिया मैंने आरम्भ म ही कह दिया था कि इस रथ पर बढ चलने वाला को न तो किसी कारण किसी विपरीत स्थिति का सामना करना पडता है न जो कुछ किया जा चुका है उसका नाश ही होता है। अगर किसी कारण पूर्ण सिद्धि को प्राप्त किए बिना ही कोई इस पथ्वी को छोड भी जाता है तो तुम्हारे शब्दों म वह किसी मेघ खण्ड की तरह छिन्न भिन्न नही होता।

अजुन ! एक बात म यहा स्पष्ट कर दू कि ऐसे व्यक्ति का न तो इस लोक म न उसम ही विनाश होता है अथवा उसका कुछ बिगडता ही है। किसी भी

व्यक्ति की जो कल्याण-कार्यों म लगा है दुगति नही होती। भलाई का फल यहा बुराइ म नहीं मिलता।

'खर यह बात तो प्रमग-वश आ गई," श्रीकृष्ण ने आगे आरम्भ किया, "अब तुम्हारे प्रश्न पर आता हू। मैं तो पहले स्पष्ट ही कर चुका हू कि आत्मा अमर है और वह नये शरीर धारण करती है अर्थात व्यक्ति का पुनजम होता है। तो जो व्यक्ति योग माधना मे लगा रहता है और सिद्धि की प्राप्ति के पूव ही मत्यु को प्राप्त हो जाता है अर्थात योग भ्रष्ट हो जाता है वह मत्यु के उपरान्त पुण्यवान लोग जिन लोका म जात हैं उनम कुछ काल तक वाम कर फिर पवित्र आचरण वाले थी सम्पन्न व्यक्तिया के यहा जम धारण करता है।'

'अर्थात् इस लोक के अलावा और लोक भी हैं?'

इसम कोई मन्देह है? स्वग-लोक, गो-लोक इन्द्र लोक आदि केवल[1] कल्पना के विषय थोडे हैं। जो नही दिखाई पडता अथवा जहा तक नही पहुच पाते उसका अस्तित्व ही नही है यह बात तो नही।

खर आगे सुनो। यदि श्री सम्पन्न लोगो के यहा उसने जन्म ग्रहण नही किया तो विद्वान योगियो के यहा ही उसका जम होता है किन्तु इस प्रकार का जम कुछ दुलभ ही है। यह कुछ अधिक पुण्य से ही प्राप्त होता है।

'ऐसे जम ग्रहण के पश्चात क्या उसे पूव जम के प्रयत्नो का परिणाम मिलता है?'

"अवश्य। वह पूव जम के बुद्धि मस्कार को प्राप्त करता है और समय आने पर पुन मिद्धि के लिए प्रयासरत हो जाता है। मानते हो इस बात को?

तुमने कहा तो मानना ही पडेगा।'

'मानने की बात तो यह है ही और मैं तो कहूगा कि यह योग इतना महत्त्व-पूण है कि इसका जिज्ञासु मात्र भी जो केवल ब्रह्म की शाब्दिक चर्चा मात्र करते हैं उनसे आगे बढ जाता है।'

'यह बात नही समझ म आई।' अजुन ने स्पष्ट कराना चाहा।

कौन बात?"

यही ब्रह्म की शाब्दिक चर्चा करने वालो से आगे बढ जाने की बात।

हा कुछ लोग केवल शास्त्राथ—ब्रह्म की चर्चा—को ही सब कुछ मानकर सतोष कर लेते हैं लेकिन योगाभ्यासी तो क्रिया मे कम म विश्वास करता है अत कमयोग के अभ्यास की ओर प्रवत्त होने वाला भी उसके सम्बन्ध म जिज्ञासा करने वाला भी मात्र शाब्दिक चर्चा करने वाले से बहुत आगे होता है। निश्चित ही क्रिया का महत्त्व ज्ञान से अधिक होता है। अग्नि अग्नि जपने से कोई शीत का निवारण नही कर सकता, उसके लिए तो अग्नि-सेवन अनिवाय हो जाता है। जो योग-साधना के प्रति जिज्ञासु होगा, वह एक-न-एक दिन साधना रत भी होगा ही किन्तु मात्र शब्द-ज्ञान म फसा तो ब्रह्म-ब्रह्म रटते हुए अपने समय को व्यर्थ गवाएगा। इसीलिए कहा कि योग का जिज्ञासु भी ब्रह्म का मात्र शाब्दिक ज्ञान

---

1 अय लोको की सत्यता के सम्बन्ध म लेखक की प्रसिद्ध पुस्तक 'बन्धन आत्मा' (प्रभात प्रकाशन चावडी बाजार दिल्ली) पठनीय। यहा विस्तार से लिखना कठिन है।

रखने वाले से बहुत आगे होता है।

'इस प्रकार जन्म-जन्म तक प्रयास करता हुआ, पाप को धीरे धीरे काटता हुआ वह योगी अनेक जन्मो के पश्चात् सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।"

'अर्थात सिद्धि के लिए कई जन्म आवश्यक होते हैं?' अर्जुन ने आशका व्यक्त की।

"कइयो के लिए तो कई जन्म लग ही जाते हैं। यह तो साधना की प्रखरता और योगी की तत्परता पर निर्भर करेगा। और फिर कई जन्मो की बात को लेकर चिन्ता क्या? जन्म तो हम अनन्तकाल स लेते रहे हैं, लेते रहेगे। मृत्यु तो शरीर की ही होती है आत्मा तो अमर है, वह बार-बार नये शरीर बदलती ही रहती है। समय का प्रवाह तो निरन्तर और अबाध है। इसम कही, किसी समय सिद्धि मिल जाय तो इसम बुरा ही क्या है?

तो योग का महत्त्व इतना है कि वह कभी भी प्राप्त हो जाय तो वह हमारा सौभाग्योदय ही है।'

अवश्य। योग और योगी का महत्त्व तो है ही। मुझसे स्पष्ट सुनो तो योगी, तपस्वियो से भी बडा है ज्ञानियो स भी बडा है, मात्र कर्म रत रहने वाला से भी बडा है अत हे मेरे मित्र अर्जुन, तुम योगी बनो।"

योगी अर्थात कर्मयोगी? यही न?' अर्जुन ने बात स्पष्ट करानी चाही।

"अवश्य, फलाफल की चिन्ता किए बिना निरन्तर कर्म रत रहने वाला कर्मयोगी।" श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया।

'अब एक बात और कहूगा।"—श्रीकृष्ण ही बोले।

क्या?

'यह बात श्रद्धा को लेकर है। अब तक मैंने इस पर बहुत जोर नही दिया क्योकि अपने को मैं पूरी तरह तुम पर प्रकट करना चाहता नही था। पर अब यह स्पष्ट ही कर दू कि मेरी भक्ति करने वाले, मेरे प्रति श्रद्धा रखने वाले का महत्त्व मात्र कर्मयोगी से अधिक है। अत सभी योगियो म वही सर्वश्रेष्ठ है जो मुझम मन लगाकर श्रद्धाभाव से मुझे ही भजता है।'

"अर्थात अन्तत तुम्हारे प्रति, अर्थात् तुम परमेश्वर के प्रति श्रद्धा और भक्ति का महत्त्व ही सबसे अधिक है?

"सबसे अधिक अवश्य है किन्तु निष्काम कर्म का महत्त्व इससे गौण नही होता। मेरा कहना तो इतना ही है कि मेरे प्रति भक्ति भाव रखते हुए कर्म रत रहो। इससे तुम्हे लाभ ही होगा।'

कैसे?

'इस पर आगे विस्तार मे प्रकाश डालता हू। तब तक थोडा धैर्य रखो। जो कुछ कहा उस पर कुछ चिन्तन मनन करो।

पिचहत्तर

श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष अर्जुन के साथ के अपने वार्तालाप को एक महत्त्वपूर्ण मोड प्रदान करने को उद्यत थे। वह जानते थे कि कर्म आवश्यक है पर बिना परम शक्ति म

श्रद्धा और आस्था के कर्त्ता दिशा-हीन भी हो सकता है। उन्होंने जो कर्म अकर्म और विकर्म की बात की थी उनके मध्य भेद करना क्या बिना ईश्वरीय शक्ति में विश्वास किए सम्भव था? और जब उन्होंने धीरे धीरे अपने ईश्वरत्व की बात स्वीकार ही कर ली थी तो छिपाने को रह ही क्या गया था। अर्जुन पर अब पूरी तरह स्पष्ट कर दिया था कि व्यक्ति का कल्याण बिना उनकी शरण गए असम्भव ही रहेगा। कर्म महत्त्वपूर्ण है, कर्म-योग भी आवश्यक है किन्तु भक्ति के बिना ये दोनों व्यर्थ हैं। श्रीकृष्ण के अनुसार मनुष्य जीवन का वास्तविक लक्ष्य कर्म-बन्धन से मुक्त हो एक शान्तिमय सुखमय जीवन जीना और अन्तत ईश्वर-सान्निध्य प्राप्त करना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति भगवत्कृपा दूसरे शब्दों में श्रीकृष्ण कृपा के बिना सम्भव नहीं। अत वे अर्जुन पर इस रहस्य को पूरी तरह प्रकट कर देना उचित समझते थे। अब तक की सारी बातें तो जैसे भूमिका स्वरूप थी। एक पूर्व-पीठिका का निर्माण ही किया था उन्होंने। मानव-जीवन का परम साध्य, ईश्वर भक्ति तो अभी प्राय अछूती ही रह गई थी।

अर्जुन के सखा गुरु और पथ प्रदर्शक होने के नाते वे उसे अमल रहस्य से वंचित रख देन, ऐसा हो नहीं सकता था भले ही इसके कारण अपने वास्तविक स्वरूप—स्वयं ही ईश्वर अथवा उसके अवतार होने की बात—को अब पूरी तरह प्रकट कर देना उनकी बाध्यता हो गई थी। धीरे धीरे यह बात भी उन्होंने उस पर प्रकट कर ही दी थी किन्तु उन्हें लग रहा था कि उसकी इस बात पर पूरी आस्था जम नहीं रही। जिसे वह नर के रूप में वह भी अपने सारथि के रूप में देखता आ रहा था उसे नारायण के रूप में मानने को उसका मन सहसा तैयार नहीं हो पा रहा था। श्रीकृष्ण अर्जुन के इस द्वन्द्व को पहचानते थे और उन्होंने मन ही मन तय किया था कि अर्जुन पर अपने ईश्वरत्व को स्पष्ट करने के लिए शायद उन्हें विशेष कुछ करना पड़ेगा। अवसर आने पर वे ऐसा करेंगे ही पर अभी के लिए इतना ही पर्याप्त था कि वे उसके मन में कर्म योग के साथ-साथ भक्ति भाव को भी भर सकें।

सोच लिया तुमने मेरी बात पर? किया कुछ चिन्तन मनन?' अन्तत पूछा था उन्होंने पार्थ से।

'वही भक्ति भाव वाली बात पर तो?'

'हां।

"सोचा पर तुमने तो कहा था कि अभी बहुत कुछ कहना है उसके सम्बन्ध में।'

हां, कहना है और जो कुछ कहना है उसे स्पष्ट रूप में ही कहूंगा। विश्वास करना या नहीं करना तुम्हारे ऊपर है।'

'नहीं, विश्वास नहीं करने का कोई कारण नहीं। मैंने तो तुम्हें गुरु मान रखा है। तुम्हारी हर बात मेरे लिए मान्य ही नहीं, ग्राह्य भी है।'

'तो अभी मुझे यह बताना है कि मुझमें ही अपने मन को आसक्त कर मुझ पर ही आश्रित हो जो योग-साधना में रत रहता है वह किस तरह निस्संदेह मुझे पूरी तरह समझ लेता है।

मैं तुम्हें ज्ञान के साथ-साथ विज्ञान को भी इस तरह पूर्ण रूप से बताऊंगा कि उसको जान लेने के पश्चात् और कुछ जानने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

'यह तो बडी बात है,' अजुन ने कहा, "पर तुम्हारे नान के साथ-साथ विनान की बात बताने की बात मेरी समझ म नही आई।

"मैं स्पष्ट करता हू। नान तो तुम समझते ही हो। सामायत शास्त्रो पर आधारित नान को ही ज्ञान की सना दी जाती है। विनान वह नान है जो आत्म साक्षात्कार म प्राप्त होता है। जसा कि पहल बतलाया इन दोनो को मैं तुम पर इस तरह प्रकट करूगा कि उसके पश्चात् तुम्ह और कुछ जानने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

"ठीक है। मैं तुम्हारी हर बात को गुरु-वाक्य की तरह ही ग्रहण करूगा।

"यह बताना आवश्यक है अजुन ! कि सब मुझे यथाथ रूप म जानते नही। तुम्ह यह जानकर आश्चय होगा कि सभी लाग सिद्धि प्राप्ति के लिए यत्नशील भी नही होत। हजारो मनुष्यो मे कोई एक ही सिद्धि के पथ पर अग्रसर होता है और यत्न शील सिद्ध व्यक्तियो म भी कोई एकाध ही मुझे यथाथत जान पाता है।'

"तब तुम स्वय ही अपना यथाथ नान प्रकट करो।

"वही कर रहा हू।

'यह बात तुम जानत हो कि मेरी प्रकृति अथवा रूप आठ भागो म विभक्त है।'

'नही।

'तो सुनो। ये आठ भाग हैं—भूमि, जल, अग्नि, वायु आकाश मन बुद्धि तथा अहकार।

मन तो समझा पर यह अहकार क्या है ?' अजुन ने पूछा।

"हा भगवान ने आरम्भ किया "अहकार है अहम भाव अपने को दूसरे मे पृथक समझना अपने अस्तित्व को बनाये रखन क लिए अहकार का होना आवश्यक है। इस अहकार के कारण ही हर व्यक्ति एक-दूसरे मे अलग है एक प्राणी दूसरे प्राणी स पथक। यह अहकार सभी जीवो म वतमान है। अपनी रक्षा, अपने अस्तित्व को बनाए रखने की इच्छा इस अह भाव इस अहकार की ही द्योतिका है।'

'ये सभी बातें अर्थात ये आठ घटक—पृथ्वी जल आदि तो मनुष्य शरीर म भी उपलब्ध हैं।

'हैं श्रीकृष्ण ने कहा ' किन्तु मेरे कहने का तात्पय यह है कि ये मेरे द्वारा ही निर्मित हैं मेरी ही प्रकृति के भाग हैं। और मैं जब मनुष्य रूप मे अवतरित हू तो मेरे अन्दर भी वे वतमान हैं ही। खर अभी मैं दूसरी बात कह रहा था। ये आठो घटक मरे अपर रूप अथवा अपरा प्रकृति हैं। परन्तु वास्तविक महत्व मेरी परा प्रकृति है क्योकि वही जीवो की उत्पत्ति का कारण है और उसी क द्वारा यह समग्र विश्व धारित किया जाता है।

यह तो वस्तुत एक गूढ बात है। पर परा अपरा की बात तो मेरे लिए सवथा नई है। अजुन ने समझने का प्रयास करते हुए कहा।

'मैंने तो कहा ही था कि आज मैं तुम्ह नान और विनान दोनो की बातें बतलाऊगा। कुछ धय रखो तो तुम सष्टि की समस्त निर्माण प्रक्रिया को ठीक से समझ पाओगे। मैंने अपनी जिस अपरा प्रकृति की चर्चा की वह 'जड है और जो 'परा है वह चेतन है। बिना चेतना' क जड पदार्थों म जीवन का स्पन्दन असभव

है। अब यह समझा कि य मेरी दोनों प्रकृतियां ही सभी प्राणियों की उत्पत्ति का कारण हैं और मैं ही इस सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति और विनाश दोनों का मूल हूं। अर्थात् मेरी इच्छा से ही विश्व का निर्माण और विनाश होता है।

'तुम अर्थात श्रीकृष्ण ?' अर्जुन ने आश्चर्य से पूछा। अब तक तो वह श्रीकृष्ण के भगवान होने की बात को बहुत हलके से ले रहा था पर अब जब वह स्पष्ट रूप में उद्घोषित कर रहे थे कि समस्त सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश के मूल में वही हैं तो इस बात को गम्भीरता से लेने की आवश्यकता थी।

'हां मैं अर्थात कृष्ण। तुम्हारा सखा, बन्धु एवं सारथि भी।'

अर्जुन कुछ क्षणों के लिए स्तब्ध रह गया। चिन्ता की स्पष्ट रेखाएं उसके चेहरे पर उभरीं।

श्रीकृष्ण उसकी चिन्ता का समझते थे। उन्होंने मुसकराते हुए कहा 'तुम्हें यही चिन्ता तो लग गई कि ईश्वर होकर भी मैं तुम्हारा सारथ्य-कर्म कर रहा हूं? तो अर्जुन मैं यह कोई नई या विचित्र बात नहीं कर रहा। मैं तो इस सम्पूर्ण सृष्टि का सारथि हूं ही। मेरे इंगित और दिशा निर्देश पर तो यह चल ही रही है। आज अन्तर इतना ही आ पड़ा है कि मैं केवल तुम्हारा सारथि बन बैठा हूं।'

तो तुम्हारे शेष विश्व का क्या बन रहा है? अर्जुन ने परिहास किया। श्रीकृष्ण को लगा उनका सोचना सही था। अपने इस अबोध मित्र को अपने ईश्वरत्व की प्रतीति दिलाने के लिए उन्हें कुछ करना ही पड़ेगा किन्तु अभी उसका समय नहीं आया है यह सोचकर उन्होंने बात आगे बढ़ाई मैं तुम्हारे परिहास का बुरा नहीं मानता, यह स्वाभाविक है और तुम्हारी अबोधता का द्योतक भी। साथ ही तुम केवल मेरे मित्र ही नहीं, मेरी बुआ के बेटे होने के कारण मेरे सम्बन्धी भी हो। ऐसी स्थिति में तुम्हें परिहास का अधिकार है। हां, जहां तक इस सृष्टि के संचालन का प्रश्न है इतना कहना ही पर्याप्त है कि वह मेरे संकल्प के द्वारा ही संचालित हो रही है। मेरा कहीं होना नहीं होना कोई अर्थ नहीं रखता। मेरा संकल्प मेरी इच्छा ही उन सभी क्रिया-कलापों के मूल में है जो मुझे इष्ट हैं।

अब आगे कहूं?' श्रीकृष्ण ने ही पूछा।

'कहो पर मेरे परिहास का बुरा नहीं मानना। ठीक ही है कि यह मेरी अबोधता अथवा अज्ञान का ही सूचक है साथ ही यह मेरा अधिकार भी है जैसा तुमने कहा।

तो मैं कहना चाहता हूं अर्जुन कि इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में मुझसे बढ़कर कुछ भी नहीं है। जैसे मणिमाला के सूत्र में सारे मनके पिरोये होते हैं वैसे ही मैं वही सूत्र हूं जिसमें सृष्टि का सब कुछ पिरोया हुआ है अर्थात मैं सर्वत्र हूं और मुझी में सब है।

अधिक विस्तार से सुनो तो यह एक दीर्घ व्याख्या है। यह तुम्हारे आश्चर्य को और वृद्धिशील ही करेगा साथ ही तुम्हारे ज्ञान का वर्द्धन भी। तुममें धैर्य हो तो मैं अपनी विभिन्न विशेषताओं का वर्णन करूं। ऐसे यह बहुत नीरस भी नहीं है। तुम ऊबोगे नहीं ऐसा मेरा विश्वास है।

आरम्भ करो। अर्जुन ने निवेदन किया।

तो पार्थ, मैं अपनी विभूतियों का विस्तार से वर्णन करता हूं। जरा ध्यान से सुनना। इस सृष्टि में जो कुछ विशिष्ट है वरेण्य और श्रेय है वह सब मेरा ही रूप

है। मेरे ही कारण उसका अस्तित्व है मैं ही उसका उद्गम—उसका स्रोत हूं।

"जल म रस मैं हू
सूय चद्र म प्रभा मुझम ही है,
वेदा का प्रणव मुझे ही समझा
और आकाश का शब्द
तथा पुरुषो का पौरुष भी मुझे ही जाना।
धरा की सुगध और अग्नि का प्रकाश
तथा सभी प्राणिया क प्राण एव
तपस्विया की तपस्या भी मैं ही हू।
समग्र जीवधारियो का सनातन मुझ ही समझा
और बुद्धिमाना का बुद्धि तथा तजस्विया का तज मुझस ही है।
काम राग रहित बल जो बलवाना म है
और धम-पूण काम जा प्राणियो म है,
वह मुझस ही ता है अजुन !
सात्विक, राजसी और तामसी य तीनो प्रवत्तिया मुझसे ही उत्पन्न हैं,
ये सभी मुझम हैं
पर मैं कहा इनम ?
इ्ही तीना प्रवत्तियो स मोहित सम्पूण जगत् नही पहचान
पाता मुझ अविनाशी को इ्ही तीना गुणा स प्रभूत यह माया है
मरी जो अलघ्य है अपार है कि्तु जो शरणागत है मेरे
वे सहज ही तिर जाते हैं इसको।
किन्तु माया से हरी गई बुद्धि वाले
आसुरी प्रवत्ति पूण मूढ अधम पापी
शरण भी कहा आ पाते हैं मेरी ?
अत मुझे वे जानें भी ता क्या जानें ?

श्रीकृष्ण न अपनी बात समाप्त की तो अजुन कुछ देर मौन बना रहा। वह मन ही मन उस व्यक्ति की अपार विभतियो क सम्बाध म सोच रहा था जिसे वह अपने रथ का सारथि बना बठा था।

'क्या सोच रहे हो अजुन ? श्रीकृष्ण की बात पर वह अपने म लौटा था।

'कुछ नहा कुछ भी तो नहा। शीघ्रता स वह कह गया था। क्या कहे वह उसको जिसे वह आज तक क्या समझ रहा था और वस्तुत वह अपने को क्या बता रहा था। सही था कि असख्य लाग उसे परमेश्वर अथवा उसका अवतार आदि मानने लगे थे। वह भी उनम एक था पर इस सबका उसने उतनी गम्भीरता से कब लिया था जिस गम्भीरता स वह स्वय जो अपने को सब कुछ कह रहा था सब कुछ उदघाटित किए जा रहा था। और कितना आत्मविश्वास था इसम ? कहा का तेज कसा तो प्रकाश आ विराजा था इसक सदा सहज आनन पर ! कसी अलौकिक आभा भर आई थी इसकी आखा म ? अजन ताख चाह रहा था इन आखो से आख चार करना पर क्या यह सब कुछ इतना आसान था क्या ? उसके मन म आ रहा था बार बार वह उस घडी को कोस जिसम उसने इस विचित्र व्यक्ति को अपना सारथ्य सौंपा था। इससे अच्छा तो यही होता कि जहा

वह बैठा है वहां वह (अर्जुन) बैठता और जहां वह बैठा है वहां वह (श्रीकृष्ण) बैठता। वह जैसा है जैसा अपने को बताता है उसकी सेवा कर व्यक्ति अपने को धन्य कर सकता है अथवा उसकी सेवा लेकर ?

'चार प्रकार के पुण्यवान लोग मुझे भजते हैं हे भारत !" अर्जुन अपने विचारों में खोया ही था कि श्रीकृष्ण आरम्भ हो गए, 'आर्त जिज्ञासु अर्थार्थी अर्थात धन के आकांक्षी और ज्ञानी। इन सबों में ज्ञानी जो एकान्त भाव से मेरी भक्ति करता है और सर्वदा युक्त अर्थात योग साधना रत है, विशिष्टतम है। मैं ज्ञानियों को अत्यन्त प्रिय हूं और ज्ञानी मुझे प्रिय है।'

"तो फिर ज्ञान की ही प्रधानता की बात आ गई न ? अर्जुन पुनः सहज हो आया था और उसने तत्काल अपने मन की जिज्ञासा रख दी।

'नहीं आर्य' श्रीकृष्ण ने कहा, 'तुमने ध्यान नहीं दिया कि ज्ञानी मैंने माना किसे—जो नित्य युक्त (योगी) और मुझमें एकान्त भक्ति रखने वाला है। योग और भक्ति तो तुम्हें ज्ञान प्राप्त कराएंगे ही और जब ज्ञान होगा और भक्ति जनित ईश्वरीय अनुग्रह की प्राप्ति होगी तो योग अथवा कर्मयोग और दृढ़ होगा। फलेच्छा और कामेच्छा की समाप्ति होगी।

खैर, मुझे आगे कहने दो। मैं कहना चाहता था कि मुझे भजनेवाले ये चारों प्रकार के व्यक्ति श्रेष्ठ ही हैं किन्तु ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है। वह मुझसे स्वयं को जोड़कर अन्ततः मेरी स्थिति को ही प्राप्त कर लेता है। किन्तु यह नहीं समझा कि मैं इतनी आसानी से प्राप्त हो जाता हूं। अनेक जन्मों के उपरान्त ही वह मुझे प्राप्त करने में समर्थ होता है। जो यह विश्वास कर बैठता है कि वासुदेव ही सब कुछ है ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ ही है।

वासुदेव अर्थात वसुदेव का सुत अर्थात श्रीकृष्ण अर्थात वह जो मेरा सारथि बन बैठा है, अर्जुन श्रीकृष्ण के इस प्रत्यक्ष उद्घोष से पुनः विचारों के संसार में खो गया।

'क्या सोच रहे हो अर्जुन ?' श्रीकृष्ण को अर्जुन के सोच को पकड़ने में देर नहीं लगी।

वासुदेव ही सब कुछ है वासुदेव ही सब कुछ हैं (वासुदेवः सर्वमिति) यह बात अर्जुन के मन को बार-बार उद्वेलित करने लगी। अगर यह बात है तो वह कितना भाग्यशाली है। जिस वासुदेव को वासुदेव के अनुसार ही ज्ञानीजन जन्म-जन्मान्तर में प्राप्त कर पाते हैं उन्हें वह अपने सखा और सारथि के रूप में प्राप्त कर बैठा है। पर यह प्राप्त करना भी कोई प्राप्त करना हुआ क्या, अर्जुन के मन ने तर्क किया। वह इन्हें जानकर भी कहां जान पाया ! जानता तो जग-पालक को अश्व-पालक बना बैठता ? यह तो वैसा ही हुआ न जैसे कि मूर्ख को मरकत मणि मिल जाय और वह उसे पत्थर का टुकड़ा समझ उपेक्षा से गांठ बांध ले। यह गांठ बांधना और नहीं बांधना दोनों बराबर ही नहीं है क्या ?

तुम पुनः कहीं खो गए। श्रीकृष्ण को पुनः टोकना पड़ा। तुम्हारा खोना, चकराना सभी स्वाभाविक है। मैंने तो आरम्भ में ही कह दिया था कि आज मैं तुम्हें वह सब कुछ बता दूंगा जिसको जानने के पश्चात और कुछ जानना शेष ही नहीं रह जायेगा। मुझे ध्यान से सुनो और अपने विचारों के भटकाव को नियन्त्रित करो। अभी बहुत उपयोगी बातें शेष रह गई हैं।

"तो मैं कहना यह चाहता था,' श्रीकृष्ण ने आरम्भ किया, "कि नाना विध इच्छाओं ने जिनका ज्ञान हर लिया है वे अपने स्वभाव-वश भिन्न भिन्न नियमों का आश्रय ले भिन्न भिन्न देवताओं की उपासना करते हैं। वे मुझे ही सब कुछ कहां मानते हैं? किन्तु जो-जो व्यक्ति जिन जिन देवताओं के स्वरूपों की श्रद्धापूर्वक अर्चना करते हैं उन-उन व्यक्तियों की श्रद्धा को उन उन देवताओं में मैं अचल कर देता हूं। मेरे द्वारा ऐसा करने से व्यक्ति पूरी तरह श्रद्धा पूरित हो अपने आराध्य देवता की आराधना में जुट जाता है और अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर लेता है। किन्तु वस्तुत देखो तो उसकी ये इच्छाएं मेरे द्वारा ही पूरी की जाती हैं। किन्तु एक बात समझोगे? इन अल्पबुद्धि वाले अर्थात मुझ वासुदेव को छोड़ अन्य देवताओं को भजने वालों को प्राप्त उनके इच्छित फल नाशवान ही होते हैं अर्थात शीघ्र ही उन फलों का अन्त हो जाता है। और मुख्य बात तो यह है कि मरणोपरान्त देवताओं के पूजक देवलोकों को ही प्राप्त होते हैं किन्तु मेरा भक्त मुझको प्राप्त करता है।

'दुखद बात तो यह है' श्रीकृष्ण ने अपना वक्तव्य जारी रखते हुए कहा, 'कि मूढ़ लोग मुझ अव्यक्त ईश्वर को व्यक्ति मान बैठते हैं क्योंकि वे मेरे परम अविनाशी और अत्युत्तम भाव से अनभिज्ञ होते हैं।

जैसे मैं। अर्जुन का सोच फिर उस पर हावी हो गया। मुझसे बड़ा मन्द बुद्धि और मूढ़ कौन होगा। मैं भी तो इस अविनाशी अनन्त और अत्युत्तम को व्यक्ति ही मान बैठा हूं। कहीं यह बात वासुदेव मुझे ही लक्षित कर तो नहीं कह रहे? नहीं अर्जुन ने अपने को स्वयं ही सान्त्वना दी—ये तो आरम्भ में ही कह चुके हैं कि मुझे सखा और शिष्य मानकर ही अप्रकट को प्रकट कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में मेरे ऊपर व्यंग्य का प्रश्न कहां उठता है?

अपनी योग-माया से आवृत्त मैं सबके समक्ष अपने को प्रकट भी नहीं कर पाता अर्थात अधिकांश के लिए उनके और मेरे मध्य माया की दीवार खड़ी रहकर मुझे उनके लिए अगोचर रखती है। यह मूढ़ लोक मुझ अजन्मा को जान नहीं पाता।

क्या कहना चाहते हैं श्रीकृष्ण अर्जुन फिर सोचने लगा था। जगत के द्वारा अपने को सम्यक रूप में नहीं जान पाने की पीड़ा भी है न इनको? पर यह पीड़ा जगत के लिए है या अपने लिए? निश्चय ही यह जगत के लिए है अर्जुन ने सोचा क्योंकि अपने को तो ये निर्लिप्त निर्विकार घोषित कर ही चुके हैं। इन्हें क्या चिन्ता कि जगत इन्हें जाने या न जाने। चिन्ता तो इन्हें यह है कि जगत इन्हें ठीक से समझ पाये तो उसका ही कल्याण हो।

जो बीत चुके हैं मैं उन सबको जानता हूं' श्रीकृष्ण पुन शुरू हो गए थे 'जो वर्तमान हैं उन्हें भी जानता हूं जो होने वाले हैं उन्हें भी जानता हूं पर विडम्बना तो देखो कि मुझे कोई नहीं जानता।

हां यह विडम्बना तो है ही अर्जुन फिर सोचने लगा। जब छाया की तरह उनके साथ लगकर यह स्वयं भी उन्हें नहीं जान सका तो अन्य उन्हें क्या जानेंगे?

और इसका भी कारण है मुझे नहीं जानने का भी, श्रीकृष्ण का स्वर फिर गरजने लगा था इच्छा और द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्व से इस संसार में सभी मोह-ग्रस्त हो रहे हैं। ऐसे में मुझको पहचानने का अवसर ही कहां मिलता है? जब तक

इच्छा और द्वेष तथा जय पाप है तब तक लोक और मरे मध्य परदा तो रहेगा ही।

"हा जो पुण्यकर्मी हैं और जिनके पापो का अत हो गया है वे द्वन्द्व और मोह से रहित दृढ़व्रती ही मेरी भक्ति करत हैं।

"जो मेरा ही आश्रय लेकर जरा मरण से मुक्ति का प्रयास करत ह, व निश्चय ही ब्रह्म को जान जाते हैं, सम्पूर्ण अध्यात्म को भी जान जात ह और समग्र कम को भी समझ लत ह।

'जो मुझे अधिभूत, अधिदव और अधियज्ञ के साथ जान जात है एसे युक्त चित्त वाल अपनी मत्यु के समय भी मुझे ही जानत अथवा मेरा ही स्मरण करत हैं।'

श्रीकृष्ण यदि ईश्वर ह तो मत्यु के समय इह स्मरण करना अवश्य ही मोक्ष दायक होगा, अजुन ने सोचा और शायद इनके कहने का लक्ष्य भी यही है पर यह अधिभूत, अधिदव और अधियज्ञ का क्या चक्कर है? यह बात तो मेरी समझ म आने से रही। इनका अथ इन्ही से पूछना होगा पर ठीक ही आज आखें खोल दी मेरे इस तथाकथित सखा ने मेरी। यह तो समग्र जगत का सखा शुभेच्छु और सुहृद है। यह मेरा विशेष सौभाग्य ही है कि इसने मुझे अपना इतना अन्तरग बना रखा है। ठीक ही उसने आज इतना कुछ बता दिया कि अब बताने अथवा जानने को बचता ही क्या है? वासुदेव ही सब कुछ हैं—वासुदेवमिति सर्वम्—इतना भी कोई ठीक से जान-समझ ले तो और कुछ जानने की आवश्यकता भी क्या है?

अजुन की चिन्ता जारी थी। सरल होने हुए भी श्रीकृष्ण कभी-कभी इतना दुरूह क्या हो जात हैं? अब अभी की बात लें। अब तक की सारी बातें तो बडी सरलता म उसके पल्ले पड रही थी जस जाह्नवी का कल कल करता जल बहता चला जाता है वसे ही श्रीकृष्ण के सहज प्रवाहित शब्द समूह उसके लिए कभी भी अबोध अथवा अगम्य नही लग। यह बात पथक है कि अपनी छोटी मोटी शकाओ के निवारण हेतु वह उनसे प्रश्न प्रति प्रश्न से भी नही चूकता किन्तु अब तक उसके सखा (अब उनको सखा कहन का भी उसमे कितना साहस है?) ने कोई ऐसा शब्द जाल उसके सामने नही बुना था जिसे काट पाना कठिन लगा हो। जसे दाना चुगन कपोत परिवार छोटे मोटे जालो को खेल खेल म ही ले उडत हैं और उनको उडान के मध्य ऊपर ही छोड नीचे से सरक जाते हैं वसे ही श्रीकृष्ण द्वारा निर्मित सहज शब्द जालो से तो वह अनेक बार उबर गया। पर इस बार? इस बार किस वाक्पटुता का परिचय दिया है इस व्यक्ति ने जो अपने को ही सष्टि ही नही ब्रह्माण्ड का सवस्व उसका उत्स और उसके विनाश का कारण बताता है। है भी शायद वह यह सब अजुन सोच रहा है। पर अभी तक उसकी इन बातो पर उस पूर्ण विश्वास नही हुआ है। किन्तु अभी तो चिन्ता है नये बुने इस शब्द जाल के पार जाने की। यह अधिभूत अधिदव और अधियज्ञ क्या बला है? और श्रीकृष्ण

का कहना है कि इन तीनो के साथ ही जो मुझे जान पाता है वही सही रूप म मुझे जानता है दूसरे शब्दा म वही मुक्ति का भी अधिकारी होता है।

अब देर करने से क्या लाभ ? पूछना ता, इनसे ही पडेगा। हा अब तक क प्रश्नो और इस प्रश्न म अ तर अवश्य है। अब तक के प्रश्न अधिक-से अधिक उसकी उत्सुकता के द्योतक थे किन्तु यह प्रश्न उसकी स्पष्ट अनभिज्ञता अथवा मूखता का ही परिचायक होगा। कि तु पूछने के सिवा त्राण भी कहा है और वह अपनी सारी दुविधा से मुक्त हो पूछ बठा। श्रीकृष्ण न इन तीनो शब्दा के साथ ब्रह्म की भी चचा की थी। यद्यपि ब्रह्म शब्द उसके लिए नया नही था कि तु श्रीकृष्ण क मुख से इसकी व्याख्या सुनना कुछ और अथ रखता। इस बात का भी उन्हान एक छोटा-सा उत्तर देकर पिंड छुडा लिया था। अत सारी बाता को वह साथ ही पूछ बठा—पीछे जो तुमने ब्रह्म की बात की, अध्यात्म की बात की, अधिभूत और अधिदव की बात की इनसे तुम्हारा क्या तात्पय है। साथ ही इस देह म अधियज्ञ कहा है और साथ ही नियतात्माओ द्वारा तुम मत्यु-काल म किस प्रकार जान लिय जाते हो अथवा तुम्हारा स्मरण हो आता है ?

श्रीकृष्ण ने कुछ सोच कर उत्तर दिया, ' जो परम अक्षर तत्त्व है अर्थात जिसका कभी विनाश नही होता, कभी क्षरण नही होता वही अक्षर तत्त्व ब्रह्म है।

"अध्यात्म से यहा हमारा तात्पय सचमुच इसके प्रचलित अथ से नही है। इसका अथ है स्वभाव। चकि मैंने तुम्हे अध्यात्म अधिभूत आदि के साथ मुझ जानने को कहा है अत यह स्वभाव मेरा ही अर्थात ब्रह्म का ही है। किसी को जानो और उसके स्वभाव अथवा प्रकृति को नही जानो ता उसे जानना नही जानना समान है। कम भी यहा अन्य अथ म प्रयुक्त है। चूकि यह मुझी स सबधित है अत कम का अथ यहा प्राणियो के उत्पन्न करने और सष्टि को चलाते रहन की जो क्रिया है वही कम है। भूत अर्थात जीवतो जीवो का जो क्षर भाव विनाश शील प्रवत्ति है वही अधिभूत है। तुम कह सकते हो कि यहा मैंने अधिभूत को अपनी प्रकृति म माना। नही, ऐसी बात नहीं है। तुम्हे ज्ञात ही है कि मेरा एक अश सभी प्राणियो म भी है। मैं अक्षर और क्षर दोनो हू। पुरुष ही अधिदव है। यहा पुरुष से तात्पय सामान्य नर से नही परम पुरुष स है और जहा तक अधियज्ञ का प्रश्न है सम्पूण शरीरो म मैं ही अधियज्ञ के रूप मे वतमान हू क्योकि यज्ञ के महत्त्व की चर्चा करते समय मैंने बताया था कि यज्ञ के बल पर ही यह सष्टि चल रही है अत अधियज्ञ के रूप म मैं सभी देहधारियो म वतमान हू।

अर्थात इन सबको जानना तुम्हे जानना है।

' अवश्य मुझे समग्रता म पूणता म जानना है, सष्टि के मूल और इसक पालक के रूप मे जानना है। इसलिए तो जो इस धरती स प्रयाण क समय मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर छोडता है वह मेरे भाव को ही मुझको ही प्राप्त होता है इसमे कोई सन्देह नही।

अजुन सोचने लगा कि बात कहा स कहा आ गइ। कहा ता वह युद्ध करने-न करने से कम और अकम स आरम्भ हुई और कहा वह इस दाशनिक तत्त्व विवेचन पर पहुच गई। श्रीकृष्ण का क्या लक्ष्य है ? इसी बहाने वह मुझ पर ब्रह्माण्ड का सपूण रहस्य ही प्रकट कर देना चाहते है क्या ? मनुष्य की यहा और वहा की नियति ही स्पष्ट कर देने को वह आकुल है ?

और बात भी यही थी। श्रीकृष्ण अब कुछ भी गोपनीय नहा रखना चाहते थे और वे आरम्भ हो गए थे—'मैंने कहा कि मत्यु के समय जो मेरे स्मरण म रत रहता है वह मुझी तक पहुचता है। इसी से यह भी स्पष्ट है कि उस समय जिस-जिस भाव का वह स्मरण करता है उसी उसी प्रकार के भाव को वह प्राप्त करता है क्योकि जीवनपयन्त जो भाव लगा रहता है वह मत्यु के काल भी कहा छूटता है? अत उस भाव म भावित हाने के कारण मत्यु के बाद भी वह वही भाव-युक्त शरीर धारण करता है। इसीलिए उचित तो यही है सभी समय मेरा ही स्मरण करते हुए तुम कायरत रहो। ऐसी स्थिति म मुझे ही समर्पित मन-बुद्धिवाला तुम मुझको ही प्राप्त करोग। इसम कोई सदह नही।

'सदा तुम्ह स्मरण भी रखे और सासारिक काय भी करे यह सम्भव है क्या?' अजुन ने शका व्यक्त की।

'क्स नही सम्भव है? मन स मरा स्मरण करत हुए कर्मेन्द्रियो से काय करत रहना कठिन कसे है? सिर पर जलपूर्ण घट रख कर चलनेवाली नारी को देखा है कि नहा? हाथो को कुम्भ स हटा लन क बाद भी वह चलती रहती है कि नही? और पतित हो जाता है क्या सिर का व जल पात्र। नही, तो क्यो? क्योकि उसका ध्यान तो कुम्भ पर ही लगा रहता है पर भले चलते रहते है।'

'ब्रज की गोपागनाओ का तुम्ह स्मरण हो आया क्या?' अजुन ने परिहास किया, 'वही तो तुमन यह कुम्भ लीला देखी होगी? यमुना-जल पूरित घटो को सिर पर रखे झुड क झुड गोपियो का स्वरूप अवश्य इस समय तुम्हारे मानस चक्षुओ के समक्ष साकार हो उठा है।'

श्रीकृष्ण अन्दर ही अन्दर कुछ व्यथित हुए। अजुन को भी किस अवसर पर परिहास सूझा है। उस पता नही क्या कि ब्रज के साथ केवल यमुना-कूल और असख्य गोप गोपियो का ही प्रसग नही जुडा है। जिसका प्रसग सर्वाधिक जुडा है और जो आज भी मेरी प्रेरक शक्ति है उस क्या नाम दें वह उसको और क्या क्या उसका प्रसग नही जुडा है उससे? जिस निर्लिप्तता की बात मैं बार बार कहता हू उसी से रहित करन का यह प्रयास नही है अजुन का क्या? उसका स्मरण करा कर अनजाने वह मेरे सारे सिद्धात पर पानी ही फेरना चाहता है क्या? शायद नही क्योकि वह तो मरा अश ही है उस वृषभानुसुता उस लली उस राधा—आखिर नाम स्मरण करना ही पडा न—मैं और मुझमे अन्तर ही क्या है? अभेद है कि नही दाना म। वह तो आह्लादिनी प्रेरणादायिनी शक्ति है मेरी। शक्ति के बिना शक्तिवान क्या? क्या आश्चय कि मेरे माध्यम से वही नही बोल रही? कृष्ण के बोलने करने और राधा के बोलने म अन्तर है क्या? और सच क्या होगी वह इस समय क्या कर रही होगी? कसी होगी? एक तरह से तो वह यही समझ बठी होगी कि मैं उसे सदा सवदा के लिए भूल गया पर उस पता है क्या कि कोई अपने श्वासो की गिनती भूल भी जाय तो वह उनसे रहित भी रहता है क्या? बिना उनके उसका जीवन क्षण भर भी चल पाने को है? नही राधा को नहा भूला है कृष्ण। न राधा कृष्ण को भूल पाती होगी। हाय रे कम-सकुल जीवन की यह विवशता। कहा कुरुक्षेत्र के मदान म जीवन जगत और अखिल ब्रह्माण्ड का भेद खोलने के प्रयास म रत यह पाथ-सारथि कृष्ण और कहा ब्रज म उन्मुक्त गोचारण करता वशी वादन करता गोप बालाओ के साथ ठिठोलिया करता, आख

मिचौलिया खेलना वह कन्हैया ? राधा कभी भी माफ कर पायगी इस क्या ? पर कैसे बताये वह उस कि नहा भूना है उसको। कुरुक्षेत्र हो या द्वारिका, वहीं रहकर भी वह रहता है ब्रज म हो उन वीथियो और कुंज गलियो म ही उस कालिन्दी कूल ही जहा राधा के साथ वह डोलता था और राधा जहा आज भी डोलती ।

हाय री क्रूर नियति ! जो अभी अपन को सृष्टि का नियामक बतात नही चूकता वह भी कस, स्थितियो के क्रूर हाथो का शिकार हो अभिशप्त होन को वाध्य होता है ? और श्रीकृष्ण की आखें छलछला आइ। पीताम्बर के एक कोन म उन्हान दोना आखो की कोरा को पोछा। बात अजुन से छिपी नही। वह हडबडा कर बाला— 'यह क्या कृष्ण, तुम्हारी आखा म जल ?

जल नही यमुना-जल। श्रीकृष्ण न कहा और दूसर ही क्षण सब कुछ भूल कर मूल बात पर लौट आय— मैं कह रहा था अजुन कि निरतर मरा अथवा परमश्वर का स्मरण करत रहना और काय रत रहना कोई कठिन न ी है। इसम अभ्यास-योग से जो चित को नियत्रित कर सदा उस दिव्य परम पु ष को ध्यान करता है अन्तत वह उस ही प्राप्त करता है।

अर्थात तुम्ह ?

हा, श्रीकृष्ण न कहा और मन म आया कह द कितन भोन हो तुम ? कवल मुझे नही, केवल परम पुरुष का नही पूण पुरुष का — राधा-कृष्ण — को प्राप्त करता है वह। आज इस कुरुक्षेत्र क मदान म राधा का स्मरण दिला अच्छा किया है क्या अजुन ने ? श्रीकृष्ण फिर सोचन लगे थ। एस तो वह उनके अन्तर म रची-बसी ही है पर जसे आरसी (आइना) सामने कर अपन उसी रूप का दखन का कोई बाध्य कर दे जो सदा उसी क साथ चलता है एसा ही हुआ कि नही यह सब ? ससार कभी जान भी पायगा क्या कि गीता ज्ञान बखारत समय एक अवसर एसा भी आया था कि इस व्रज-बाला उस राधा की स्मति श्रीकृष्ण को उसी तरह मथ गई थी जसे ब्रज की ग्वालिनो को मथानियो दधि मथती थी। कसी क्रूरता की है अजुन न अनजाने म ? पर क्या पता नियति को क्या स्वीकाय है ? कही इस कुरुक्षेत्र के महासमर के पश्चात राधा । नही नही यह सभव है क्या ? राधा के पुन दशन होगे ? स शरीर ? कसी होगी वह ? पूरी तरह वद्धा नही हो गइ होगी क्या ? वे भी कुछ कम दिना के हुए ? वद्धा हो या युवती ? श्रीकृष्ण राधा क बाह्य रूप कब गए ? जो तन मन के रग रग म बसा हो उसक रूप का पता किस होता है ? वह रूप होकर भी अरूप है कि नही ? राधा किसी शरीर का नाम है ? *किसी रूप का ? किसी नारी अथवा नर का ? वह तो श्रीकृष्ण का ही एक स्वरूप* है — अपना रूप। वह कसा है क्या ह इसका क्या अथ ? अथ तो इसका है कि वह सदा उसक साथ है उसकी छाया नहा नही उसके प्राणो का स्पन्दन है उसक श्वास उसकी गति उसकी अस्ति नास्ति। पर अकारण कुछ नही होता। श्रीकृष्ण चाहे नर रूप म जो हो पर इतना वह कम भूल जाय कि राधा का यह असामयिक स्मरण व्यथ नही जायगा। यह एक प्रबल आकषण बन खीचेगा उस वद्धा विवशा (हाय आज अपनी उस प्राणवल्लभा प्रियतमा का भी वर्षों म माप कर दखन को बाध्य होना पडता है) को कुरुक्षेत्र की ओर और क्या पता युद्ध की समाप्ति क साथ ही उसक दशन भी ।

पानी फिर आखो क कोनो म एकत्र होन को हुआ था पर बलपूवक रोका

था उन्होंने उसे। अर्जुन फिर कहीं कुछ नहीं कह बैठे? इन जलबिंदुओं में उस राधा का झिलमिलाता स्वरूप ही नहीं दिखाई पड़ जाय? तब क्या वह मान करेगा उन्हें? उनके सारे दर्शन निर्लिप्तता और तटस्थता के सिद्धांत पर ही प्रश्नचिह्न नहीं लगा बैठेगा वह? उसे क्या और कैसे समझा पायेंगे वह कि इस लौकिक सिद्धांत का इस नैसर्गिक बंधन में कोई सम्बन्ध नहीं जो उनके और राधा के मध्य है। कि जैसे श्रीकृष्ण साधारण पुरुष नहीं वैसे ही उनकी वह अंतरंग सखी भी साधारण नारी नहीं। कहने मात्र को वृषभानुसुता है पर है वह उन्हीं की तरह इस जीव-जगत से अलग। वह श्रीकृष्ण ही है जैसे श्रीकृष्ण राधा ही है, राधा के अलावा और कुछ नहीं। शक्ति के बिना शिव भी शव ही रह जाता है कि नहीं? शक्ति के ही उपासक हैं नर रूप धारी श्रीकृष्ण अतः खूब रहस्य जानते हैं वह शक्ति और शक्तिमान के मध्य स्थित अभेद का। यदि शिव ही पावन है और पावना ही शिव तो कृष्ण ही राधा है और राधा ही कृष्ण।

क्या भटक रहा है मन इस क्षण? श्रीकृष्ण का हाथ अश्वों की वल्गा पर अकस्मात कस आया था। वे हिनहिनाकर दोपैरों पर खड़े हो गए थे। रथ असंतुलित हो गया था। पार्श्व में बैठा पार्थ लुढ़कते-लुढ़कते बचा।

श्रीकृष्ण! उसने उन्हें टोका था। उसे उनके अन्दर के ज्वार का अनुमान नहीं था। हो भी नहीं सकता था। व्रज का कन्हैया कभी के मथुरा और फिर द्वारिका का श्रीकृष्ण बन चुका था। आर्यावर्त का परमश्रेष्ठ वीर, नीतिज्ञ धर्माचारी और क्या-क्या? इन सबों के लिए राधा कभी की समाप्त हो चुकी होगी। बनती होगी वह रुक्मिणी और सत्यभामा के मनों में एक ठिठोली अथवा पहेली के रूप में परपार्थ को कहां पता था शक्ति के उस स्रोत का जिसने व्रज के एक अदना से छोरे गायों के पीछे भागने वाले बांस की अनगढ़ वंशी के छिद्रों में स्वर फूंकने वाले ग्वाल-बाल गोपाल को द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण बनाया था? एक क्षण को उन्होंने सोचा था क्या छल नहीं कर रहे थे वह उससे जिसे वह अपना सखा और शिष्य मान चुके थे? क्या नहीं उगल देते थे इस सारे ज्ञान विज्ञान के साथ इस भेद को भी जो उनके अन्दर छुपा पड़ा था? जो उन्हें कन्हैया से कृष्ण बना रहा था? जो उनकी सारी शक्ति सारे ज्ञान विज्ञान और सम्पूर्ण पुरुषत्व का उत्स था। नहीं उसका समय नहीं है यह। अर्जुन को सब कुछ जानना आवश्यक नहीं था। यह वैद्य ही जानता है कि किस रोग का किस औषधि की आवश्यकता है। अर्जुन की समस्या अभी दूसरी थी। इसी का निदान आवश्यक था। नहीं नहीं यह समय नहीं है उस भेद को खोलने का। अभी वे कन्हैया नहीं बन सकते श्रीकृष्ण भी नहीं, यहां तक कि अर्जुन का सारथि भी नहीं, अभी तो वे मात्र ब्रह्म है पुरुष ही नहीं पुरुषोत्तम हैं। अभी इसी भूमिका में उन्हें रहना है। उन्होंने अलजाल में खिंच आई वल्गा को ढील दी और आरम्भ किया, अन्यथा न लेना पार्थ भर प्रमाद का। ठीक है कि क्षण भर को मैं कहीं खो गया था पर अब मूल विषय पर लौट रहा हूं।

मैं तुमसे नासिकाग्र पर दृष्टि गड़ाने की बात एक से अधिक बार कर चुका हूं—क्रिया योग की बात। उसका महत्व अब यहां अधिक स्पष्ट होने वाला है। जब बात निकल ही गई तो सब कुछ तुम्हारे समक्ष खोलकर रख ही देना है। अवसर बार बार नहीं आता। जीवन और मोक्ष का प्रश्न भी कोई साधारण प्रश्न

नही। सच है कि युद्ध जीवन है जीवन का कटु किन्तु अनिवाय पक्ष। सघप जीवन की शाश्वत नियति है। पर इस जीवन, इस युद्ध के परे भी कुछ है जो अधिक उपयागी, अधिक साथक है। मैं उसके ज्ञान से भी तुम्हे क्या वचित करू? इसीलिए इसे विपयान्तर नही समझना? इस पर भी पूण ध्यान देना।

'हा तो मैं कहना चाहता था कि वह जो है न वह परम पुरुष? वह विश्वेश्वर पुरातन सबका पालनकर्ता, वह कवि अर्थात सवज्ञ, वह छोटा से भी छोटा अणु से भी अणु है। सूय से प्रखर प्रकाशवान अधकार अर्थात तमस की छाया स भी रहित उसका प्रयाण काल के समय, अचल मन से भक्तिपूवक, जो योग बल द्वारा भृकुटि के मध्य अच्छी तरह अपने प्राणा का स्थिर कर, ध्यान करता है वह उस दिव्य परम पुरुष का स्मरण करता हुआ उसी को प्राप्त होता है।

'अजुन मैं इस ज्ञान विज्ञान की कोइ बात अब तुमस गुप्त नही रखना चाहता। वेदज्ञ जिस अक्षर की सज्ञा देते हैं वीतराग योगी यति जिस प्राप्त करने जिसम लीन हो जाने की इच्छा रखते हैं, जिसकी इच्छा अथवा कामना से ब्रह्मचारिगण ब्रह्मचयव्रत के पालन को सन्नद्ध होते हैं मैं उसके सम्बन्ध म उसकी उपलब्धि के सम्बन्ध मे तुम्हे सक्षेप म बताऊगा।

मैंने कहा था न कि इस शरीर म नौ द्वार हैं ता जो व्यक्ति इन सभी द्वारो को सयमित कर, मन को हृदय मे रोक कर अपने प्राणो को भृकुटि मध्य अर्थात भ्रूआ मे स्थिर कर योग धारण किए हुए ॐ इस एकाकार ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ शरीर छोडता है वह निश्चय ही परम गति को प्राप्त करता है।

"अक्षर की बात तो तुम पहल भी कर चुके हो?

हा इस अक्षर को ही मैंन ब्रह्म बताया था न अक्षर जिसका क्षरण नही होना।

'और यह 'ॐ' भी ब्रह्म है?

'हा है। जसा कहा एकाक्षर ब्रह्म। एक ही अक्षर है यह ॐ पर तु सष्टि म यह सवत्र व्याप्त है। ध्यान स सुनो तो सवत्र यही गूजता सुनाई पडता है। जब सब कुछ समाप्त हो जाता है तब भी यह 'ॐ वतमान रहता है। यह तुम्हारे अन्दर भी है बाहर भी। यह ब्रह्म ही है। शब्द ब्रह्म।

'खर आग सुनो जा मुझम ही नित्य युक्त रहने वाला योगी पुरुष अनन्य चित्त स सदा मेरा ही स्मरण करता है उस मैं आसानी स प्राप्त हो जाता हू।

अर्थात् तुम्हारी भक्ति का फिर महत्त्व आ गया न?

'हा और यह भी जान लो कि परमसिद्धि को प्राप्त हुए महात्मा जन मुझ को प्राप्त कर दुख-पूण पुनजन्म को नही प्राप्त करते हैं अर्थात आवागमन क चक्कर स मुक्त हो जात है।

'तुम्हे कितना बताऊ अजन! ब्रह्म लोक तक स लेकर जितन भी लोक है उन सबो म आवागमन का चक्कर चलता रहता है। केवल मैं हू जिसे प्राप्त कर पुनजन्म सदा के लिए समाप्त हो जाता है।

अब एक भेद की बात बताऊ? जो रात्रि और दिन की बात जानत हैं व जानत हैं कि ब्रह्म का एक दिन हमार हजार युग के बराबर होता है और उसी तरह एक ब्रह्म रात्रि हमारे हजार युग क समान हाती है।

अब सष्टि और प्रलय का भेद समझो। ब्रह्म के दिन के आरम्भ क समय

अव्यक्त प्रकृति से सभी व्यक्त जीव उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि के आरम्भ के समय उसी अव्यक्त संज्ञा वाली प्रकृति में लीन हो जाते हैं।

"कैसी दुर्दशा है पार्थ! जीवों का यह समुदाय इस तरह बार-बार ब्रह्म दिन के आगमन के समय जन्म लेता है और बार बार ब्रह्मरात्रि के आगमन के समय समाप्त होता है। कैसा घोर चक्कर है यह?

"तो इससे बचने का उपाय भी तो तुम्हीं बताओगे?" अर्जुन की उत्सुकता इस विचित्र वर्णन से बढ़ आई थी।

"हाँ वह तो बताता ही आ रहा हूँ। अभी कहना यह चाहता था कि इस अव्यक्त प्रकृति से परे भी एक अव्यक्त परम सनातन सत्ता है जो सब प्राणियों के विनाश के पश्चात भी नष्ट नहीं होता। वही मेरा परम धाम है निवास है वह अव्यक्त और अविनाशी है। वहाँ जाने के बाद फिर लौटना नहीं होता—य प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

तो जो उस लोक का मालिक है वह भी तो अक्षर अव्यय और परम होगा। उसकी प्राप्ति कैसे सम्भव है जनार्दन?

'हाँ अर्जुन! वह परम पुरुष जो सभी प्राणियों का निवास-स्थान है अर्थात जिससे सभी प्राणी जन्म लेते हैं और जिससे ही यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है वह प्राप्त हो सकता है।

'कैसे?

'भक्ति से अनन्य भक्ति से।'

"तुम फिर इति से अथ पर आ गए न?

'भक्ति से आरम्भ कर पुन उसी पर?'

'हाँ अर्जुन! भक्ति के बिना त्राण कहाँ? वही तो एक प्राप्य वस्तु है। उसको प्राप्त कर लो तो सब कुछ प्राप्त हो जाता है।

'खैर छोड़ो इस बात को। यह तो तुम्हारे अन्तर घर कर ही गई। मैं अब उस समय को बताऊँगा जिस काल में योगी इस संसार को छोड़ने पर पुन यहाँ नहीं लौटते और उसको भी बताऊँगा जिसमें शरीर त्यागने पर यहाँ लौटना पड़ता है।

बताओ। अर्जुन ने उत्सुकता दिखलाई।

"छह मास वाला उत्तरायण काल हो शुक्ल पक्ष हो दिन का समय हो पास में अग्नि की ज्योति हो उस समय जो ब्रह्मज्ञानी इस संसार को छोड़ता है वह ब्रह्मलीन हो जाता है।

अर्थात उसके आवागमन का चक्कर निःशेष हो जाता है?

हाँ।'

और?

'छह माह वाला दक्षिणायन चल रहा हो कृष्ण पक्ष हो रात्रि का समय हो, अग्नि में धूम्र उठ रहा हो उस समय यहाँ से प्रस्थान करने वाला योगी चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त कर पुन इस संसार में वापस आ जाता है।

"अर्थात उसका पुनर्जन्म हो जाता है!

हाँ। पर आगे सुनो जगत में जाने के दो मार्ग सदा से माने गए हैं—एक है प्रकाशमान, एक है अन्धकार-युक्त। प्रथम से जाने वाला फिर नहीं

लौटता दूसरे स जान वाला लौटता रहता ह।"

इन्हें कस पहचाना जा सकता है?"

'किन्हें?"

प्रकाशपूर्ण और अन्धकार युक्त इन दो मार्गों को? अजुन न उत्सुकता मे पूछा।

'योग द्वारा। योग द्वारा जो योगी इन दोनो मार्गों को जान लेते हैं व कभी मोह अथवा भ्रम के वश म नही आते, अत तुम सदा योग-युक्त बने रहो।

'और अंतिम बात सुन लो। तप यज्ञ, दान आदि इस योग क समक्ष कुछ नही है। यज्ञो स तपस्याओ से, वेदो के अध्ययन स विविध प्रकार के दानो म जो फल प्राप्त होता है योगी उन सबसे अधिक ही फल प्राप्त कर लेता है और वह *सवप्रथम और परम स्थान का अधिकारी होता है।*

योग अथात ?'

अर्थात क्या? श्रीकृष्ण अजुन की बात पर चकराए। तो अब तक वे अरण्य रोदन कर रहे थे? अजुन को अभी तक योग का अथ भी स्पष्ट नहीं हुआ।

अर्थात यह कि तुम कुछ देर पूव ही भक्ति की बात कर रहे थ न? अनन्य भक्ति की? कि इसी के द्वारा सब प्राप्य है? अब पुन योग की बात करने लगे।"

श्रीकृष्ण मुसकराए बहुत देर क बाद सच बडे भोले हो अजुन! योग को भक्ति से मैंने काटा कब? भक्ति मरी भक्ति तो योग म सहायक ही है। तुम *क्या समझते हो कि बिना भक्ति क तुम इस कमयोग—इस निर्लिप्त भाव से कम* रत होने की बात—को साध लोगे? भक्ति तो आवश्यक है अजुन! सब कुछ उसी स सधता है। तुम्हारा, मेरा यह कम-योग भी।'

सतहत्तर

श्रीकृष्ण को लग रहा था कि उनकी सारी निर्लिप्तता और रागहीनता के सिद्धान्त के बावजूद अजुन के प्रति उनके हृदय म कुछ विशेष ही पक्षपात भाव उत्पन्न हो आया था। जसे फल फूलो से लदा वक्ष अपना सवस्व धरती पर बिछा देना चाहता है जसे पूनम का भरा-पूरा चाद अपनी सम्पूण रजत ज्योत्सना पथ्वी को न्योछावर कर दना चाहता है जस समुद्र की ओर प्रवहमान पूण सलिला नदी अपना राशि राशि जल सागर गभ को अर्पित कर दना चाहती है जसे आसमान म उमडा *भरा-पूरा मघ अपने को पूरी तरह रीता कर धरित्री को तप्त कर देना चाहता है* बस हो आज श्रीकृष्ण का मन हो रहा था कि अपन सारे ज्ञान विज्ञान को अजुन के अन्दर उतार उसे आप्त काम कर दें। और उसका कारण था। अजुन उनका प्रिय सखा और सम्बन्धी चाहे जो हो वह एक अच्छा श्रोता भी था। अगर श्रीकृष्ण की तरह का ज्ञाता और वक्ता मिलना कठिन था तो अजुन क सदश सजग संवेदन *शील और समर्पित श्रोता का मिलना भी दुस्साध्य था। उनकी सारी चिन्ता उसके* दोनो लौकिक और पारलौकिक जीवनो को समृद्धतम करने की थी और इसी लिए जो कुछ कथनीय और करणीय था उसे आज वह अपने पटु शिष्य के समक्ष

पूर्ण रूप से स्पष्ट कर लेना चाहते थे। अपने इस वक्तव्य की नींव भी उन्होंने वहीं पर डाली थी

'हे निर्दोष अर्जुन, मैं तुझे ज्ञान विज्ञान सम्बन्धी उस गूढ़तम ज्ञान का प्रदान करने जा रहा हूँ जिसे जान कर तुम जो कुछ अशुभ अथवा पाप-पूर्ण है उससे मुक्त हो जाओगे।

"यह विद्या ही नहीं राज विद्या है गोपनीय से गोपनीय है पवित्र और उत्तम तो है ही, प्रत्यक्ष फल देनेवाला भी है धर्म-पूर्ण है अविनाशी और साधन में सुगम है।"

अर्जुन की जिज्ञासा जाग्रत हुई। अब तक किसी ज्ञान अथवा विद्या के सम्बन्ध में इतने विशेषणों का प्रयोग तो श्रीकृष्ण ने किया नहीं था। किन्तु जो बात विशेष रूप में उसकी समझ में नहीं आ रही थी वह थी राज विद्या वाली। विद्या तक तो ठीक, यह राज विद्या क्या थी? अन्तत उसे पूछना ही पड़ा तो श्रीकृष्ण को हँसी आ गई। धवल दंतावली जैसे श्याम मेघों के मध्य तड़ित की तरह चमक गई "राज विद्या अर्थात सर्वश्रेष्ठ विद्या, विद्याओं में राजा और क्या' पुन मुसकराते हुए बोले, "जो सम्पूर्ण आर्यावर्त की राज्य प्राप्ति के लिए युद्ध रत होने आया हो उसे राज विद्या, राजनीति आदि का अर्थ भी समझाना पड़ेगा?

अर्जुन चिंतित हुआ। कहाँ आया था वह समग्र आर्यावर्त अथवा उसके एक अंश के राज्य का भी आकांक्षी बन? हाँ, पहले उत्साह में वह अवश्य समरांगण में जुट पड़ा था। पर बाद में? बाद में कहाँ शेष रहा था वह उत्साह? अगर वह रहता ही तो श्रीकृष्ण को इतना सब कुछ कहने को कष्ट करना पड़ता? पर श्रीकृष्ण को कष्ट हुआ तो हुआ उसे तो लाभ ही हो गया अर्जुन ने सोचा। अगर वह युद्धभूमि में नहीं आता और यहाँ आकर उस प्रकार मोह-ग्रस्त नहीं होता तो कहाँ सुन पाता वह इतनी गूढ़ बातें? उसे आश्चर्य इस बात से हो रहा था कि आज ही क्या श्रीकृष्ण की ज्ञान गंगा इस तरह प्रवाहित होने लगी थी। साथ तो उन दोनों का पर्याप्त पुराना था क्या पहले ये बातें वे उसके समक्ष नहीं रख सकते थे? अर्जुन को इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिल पा रहा था। ठीक है कि उसकी मोहग्रस्तता ने उन्हें यह अवसर प्रदान किया पर वे ऐसे भी इन लौकिक पारलौकिक भेदों को उस पर खोल सकते थे? तब कम से-कम इस समर क्षेत्र को ज्ञान क्षेत्र तो नहीं बनना पड़ता। इतने योद्धाओं की उत्सुक और उलाहना भरी आँखों का तो सामना नहीं करना पड़ता। खैर श्रीकृष्ण की बात तो श्रीकृष्ण ही जानें। शायद यही अवसर अनुकूल लगा हो उन्हें उसके ज्ञान वर्द्धन के लिए। आखिर यहाँ पर तो पहले-पहल उसने उन्हें गुरु के रूप में स्वीकारा है। तो जब तक वह उनका शिष्यत्व नहीं ग्रहण करता उन्हें क्या पड़ा था उसे उपदिष्ट करने का?

"समझ गए तुम? श्रीकृष्ण ने टोका तो वह सहसा अपने में लौटा।

'समझ गया अर्जुन ने निवेदन किया। 'अब आप इस श्रेष्ठ विद्या को मुझ पर कृपा कर स्पष्ट ही कर दें।'

'पर इस विद्या को हस्तगत करने की एक शर्त है।'

क्या?

श्रद्धा।

'श्रद्धा की बात तो आपने पहले भी कही है। अर्जुन ने याद दिलाई।

"हा पहले कही है अब भी कह रहा हू और आगे भी कहूगा। कुछ बातें बार बार कहने और सुनने की होती ही है। ठीक उसी प्रकार जस कई वस्तुए बार बार देखने की होती हैं। ईश्वर का नाम एक बार लेना पर्याप्त होता है क्या ? या एक बार सुनना ? उसी तरह पूर्णिमा के भरे पूरे चाद को एक ही बार देख कर सन्तोष कर लेते हो क्या ? क्या उसे बार-बार देखने का मन नही करता—प्रति माह ?'

अजुन के मन म आया यह कह दे बात तो ठीक ही है जस आपके नील मणि सदश सुदर स्वरूप को एक बार देखकर ही कोई कहा तुष्ट होता है ? उसे भी तो बार-बार देखने का मन करता ही है।

'आप ठीक कह रहे है।' अजुन ने अपने मन की बात को किनारे कर हामी भरी।

'हा तो मैं श्रद्धा की बात कह रहा था जिसम श्रद्धा का अभाव है वे इस धम को नही पा सकते, और उसे नही पा सकते तो मुझे नही पा सकते और मुझे नही पा सकने के कारण इस मत्युलोक पर बार-बार लौटते रहते हैं ?

किस धम को ? ' अजुन ने सोचा यह धम किधर से आ गया ?

मैंने बताया तो कि वह विशुद्ध, धम-पूण और अविनाशी है मैं उसी धम की बात कह रहा हू। पर इस पर आने के पूव मैं श्रद्धा को लेकर तुम्ह एक दष्टान्त देना चाहूगा। यह इसलिए आवश्यक है कि श्रद्धा की बात को तुम्हारे अन्दर बठा देना है। तुमने इसको लेकर प्रश्न उठाया है और मैंने भी कहा है कि मैं श्रद्धा पर बार-बार आऊगा और आता रहा हू। तुम मेरी रूखी बातें सुनते सुनते ऊब गए होगे अत यह दष्टान्त श्रद्धा पर तुम्हारी आस्था को प्रगाढ करने के साथ साथ तुम्हारा कुछ रजन भी अवश्य करेगा।'

बिना दष्टान्त के भी चलेगा। हमारे इस दीघ वार्तालाप न दोनो पक्षो के योद्धाओ को पर्याप्त कष्ट दिया है। अब हम या तो युद्ध करना है या इन्ह इस प्रतीक्षा से मुक्ति देनी है।'

'युद्ध करना है या मुक्ति देनी है। श्रीकृष्ण को मन ही मन हसी आई। अभी यह द्वन्द्व से मुक्त नही हो पाया है। अनिणय अभी भी इसकी प्रकृति म है। अब तक का उपदेश कुछ ही प्रभाव ला सका है। वह युद्ध नही करने की बात तो नही कर रहा पर युद्ध रत होन का भी उत्सुक नहा है। जस प्रात काल का हलका पवन सागर-तल पर कुछ नन्ही ऊर्मियो का सजन कर दे। सागर का अतर-तल तक मथ देने के लिए तो किसी प्रचण्ड तूफान की ही आवश्यकता होती है। अन्तत उन्हें वही करना पडेगा जो उन्होने सोच रखा है। और जिसे अब तक टालते रहे है पर अब उसे बहुत देर तक टाला भी नही जा सकता। खर तब तक वह दष्टान्त वाली बात तो कह ही दें पर अजुन के मन का अहकार अब तक नही गया। वह सोच रहा है कि सब कुछ उसके लिए ही होता जा रहा है। कब खुलेंगी उसकी आखें ? ये सारे योद्धा, भीष्म कृप द्रोण और अश्वत्थामा विकण, सोमदत्त आदि क्या मात्र उत्सुकता-वश या प्रतीक्षा वश रुके खडे हैं ? यह मुझे परमेश्वर मानता भी है और नही भी मानता। अगर मन से वह मेरी परमसत्ता को स्वीकार कर लेता तो इसे समझने मे देर होती क्या कि ये सब निर्विरोध प्राय चित्रलिखित-से खडे हैं तो इसम मेरा मेरी माया का अवश्य कुछ हाथ होगा ? अपनी अपार माया का मैं पहले ही वणन कर चुका हू। यह क्यो नही समझ पाता कि ये मेरे रुके ही रुके पडे

है। इनकी आखो म उत्सुकता और विवशता चाहे जो झाकती हो पर इनके हाथो को अस्त्रो पर जान से कौन रोक सकता था ? क्या नही समझ पाता यह छोटी-सी बात अजुन कि यह सब ईश्वरीय क्रीडा है कि मैंने समय-बोध ही समाप्त कर दिया है इनके मस्तिष्क से वरना मत्त गजराज की तरह बलोन्मत्त दुर्योधन क्या अपनी सेनाओ और सेनापतियो को या पवित्तद्ध छोड दता ? मैंने जब तक छिपाया तब तक छिपाया अब तो प्रकट ही कर दिया है मैंने इस पाथ पर अपने परमेश्वरत्व को। अब भी इसे यह नही लग पा रहा कि जब ब्रह्माण्डपति ही इसके सारथ्य को स्वीकारे बैठा है तो इसको सारी चिताओ से मुक्त हो जाना चाहिए। अब तक का मेरा उपदेश किस काम आया ? अन्तत वही करना होगा जिसे मैंने सोच रखा है। पर दृष्टान्त तो इसे सुना ही दू।

"एक राजा था। श्रीकृष्ण शुरू हो गए थे। अजुन को भी लग गया था, कृष्ण को अपनी बात कहने ही देना चाहिए। उसके अन्दर अवश्य ही कुछ कमी रह गई होगी जिसे वह समाप्त करना चाहते है।

'एक दिन वह आखेट को निकला। किसी वन्य पशु के पीछे भागते भागते वह अपने साथियो सेनापतियो से बिछुड गया। मार्ग भी भूल गया। उधर सध्या भी घिर चली थी। अरण्य म अधकार भी शीघ्र ही उतरता है, पर जब सूरज पूरी तरह अस्ताचलगामी नही हुआ था। आशा की एक क्षीण लौ शेष थी। माग ढूढ निकालना और राजधानी लौट जाना तो अब कठिन था पर इस समय भी आस पास कोई शरण स्थली मिल जाती तो वह रात्रि वहा व्यतीत कर लेता वरना वन्य जीवो का आखेट करने को आया वह स्वय उनका आखेट होकर रह जाता।"

'तब ? अजुन की कहानी म उत्सुकता जगी।

इसी समय राजा जहा खडा था वहा से थोडी दूर पर का आकाश धूम्राच्छादित दिखा। अर्थात वहा कोई था। किसी ऋषि-तपस्वी की कुटी रही होगी। राजा उस ओर बढ गया। सचमुच वह एक सिद्ध की साधना-स्थली ही थी। साफ-सुथरा और हविष धूम्र स गम गम करती हुई। ऋषि सध्या-वन्दन के लिए नदी-तीर जाने को प्रस्तुत था। अतिथि को द्वार पर देख उसने कुटिया के एक खाली कमरे की ओर इशारा किया—'यही विश्राम करो। राज-पुरुष लगते हो। लौट कर मैं तुम्हारे भोजन के लिए कन्द मूल की व्यवस्था करता हू। इस गहन विपिन म इसके सिवा मिलेगा भी क्या ?

मेरी भूख की चिन्ता छोडें महाराज ? राजा ने निवेदन किया। मुझे निर्विघ्न विश्राम की आवश्यकता है बस। इस कठिन कानन म मृगया के पीछे भटकते भटकते पूणत क्लान्त हो आया हू। नृप ने निवदन किया।

" तो कुटिया म पडे तख्त पर विश्राम करो। मैं तुम्हे प्रात काल तक कोई बाधा नही दूगा। कहकर तपस्वी चला गया। नृप ने कुटिया के कपाटो को सपृटित किया और तख्त पर पड गया। पर क्षण भी नहीं बीता था कि बाहर से खटखट के शब्द का आना आरम्भ हुआ। नहीं यह दरवाजे पर किसी के आगमन का सूचक नही था। स्वर कुछ दूर स आ रहा था पर था रक्ष। राजा के विश्राम को बाधा पडी।

वह बाहर आया। कुटी के साफ-सुथरे प्रागण म खडा हो गया। हवनकुण्ड

से अब भी द्रविप गध निकल कर दिशाओ को सुगन्ध पूरित कर रही थी।

"खट खट-खट । आवाज की दिशा ने अपनी ओर राजा का ध्यान आकृष्ट किया। पास ही म एक ऊचे पेड के ऊपर एक लकडहारा पेड की एक सूखी डाल काट रहा था। डूबते सूरज की अस्ताचल प्रस्थित किरणें वक्ष के शिखर को अपना अतिम स्पश द रही थी और उन रश्मियो के प्रकाश म लकडहारे के हाथ म पकडी लोह कुल्हाडी चकाचौंध-सा उत्पन्न कर रही थी।

नप न वक्ष शिखर की ओर आखें उठाइ। लकडहारे को नीचे किसी की उपस्थिति का स्पष्ट भान हुआ और उसने आखें नीची कर देखा तो एक राज पुरुष। भय उसकी आखा म तरा और कुल्हाडी हाथ स छूटकर धरती पर आ गिरी। नप निश्चिन्त हुआ। वह अपनी कुटिया म लौटा पर अभी लेटा भी नही था कि फिर वही खट-खट खट-खट खट ।

राजा फिर बाहर आया। वही लकडहारा लकडी काटने म व्यस्त था। उसी ऊचाइ पर। राजा की आखें लकडहारे की आखा स फिर मिली। कुल्हाडी फिर नीचे गिरी। नप पुन कुटिया म लौट आया पर हालत फिर वही। तख्त पर पर दे पाता कि फिर वही व्यवधान। वही खट-खट ।

'ऐसा कई बार हुआ। राजा कइ बार बाहर आया। कुल्हाडी कई बार नीचे गिरी। अन्त मे तग आकर राजा न नीचे स आवाज दी 'पेड से उतर आओ।

लकडहारे को काटो तो खून नही। एक बार मन किया वही पर बठा रह जाय। नीचे का आदमी जो स्पष्टत कोई नप या सामन्त लग रहा था उस ऊचाई तक तो चढ नही सकता था। पर इस विचार को किनारे कर वह नीचे उतर आया। हाथ म वही चमकती कुल्हाडी लिये।

' तुम्हारे पास कितनी कुल्हाडिया हैं? अब तक अधकार प्राय कुटी-आगन को आवत्त कर चुका था। धूनी की आग के क्षीण प्रकाश म ही वार्तालाप हो रहा था।

' कितनी का कहा प्रश्न है? मुझ दरिद्र के पास यही एक कुल्हाडी है। इसे भी चाहिए तो आप ल जा सकते है। लकडहार ने कापते स्वर म कहा।

' तुम यठ बोलते हो। राजा ने क्रोध म भरकर कहा।

नही महाराज मैं झूठ क्या बोलूगा? यह बात ठीक है कि मेरे पास बस यही एक कुल्हाडी है। लकडहारा हाथ जोड कर बोला।

एक ही है तब एसा कसे होता है कि म अन्दर जाता हू और तुम खट-खट आरम्भ कर देते हो? इतनी देर म किसी हालत म पेड से उतर भी नही सकते कुल्हाडी लेकर पुन पेड पर चढना तो दूर की बात है।

यह बात ठीक है महाराज कि मैं पेड स नीचे नही उतरता हू।

' 'तब यह खट-खट फिर कस शुरू कर देते हो? जब एक ही कुल्हाडी तुम्हारे पास है?' राजा क्रोधित होकर बोला।

' मैं कुल्हाडी तक नही पहुचता महाराज पर कुल्हाडी मुझ तक पहुच जाती है।

' क्या मतलब? राजा आश्चयचकित होकर बोला।

'हा महाराज मैं ठीक कहता हू। मुझ एक आकषण मन्त्र आता है जिसके द्वारा मैं आपके अन्दर जाते ही कुल्हाडी को ऊपर आकृष्ट कर लेता हू।

"लकड़हार की बात सुनकर राजा आश्चय से भर गया। पर उसके मन मे लालच जगी—क्या ही अच्छा हो अगर यह आकषण मत्र जान जाऊ। तब तो मैं बठे-बठे ही शत्रु-सना के मारे अस्त्र शस्त्रा को आकृष्ट कर लूगा।

'तुम मुझे यह मत्र सिखा दो।' राजा ने लकड़हारे से कहा।

''यह नहा हो सकता।

क्यो? राजा न आश्चय स पूछा, जानत हो मैं इस देश का राजा हू। जब तुम एक अदना सा लकड़हारा होकर यह मत्र सिद्ध कर सकत हो तो मैं इसे क्या नही सिद्ध कर सकता।

"लकडहारा मुसकराया यही ता बात है महाराज यह राजा हाना ही तो आड आयगा!

' वस?' राजा न आश्चय से भरकर पूछा।

"'यह मत्र ता आपको मुझसे ही लना हागा?'

"'हा राजा न उत्तर दिया।

" तो मैं ठहरा साधारण लकडहारा और आप ठहर इस दश के नरेश। आपकी श्रद्धा जाग्रत हागी मेरे लिए? लकडहारे न सीधा प्रश्न किया।

' राजा चुप रहा। क्या उत्तर दता? एक लकडहारे के प्रति वह श्रद्धा प्रदर्शित कर पायगा? शायद नही।

बिना श्रद्धा के कुछ नही होता महाराज! लकडहार न अपनी कुल्हाडी उठात हुए कहा 'कम-स कम मत्र तो नही हा सिद्ध होत।'

' यही बात मैं कह रहा था अजुन कि श्रद्धा का बहुत महत्त्व ह ज्ञानाजन के क्षेत्र म।' श्रीकृष्ण ने कहानी समाप्त कर कहा।

यह दृष्टात तो बडा मनोरजक रहा साथ ही आख खालन वाला भी। अजुन न स्वीकार किया।

तो मैं बात को आग बढाऊ? अब ता तुम पूरी श्रद्धा के साथ उस ग्रहण करा।?

'श्रद्धा अधूरी कब थी हृषीकेश, परन्तु हा अब वह और प्रगाढ हो गई। तुम बात आगे बढाओ।' अजुन न निवदन किया।

तो यह एक सत्य सुनो। इसकी ओर पहल भी मैंने इगित किया था। मेरे द्वारा अव्यक्त रूप से यह सम्पूण जगत् व्याप्त है। मेरे म ही सभी प्राणी अवस्थित हैं किन्तु मैं उनमे स्थित नही हू।'

अर्थात?

अर्थात यह कि मेरे बिना किसी प्राणी का अस्तित्व असभव है। मैं उनके अन्दर हू तभी वह है यद्यपि मरे अस्तित्व के लिए किसी प्राणी के होने, न होन मे कोई अतर नही पडता।'

समझ गया इस।

पर आगे की बात इतनी आसानी स नही समझाग।

कहो।'

पहल मैंन कहा कि सभी प्राणी मुझम स्थित है अब मैं कह रहा हू कि सभी प्राणी मुझम स्थित नही हैं। यद्यपि मरी आत्मा सभी प्राणिया को उत्पन्न और पालन करन वाल‌ । दखा, यह मरे योग का कमा

सामथ्य है ?" कृष्ण मुसकराए।

"यह तो घोर विरोधाभास है। पहले तुमने कहा कि तुम सभी प्राणियो म हो तुम्हारे बिना किसी का अस्तित्व ही सभव नही अब तुम कहते हो कि तुम उनम नही हो।

इसीलिए तो कहा कि यह तुम नही समझोगे।"

'तो समझाओ।' अर्जुन ने अनुनय किया।

'यही तो योग है अर्जुन ! इसी की शिक्षा तो मैं तुम्हे आरम्भ से दे रहा हू। होकर भी नही होने का। करके भी नही करने का। यही निर्लिप्तता की बात तो मेरे कर्मयोग का सार तत्व है। कमल पत्र जल मे होता है और नही भी होता। जल की एक बूद तो उस पर ठहर नही पाती। उसी तरह मैं जगत के प्राणियो म होकर भी नही हू। उनका उत्पादक हू पालक हू पर उनसे निर्लिप्त हू। इसी तरह सच्चे योगी को भी सष्टि मे रहते हुए सारे नियत कार्यों को करते हुए भी नही करना है। अर्थात कर्तापन का भाव नही आने देना है। यही है कर्म म भी अकर्म को देखने का भाव। यही है कर्मयोग। समझे ?"

'समझ गया। अर्जुन श्रीकृष्ण के इस चमत्कारिक विश्लेषण से प्रत्यक्षत प्रभावित हुआ था।

"एक और उदाहरण लो जैसे सर्वव्यापी वायु आकाश म सदा स्थित है उसी तरह सभी प्राणी मुझम स्थित हैं इस बात को ठीक से समझ लो।

'कैसे समझू ? अर्जुन ने नही समझ पाने की अपनी असमर्थता प्रकट की।

"क्या आकाश के बिना वायु का अस्तित्व सभव है ? जहा आकाश नही है वहा वायु की कल्पना भी की जा सकती है क्या ? सम्पूर्ण आकाश की बात छोडो। जहा थोडा भी आकाश है, थोडी भी खाली जगह है वही तो वायु है। आकाश अर्थात अवकाश—खालीपन। तो जहा खालीपन नही है आकाश नही है वहा वायु नही है। छोटा सा उदाहरण लो जब तक घट अथवा जलपात्र खाली है तब तक उसम वायु भरी है। उस घट को जल से भर दो तो उसम वायु बचती है ?

'नही बचती।'

'उसी प्रकार जैसे आकाश के बिना वायु का अस्तित्व असभव है उसी तरह मेरे बिना जीव का अस्तित्व असभव है।

'अब आगे की बात बताऊ ? यह सृष्टि और प्रलय की कथा बडी विचित्र है। कुछ देर पूर्व भी इसकी ओर इगित किया था। कल्प के अत म सभी प्राणी मुझम मेरी प्रकृति म विलीन हो जाते हैं। कुछ भी नही बचता पर कल्प के आरम्भ म मैं पुन सबकी सष्टि कर देता हू।

'अपनी प्रकृति का सहारा ले मैं इन जीव-समुदायो का बार-बार सष्ट करता रहता हू और ये अपने स्वभाव-वश बार-बार अवश से सष्ट होते रहते हैं।

'कुछ समझ रहे हो अर्जुन ? श्रीकृष्ण ने रुककर पूछा।

'समझ तो रहा हू कि इस सष्टि के सूत्रधार तुम्हीं हो। इसकी उत्पत्ति, इसके पालन और प्रलय का दायित्व सब तुम्हारा ही है। कितना कुछ तो करना पडता है तुम्हें।

यही तो बात है' कृष्ण मुसकराए इतना कुछ करके भी मैं कुछ नही करता। ये कर्म मुझे कभी बाध नही पाते क्योकि मैं उदासीन और असक्त बना

इन्हें करता हू। इनमे मेरी कोई आसक्ति होती नही।"

"यही शिक्षा तुम हम देना चाहते हो ? ठीक ही है जब तुम इतने महान काय करते हुए भी उनसे निर्लिप्त रह सकते हो तो कुछेक छोटे कार्यों के बंधन म हम क्यो पडना ? हम भी उन्ह करके भी नही कर सकते हैं।' अजुन ने अपने आत्म विश्वास को अभिव्यक्ति दी।

'यही तो बात है। इतना समझ लो तो योग सध गया। और अब आग की बात सुनो। यह प्रकृति मेरी ही अध्यक्षता म अर्थात मेरे ही आदेश से चर अचर सभी प्राणियों की रचना करती है। इसी कारण स यह सारा सष्टि चक्र चल रहा है।

'एक बात और है।'

'क्या ?'

'मैं जब मनुष्य-शरीर धारण करता हू तो मूख और अज्ञानी मेरी अवमानना करते हैं, मुझे महत्त्व नही देते। इसका कारण यह है कि वे इस परम भाव का कि मैं ही सब प्राणियों का ईश्वर हू, नही जानते।

'ऐसे लोगो की प्रकृति आसुरी और मोह म डालने वाली होती है। राक्षसी वत्ति होती है इनकी। इनकी न कोई आशा पूरी होती है न इनका कोई काय भी सध पाता है। एसे भ्रमित चित पुरुषा का सारा ज्ञान भी व्यथ ही होता है।

किन्तु जो दैवी प्रकृति से युक्त हो, मुझे ही सभी जीवो की उत्पत्ति का मूल मान मुझ अव्यय अविनाशी की ही अनन्य भाव स उपासना करते हैं वे दृढव्रती निरंतर यत्नशील रहकर और नित्य मुझसे युक्त होकर भक्ति भाव से मेरा कीतन और नमन करते है। मेरी उपासना का यही माग है।'

"अर्थात् कीतन और भजन भी आवश्यक है ?"

अवश्य। मैंने पहले ही कहा न कि भक्ति सर्वोपरि है। कम योग को भी यही साधती है और इस भक्ति की परिपूणता क लिए तो मेरे नामो का कीतन और मेरे प्रति नित्य नमन भाव आवश्यक ही है।'

"अर्थात नाम भजन, भक्ति का, सिद्धि का, सोपान है ?"

अवश्य।" श्रीकृष्ण ने दढता से कहा।

'क्या भक्ति के अलावा तुम्हारी उपासना का कोई और माग नही है ?

'है। यज्ञ की बात मैंने पहले की थी न ? तो ज्ञान-यज्ञ के द्वारा भी मेरी उपासना होती है। बहुत लोग मेरी एक रूप म बहुत स कई रूपो म मेरी पूजा, मेरी उपासना करते हैं ?

बहुत रूपो मे क्यो ? अजुन को आशका हुई।

क्योकि मैं तो विश्वमुख हू। सारे विश्व म तो मैं ही प्रकट हू। मैंने पहले कहा न कि सारे देवी-देवताओ की उपासना भी अन्तत मेरी ही उपासना है ?

'कितनी बार और कितने रूपों म कहू ? पर तुम्हे प्रतीति दिलाने के लिए कहना ही पडेगा।

मैं ही कमकाड हू। मैं ही यज्ञ हू। मैं ही तपण हू। मैं ही यज्ञ म—हवन म—पडने वाली औषधि हू। मैं ही यज्ञ का मन्त्र हू। मैं ही आहुति का घृत हू। मैं ही अग्नि हू। मैं ही आहुति हू।

मैं ही इस जगत का पिता हू माता हू। पितामह हू। मैं ही इसका धारण

कर्त्ता पालन कर्त्ता हू । मैं ही वह पवित्र 'ॐकार' हू जो जानन योग्य है । मैं ही ऋग्वेद हू, सामवेद हू, यजुर्वेद हू ।

"मैं ही सबकी अन्तिम गति हू । सबका पापक भवका प्रभु हू । जो कुछ यहा घट रहा मबका साक्षी हू सबका निवासस्थल, शरणस्थल और मित्र भी हू । मैं उत्पत्ति हू । मैं प्रलय हू । सबका आधार हू, अन्तिम विश्राम स्थल हू । मैं ही सबका बीज हू । मैं अव्यय, अविनाशी हू ।

'सूय क रूप म मैं ही तपता हू । जल का सागर से आकृष्ट कर मैं ही पुन उसे वर्षा के रूप म धरती को प्रदान करता हू । हे अजुन ! मैं ही मत्यु हू, मैं ही अमत भी हू । मैं सत भी हू । मैं ही असत भी हू ।

इस तरह श्रीकृष्ण ने खुलकर अपने विविध और दिव्य रूपो, अपनी अपार शक्ति और सामथ्य का बडे आकषक रूप मे अजुन के समक्ष वणन किया । स्पष्टत उनका एकमात्र लक्ष्य अपने प्रति अजुन की भक्ति उत्पन्न करना था । अपनी सव व्यापकता सिद्ध करनी थी । साथ ही यज्ञो को उस काल तक दिए जा रहे अनावश्यक महत्त्व को कम करना था । श्रीकृष्ण यज्ञ के विरुद्ध नहा थे । पर जब सब कुछ श्रीकृष्णमय था तो श्रीकृष्ण की उपासना ही पर्याप्त थी । तब अनावश्यक कमकाड और यज्ञा मे पशु हत्या कहा आवश्यक थी ?

यज्ञो के महत्त्व को एकदम समाप्त नहीं कर देने की दृष्टि से वे पुन यज्ञा पर आते हैं । यज्ञ-कत्ताओ की प्रशमा करते है पर यज्ञो से प्राप्त होन वाले विनाशी अस्थायी फलो को भी बताने से नहीं चूकते । व स्पष्ट कहते है—

तीना वेदा म वर्णित कमकाडो अथवा यज्ञा म रत सोमरस का पान करने वाले पापरहित पुण्यवान पुरुष यज्ञ द्वारा मेरी उपासना और प्राथना कर स्वग प्राप्ति की कामना करत है । सत्य है कि व इस प्रकार पुण्य अर्जित कर इन्द्रलोक स्वगलोक को प्राप्त कर वहा के दिव्य भोगो को भोगते हैं ।

'किन्तु विशाल स्वगलोक के सुख को भोग कर पुण्य के क्षय होने पर मत्यु लोक म ही गिरते हैं । इस तरह इन तीनो वेदा के अनुगामी कामना से प्रेरित लोग जन्म मरण क बन्धन का ही प्राप्त करते है । वे मुक्त कहा हो पाते है ?

'तो इसका उपाय ?' अजुन निश्चित ही मात्र वेदा और उनके कमकाण्डो यज्ञो—म विश्वास रखने वालो की दुर्दशा पर चिन्तित हुआ ।

उपाय ? उपाय तो मैं पहले ही बता चुका हू ।

'क्या ?'

'भक्ति । मेरी भक्ति । कृष्ण भक्ति ।

'मैं बताऊ तुम्हे' श्रीकृष्ण ने पुन जोर देकर कहा, 'इसे तुम मेरी प्रतिज्ञा ही समझना । जो अनन्य भाव से अर्थात सभी देवी देवताओ यज्ञो आदि को भूलकर निरन्तर मेरा ही चिन्तन करते हुए मेरी ही उपासना करत हैं ऐसे नित्य अपन म ही लगे हुए लोगो के योग क्षेम का वहन भी मैं ही करता हू ।

यह योग-क्षेम क्या है ?

योग जो कुछ प्राप्त है उसकी रक्षा, और क्षेम जो कुछ अप्राप्त है उसे प्राप्त कराना । दूसरे शब्दो म कहो तो मैं अपने भक्त अपने अनन्य उपासक का सारा दायित्व सारी चिन्ता स्वय अपने ऊपर ले लेता हू । वह मेरा काम करता है मेरा हो जाता है तो मैं उसका काम करता हू । उसका हो जाता हू ।'

"यह तुम्हारी प्रतिना है ?
'कहा तो कि है।"
'तव ता यह बडी उपयोगी और आसान है अजुन न कहा तय यनादि के झमटा मे नही पड व्यथ की चिताआ स ग्रस्त नही हाकर तुम्हारे ही हाथो मे अपने को सौंप कर व्यक्ति निश्चिन्त क्यो नही हो जाय ?'
"हो जाना चाहिए। मैं रोकता भी कब हू ? मेरी प्रतिज्ञा तो युगो-युगो से कायम है। मैंन कहा न कि मेरे और तुम्हारे भी अनक जन्म हो चुके हैं। अनेक कल्पा म यह कहानी दुहराई गई है। अनेक कल्पो म यह महाभारत रचा गया है। अनेक कल्पा म मैंन यह प्रतिज्ञा की और कई बार ता कई हठी भक्ता न इसकी परीक्षा भी की ह।"
'जसे ?"
'जसे यह कि एक बार मेरे एक आचारी भक्त न यह ठान ही लिया कि श्रीकृष्ण याग क्षेम की रक्षा करने वाली अपनी प्रतिना का कसे पालन करते है। वस वह उसकी सारी सुख-सुविधा का प्रब ध कर उसे अपने दायित्वा से मुक्त कर दन है।"
'तब ? अजुन की उत्सुकता बढी।
"तब यह कि व पण्डित जी खाना-पीना छोडकर एक घोर कानन म जा बस। दो-तीन दिन बिना खाये पाय हो गए। एक रात का भूख ने बहुत जोर मारा तो उनके क्रोध का पारावार ही नही रहा। उन्होने मुझे खूब कोसा। वे मेरे बाल रूप क उपासक थे।'
'अर्थात कन्हैया के ? अजुन ने जिज्ञासा की।
'हा, पर कन्हैया ही तो कृष्ण बना न ? श्रीकृष्ण ने कहा और कहानी आगे बढाई, "उन्होने सोचा अच्छा छलिया है यह कृष्ण भी, कह दिया मैं भक्तो के योग क्षेम का वहन करता हू और यहा मैं खाये पीये बिना कई दिनो से इस बीहड वन म पडा हू।
'कुछ रात्रि और बीती। उनकी भूख न और जोर मारा और क्रोध के वशीभूत हो उन्होन गीता की हस्तलिखित पुस्तक अपनी झोली से निकाली और उस श्लाक को जहा मैंने कहा है कि मैं योग क्षेम का वहन करता हू पर स्याही पोत दी, 'झूठा कही का। उन्होंने कहा और पुस्तक को यथा-स्थान रख दिया।
फिर ?'
'फिर यह कि भूख तो भूख थी और कुछ दर क बाद उसन फिर जोर मारा और इस बार क्रोध और क्षोभ स विक्षिप्त से होते हुए पण्डितराज न उस पूरे श्लोक को कलम की नोक स खरोच ही दिया।
तुम भी तो खूब हो, अजुन न कहा जब तुमन प्रतिज्ञा की थी तो उस प्रतिज्ञा को निभाना भी था कि नही ?
'निभाना ता था ही। तुम आगे तो सुनो। यह पण्डित मेरी परीक्षा ले रहा था तो मुझे भी तो उसक विश्वास और धय की परीक्षा लेनी थी ? खर थोडी दर के पश्चात उस भक्त को जरा सी निद्रा आई पर कुछ हलचल के कारण वह टूट गई। उस अर्द्धनिद्रावस्था मे उसन दखा कि एक सु दर किशोर हाथ म स्वण थाल और जलपात्र लिय खडा था। भक्त तो भूख से व्याकुल था। उसे इस बात पर

ध्यान देने का अवसर कहा था कि उस घोर कानन म भोजन की व्यवस्था कसे हो सकती थी, वह भी एक किशोर के हाथो ? उसने तो मुख पर ठीक ध्यान ही नहीं दिया। जसे बाज किसी पक्षी शावक पर टूटता है बस वह विविध स्वादिष्ट व्यजनों से भरे थाल पर टूटा। जल-पात्र के जाह्नवी जल को गल के नीचे उतारा और तप्त होकर आखें उठाइ तो स्त ध रह गया ?'

"क्यो ?' अजुन ने आश्चय से पूछा।

सामन एक सु दर-सलोना किशोर खडा था। सौ दय की साक्षात मूर्ति। ऐसा अपरुप रूप तो उसन कभी देखा ही नही था। पर यह क्या ? वह क्षण भर बाद ही आश्चय से भर आया। इतने सु दर चेहरे पर एक तरफ स्याही क्या लगी थी और दूसरी तरफ खरोचें क्या पडी थी जिनसे रक्त-कण स्पष्ट ही झाक रहे थ।

तुम्हारी यह गति किसने की ? और कुछ पूछने के बदल व्यथित हो उसने यही पूछा।

'आपने।

" 'मैंने ? उसने साश्चय पूछा।

'हा आपन ही तो। मुझे थाडा सा विलम्ब हो गया आपकी सवा म इसी कारण तो आपने ।

भक्त को जब स्थिति का पूण भान हा गया पर उसके पहले कि वह अपने आराध्य के चरण पकड लेता वह गायब हो चका था।

एसा क्यो किया तुमन ? ठीक ही हमेशा से तुम लोगा का छलत रहे हा। व्रज की गोपियो को कम छला ? ' अजुन उलाहना-सा दत बोला।

' फिर व्रज !' श्रीकृष्ण ने सोचा 'आज क्या हो गया है अजुन का कि वह हर बार दुखती रग पर हाथ रख देता है।' भावनाए पुन अनियत्रित हो इसक पूव ही श्रीकृष्ण न उधर से अपना ध्यान खीच अजुन को उत्तर दिया छलना तो था ही। उसको तो मेरी परीक्षा लनी थी। मरे दशन व दन का तो वह आकाक्षी था नहो। मैं परीक्षा देकर चल पडा तो इसम उस दु खी क्या हाना चाहिए ? पर उससे भी कष्टकर कहानी है एक दूसरे भक्त की। यह जान लो अजुन कि हर कल्प म मैं यह प्रतिना करता रहा हू। यह तुम्हारे मेर सभापण का प्राय मध्य भाग है। मैं इस उक्ति को बहुत महत्त्व देता हू और इस लिए आश्वासन की पूर्ति म कभी पीछे नही रहता। मेरे कुछ भक्त तो आख मूद कर इस पर विश्वास करत हैं और अपने योग क्षेम को सुनिश्चित कर लेते है पर कुछ हठी व्यक्ति मेरे इस कथन की सत्यता का परखन पर भी उत्तर आत है और मेरी परीक्षा लेने लगने है। कभी कभी तो उनका अपनी हठधर्मिता का अच्छा मूल्य चुकाना पडता है। एसी ही है इस भक्त की भी करुण गाथा।

' सुना ही दो इस भी। अजुन उत्सुक हाकर बाला।

एक कल्प का यह भक्त ता घोर वन के एक पड पर ही जा बठा। उसकी सबसे ऊची शाखा पर।

क्या ?

मरी परीक्षा लेने।

कस ? ' अजुन परीक्षा की इस विचित्र विधि का समझ नही पा रहा था।)

कर पडाव डाल दिया।"

'तब ?

'तब क्या ? मध्याह्न का काल आ गया था। राजा और उसके सनिक भूखे थे। पेड के नीचे ही पाक सिद्ध हाने लगा—भोजन बनने लगा।

"भोजन की सुगंध से तो तुम्हारे भक्त की क्षुधा और जाग्रत हो आई होगी ?

'यह तो था ही। पर वह खाने को कहा प्रस्तुत था ? वह तो परीक्षा ले रहा था। अपनी भूख और पानी से भरती जिह्वा पर यथासाध्य नियन्त्रण कर वह पूरी तरह निश्चल हो आया।

नीचे भोजन तयार हो गया श्रीकृष्ण न कहानी आगे बढाई 'राजा का नियम था कि बिना किसी एक बाहरी व्यक्ति को खिलाए वह भोजन नही ग्रहण करता था। पर उस महाविपिन म कोई बाहरी व्यक्ति मिले तो कहा स ? मेरा भक्त डर गया और अपने को और छिपाने के प्रयास म वह बक्ष पत्रो को खन्खडा बठा।

''वह रहा वह रहा आदमी। कुछ सनिक चिल्लाए। उनका ध्यान मेरे भक्त की ओर आकृष्ट हो गया था।

नीचे उतरो। सेनापति न आदेश दिया। पर वह क्या उतरने लगा ? नीचे भोजन बना है कही लोग उसे खिला ही नही दें! वह डाली स और चिपक कर बठ गया।

' इधर राजा की भूख जोर मार रही थी। उसने सनापति स विलम्ब का कारण पूछा।

' महाराज! एक व्यक्ति तो मिला है। पर वह पेड से नीच ही नहा उतर रहा।

'उसे मेरी ओर से आदेश दो। पेड स नीचे आय।

' सेनापति पेड क नीचे जा जार से बोला यह राजाज्ञा है तुम्ह नीचे उतरना ही पडेगा। बिना तुम्हारे भोजन ग्रहण कराए राजा खाना नही खा सकत।

' राजाज्ञा है! पर इससे क्या, वह तो राजाओ क राजा की परीक्षा लेने पर तुला था, वह क्यो नीचे उतरने लगा ? वह मौन साध गया।

'' इसे बलात उतारा जाय। पेड से नीचे खीच लो इसे। सेनापति न सनिको को आज्ञा दी।

'तब तो उसकी दुदशा हो गई होगी ?' अजुन चिन्तित होकर बोला।

वह तो हुई ही। उस खीच खाच और कषण म वृक्ष स्थानो म उसकी चमडी छिल गई। वह लहूलुहान हो गया।

' नीचे आया तो उसके सामने थाल म विविध प्रकार परोस कर रख गए—'लो खाओ।

'पर वह कहा खाने को था ? उसने जोर से होठ दबा लिये। दात भीच लिये।

" क्या हुआ ?

महाराज! वह तो खाने को प्रस्तुत ही नहा। सनापति ने निवेदन किया।

''उसे खाने को बाध्य किया जाय। बलात खिलाया जाय।'

'तब तो उसकी और दुर्दशा हुई होगी।' अर्जुन की चिन्ता बढ़ी।

"वह तो हुई ही। सैनिकों ने उस पर प्रहार आरम्भ किया। एक व्यक्ति नंगी तलवार लिये उसके सिर पर सवार हो गया—खाओ। अथवा जान से हाथ धोओ।'"

"तब ?"

'तब क्या ? वह तो परीक्षा लेने आया था। प्राण देने थोड़े ? परीक्षा में तो मैं सफल ही हो गया था। उसके खाने का प्रबन्ध ही नहीं उसके लिए मैंने उसे विवश भी कर दिया था। उसने भोजन ग्रहण किया और अपनी मूर्खता पर पछताया।"

"तो तुम्हारे भक्तों की यह दुर्दशा भी होती है ? अर्जुन ने चुटकी ली।

'हठधर्मिता और संशय का और क्या उपाय है ? मैं तो कहता ही हूं संशय नहीं करो। संशयात्मा विनश्यति—संशय करनेवाले का विनाश होता है यह तो मैं पहले ही कह चुका हूं।

तो अब मैं जाग जाऊं ? तुम्हारा अच्छा भला मनोरंजन भी हो गया वरना मेरे नीरस दर्शन को सुन सुन तुम मुझे कोसते तो होगे ही।

नहीं ऐसी बात नहीं अर्जुन ने प्रतिवाद किया तुम्हारे मुख से निकली हर बात अमृत की तरह मीठी है। अभक्तों को वह नीरस भले लगे। तुम्हारे आप्त जनों को तो उनमें आनन्द ही आता है।'

ठीक है तो मैं कहना चाहता था और यह बात पहले पहल नहीं कह रहा पर इस बार दूसरे शब्दों में पूरी दृढ़ता के साथ कहता हूं कि जो लोग किसी अन्य देवता की भी श्रद्धा पूर्वक पूजा उपासना करते हैं वे वस्तुतः मेरी ही अर्चना करते हैं भले ही वह अप्रत्यक्ष होने के कारण विधि पूर्वक सम्पन्न नहीं कही जा सकती।

'मैं पुनः स्पष्ट कर दूं कि मैं ही सभी यज्ञों का भोक्ता और उनका स्वामी हूं। सभी यज्ञ जप मेरे ही लिए हैं। उन पर मेरा ही अधिकार है। ऐसा नहीं मानने वाले लोग मुझे ठीक से नहीं जानते इसीलिए उनका पतन भी होता है।

और यह भी जान लो कि देवताओं की पूजा में रत लोग देवताओं को प्राप्त होते हैं पितरों की पूजा करनेवाले पितरों को प्राप्त होते हैं भूतों की पूजा करने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त, मुझको पूजने वाले लोग मुझको ही प्राप्त होते हैं।

ऐसा क्या होता है ? अर्जुन ने शंका की।

अर्थात ?

'तुम ही ने कहा कि सारी पूजाएं तुम्हें ही प्राप्त होती हैं तो विभिन्न प्रकार के पूजक विभिन्न स्थितियों को क्यों प्राप्त करते हैं ?

श्रीकृष्ण मुसकराए अपनी अपनी श्रद्धा के कारण। वे मेरी पूजा तो करते हैं पर अनजान में ही न ? भले ही उनकी पूजा मुझे प्राप्त होती है पर उनकी श्रद्धा तो किसी और को प्राप्त होती है न ? ऐसी स्थिति में वे मुझे कैसे प्राप्त होंगे ? यह श्रद्धा एक बड़ी वस्तु है अर्जुन ! पहले भी मैंने इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है। एक दृष्टान्त भी दिया है पर मुझे लगता है एक बार पुनः मुझे इस पर लौटना पड़ेगा। पर अभी नहीं। कुछ समय पश्चात।

'एक बात और सुन लो। श्रीकृष्ण ने गम्भीरतापूर्वक कहा।

"मेरी पूजा उपासना म कोई विशेष आडम्बर और व्यय की भी आवश्यकता नही। जो कोई मुझे पत्र पुष्प, फल या जल भी भक्तिपूवक अर्पित कर दता है तो उस शुद्ध चित्त वाने व्यक्ति की भक्तिपूवक प्रदत्त उस भेंट को ही ग्रहण कर मैं सन्तुष्ट हो जाता हू।

'इसलिए एक बात और कहू?' श्रीकृष्ण आग बोले।

'कहो।'

यह अत्य त महत्त्वपूण है। यह किसी भी व्यक्ति को सभी पापा सभी बन्धना सभी कुकृत्यो स पथक रखने का अदभुत यत्न है। इससे बडा सन्देश मैं तुम्हे और कोई दे नही सकता।

'ऐसा महत्त्वपूण है वह? तब शीघ्र कह ही डालो।' अजुन ने व्यग्रता दिखाई।

'उसका आचरण करोग तो?

"यह भी पूछन की बात है?'

तो सुन लो। जो कुछ भी करत हो जो कुछ भी खात हो जो कुछ हवन यज्ञ करते हो जो कुछ भी देते हो जो कुछ भी तप आदि करत हो वह सब मुझ अर्पित कर दो।

"इसस लाभ?

'लाभ? श्रीकृष्ण मुसकराकर बोले लाभ तो यही है कि तब तुम कुछ गलत करोग ही नही अखाद्य खाओग ही नही, जो हवन करने योग्य नही है उसका अर्थात मास-मज्जा का प्राणियो का हवन करोग ही नही व्यथ और अनुपयोगी वस्तुओ का दान करोग ही नही और गलत रूप म तथा गलत इच्छा रखकर तप करोगे ही नही। बोलो इससे भी अच्छी कोइ बात हो सकती है? आचरण शुद्धि का इससे भी अच्छा कोइ उपाय हो सकता है? इसस भी अच्छा कोई सन्देश हो सकता है?

नही। अजुन ने जोर देकर कहा।

"तब इस सन्देश को गाठ बाध लो यह सार तत्त्व है मर उपदेश का।

एसा करने का सबस बडा लाभ यह है श्रीकृष्ण ने थोडा रुककर आरम्भ किया, कि इस प्रकार तुम कर्मो के बन्धनकारी शुभ-अशुभ फलो स स्वयमेव मुक्त हो जाओग। सन्यास योग युक्त अर्थात कमफला की ओर स उदासीन होकर तुम सवथा मुक्त हो जाओग और मुझको ही प्राप्त हो जाओग।

'अजुन! मैं स्पष्ट कर द कि यह तथ्य केवल तुम्हारे साथ ही नही मेरे सभी भक्तो के साथ समान रूप स लागू होता है। मैंने तो पहले ही कहा था कि सम भाव ही योग है—समत्व योग उच्यत। तो यह जान लो कि मेरे लिए सभी प्राणी समान हैं। मरा न किसी स द्वेष है न कोई मेरा प्रिय। जो भक्ति-पूवक मेरा भजन करत हैं वे मुझमे हैं और मैं उनमे हू। अर्थात हम दोनो म अभेद है। हम एक ही हैं।

'थोडी देर पहले तुमने कहा था कि तुमम सब हैं लेकिन तुम किसी म नही हो। अजुन ने स्मरण दिलाया।

'वह और बात थी। वह सामान्य बात थी। सष्टि की बात थी। यह भक्ति की बात है। भक्ति म और सामान्य व्यवहार म तो अतर होगा ही। वह नियम था। यह अपवाद है। भक्ति होने पर तो मैं भक्त के हाथो बिक ही जाऊगा।

वह मुझ मे रहेगा और मैं उसम रहूगा ही।"

'तो यह है तुम्हारे भक्तो की महिमा ?'

"हा, है ता यही। दख लो भक्ति का कितना महत्त्व है। पर फिर याद दिलाने की आवश्यकता नही कि यह भक्ति भी कम योग की साधना के बिना व्यथ है। कम की उपेक्षा की बात मैंने कभी नही की बल्कि मेरी यह भक्ति कम-योग को साधने म सहायिका ही हागी।'

"और एक वात यह भी जानो।

"क्या ?

"यदि कोइ दुराचारी भी अनन्य भाव स मुझे भजता है तो उसे साधु ही समझना चाहिए। उसे अच्छे, शुद्ध सकल्प वाला ही समझना चाहिए।

"वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है। उसे शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है, हे अजुन, तुम निश्चित समझो मेर भाव का कभी विनाश नही होता।

'यदि कोई नीच कुल म ही क्यो नही उत्पन्न हुआ हो, चाहे वह स्त्री हो, वश्य हो अथवा शूद्र हो यदि वह मेरी शरण आता है तो वह परम गति को ही प्राप्त करता है।

'जो पुण्यवान है ब्राह्मण है, अर्थात ब्रह्म को जानने वाल है भक्त हैं राजर्षि हैं उनकी तो बात ही क्या है ? अजुन यह ससार अनित्य है सुख रहित है इसम आ ही गया तो इसस मुक्ति का एक ही उपाय है मेरा भजन कर।

'और प्रमुख बात सुन लो। गाठ बाध लो इस—मुझी म मन लगाओ, मरा भक्त बनो मेरी ही पूजा अचना करो मुझे नमन करो, इस तरह मुझसे युक्त होकर मेरे परायण होकर तुम मुझको ही प्राप्त हो जाओगे।

अठहत्तर

मेरा ही भक्त बनो मेरी ही पूजा अचना करो मुझे ही नमस्कार करो अजुन श्रीकृष्ण के इस आत्मकेन्द्रित कथन पर मनन करने म लीन हो गया था। कितना अद्भुत घटा था यह सब ? अब तक जो कुछ वह श्रीकृष्ण के मुख से सुन रहा था उसने उस व्यक्ति को क्या कहा रहने दिया था जसा वह कुछ पल पूव था। अभी तक जो मात्र उसका सखा सम्बन्धी और सारथि था अकस्मात सम्पूण जगत का सखा मित्र और सचालक बन बठा था। क्या वह यही कृष्ण था जिससे पहले-पहल उसकी भेंट राजा द्रुपद क दरबार म पाचाली-स्वयवर के पश्चात हुई थी और जो बाद म अपने अग्रज बलराम के साथ उस कुम्भकार के घर पर आकर जहा अजुन अपन भाइयो और माता कुन्ती के साथ ठहरा था एक स्वर म बोल गया था हम तुम लोगों को जीवित देख बहुत प्रसन्नता हुई। हम तुम्हारे सम्बन्धी ही हैं। माता कुन्ती मेरे पिता की अपनी बहन है यह हमारी बुआ है। पहले तो हम लगा कि तुम लोग लाक्षागह म जलकर समाप्त ही हो गए। पर हमारा मन यह मानना नहा था इसीलिए हम इस स्वयवर म आये थे कि तुम अगर जीवित हो तो इस लक्ष्य-वध की चुनौती को स्वीकार कर अवश्य आओगे। ईश्वर ईश्वर की महती अनुकम्पा है

कि तुम पाचो भाई सकुशल हो। भविष्य तुम लोगो से एक बडी भूमिका की आशा लगाए बैठा है। आने वाला समय बडा महत्वपूर्ण किन्तु भयावह है। आर्यावत टुकडो मे बटा पडा है। मणिमाला के इन विभिन्न मनको को एक सूत्र मे पिरोने की आवश्यकता आ पडी है। इसमे पाचाली की भी महती भूमिका होगी न मही प्रत्यक्ष किन्तु अप्रत्यक्ष रूप मे यह तुम्हारी नव परिणीता आर्यावत के इतिहास को एक नवीन मोड देगी। आज इतना ही। हम फिर मिलेंगे। या वह वही कृष्ण है जो धतराष्ट्र के दरबार मे उनकी ओर से सन्देश लेकर गया था और लौटकर बोला था— युद्ध अनिवार्य हो गया है अर्जुन! कौरव सूई के अग्रभाग के बराबर भी भूमि बिना युद्ध देने को तैयार नही।

या वह वही कृष्ण है जिसने इससे पूर्व कौरवो की सभा मे विवस्त्रा होती जा रही कृष्णा के वस्त्रो को न जाने कैसे अछोर विस्तार दे दिया था और तब लोग उसे जादूगर या क्या-क्या कहने लगे थे?

और आज यह कृष्ण अकस्मात कहने लगा था कि वही सब कुछ है। इस जगत का कर्ता धर्ता नियन्ता, नियामक सब कुछ। यहा तक कि परम पुरुष परमेश्वर भी।

तो कौन कृष्ण सही है वह जो उसका सम्बन्धी था, वह जो उसका सन्देश-वाहक था, वह जो जादूगर था अथवा वह जो उसका सारथि था या वह जो यह कह रहा है कि यहा जो कुछ है सब वही है, स्वयं वही है कि वह परमेश्वर है, परब्रह्म है। अगर उसे इस बात का पूरी तरह भान होता कि जिसे वह अपने अश्वो की वल्गा थमाने जा रहा है वह वस्तुत सम्पूर्ण जगत का सूत्रधार है तो भूलकर भी वह यह दुस्साहस करता? किन्तु गलती तो उसी की है। क्या उसने उस दिन वह विस्मय विमुग्धकारी घटना अपनी आखो नही देखी थी जिस दिन इसी के कारण पाच पाडवो की पत्नी पाचाली नग्न होने-होने बची थी? वस्त्रो अम्बरो का वह अम्बार? और उसी अम्बर के अनन्त अम्बार पर त्रस्त ध्वस्त पडा दुशासन? चीर को खीचते-खाचते उसका श्रान्त पडा भय-कम्पित गात? क्यो नही मिला ओर छोर, एक वस्त्रो पाचाली के परिधान का जो सहसा श्वेत से पीत और फिर कई रगो मे रग आया था? माना अनेक लोगो ने इसे इन्द्रजाल और जादू की सज्ञा दी पर अर्जुन की बुद्धि को क्या हो गया था? वह भी कैसे इस ऐन्द्रजालिक चमत्कार मान गया? उसी समय क्यो नही लग गया उसे कि है इस व्यक्ति मे कुछ? कि यह सामान्य नहा असामान्य है। कि और कुछ नही तो सकल्प सिद्धि है इसे? और दुर्वासा के कोप से बचाने वाली वह घटना? द्रौपदी के रधन-पात्र के एक शाक-पत्ते से ही सम्पूर्ण सष्टि को तप्त कर देनेवाली बात? किस तरह दुर्वासा और उनके सहस्र शिष्य आकण्ठ भर आये उदर पर हाथ फेरते भाग खडे हुए थे? वह भी या कोई इन्द्रजाल या जादू?

पर मन है कि अब भी मानता नही अर्जुन का। माना कृष्ण बहुत चमत्कारी है अद्भुत है उसकी सकल्प शक्ति पर वही सब कुछ है सर्वोपरि है, इस सष्टि का, कर्ता धर्ता, विधाता है यह कैसे मान ले वह? मात्र इसलिए कि इसे श्रीकृष्ण स्वय कह रहा है और श्रीकृष्ण मे मिथ्या-कथन की अपेक्षा नही की जा सकता?

हे महान बाहुओ वाले अर्जुन! अर्जुन अपने सोच मे मग्न ही था कि श्रीकृष्ण पुन शुरू हो गए तू मेरे वचन को फिर से सुन ले। यह परम वचन मैं

तुम्हारी प्रसन्नता और हितकामना के लिए ही कह रहा हू।

'सच बात तो यह है कि मेरी उत्पत्ति के रहस्य को कोई नही जानता है—न तो देवता, न तो ऋषि। इसका कारण है। मैं ही तो इन सभी देवताओ और ऋषियो का भी उत्पत्ति स्थल हू।

"जो मुझे अच्छी तरह जान पाता है अर्थात यह समझ लेता है कि मैं अजन्मा हू अनादि और सभी लोको का ईश्वर ही नही महेश्वर मालिक हू वह मनुष्यो मे सबमे बुद्धिमान है और वह सभी पापो से मुक्त हो जाता है।'

"मात्र इतना जान लेने से?" अर्जुन के शकालु मन ने प्रश्न किया।

"जानने का अर्थ मानना भी तो होगा। तब जैसा मैंने पहले कहा है वह अनन्य भाव से मेरी उपासना करेगा मात्र मेरा होकर रहेगा। तब तो उसे पापो से मुक्त होना ही है।" श्रीकृष्ण ने तर्क दिया।

"और समझ लो। प्राणियो के जो विभिन्न भाव है जैसे बुद्धि, ज्ञान मोह हीनता क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख दुख होना नही होना भय अभय, अहिंसा, समता, सन्तुष्टि तप, दान, यश, अपयश ये सब मुझसे ही उत्पन्न होते है।

"तुम जानते होगे कि सष्टि के आदि मे सात महर्षि और चार मनु हुए। इन्ही के द्वारा यह सारी मानवीय सष्टि उत्पन्न हुई। वे सातो महर्षि और चारो मनु मेरे ही मानस-पुत्रो की तरह हैं। इस तरह यह सम्पूर्ण सष्टि मेरी ही मानस-सष्टि है। मेरे ही सकल्प से प्रसूत है।

'जो कोई व्यक्ति इस भेद को—मेरी इस विभूति—विशेषता और ऐश्वर्य—को तथा मेरी इस योग शक्ति को ठीक से जान लेता है वही अविचल योग से युक्त हो जाता है, इसमे कोई सन्देह नही।

'मैं ही सबकी उत्पत्ति का कारण हू। मेरे कारण ही सभी चेष्टावान क्रिया वान है ऐसा मान कर बुद्धिमान लोग मुझे श्रद्धा और भक्ति से समन्वित होकर भजते हैं।

'मेरे भक्तो की विशेषता समझो अर्जुन, उनका चित्त मुझी मे लगा रहता है, उनके प्राण मुझी मे बसते है व परस्पर एक दूसरे को मेरा बोध कराते है मेरे सम्बन्ध मे ही बाते करते है और इस तरह मुझमे ही रमते और आनन्दित होते है।

'ऐसे जो लोग मुझसे सदा युक्त रहते है और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, मैं उन्हे बुद्धियोग प्रदान करता हू और वे मुझे ही प्राप्त होते हैं।

यह बुद्धियोग कर्मयोग से पृथक है क्या? अर्जुन ने पूछा।

'नही है। मैंने तो कर्मयोग की व्याख्या करते समय स्पष्ट ही कर दिया था कि कर्म को निष्काम भाव से निष्पादित करने के लिए बुद्धि के कौशल का सहारा लेना होता है इसीलिए कर्मयोग बुद्धियोग ही है। 'योग कर्मसु कौशलम' की बात तुम भूल गए?

नही भूला नही हू और यह भी नही भूला हू कि निष्काम कर्म अथवा कर्म योग ही इस लोक को साधता ही है यहा चिन्ता और बन्धन से मुक्त तो रखता ही है इस बन्धन मुक्ति के कारण वह कर्मयोगी को तुम तक पहुचा भी देता है।

"तब तो तुम्हारे समक्ष मेरी भक्ति का रहस्य भी एक बार पुन प्रकट ही हो गया कि मेरी भक्ति के फलस्वरूप बुद्धियोग अथवा कर्मयोग सदा ही सध जाता है?

"हा, हो तो गया। इतना तो स्पष्ट ही हो गया कि तुम्हारी भक्ति के बिना त्राण नही।" अर्जुन ने स्पष्ट किया।

"तो यह भी सुन लो ऐसे भक्तों की उपकार भावना से प्रेरित हो मैं उनकी आत्मा में ही बैठ प्रकाशमान ज्ञान दीप से उनके अज्ञान जनित अधकार को समाप्त करता हू।'

श्रीकृष्ण की इन बातो से अर्जुन के सोच को नया मोड मिला। श्रीकृष्ण के इस कथन ने उसे विशेष प्रभावित किया कि जो उनकी सारी विभूतियो से ठीक से परिचित हो जाता है वही अविचल योग को प्राप्त कर पाता है। योग अर्थात कर्म योग। इसी कर्मयोग की शिक्षा तो श्रीकृष्ण आरम्भ से ही देने का प्रयास कर रहे हैं। और यह भी सही है कि कर्म-योग का यह रहस्य अब तक पूरी तरह उसके पल्ले नही पड सका अथवा उसकी आस्था इसमें पूर्ण दृढ नही हो सकी। अब श्रीकृष्ण कह रहे है कि जो उनकी विभिन्न विभूतियो को ठीक से जान लेता है उसका योग अविचल हो जाता है अर्थात तब वह सम्पूर्ण भाव से योगारूढ हो जाता है—कर्मयोग का समर्पित साधक बन जाता है। तब तो एक ही यत्न है कि श्रीकृष्ण से ही उनकी इन सारी विभूतियो का परिचय प्राप्त किया जाय। अपनी कुछ विभूतियो का परिचय तो उन्होने पहले दिया भी है परन्तु लगता है वह पर्याप्त नही है। अर्जुन ने सोचा अब तक प्राय श्रीकृष्ण ही बोलते जा रहे है और वह कुछेक प्रश्नो प्रति प्रश्नो पर ध्यान केंद्रित करने के अलावा विशेष कुछ बोल नही पाया है। श्रीकृष्ण को शायद उसकी आस्था, पात्रता अथवा समर्पण भाव पर पूर्ण विश्वास जम नही पाया है इसी कारण उन्होने अपनी विशिष्ट विशेषताओ—विभूतियो—का पूर्ण वर्णन नहा किया है और उसने निश्चय किया कि अब वह बोलेगा और श्रीकृष्ण से प्रार्थना करेगा कि वह अपना पूर्ण भेद उस पर खोल दें, कि अब कुछ गोपनीय नही रहे उसके और उनके मध्य।

प्रार्थना की शक्ति से वह अवगत था। अगर उसने ठीक से श्रीकृष्ण से अनुरोध किया तो वह निश्चय ही अपनी असाधारण विशेषताओ को उसके समक्ष प्रकट कर देंगे और वह प्रार्थना रत हो गया—

'प्रभु ! आप परमब्रह्म हैं
परम धाम हैं
परम पवित्र आप शाश्वत पुरुष हैं
आप दिव्य हैं आदि देव अजन्मा
और सर्वव्यापी हैं आप।
सारे ऋषि चाहे वे नारद हो असित हो
अथवा हो देवल या व्यास
आपको इसी रूप में वर्णन करते हैं
और आप भी तो कहते है ऐसा ही।
हे केशव मैं उन सबको सत्य मानता हू
जो कुछ आपने कहा है
सही है कि आपके स्वरूप को
मनुष्य क्या, देवता और असुर तक
नही जानते हैं।

हे ! प्राणियो के पालक भूतभावन,
हे ! भूतेश, हे पुरुषोत्तम हे जगत्पत
हे ! देवो के भी देव
आप स्वय ही अपने को जानते है
आपके सिवा आपको और कौन
जान सकता है ?

अत आप ही कृपा कर मेरे समक्ष अपनी उन सारी दिव्य विभूतियो को प्रकट कीजिए जिनके द्वारा इन सभी लोको को व्याप्त कर अवस्थित हैं आप।

'हे योगेश्वर ! आप ही यह बताए कि ऐसा कौन यत्न है जिसके द्वारा मैं सदा आपकी ही चिन्तना करता हुआ जान सकू आपको।

"किन किन भावो से मेरे द्वारा आपका स्मरण किया जा सकता है। हे जनार्दन ! आप पुन विस्तार से कहिए—

अपनी विभूति को
योग को अपने
क्योकि आपके सुधा-सदृश
वचनो के श्रवण से
अभी तृप्त ही कहा हो
पाया हू मैं ?

श्रीकृष्ण को भी आश्चर्य हुआ। इतनी देर के वार्तालाप मे अर्जुन पहले-पहल पूरी तरह खुल पाया था और उसने अपनी आस्था भी उनमे व्यक्त की थी। उसकी पात्रता अब पूर्णतया सिद्ध हो गई थी और अब उसे वह अपनी विभिन्न विभूतियो अथवा ऐश्वर्य के ज्ञान से वचित नही रख सकते थे।

उसकी प्रार्थना को ध्यान मे रख उन्होने अपनी विभूतियो का वर्णन आरम्भ किया किन्तु उन्होने स्पष्ट कर दिया कि मैं अपनी दिव्य विभूतियो मे प्रधान प्रधान का ही वर्णन कर पाऊगा क्योकि उनके विस्तार का कोई अन्त नही है।

"सभी जीवो के हृदय मे स्थित
आत्मा मुझे ही जानो
तथा जीवो के आदि मध्य और अन्त
के रूप मे भी मुझे ही मानो।
देव माता अदिति के बारह पुत्रो मे प्रमुख
विष्णु हू मैं
और हू मैं किरणधारियो मे सूर्य।
वेदो मे सामवेद हू मैं
और देवो मे हू देवेन्द्र इन्द्र।
इन्द्रियो की बात करो तो मन हू मैं
और सभी प्राणियो की चेतना भी मैं ही हू।
रुद्रो मे शिव हू मैं तथा
यक्षो राक्षसो मे हू कुबेर।
वसुओ मे अग्नि हू मैं
और पर्वतो मे हू मेरु।

पुरोहितो का मुख्य पुरोहित बृहस्पति हूं मैं।
सेनाध्यक्षों में कार्तिकेय जानो मुझे
और जलाशयों में समझो समुद्र।
महर्षियों में भृगु हूं मैं
और वाणी में हूं एकाक्षर 'ॐ' कार।
यज्ञों में यज्ञ यज्ञ हूं तो
अचल वस्तुओं में हूं हिमालय।
सभी वृक्षों में प्रधान अश्वत्थ अर्थात
पीपल हूं मैं और देवर्षियों में हूं नारद।
गन्धर्वों में चित्ररथ हूं मैं
और सिद्धों में हूं कपिल मुनि।
घोड़ों में अमृत से उत्पन्न इन्द्र का अश्व उच्चैश्रवा हूं तो
हाथियों में हूं ऐरावत।
नरों में नराधिप हूं तो
आयुधों की बात करो तो वज्र हूं मैं
और धेनुओं में हूं कामधेनु।
प्रजनन स्वरूप कामदेव मैं हूं
और हूं सर्पों में वासुकि भी।
नागों मे शेषनाग हूं मैं
तो जलचरों में हूं जलदेव वरुण।
पितरों में अर्यमा हूं मैं जो
है एक वंश मृत्यु लोक का स्वामी।
संयम स्थापकों में यम हूं मैं
और दैत्यों में हूं प्रह्लाद।
गणना की विधियों की बात लो तो
स्वयं समय हूं मैं
और पशुओं में हूं मैं मृगेन्द्र सिंह।
पक्षियों में गरुड़ हूं तो
पवित्र करने वालों में हूं पवन।
शस्त्रधारियों में राम मानो मुझे
तो जलजीवों में मकर
और नदियों में गंगा।
सभी सृष्टियों का आदि मध्य और अन्त
मैं ही हूं।
तथा हूं विद्याओं में अध्यात्म विद्या
वाद विवाद में संलग्न लोगों का
तर्क हूं मैं
तो अक्षरों में हूं मैं अकार और
समासों में द्वन्द्व।
सभी दिशाओं में मुख वाला विश्वमुख मैं

इस सम्पूर्ण जगत् को
अपने एक अंश मात्र से धारण कर
स्थित हूँ मैं।

उनामी

मनुष्य की आकांक्षाओं की कोई सीमा नही। एक अभिलाषा पूरी होती है तो दूसरी सिर उठा लेती है। अर्जुन ने पहले तो श्रीकृष्ण की विभूतियों के विस्तार को ही जानना चाहा था पर जब इतनी सारी विस्मयकारी बातें वह सुन गया तो उसके मन में यह इच्छा स्वभावत जाग्रत हो आई कि श्रीकृष्ण के वास्तविक स्वरूप को भी देखा जाय। जो ऐसा ऐश्वर्यशाली है जो जगत को अपने एक अंश से ही व्याप्त कर उसका धारण ही नही भरण पोषण तक कर रहा है जो सम्पूर्ण श्री-सुषमा और सौन्दर्य-आकर्षण और ऊर्जा का एकमात्र केन्द्र है उसका वास्तविक स्वरूप कैसा होगा भला ?

अपनी इस अदम्य आकांक्षा की अभिव्यक्ति करने के पूर्व उसने एक छोटी सी भूमिका गढी और कहा हे अच्युत! मुझ पर अनुग्रह करके तुमने जो मुझे यह परम गोपनीय अध्यात्म संबंधी बात बताई उससे मेरा मोह समाप्त हो गया। हे कमल-नयन! मैंने तुमसे प्राणियों की उत्पत्ति और उनके विनाश की कथा सुनी और तुम्हारे अविनाशी माहात्म्य को भी सुना। इसमें कोई सन्देह नही कि तुम वैसे ही हो जैसा तुमने मुझे बताया पर हे ईश्वरों के भी ईश्वर परमेश्वर हे पुरुषोत्तम मैं तुम्हारे ऐश्वर्यशाली रूप को प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ। यदि तुम यह मानते हो कि मैं तुम्हारे उस रूप को देखने में समर्थ हूँ तो हे योगेश्वर! तुम अपने उस अविनाशी स्वरूप को मुझे अवश्य दिखलाओ।

अर्जुन की यह प्रार्थना सुनकर श्रीकृष्ण कुछ चकराये। अर्जुन के लिए क्या अपनी इन आँखों से उनका नैसर्गिक रूप देखना सम्भव था। और यदि वह अपना वह रूप उस पर प्रकट नही करते हैं तो क्या उस सब पर जो उन्होंने अब तक कहा है वह आसानी से विश्वास कर लेगा? लगता तो यही है कि उनकी बातों पर उसकी पूर्ण आस्था अभी जमी नही है। नही तो वह उन्हें अपने ऐश्वर्य अपनी विभूतियों को सिद्ध करने अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने की बात करता ही क्यों? उन्हें पहले भी लगा था कि कुछ विशेष ही करना पडेगा अर्जुन को अपनी बातों पर विश्वास दिलाने के लिए और श्रीकृष्ण को अब पूरी तरह लग गया कि वह समय आ गया है। अब उस घडी को टाला नही जा सकता और उन्होंने मन ही मन निर्णय ले लिया कि अर्जुन पर अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट कर ही देना है।

श्रीकृष्ण पूरी तरह आवेश में आ गए और अपनी सम्पूर्ण संकल्प शक्ति का आह्वान करते हुए अर्जुन से बोले— पार्थ अब तुम मेरे सैकडों और सहस्रों रूपों को देखो। नाना प्रकार के इन दिव्य रूपों वर्णों और आकृतियों को देखो। मेरे भीतर ही तुम आदित्यों वसुओं रुद्रों और अश्विनी-कुमारों तथा मरुतों को भी देखो।

अब तक अपने द्वारा नहीं देखे गए, अनेक आश्चर्यों को तुम देखो। आज मेरी इसी देह में तुम चराचर जगत को एक साथ एकत्रित देखो। इसके अलावा जो कुछ और भी देखना चाहो उसे भी देखो। किन्तु अपनी इन आखों से तुम मुझे देख नहीं पाओगे, अतः मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान करता हूँ जिसके द्वारा तुम मेरे योग और ऐश्वर्य को देख सको।

अब कुछ छिपाना भी कहां था? अर्जुन की अब तक की मुखाकृति से उन्हें लग गया था कि उस उनकी बातों के प्रति उत्सुकता चाहे जितनी जगी हो और उस पर बहुत हद तक विश्वास भी चाहे जो हुआ हो पर वह अब तक ऐसी स्थिति में नहीं आया था कि वह उन्हें क्रियान्वित भी कर सके। वह मुह से चाहे उन्हें जो भगवान या परमेश्वर या परब्रह्म मानने लगा हो पर उसके अन्तर के किसी कोने में कहीं यह भाव अवश्य बैठा हुआ था कि सामान्य मनुष्य सा प्रतीत होने वाला यह व्यक्ति सचमुच असख्य दिव्य गुणों से सम्पन्न साक्षात ईश्वर हो सकता है क्या? मगर इतने समय के श्रम को व्यर्थ नहीं जाना था और अर्जुन को पूरे मन से युद्ध में उतारना था तो वह अब करना ही था जिसे उन्होंने अब तक घटने में रोक रखा था।

उन्हें अपनी शक्तियों का पता था। गुरु सान्दीपनि के यहां विद्याध्ययन के काल ही उन्हें योगाभ्यास के लिए जो विशेष अवकाश उपलब्ध हुआ था उसी काल उनमें यौगिक शक्तियां अद्भुत रूप में जग आई थीं और उन्हें विश्वास हो गया था कि सृष्टि में जो कुछ है वह मानव शरीर के अन्दर भी है, कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड में कोई अन्तर नहीं। इस धारणा के बाद उन्होंने अपनी यौगिक साधनाओं को नियमित कर लिया था और एक समय के पश्चात उनका विश्वास दृढ़ हो गया था कि इन साधनाओं ने उन्हें सामान्य से असामान्य, लौकिक से पारलौकिक और शायद नर से नारायण ही बना दिया था। हर स्थान में हर वस्तु हर प्राणी—मनुष्य, पशु पक्षी यहां तक कीट पतंग सबमें—सूर्य चांद और मेघ गर्जन तथा तड़ित विनाश में भी उन्हें अपना ही स्वरूप दिखाई पड़ने लगा था। यौगिक क्रियाओं के नित्य सम्पादन ने उनकी सकल्प शक्ति को इतना जाग्रत कर दिया था कि वे जो कुछ सोचते थे वह साकार हो उठता था। इसकी प्रथम परीक्षा हुई थी द्रौपदी के चीर हरण के समय। उन्होंने चाहा था—द्रौपदी की लाज रह जाय, चित्र विचित्र वस्त्रों का अम्बार लग जाय और वह लग गया था। उसी काल से उन्हें अपने सकल्प-बल में अटल विश्वास जग आया था और यही कारण था कि उन्होंने अपने सबध में इतनी सारी बातें अर्जुन से कह डाली थीं। साधना से सब कुछ सभव था यह उन्हें तब भी लगा था जब उन्होंने छोटी उम्र में ही शरीर साधना द्वारा कालिय नाग को नाथ डाला था और कस और उसके हाथी के लिए भी भारी पड़े थे। छोड़ी उन्होंने कुछ नहीं थी न तो शरीर साधना न आध्यात्मिक। पर काल क्रम से यह आध्यात्मिक यौगिक साधना कुछ अधिक ही तीव्रता पकड़ती गई थी और परिणाम अब उनके सामने था। गुरु सान्दीपनि ने कहा था—विश्वास ही सब कुछ है। विश्वास के साथ यदि रूई को पर्वत में परिवर्तित करने की बात सोच ली तो क्षण नहीं लगने को था पत्थर का पहाड़ खड़ा होने में। और उन्होंने साधा था विश्वास को जाग्रत हो आया था उनका सकल्प-बल और उसकी परीक्षा का भी समय आ गया था। आज वह यह सिद्ध ही कर देंगे कि यौगिक-साधना

सम्पन्न व्यक्ति और जगत नियामक मे कोई अन्तर नही होता कि एक ही साथ वह सृष्ट भी होता है और स्रष्टा भी, कि नर म नारायण बन आना कुछ कठिन नही था कि सष्टि क अणु परमाणु तक म वही सब था जो सूय चद्र पथ्वी सागर और आकाश के अनन्त विस्तार म स्थित अनेकानेक ब्रह्माडा और लोको म निहित था। कि सबका निर्माण-स्थान एक ही था और बाह्य रूप का कोई अथ नही था। एक स्वरूप का दूसरे म परिवतन उतना ही आसान था जसे कुम्भकार द्वारा मिट्टी के घडे को नष्ट कर फिर उसी मतिका मे मिट्टी के अय सामान कटोरे गिलास अथवा खिलौने—बना डालना। स्रोत एक ही थी मिट्टी स्वरूप थ भिन भिन।

श्रीकृष्ण न अब विलम्ब करना उचित नही समझा। पर्याप्त बहुमूल्य समय पहले ही निकल गया था। उन्होने अपने सकल्प-बल को साधा और जिस स्वरूप की उन्होने इच्छा की वही अजन क समक्ष उपस्थित हो गया। उन्होने अपनी इसी इच्छा शक्ति से अजुन के साधारण नेत्रा म असाधारण शक्ति ता भर ही दी साथ ही अय लोगा के लिए अपने इस अदभुत रूप को अदश्य कर दिया।

अजुन का आखें फटी तो फटी रह गइ। अभी-अभी जा सारथि बना उसक रथ के अग्र भाग पर आसीन था वह उससे नीचे उतरा था देखत देखते उसका आकार बढने लगा था और क्षण नही लगा था कि वह गगन व्यापी हो गया था। विचित्र विस्तार हुआ था उसका। लगता था आस पास के पेड-पौधे सनिक सेना पति आदि सब विलुप्त हो गए थे और वहा जा कुछ था वह एक व्यक्ति का विस्तार मात्र भर था। श्रीकृष्ण ने अनक बार अपन सम्भाषण म अपन को विश्व मुख कहा था और यहा तो वे *सचमुच के विश्व मुख अनन्त मुख हो गए थे।* एक सिर क स्थान म अनगिनत सिर दो हाथा के स्थान म अनन्त हाथ एक पेट के स्थान पर अनक पट सब कुछ असख्य अनन्त अगणित। उसन सुना था यह ब्रह्माड अनन्त है इसम इस दृष्टिगम्य सूय पथ्वी और चद्र के अलावा ऐस अनेक सूय, चाद और धरती हैं और यहा तो वह यह सब प्रत्यक्ष देख रहा था वह भी एक ही व्यक्ति म केद्रित। सब कुछ उसी से निकलता उसी म प्रविष्ट करता। कहा देख पाती थी उसकी आखें दिव्य होन क बाद भी इस सबका एक साथ। अनेकानेक प्रकाशमान दिव्य आभूषणा परिधाना स युक्त इस दिव्य स्वरूप का सब कुछ दिव्य ही तो था। दिव्य पुष्प माला ओ से वह सुसज्जित था उसम निस्सत दिव्य गध से दिशाए व्याप्त थी दिव्य द्रव्य भ वह विशाल विश्वमुखी तन उप लिप्त था और अनेकानेक दिव्यातिदिव्य अस्त्र शस्त्र उसम प्रयोग हेतु उद्यत और सन्नद्ध थे।

और वह प्रकाश? यह सब कुछ प्रकाश म ही बना था क्या? उस विशाल वपु और उसक अस्त्र शस्त्र आभूषण और आयुध स फूटत प्रकाश स अजुन की सामान्य आखें तो कभी की चौंधिया गई रहती। उस प्रकाश की तुलना वह किससे कर? उस लगा यदि आकाश म एक साथ सहस्र सूय उदित हो आए और उनसे जितना प्रकाश फूटे उसस भी कई गुना अधिक था श्रीकृष्ण के परिवर्तित स्वरूप स फूटता यह अदभुत अलौकिक प्रकाश। और यह सब क्या है? ये विकराल दाढ ये लपलपाती जिह्वाए ये आग उगलती आख ये विशाल विकराल दत ये कदराओ की तरह खुले खूखार से दिखत मुख द्वार और इनम प्रवेश करत ये सारे योद्धा सनापति सनानी, कृप, द्रोण, कण सभी? क्या हो रहा है यह सब? प्रलय ही

उपस्थित हो गया क्या कुरुक्षेत्र की इस धरती पर ? और धरती भी क्या कहे वह ? कहा रही धरती यहा ? कहा है आकाश ? किधर है क्षितिज ? सर्वत्र तो बस एक विशाल, ददीप्यमान वपु ही फैला पड़ा है जिसका न आदि है न अनन्त। और ये सब हाथ जोडे इसके इर्द गिर्द कौन खड़े है ? देवता, महर्षि, सिद्ध ! ये सब भी उसी की तरह डर गए है क्या ? नहीं, ये हाथ वाले स्तुति क्यो कर रहे है ? क्या सचमुच श्रीकृष्ण का यह विकराल रूप सब कुछ को स्वाहा कर जायगा ? उसे भी ? और अर्जुन भयग्रस्त हो आया। शरीर के रोम रोम कापने लगे। नहीं वह अब बहुत नहीं देख सकता था इस स्वरूप को। अब यह बताने की आवश्यकता नही कि जिसे वह अब तक एक सारथि के रूप में एक सखा के रूप मे, एक नर के रूप में देखता सुनता आ रहा था वह वैसा कुछ नहीं था। वह इन सबसे भिन्न एक अकल्पनीय अवर्णनीय, अचिन्तनीय शक्ति था। वह सचमुच ब्रह्म था। नहीं, परमब्रह्म था। वह अब तक जो कुछ कह रहा था वही सब था वह। पर जो अब तक इतना सौम्य इतना मधुर और प्रिय था वह अकस्मात ऐसा दुर्धर्ष सहारक और भयावह क्यो हो जाया था ? यह सृष्टि का दृश्य था या प्रलय का ? सच, शायद वह जो अब तक श्रीकृष्ण था उसका सखा और सारथि था उसके अन्दर के सशय ग्रस्त विश्वास को पलट गया था और इसी कारण इसने अपने इस प्रचड रूप को प्रकट किया था। नहीं नहीं अब एक क्षण भी वह यह सब नहीं देख सकता था। और वह जो कुछ देख पा रहा था इसी को अपनी स्तुतियो मे पिरो प्रार्थना रत हो आया था। भय से रक्त हीन हो आये शरीर के हाथ अकस्मात जुड गए थे और अभ्यर्थना के शब्द धारा प्रवाह मुखरित होठो से फूट पडे थे—

हे देव ! तुम्हारे इस शरीर मे ही
मै सभी देवताओ और
प्राणियो के विशेष समूहो को देख रहा हू।
ब्रह्मा को भी देख रहा हू शकर को भी
और कमल पर आसीन विष्णु को भी।
सभी ऋषियो और सभी दिव्य सर्पों
को भी तुम्ही मे अवस्थित कर रहा हू मैं।
अनेक भुजाओ अनेक उदरो और अनेक नेत्रो
और अनेक मुखो वाले आप अनन्त रूप को
मै यहा-वहा सर्वत्र देख रहा हू।
हे स्वामिन ! आपके इस रूप के न आदि का पता
लग रहा है न मध्य का न अन्त का।
मुकुटो गदाओ और चक्रो से युक्त
सभी दिशाओ को प्रकाशित करने वाले
प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के तेज की
तरह आप प्रकाशपुज
को मै सर्वत्र ही व्याप्त पा रहा हू।
आप अजेय के इस तेजोमान
रूप पर आखें भी कहा ठहर पाती है ?
कभी क्षय को नहीं प्राप्त होने वाले

और परम ज्ञेय आप ही इस विश्व के
परम आश्रय हैं।
आप अव्यय हैं धर्म के शाश्वत रक्षक
आप ही सनातन पुरुष हैं।
आदि, मध्य और अन्त से रहित
आप अनन्त शक्तिशाली के
अनन्त बाहु और सूर्य चन्द्र के रूप में
अनन्त नेत्र हैं।
प्रज्वलित अग्नि के सदृश मुख वाले आपको मैं
अपने तेज से सम्पूर्ण विश्व को
तपाते हुए देख रहा हूं।
हे महात्मन ! आकाश और पृथ्वी
के मध्य का यह अन्तराल तथा
सभी दिशाएं एक आप ही के द्वारा
व्याप्त हैं।
तथा आपके इस अद्भुत उग्र रूप को देखकर
तीनों लोक व्यथित हो रहे हैं।
ये देवताओं के समूह आप में ही
प्रवेश कर रहे हैं।
इनमें से कुछ तो भयभीत हो हाथ जोड़
आपकी स्तुति कर रहे हैं और
महर्षि और सिद्धों के संघ
स्वस्ति स्वस्ति कह अनेक
स्तुतियों से आपकी प्रार्थना कर रहे हैं।
हे प्रभु ! सभी तो आपके इस रूप को देखकर
विस्मित हुए जा रहे हैं
चाहे वे रुद्र हों बारह आदित्य हों
आठों वसु हों साध्यगण हों विश्वेदेव हों
मरुद्गण हों पितर हों अथवा
गन्धर्व, यक्ष असुर और सिद्धों के समुदाय हों।
हे महाबाहो ! आपके इस अनेक बाहुओं मुखों नेत्रों जंघाओं
उदरों विकराल दाढ़ों और पैरों वाले इस महान रूप को देखकर
मैं तथा सभी लोक व्यथित हुए जा रहे हैं।
हे विष्णो ! व्योमस्पर्शी आपके अनेक वर्ण वाले
खुले मुखवाले और प्रज्वलित नेत्रों वाले
इस रूप को देखकर
व्यथित अन्तरात्मा वाला मैं
न तो धैर्य धारण कर पाता हूं
न शान्ति ही प्राप्त कर पाता।
हे जगन्निवास ! अब आप प्रसन्न हो जाइए

कालानल के सदृश भयानक जबड़ों वाले
आपके मुखों को देखकर मुझे तो
दिशाओं का ज्ञान भी भूल गया है
और मेरा सुख भी समाप्त हो गया है।
देख रहा हूँ मैं कि धृतराष्ट्र के सारे पुत्र
राजाओं के सम्पूर्ण समूह तथा भीष्म द्रोण—
और कर्ण तथा हमारे पक्ष के भी प्रमुख योद्धाओं के साथ
आपके मुख में ही तेजी से प्रवेश करते जा रहे हैं।
इनमें से कुछ तो चूर्ण हुए सिरों के साथ
आपके दाँतों में ही फँसे पड़े हैं।
जिस प्रकार सागर की ओर
दौड़ते हैं नदियों के असंख्य वेगवान प्रवाह
उसी तरह अग्नि की लपटों में भरे आपके मुखों की ओर
दौड़ते प्रवेश करते चले जा रहे हैं
नरलोक के ये सभी योद्धा।
जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि पर अपने विनाश हेतु ही
झपटते हैं पतंग
उसी प्रकार ये सभी अतिवेग से
अपने नाश-हेतु ही आपके मुखों में
प्रवेश करते चले जा रहे हैं।
हे विष्णो! आप अपने धधकते मुखों से
सभी लोकों को निगलते हुए
जीभ चटकार रहे हैं
और आपका यह प्रचंड प्रकाश
सम्पूर्ण जगत को आपके तेज में आपूर्ण कर
उसे तपाये जा रहा है।
हे देववर! आप प्रसन्न होइए
और बताइए कि उग्ररूप वाले
आप हैं कौन?
आप आदि-पुरुष को मैं जानने की इच्छा रखता हूँ
और यह भी कि आपकी इस प्रवृत्ति का
लक्ष्य क्या है? कहाँ ले जाएगा आपका यह रूप
इस जगत को?

श्रीकृष्ण अर्जुन की इस प्रार्थना से प्रसन्न हुए। उन्हें लग गया कि अर्जुन अब उनके यथार्थ स्वरूप को पूर्णतया पहचानने में सक्षम हो गया है। भय से विस्फारित उसके नेत्रों ने उनके अंदर करुणा का संचार किया और उनका मन हुआ कि वे अपने इस ब्रह्माण्ड व्यापी भयानक रूप को समेट लें पर उन्होंने ऐसा किया नहीं। अर्जुन की आस्था को और भी प्रगाढ़ करना आवश्यक था। उसने उनकी स्तुति अवश्य की थी पर उसमें निवेदन और समर्पण की अपेक्षा भय का भाव ही अधिक था। उसने यह प्रश्न भी पूछा था कि आखिर उनके इस स्वरूप धारण का लक्ष्य क्या

था ? पहले उसके प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक था इसके बाद पुन उसकी प्रति क्रिया की प्रतीक्षा करनी थी। जब तक पूर्ण समपण भाव से वह उनका शरणागत नही होता तब तक उन्हे अपना प्रयास अधूरा ही लगता। अजुन के अहकार को भी पूरी तरह नष्ट करना था अत उन्होंने उसके प्रश्न के उत्तर म स्पष्ट शब्दों म कहा, "लोकों के विनाश के लिए वद्धमान काल ही हू मैं। सभी लोकों का विनष्ट करने हेतु ही मैं प्रवत्त हुआ ह। मत समझो कि तुम्हारे मारे ही ये प्रतिपक्षी योद्धा मरेंगे। तुम्हारे बिना भी ये सभी योद्धा जो सामने की सना म भरे पडे ह बिना मरे नही रहने को। इसलिए उठो शत्रुओं को विजित कर यशस्वी बनो और समृद्ध राज्य का भोग करो। मेरे द्वारा तो ये सभी पहले ही मारे जा चुके हैं, अत हे सव्यसाची अजुन ! तुमको तो केवल इनकी मत्यु का निमित्त मात्र बनना है।

भीष्म, द्रोण, कण जयद्रथ तथा और बहुत सारे योद्धा मेरे द्वारा मारे ही जा चुके है तुम भयरहित होकर इनका सहार करो। युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाओ तुम। इस सग्राम म तुम अपने शत्रुओं को जीतन जा रहे हो इसम सन्देह नही।

श्रीकृष्ण के इस कथन का अजुन पर स्पष्ट प्रभाव पडा। युद्ध म अपनी विजय की सुनिश्चितता की बात इस विराट स्वरूप वाले विश्व रूप कृष्ण के मुख स सुन कर वह गद्गद हो आया और यद्यपि भय से उसका शरीर अब भी काप रहा था फिर भी हाथ जोड कर बार-बार नमस्कार निवेदित कर उसने पुन उनकी प्राथना आरम्भ की। पर इस प्राथना म अब भय का भाव कम था। श्रीकृष्ण तो कह ही चुके थे कि भय मत करो, अत उसने प्रसन्न मन स उनका कीर्तिगान आरम्भ किया—

हे हृषीकेश ! यह सवथा उपयुक्त ही है
कि आपके कीतन स
यह जगत प्रसन्न और आनन्दित होता है।
भयभीत राक्षस दिशाओं म भाग खडे होते हैं
और सिद्धो के समूह आपको नमस्कार करते ह।
हे महात्मन !
क्स नही आपको सभी नमस्कार करें
क्योंकि आप तो सष्टिकर्ता ब्रह्मा के भी
आदिकर्ता है ?
हे अनन्त हे जगन्निवास हे देवेश
आप अक्षर अर्थात अविनाशी है
आप सत है आप ही असत है
और सत् तथा असत स पर जो कुछ है
वह भी आप ही हैं।
आप आदिदेव हैं आप पुरातन पुरुष हैं
आप ही इस विश्व के परम आश्रय हैं
आप ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी
आप परम धाम है और अनन्तरूप वाले
आप स ही यह सब कुछ व्याप्त है।
आप ही पवन ह, यम हैं अग्नि है

वरुण और चन्द्र है
आप प्रजापति है, और पिताओ के पिता के भी पिता,
प्रपितामह है।
आपको हजार बार नमस्कार है, बार-बार नमस्कार है।
हे अनन्त वीर्य और अतिविक्रमशाली
आपको आगे से नमस्कार है, आपको पीछे से नमस्कार है।
हे सर्वरूप! आपको सब ओर से नमस्कार है।
आप सब कुछ को व्याप्त किए हुए हैं,
अत आप ही सब कुछ है।

अर्जुन को इसी समय स्मरण आया कि उसने कई बार तो उन्हे नाम ले-लेकर पुकारा है। अनेक बार परिहास भी किया है। यह सब क्या उचित था उसके लिए? अत उसने विनम्र होकर निवेदन किया—

आपको सखा मानकर जो मैंने हठपूर्वक
कभी हे कृष्ण! हे यादव! हे सखा आदि कहा
वह आपकी इस महिमा को नही जानने के कारण ही था
अथवा मेरे प्रमाद अथवा प्रेम-वश ही।
हे अच्युत!
जो कुछ भी आपके प्रति
परिहास का भाव प्रदर्शित हुआ
चाहे वह विहार के समय हो अथवा शयन के समय
बैठते उठते अथवा खाते पीते
अकेले मे हुआ हो अथवा अन्यो के समक्ष
मैं उस सबके लिए आप अचिन्त्य प्रभाव वाले से
क्षमा मांगता हू।
आप चराचर जगत के पिता है
और इसके पूज्य और श्रेष्ठ गुरु है।
आपके सदृश तीनो लोको मे भी कोई अन्य नही है,
आपसे अधिक प्रभाव वाले होने का तो प्रश्न ही नही उठता
हे अनन्त प्रभाव वाले!
इसीलिए आपको प्रणाम करके और
आपके समक्ष प्रणिपात कर अपने शरीर
को आपके चरणो मे बिछाकर
मैं आप स्तुतियोग्य ईश्वर से
कृपा की भिक्षा मांगता हू
पिता जैसे पुत्र के,
सखा जैसे सखा के
व्यवहार को सहन करते है
वैसे आप मेरे प्रिय मेरे कल्याणार्थ
मेरे भी व्यवहार को सहन करें।
हे देव, हे देवेश, हे जगन्निवास!

आपने कभी न देख इस रूप को देखकर
मैं हर्षित तो हो रहा हू,
पर भय स मरा मन व्यथित भी हो रहा है
इसलिए आप अपन पूव रूप का ही फिर दिखाइए।
आप मुझ पर कृपा कीजिए।
ह हजार बाहुओ वाल ह विश्वमूर्ति
आपको मैं मुकुट धारण किए हुए
हाथो म गदा और चक्र धारण किए हुए
चतुभुज रूप म ही दखना चाहता हू ।

विनम्र भाव स की गई अजुन की इस स्तुति स श्रीकृष्ण वस्तुत पुलकित हुए और उन्ह अजुन क पूण समपण म कोई शका नहा रहा।

उन्हान स्पष्ट रूप म कहा ह अजुन ! मैंन तुम पर प्रसन्न होकर ही अपन आत्मयाग क बल स तुम्हे यह परम रूप दिखाया है। यह मरा तजामय विश्वरूप अनन्त और आदि ह। तुम्हार सिवा इस पहल किसी और न नहीं दखा। ह गुरु श्रेष्ठ ! इस लाक म मरा यह रूप तर सिवा किसी और क द्वारा न ता वदाध्ययन स, न यज्ञ स न दान स, न किन्ही अन्य क्रियाओ स, न उग्र तपस्याओ स ही दखा जा सकता है।

एसा कहकर श्रीकृष्ण न अपन का पूव रूप म लान का सकल्प किया और अजुन का सम्बाधित कर कहा — मर इस भयावह रूप का दखकर तुम व्यथित नहीं होओ और न किंकत्त यविमूढ ही बनो। तुम भय का त्याग दो और प्रसन्न मन स पुन मरे उसी रूप क दशन करो।

अजुन स एसा कहकर महात्मा श्रीकृष्ण न पुन अपन वास्तविक रूप को दिखाया। अपने सौम्य रूप को धारण कर उन्हान भयग्रस्त अजुन को आश्वस्त किया।

श्रीकृष्ण क परिवर्तित रूप को दखकर अजुन की जान म जान आई और उसन कहा, जनादन तुम्हार इस सौम्य मनुष्य रूप का दखकर मरा चित्त अब स्थिर हो *गया है और मैं अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो गया हू।*

अजुन की यह बात सुनकर श्रीकृष्ण न उस पुन स्पष्ट बताया कि मर जिस रूप का तू अब दशन कर रहा है उसका दशन अत्यन्त कठिन है, दवता भी सदा इस दखन का इच्छुक रहत है।

मर इस रूप को जिसका तुम दशन कर रह हो न तो वदो स न तपस्या स न दान स, न पूजा स दखा जा सकता है।

श्रीकृष्ण न यहा पुन भक्ति के महत्त्व का प्रतिपादित किया और कहा कि अनन्य भक्ति स ही मरा एसा दशन, मुझस सम्बधित एसा ज्ञान तथा तत्त्वपूवक मुझम प्रवेश सभव है।

श्रीकृष्ण न पुन अपनी उसी भाषा म कि मर मन वाल बना मर भक्त बना, मर परायण बनो एक बार पुन स्पष्ट किया जिसस उनक प्रति अजुन का भक्ति भाव दृढ हो जाय— जो मर लिए ही कम करता ह जो पूरी तरह मरा है, मरा भक्त है तथा सगदाष स रहित है और सभी जावा क प्रति निर्वैर भाव रखता है, वह निस्सदेह मुझे ही प्राप्त करता है।

श्रीकृष्ण ने अपना प्रलयंकर रूप समेट लिया था पर अर्जुन की आखों के सामने वह दृश्य बार-बार साकार हो जाता था। यद्यपि अपने प्रलयकारी रूप के पश्चात उन्होंने उसे अपना सौम्य, शंख चक्र गदाधारी स्वरूप भी दिखाया था किन्तु प्रथम रूप की भयावहता मन से मिट नहीं पा रही थी। उसे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि श्रीकृष्ण का एक ऐसा भी रूप हो सकता था—दिग्दिगन्तव्यापी, अनन्त, अछोर आक्षितिज। उस पर प्रलयाग्नि के सदृश, मुखों की दहकती अग्नि, विशाल अंगारों की तरह लाल रक्तवर्णी आखें, तीक्ष्ण तलवारों की तरह लपलपाती जिह्वाएं और गिरि गह्वर की तरह खुले, आग भरे मुखों में प्रवेश करते सभी योद्धा वीर रथी अतिरथी, महारथी सभी। भीष्म, द्रोण, कृप तथा कर्ण के सदृश पराक्रमी लोग? यह सब क्या भूलने की बात थी? और यह सब भूल भी जाया जाय तो वह सहस्र सूर्यों का प्रकाश? वह असंख्य सूर्य चन्द्रों और अनेकानेक लोकों को उसी विशाल स्वरूप से निकल निकल पुनः उसी में विलीन होना? वह कांपते, हाथ बांधे देवों, ऋषियों और सिद्ध-साधकों का आत गान? कैसे भूल पाये वह इस सबको? पर मानना पड़ेगा उसे कि श्रीकृष्ण वह नहीं हैं जो दिखते हैं अर्जुन ने सोचा। यह सब भूलने का तो एक ही उपाय है और वह है सर्वतोभावेन उनकी भक्ति। वह बार-बार कहते भी आये थे—मेरे बनो, मेरी शरण में आओ, मेरे परायण बनो, मैं तुम्हारे योग-क्षेम का वहन करूंगा पर इस सबका प्रभाव भी उस पर कितना पड़ता था? पर अब? अब तो जैसे सब कुछ भूलकर वह श्रीकृष्ण का ही हो गया है। अब कहां का सखा, सारथि और सम्बन्धी? अब तो मात्र भगवान हैं वे, उसके आराध्य। सच, बिना भय के भक्ति भी नहीं उमड़ती न? नहीं तो, अब जैसे वह भीतर और बाहर दोनों से श्रीकृष्णमय, भगवानमय हो रहा है, पहले वैसा कहां था?

नहीं अस्थायी नहीं है यह सब, अर्जुन ने सोचा। अब हो गया है वह पूरी तरह शंख-गदा के लिए उनका ही। जैसे वह अदृश्यपूर्व रूप नहीं भूला जा सकता वैसे ही अब श्रीकृष्ण को भूलना कठिन है। क्या गोपियों के प्रेम का यही भेद था? उन्होंने भी क्या इनका यही रूप देखा था? एक क्षण को अर्जुन के मन में आया, और वह वृषभानु-सुता राधा? वह तो सुना श्रीकृष्ण प्रेम में पागल ही हो गई है। कहने वाले कहते हैं वृन्दावन की वीथियों में वह बावरी-सी डोलती रहती है। सदा कृष्ण! कृष्ण! ही पुकारती रहती है। यह भक्ति है या प्रेम? क्या मात्र प्रेम इतने दिनों तक जीवित रह सकता है? सामान्य प्रेम? शरीर के प्रति शरीर का आकर्षण? नहीं अर्जुन के मन ने तर्क किया, राधा प्रेम नहीं करती श्रीकृष्ण से। वह भी इनकी भक्ति ही करती है। पर क्या? क्या? क्या? गलत है कि उन्होंने भय से बांधा होगा उसे। उस समय श्रीकृष्ण थे भी कहां? वे तो मात्र कन्हैया थे नन्दलाल। उस समय क्या दिखाया होगा उन्होंने अपना यह भयावह विश्वरूप? और दिखाया भी होता तो उसे देखकर जीवित भी रह पाती क्या वे गोपबालाएं वह सबसे अधिक कोमल वृषभानु सुता? तब क्या किया था इन्होंने उस समय? कौन सा जादू चलाया था इन किशोरियों पर कि सभी मन प्राण से न्योछावर हो गई थीं इन पर? क्या किया था इन्होंने राधा का मन जीतने के

लिए कि आज तक वह इन्ही का होकर तपती रही है? क्या होगा वह कुछ भी? या होगा आरम्भ से ही इनमे अदम्य आकर्षण। आखिर कैसा सौम्य, मोहक चतुर्भुज रूप दिखाया इन्होंने अपने उग्र भयावह स्वरूप के पश्चात। कौन कह सकता है कि उनके उसी रूप ने अधिक नही जीता हो अर्जुन के मन को और उमड पड़ा हो यह कभी न शेष होने वाला भक्ति भाव?

जो हो अर्जुन का चिंतन जारी था, श्रीकृष्ण के सौम्य रूप पर ही रीझी होगी राधा और उसकी सखियां। उस समय तो यह सुदर्शन चक्र भी नहीं आ पाया था इनके हाथों मे। बांसुरी पड़ी रहती थी हाथ मे और मुकुट के स्थान पर मोर पिच्छ ही शोभता था सिर पर। कृष्ण कहो कन्हैया पर मरमिटी थी ब्रजांगनाएं और कुछ ऐसी लुटी इन पर कि आज तक अपने मे नही लौटी। कहां टूटती है एक क्षण को भी वृंदावन से इनकी वह रास-संगिनी राधा? अब भी आशा का दीपक जलाए बैठी है वह स्नेही आशा मे। कहां से है यह सामान्य सांसारिक प्रेम? नैसर्गिक, अलौकिक ही है यह आकर्षण कि नही? भक्ति ही है यह भी। नही है यह प्रेम। और कैसे है यह श्रीकृष्ण कि कभी भूलकर भी नाम नही लाते राधा का अपनी जिह्वा पर? अकेले मे भले लाते हों पर उसके समक्ष तो कभी गलती से भी नही उच्चारण किया इन्होंने राधा के नाम को? क्या वे पूरी तरह भूल गए उसे? नही ऐसा नहीं हो सकता। जो इन पर मरमिटी उसको वे अपने मन से निकाल फेंके ऐसा हो कैसे सकता है? अवश्य ही जैसे कोई अकिंचन अपनी मूल्यवान मणि को गुदड़ी मे छिपाकर रखता है उसी तरह इन्होंने भी अपने अंतर के किसी गोपनीय कोने मे सजा रखा होगा राधा की स्मृति को। सब कुछ को तो जिह्वा पर ही नहीं लाया जा सकता? कौन ठिकाना वे समझते हों कि जीभ पर चढ़ते ही राधा का नाम अपवित्र हो जाय। भले ही राधा का तन वृंदावन की गलियों की धूलि मे सन धूमिल हो रहा हो पर वे उसके प्रेम नही नही उसकी भक्ति को अपनी स्वीकारोक्ति प्रदान कर उसके महत्त्व को कम नही करना चाहते।

कहां भटक गया वह अर्जुन ने सोचा। कहां तो वह अपनी भक्ति की बात सोच रहा था और कहां भटक गया गोकुल और वृन्दावन की गलियों मे गोपियों के भक्ति भाव को आंकने। क्या किया उन्होंने किशोर कन्हैया से प्रेम अथवा क्यों पड़ी वे उसकी अनन्य भक्ति मे, इसका उत्तर तो वे ही जाने। अभी तो उसके समक्ष अपनी ही समस्या है, उसी का समाधान खोजना है उसे। भक्ति तो वह करेगा ही श्रीकृष्ण की। करेगा क्या करने ही लगा है पूरी तरह। अब रोके भी कहां रुकना है इस प्रवाह को। पर उसकी समस्या अभी दूसरी है। श्रीकृष्ण के व्यक्त रूप बल्कि रूपों को वह देख चुका है। व्यक्ति श्रीकृष्ण को तो वह देखता ही आया है प्रथम मिलन के पश्चात से ही उनके दो अदभुत रूपों को भी आज देखा— एक भयंकर बहुभुज और एक सौम्य चतुर्भुज। उनका अव्यक्त रूप भी है एक वह जानता है। श्रीकृष्ण जब भगवान हैं और वह तो आज सिद्ध ही हो गया तो इनका एक अव्यक्त रूप होगा ही। ईश्वर को साकार और निराकार दोनो रूपों मे होना ही है। वह भूला नही है वह कह चुके है कई बार कि अपनी परा प्रकृति का आश्रय ले वह प्रकट हुआ करते है इस धरती पर—संतो की रक्षा और दुष्टों के विनाश के लिए, धर्म की स्थापना के लिए।

उनके किस रूप की भक्ति अधिक श्रेयस्कर है अधिक सहज ? यही समस्या आ खड़ी हुई थी उसके समक्ष और इसका समाधान भी कौन कर सकता है सिवा श्रीकृष्ण के ? अतः उसने श्रीकृष्ण से ही इस प्रश्न को सीधे पूछ लेना उचित समझा और बात रखा—'यह बतलाइए कि जो भक्त निरंतर आपसे युक्त रह कर आपके इस रूप की उपासना करते हैं वे श्रेष्ठ योगी हैं अथवा वे जो आपके अव्यक्त निराकार रूप की उपासना करना पसन्द करते हैं ?'

श्रीकृष्ण ने बिना किसी झिझक के स्पष्ट कर दिया—'मुझ में मन लगाकर जो अपार श्रद्धा के साथ मुझमें नित्य युक्त रहकर मेरी—अर्थात मेरे व्यक्त रूप—की उपासना करते हैं वे युक्ततम अर्थात योगियों में श्रेष्ठतम हैं।'

"इसका अर्थ कि आपके अव्यक्त रूप की उपासना में लाभ नहीं है ?

"नहीं नहीं यह बात नहीं" श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया "जो मेरे अक्षर अदृश्य सर्वव्यापी अचिन्त्य स्थिर अचल तथा ध्रुव रूप की इन्द्रियों पर नियन्त्रण करते हुए सर्वत्र समबुद्धि से युक्त हुए और सभी प्राणियों के कल्याण में लगे रहकर उपासना करते हैं वे भी मुझे ही प्राप्त करते हैं।'

'यहां तो भक्ति की अपेक्षा ज्ञान की ही आवश्यकता अधिक प्रतीत होती है। ये अचिन्त्य अचल स्थिर ध्रुव आदि बातें बहुत आसानी से पल्ले पड़ती हैं क्या ?' अर्जुन ने कहा।

"व्यक्त की अपेक्षा अव्यक्त की उपासना कठिन तो है ही," श्रीकृष्ण ने आरम्भ किया, 'जिनका मन अव्यक्त में आसक्त है उनको कहीं अधिक कष्ट होता है क्योंकि अव्यक्त गति की प्राप्ति शरीरधारियों द्वारा कठिनाई से ही प्राप्त होती है।

'अर्थात जो देहधारी हैं अथवा व्यक्त रूपधारी हैं उन्हें व्यक्त रूप की ही उपासना करनी चाहिए ?' अर्जुन ने जानना चाहा।

'यह बात तो है ही' श्रीकृष्ण ने कहा और फिर जोड़ा 'इस बात को ठीक से समझ लो। जिन्होंने सभी कर्मों को मुझमें ही लीन कर दिया है जो मेरे परायण हैं और जो अनन्य योग से मेरा ध्यान और मेरी उपासना करते हैं, तथा मुझमें ही जिनका चित्त आविष्ट है उनका मैं शीघ्र ही संसार-सागर से उद्धार कर देता हूं।

मुझमें ही मन को एकाग्र करो मुझमें ही अपनी बुद्धि को लगाओ, इसके पश्चात तुम मुझमें ही निवास करोगे इसमें सन्देह नहीं।

यदि तुम मुझमें अपने चित्त को स्थिर करने में अपने को असमर्थ पाते हो तब तो तुम्हें अभ्यास-योग का आश्रय लेना पड़ेगा अर्थात् अभ्यास के द्वारा मुझे प्राप्त करने का प्रयत्न करना पड़ेगा।

यदि अभ्यास में भी तुम असमर्थ हो तो एक दूसरा मार्ग है।

'क्या ?

तब मेरे कर्म परायण बनो अर्थात मेरे लिए ही कर्म करो। मेरे लिए ही कर्म करते हुए भी तुम सिद्धि को प्राप्त कर सकोगे।

'तुम्हारे लिए कर्म करने का अर्थ ?' अर्जुन ने पूछा।

अब तक जो बताया है, जो कुछ करो मुझे अर्पित कर दो।

'अच्छा।

अच्छा नहीं श्रीकृष्ण ने आरम्भ किया— यदि यह करने में भी असमर्थ

हो तब मुझमें युक्त होकर, आत्मा को वश में कर सभी कर्मों के फलों का त्याग कर दो।'

श्रीकृष्ण अन्तत अपने प्रिय विषय कर्म योग पर आ गए—फल की इच्छा छोड़कर कर्म सम्पादित करते जाना और इसे और स्पष्ट करने अथवा इस पर अधिक बल देने के लिए उन्होंने जोड़ा— अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है किन्तु ध्यान से भी कर्मफल-त्याग का मार्ग अधिक श्रेष्ठ है। त्याग से तत्काल शान्ति प्राप्त होती है।

और शान्ति ही हमारा लक्ष्य है? अर्जुन ने जोड़ा।

'अवश्य। यह तो मैंने आरम्भ में ही कहा था। पर आगे सुनो तुम मेरी भक्ति अथवा मेरे अनुग्रह की प्राप्ति की बात कर रहे थे तो स्पष्ट सुन लो—जो सभी प्राणियों के प्रति मित्रता और करुणा का भाव रखता है जो उनके प्रति द्वेष नहीं रखता जो ममत्व रहित है, अहंकार रहित है सुख-दुख में सम भाव रखता है क्षमाशील है सदा सतुष्ट रहता है योगी है आत्मा को वश में किए हुए है दृढ निश्चयी है और अपने मन और बुद्धि सबको मुझे ही अर्पित कर रखा है, वह मेरा भक्त ही मुझे प्रिय है।

अर्जुन पर पूरी तरह स्पष्ट हो गया कि भक्ति महत्त्वपूर्ण है और वह भी श्रीकृष्ण के साकार स्वरूप की भक्ति। किन्तु यह भक्ति भी सहज प्राप्य नहीं है। भक्ति का पात्र बनने के लिए भी कई शर्तें आवश्यक हैं। अपने में पात्रता लानी है। अर्जुन इन शर्तों के सम्बन्ध में सोच ही रहा था कि श्रीकृष्ण ने और शर्त रख दी— जो लोगों को उद्विग्न नहीं करता और जिससे लोग उद्विग्न नहीं होते जो हर्ष क्रोध भय आदि उद्वेगकारी तत्त्वों से रहित है वही मुझे प्रिय है।

श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय अथवा भक्त की पात्रता की विभिन्न शर्तें तो रखी पर वे पुन अपने परम संदेश फल त्याग की बात पर आने को नहीं भूल सके— जो कोई अपेक्षा नहीं रखता जो पवित्र है दक्ष है तटस्थ है व्यथारहित है सभी उद्यमों का परित्याग किए हुए है अर्थात किसी फल को ध्यान में रख कोई प्रयत्न नहीं करता वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

तटस्थता की बात को आगे बढ़ाते हुए श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया—'जो न व्यर्थ में हर्षित होता है जो द्वेष नहीं करता जो शोक नहीं करता और न किसी वस्तु की कामना ही करता है जो शुभ और अशुभ दोनों को छोड चुका है वह भक्तिमान व्यक्ति मुझे प्रिय है।

अर्जुन देख रहा था कि श्रीकृष्ण अभी भी भक्ति पर ही निरन्तर जोर दिए जा रहे थे वह भी अपनी भक्ति अर्थात साकार भक्ति पर। उसके प्रश्न का उत्तर स्वत और लगातार मिलता जा रहा था। अर्जुन इस बात को मन में ठीक से बैठा ही रहा था कि श्रीकृष्ण ने पुन आरम्भ किया शत्रु मित्र तथा मान-अपमान सर्दी गर्मी तथा सुख-दुख में जो सम है जो आसक्तिरहित है जो निन्दा और स्तुति दोनों में समभाव रखता है जो मितभाषी है जो कुछ भी मिल जाए उसी से सन्तुष्ट रहता है और जो अनिकेत है अर्थात जिसका कोई निश्चय स्थान नहीं, जिसकी बुद्धि स्थिर है वह भक्तियुक्त व्यक्ति मेरा प्रिय है।

अनिकेत! सभी बातें तो अर्जुन की समझ में आ गई। पर यह अनिकेत की बात। तो मनुष्य क्या बिना निकेत बिना घर के ही रहे। वह अपनी जिज्ञासा

को रोक नहीं सका—"अनिकेत की यह बात मैं समझ नहीं सका। आदमी अनिकेत हो जाय, यह बात क्या ठीक है?"

"ठीक है," श्रीकृष्ण ने कहा, "घर बनाकर एक स्थान पर बस रहने से चलते रहना, नये-नये स्थानों का भ्रमण करना, तीर्थों का भ्रमण करना, नदी तटों, सागर तीरों और पर्वत शिखरों के दर्शन करते चलना अधिक उचित है। 'चरवेति चरवेति' का सिद्धान्त ही सर्वश्रेष्ठ है। पक्षी घोंसला बनाकर रहते हैं, मूषक बिलों में रहते हैं, साधारण पशु भी गुहा गह्वर में अपना आवास बना लेते हैं किन्तु मृगराज, वह कानन केसरी वह कहाँ एक स्थान पर रहता है? एक वन को छोड़ दूसरे वनों को प्रस्थान करते जाना ही उसकी प्रकृति है। मुनीन्द्र भी वैसा ही करते हैं जैसा वनेन्द्र। अनिकेत होना अच्छा है, यह निस्संगता के साथ साथ ज्ञान वर्द्धन का भी कारण है।"

और इस सम्बन्ध में अन्तिम बात कहकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन की शंका का सदा के लिए समाधान कर दिया "जो मेरे द्वारा बताये इस अमृत तुल्य धर्म का पालन करते हुए मेरे परायण हो, अत्यन्त श्रद्धा भाव से मेरी भक्ति करते हैं वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।"

अर्जुन को उत्तर मिल गया था। उसे सारे द्वन्द्वों से रहित हो भक्ति करनी थी, साकार रूप की भक्ति करनी थी श्रीकृष्ण की भक्ति करनी थी। श्रीकृष्ण ही भगवान थे—साकार भी निराकार भी।

इक्यासी

कई बातें मन में आ रही थीं। कुछ देर पूर्व देखे दो अद्भुत रूपों—एक अत्यन्त भयावह प्रलयंकर और दूसरा अति सौम्य, सुदर्शन—तथा अभी अभी समाप्त वार्तालाप ने प्रश्नों के अनेक पक्षियों को अर्जुन के मन के व्योम में उड़ने को छोड़ दिया था। ये पक्षी थे कि लगातार पर फड़फड़ा रहे थे और अर्जुन के मनाकाश को उद्वेलित किए जा रहे थे। पर अभी अभी क्या कहा था श्रीकृष्ण ने जो लोक को उद्वेलित नहीं करता और लोक जिसे उद्वेलित नहीं कर पाता वह मेरा सबसे प्रिय है। इसी एक बात ने तो प्रश्नों के कई परिन्दे उड़ा दिए थे उनके मन-गगन में।

लोक को उद्वेलित करने का अर्थ क्या? और लोक द्वारा उद्वेलित होने का? क्या इन दो बातों में ही श्रीकृष्ण ने अब तक की अपनी सारी बातों का सार नहीं रख दिया था? जैसे कोई द्राक्षा के गुच्छों को निचोड़ कर उसका रस को परोस दे स्वर्ण चषक में। फिर जो महत्त्व था वह चषक के पेय का, द्राक्षा के निचुड़े दानों का क्या अर्थ रह जाता था तब? तो यही सार तत्त्व था श्रीकृष्ण के अब तक के इस दीर्घ सन्देश का। अर्जुन ने अपने को समझाने का प्रयास किया।

क्या उद्वेलित करता है मनुष्य को? क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या, आकांक्षा, स्पर्धा—एक दूसरे से आगे बढ़ जाने की प्रबल भावना—और सबसे ऊपर काम, इन्द्रियों का लगातार अपने विषयों के प्रति आकर्षण? यही न? और सबसे ऊपर फलेच्छा। इसे क्या भूल जाता है वह? सारी सारी आपाधापी और भाग दौड़ के

क्या फलाकांक्षा ही नहीं है ? सारे प्रयत्न तो किसी लक्ष्य की प्राप्ति, किसी फल की उपलब्धि को लेकर ही होते हैं और तब आरम्भ होता है आशा निराशा विश्वास अविश्वास और आस्था अनास्था का एक प्राय असमाप्य-सा चक्र। सफलता असफलता और सभावनाओ आशकाओ के बीच शाखाओ पर उलटे लटके चमगादडो की तरह झूलने लगता है मनुष्य का मन। क्या यह सब उसे उद्वेलित अव्यवस्थित और अशान्त करने को पर्याप्त नहीं है ? शान्त पडे किसी सागर के वक्ष पर भी हवाओ का तूफान उतर आये तो लहरें नहीं जगेंगी क्या वहा ? आन्दोलित आलोडित नहीं होगा सागर-तल ? और तल का यह तूफान क्या सतह तक ही सीमित रहेगा ? कुछ गहरे नहीं उतरेगा क्या वह ?

इसी तरह लोक उद्वेलित करता है न मनुष्य को ? ये सारी आशाए आकाक्षाए, स्वप्न दिवा-स्वप्न, ईर्ष्या द्वेष स्पर्धा असूया कौन सजित करता है ? लोक ही तो ? वहा के लोग ही तो ? कौन सृजित करता है प्रतियोगिता के झझावात मनुष्य मन के शात सतह पर ? और फिर मथ जाता है उसे अन्दर तक ? एक अधी दौड ही आरम्भ हो जाती है। यही सब तो निकालना चाहते हैं श्रीकृष्ण अर्जुन के मन से। नहा ? यह सब नहीं पडें मनुष्य के मन म इन सबो को उत्प्रेरणा और प्रोत्साहन नहीं प्राप्त हो लोक से तब क्या आन्दोलित हो वह ?

और लोक का क्या उद्वेलित करता है वह ? अर्जुन का मन पूछ बैठा। स्पष्ट है अपनी अनुपलब्धियो—असफलताओ—जनित क्रोध द्वारा। अपनी कामनाओ वासनाओ को उन्मुक्त नर्तन की छूट दे। दूसरो की सफलताओ उपलब्धियो पर प्रश्नचिह्न लगाकर। ईर्ष्या की अग्नि म स्वय जलकर और दूसरो को भी अपने *कुचक्रो के जाल म फसाने का प्रयास कर। और यह सब क्या क्या क्या ? प्रश्नो* के पछी पर फडफडाए ही जा रहे है। यह राज्य-साम्राज्य का लोभ ? यह विजय की कामना ? यह पराजय का भय ? यह सब क्या मन का उद्वेलित करने को पर्याप्त नहीं ? अर्जुन को लगा उसके मनाकाश के पछी कुरुक्षेत्र के इस आकाश पर ही उतर आए है—जय-पराजय की सभावनाओ और आशकाओ का रूप लेकर। कौन काम आयेगा इस युद्ध म—अर्जुन अथवा कर्ण ? धर्मराज या धृतराष्ट्र भीम या दुर्योधन ? द्रुपद अथवा जयद्रथ ? या सभी ? किसके सिर को सुशोभित करेगा कौरवो का राजमुकुट ? युधिष्ठिर के या दुर्योधन के ? या किसी के नहीं ? कहीं सभी दावानल के वृक्षो की तरह ही स्वाहा हो गए समराग्नि म तो ?

प्रश्न असख्य थे। इन्ही को लेकर अर्जुन के मन की अशाति का आरम्भ हुआ था। इन्ही को लेकर लहरें जगी थी उसके अतर के शात सागर-तल पर।

पर लौटना होगा प्रश्नो के परिन्दो को अपने अपने नीडो म अर्जुन ने अन्दर ही अन्दर निश्चय किया। अथवा सबके पख कतर देने होग अब। श्रीकृष्ण ने सबका समाधान रख दिया है। आवश्यकता है उन पर गहराई स मनन करने की। क्रिया के स्तर पर उन को उतारने की। उत्तर उनका स्पष्ट था, सपाट और सरल। लोक को उद्वेलित नहीं करो और लोक को अपने को उद्वेलित नहीं करने दो। अर्थात तटस्थ हो आओ आस-पास की इस अधी दौड के प्रति। निकाल फेंको क्रोध को काम को अन्दर से। ईर्ष्या और द्वेष को। क्या कहा था उन्होंने ? क्रोध ही काम है और काम ही क्रोध—काम एव क्रोध एव। ये दोनो नहीं रहे तो बहुत सारी उद्वेलनकारी शक्तियां चली गई मन के बाहर। और क्या कुछ कहा था उन्होंने

सोच रहा है अर्जुन। तो सोच क्या रहा है वह? इस मन को भी नियन्त्रित करने का क्या नहीं कहा उन्होंने? इच्छा आकांक्षा से भी मुक्ति की बात नहीं कही? हर्ष विषाद से भी परे रहने की बात? हर्षित होना क्या और रोना भी क्या? सफलता और असफलता, हर्ष और विषाद, मान और अपमान, कीर्ति और अपकीर्ति, जय और पराजय क्या एक ही सिक्के के दो पहलू नहीं हैं? शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष दोनों के अस्तित्व को स्वीकारना पड़ेगा कि नहीं? तो समझौता कर लिया कि नहीं मानव मन ने चाँद के इस बदलते रूप से? अब कहाँ काटता है कृष्ण पक्ष उसे? कभी काटता होगा यह आदिम मानव के मन को। पर अब? समय के अनन्त अन्तराल ने सिखा दिया कि नहीं उसे तटस्थ भाव से ग्रहण करना को। इस अनिवार्यता का सत्य जाना मन की बात को?

कहाँ भटक गया अर्जुन का मन? वह सोचता है अपने में। पर प्रश्नों के परिन्दे भी अपने नीड़ को? शायद हाँ। शायद नहीं। हाँ इसीलिए कि प्रश्नों के समाधान दे दिए थे श्रीकृष्ण ने। समत्वयोग के अपने सिद्धान्त द्वारा—तटस्थता, निस्पृहता की अपनी नीतियों द्वारा। पर इन समाधानों के अनुसार आचरण? यह सहज था क्या? प्रश्न का यह विहग तो अब भी पर फड़फड़ाए जा रहा है।

'था' उत्तर दिया था अर्जुन के मन ने। उसे श्रीकृष्ण द्वारा अभी अभी कही सारी बातों के सार पर ध्यान देना था। भक्ति। हाँ श्रीकृष्ण की अनन्य भक्ति ही समाधान था इन सारी समस्याओं का। अनन्य का अर्थ खूब समझता था अर्जुन। और शायद इसीलिए अपना अद्भुत ज्ञान का पात्र बनाया था श्रीकृष्ण ने उसे। शायद इसीलिए रम गए वे आनन्द ही उसके साथ और अपनी वह नारायणी सेना दे दी थी दुर्योधन को। और शायद इसीलिए आ बैठे वह उसका सारथि बनकर। सारा संयोग उन्होंने ही गढ़ा क्योंकि वे जानते थे कि उनकी बातों को ग्रहण करने और उन पर आचरण करने की क्षमता उसी में है। फिर अनन्य भक्ति का भेद अगर कोई ठीक से समझ सकता है तो दोनों पक्षों में वही है वह व्यक्ति। शायद उन्होंने सुन रखी हो वह घटना जिसने उसकी अनन्यता, एकनिष्ठा और एकाग्रता को अनायास ही सिद्ध कर दिया था। श्रीकृष्ण अनन्य भक्ति चाहते हैं—मेरे हो जाओ, केवल मेरे मेरे ही मन वाले बनो, मेरा ही भक्त बनो मेरी ही पूजा करो मुझे ही नमस्कार करो—मन्मना भव मद्भक्तो। हाँ जानता है वह इस अनन्यता का मर्म। सध गया था एक बार वह उससे स्वभाव वश ही और याद आ रही है उसे किशोरावस्था की वह घटना जिसके कृष्ण द्वारा कभी सुन लेने की बात उसके मन में आई है।

वह परीक्षा की घड़ी थी उनकी। उनकी अर्थात् गुरु द्रोण के शिष्यों की। कौरव और पाण्डव दोनों पक्षों के राजकुमारों को लेकर निकल आये थे द्रोणाचार्य एक वन में। परीक्षा करनी थी उनकी धनुर्विद्या के ज्ञान की। दुर्योधन, दुःशासन उनके अन्य भाई तथा भीम युधिष्ठिर सभी थे वहाँ।

एक पक्षी ही बैठा था वृक्ष की एक डाली पर जिसके नीचे जुटे थे गुरु शिष्य।

'उस पक्षी के दाहिने नेत्र को बाण विद्ध करना है।' समझाया था गुरु ने।

दुर्योधन ने सम्भाला था पहले धनुष बाण। लक्ष्य की ओर दृष्टि उठाई थी उसने और इसके पूर्व कि बाण छूटता उसके धनुष से बोल पड़े थे गुरु द्रोण—"क्या कुछ आ रहा है दृष्टि-पथ में?

क्या फलाकांक्षा ही नहीं है ? सारे प्रयत्न तो किसी लक्ष्य की प्राप्ति, किसी फल की उपलब्धि को लेकर ही होते हैं और तब आरम्भ होता है आशा निराशा विश्वास अविश्वास और आस्था अनास्था का एक प्राय असमाप्य सा चक्र। सफलता असफलता और सभावनाओं आशंकाओं के बीच, शाखाओं पर उलटे लटके चमगादडों की तरह झूलने लगता है मनुष्य का मन। क्या यह सब उसे उद्वेलित अव्यवस्थित और अशांत करने को पर्याप्त नहीं है ? शान्त पड़े किसी सागर के वक्ष पर भी हवाओं का तूफान उतर आये तो लहरें नहीं जगेंगी क्या वहां ? आन्दोलित आलोडित नहीं होगा सागर-तल ? और तल का यह तूफान क्या सतह तक ही सीमित रहेगा ? कुछ गहरे नहीं उतरेगा क्या वह ?

इसी तरह लोक उद्वेलित करता है न मनुष्य को ? ये सारी आशाएं आकांक्षाएं, स्वप्न, दिवा-स्वप्न, ईर्ष्या द्वेष, स्पर्धा असूया कौन सजित करता है ? लोक ही तो ? वहां के लोग ही तो ? कौन सजित करता है प्रतियोगिता के झंझावात मनुष्य मन के शांत सतह पर ? और फिर मथ जाता है उसे अंदर तक ? एक अंधी दौड ही आरम्भ हो जाती है। यही सब तो निकालना चाहते हैं श्रीकृष्ण अर्जुन के मन से। नहीं ? यह सब नहीं पड़े मनुष्य के मन में इन सबों को उत्प्रेरणा और प्रोत्साहन नहीं प्राप्त हो लोक में तब क्या आंदोलित हो वह ?

और लोक को कैसे उद्वेलित करता है वह ? अर्जुन का मन पूछ बैठा। स्पष्ट है अपनी अनुपलब्धियां—असफलताओं—जनित क्रोध द्वारा। अपनी कामनाओं वासनाओं को उन्मुक्त नर्तन की छूट दे। दूसरों की सफलताओं उपलब्धियों पर प्रश्नचिह्न लगाकर। ईर्ष्या की अग्नि में स्वयं जलकर और दूसरों को भी अपने कुचक्रों के जाल में फंसाने का प्रयास कर। और यह सब क्या क्यों क्या ? प्रश्नों के पंछी पर फड़फड़ाए ही जा रहे हैं। यह राज्य साम्राज्य का लोभ ? यह विजय की कामना ? यह पराजय का भय ? यह सब क्या मन को उद्वेलित करने को पर्याप्त नहीं ? अर्जुन को लगा उसके मनाकाश के पंछी कुरुक्षेत्र के इस आकाश पर ही उतर आए हैं—जय-पराजय की सभावनाओं और आशंकाओं का रूप लेकर। कौन काम आयेगा इस युद्ध में—अर्जुन अथवा कर्ण ? धर्मराज या धृतराष्ट्र भीम या दुर्योधन ? द्रुपद अथवा जयद्रथ ? या सभी ? किसके सिर को सुशोभित करेगा कौरवों का राजमुकुट ? युधिष्ठिर के या दुर्योधन के ? या किसी के नहीं ? कहीं सभी दावानल के वृक्षों की तरह ही स्वाहा हो गए समराग्नि में तो ?

प्रश्न असख्य थे। इन्हीं को लेकर अर्जुन के मन की अशांति का आरम्भ हुआ था। इन्हीं को लेकर लहरें जगी थी उसके अंतर के शांत सागर-तल पर।

पर लौटना होगा प्रश्नों के परिंदों को अपने अपने नीडों में अर्जुन ने अंदर ही अन्दर निश्चय किया। अथवा सबके पास उत्तर देने होंगे अब। श्रीकृष्ण ने सबका समाधान रख दिया है। आवश्यकता है उन पर गहराई से मनन करने की। क्रिया के स्तर पर ज्ञान को उतारने की। उत्तर उनका स्पष्ट था सपाट और सरल। लोक को उद्वेलित नहीं करो और लोक को अपने को उद्वेलित नहीं करने दो। अर्थात तटस्थ हो जाओ आस-पास की इस अंधी दौड के प्रति। निकाल फेंको क्रोध को काम को अंदर से। ईर्ष्या और द्वेष को। क्या कहा था उन्होंने ? क्रोध ही काम है और काम ही क्रोध—काम एष क्रोध एष। ये दोनों नहीं रहें तो बहुत सारी उद्वेलनकारी शक्तियां चली गई मन के बाहर। और क्या कुछ कहा था उन्होंने

सोच रहा है अजुन। तो सोच क्या रहा है वह ? इस सोच को भी नियन्त्रित करने को क्या नही कहा उन्होने ? इच्छा आकाक्षा से भी मुक्ति की बात नही कही ? हष विषाद म भी परे रहन की बात ? हर्षित होना क्या और रोना भी क्या ? सफलता और असफलता हष और विषाद, मान और अपमान, कीर्ति और अपकीर्ति, जय और पराजय क्या एक ही सिक्के के दो पहलू नही हैं ? शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष दोनो के अस्तित्व को स्वीकारना पडेगा कि नही ? तो समझौता कर लिया कि नही मानव मन ने चाद क इस बदलते रूप से ? अब कहा काटता है कृष्ण पक्ष उस ? कभी काटता होगा वह आदिम मानव के मन को। पर अब ? समय के अनन्त अन्तराल न सिखा दिया कि नही, उसे तटस्थ भाव से ग्रहण करने को। इस अनिवार्यता का गत लगा लने की बात को ?

कहा भटक गया अजुन का मन ? वह लौटता है अपन म। पर प्रश्नो के परिन्दे लौटें अपन नीडो को ? शायद हा, शायद नही हा इसीलिए कि प्रश्नो के समाधान रख दिए थे श्रीकृष्ण ने। कमयोग क अपने सिद्धान्त द्वारा—तटस्थता, निस्पहता की अपनी नीतिया द्वारा। पर इन समाधानो के अनुसार आचरण ? यह सहज था क्या ? प्रश्न का यह विहग तो अब भी पर फडफडाए जा रहा है।

'था,' उत्तर दिया था अजुन-मन ने। उसे श्रीकृष्ण द्वारा अभी अभी कही सारी बातो के सार पर ध्यान देना था। भक्ति। हा श्रीकृष्ण की अनन्य भक्ति ही समाधान था इन सारी समस्याओ का। अनन्य का अथ खूब समझता था अजुन। और शायद इसीलिए अपन अदभुत ज्ञान का पात्र बनाया था श्रीकृष्ण ने उसे। शायद इसीलिए लग गए वे अकले ही उसके साथ और अपनी वह नारायणी सेना द दी थी दुर्योधन को। और शायद इसीलिए आ बठे वह उसका सारथि बनकर। सारा सयोग उन्होंने ही गढा क्योंकि व जानते थ कि उनकी बातो को ग्रहण करन और उन पर आचरण करने की क्षमता उसी मे है। कि अनन्य भक्ति का भेद अगर कोई ठीक से समझ सकता है तो दोनो पक्षो म वही है वह व्यक्ति। शायद उन्होने सुन रखी हो वह घटना जिसन उसकी अनन्यता एकनिष्ठा और एकाग्रता को अनायास ही सिद्ध कर दिया था। श्रीकृष्ण अनन्य भक्ति चाहत है—मेरे हो जाओ, कवल मेर मेरे ही मन वाल बनो मेरा ही भक्त बनो मेरी ही पूजा करो मुझे ही नमस्कार करो—मन्मना भव मदभक्तो। हा जानता है वह इस अनन्यता का मम। सध गया था एक बार वह उसमे स्वभाव वश ही और याद आ रही है उस किशोरावस्था की वह घटना जिसके कृष्ण द्वारा कभी सुन लने की बात उसके मन म आइ है।

वह परीक्षा की घडी थी उनकी। उनकी अर्थात गुरु द्रोण के शिष्यो की। कौरव और पाडव दानो पक्षो क राजकुमारो को लेकर निकल आये थे द्रोणाचाय एक वन म। परीक्षा करनी थी उनकी धनुर्विद्या के ज्ञान की। दुर्योधन, दु शासन उनके अन्य भाई तथा भीम युधिष्ठिर सभी थ वहा।

एक पक्षी ही बठा था वक्ष की एक डाली पर जिसके नीचे जुटे थे गुरु शिष्य।

उस पक्षी के दाहिन नेत्र को बाण विद्ध करना है। समझाया था गुरु ने।

दुर्योधन न सभाला था पहले धनुष-बाण। लक्ष्य की ओर दृष्टि उठाई थी उसन और इसके पूव कि बाण छूटता उसके धनुष से, बोल पडे थ गुरु द्रोण—"क्या कुछ आ रहा है दृष्टि पथ म ?"

"देख रहा हू मैं वक्ष की उम शाखा को उम पर वठ पक्षी का और उसकी दोना आखा को। दुर्योधन ने उत्तर दिया था।

"रख दो धनुप वाण। व्यथ प्रयास है तुम्हारा। गुरु आना हुई थी और दुर्योधन प्रतियोगिता से अलग हो गया था।

तुम क्या देख रहे हो? अग्रज युधिष्ठिर न जब वाण-सधान किया ता पूछा था गुरु ने।

"मैं पक्षी और उसकी आखा को स्पष्ट देख रहा हू। युधिष्ठिर का उत्तर था।

'तुम भी रख दो धनुप वाण। युधिष्ठिर को आना हुई।

तुम भी वही सब दख रह हो जो तुम्हार भाई ने देखा था? अपनी गदा को किनारे कर जब भीमसेन न धनुप पर वाण चढाया तो उनस पूछा था गुरु ने।

' मैं पक्षी की आखें देख रहा हू। भीम न सगव कहा था।

"तुम भी अलग हो जाओ।'

सभी इसी प्रकार एक एक कर प्रतियोगिता से वाहर हो गए तो गुरु ने पुकारा था उसे।

शर सधान किया था उसने कि गुरु का परिचित प्रश्न पडा था कानो म—"क्या कुछ दिखाई पड रहा है?

"पक्षी की दाहिनी आख मात्र। उसन उत्तर दिया था। आखें लक्ष्य पर ही टिकी थी।

"साधु! वाण छोडो। गुरु द्रोण न आना दी थी।

उसने वाण छोडा था और पक्षी धरती पर आ गिरा था। सभी एक साथ दौडे थे। वाण पक्षी की दाहिनी आख की पुतली के बीचोबीच गडा पडा था।

तो यह थी उसकी एकाग्रता। उसकी अनयता। अगर श्रीकृष्ण उसकी अनय भक्ति ही चाहते है और यह भक्ति सहायिका बनेगी उसके कम-योग साधना की तो उस कोई आपत्ति नही थी अपनी अनय भक्ति प्रदान करने म। और जसा कि पहले भी उसके मन म आया था भक्त तो बन ही आया था वह श्रीकृष्ण का रह गई थी अनयता की बात तो वह भी अब सध आइ थी श्रीकृष्ण के इन स्वरूपो के दशन से। कह ही दिया था उसन अपनी स्तुति के क्रम म कि यहा क्या तीनो लोको म भी तुम्हारे सदश कोई नहा है तुमम अधिक होन की तो वात ही व्यथ है। ऐसी स्थिति म उसकी भक्ति का तो केवल कृष्ण को ही समर्पित होना ही था। इस अप्रमय और अनुलनीय को छोडकर वह और किसी की आराधना म लगता?

'तुम कही खो गए लगत हो। श्रीकृष्ण ने टोका। वहुत देर स वह सोच रहे थे कि अब समय आ गया है कि प्रकृति के कुछ गूढ रहस्या को अजुन के समक्ष उदघाटित किया जाय। भूमि उन्होने गढ दी थी। श्रद्धा के बिना इस गूढ ज्ञान का ग्रहण असभव था और वह श्रद्धा और भक्ति अजुन मे जाग्रत हो आई थी इसम उनको अब कोई सदेह नहा रहा। अत अब जो कुछ बताना शेष था उसे भी वता ही देना था पर यह या अब तक की बताई सब बाता स एकदम पथक।

"अजुन, इस शरीर को क्षेत्र कहत हैं। श्रीकृष्ण ने आरम्भ किया और अजुन चकराया क्षेत्र अर्थात खेत वपण योग्य कृषि-योग्य भूमि यही न? तो यह क्या

कह रहे हैं श्रीकृष्ण, यह शरीर क्षेत्र अथवा कृषि भूमि कसे हो गया ! पर उसे पूरी बात सुन लेनी थी उसके पश्चात ही वह अपनी शका उनके समक्ष रखता। "इसको जो जानता है विद्वान उसे क्षेत्रज्ञ कहते है। श्रीकृष्ण ने अपना यह अदभुत कथन समाप्त किया।

यह शरीर क्षेत्र कसे है ? अजुन ने पूछ ही लिया।

वह ऐसे कि क्षेत्र मे क्या होता है ? तुम उसम बीज डालते हो। फिर उस बीज की फसल काटते हो। जसा बीज वसी फसल। उसी तरह शरीर रूपी इस क्षेत्र म तुम कम का बीज बोते हो फिर कमफल के रूप म उसकी फसल काटते हो। जसा कम वसा फल। सुकम का भला। कुकम का बुरा। क्या ? समझना बहुत कठिन है क्या ?'

"नही तो," अजुन ने कुछ सोचकर कहा, 'पर खेत म बीज डालने के पहले और कुछ भी करते ह।"

"क्या ?"

"उसे कर्षित करते, जोतते गोडते, घास-फूस और झाड झखाड को भी निकालते है।"

"तब क्या होता है ?'

'तब फसल अच्छी होती है। अजुन ने तत्काल उत्तर दिया।

"बहुत ठीक। तो यही बात इस शरीर रूपी क्षेत्र के साथ भी है। साधना के द्वारा इसका कर्षण करो। ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध, लोभ परिग्रह आदि की तरह के घास फूस और झाड झखाड को निकाल फेंको तो इसम भी अच्छी फसल होगी। तब तुम्हारे सकल्पो का बीज शीघ्र अकुरित और पल्लवित पुष्पित होगा। तब तुम सत्कम की खेती करोगे और उसका फल भी अच्छा पाओगे। अच्छी तरह गोडे गए खेत म कोई विष-बेल नही बोता, उसी तरह अच्छी तरह सस्कारित मन मस्तिष्क वाले खेत म कोई कुकम की खेती नही करता। अच्छे कम करने है और उनका अच्छा फल लेना है तो खेत का सस्कार करना कोई आश्चय की बात नही।

अजुन निरुत्तर हो आया। बात सटीक थी। कम तो इस शरीर से ही बनता है। जस बीज का खेत म ही वपन होता है। बीज का फल मिलता है तो कम का फल भी मिलेगा ही। अच्छी फसल के लिए अच्छे खेत और अच्छे बीज की आवश्यकता है तो अच्छे फल के लिए भी विशुद्ध और सुसस्कृत शरीर और अच्छे कम आवश्यक हैं।

और यह क्षेत्रज्ञ ?' अजुन ने आगे प्रश्न किया 'तुमने कहा कि जो इस क्षेत्र को, खेत को जानता है वह क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। कौन है यह क्षेत्रज्ञ ?

कौन होता है साधारण क्षेत्र को जानने पहचानने वाला ? उसकी मिट्टी और मेड म परिचय रखने वाला ? उसम पडते बीजो और उवरक, जल आदि का ज्ञान रखने वाला ?

उसका मालिक और कौन ?

उसी तरह इस क्षेत्र इस शरीर का जो मालिक है वही क्षेत्रज्ञ है ?

कौन ?

आत्मा और कौन ? श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया, पर बात यही नही रुकती है, यह तो एक क्षेत्र शरीर विशेष की बात हुई पर सभी क्षेत्रो सभी शरीरो का जो

क्षेत्रज्ञ है, वह मैं हू।"

'अर्थात इस शरीर म आत्मा क अलावा तुम भी हो ?

"हा।'

अर्थात परमात्मा ?'

यही समझो श्रीकृष्ण न कहा किन्तु यह भी जानो कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात शरीर, आत्मा और परमात्मा सबधी जो ज्ञान है, मेरे मत से वही वास्तविक ज्ञान है।

यह क्षेत्र अथवा शरीर जसा है और जो कुछ है इसम जो विकार हैं और जिससे यह उत्पन्न हुआ है और इसका जो प्रभाव है वह मैं सब सक्षेप म तुम्हे बता रहा हू।

'ऋषियो न विविध छदो स इसका पथक पथक वणन किया है काय कारण के सिद्धात निश्चित करने वाले ब्रह्मसूत्र के पदो द्वारा भी इसका वणन किया गया है।

'यह काय कारण सिद्धात क्या है ?

मैंने क्षेत्र की व्याख्या करते समय यह बात बता दी है। हर काय का कोई कारण होता है। हर फल के पीछे कोई कम। जसा बीज वसा फल। यही काय कारण सिद्धात है।

'तो म अब इस क्षत्र—इस शरीर—क विषय म बता दू ?

बताइए।

इस शरीर म पच महाभूत है—मिट्टी जल अग्नि, आकाश और वायु। अहकार है बुद्धि है अव्यक्त प्रकृति है दस इद्रिया—पाच ज्ञानेद्रिया और पाच कर्मेद्रिया है—एक मन है और इद्रिया के पाच विषय है—देखना सूघना सुनना स्वाद और स्पश है। इच्छा है द्वेष है सुख दुख है स्वय यह स्थूल देह है और हैं चतना तथा धय। सक्षप म अपन सारे विकारो सहित शरीर का यही स्वरूप है।

'तुमन मानवीय शरीर की सारी विशेषताओ का सक्षेप म बडा अच्छा वणन किया।

"किन्तु यह वणन कुछ दुरूह है। श्रीकृष्ण ने कहा, "मैंने पहले कहा था न कि क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही असल ज्ञान है।

"हा।

"तो फिर स्पष्ट जान लो कि वास्तविक ज्ञान क्या है ?

'बताइए।

'अभिमान शून्यता दम्भहीनता अहिंसा क्षमाभाव सरलता आचाय-गुरु की सवा पवित्रता स्थिरता आत्म-सयम इद्रियो का विषयो के प्रति अनाकषण, अनहकार जन्म मत्यु वद्धावस्था रोग दुख इन दोषो को निरन्तर ध्यान मे रखना अनासक्ति पुत्र पत्नी गह आदि के साथ निस्सगता इष्ट और अनभीष्ट की प्राप्ति म निरन्तर समभाव मरी अनन्य और एकनिष्ठ भक्ति एकात सवन जनसमूह म अरुचि आत्म ज्ञान मे अबाध तन्मयता तत्त्वज्ञान के अथ का नित्य साक्षात्कार यही सत ज्ञान है और इसस परे जो है वह अज्ञान है।

तुम्हारे ज्ञान की यह सूची तो बडी लम्बी है। यह सब सधेगा ? अजुन को आशका हुई।

'सध सकता है।'

"कसे?'

"उमे भी क्या बार-बार वताना पड़ेगा? वह ता इस सूची म ही आ गया है।

'समझ गया।

'क्या?'

"तुम्हारी अनन्य एकनिष्ठ भक्ति।

"ठीक है,' श्रीकृष्ण न कहा, 'अब मैं उस वतलाता हू जा वस्तुत जानन योग्य है और जिसको जान लेन से अमरत्व की प्राप्ति हा जाती है। वह है अनादि परब्रह्म जा न सत है न असत है अर्थात इन दाना से परे है। इस ससार म सब ओर उसक हाथ पर हैं सब ओर उसकी आखें हैं, सब ओर उसके सिर और मुख है वह सब कुछ का आवत्त किए हुए है।

'यह तो तुम्ही हा। कुछ देर पहले जो तुम्हारा रूप दखा, वह भी तो ऐसा ही था।'

'ठीक है अजुन, किन्तु आगे सुनो, अदभुत है वह ब्रह्म। सभी इन्द्रियो के गुणा का आभास बोध तो उसे है पर वह सभी इन्द्रिया से रहित जैसा है अथात इन्द्रियो के भोगा के प्रति उसका आकपण नही है। वह आसक्ति रहित है फिर भी वह सब कुछ सभाले हुए है। यह गुणा से रहित है फिर भी गुणो का भोक्ता है।

अर्थात?'

अर्थात यह कि सत्व, रज, तम य जो तीन गुण हैं उनका उस पर कोई प्रभाव नही है, पर सब इसमे समाहित है। उसी के अन्दर है। वह उनका अधिपति है उस पर उनका कोई वश नही। वह जीवा के बाहर भी है अन्दर भी वह अचर भी है और चर भी, सूक्ष्म हाने के कारण वह अज्ञेय है किन्तु वह दूर भी है और पास भी।

'यद्यपि वह अखडित है फिर भी विभिन्न जीवो म वह खडित हुआ सा विद्यमान है। जीवो का भरण पापण करने वाले के रूप मे वह व्याप्त है किन्तु वही सब प्राणिया के विनाश का कारण भी है और फिर सभी उसी स उत्पन्न भी होते हैं।'

अजुन ने सोचा यह भी ता श्रीकृष्ण की ही बात है। अपने सबध म तो ये कह ही चुके हैं कि प्रलय-काल म सभी प्राणी इन्ही म प्रविष्ट हा जात हैं और सृष्टि के आरम्भ म इन्ही से उत्पन्न हाते हैं। जिस ब्रह्म की विशेषता बताये जा रह है ये जो स्वय ही साक्षात ब्रह्म हैं। फिर भी यदि इन्ह अपनी विशेषताए बतानी ही हैं तो अच्छा ही है। अपन स्वरूप का दशन कराकर अपनी विशेषताओ के वणन द्वारा ये विशेष हा अनुग्रह कर रहे है उस पर। यद्यपि उनमे बहुत-सी कई बार की कही सुनी है तथापि उनके मुख से बार-बार सुनकर उनमे विश्वास ही बढता है।

वह ज्योतिया की भी ज्याति है, वह तम से परे है अर्थात् अन्धकार उसे छू भी नही पाता। अजुन का याद आता है सहस्र सूर्यो वाला वह प्रकाश जा श्रीकृष्ण के विराट रूप के साथ प्रकट हुआ था।

वही ज्ञान है ज्ञेय भी वही है," श्रीकृष्ण कहत जा रहे थे, किन्तु ज्ञान के बिना वह ज्ञात नही होता यद्यपि वह सबके हृदय म ही बठा हुआ है।

श्रीकृष्ण यहा रुके और फिर कहा, "मैंने तुम्हें क्षेत्र अर्थात शरीर, ज्ञान तथा ज्ञेय तत्त्व के सबध म सक्षेप से बता दिया। जो मेरा भक्त इसे ज्ञात कर लेता है वह मेरे भाव अर्थात प्रकृति को ही प्राप्त कर जाता है।"

अर्जुन को पुन याद आती है 'मेरे ही मे मन को लगाने वाला बनो, मेरा भक्त बनो—म मना भव मद्भक्ता । तो यही उपाय है उनका बनने का? उनकी प्रकृति को प्राप्त करने का? उपाय तो एक ही है अर्जुन ने सोचा जो उसके अनुकूल है और वह है श्रीकृष्ण की भक्ति। यत, ज्ञान विज्ञान की बात श्रीकृष्ण जितना बता दें पर अपनायेगा वह भक्ति को ही।

प्रकृति और पुरुष को भी तुम जान लो। श्रीकृष्ण अपने सम्पूर्ण ज्ञान को जैसे आज ही नि शेष कर देना चाहते थे "दोनो अनादि अर्थात आदि रहित हैं। व विकार जो मैंने पहले बताए हैं और सत्व, रज, तम आदि गुण प्रकृति स ही उत्पन्न हैं। काय-कारण की उत्पत्ति म प्रकृति ही सहायक है। अथात काय कारण, कम फल आदि से सम्बन्धित सिद्धान्त का मूल प्रकृति ही है। काय-कारण सबध क कारण उत्पन्न सुख दु ख का भोग पुरुष को ही करना पडता है।

दूसरे शब्दो म प्रकृति स्थित पुरुष प्रकृति से उत्पन्न तीनो गुणो—सत्व, रज और तम को भोगता है और इन्ही गुणो के सग के कारण वह उत्तम या अधम योनियो मे उत्पन्न होता है। अर्थात् सत्व गुण की प्रधानता अथवा सग के कारण वह उत्तम योनि म तो रज और तम के सग के कारण अधम योनियो म जाता है।

मैंने पहले भी कहा है और फिर कह रहा हूँ कि इस देह म एक परम पुरुष अर्थात परमात्मा भी बसता है जो सब कुछ का साक्षी है पालनकर्ता है, भोक्ता है और है महेश्वर।

वह भोक्ता है यह कसे?" अर्जुन को शका हुई।

पुरुष जो भी भोग करता है उसका परम भोक्ता तो वह परम पुरुष है ही भले ही इस भोग को वह अनासक्त रूप म ही भोगता है। इसी रूप म वह भोक्ता अथात परम भोक्ता है।

"इस प्रकार जो पुरुष और प्रकृति को उसके सभी गुणो के साथ जान लता है वह कमा भी वर्ताव करे किन्तु उसका पुनजन्म नही होता।

'अथात ज्ञान का भी महत्त्व है अर्जुन ने सोचा हुआ करे पर उसके लिए तो भक्ति ही पयाप्त है और श्रीकृष्ण पहले भी कह चुके हैं कि मेरा अनन्य भक्त ही मुझे सबसे अधिक प्रिय है। प्रकृति और पुरुष की यह विशद व्याख्या अर्जुन क लिए बहुत भारी पड रही थी किन्तु श्रीकृष्ण के मुख स निस्सत होन के कारण इस सुनना ही था। किन्तु उसके मन म एक बात आ रही थी अगर अपने अन्दर आत्मा क अलावा वह परमात्मा भी बैठा हुआ है तो क्या उसका दशन अपने ही भीतर सभव है? श्रीकृष्ण शायद उसके मन की बात पकड गए और स्वय आरम्भ किया— कुछ लोग तो ध्यान-योग द्वारा, कुछ कम योग द्वारा और कुछ ज्ञान योग द्वारा अपने अन्दर स्थित उस परमात्मा को स्वय देख लेते हैं।"

अर्जुन को आश्चय हुआ। कम-योग ज्ञान-योग तो स्पष्ट है ध्यान-योग का अथ तो भक्ति ही है। अभी एक क्षण पूव तो वह सोच रहा था कि भक्ति ही उसक लिए सरल माग है और अब श्रीकृष्ण ने स्वय ही स्पष्ट कर दिया कि भक्ति द्वारा भी अन्त स्थित परमात्मा का दशन सभव है। किन्तु अर्जुन के आश्चय का विषय

केवल यही नही था। उसे आश्चय श्रीकृष्ण के मम वयात्मक प्रयत्न पर हा रहा था। उन्होन नान कम और भक्ति के मध्य के विवाद को ही ममाप्त कर दिया था। तीना म मे किमी द्वारा हृदयस्थ परमात्मा का दशन सुलभ था।

दूमर लोग ,र्थात व जो इन तीनो म स कोई माग नही जानते और व दूसरा से सुनकर मेरी उपासना करत है, मेर स्वरूप अथवा कीर्ति के सुनने म निरन्तर तत्पर है व नाग भी मत्यु को पार कर जाते है। उनका भी जन्म मत्यु का चक्कर ममाप्त हा जाता है।

'अर्थात कथा श्रवण अथात कीतन का भी वही महत्व है जो कम ज्ञान और भक्ति का है ?

'अवश्य क्योकि परमात्मा के कीर्तिगान को सुनना, सदग्रन्था का पारायण करना उनके प्रति भक्ति हा ता है। श्रीकृष्ण ने समाधान रखा।

यह ममझ लो अजुन! श्रीकृष्ण न आरम्भ किया, "कि इस ससार मे जा कुछ भी स्थावर या जगम वस्तु ह वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ क सयाग से ही उत्पन्न है।'

'अर्थात शरीर और आत्मा के सयोग स ? क्याकि क्षेत्रज्ञ तो आत्मा ही है न'

'अवश्य!" श्रीकृष्ण ने कहा, किन्तु इन दानो के अलावा उस तीसरे तत्त्व परमात्मा को भी तो नही भूला जा सकता।"

यह तो ठीक है' अजुन ने कहा और श्रीकृष्ण ने इस तीसर तत्त्व की बात को और आग बढाया "और य सभी तो विनाशकारी है अर्थात स्थावर, जगम सभी। इनम जो उस अविनाशी तत्त्व को जा सवत्र समभाव से स्थित है देख पाता है वही वस्तुत दखता है। शेष आख रहत हुए भी दख कहा पात हैं ?

उस परमात्मा का सवत्र समान रूप से स्थित देखन वाला व्यक्ति किसी भी तरह अपना आत्मा का हनन नही कर पाता अत वह परम गति को प्राप्त करता है।"

कस ?' अजुन के मुख से अनायास निकला।

वह ऐसे कि व्यक्ति अपनी आत्मा का हनन तभी करता है जब वह किसी भी जीव की उपक्षा और अनादर करता है। उसकी हत्या तक करता है। जो सवत्र परमात्मा को ही दखन लगेगा वह किसी भी जीव का अनादर नहा कर सकता अत उसकी आत्मा का हनन सभव नही है।

एक बात और जान लो कि जो यह दख लेता है कि सारे काय प्रकृति द्वारा हा किए जा रहे ह और मैं कुछ नही करता वही वस्तुत देखता है अर्थात वास्तविकता का बोध उसे हा हा पाता है।'

'अथात जसा तुमने पहले कहा, हम निमित्त मात्र हैं।' अजुन न निवेदन किया।

हा! श्रीकृष्ण ने कहा और आगे बात, जब वह विभिन्न प्राणियो के भिन्न भिन्न स्वरूपा का पथक पथक नहीं देखकर सबम एक ही परमात्मा की व्याप्ति अथवा विस्तार दखता है तब वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

किन्तु यह भी जान लो कि अव्यय, निगुण और अनादि होने के कारण वह परमात्मा न तो स्वय कोइ कम करता है न कर्मों म लिप्त ही होता है।"

'जो स्थिति परमात्मा की है वही आत्मा की समझो। इसे मैं एक उदाहरण

द्वारा स्पष्ट करूंगा, जैसे सर्वत्र व्याप्त होकर भी आकाश अपनी सूक्ष्मता के कारण किसी वस्तु से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सभी प्राणियों में स्थित होने के बावजूद आत्मा भी निर्लिप्त ही रहता है।"

आकाश की बात नहीं समझ में आई।' अर्जुन ने निवेदन किया।

'इसमें क्या समझना है अर्जुन! आकाश में मेघ घिरते हैं, धूल गर्द चढ़ती है पर उस सबका उस पर क्या प्रभाव होता है? वह स्वच्छ का स्वच्छ ही रहता है। घड़े में देखो तो वहां का खाली स्थान जिसे आकाश कहते हैं उसमें भी कभी पानी भरता है कभी दूध भरता है पर इन्हें निकाल दो तो वह खाली स्थान जैसे का तैसे रहता है।

'जैसे एक ही सूर्य सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है उसी प्रकार इस शरीर इस क्षेत्र का स्वामी आत्मा सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित अथवा जीवन से स्पन्दित रखता है।

"यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की चर्चा तुम्हें नीरस भी लगी होगी" श्रीकृष्ण ने इस प्रसंग को समाप्त करते हुए कहा "पर जो लोग क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात शरीर और आत्मा के अन्तर को पहचानते हैं और जो जीवन प्रकृति तथा मोक्ष के साधनों को अपनी ज्ञान दृष्टि से देखने में समर्थ हो जाते हैं वे परम पद के अधिकारी बन जाते हैं।"

'मोक्ष के साधन तो आप कई बार बता चुके हैं—कर्म ज्ञान भक्ति ये तीन ही तो साधन हैं उसके और इनमें भक्ति ही मेरे लिए सहज और सुखद है' अर्जुन के मन में आया कह दे परन्तु उसने अभी इसे नहीं कहना ही उचित समझा। क्या पता श्रीकृष्ण उसके मन की बात को पढ़कर पुनः स्वयं कभी इस बात पर लौट आयें।

बयासी

श्रीकृष्ण को लग रहा था कि वे एक ऐसे विषय को अनजाने छेड़ बैठे हैं जिसका शीघ्र अन्त ही नहीं हो रहा। उनका लक्ष्य तो मात्र अर्जुन को युद्ध के लिए सन्नद्ध कर देना था। इसके लिए आत्मा के अमरत्व और मृत्यु की व्यर्थता को सिद्ध कर देना ही पर्याप्त था। अपने सखा और सम्बन्धी अर्जुन को कर्म की प्रधानता और फलाकांक्षा को त्यागने का उपदेश दे उन्होंने उसके समक्ष शान्ति और सुख के पथ को भी प्रशस्त कर दिया था। अपने विराट रूप और फिर सौम्य सुदर्शन रूप के दर्शन करा उन्होंने उसके भक्ति भाव को भी जीत लिया था और कर्म योग के साथ साथ भक्तियोग के प्रति भी उसे अनुरक्त कर दिया था। साथ ही साथ यह स्पष्ट कर कि प्रतिपक्ष के सभी योद्धा तो पहले ही मारे जा चुके हैं उसे तो निमित्त मात्र बनना था। उन्होंने उसको अपनी विजय के प्रति आश्वस्त भी कर दिया था। इतना पर्याप्त था और उनके इंगित पर वह किसी क्षण भी युद्ध रत हो सकता था किन्तु बात थी कि बढ़ती ही जा रही थी। जानने योग्य सभी बातों को अर्जुन को बता कर ही वे दम लेना चाहते थे। ऐसा अवसर पुनः कब आये न आये अतः वे

अजुन को जो उनका शिष्यत्व स्वीकार कर चुका था वचित नही छोड सकते थे। यही कारण था कि कम और भक्ति के महत्व का सिद्ध कर अब वे उस नान की बातें बतान पर उताह थे। उन्हें याद है वे अजुन को बता चुके हैं कि ज्ञान के सदश पवित्र वस्तु यहा कोई और है ही नही — न हि ज्ञानन सदृश पवित्रमिह विद्यत।

एसी स्थिति म वे अजुन के समक्ष नान-योग को पूरी तरह उदघाटित नही करे तो यह उसके प्रति अन्याय के सिवा और क्या होगा? किन्तु यहा वे अत्यधिक सावधानी का सहारा ले रहे थे। जस सूरज की प्रथम रश्मियो के स्पश से प्रस्फुटित कमल पुष्प धीरे धीरे अपनी पखुडियो को खोलता है उसी तरह व शन शन, क्रमश ही इस पक्ष को उसके समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे थे। सरल बातो को पहले और कठिन को बाद म रख कर व उसी तरह आगे बढ रहे थ जसे कोई किसी ऊचाई पर स्थित मदिर के सोपानो की पक्तियो को क्रमश पार करता हुआ गभ गह तक पहुचता है।

गभ गह की बात आई तो श्रीकृष्ण मन ही मन मुसकरा पडे। अभी तो गर्भाधान की ही बात करनी है। सष्टि के गर्भाधान की। सष्टि की उत्पत्ति क रहस्य को अजुन पर प्रकट करना था और बिना गर्भाधारण के तो कही कोई उत्पत्ति होती नही। पर इस बात पर आने के पूव एक छोटी भूमिका आवश्यक थी इस प्रसग के महत्त्व को स्पष्ट करना था, अत श्रीकृष्ण न आरम्भ किया

'अजुन पुन अब मैं नानो म उत्तम परम नान को तुम्हारे समक्ष रखूगा जिसको नात कर मुनि गण इस ससार स विदा होने के पश्चात परम गति को प्राप्त करते हैं।

'इस नान की प्राप्ति के कारण मेरे सामीप्य का लाभ प्राप्त करने वाले व्यक्ति सृष्टि के काल मे भी जन्म नही लते और प्रलय काल भी उन्हे पीडित नही कर पाता।

'कौन सा है वह नान जो व्यक्ति को आपके इतना समीप ला देता है और जन्ममरण के बधन से उसे इस तरह मुक्त कर देता है? अजुन को उत्सुकता हुई।

यह प्रकृति मेरी योनि है और मैं उसम गभ स्थापित करता हू। इस तरह सभी जीवो की उत्पत्ति होती है।

'तब तो प्रकृति माता हुई और पुरुष अर्थात तुम पिता हुए इस सम्पूण सष्टि के?

कहना तो यही चाहता हू।' अजुन द्वारा बात को इतना शीघ्र समझ लेने पर श्रीकृष्ण को प्रसन्नता ही हुई। साथ ही मैं यह भी बता दू कि इस प्रकृति को मैं ब्रह्म हा नही 'महद ब्रह्म मानता हू।

क्या?

क्योकि सष्टि म माता का स्थान सदा प्रधान होता है।

अर्थात तुम ब्रह्म हुए तो यह प्रकृति महद ब्रह्म।

अवश्य।

मनुष्य ही नही श्रीकृष्ण ने पुन आरम्भ किया "सभी कोटियो के जो प्राणी उत्पन्न होते है उन सबकी योनि यह प्रकृति ही है और मैं उनका बीज-दाता पिता हू।

'... ... गए तो आगे की बात सुनो जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है,"

श्रीकृष्ण न कहा, 'यह अविनाशी आत्मा तो ब धन रहित है लेकिन प्रकृति से ही उत्प न जो तीन गुण है—सत्व रज और तम व ही उसक इस देह म ब धन का कारण बनत हैं।

अर्थात रज और तम की बात ता पथक यह सत्व गुण भी ब धनकारी है?" अजुन को आश्चय हुआ।

हा।

'यह कसे?

इसम स देह नही कि सत्त्व गुण सबम निमल हाने के कारण प्रकाशवान और सुखकारी है कि तु वह भी सुख और ज्ञान के बहान तो हम बाधता ही है। सत्त्व गुणी किसी का दु ख नही द यह तो ठीक कि तु स्वय के सुख की कामना ता उसे भी होती है। फिर वह ज्ञान की उपासना करता ही है। ज्ञान जनित अहकार भी तब उत्प न हो सकता है। इस तरह सत्त्व गुण भी ब धनकारी है।

'और रजोगुण? वह कस बाधता है?

रजोगुण उत्प न होता है राग म। राग का अथ प्रेम और क्राध कुछ भी हो सकता है। इसके साथ लगी रहती है कामना। तो कामनापूर्ति के लिए तो कम की आवश्यकता हागी ही और जब कम कराग ता वह बधेगा ही।

कि तु जब तुम्हारे कम योग का सहारा लिया जाय? जब निस्सग और फलाकाक्षा मे रहित होकर कम सम्पादित किया जाय?

तब वह कहा से बाधेगा? मरे पूरे स देश का ता सार यही है। श्रीकृष्ण को प्रस नता हुई कि कम याग पूरी तरह घर कर गया है अजुन के अ दर।

अब तमागुण की बात सुनो श्रीकृष्ण ने आरम्भ किया 'इसका ता बात ही निराली है। यह तो बाध बाधगा ही। यह अज्ञान स पदा होता है। प्राणिया मे माह की उत्पत्ति का कारण यही है और रजोगुण अथवा यक्ति म आलस्य प्रमाद और निद्रा की अधिकता है। वह इ ही से बधता है।

'सूत्र रूप म सुनो तो सत्त्वगुण सुख से रजोगुण कम से और तमोगुण 'प्रमाद स लोगो को बधन म डालता है। तमोगुण की विशषता यह है कि वह ज्ञान को अज्ञान क अ धकार से ढक दता है।

'क्या पथक पथक यक्तिया म इनम स एक एक गुण की सदा प्रधानता रहती है? अजुन ने पूछा।

ऐसा हो सकता है श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया पर तु सदा ऐसा होता नहा है।

'तो क्या हाता है?'

'होता यह है कि एक ही यक्ति मे कभी सत्त्व गुण रज और तम का दबा कर प्रधान हा जाता है तो कभी सत्त्व गुण और तमागुण का दबा कर रजोगुण उत्प न हो जाता है और सत्त्व गुण और रजागुण को ढक कर तमागुण प्रधान हो जाता है।'

यह तो बडे काम की बात है। इन तीना की पथक पथक स्पष्ट पहचान बताआग क्या? अजुन न उत्सुक हाकर पूछा।

बताया ता है, अब और स्पष्ट कर दता हू। श्रीकृष्ण न उत्तर दिया। जब शरीर के इ द्रिया रूपी सभी द्वारो मे प्रकाश और ज्ञान का उदय हाता

है तो सत्त्व गुण की वृद्धि होती है ऐसा समझना चाहिए।

"रजोगुण की वृद्धि होने पर लाभ नाना प्रकार की प्रवृत्तियां, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति, विषय भोगों की वासना आदि देखने में आते हैं।

"तमोगुण की वृद्धि होने पर, प्रकाश अर्थात ज्ञान का अभाव, कार्य करने की इच्छा की समाप्ति और प्रमाद की उत्पत्ति होती है।

"और यह भी सुन लो।"

"क्या?' अर्जुन ने उत्सुकता से पूछा।

"एक बार मैंने मृत्यु के उपरान्त की गति पर प्रकाश डाला था न? एक बार और डालता हूं।"

"बताओ।"

"जब सत्त्व गुण की प्रधानता की स्थिति में मनुष्य शरीर छोड़ता है तो वह उत्तम योनियों को प्राप्त होनेवाले निर्मल लोकों में जाता है। जब रजोगुण की प्रधानता की स्थिति में मृत्यु को प्राप्त होता है तो कर्म में आसक्त लोगों की योनियों में जन्म लेता है और जब तम की प्रधानता में मरता है तब मूढ़ अर्थात ज्ञान शून्य प्राणियों की योनियों में जन्म लेता है।

"इसका अर्थ तो यह हुआ कि सत्त्व गुण की प्रधानतावाले जहां जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाते हैं वहीं रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता वाले इस चक्कर में पड़े रहते हैं?' अर्जुन ने पूछा।

'हां। वस्तुतः आजीवन जिस गुण की प्रधानता रहती है मृत्यु के समय वही गुण प्रधान हो जाता है और तब उसी गुण के अनुकूल फल मिलता है। अतः प्रयास तो यह होना चाहिए कि व्यक्ति में सदा सत्त्व गुण की ही प्रधानता रहे।'

'यहां भी सूत्र रूप में सुन लो' श्रीकृष्ण ने आगे कहा, 'पुण्य-युक्त कर्मों का फल सात्विक और निर्मल होता है। रजोगुणी कर्मों का फल दुःख और तमोगुणी कर्मों का फल अज्ञान होता है। सत्त्व से ज्ञान की, रज से लोभ की और तम से प्रमाद, मूढ़ता और अज्ञान की उत्पत्ति होती है। लोकों की ही बात लो तो सत्त्व गुणी ऊपर के लोकों को जाते हैं, रजोगुणी मध्यलोक अर्थात पृथ्वी पर आते हैं और अधम गुण और कार्य में रत तम प्रधान लोग नीचे के लोकों अर्थात नरक आदि को प्राप्त होते हैं।

'इसमें एक बात समझने की है' श्रीकृष्ण ने रुककर कहा।

'क्या?' अर्जुन को आश्चर्य हो रहा था कि श्रीकृष्ण सत्त्व रज और तम इन तीन गुणों की व्याख्या में क्यों इतना समय दे रहे हैं।

'वह यह कि इन तीनों गुणों के अलावा कर्मों का कोई और कर्ता नहीं है। अर्थात् इन्हीं गुणों में से किसी एक की प्रधानता के कारण कर्म होते हैं। अतः जो इस तथ्य को जान लेता है और इन गुणों के परे हो जाता है वह मेरे भाव को अर्थात मुझे प्राप्त कर लेता है।'

सो बात यह थी कि अर्जुन ने मोक्ष अवस्था को प्राप्त करने के साधन को स्पष्ट करने के लिए ही श्रीकृष्ण को इन तीन गुणों का विशद विश्लेषण करना पड़ा।

अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए श्रीकृष्ण ने कहा, 'जो देह से उत्पन्न होनेवाले इन तीनों गुणों पर विजय प्राप्त कर लेता है वह जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्था के दुःखों से मुक्त होकर अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।

यह तो बड़ी बात है अर्जुन ने सोचा तीनों गुणों पर विजय प्राप्त कर अथवा उन्हें पार कर अमरत्व प्राप्त करना। भला कैसी होती होगी ऐसे व्यक्ति की पहचान जो इन गुणों को पार कर जाता है और कैसे पार करता है वह? और यही बात वह श्रीकृष्ण से पूछ बैठा— इन तीन गुणों से परे व्यक्ति किन चिह्नों अथवा पहचानों द्वारा जाना जाता है? उसका आचार-व्यवहार कैसा होता है और वह कैसे इन गुणों को पार करने में सफल हो जाता है?

जो व्यक्ति प्रकाश अर्थात ज्ञान प्रवृत्ति और मोह इनको प्राप्त कर न तो इनसे द्वेष करता है अर्थात ये क्या आये ऐसा सोचता है और जो इनके चले जाने पर इनकी इच्छा नहीं करता जो उदासीन अर्थात तटस्थ व्यक्ति की तरह इस संसार में रहता है तीनों गुणों से जो विचलित नहीं होता सर्वत्र गुणों का ही खेल है ऐसा समझ कर जो स्थित रहता है और विचलन को नहीं प्राप्त करता जो सुख-दुख को समान समझ कर स्वस्थ भाव से युक्त रहता है जो मिट्टी पत्थर और स्वर्ण को समान समझता है, जो धैर्यवान व्यक्ति प्रिय और अप्रिय को निन्दा और स्तुति को, मान और अपमान को शत्रु और मित्र को समान भाव से देखता है जिसने सभी कर्मों का त्याग कर दिया है वही इन तीनों गुणों में रहित होता है।

'इन तीनों गुणों को पार कर जाने का उपाय? कोई सहारा?' अर्जुन के मुख से अनायास निकला। तीनों गुणों को पार करने पर तो आनन्द ही-आनन्द है अर्जुन ने सोचा पर इनसे पार पायें तो कैसे?

मेरी अनन्य भक्ति। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट उत्तर दिया जो अनन्य भक्ति से मेरी उपासना करता है, वह इन तीनों गुणों को अच्छी तरह पार कर ब्रह्म बनने के योग्य बन जाता है।

भक्ति अनन्य भक्ति अर्जुन सोचने लगा अन्ततः श्रीकृष्ण उसी बात पर आये न जिसकी उसे कामना थी। उसने सोचा था न कि भक्ति ही उसके लिए सभी साधना से सरल है और समय आने पर पुनः श्रीकृष्ण स्वयं इस बात को स्पष्ट कर देंगे। हुआ न वही। वह सभी सहारा को छोड़ केवल इनकी भक्ति में ही मन देगा और जिस ब्रह्म की बात वे कह रहे हैं क्या वह नहीं जानता कि इनके सिवा वह कोई अन्य नहीं है।

मैं ही अमर और अविनाशी ब्रह्म का अर्जुन सोच ही रहा था कि श्रीकृष्ण ने पुनः उसके मन की बात कह दी, शाश्वत धर्म का एकान्त सुख का, आश्रय अथवा स्थान हूँ।'

श्रीकृष्ण की इस उक्ति पर अर्जुन का मन उत्फुल्ल कमल की तरह हो आया और उसने सोचा कितना सौभाग्यशाली है वह कि ऐसे श्रीकृष्ण ऐसे ब्रह्म, सुख आनन्द के ऐसे साक्षात स्रोत को उसने सखा के रूप में प्राप्त किया है उनके सतत सान्निध्य का लाभ मिला है उसे। अच्छा ही हुआ जो उसे रजोगुण ने ग्रस लिया —रजोगुण के सिवा था भी क्या वह जिसके कारण वह युद्ध विरत होना चाहता था—कि उसे श्रीकृष्ण के इस स्वरूप के ज्ञान का यह अवसर प्राप्त हुआ।

'एक पीपल का पेड है। उसकी जड ऊपर है किन्तु डालिया नीचे है। वदिक मन्त्र इसके पत्ते है।" श्रीकृष्ण ने आरम्भ किया।

'यह कोई कहानी है क्या?" इस विचित्र वणन को सुनकर अजुन ने टोका।

'यह कहानी नही है। यह तत्त्व दशन है। इस वक्ष को जो ठीक स जानता है उसे ही पडित समझा या समझो वद-वेत्ता। यह कहानी भी है तो यह ससार की कहानी है। इसी सृष्टि की कहानी है।"

"यह कसे? अजुन ने जिज्ञासा की।

'यह इस प्रकार कि ससार की उत्पत्ति का मूल ब्रह्म है और वह ऊपर है। जब मूल ऊपर है तो शाखाए अथात विश्व के विभिन्न प्राणी नीचे की ओर ही तो फलेंगे? वदिक छन्द इसके पत्ते इस रूप म है कि पत्ता क बिना वक्ष का अस्तित्व रह नही सकता वह नष्ट हो जायगा। उसी तरह वेदो क ज्ञान और उनके अनुसार आचरण के बिना यह विश्व-वक्ष भी नही रहने को।'

अजुन के मन मे आया कि वह श्रीकृष्ण से पूछे कि आपने तो वेदो के कम काड का विरोध किया था फिर उसे याद आया कि निस्वाथ भाव से किया गया कम, कम-योग का आश्रय लेकर किया कम तो सवश्रेष्ठ है ही और श्रीकृष्ण के अनुसार एक क्षण को भी हम बिना कम के रह नही सकते अत उसने अपने प्रश्न को स्थगित कर दिया।

"ऊपर नीचे की तरफ इस वक्ष की शाखाए फली हुई है,' श्रीकृष्ण ने अपने कथन को आगे बढाया जो अजुन को एक कहानी का ही आनन्द दे रहा था, विषय वासना रूपी कापले इन शाखाओ स फूट रही हैं और ये कापलें मेरे द्वारा बताए तीनो गुणो—सत्व, रज और तम के सहारे वद्धिशील हो रही हैं। इस वक्ष की कुछ जडें नीचे की ओर भी फली हुई है। ये जडें कम रूपी ही है जो मनुष्य लोक म मनुष्य क बन्धन का कारण बनती है।

'नीचे की ओर की जडा का तात्पय नही समझा। अजुन ने अनभिज्ञता व्यक्त की।

"बरगद वक्ष को दखा है? उसकी कुछ जडें ऊपर डालियो से उतर कर नीचे धरती मे भी नही समा जाती हैं क्या? और य जडें वक्ष को और अच्छी तरह धरती म नही बाध देती हैं क्या?'

'एसा तो होता है। अजुन न हामी भरी।

'तो इसी तरह ससार रूपी इस वक्ष को भी समझो। किन्तु यहा जो वास्तविक मूल है वह तो ऊपर है ब्रह्म प्रसूत है वह। अत बन्धनकारी तो वह नही बनता। पर बरगद की नीचे उतरती जडो की तरह जो कम हैं वे ही यहा बन्धन के कारण बनते हैं।

'तो तुमने पीपल के बदले बरगद वक्ष की ही कहानी कही होती।

'अब कहा न यह कहानी नही है और मानना हो तो तुम इस बरगद वक्ष ही मान सकते हो। पीपल और बरगद म बहुत अन्तर नही है।'

'ठीक है। अजुन न कहा पर ऐसा कुछ लगता तो नही अर्थात जिस रूप म तुम इस ससार का वणन कर रहे हो उस रूप म यह प्रतीत तो नही होता।"

नही होता, यही मैं कहन जा रहा था और इसीलिए लोग धोखा खाते हैं। कर्म-बंधन म बंधने हैं। वृक्ष का सहारा तो मात्र उपमा क लिए लिया गया है, मूल बात तो यह है कि ब्रह्म से प्रसूत इस उलटे लटके विश्व म कर्म म आसक्ति ही है जो लोगो को ब धन म डालती है।

"इस विश्व रूपी वृक्ष का न आदि है न अन्त,' श्रीकृष्ण ने आगे आरम्भ किया न इसका आधार ही प्रत्यक्ष दिखलाई पडता है किन्तु है यह विश्व वृक्ष अत्यन्त दृढ और जसे किसी वृक्ष को काटने क लिए तेज शस्त्र की आवश्यकता होती है उसी तरह असंग रूपी तीक्ष्ण शस्त्र से इस दृढमूल वाले विश्व-वृक्ष को काटकर व्यक्ति को उस स्थान अर्थात लोक को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए जहा पहुचकर फिर लौटना नही होता। इसके लिए उसी आदि पुरुष की शरण म जाना पडेगा जिसम यह पुरातन प्रवृत्ति अर्थात सृष्टि निस्सृत हुई है।

'अर्थात भगवद्भक्ति?' अर्जुन अपने मन की बात सुनकर प्रसन्न हुआ।

हा किन्तु मैं जिस परमधाम की प्राप्ति की बात कर रहा था उसकी प्राप्ति भगवदभक्ति के अलावा और बातो की भी अपेक्षा करती है। जो मान और मोह से मुक्त हो गए हैं संग-दोष अर्थात आसक्ति जिनके अन्दर नही है जो नित्य आत्मा मे ही लीन हैं, जिनकी सारी कामनाए निःशेष हो गई हैं जो सुख-दुःख नामक द्वन्द्व से मुक्त हो गए हैं ऐसे ही मूढ़ता रहित लोग उस अव्यय पद को प्राप्त करते हैं।

'वह तो तुम्हारा ही स्थान है न? तुम्हारा धाम?' अर्जुन को इस अव्यय पद के सम्बन्ध म कोई सदेह नही था फिर भी उसने पूछा।

हा, श्रीकृष्ण ने कहा वह मेरा ही स्थान है जहा जाकर फिर लौटना नही होता। किन्तु उसके सम्बन्ध म कुछ और विचित्र बातें बताऊ?'

"अवश्य यह तो तुम्हारी अतिरिक्त कृपा होगी।

"न वहा सूर्य चमकता है न शशि, न अग्नि। समझे कुछ? श्रीकृष्ण ने ही कहा।

समझ गया, वह तुम्हारा लोक तुम्हारे स्वयं के प्रकाश म ही इस तरह प्रकाशित है कि वहा सूर्य चन्द्रमा अथवा अग्नि की आवश्यकता है?

बहुत ठीक। अब आगे सुनो। मेरा ही अंश इस जीव लोक म जीव अर्थात प्राण के रूप मे सनातन काल से स्थित है। यही प्रकृति म प्राप्त मन और पंच इन्द्रियो को खीच कर अपने युक्त कर लेता है।'

'अर्थात तब एक प्राणी पैदा हो जाता है।'

हा।

'किन्तु तुमने मन और इन्द्रियो को प्रकृति म स्थित क्या बतलाया?' अर्जुन ने नही समझ कर पूछा।

'क्योकि मैं पहले ही बता चुका हू कि उस अपरा प्रकृति से जब मेरी परा प्रकृति का सयोग होता है तो सृष्टि होती है। मन, इन्द्रिय आदि इस अपरा प्रकृति के ही तो अंग है। ये जीव के साथ थोडे लगे रहते है। वह जीव वह मेरा अंश तो इनसे सर्वथा पृथक है। किन्तु एक बात होती है।'

"क्या?

"जब यह जीव शरीर ग्रहण करता है उस समय तो इनको अर्थात मन और इन्द्रिया का अपने साथ कर लेता है पर जब वह शरीर छोडता है तब भी जसे वायु गन्ध का लिए जाती है उसी तरह वह इनको अपने साथ लिए जाता है।"

"क्या ?'

'क्याकि दूसरे शरीर म इनकी आवश्यकता तो पडती है।'

तब तो मन और इन्द्रियो पर पडे अच्छे बुर सस्कार भी वह दूसरे शरीर म ले जाता है ?

"अवश्य। इसीलिए तो अच्छे सस्कारो क विकास की आवश्यकता है। खर, आगे सुना।

'यह जीव मेरा ही अश जा या ता निर्विकारी और विषया स पथक है, वही जब शरीर धारण कर लता है तो कान आख त्वचा जिह्वा नासिका और मन द्वारा विषयो का सवन आरम्भ कर दता है।'

"क्या यह जीव, यह तुम्हारा अश लोगो की दष्टि म आता है ? काइ इस देख भी पाया है ?'

'हा, मूख तो नहा देख पाते किन्तु जिनके ज्ञान चक्षु खुल हैं वे इस जीव को अथवा मेर अश को उस समय भी देखते हैं जब यह शरीर छोडने लगता है, उस समय भी देखते है जब वह इस शरीर म वर्तमान रहता है और प्रकृति क तीनो गुणा—सत्व, रज और तम—क अधीन हो नाना भोगो का भागता है। साधना म लगे योगी लोग अपने अन्दर स्थित इस आत्मा का देख लेत ह लकिन जो शुद्ध चित्त वाले नही ह और जिनकी चतना विकसित नही हुई है वे प्रयास करके भी इस देख नही पात।"

अजुन सोच रहा था क्या उसके लिए इस देखना सभव हागा ? फिर उसन साचा उसने तो श्रीकृष्ण कृपा से आत्मा क्या परमात्मा के ही दशन कर लिए हैं। अब वह आत्मा को देखे या न देखे क्या अन्तर पडता है ? श्रीकृष्ण क उन दो रूपो को देखने के पश्चात अब कुछ देखने को शेष भी रह जाता है क्या ?

जा सूय का तज सम्पूण ससार का प्रकाशित करता है जा तज चन्द्रमा म है, जो अग्नि म है वह मेरा ही तज है एसा समझो।' श्रीकृष्ण बोलत जा रहे थे, पथ्वी मे प्रविष्ट होकर मैं अपने प्रताप स सब प्राणिया को धारण करता हू और रस से परिपूण हाकर चन्द्रमा बना मैं सभी औषधियो का पोषण करता हू। मैं ही प्राणिया के अन्दर जठराग्नि बनकर वास करता हू और प्राण और अपमान स युक्त होकर चारो प्रकार के अन्न—भक्ष्य भोज्य चव्य और लेह्य—का पचाता हू।

'सबके हृदय म मैं ही बठा हुआ हू। मुझसे ही स्मति ज्ञान और विस्मति की स्थिति आती है। सभी वेदा क द्वारा मैं ही जानने याग्य हू मैं ही वेदान्त का रचयिता हू, वेदो को जानन वाला भी मैं ही हू।

"और एक बात ध्यान से सुना।

क्या ?

इस ससार म दा पुरुष है — क्षर और अक्षर। क्षर अथवा नाशवान। अक्षर अर्थात अविनाशी। जगत क सभी जीव क्षर हैं अर्थात इनका नाश हाता है किन्तु इनक अन्दर स्थित जा आत्मा है वह अक्षर है। वह अक्षर पुरुष है। शेष सभी क्षर पुरुष हैं।'

'चकि मैं क्षर से अतीत हू और अक्षर से भी उत्तम हू अत लाक और वेद दाना म पुरुषोत्तम रूप म ख्यात हू।

'जा माहरहित व्यक्ति इस तरह मुझे पुरुषात्तम रूप म जानता है वह सब कुछ जानता है और सब तरह स मरी ही उपासना करता है।'

इतना कहकर श्रीकृष्ण रुके और फिर बोल "अजुन, तुम पापरहित हो अत मैंन तुम्हे यह गुह्यतम ज्ञान बता दिया। इस जानकर मनुष्य बुद्धिमान् और कृत कृत्य हा जाता है।"

चौरासी

श्रीकृष्ण ने अभी अभी अजुन को बताया था कि उनके द्वारा वर्णित ज्ञान को जान कर व्यक्ति बुद्धिमान और कृतकृत्य हो जाता है। वह सोच रह थे बुद्धिमान होना ही पर्याप्त है क्या? बुद्धिमान भी अगर आचरण हीन है सदाचार नही कदाचार को, शौच नही अशौच को प्रश्रय दता हो तो उसकी बुद्धिमत्ता किस काम की? वे जानत थे कि चरित्र का स्थान बुद्धि स ऊपर है। विद्या जब तक क्रिया के स्तर पर नही उतरे आचरण के परिष्कार का कारण नही बन तब तक वह व्यथ है। अत उन्हाने तय किया कि आचरण सम्बधी बाता को भी अजन पर प्रकट कर देना चाहिए और वे बाल

अजुन इस विश्व म मनुष्य दो प्रकार की प्रवतिया लेकर हा आता है एक दवी और दूसरी आसुरी। इन प्रवतिया का जानना आवश्यक है, अत मैं उन पर कुछ विस्तार म प्रकाश डालगा।

मुझे प्रसन्नता होगी। अजुन ने उत्सुकता दिखाई।

निभयता अन्त करण की शुद्धता ज्ञान और योग म सम्यक स्थिति दान दम यज्ञ स्वाध्याय तप सरलता अहिंसा सत्य क्रोध का अभाव त्याग शाति, दूसरा की चुगली नही करना प्राणियो के प्रति दया निर्लोभता कोमलता लज्जा चचलता का अभाव तेज क्षमा, धय पवित्रता द्रोह की अनुपस्थिति निरभिमानता य सब उनके गुण है जो दवी सपदा अर्थात विशेषता लेकर उत्पन्न हात है।

'दम्भ दप अभिमान, क्रोध निष्ठुरता अज्ञान य उनके लक्षण है जो आसुरी सपदा लेकर उत्पन्न होत है।

दवी सम्पदा मुक्ति प्रदायिनी होती है जबकि आसुरी सम्पदा बधन का कारण बनती है।

अजुन इस समय सोचने लगा वह किस श्रेणी म जायगा? श्रीकृष्ण तो बहुत सारी *दवी विशेषताए गिना गए क्या वह* ।

श्रीकृष्ण शायद अजुन के मनोभावा को पढने म सफल हो गए और बोले, तुम अपनी चिन्ता नही करना अजुन? तुम दवी-सम्पदा से युक्त उत्पन्न हुए हो।

'जसाकि मैंने पहल कहा श्रीकृष्ण ने बात आग बढाई, 'इस ससार मे दो प्रकार के प्राणिया की सष्टि हुई है—दवी और आसुरी।

श्रीकृष्ण को लगा कि उन्होंने दवी विशेषताओ की तो एक लम्बी सूची अजुन के समक्ष रख दी पर आसुरी पर थोडा ही प्रकाश डाला, अत, स्वत बोले, "दवी लक्षणों का तो मैंने विस्तार से वणन किया, अब आसुरी प्रवत्तिया को भी सुन लो

"आसुरी स्वभाव के लोग न तो कार्यों म प्रवत्ति अर्थात रत होने की बात ठीक से जानते हैं न निवत्ति अर्थात कार्यों के न करने की ही बात को। उनम न पवित्रता होती है न आचार न उनम सत्य ही देखा जाता है। वे मानत है कि यह समार असत्य है आधार-हीन है इमका कोई ईश्वर नही है तथा इसकी उत्पत्ति अनायास और अनियोजित अर्थात पूर्वापर सम्ब ध से रहित है, अत कामना पूर्ति मे सहायक होने के अलावा इमका और कोई प्रयोजन ही नही है।'

ईश्वर नही है क्या कहते हैं लोग अजुन ने सोचा। कभी वह भी शायद यह सोच सकता था कि ईश्वर हो भी सकता या नही भी हो सकता। पर अब? अब जब सब कुछ उसने अपनी आखो ही देखा है तो वह कैसे कह सकता है कि ईश्वर नही है और केवल कामना पूर्ति का स्थल है यह विश्व? छि अजुन के मन ने प्रतिकार किया। ऐसे आसुरी प्रकृति के लोगो से तो ससार का भारी अहित होगा।

अजुन यह सोच ही रहा था कि श्रीकृष्ण जसे उसके मन की बात जानकर बोल पडे, 'ये अल्पबुद्धि नष्टात्मा, उग्र कर्मा तथा सबके अहितकारी लोग अपने इस दृष्टिकोण का सहारा ले इस विश्व के विनाश के लिए ही उत्पन्न हुआ करत हैं। कभी न पूण होने वाली कामना का आश्रय ले दम्भ मान और मद से भरे मोह वश बुरे आग्रहो मे युक्त ये लोग अपवित्र लक्ष्या की पूर्ति हेतु कार्यों म प्रवत्त हात हैं।

"इनकी चिन्ता का कोई अन्त नही होता। इनका वश चले तो प्रलयकाल तक वे इन चिन्ताओ-कामनाओ से ही ग्रस्त रहें। ये कामोपयोग म ही तत्पर रहत हैं और इस सबके अलावा और कुछ का कोई अथ ही नही होता ऐसा निश्चय किए बठे होत हैं ये। सकडा आशाओ के पाश म बध काम और क्रोध के वशीभूत ये लाग अपनी कामनाओ के भोग हेतु अन्यायपूण उपाय स धन-सचय मे लग रहते हैं।'

इस विस्तत वणन के बाद श्रीकृष्ण कुछ रुके और फिर इन आसुरी प्रवत्ति वालो के चरित्र के एक बडे मनोरजक पक्ष का उन्होने चित्र खीचा—'जानत हो अजुन! ये अपनी अन्यायपूण प्रवत्तियो और अहकारी वत्तियो म ही आनन्द पाते हैं। इनकी कामनाओ-वासनाओ का कोई अन्त ही नही होता। व सोचत हैं मैंने आज यह प्राप्त कर लिया फिर अब इस मनोरथ को पूण करूगा। यह धन तो मेरे पास है ही यह धन भी मुझे प्राप्त होकर रहेगा। व सोचत हैं यह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और शत्रुओ को भी मार डालगा। वे समझते हैं मैं ही ईश्वर हू मैं ही सब भोगो का अधिकारी हू मैं ही सिद्ध हू बलवान् और सुखी हू।

अर्थात् उनके अहकार का कोई अन्त नही होता?' अजुन ने टोका।

नही होता,' श्रीकृष्ण ने कहा व सोचते हैं मैं धनवान् हू उच्चकुल म पैदा हुआ हू मेरे सदृश और कौन है? इस प्रकार अज्ञान मे मोहित ये सोचते हैं कि मैं क्या नही कर सकता हू—मैं यज्ञ करूगा दान करूगा और सब कुछ करत

हुए आनन्द का उपभोग करूंगा।"

"इनकी तो बड़ी दुर्गति होती होगी ?" अर्जुन की जिज्ञासा जगी।

'हां।" श्रीकृष्ण ने कहा, "अनेक रूप से भ्रान्त चित्त वाले मोह-जाल में आवृत्त और कामभोगों में निमग्न ये अपवित्र लोग नरक के भागी ही बनते हैं।

"अपनी ही प्रशंसा में रत, धन मान व मद से युक्त ये मूढ़ दम्भ से भरकर मात्र नाम अर्जन हेतु विधिविधान से रहित यज्ञों में रत होते हैं।

'अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध के वशीभूत ये लोग जो दूसरों की निन्दा में ही आनन्द पाते हैं अपने में तथा अन्यों में भी विराजमान मुझ परमात्मा से द्वेष भाव रखते हैं।

अर्जुन को आश्चर्य हुआ। परमेश्वर से द्वेष तो मूर्खता की सीमा ही हुई। मनुष्य जब अपने को ईश्वर या उससे भी अधिक मानने लगे तो उसके पतन को कौन रोक सकता है ?

'मैं इन क्रूरों और द्वेष भाव वालों को' अर्जुन के मन की ही बात श्रीकृष्ण बोल पड़े, "जो नराधम और अशुभ के अलावा कुछ नहीं बार-बार आसुरी योनियों में ही डालता हूं। प्रत्येक जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त ये मूढ़ मुझे प्राप्त करने में असफल हो अधम गति को ही प्राप्त करते हैं।

श्रीकृष्ण ने विषय परिवर्तन करना चाहा और बोले, "नरक के तीन द्वार हैं जो आत्मा के विनाश के भी कारण हैं। ये हैं काम क्रोध तथा लोभ। अतः इन तीनों को छोड़ना चाहिए। अन्धकार की ओर ले जाने वाले इन तीन द्वारों से जो अपने को मुक्त कर लेता है वह अपने कल्याण-हेतु यत्न करते हुए परमगति को प्राप्त करता है। किन्तु जो शास्त्रोक्त विधियों को छोड़कर मनमाना आचरण करते हैं उन्हें न सिद्धि मिलती है न सुख न परमगति।

श्रीकृष्ण एक बार कर्म, अकर्म और विकर्म की बात कर चुके हैं और यह भी कि क्या कर्म और अकर्म है इसके निर्णय में विद्वान भी समर्थ नहीं होते अतः वे कर्म-अकर्म सम्बन्धी बातों को शास्त्रों पर ही छोड़ना ज्यादा श्रेयस्कर समझते हैं और अर्जुन पर स्पष्ट कर देते हैं 'करणीय और अकरणीय के सम्बन्ध में तुम शास्त्र को ही प्रमाण मानो और शास्त्र द्वारा विहित विधान को जानकर ही तुम इस संसार में कर्मरत होओ।

पिचासी

शास्त्र ? अर्जुन चकराया। मगर शास्त्रों के विधि निषेध का अनुपालन सम्भव है क्या ? और शास्त्रों में भी मतैक्य उपलब्ध है क्या ? भिन्न भिन्न शास्त्र कभी कभी एक ही बात को भिन्न भिन्न स्वरूप प्रदान करते पाये जाते हैं या नहीं ?

तब ? तब बचती है एक ही वस्तु। वह है भक्ति। अर्जुन का मन बार-बार इसी पर क्यों लौटता है ? वह सोचता है। क्योंकि शायद वह उसके लिए सरलतम विधि प्रतीत होती है। उसके लिए मात्र एक शर्त आवश्यक है और वह है श्रद्धा। श्रद्धा के बिना तो भक्ति असम्भव है। तो इस श्रद्धा का ही महत्त्व है। इस प्रकार

एक तरह से यह भक्ति से भी ऊपर है। सर्वोपरि है श्रद्धा। श्रद्धा विकसित हो जाय तो भक्ति स्वयमेव उत्पन्न हो जाय कि नही ?

श्रीकृष्ण कुछ देर पूर्व सात्त्विक, राजसी और तामसी प्रवृत्तियों का उल्लेख कर रहे थे, अर्जुन का सोच चल रहा है। सात्त्विक प्रवृत्तियों की उन्होंने भरपूर प्रशंसा की। अगर सात्त्विकता सध जाय तो और कुछ सधना शेष कहा रहता है ?

तो शास्त्रों का चक्कर छोड केवल श्रद्धा को अपनाया जाय तो कैसा रहेगा ? तब सात्त्विक प्रवृत्ति विकसित होगी कि राजसी अथवा तामसी ? आखिर वह श्रीकृष्ण से पूछ ही बैठा। सिवा उनसे पूछने का उपाय भी क्या था ?

"जो शास्त्रोक्त विधियां का पालन नही कर पाते किन्तु श्रद्धापूर्वक उपासना रत रहते हैं, उनकी निष्ठा को क्या कहोगे ? सात्त्विक, राजसी या तामसी ?"

'श्रद्धा,' श्रीकृष्ण ने सोचा, अच्छा प्रश्न उठाया है पार्थ ने। 'श्रद्धा भी क्या एक प्रकार की होती है ? वह भी तो व्यक्ति-व्यक्ति पर निर्भर करती है। व्यक्ति के स्वभाव से उसका सम्बन्ध नही है क्या ? जैसा स्वभाव वैसी श्रद्धा। वह स्वयं भी तो सत्त्व, रज या तम की प्रधानता से युक्त हो जाती है। अतः, उन्होंने श्रद्धा की इस प्रकृति को ही स्पष्ट कर देना उचित समझा— 'मनुष्यों की श्रद्धा भी उनके स्वभाव के अनुसार तीन प्रकार की होती है—सात्त्विक राजसी और तामसी।

'अपने अन्तर के स्वभाव के अनुसार ही सबकी श्रद्धा होती है। सच पूछो तो मनुष्य श्रद्धामय ही है, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वैसा ही हो जाता है। और इस श्रद्धा के स्वरूप का प्रभाव उसकी पूजा उपासना पर भी पडता है।

"जो सात्त्विक प्रवृत्ति के व्यक्ति होते हैं वे देवताओं की उपासना करते हैं, जो राजसी प्रकृति के हैं वे यक्षो राक्षसो की पूजा करते हैं और जो तामसी प्रवृत्ति के हैं वे प्रेतों और भूत-गणो की उपासना करते हैं।

"काम और राग के बल के वशीभूत और दम्भ तथा अहकार से युक्त जो शास्त्र मे वर्जित कठोर तप करते है वे मूढ लोग शरीर में स्थित पंच महाभूतों को तो कष्ट देते ही हैं उसी शरीर के अन्दर स्थित मुझको भी कष्ट देते हैं। ऐसे लोगो को तुम आसुरी प्रकृति वाले ही जानो।

"ऐसे तीनो प्रकार के लोगो के आहार भी भिन्न भिन्न होते है। यही स्थिति यज्ञ, तप और दान को लेकर भी होती है। इस भेद को तुम सुन लो।

"जो आहार सत्व, बल, आरोग्यकारक हो, सुख और प्रसन्नता की वृद्धि में सहायक हो रस-पूर्ण हो स्निग्ध हो शरीर को स्थिर रखनेवाले हो, रुचिपूर्ण हो वे तो सात्त्विक हैं किन्तु जो कडवे हो खट्टे हो अधिक नमक-युक्त हो अत्यन्त गर्म हो, तीक्ष्ण रूक्ष दाहकारक हो, ये आहार राजसी प्रकृति वालों को प्रिय होते है और इनके सेवन से दुख, शोक और रोग की उत्पत्ति होती है।'

'जो देर का बना हुआ हो, जिसका रस समाप्त हो गया हो सडा हुआ हो बासी हो, जूठा हो गन्दा हो ऐसा भोजन तामसी प्रवृत्ति वालों को प्रिय होता है।

'अब यज्ञों के बारे में सुनो।' श्रीकृष्ण ने आगे कहा।

'जो यज्ञ यह समझ कर सम्पन्न किया जाता है कि इसे करना ही है जिसके पीछे फलाकांक्षा नही होती और जो मन को स्थिर रख विधिपूर्वक किया जाता है वह सात्त्विक है। जो फल की इच्छा से तथा दम्भ प्रदर्शन-मात्र किया जाता है वह राजसी है।

"जो यज्ञ विधिविहीन है, मंत्रहीन है, जिसमे दक्षिणा नही दी जाती तथा जो अश्रद्धापूर्वक किया जाता है वह राजसी है ।"

यज्ञो के वर्णन के पश्चात श्रीकृष्ण तपश्चर्या की चर्चा करने लगे और बोले, 'तप तीन प्रकार के समझो— शारीरिक वाचिक तथा मानसिक ।

'देवता विप्र गुरु और विद्वान की पूजा, पवित्रता मृदुता तथा ब्रह्मचर्य और अहिंसा ये शारीरिक तप हैं। जो वचन सत्य हो उद्वेगकारी नही हो प्रिय और हितकारी हो उन्हें बोलना तथा सद्ग्रन्थो का स्वाध्याय करना और उनका अभ्यास करना ये वाचिक अथवा वाणी सम्बन्धी तप हैं। मन को प्रसन्न रखना सौम्य बने रहना मौन धारण करना आत्मसंयम पर ध्यान देना शुद्ध भावना का आश्रय लेना ये सब मन सम्बन्धी अर्थात मानसिक तप हैं ।

अर्जुन ने ध्यान दिया तपो के इस वर्णन में तो क्लेश का कही नाम ही नही था। अब तक तो वह समझ रहा था कि तप कम-से कम शारीरिक तप तो अत्यन्त कष्टकर कार्य है। निराहार रहना एक पैर पर खडा हो नाम जप करना, पत्ते चबा कर रहना गर्मी मे अग्नि और ठण्ड में शीत का सेवन करना अब तक तो तपस्या का यही रूप उसके सामने था। पर श्रीकृष्ण द्वारा वर्णित तप तो बडा आसान था। अर्जुन को स्मरण हुआ श्रीकृष्ण ने कहा था जो अनावश्यक रूप से शरीर को कष्ट देते है वे मुझे भी कष्ट में डालते हैं और स्वयं भी पीडा भोगते हैं।

अर्जुन यह सोच ही रहा था कि श्रीकृष्ण ने तप के भी तीन प्रकारो का वर्णन आरम्भ किया, 'परम श्रद्धा और योग से युक्त हो फलाकांक्षा रहित जब ये तीनो तप किए जाते हैं तब वे सात्विक तप की संज्ञा पाते हैं। जो तप अस्थिर हैं अर्थात कभी किए गए और कभी नही किए गए तथा जो मात्र सत्कार मान और पूजा की प्राप्ति हेतु दम्भ-पूर्ण रूप से किए जाते हैं वे राजसी है एवं जो तप मात्र मूढ़ता वश शरीर को कष्ट देने के लिए अथवा दूसरों के अहित को ध्यान में रखकर किये जाते हैं व तामसी हैं।

अर्जुन अब समझ सका कि वह जिस कायिक तप को—शरीर को कष्ट देने वाली क्रियाओ को—जो अब तक वास्तविक तपस्या समझने की भूल कर रहा था व तो राजसी तप के अलावा कुछ हैं ही नही अर्थात तपो मे निकृष्टतम तप ।

तप के पश्चात श्रीकृष्ण सात्विक, राजसी और तामसी दान क्रियाओ पर आये। अर्जुन पर अब स्पष्ट हो गया था कि व्यक्ति हो अथवा क्रिया या प्रकृति सबको परखने का एक ही उपाय था कि वह सात्विक है अथवा राजसी या तामसी।

इसका कारण भी था, अर्जुन अपने को समझा रहा था आखिर यह सम्पूर्ण सृष्टि तो गुण प्रधान है। सत्व रज और तम इन्ही तीन गुणो का तो खेल है यह। ऐसी स्थिति में जहा सत्व की प्रधानता है उसे तो प्रश्रय देना ही पडेगा।

"जो दान मात्र देने की इच्छा से दिया जाता है' श्रीकृष्ण आरम्भ हो गए थे और जो ऐसे व्यक्ति को दिया जाता है जिससे कोई उपकार नहीं हुआ हो तथा जो स्थान समय और पात्र को ध्यान में रखकर दिया जाता है वह सात्विक है।

'स्थान पात्र और समय की बात क्या हुई? अर्जुन ने जिज्ञासा की।'

'दान में इन तीनो का महत्त्व होता है, श्रीकृष्ण ने स्पष्ट करना चाहा। यदि तीर्थ-स्थान में दान दिया जाता है अकाल ग्रस्त क्षेत्र में दान दिया जाता है

अनाथालयों मे दान दिया जाता है तो उसका सदुपयोग होगा। जहा पापाचार होता हो, जो द्यूत के अड्डे हो, जहा समद्धि ही समद्धि हो, वहा दान देकर क्या करोगे ? उसी तरह समय की बात लो। अगर जाडे म किसी को सूती वस्त्र और ग्रीष्म म ऊनी वस्त्र दो तो क्या लाभ ? जिस समय कोई व्यक्ति भूख से पीडित हो उसे भोजन अथवा अन्न-दान तप्त कर देगा किन्तु जिस समय उसका पेट भरा हो उस समय उसे भोजन कराकर क्या पाओगे ? पात्र की बात लो तो श्रद्धावान पुजारी-पण्डित को दान दोगे तो वह उसे देव सेवा म लगायेगा, भिक्षुक को दोगे तो वह अपने आवास भोजन की व्यवस्था करेगा, मद्यप और द्यूत प्रेमी को दोगे तो निश्चय ही तुम्हारे धन का दुरुपयोग होगा उससे पापाचार की ही वद्धि होगी।

"जो दान प्रत्युपकार के रूप म दिया जाय या फलाकाक्षा स प्रेरित होकर दिया जाय अथवा जिसको देने म क्लेश हो वह राजसी है।

'स्थान समय और पात्र का ध्यान किए बिना जो दान, अवज्ञापूर्वक और बिना श्रद्धा सत्कार के दिया जाता है वह दान तामसी कोटि का है।

एक बात और बताऊ अर्जुन ? श्रीकृष्ण कुछ रुककर बोले, ' ॐ शब्द का उच्चारण तुमने प्राय हर मत्र के आरम्भ म सुना होगा। इसके महत्व के सम्बन्ध म भी कुछ सुन लो।

बताइए। मेरी भी इस सम्बन्ध म कुछ जिज्ञासा थी।'

ॐ ही नहीं," श्रीकृष्ण ने कहा, ॐ, तत सत य तीनो ब्रह्म के ही तीन निर्देश अथवा स्वरूप है। इन्ही स प्राचीन काल म ब्राह्मण वद और यज्ञ तीनो की उत्पत्ति हुई। एक तरह म समझो तो य तीनो ब्रह्म तत्त्व के ही वाचक है।

'इनम ॐ अधिक महत्त्वपूर्ण है इसीलिए ब्रह्मवत्ता लोग विधानोक्त यज्ञ, तप दान आदि जो भी कार्य करते हैं उनके पूर्व ॐ का उच्चारण अवश्य करते है।

'मोक्ष की इच्छा रखने वालो द्वारा यज्ञ, तप, दान आदि विविध कर्म, फल की कामना किए बिना, 'तत' के साथ आरम्भ होते हैं।

'ॐ और तत का महत्त्व तो सुन लिया अब सत का भी समझ लो।

सदभाव और साधुभाव म अर्थात कल्याण के उद्देश्य से हो सत का प्रयोग होता है। प्रशस्त अर्थात परोपकार भावना स युक्त कार्यों म भी सत का प्रयोग होता है। यज्ञ तप और दान म मनुष्य की स्थिति अथवा प्रवत्ति भी सत ही का वाचक है अर्थात य 'सत' पूर्ण क्रियाए है। इनको पूर्ण करने के लिए किए गए कर्म भी सत-युक्त' हो कहे जाते हैं।

अर्जुन इस प्रसग मे मैं अतिम बात कहना चाहूगा। श्रद्धा की बात तो तुम स मैंने कई बार और कई प्रसगो म कही। अन्त म कहना यह है कि श्रद्धा के बिना किया हुआ कोई भी कार्य व्यर्थ होता है। अश्रद्धापूर्वक किया हवन अश्रद्धा स दिया दान अश्रद्धा म किया तप अथवा अश्रद्धा स किया हुआ कोई भी कार्य 'असत्' की परिधि म आता है और उसस न तो इस लोक म लाभ होता है और न उसमें।

छियासी

श्रीकृष्ण के लिए यह अप्रत्याशित नही था। इसकी आशका उन्हें पहले स ही थी। जिस रूप म अस्त्र शस्त्र का त्याग कर अजुन युद्ध स विरत हो आया था उससे उन्हें पहल ही लग गया था कि आर्यावत म किसी महामारी की तरह फलते जा रहे सन्याम की छूत उस भी लग गई है। वचन से न सही पर आचरण से तो उसने श्रीकृष्ण की इसी आशका की पुष्टि की थी और इसीलिए युद्ध-क्षेत्र म भी उन्हे इतना दीघ उपदेश दना पडा था और उसकी प्रतीति को बल देने के लिए अपने विश्व रूप का भी दशन कराना पडा था। और अब जब वह पूरी तरह निश्चिन्त हा आये थे और अजुन का युद्ध मे सन्नद्ध होन का आदेश देन की स्थिति म अपने को समझ रहे थे कि अजुन न उनकी आशका को मौखिक अभिव्यक्ति दे दी थी। वे उसके सीधे प्रश्न पर एक क्षण को आश्चयचकित हा आये थ। वह स्पष्ट पूछ रहा था— मैं सयास क तत्त्व का जानन का इच्छुक हू। त्याग के भी। कृपया दोना को पथक-पथक बतलाइए ।

मैं सयास के तत्त्व का जानने का । शब्द लौह हथौडे की तरह ही उनके कानो पर लग थे। जहा तक उनका स्मरण है इतना प्रत्यक्ष प्रश्न तो उसने किसी भी विषय का लकर नही पूछा था। अधिकाशत तो वही बालत रहे थे और वह 'हा हू म हा उनके प्रश्नो का उत्तर द रहा था। और अब क्या हो गया था उस ? अब जब वह अपन मन्तव्य का समथन की स्थिति म थ किसी सुप्त ज्वाला मुखी की तरह वह फट पडा था— मैं सयाग का तत्त्व ।

और अब तक क्या करत रहे थे वह ? इसी सयास रूपी सप पर तो विभिन्न दिशाआ और विभिन्न वचारिक शस्त्रास्त्रा स प्रहार कर रह थ और अब क्या हुआ कि जब वे उसे पूरी तरह मत समझ रह थे वह पुन फन फलाकर खडा हो गया ठीक उसी तरह जसे नवले क द्वारा क्षत विक्षत किया हुआ विषधर वायु का एक शीतल स्पश पात ही जीवन से स्पन्दित हा उठता है। नही वह निराश नही हुए थे। इतनी दर का श्रम व्यथ गया था यह भी वह मानन का तयार नही थे। दीपक की मत प्राय लौ थी वह जा बुझने क पहल एक बार पूर वग स फफक उठती है। उडेलेंगे वह, आकठ भरा एक विशाल जल पात्र ही उडेल देंगे वह दम ताडती इस लौ पर कि सदा क लिए शान्त ही हो जाय वह।

हा दो-टूक बात ही अब कहनी पडेगी उन्ह। सयास क प्रति उसका मोह भग पूरी तरह करना पडेगा। नहीं उनका अब तक का सारा श्रम अरण्यरोदन के सिवा और कुछ नही सिद्ध हागा। उन्हे लगा उन्होंने जो सात्विक राजसी और तामसी इन तीन प्रवत्तियो की विशेषताआ को पूरी तरह अजुन के अन्दर प्रतिष्ठित कर दिया है उनके सहारे यहा काम कुछ अधिक आसानी से सिद्ध हो सकता है। किन्तु इन पर आने मे अभी थोडी देर है इसके पूव उन्हें अजुन के दोटूक प्रश्नो का दो टूक ही उत्तर दना है और उन्होंने दिया— सयास और त्याग की बात कर रहे हो न ?

'काम्य कर्मों क त्याग का पडिता द्वारा सयास की सज्ञा दी गई है और सभी कर्मों के फल क त्याग को ही विद्वान त्याग कहत हैं।

श्रीकृष्ण ने स्पष्टत अजुन की अपक्षा पर पानी फेर दिया। वह तो सोच रहा

था कि स यास का नाम लेते ही श्रीकृष्ण को सभी प्रकार के कार्यों से हाथ खीचने की बात करनी पडगी और हाथ म दड-कमडलु ल ससार स विरत होन की हामी भरनी हागी। पर यहा तो व साफ निकल गए। कम स मुक्ति की बात की ही नही—न स यास क हेतु न त्याग क हेतु। अधिक-स-अधिक कम छोडन की बात की तो काम्य कर्मों की—जिनक पीछ कोई कामना हो—और त्याग की बात की तो मात्र कम-फल के त्याग की अर्थात अपने कम योग की। ल-दकर बात तो कम योग पर ही आ टिकी और कम-योग की बात आई तो भक्ति की बात आयेगी ही क्योकि बिना उसके कम-योग सधेगा कहा ?

पर अभी वह कुछ बालगा नहीं उस मात्र सुनना है। वह जानता है श्रीकृष्ण यही रुकेंगे नही। अभी तो वे दूसरा की बात कर रह है फिर अपनी बात करेंगे हालाकि यह बात भी उ ही की है उस दूसरो क मुह म चाहे वे जो डाल।

कुछ लोग सारे कर्मों का ही दोष-युक्त मान छोडने की शिक्षा दत है श्रीकृष्ण ने आग जोडा और अजुन को लगा उसक मन की बात कही गई पर दूसरे ही क्षण उ्होने उसकी आशा पर तुषारापात कर दिया "किन्तु दूसर यह कहते है कि सब कम भले ही छोड दो किन्तु यज्ञ दान और तप को नही छोडा जा सकता।' अर्थात कम करना ही पडगा। इसस मुक्ति नही है, अजुन न सोचा पर अब भी निस्तार था—यज्ञ दान और तप ही ता करना था। युद्ध तो नही। माना कम म पूरी तरह मुक्ति नही थी दड-कमडलु लकर भिक्षान्न पर जीन की बात नही थी पर साथ ही बहुत सारे सासारिक कार्यों म रत होन की बात भी तो नही थी। पर यह यज्ञ ? उसे याद है कृष्ण न कहा था यज्ञ कम स ही उत्पन्न है—यज्ञ कम समुद् भव। बिना कम क यज्ञ किधर स सभव था ? और यह दान ? कोई दान कहा से दगा अगर वह अजन करगा और अजन बिना कम क होगा क्या ? तो श्रीकृष्ण न बाध दिया पूरी तरह अजुन को इस परिभाषा क द्वारा भी न ? कम करो न करो पर यज्ञ दान तप अवश्य करो। तप बिना कम क भल सध जाय पर यज्ञ और दान कम क बिना कस सधेंगे ? कहा सभव है कम का त्याग ? और अजुन को याद आया श्रीकृष्ण ता पहल ही कह चक है कि साख्य अथवा स यास या ज्ञान और योग अर्थात कम योग दाना एक ही है और इनम दोनो म जो अन्तर दखता है वह बाल-बुद्धि वाला है पडित तो वह हो नही सकता और यह भी कि स यास और कमयोग दानो कल्याणकारी हैं पर दोनो म विशिष्ट कम-योग ही है—कमयोगा विशिष्यत। अब इनस एसी आशा करना कि य कम-त्याग की बात करेंग रेत स तल निकालने का ही प्रयास है।

"इस सबध मे मेरे निणय को सुन लो अजुन अपनी सोच म मग्न हो था कि कृष्ण की यह बात उसके कानो म पडी और उसके कान खड हो गए। महत्व तो श्रीकृष्ण के ही निणय का था। विश्वरूप देखा था उसने उनका। साक्षात ब्रह्म तो य थ ही ये जो कुछ कह वही सत्य वही शिरोधाय होगा।

क्या है तुम्हारा निणय ? उसन आशा निराशा क मध्य भूलत हुए पूछा।

त्याग क सबध म मेरा निश्चय यह है कि त्याग भी तीन प्रकार का होता है। यज्ञ, दान और तप का तो नही ही छोडना चाहिए य मनस्वियो को शुद्ध करने वाल हैं। किन्तु इन कर्मों को भी आसक्ति रहित होकर और फलाशा छोडकर करना चाहिए यह मेरा निश्चित और उत्तम मत है।

और श्रीकृष्ण न आग जो कुछ कहा उसने अजुन की रही-सही आशा को भी समाप्त कर दिया—'जा काय नियत हैं उनका त्याग ता किसी स्थिति म उचित नही है। यदि माहवश कोई उसका त्याग करे तो उस त्याग को तामस त्याग की ही सज्ञा मिलगी।' त्राण नही है अजुन का वह समझ गया। उस ज्ञात है नियत अथवा निर्धारित कम क्या है उसका? क्षत्रिय है न वह और गुरु द्रोण स अस्त्र शस्त्र सचालन की नियमित शिक्षा ली है? उसका नियत कम तो युद्ध है ही। यही नियति है उसकी। यदि वह इस कम का छाडगा तो तामसी वृत्ति वाला ही तो माना जायेगा? एक अच्छे निकष (कसौटी) का आविष्कार कर लिया है श्रीकृष्ण ने, या तो सात्विक वृत्ति का सहारा लो या राजसी का या तामसी का। अब विम पडा है कि वह अपन को तामसी प्रकृति स युक्त घोषित करे। युद्ध करना ही पडेगा अजुन को। नही गिर सकता वह श्रीकृष्ण की दृष्टि म।

अजुन जानता है अब शुरू हो गए तो श्रीकृष्ण सात्विक और राजसी कर्मों पर आयेंगे ही। प्रकृति के इन तीन विशिष्ट गुणो—सत्व, रज और तम—के पूर्ण नियन्ता और नियामक श्रीकृष्ण को इन गुणो का वणन क्यो इतना प्रिय है अजुन की समझ म नही आता। जस कोई सद्य प्रसूता गौ बार-बार अपन वत्स की ओर ही मुडती है उसी तरह घूम फिर कर य अपनी अपरा प्रकृति के सत्व रज और तम इन तीन गुणो पर ही आ जुटत है। और कारण भी है इसका अजुन साच रहा था, सात्विक प्रवत्तियो के पोषक जो ठहरे वह।

जिन कार्यों का दु ख अथवा शारीरिक कष्ट के कारण त्याग किया जाए वह त्याग राजसी त्याग कहा जाता है। एस त्याग का कोई फल नही मिलता।

जा काय नियत है और जिस करना आवश्यक ही है ऐसा समझ कर और फल की इच्छा का त्याग कर निस्सग भाव से जिस किया जाता है वह त्याग सात्विक है।

हा गया, अजुन न सोचा श्रीकृष्ण न अपनी बात स्पष्ट कर दी। नियत कम का पालन उनकी दृष्टि म सात्विक है और उसस त्राण नही है।

जा अप्रिय काय स घणा नहा करता प्रिय कम म अनुरक्त नही हो जाता वही त्यागी सात्विक सशय रहित तथा मधावी है।

श्रीकृष्ण और स्पष्ट हो आय और जसा एक बार पहल कहा था कि कोई एक क्षण भी बिना काय किए नही रह सकता उसी तरह बोल— किसी भी देहधारी के लिए कर्मों का पूण रूप स त्याग सभव नही है जो कम फल का त्याग कर देता है असल त्यागी वही है।

अनिष्ट, इष्ट और मिश्र य तीन प्रकार के फल मत्यु के पश्चात उनका मिलत है जिन्होंने फलो का त्याग नही किया है किन्तु उन्हें नही मिलत जा सन्यासी अर्थात कम फल त्यागी हैं।

अजुन निश्चिन्त हो गया कि उस कम रत होना ही है अर्थात अपन नियत कम युद्ध का सम्पादन करना ही है, अत उसन अन्य प्रश्नो की आर अपना ध्यान मोडा— कार्यों के कारण क्या है?

साख्य सिद्धान्त म सभी कर्मों की सफलता के लिए पाच प्रकार के कारण बताए हुए है। वे हैं काय का स्थान, कर्त्ता करण अर्थात भिन्न भिन्न प्रकार के साधन तथा भाग्य।

"हम शरीर, मन अथवा वाणी से जो कोई भी कम करते है चाहे वे याय सगत हो या अनुचित, इनके पीछे ये तीन ही कारण हाते है।'

"कसे ?' अजुन ने स्पष्ट कराना चाहा।

"वह ऐस कि बिना स्थान क तो कोई काम हो नही सकता, कर्ता भी आवश्यक है, बिना माधन के भी कोई काम हो नही सकता, जसे यह युद्ध ही लडना है तो अस्त्र शस्त्र की आवश्यकता पडेगी ही। रह गया भाग्य अथवा दव ता उसकी सहायता भी आवश्यक हाती ही है। सारे प्रयत्ना के बाद भी अगर किसी काय म सफलता और थाडे प्रयत्नो से ही किसी काय म व्यक्ति सफल हो जाता है तो इसे भाग्य अथवा दव का ही ता खल कहगे ?

'ऐसी स्थिति म,' श्रीकृष्ण आगे बाल "जा बुद्धि की विपरीतता के कारण केवल स्वय को ही कर्त्ता समझता है वह दुर्बुद्धि दखत हुए भी नही देखता है अर्थात समझ कर भी नही समझता।

"और सुनागे ? श्रीकृष्ण काई गम्भीर बात कहन जा रहे थे अजुन का समझत देर न लगी पर अब वह गम्भीर बात वह या अगम्भीर, वह ता निर्णय ल ही चुका था। युद्ध रत होना ही था उस

कहो, मै प्रस्तुत हू।

"जिसम अहकार का भाव नही हो, जिसकी बुद्धि कर्मों म लिप्त नही हा वह इन मारे लोगा की हत्या कर भी उनकी हत्या नही करता, न वह इस काय के कारण बधन म ही पडता है।'

सदश स्पष्ट था। अजुन को समझत दर नही लगी यह उसके लिए ही था। कुरुक्षेत्र की य कुछ अक्षौहिणी सेनाए क्या कई लाखा को भी वह समाप्त कर द और निलिप्त बना रह ता वह न तो किसी पाप का भागी बनेगा न किसी बधन का।

'कम क प्रेरक तत्त्व तीन है, श्रीकृष्ण आज कम की पूण व्याख्या पर हा उतारू थ— ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता। कम क आधार भी तीन है—कर्ता, कम तथा करण अर्थात साधन।

'मैंन समझा नही। अजुन क चहर स ही स्पष्ट था कि बात उसक पल्ल नही पडी।

मैं समझाता हू' श्रीकृष्ण न आरम्भ किया — पहल प्रेरणा की ही बात लो यहा ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता की आवश्यकता है। मान लो किसी को घडा बनाना है तो पहल उस यह जानना आवश्यक है कि घडा कम बनता है, यह हुआ ज्ञान, फिर उसे यह जानना है कि किस आकार का किस रग रूप का घडा बनाना है, यह हुआ ज्ञेय और अगर वह घड की निर्माण-कला का ज्ञाता नही है ता वह घडा बना नही सकता। यह हुआ ज्ञाता का महत्त्व। कर्ता और साधन की बात पहल मैं कर चुका हू। कम ता वही है जो करणीय है अथवा जिस करना है।

स्पष्ट हुआ कि मुख्य हुए ज्ञान कर्म और कर्ता। कम का जब पता हो उसको सम्पादित करन का ज्ञान हा और कर्ता उपस्थित हो तो कम बन ही जाएगा अत साख्य शास्त्र म गुणा क आधार पर इन तीना क जा विभिन्न भेद बताये गए है उन्ह सुनो।

जिस ज्ञान क द्वारा व्यक्ति सभी जीवा म एक ही अविनाशी भाव का दखता

है, भिन्न भिन्न श्रेणियों मे विभक्त जीवो म एक ही अभिव्यक्त सत्य को देखता है, वह ज्ञान सात्विक है।

'पृथक-पृथक विभिन्न भावा क कारण जा सभी जीवा म पार्थक्य देखता है उसका ज्ञान राजसी है।

'जिम नान क द्वारा तत्त्व से रहित व्यक्ति एक ही काय म आसक्त हो जाता है और जो ज्ञान अल्प है वह तामस है।

'जा क म फल की कामना स रहित लागा द्वारा आमक्ति राग और द्वेष स रहित होकर किया जाता है और जो नियत अथवा निर्धारित है, वह सात्विक है।

'जो काय फलाकाक्षियो द्वारा, अहकार से युक्त होकर, और बहुत श्रमपूवक किया जाता है वह राजमी है।

'जो काय परिणाम और माधनो की हानि का विचार किए बिना सभावित हिमा को ध्यान म रख बिना, अपनी सामथ्य पर भी ध्यान दिए बिना मात्र मोह वश किया जाता है वह तामसी है।

'जो कर्ता आमक्ति रहित है अहकार रहित है धय, उत्माह तथा साहस मे युक्त है, सफलता और असफलता का लकर निर्विकार है वह मात्विक है।

'जो राग अर्थात आसक्ति स युक्त है, कम फल की आकाक्षा रखने वाला है, लालची है हिंसक वत्ति वाला है अपवित्र है हृष और शोक स युक्त है वह कर्ता राजसी है।

जो अयुक्त अर्थात योग रहित है विषयी है, जड बुद्धि है दुष्ट है दूसरो का अपमानित करने म कुशल है आलसी है, विषादयुक्त और दीर्घसूत्री है अर्थात काय-सम्पादन म विलम्ब करता या उस टालता जाता है वह कर्ता तामसी है।

इन वणनो क पश्चात श्रीकृष्ण बुद्धि और धय को अपनी तीन कसौटिया पर कसन को प्रस्तुत हुए।

'अब तुम बुद्धि और धय क तीन विविध गुणो को अलग-अलग पूण रूप स सुनो।

"जो बुद्धि धम म प्रवत्ति का और अधम म निवत्ति को और करणीय तथा अकरणीय को, भय और अभय को, तथा बन्धन और मोक्ष का जानती है वह सात्विक है।

"जिम बुद्धि द्वारा धम तथा अधम को, करणीय और अकरणीय को, भली भाति नही जाना जा सकता, वह बुद्धि राजमी है।

"अनान के अधकार द्वारा आविष्ट होने क कारण जिस बुद्धि द्वारा अधम को धम और सभी बातो को विपरीत ही समझा जाता है वह तामसी है।

अब धृति अर्थात धय के सबध म सुनो।

'अनन्य योग का आश्रय ल जिस धृति द्वारा मन, प्राण और इन्द्रिय की क्रियाओ को धारण किया जाता है वह धृति सात्विक है।

'फल की इच्छा और आमक्ति से जिस धृति द्वारा धम अथ और काम को धारण किया जाता है, वह बुद्धि राजमी है।

"जिम धृति द्वारा निद्रा, भय शोक विषाद और मद का त्याग मूख व्यक्ति द्वारा नही किया जाता, वह तामसिक है।

इसके पश्चात श्रीकृष्ण तीन प्रकार क सुखो के वणन की ओर प्रवत्त हुए और

बोले—"अब तुम सुख के तीन प्रकारो को सुनो जिनमे अभ्यास-वश रमने के कारण मनुष्य दुख के विनाश को प्राप्त होता है।

"आत्मा और बुद्धि के प्रसाद के फलस्वरूप प्राप्त जो सुख आरम्भ म तो विष के सदृश प्रतीत होता है और अन्त मे अमत के सदश फलदायी होता है वह सात्विक है।

'विषय और इन्द्रियो के सयोग से प्राप्त जो सुख पहले तो अमृत के सदृश प्रतीत होता है और अन्त मे विष-सदृश सिद्ध होता है वही राजसी है।

"किन्तु जो सुख आरम्भ और अन्त दोनो म व्यक्ति को मोह ग्रस्त करता है और जो निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से उत्पन्न है वह राजसी है।'

श्रीकृष्ण द्वारा बार बार सत्व, रज और तम इन तीनो की विस्तत चर्चा का भेद अर्जुन पर तब खुला जब उन्होने स्पष्टत यह उदघाटित किया—"पृथ्वी पर या स्वर्ग म देवताओ के मध्य ऐसा कोई प्राणी नही है जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीन गुणो—सत्व, रज और तम—स मुक्त हो।

"अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न गुणो के कारण ही ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के मध्य कार्य बटे हुए है। अथात जिसम सत्व गुण की प्रधानता हो वह ब्राह्मण है जिसमे रजोगुण की प्रधानता है वह क्षत्रिय और जो वैश्य का काम देखता है और जिसम तमोगुण की प्रधानता हो वह शूद्र का काम देखता है।

श्रीकृष्ण के कथन स अर्जुन के समक्ष यह स्पष्ट हो गया कि जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र नही होता, वह अपनी प्रवत्ति अथवा स्वभाव के कारण ही ऐसा होता है यदि किसी की प्रवत्ति म परिवतन हो जाय तो उसके वर्ण म भी परिवतन सम्भव है। श्रीकृष्ण की यह बात अर्जुन को अत्यन्त पसन्द आई। उसे लगा क्षत्रिय होने पर भी भीष्म किस ब्राह्मण स कम है अथवा वैश्य या ग्वाला कहलाकर भी श्रीकृष्ण किस ब्रह्मवेत्ता से न्यून हैं अथवा ब्राह्मण कुलोद्भव होकर भी द्रोणाचार्य और कृप किस क्षत्रिय स कम है तथा क्षत्रिय होकर भी दुश्शासन और शकुनि के सदृश लोग किस शूद्र से कम हैं? अर्जुन ने सोचा अभी-अभी श्रीकृष्ण ब्राह्मणो, क्षत्रियो और शूद्रो के कर्तव्यो का वणन अवश्य करेंगे उससे उसके इन विचारो की पुष्टि अवश्य हो जायेगी कि यह जाति अथवा वर्ण व्यवस्था जन्मजात है या लोगो की रुचि और स्वभावगत विशेषताओ के कारण है। उसके पूर्व भी वे एक बार कह ही चुके हैं कि चारो वर्णों की सृष्टि मैंने ही गुण और कर्म के आधार पर किए है। यह बात अभी तक वह भूला नही है।

'ब्राह्मणो के स्वाभाविक धर्म हैं अर्जुन अपनी चिन्ता म लगा हो हुआ था कि श्रीकृष्ण ने आरम्भ किया शम, दम, तप पवित्रता, सहिष्णुता तथा सरलता। इसके साथ ही ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता भी उसके लक्षण है।

शौर्य, तेज, धैर्य दक्षता और युद्ध मे स्थिरता, दान तथा प्रभुत्व का भाव ये स्वाभाविक क्षात्र गुण हैं।

कृषि, गौरक्षण व्यापार य वैश्यो के स्वाभाविक कर्म हैं तथा शूद्रो का स्वभाव-गत कार्य है अन्यो की सेवा-परिचर्या।

'एक बात स्पष्ट करूगा अर्जुन! श्रीकृष्ण ने विभिन्न वर्णों के कार्यों के वणन के बाद आरम्भ किया, अपने-अपने कर्म म निरत व्यक्ति भी सिद्धि को प्राप्त कर जाता है। यह कैसे होता है वह बताता हू।

' जिससे सभी प्राणियो की उत्पत्ति होती है और जिसके द्वारा यह सब व्याप्त है अर्थात जो परब्रह्म अथवा परमेश्वर है उसकी अपने-अपने कार्यों द्वारा ही अर्चना कर मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है ।

"अर्थात् कर्म को ही पूजा मान ले ।" अर्जुन ने कहा ।

"अवश्य श्रीकृष्ण ने कहा, मैंने पहले भी एक बार कहा था जो कुछ करते हो, जो कुछ यज्ञ-जाप करते हो जो कुछ खाते-पीते हो उन सबको मुझे अर्पित करते जाओ ।

अर्जुन के मन में कर्म के इस महत्त्व ने एक विचित्र वैचारिक क्रान्ति की सृष्टि कर दी । कर्म ही पूजा है यह बात पहले पहल उसके अन्दर उभरी थी । अगर यह बात है तो कोई कर्म न उत्कृष्ट न कोई निकृष्ट । साथ ही मोक्ष और मुक्ति के नाम पर नाना प्रकार के कर्मकांडो और पूजा-पाठ तथा तीर्थाटन का क्या अर्थ ? अपने कार्य को ही पूरी लगन से सम्पादित करते जाओ तो और यह लोक और परलोक दोनो सध जाए । और इस बात को मिथ्या भी कैसे माना जाय ? शंका सदेह की उंगली भी इस कथन पर कैसे उठ सकती है ? स्वयं श्रीकृष्ण के मुख से जो यह निस्सृत है । वह श्रीकृष्ण जिसके विराट स्वरूप के दर्शन के पश्चात उनके ईश्वरत्व के सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं रहा था ।

' और अन्य के दूसरे के कर्मों के प्रति आकृष्ट भी नही होना चाहिए । अगर वैसी प्रवृत्ति ही हो तो बात पृथक है वरना दूसरे के अत्यन्त प्रतिष्ठित प्रतीत हुए कर्म से भी अपना सामान्य सा प्रतीत होता हुआ कर्म भी श्रेष्ठ है । इस पर मैंने पहले भी एक बार प्रकाश डाला था । उस कथन के महत्त्व को रेखांकित करने के लिए पुन उसे दुहराना पड रहा है । अर्जुन सोच ही रहा था कि श्रीकृष्ण ने कहा और आगे जोडा—

जो कर्म स्वभाव के द्वारा निर्धारित है उसके पालन से कोई पाप भी नही लगता ।

अर्थात् इस युद्ध में भाग लेकर भी उसे कोई पाप नहीं लगेगा भले ही उसके द्वारा सहस्रो लोगो का ही सहार क्यो न हो जाय । यही न ? अर्जुन श्रीकृष्ण के इंगित को स्पष्ट समझ पा रहा था । पर श्रीकृष्ण यही रुके नही । वे स्वाभाविक अथवा निर्धारित कर्म की विशेषताओं का उल्लेख करते ही गए—

स्वाभाविक कर्म में अगर कोई दोष भी है तो उसे छोड़ना उचित नही । सभी कर्म तो दोषो से उसी तरह युक्त होते हैं जैसे धुएं से आग । अग्नि को धूम्र से पृथक कर देख सकते हो क्या ? उसकी कल्पना भी ?

अर्जुन ने सोचा श्रीकृष्ण यह उपदेश मात्र उसके लिए नही पूरी मानवता के लिए दे रहे हैं । सच, ये कितनी बडी विडंबना है कि प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति का कार्य उसका दायित्व अधिक आकर्षक लगता है । और यह उसकी चिन्ता और अशान्ति का कुछ कम कारण बनता है क्या ? ब्राह्मण समझता है कि क्षत्रिय का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है और क्षत्रिय ब्राह्मण का सम्मान सत्कार देखकर सोचता है कि वह ब्राह्मण ही क्यो न हुआ । यह तो इस युग की बात है आने वाले युगो में जब कार्यों की विविधता और अधिकता हो जाएगी तो यह चिन्ता और बढ जाएगी । तब अगर कोई दैव योग से किसी महान सम्स्थान का शिक्षक हुआ तो वह सोचेगा कि किसी चिकित्सालय से सयुक्त चिकित्सक का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है

और चिकित्सक सोचेगा कि वह वणिक जो दूरस्थ प्रदेशों से वाणिज्य व्यवसाय कर निरंतर सम्पन्न हुआ जा रहा है, वह उससे अधिक प्रसन्न है। अगर श्रीकृष्ण की इस सीख को, अपने अपने कार्य-व्यवस्था को ही श्रेष्ठ समझने की बात को मान लिया जाय तो विश्व का व्यर्थ की चिन्ता और तनाव से कितनी मुक्ति मिल जाय!

सच, श्रीकृष्ण क्या अपने आज के इस संदेश द्वारा मानव को ग्रस्त करने वाली सारी चिंताओं से उसे मुक्ति दिलाने को ही कटिबद्ध हैं क्या? क्या वे अपने इस दीर्घ उपदेश द्वारा एक स्वस्थ्य जीवन दर्शन को ही शनैः शनैः उदघाटित नहीं करते गए हैं? मानव के सबसे बड़े शत्रु क्या हैं? चिन्ता और भय ही तो? और उन्हीं से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने का जैसे ये आज पूरी तरह प्रस्तुत हैं। पहले इन्होंने सबसे बड़े भय मृत्यु को लनकारा फिर फलाकांक्षा को कर्म से पृथक कर सफलता-असफलता की चिंता से मुक्ति दी, पुनः अपनी भक्ति के माध्यम से सम्पूर्ण योग क्षेम की आश्वस्ति दे उन्होंने जैसे सम्पूर्ण मनुष्यता को निर्भयता का ही संदेश दे दिया। और अब वे इस पीढ़ी के लिए कम और आने वाली पीढ़ियों के लिए अधिक, कहते हैं कि अपने अपने दायित्वों का सम्यक पालन कर सुख शान्ति का उपभोग करो व्यर्थ ही दूसरे के कार्यों को अधिक आवश्यक समझ चिन्ता और तनाव को निमंत्रण नहीं दो।

अर्जुन जानता था, श्रीकृष्ण का यह सन्देश द्वापर तक ही सीमित नहीं रहेगा अथवा वह केवल उसी के कानों के मार्ग उतर कर अपनी उपयोगिता व्यर्थ नहीं कर बैठेगा। उसे मालूम था राजभवन में प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्र के समक्ष बैठे संजय वेदव्यास द्वारा दिव्य शक्तियों से सम्पन्न हो सब कुछ देखते और सुनते सुनाते जा रहे हैं। और साथ ही इस युग के महान मंत्रद्रष्टा महामुनि वेदव्यास भी क्या इस सबको यों ही समाप्त होने, मिटने को छोड़ देंगे? वे एक-एक बात एक-एक छोटी बड़ी घटना को भूज पत्रों पर लिपिबद्ध करेंगे। सृष्टि के अन्त तक सुरक्षित रहेगा यह श्रीकृष्ण-संदेश, एक महान जीवन दर्शन के रूप में और जो कोई भी इस संदेश को समझ पायेगा इस जीवन-दर्शन को अपना पायेगा वह समस्या-संकुल जीवन को सहजता और शान्ति से जी पाने में अवश्य ही सफल होगा।

कुरुक्षेत्र के इस युद्ध क्षेत्र में विजय चाहे किसी पक्ष की हो वह इस समर की उपलब्धि नहीं होगी अपितु इसकी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है यह श्रीकृष्ण-संदेश जो केवल उसके नहीं बल्कि मानव-मात्र की हित चिन्तना हेतु दिया जा रहा है। जय पराजय से अब ऊपर बहुत ऊपर उठ गया है अर्जुन और उसे आरम्भ में अपने विषादग्रस्त होने और अस्त्र शस्त्र छोड़ बैठने का भी कोई क्षोभ अथवा पश्चात्ताप नहीं है। यह तो अच्छा ही हुआ कि वह मोह-ग्रस्त हो बैठा वरना आज विश्व को यह अमर संदेश, यह महान् जीवन दर्शन कैसे उपलब्ध होता?

तुम पुनः कहीं खो गए लगते हो। श्रीकृष्ण-वाक्य ने उसे अपने में लौटाया और उसने उनसे अपना कथन चालू रखने का अनुरोध किया।

जिसकी कहीं आसक्ति नहीं रह गई है, जिसने अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त कर ली है और जो इच्छाओं से रहित हो गया है वह मेरे द्वारा बताए गए सन्यास द्वारा अर्थात् कर्म फल की आकांक्षा से मुक्त होकर निष्कमता रूपी परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। अर्थात वह सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करता।

"सिद्धि की उपलब्धि के पश्चात् वह ब्रह्म को कैसे प्राप्त कर लेता है उसे संक्षेप में सुनो। यह अवस्था निश्चय ही ज्ञान की पराकाष्ठा है।"

"कौन अवस्था ?'

"ब्रह्म प्राप्ति का अनुभव।

जो विशुद्ध बुद्धि से युक्त होकर धारणा द्वारा अपने को नियन्त्रित कर शब्द आदि इन्द्रियों के विभिन्न विषयों से पृथक हो, राग द्वेष अहंकार बल, दर्प, काम, क्रोध, ममता, परिग्रह सबसे मुक्त हो एकान्तवास करता हुआ अल्पाहार करता हुआ तथा वाणी, शरीर और मन को नियन्त्रित करते हुए सदा ध्यान रत रहता हुआ विराग को प्राप्त कर शान्त चित्त हो जाता है वह ब्रह्म-स्वरूप ही हो जाता है अर्थात यह ब्रह्म से ऐक्य प्राप्त कर लेता है। उसकी आत्मा प्रसन्नता से पूरित हो जाती है, वह न शोक करता है न आकांक्षा करता है सभी जीवों में सम दृष्टि रखने लगता है और मेरी परम भक्ति को प्राप्त कर लेता है।'

'इसका मुफल क्या होता है ? अर्जुन ने पूछा।

"किसका ?'

'आपकी भक्ति को प्राप्त कर लेने का ?'

'भक्ति के द्वारा वह जान लेता है कि मेरा तात्विक रूप कैसा है और मुझको तत्त्व से जानकर अन्तत वह मुझमें ही प्रवेश कर जाता है।

मेरे आश्रय में रहकर सभी कर्मों को सदा करता हुआ भी वह मेरे प्रसाद से मेरे शाश्वत और अविनाशी पद को प्राप्त कर लेता है।

वह आग वाले बुद्धिद्वारा सभी कर्मों को मुझे अर्पित कर मेरे परायण बन कर बुद्धि-योग का आश्रय लेकर मुझमें ही अपना चित्त लगाने वाला बनो।

'यह बुद्धि-योग क्या है ?'

बुद्धि-योग कर्म-योग से पृथक नहीं है यह मैंने पहले ही स्पष्ट किया है। कर्म-योग में फलाकांक्षा से रहित होने और निस्संगता अपनाने के लिए बुद्धि का आश्रय लेना ही पड़ता है, उससे युक्त होना पड़ता है। यही है बुद्धि-योग।

"एक बात और बताऊं ? श्रीकृष्ण की आंखों में एक विशेष चमक उभरी थी।

"बताओ।'

"मुझमें चित्त लगाए हुए तुम मेरी कृपा से सभी कष्टों को पार कर जाओगे किन्तु अहंकार के वशीभूत हो इन पर ध्यान नहीं दोगे तो नष्ट भी हो जाओगे।

श्रीकृष्ण को लगा कि अब अन्तिम बात कहने का समय आ गया है क्योंकि स्नेह प्रेम की बातें करते-करते उन्होंने भय की बात भी अन्तत कह ही दी—अगर मेरी बातों पर ध्यान नहीं दिया तो नष्ट हो जाओगे। राजनीति और कूटनीति में विशारद श्रीकृष्ण ने अर्जुन को मार्ग पर लाने के लिए सभी युक्तियों का सहारा ले लिया था। अन्तिम अस्त्र बचा था चेतावनी का भय का, उसका भी प्रयोग कर उन्होंने आगे की बात की भूमिका गढ़ ली थी—

'तुम क्या समझते हो कि अहंकार-वश अगर तुम मान लेते हो कि तुम युद्ध नहीं करोगे तो तुम अपनी मनमानी कर लोगे ? तुम्हारा ऐसा निश्चय मिथ्या ही सिद्ध होगा और स्वयं प्रकृति ही तुम्हें युद्ध में झोंक देगी। तुम मोहवश जिस कार्य को नहीं करना चाहते उसे अपने स्वभावगत कर्म से बंधे हुए तुम अवश-सा करोगे,

क्योंकि तुम्हारी प्रकृति, तुम्हारे स्वभाव म ही, सस्कार म ही युद्ध है, तुम्हारी प्रकृति तुम्ह छोडेगी कहा, उधर से शस्त्रास्त्र चलेंगे तो तुम क्या शान्त बैठे रहोग ? अवश हुए-से, निरुपाय-से क्या तुम प्रतिकार नही करोग ? युद्ध-रत नही होओगे ?

"एक बात जान लो अजुन !" श्रीकृष्ण ने दढ निश्चयपूवक कहा, "ईश्वर सभी जीवो के हृत प्रदेश म बठा हुआ है और जैसे यन्त्र (चरखी) पर चढा हुआ व्यक्ति घूमता रहता है वसे ही वह सभी जीवो को अपनी माया से घुमाता रहता है नचाता रहता है।

'सभी प्रकार से उसी ईश्वर की शरण मे जाओ, उसी की कृपा से परम शान्ति और शाश्वत स्थान की भी प्राप्ति हागी।

अन्तत वही उसकी मन चाही भक्ति, अजुन ने सोचा पर श्रीकृष्ण आगे बढते गए—

"मेरे द्वारा तुम्हारे लिए तो यह गोपनीय से भी गोपनीय ज्ञान उदघाटित कर दिया गया। इस पर पूरी तरह विचार कर अब जसी तुम्हारी इच्छा हो वसा ही करो।

"और जो मेरा गुह्यतम वचन है वह भी सुन लो, निश्चय ही तुम मेरे प्रिय हो इसीलिए मैं तुम्हारे कल्याण हेतु यह बात कहता हू।

'मेरे मन वाले बनो, मेरे भक्त बनो, मेरी ही पूजा करो मुझे ही नमस्कार करो। मैं प्रतिज्ञा करता हू कि तब तुम अन्तत मुझे ही प्राप्त करोगे क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो।'

'महान हैं श्रीकृष्ण,' अजुन ने सोचा, उसकी हित-कामना के लिए इन्होंने उसकी प्रिय बात को पुन दुहरा ही दिया—मेरे मन वाले, मेरे भक्त बनो । पर कृष्ण यही रुके कहा ? उन्होने स्पष्टत उदघोषित कर दिया—

सभी धर्मों को छोडकर मेरी शरण म आ जाओ। मैं तुम्हें सारे पापो से मुक्त कर दूगा। डरो नही।"

अजुन समझ गया आज की यह एक तरह से अन्तिम बात थी। शेप कुछ औपचारिकताए रही हागी। तो सम्पूण सन्देश का सार यही है कि सबको छोड कर श्रीकृष्ण शरण हो जाना है। ऐसा करने पर सारे भयो से स्वय ही मुक्ति मिल जाती है।

'मेरे इस सन्देश को कभी भी उन तक न पहुचाओ जो तपस्वी नहीं हैं, जिनम भक्ति नही है जो सेवा भाव से रहित हैं और जो मेरे निन्दक अर्थात नास्तिक हैं।

'जो मेरे इस परम गोपनीय रहस्य को मेरे भक्तो तक पहुचाता है वह मेरी ही परम भक्ति करता है और अन्तत मुझ तक ही पहुचता है इसम कोई सन्देह नही।

"ऐसा व्यक्ति अर्थात् जो मेरे सन्देश को मेरे भक्तो तक पहुचाता है उससे अधिक ससार म मेरा कोई प्रिय नही है और न इसस प्रियतम कोई आगे होगा ही।

'जो हम लोगों के इस धर्म-युक्त सवाद का अध्ययन करेगा वह ज्ञान-यज्ञ द्वारा मेरी उपासना ही करेगा यह मेरा मत है।

'जो परनिन्दा स विमुख व्यक्ति इसे सुनगा भी वह मुक्त होकर ऐसे शुभ

लाकों को प्राप्त करेगा जो पुण्यवानों को ही प्राप्त होते हैं।"

श्रीकृष्ण यहां पर रुके और अर्जुन से स्पष्ट रूप में पूछा—

"पार्थ! क्या तुमने एकाग्र चित्त से यह सब सुना और क्या तुम्हारे अज्ञान और मोह समाप्त हो गए?"

अर्जुन के मन में अब अज्ञान और मोह का अंधकार बचा ही कहां था? वह तो उनके विश्व रूप के दर्शन के पश्चात ही नष्ट हो गया था और जो कुछ थोड़ा बहुत बचा था वह बाद के उपदेश से निःशेष हो गया। अब तो कृष्ण भक्ति ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था। कृष्णाज्ञा के उल्लंघन का अब प्रश्न ही कहां उठता था और उसने तत्काल उत्तर दिया

हे अच्युत! तुम्हारी कृपा से मेरा मोह समाप्त हो गया है, मुझे अपने वास्तविक स्वरूप का स्मरण हो आया है, सारे संदेहों से रहित हो मैं स्थिर चित्त हो गया हूं। मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन करने को तत्पर हूं।"

सतासी

"समाप्त हो गया यह श्रीकृष्णार्जुन सम्वाद?" कुरुक्षेत्र के मैदान से दूर हस्तिनापुर के राजप्रासाद में बैठे धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा था। इतना लम्बा खिंच गए वार्तालाप से वह स्वभावतः कुछ उद्विग्न हो आये थे। श्रीकृष्ण की बहुत सी बातें उनकी समझ में आकर भी नहीं आई थीं। किसी अपराध भाव से ग्रसित वे जब-जब श्रीकृष्ण मुख से लोभ, परिग्रह और विषय-वासना की बात सुनते उनका मन अश्वत्थ के पत्रों की तरह कांप-कांप उठता। जब-जब वे सात्विक, राजसी और तामसी प्रवृत्तियों की चर्चा सुनते अगल-बगल झांकने लगते। सपाट भावना शून्य अंधी आंखों में कोई भाव भी तो नहीं तिर पाता, पर संजय को लग जाता कि कुरु सम्राट अन्दर से अव्यवस्थित हो गए हैं। जैसे सारी तामसी प्रवृत्तियों को वे अपने अन्दर ही ढूंढने लगे हों। और इसका कारण भी था जो स्पष्ट था। अगर अपने पुत्रों विशेषकर दुर्योधन के प्रति वे पक्षपात का भाव नहीं पालते तो आज ग्यारह अक्षौहिणियां धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र में मरने मारने को प्रस्तुत आमने सामने क्यों खड़ी रहतीं? दुर्योधन के किस अन्याय, किस कुचक्र का उन्हें ज्ञान नहीं था फिर भी उनके पुत्र-स्नेह ने उन्हें न्याय का पक्ष लेने दिया? पांच ही ग्राम तो मांग रहे थे पाण्डव? पर उसके युद्धोन्मत्त पुत्र ने जब यह घोषणा की कि बिना युद्ध के सूई के अग्रभाग भी भूमि नहीं दी जा सकती तो वे चुप क्यों बैठे रहे? ऐसी स्थिति में उनमें सात्विक भाव का भरमार था या राजसी का या तामसी का? स्पष्ट था तमस प्रधान ही हो आई थी उनकी प्रकृति। और हां क्या वह आज आई थी? जिस क्षण ज्योति-हीन होने के कारण उनके राज्याधिकार को उनके अनुज पाण्डु को दे दिया गया था उसी दिन से प्रतिशोध की ज्वाला उनके अन्दर जलने लगी थी जो पाण्डु के अकाल कवलित होने और उनके सिंहासनासीन होने से भी शान्त नहीं हुई थी।

अनजाने में वे पाण्डु का प्रतिशोध उनके पुत्रों से लेने को प्रस्तुत हो गए थे और युद्ध की इस स्थिति को उत्पन्न करने में उनका योगदान कुछ कम नहीं था।

पर उनकी आशाओ पर तुषारापात तभी हो गया था जब उन्होंने यह सुना था कि दुर्योधन ने श्रीकृष्ण के बदले उनकी नारायणी सेना को अपने साथ रखना अधिक श्रेयस्कर समझा था। बाहरी आखों के बन्द होने से उनकी अन्दर की आखें कुछ अधिक ही खुल आई थी और दूसरों को चाहे जो शका आशका हो, उन्हें इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं था कि श्रीकृष्ण साधारण पुरुष नहीं थे पुरुषोत्तम थे, साक्षात भगवान। उस समय तो उनका मन सागर वक्ष पर तिरते किसी जल-पोत की तरह ही अचानक अतल गहराइयों में डूब गया था जब सजय ने श्रीकृष्ण के विश्व रूप का वर्णन किया था और उनके द्वारा अर्जुन के निमित्त मात्र होने की बात कही थी—इन सारे योद्धाओं को तो मैं पहले ही मार चुका हू, तुम निमित्त मात्र बन जाओ—निमित्त मात्र भव सव्यसाचिन।

"समाप्त हो गया महाराज। समाप्त हो गया वह अदभुत श्रीकृष्ण अर्जुन सवाद।" सजय ने बहुत देर के पश्चात धृतराष्ट्र के प्रश्न का उत्तर छलछलाई आखो में दिया था। भावातिरेक से वे विह्वल हो आये थे। श्रावण की धरती की तरह आर्द्र हो आया उनका मन श्रीकृष्ण की विभिन्न उक्तियों पर मनन करने में मग्न था। उनके विराट और फिर सौम्य रूप के दर्शन अब भी उनको भावातिरेक से विह्वल कर रहे थे। फिर भी धृतराष्ट्र की जिज्ञासा को उन्हें शान्त करना ही था।

'राजन! मैंने आपको उस अदभुत और आह्लादकारी सवाद को सुना दिया जो श्रीकृष्ण और अर्जुन के मध्य घटा। भगवान व्यास की कृपा से दिव्य दृष्टि प्राप्त कर मैंने साक्षात योगेश्वर श्रीकृष्ण के मुख से परम गुह्य योग को सुना और आपको सुनाया।'

सजय अपनी प्रसन्नता को रोक नहीं पा रहे थे और उन्होंने धृतराष्ट्र को सम्बोधित करते हुए पुन कहा, 'महाराज, मैं श्रीकृष्ण और पार्थ के उस अदभुत सवाद का स्मरण कर अभी भी बार बार प्रसन्नता से भरता जा रहा हू। साथ ही श्रीकृष्ण के उस अदभुत विराट रूप को याद करते तो मुझे बार-बार विस्मय हो रहा है और मैं बार बार हर्षित हो रहा हू। काश, आपने उस रूप को देखा होता।

धृतराष्ट्र को यह बात लग गई। सचमुच व्यास ने अच्छा नहीं किया। अगर उन्हें दिव्य दृष्टि ही देनी थी तो सजय के बदले उन्होंने उन्हें क्यों नहीं दे दी? तब तो वह सब कुछ अपनी आखों से देख लेते सब कुछ अपने कानों से सुन लेते। उनका मन किया वह सजय से ही पूछ लें कि कृष्ण द्वैपायन व्यास ने ऐसा क्यों नहीं किया। पर सजय का उत्तर भी बड़ा सटीक था, 'महाराज, आप यह सब झेल नहीं पाते। आप ही कहिए जब अपनी आखों दुर्योधन, दु शासन, कर्ण आदि योद्धाओं को श्रीकृष्ण के विराट खुले मुख में विवश से प्रवेश करते आप देखते तो आप पर क्या बीतती?'

धृतराष्ट्र ने सोचा सजय ठीक ही कह रहे हैं। अपनी आखों यह सब देखना सम्भव नहीं हो पाता। और पता नहीं अभी आगे वास्तविक युद्ध में क्या-क्या घटना है। सब कुछ अपनी आखों देखना पड़े तो पता नहीं मन पर क्या-क्या बीते।

पर एक बात तो सजय से पूछनी ही थी और लाख रोकते रोकते भी वह पूछ बैठे 'सजय क्या विचार है तुम्हारा? इस महासमर में विजय-श्री किसका वरण करने जा रही है?

सजय को एक क्षण भी नही लगा उत्तर दा म और उसने दोटूक बात कह दी—

"महाराज ! जहा योगेश्वर कृष्ण हो जहा धनुधर पाय हा वही श्री होगी विजय होगी, वही विभूति होगी और वही अचल नाति होगी, यह मेरा निश्चित मत है।'

अठासी

अजुन युद्ध के लिए मन्नद्ध हो गया यह सवाद कुरुक्षेत्र के इस छोर स उस छोर तक बात की बात म व्याप्त हो गया। एक ओर जहा दुर्योधन की उम दुराशा पर पानी फिरा कि पाडव बिना शस्त्र उठाए ही श्वेत ध्वज फहराकर पराजय स्वीकार कर लेंगे वही पाडव पक्ष म हर्ष की लहर दौड गई।

युधिष्ठिर ही जो गीता-ज्ञान के आरम्भ से ही एक तरह स अजुन के रथ के साथ जमे खडे थे, श्रीकृष्ण के समक्ष अजुन की स्वीकारोक्ति क एकमात्र साक्षी बन नष्ट हो गया मोह मेरा छट गया अज्ञान-कुहरा अब मैं तुम्हारे कथन का पालन करूगा—करिष्ये वचन तव।

युद्ध होगा, 'युद्ध होगा बात हवा पर तिरती उन सभी योद्धाओ के कानो मे भी जा पडी जो युद्ध मे उतर तो आये थे पर प्राणा के मोह म पड निरतर इसी प्राथना म रत थे कि इस मूढ अजुन का मोह इसी तरह वतमान रहे और युद्ध किसी तरह टल जाय। पर युद्ध की अनिवायता स आमना-सामना होते ही वे भी अपने आलस्य और प्रमाद को त्याग अपने का लडने की मन स्थिति म लाने का विवश हो गए।

पर यह क्या हो रहा था ? श्रीकृष्ण आश्चय से भर आये। जब जब अस्त्र शस्त्र के सचालन का समय आ गया था और दोनो ओर की सेनाए एक दूसर पर आक्रमण करने का कटिबद्ध थी धमराज न अपने अस्त्र शस्त्र क्या उतार लिए। अपन शरीर को कवच-कुडला स भी क्या मुक्त कर दिया ? क्या उन्ह भी अजुन की तरह मोह न ग्रस लिया अथवा इस धम के अवतार वह जाने वाल ज्येष्ठ पाडव पर 'अहिंसा परमो धम का सिद्धात अपनी पूरी दृढता से हावी हो गया ? और तो और ये विरथ क्या हो गए ? रथ स उतर क्या पडे उस विचित्र वेष म—अस्त्र शस्त्र-हीन, कवच-कुडल रहित।

श्रीकृष्ण के आश्चय की सीमा न रही जब धमराज बिना किसी से कुछ बोल पदाति ही कौरव-सेना की ओर चल पडे। क्या करें कृष्ण ? कुछ समझ म नहा आ रहा था। हाक दें अजुन क रथ को धमराज के पाछे पीछे ? पता नहीं कौन-सा अनथ घटा दे धमराज का यह व्यवहार। युद्ध के लिए आकुल सनाधिपतियो का कोई शर इनके कवच रहित तन को भेद जाय तब ? पर नहीं यह युद्ध नियमो के विरुद्ध था, श्रीकृष्ण ने अपने को सान्त्वना दी। नि शस्त्र विशषकर कवच-कुडल

रहित एक विरथ महारथी पर कोई प्रहार करने की भूल नही कर सकता। वह भी सभी शास्त्रा और वेद वेदातो म निष्णात धमराज युधिष्ठिर के साथ किसी का यह व्यवहार अकल्पनीय था। कुछ देर तक मूक दशक बनने के अलावा श्रीकृष्ण के लिए कोई और चारा नही था।

दोना सनाआ के मध्य दूरी भी कुछ कम नही थी। इस दूरी को शीघ्रातिशीघ्र तय करने के लिए धमराज लम्बे-लम्बे डग भरते हुए कौरव सन्य की ओर बढते जा रहे थे। श्रीकृष्ण के साथ ही दोनो पक्षा के अय योद्धा भी धमराज के इस अप्रत्याशित व्यवहार पर विस्मय विमुग्ध थे।

देखत-देखत युधिष्ठिर के साथ, अजुन भीम नकुल, सहदव तथा स्वय श्रीकृष्ण भी लग गए। आखिर धम भीरु नि शस्त्र ज्यष्ठ कुती पुत्र को उस युद्धभूमि म एकाकी भी ता नही छाडा जा सकता था ?

युधिष्ठिर जहा रुके वह कौरव-सेनाध्यक्ष पितामह भीष्म का रथ था। देखत-देखते वह शान्तनुपुत्र भीष्म के रथ पर आरूढ हा गए और पदत्राणयुक्त उनके दोना परा को अपन हाथा म बाध बोले—' पितामह ! विधि का विधान विचित्र है। उसी के अधीन हो आज आप ही के पुत्र पौत्रा को आपसे युद्ध करने को विवश होना पड रहा है। इस धमराज कहे जाने वाले निकृष्ट व्यक्ति को आप पर शस्त्र सचालन को बाध्य होना पड रहा है। आप हमारे पूज्य और वरेण्य हैं। आपकी अनुमति का मैं आकाक्षी हू। आप कृपया हमे अपने से युद्ध करने की अनुमति दें।'

साधु पुत्र, साधु ! ' पितामह के मुह से अनायास निकला, "तुमने युद्ध-पूव मुझसे अनुमति माग कर अपने पक्ष का बहुत भला किया। गुरु जना का आदर करन वाला सदा विजय-श्री का वरण करता है। मैं तुमसे प्रसन्न हू। तुम युद्ध के अतिरिक्त कोई भी वरदान मुझस माग लो।'

युधिष्ठिर को लगा कि उनकी वाछा की ही पूर्ति हा गई। व तत्काल बोले— पितामह आप अजेय हैं। आपके जीवित रहत यह कौरव सेना भी हमारे लिए अजेय है। आप कृपया अपनी मत्यु का उपाय बताइए क्योकि हमम स कोई आपक बध म समय नही है।"

कुरुश्रेष्ठ पितामह के होठा पर एक मन्द स्मिति खली और व स्पष्ट बोले 'तुम्हारा अनुमान सही है पाडु-नदन ! मुझे इच्छा मत्यु का वरदान प्राप्त है। मेरे नही चाहने पर कोई मेरा बध नही कर सकता, साथ ही यह भी सही है कि मेरे रहत यह कौरव-सना भी अजेय है। पर अभी मेरी मत्यु की बात मन से निकाल दो उसका समय अभी नही आया और समय आने पर वह तुम पर प्रकट कर दी जायगी।

युधिष्ठिर इसी तरह बारी बारी से द्रोणाचाय, कृपाचाय और शल्य के पास गए और उनसे युद्ध की अनुमति ल अपने पक्ष म लौट आये।

धमराज के इस व्यवहार ने श्रीकृष्ण के मन मे भी एक विचित्र योजना को जन्म

दिया। यद्यपि इस मोर्चे पर व एक बार बुरी तरह परास्त हो गए थे पर एक बार पुन प्रयास करने के लाभ का वे सवरण नही कर सके। उ हें पता था कि राधा सुत महारथी क्ण भीष्म के व्यवहार स क्षुब्ध हो कुरुक्षेत्र के किनारे निर्मित अपने शिविर म चुपचाप पडा है।

जब तक युधिष्ठिर अपन अनुजा के साथ अपन रथ के पास लौटे तब तक श्रीकृष्ण द्रुत गति स एक अतिरिक्त रथ को दौडाते हुए क्ण के शिविर-द्वार पर जा पहुचे। भीतर पडा क्ण श्रीकृष्ण की शरीर गध से ही उनकी उपस्थिति का अनुमान लगा गया। वह शिविर-द्वार तक आया और श्रद्धापूवक श्रीकृष्ण को अन्दर ले गया।

उ हे उच्चासन प्रदान कर भमि पर बठता हुआ दोनो हाथ जोडकर उसने उ ह सबोधित किया— इस विकट घडी म जब सग्राम किसी क्षण आरम्भ हो सकता है आप यहा कसे प्रकट हुए केशव ?

'म एक बार पुन तुम्हारे यहा याचक बनकर आया हू। श्रीकृष्ण ने अपनी बात रखी।

क्ण म द म द मुसकराया, 'आप जानत है कि क्ण के यहा से कोई याचक रिक्त हाथ नही लौटता इसीलिए आप सदा याचक की मुद्रा म आते हैं। पर आप भूल जाते है कि औरो की तरह म भी आपको नर नही नारायण ही मानता हू और नारायण की याचना की पूर्ति नही कर पाने की मुझे कोई ग्लानि नही होती भला एक अदना सा आदमी एक ईश्वर की अभिलाषा की पूर्ति म कहा तक समथ हो सकता है ?'

तो तुम इस बार भी मुझे निराश लौटाने का ही कृतसकल्प बठे हो। श्रीकृष्ण ने सस्मित स्वर म कहा।

'अभी तो आपने अपना उद्देश्य बताया ही नही हृषीकेश !' क्ण ने निवेदन किया। उसके हाथ अब भी जुडे थे।

'मैंने सुना तुम सम्प्रति कौरवो की ओर से युद्ध नही कर रहे।

'आपने ठीक सुना। क्ण ने स्वीकार किया।

'तो मैं तुम्हे अपनी ओर से अर्थात पाडवो की ओर से युद्ध करने का आमन्त्रण देने आया हू कवल तब तक जब तक तुम दुर्योधन की ओर से युद्ध करने की स्थिति मे नही आ जात अर्थात पितामह वीरगति को नही प्राप्त करते।

क्ण हसा, "केशव मैं आपकी श्रद्धा करता हू और आपकी नीतिज्ञता का भी लोहा मानता हू। अवसर पहचानने की जो अदभुत क्षमता आपम है उसका कोई उदाहरण नही। पर मुझे अफसोस है यादवश्रेष्ठ ! कि एक बार पुन मैं आपको निराश करने को बाध्य हू। सही है कि मैं युद्ध विरत हू पर मेरा झगडा पितामह से है अपने प्राणप्रिय दुर्योधन से नही। क्या हुआ जो मैं अभी दुर्योधन की ओर से युद्ध नही कर रहा कि तु मैं इस मध्य पाडवो की ओर स युद्ध रत हो दुर्योधन पर प्रहार करू तो यह कसी मित्रता होगी ? और अभी आप मुझस चाहे जो कह रहे हो पर जिस क्षण मैं अपने मित्र के विरुद्ध शस्त्र उठाने को प्रस्तुत होऊगा उस समय आप भी क्या मेरे प्रति घणा स नही भर जायेंगे ? अगर हम मित्र का हित नही कर सकें तो उसका अहित करने की बात भी मन म लाना कसा मत्री भाव है ? मैं विवश हू केशव मैं पितामह की मत्यु की प्रतीक्षा करूगा

और तब अपने मित्र के पक्ष से समरांगण में वह अग्नि बरसाऊंगा, वह अग्नि बरसाऊंगा कि मुझे भय है स्वयं आपको ही मेरे वध के लिए कुटिल से कुटिल योजना बनाने को बाध्य होना पड़ेगा। अंततः युद्ध और प्रीति में सब कुछ क्षम्य है न?

तो तुम अडिग हो अपनी बात पर?" श्रीकृष्ण ने खड़ा होते होते पूछा।

"यह मेरी विवशता है मधुसूदन! इसे अन्यथा नहीं लीजिएगा। कर्ण इसी लिए कर्ण है कि वह सत्यपरायण है। मैंने दुर्योधन को मित्रता का वचन दिया है। मैं इस वचन की हर स्थिति में रक्षा करूंगा। विश्व ने, केशव, मुझसे बहुत कुछ छीन लिया है। स्वयं आप इस बात के साक्षी हैं कि नियति ने मेरी अंजलियों में फूल भरते भरते अंगारे भर दिए। आप, कम-से-कम मुझसे मेरी सत्यपरायणता, मेरी सुदृढ़ वचनबद्धता नहीं छीनिए, इस अकिंचन कर्ण को और अकिंचन नहीं बनाइए द्वारिकापति!' कहकर कर्ण भी खड़ा हो गया।

'ठीक है' श्रीकृष्ण ने शिविर द्वार से बाहर निकलते निकलते कहा, 'मैं युद्ध भूमि में ही तुम्हारी प्रतीक्षा करूंगा। मैं भी चाहूंगा कि पितामह शीघ्रातिशीघ्र स्वर्ग सिधारें और तुम्हें समरांगण में अपना पराक्रम दिखलाने का अवसर मिले।"

"यह तो आप ही के हाथ में है नटवर नागर! आपके किए क्या नहीं हो सकता? जाइए केशव जाइए, यह अभागा कर्ण आज तक आपकी एक बात भी नहीं मान सका। पता नहीं इसकी हठधर्मिता का क्या परिणाम हो। पर जाइए, जो आपकी इच्छा हो उसी की पूर्ति हो। हम सामान्य मनुष्यों की इच्छा का क्या, अनिच्छा का क्या?"

नवासी

युधिष्ठिर के साथ-साथ सभी पांडव-बंधुओं के वापस लौटकर रथारूढ़ होते ही दोनों पक्षों के योद्धा किसी एकाकी विपिन में चिंघाड़ते मस्त हस्ती-दलों की तरह गर्जन करने लगे और अपने धनुषों पर प्रत्यंचा चढ़ा जोर जोर से स्वर करने लगे।

सागर मुख पर पहुंचते ही जैसे नदी की वेगवती धारा कई भागों से विखंडित हो हाहाकार करती हुई समुद्र-जल में जा मिलती है उसी तरह दोनों पक्षों की सेनाएं भीषण स्वर करती हुई एक-दूसरे की ओर वेग से बढ़ चलीं। दोनों पक्षों की व्यूह रचना इस अप्रत्याशित उत्साह के कारण छिन्न भिन्न होने को आ गई फिर भी सेनापतियों ने व्यूह-संरचनाओं को संभालने में किसी तरह सफलता प्राप्त कर ही ली।

जैसे देर से अवरुद्ध सलिल धार, अवरोध की समाप्ति के साथ ही अपार वेग से कूल किनारों की मर्यादा तोड़ते हुए दौड़ पड़ती है उसी तरह गीता उपदेश के कारण हुए विलम्ब के फलस्वरूप दोनों ओर की प्रतीक्षारत सेनाओं ने दूने उत्साह से एक-दूसरे पर आक्रमण आरम्भ कर दिया।

अर्जुन के रथ पर श्वेत अश्वों की वल्गाएं अपनी सुकोमल अंगुलियों में थामे

श्रीकृष्ण मुसकराए। आखिर नियति ने मच से यवनिका उठा ही दी। अब वहा होने वाला था जिसे अत अत तक रोकने का उन्होंने अथक प्रयास किया—एक अनावश्यक नरमेध, एक अवाछित मृत्यु-ताडव युद्ध।

नही गीता के उपदेश द्वारा युद्ध उन्होंने थोपा नही था। वह तो मात्र एक पक्षीय सहार को रोकने का प्रयास था जिसम दवयोग से वह सफल हो गए थ युद्ध तो अठारह अक्षौहिणी सेनाओ क कुरुक्षेत्र म मार्चा सभालत ही अनिवाय हो आया था। तो जो होना हो हो। सभी की तरह वह भी तो अब निमित्त मात्र थे। अजुन के रथाश्वो की वल्गाए भले उनके हाथ म हो पर युद्ध, इस महासमर अब तक के देखे व सुन गए एक आसन्न नरसहार की वल्गाओ को तो नियति अपने ही हाथो म सहेज चुकी थी।

व कर भी क्या सकते थे? वे तो अभी अभी सम्पन्न अपन गीता-सदेश म स्वीकार ही कर चुके थे कि सब कुछ यहा प्रकृति के इगित पर होता है मनुष्य व्यथ म अपने को कर्त्ता समझ बठता है।

प्रकृति जब धरती पर भार बन आई जनसख्या को नियन्त्रित ही करना चाहती है तो उसे सहयोग देने क अलावा उनका और कत्त य भी क्या शेप रह जाता था? अगर सवत्र व्याप्त अधम अन्याय और स्वाथ के नग्न नत्य का अधर्मियो और पापाचारियो के विनाश द्वारा ही नियति को रोकना स्वीकाय था तो उनका भी दायित्व निर्धारित था। धार के विपरीत चलना कभी-कभी साहस का काय हो सकता है पर वह साहस दु साहस मे परिवर्तित होने लगे तो वह विनाश का ही कारण बनेगा। नही उन्होने धार के विपरीत चलने का बहुत प्रयास किया धार को अवरुद्ध कर देने के लिए भी उन्होने कुछ नही उठा रखा। पर अब नही। जब सारे प्रयास निष्फल हो गए तो उनकी नियति को भी धार के साथ बहना ही है।

इतना सोचकर उन्होंने वल्गाओ को ठीक से सहेजा और पीछे मुडकर देखा तो अजुन अपने गाडीव पर प्रत्यचा चढा उस शर सज्जित कर चुका था। एक क्षण को उनका मन हुआ व अजुन को रोक दें—छोडो नही डालो समिधा इस यज्ञाग्नि म। वापस लौटाता हू तुम्हारे रथ को। भीषण रक्तपात और दारुण सघष को शायद मेरी आखें भी नही झेल पायें। शायद हमारे लौट चलने से युद्ध टल ही जाय। पर दूसरे ही क्षण उन्होने अपने को सभाला। क्या करने जा रहे थे वह? अब तक तो उन्होंने अजुन को क्लीव और कायर और न जाने कौन कौन सबोधन दे अपने कमयोग की दुहाई दे युद्ध के लिए सन्नद्ध करने का प्रयास किया और अब जब वह पूणतया प्रस्तुत हो गया अपने कत्त य निर्वाह को तो उनका ही मन क्यो अनियन्त्रित अश्वो की तरह पीछे भागने लगा? अब क्या एक और गीतोपदेश होगा इस कुरुक्षेत्र में? और इस बार ठीक विपरीत? अब अजुन ही उपदिष्ट करेगा क्या कृष्ण को? नारायण बन आये व्यक्ति को नर से ही पथ निर्देश लेना पडेगा क्या? नही ऐसा नही होगा श्रीकृष्ण ने अपने मन को दृढ किया। वल्गाओ को ढीला किया और इगित पाते ही अश्व वायुवेग से बढ पड सामने की ओर। महासमर आरम्भ हो गया।

श्रीकृष्ण अर्जुन के रथ को भीष्म के सामने न जाना चाहते थे पर उसी समय उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उनके भी रथ को पीछे छोड़ता हुआ जो रथ तीव्र गति से आगे बढ़ गया वह भीम का था। यह रथ था या धनुष से छूटा कोई प्रचण्ड शर? पर बात इतनी ही होती तो श्रीकृष्ण को आश्चर्य नहीं होता। हाल ही में युवावस्था प्राप्त किए ललाट से मद बहाते जैसे कोई गजराज अपने-आपमें नहीं रहते हुए बार-बार चिंघाड़ता और अकारण ही विपिन के विशाल वृक्षों से शरीर मलता, उन्हें मसलता और धूल धूसरित करता पागल हुआ-सा दौड़ लगाता है उसी तरह भीमसेन अपने रथ के मध्य भाग में खड़ा भयानक स्वर में सिंहनाद कर रहा था। उसका सारथि उसके अश्वों पर निरन्तर कशाघात करता हुआ उन्हें तीव्र से तीव्रतर वेग से भागने को विवश कर रहा था और गर्जन करते एवं अपने धनुष को वृत्ताकार घुमाते तथा उससे एक ही साथ असंख्य बाण छोड़ते भीमसेन ने शत्रुपक्ष की सेना को इस तरह मथ दिया जैसे कोई मक्खन निकालने के लिए मथानी से दूध मथता है।

इस उपमा पर श्रीकृष्ण को मन-ही-मन हंसी आ गई। अन्ततः वह व्रज को लौट ही गए न? इस युद्धभूमि की भयंकरता के मध्य भी! किसने खींचा उन्हें व्रज में? श्रीकृष्ण ने सोचा। बाबा नन्द ने? गोप गोपियों के प्रेम ने? अथवा सचमुच मां यशोदा की मथानी ने?

किसी ने नहीं। श्रीकृष्ण के मन ने तर्क किया। व्रज में खींचा है उसी ने जिसने कभी उन्हें आर्यावर्त के सर्वश्रेष्ठ पुरुष के रूप में—पुरुषोत्तम—के रूप में देखना चाहा था। वह जो व्रज की वीथियों और करील-कुंजों और कालिन्दी कूलों पर केवल उनका नाम रटते घूमा करती है। जिसके होठों पर एक ही प्रार्थना है अपने बाल-सखा की सुरक्षा की और जिसके अन्तर में एक ही कामना है अपने श्याम को इस आर्यभूमि की सर्वाधिक कीर्तिमान व्यक्ति बनाने की।

क्या उसे इस युद्ध का पता होगा श्रीकृष्ण कल्पना-लोक में ही खोए थे और इसका भी अनुमान होगा क्या कि आज उसका श्याम सचमुच इस आर्यावर्त का एक तरह से सर्वश्रेष्ठ पुरुष बन आया है? क्या पता होगा उसे कि युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में जिस व्यक्ति की अग्रपूजा हुई थी वह उसका श्याम ही था? और क्या उसे पता होगा कि आज इस युद्धभूमि में पूरी अठारह अक्षौहिणी सेनाओं का सूत्रधार भी वही था क्योंकि रण भूमि के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुन के रथ का सारथ्य वही कर रहा था? मात्र पार्थाश्वों की वल्गाओं को अपने हाथ में होने से वह युद्ध को मनमाना मोड़ दे सकता था? पता होगा उसे कि भीष्म द्रोण कृप और कर्ण के मदान्ध महारथियों के भाग्य तो भाग्य उनके प्राण भी उसकी मुट्ठी में ही बंद थे क्योंकि वह वीर पांडवों का पक्षधर था और अपनी अपेक्षाकृत न्यून सैन्य शक्ति के बावजूद पांडव उसके सहारे इस महान् समर-उदधि को उसी तरह मथ देने की स्थिति में थे जिस तरह कभी मंदराचल ने समुद्र को मथ कर रख छोड़ा था?

शायद उसे पता नहीं ही हो श्रीकृष्ण ने सोचा। कौन उस अर्द्धविक्षिप्ता-सी प्रतीत होती वार्धक्य की ओर पैर रख चुकी आजीवन कौमार्य-व्रत पालन के पागलपन को समर्पित हो चुकी एक नारी से उसका दुःख-सुख बांटने जायेगा?

श्रीकृष्ण का मन व्यथित हो आया। राधा! हाय, प्राण प्रिय! उनके मुख

से बाहर होते-होते रहा। वे सचेत हो गए। पर उन्होंने मन ही मन प्रतिज्ञा की। ज्ञात होगा राधा को सब कुछ। ज्ञात करायेंगे वे उसे स्वय। अभी एक दो बार ही उन्होंने अपनी सकल्प शक्ति और साधना-जनित सिद्धिया का उपयोग किया है।

एक बार पुन वे उनका उपयोग करेंगे। कुरुक्षेत्र के सग्राम के पश्चात्। जब विजय-श्री पाडवा का वरण कर लेगी, वे राधा का आह्वान करेंगे। मिल ता वह उनसे! जिस सिद्धि के लिए वह जीवन भर साधना रत रही उसके फल का उपयोग वह भले नही कर सके, पर साधना से पके फल का वह एक बार आखा से देखेगी अवश्य। नही वचित नही किया जा सकता उसे जो निरन्तर उनके मन प्राणा म बस कर उन्हे प्रेरित करती रही जिसने उन्हें उस युग के सवश्रेष्ठ पुरुष के रूप मे ढाला, जिसने अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए किशोरावस्था म दिये वचन के रक्षाथ अपने को पूरी तरह मिटा डाला वह इस ससार स असन्तुष्ट नहा उठेगी। आयेगी वह कुरुक्षेत्र आयगी। आ रहा है उसका समय। इस महासमर के सूत्रधार हैं वह। इन अठारह अक्षौहिणिया की समाप्ति म अठारह दिना से अधिक नही लगने को। अठारहवें दिन सम्पूण खेल को समाप्त होना है। ठीक उसी दिन प्रकट होगी उनकी प्रिया उनकी राधा!

"जनार्दन! तुम कही खो गए। तुम्हे पता है तुम्हारे हाथ से अश्वो की वल्गाए पूरी तरह छूट चुकी हैं और अश्व विवश स एक ही स्थान पर खडे है। अब मैं इस गाडीव को सभालू या इन अश्वो को? क्या भीमसेन का कणभेदी गजन भी तुम्हारे ध्यान को तोडने के लिए पर्याप्त नही है। अजुन की बातो पर श्रीकृष्ण अपने म लौटे।

' मैंने भीम के गजन और उसके प्रलयकारी स्वरूप को लक्षित कर ही तुम्हारे अश्वा को रोक लिया है, श्रीकृष्ण ने एक तरह स ठीक ही कहा था।

यह समर सच कहो तो एक तरह स भीम का ही विजय पव है। पाथ तुम जानते हो कि पाडव युद्ध की ओर कभी प्रवत्त नही होते अगर इसमे भीम और द्रौपदी की प्रतिष्ठा का प्रश्न नही होता। यह युद्ध तो भीम द्वारा दु शासन का वक्ष विदीण कर उसके रक्त से द्रौपदा के अब तक उन्मुक्त केशो की सज्जा के लिए लडा जा रहा है—उस दु शासन का जिसने अनावश्यक प्रमाद का शिकार हो रजस्वला और एकवस्त्रा पाचाली को कौरव सभा म नग्न करना चाहा था।

' हा पाथ, यह युद्ध तो भीम की गदा द्वारा दुर्योधन के उन अपवित्र जङ्घाओ को खडित करने के लिए लडा जा रहा है जिन्ह अनावत्त कर उसने उन पर बैठने के लिए पाचाली का आह्वान किया था।

गरजने दो भीम को अजुन! पूरी तरह उत्सव मग्न होने दो उस। खेलने दो मस्त गजराज का कमल दल स आच्छादित सरोवर म पूरी तरह। हा जसा कि पहले कहा यह रगमच इसी के लिए खडा किया गया है। मैं इसका सूत्रधार चाहे जो होऊ तुम और अन्य योद्धा इसके कुछ प्रमुख अप्रमुख पात्र चाहे जो होओ पर इस नाटक का असल नायक भीम ही है और वही इसके खलनायक दुर्योधन का वध भी करेगा।

तुम्हे अभी विशेष चिंतित होने की आवश्यकता नही। तुम्हारी भूमिका ही निर्णायक सिद्ध होगी इस युद्ध मे, पर समय की प्रतीक्षा करो। अभी और वीरो

को अपना पराक्रम दिखान दो। भीम क ताडव-नत्य म तो हम बाधा दनी ही नही
है।'

प्रथम दिन पाडव-पक्ष म भीम क अलावा अभिमन्यु का पराक्रम विशेष
उल्लेखनीय रहा। अभिमन्यु को आग बढ़न म रोकन के लिए कौरव सनापति
भीष्म को स्वय आगे आना पडा और इसक बाद वृद्ध पितामह न ऐसा नर
सहार आरम्भ किया कि पाण्डव पक्ष म त्राहि त्राहि मच गई।

प्रथम दिन का यह युद्ध असख्य पदातियो रथियो अश्वारोहियो महारथियो,
गजो अश्वो आदि के साथ साथ दो प्रमुख वीरो विराटसन-कुमार उत्तर और
उसक ज्येष्ठ भ्राता महाबली श्वेत का बलिदान लेकर समाप्त हुआ। पर दिन के
अवसान काल तक पूरे रणागण म शान्तनु नन्दन भीष्म की जो जय-जयकार छाई
रही उसने न केवल पाडवो अपितु श्रीकृष्ण को भी चिन्ता म डाल दिया।

नव्वे

क्या धम भीरुता का ही पर्याय है अथवा का-पुरुष और भीत व्यक्ति ही धम की
शरण जाते हैं? पौरुष और पराक्रम के समक्ष धम सवथा निरुपाय है क्या? या
यह कि जहा धम है वही विजय होती है—यतो धमस्ततो जय—इस तथ्य को
जानकर भी कभी कभी धमाचार्यो का विश्वास भी धम-जनित आश्वस्ति से
उठन लगता है?

श्रीकृष्ण का चित्त अस्थिर था और ये सारे प्रश्न उनके उद्विग्न मस्तिष्क को
अशात किए जा रहे थे।

ऐसा नहीं होता अगर इस सबके मूल म वह व्यक्ति नहीं होता जिसे ससार
धमराज की सज्ञा से विभूषित कर बैठा था। सच सत्यनिष्ठ युधिष्ठिर के
अप्रत्याशित व्यवहार न ही उन्हे भी धम को नये इस रूप म सोचने को बाध्य
किया था। श्रीकृष्ण बहुत गम्भीरता स इस प्रश्न पर विचार कर रहे थे। युद्ध के
प्रथम दिन की सध्या ही पूणतया हतोत्साह हो आये धमराज के अप्रत्याशित
व्यवहार ने श्रीकृष्ण को यह सब सोचने को बाध्य कर दिया था।

विचित्र है यह मन भी या कि हिंसा इसकी प्रवृत्ति ही नहीं जैसे अप्रसन्नता
स मूलत उसका कोई लेना देना नहीं। तभी तो इस युद्ध के नाम पर कभी अजुन
व सरीखा सवश्रेष्ठ धनुर्धारी घबरा उठता है तो कभी उनका स्वय का मन भी
विचलित हो उठता है। अभी कल ही तो वह स्वय सोच रहे थे अजुन के स्यन्दन
को वापस मोड लेने की बात।

किन्तु यह धमराज? यह तो एक गूढ पहेली है। युद्ध के आरम्भ म ही किसी
ऊचे शिखर स टूटकर हिम-खड की तरह ही उनका आत्म विश्वास भी लुढ़क पड़ा
था। कितना कुछ करना पडा इन्हे तब जाकर किसी तरह इन्हें सग्राम के लिए
प्रस्तुत किया जा सका। अब प्रथम दिन की प्रतिकूल स्थिति ने ही इन्हे इस तरह
भयभीत कर दिया है कि ये सग्राम रोक देने तक की बात सोचने लगे हैं। भीष्म
पितामह के आज के रौद्र रूप को देखकर प्रात कालीन चाद की तरह ये **पूर्णतया**

निस्तेज हो गए हैं। कहते हैं—भीष्म एक भीषण दावाग्नि की तरह सम्पूर्ण पाण्डव सेना का अपना ग्रास बनाकर छोड़ेंगे। जैसे प्रज्वलित दीप शिखा पर पतंग विवश हो जल मरते हैं उसी तरह भीष्म रूपी दाहक अग्नि स्तम्भ से टकरा-टकरा हमारे सभी वीर स्वाहा हो जायेंगे।

क्या-क्या बातें उठती हैं एक भीत मन के भीतर। यहाँ धर्मराज को भीरु कहने के अलावा और क्या कहने को मन करता है? साथ ही उन्हें अपनी धर्म-परायणता पर भी विश्वास नहीं रहा वरना धर्म की आस्था के समक्ष पराजय की परिकल्पना भी कहाँ टिकता है? और वे सं...रहा होगे अपने धर्माचरण के प्रति भी संदिग्ध ये तथाकथित धर्मराज। स्वयं को द्यूत में हारने के पश्चात भी एक नहीं पाँच-पाँच भाइयों की असहाय पत्नी को दाँव पर लगा देनेवाला अपने इस कृत्य को किधर से धार्मिक मानेगा?

पर अभी तो सबसे बड़ी समस्या थी उन्हें युद्ध के लिए पुनः सन्नद्ध करने की। भीष्म निस्सन्देह उनके लिए दुःस्वप्न बन गए हैं। कल रणांगण में उतरने से ठीक उसी तरह घबड़ा रहे हैं जिस तरह जिस ओर मृगराज की गन्ध मिल जाय उस तरफ कोई वन्य जीव भूलकर भी मुँह नहीं करता।

क्या वे युधिष्ठिर से स्पष्ट कह दें कि आप कायर हैं और ज्येष्ठ कुन्ती पुत्र को यह कापुरुषता नहीं शोभा देता है? कि एक बार आरम्भ हो गया यह युद्ध अब बन्द नहीं होने को।

नहीं वे ऐसा नहीं कर सकते। पाण्डव उनके मित्र ही नहीं उनकी बुआ के लड़के भी हैं और युधिष्ठिर इनमें सबसे बड़े हैं। उनके प्रति श्रद्धा रखना श्रीकृष्ण का भी कर्त्तव्य बनता है।

तब? तब यह कि धर्मराज के आत्मविश्वास को ही वापस लाना होगा।

और श्रीकृष्ण शुरू हुए—आप व्यर्थ ही भयभीत हो रहे हैं पाण्डुनन्दन! भीष्म आप सबों का क्या बिगाड़ लेंगे? आपके यहाँ पराक्रमी शस्त्रधारियों की कौन कमी है? आपके अपने अनुज पार्थ सा धनुर्धर विश्व में कहीं ढूँढे भी मिलेगा? और भीमसेन के सदृश गदा-वीर? इनके अलावा नकुल सहदेव शौर्य वीर्य में किससे कम हैं? फिर इनके ऊपर आपके सेनापति द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न? उसकी वीरता निर्भीकता और आत्मविश्वास तथा संगठन शक्ति किधर से संदिग्ध है? और उनके ऊपर विभिन्न राज्यों के वे महावीर जो अपने प्राणों की चिन्ता किए बिना आपके साथ आ लगे हैं? कभी उनकी भी चिन्ता की? अगर आप स्वयं ही भीष्म से भय खाकर युद्ध से पलायन कर जायेंगे तो ये योद्धा जो आपकी सहायता में आ जुटे हैं कौन-सा मुँह लेकर अपने अपने स्थानों को लौटेंगे? और ये लौट भी पायेंगे यह कौन जानता है? तब तो जैसा कि आप कहते हैं ठीक ही ये इस युद्धाग्नि में क्षुद्र जीवों की तरह जल मरेंगे। दुर्योधन के सदृश अविचारी और अहंकारी कौरव के रहते हुए ये वीर जो पाण्डवों को अपना खुला समर्थन प्रदान कर चुके हैं शस्त्र डालकर समर्पण कर देने पर भी अपने प्राणों को सुरक्षित रख पायेंगे क्या? दुर्योधन के समक्ष नीति-अनीति का कोई अर्थ होता है?

धर्मराज! इसलिए आप अपने अन्तर से भीष्म रूपी भय को ठीक उसी तरह भगा दें जिस तरह अंधकार के छटते ही अंधविश्वासियों के मन से भूतों का भय तिरोहित हो जाता है। आप सच व्यर्थ ही भयग्रस्त हो रहे हैं। आपके साथ जब

अय सारे वीरा क अनावा महायशस्वी सात्यकि, विख्यात योद्धा विराट नप द्रपद महारथ एव भीष्म क बान स्वरूप शिखडी वतमान हैं ता आपके व्यथित होने का कोई कारण नही।

बान युधिष्ठिर को लग गई थी। नही कहकर भी श्रीकृष्ण ने उन्ह भीम और का पुत्र के अतिरिक्त कुछ और नही कहा था।

"मैं एक ही स्थिति म युद्ध क चलते रहने म अपनी सहमति द सकता हू।" धमराज ने ताल गाहर बटोरा।

'ग्रौलिए क्या है आपकी शत ?' श्रीकृष्ण ने पूछा।

"आज की भीष्म की उद्दण्डता का कल पूण उत्तर दिया जाय। आप भीम और धष्टद्युम्न की ओट म अजुन को भीष्म के साथ मात्र आख मिचौनी नही खेलाए। सखा धर्म का निर्वाह छोडें। मेरी तरह आप भी जानते है कि भीष्म अजेय है पर उनका एकमात्र प्रतिरोधी है तो वह पाथ क सिवा कोई और नहीं। कल आपको पितामह और पाथ को आमने सामने करना है।'

श्रीकृष्ण असमजस म पडे। वह अजुन की उपयोगिता जानते थे। वह उसकी शक्ति को अभी से क्षीण नही करना चाहत थे। उन्ह यह ज्ञात था कि कौरव-पक्ष म अगर पाण्डवो का कोई सबम बडा शत्रु है तो वह भीष्म नही बल्कि सूत पुत्र के नाम स विख्यात सूर्यांशसभूत राधेय कण है। इस कण की हत्या करन म सामाय स्थिति म अजुन भी सक्षम नही था पर उपयोग तो अजुन का ही करना था इस काय क लिए। अत अजुन की ऊर्जा को वह तब तक अक्षुण्ण रखना चाहत थ जब तक कण रूपी साक्षात काल स वे पाण्डवो को मुक्ति नही दिला देन और इसके लिए अभी प्रतीक्षा करनी थी। जब तक कौरव पक्ष के अधिकाश योद्धा गत प्राण नही होने और कण का रक्षा कवच दुबल नही पडता तब तक उस पर निर्णायक आक्रमण व्यथ था। ऐसे भी अभी कण युद्धभूमि से बाहर था। जब तक कौरव सेना का सूत्र-सचालन भीष्म क हाथ मे है तब तक वह समर म उतरने स रहा। इस दृष्टि स भी भीष्म का जीवित रहना अभी आवश्यक था क्योंकि भीष्म जो कुछ भी हो, पाडवो के भी उसी तरह अपने थे जिस तरह कौरवो के। एक तो शायद ही वह अपने हाथो पाचो पाण्डवो म से किसी एक का भी वध करते दूसरे वे चाहे जितना भी पराक्रमी हो कण का प्रतिशोध भाव उनके अन्दर नही था। भीष्म क पराभव क पश्चात कण क रणागण म उतरते ही युधिष्ठिर की स्थिति तो और दयनीय हो जायेगी। भीष्म अगर पाण्डव-सेना क लिए तूफान है तो कण साक्षात चक्रवात।

पर धमराज को कौन समझाए ? खर कल व भीष्म को अजुन के शरो का कुछ स्वाद चखायेंगे। आज तो उन्होंने केवल थोडी देर क लिए दोनो को आमने सामने किया था पर कल भीष्म क बढते मनोबल पर अकुश लगाना ही पडेगा वरना अगर अग्रज ने ही अस्त्र शस्त्र छोड दिए तो शेष चारो पाण्डवो को किसी तरह भी उनका अनुकरण करने से रोकना एक असम्भव और दुस्साध्य प्रयास के सिवा और कुछ नहीं होगा।

'ठीक है कल भीष्म रूपी भयावह बाढ को हम पूणतया रोकेंगे' श्रीकृष्ण न धर्मराज को आश्वस्त किया। 'अब आप जाकर विश्राम करें।'

और दूसरे दिन पूरबी क्षितिज पर सूरज के आगमन के साथ ही नीचे पृथ्वी पर भी दो सूरज एक दूसरे के आमने-सामने आ जुटे थे भीष्म और अर्जुन। दोनों आपस में एक दूसरे से इस तरह टकराते थे जैसे दो पंख युक्त पर्वत ही एक-दूसरे से जा भिड़े हों। अर्जुन के गांडीव से श्रावण की वर्षा की बौछार की तरह बाणों की बरसात हो रही थी और यद्यपि अधिकांश शरों को भीष्म कुशलतापूर्वक काट फेंकते थे अथवा अपनी ढाल पर झेल लेते थे पर कुछेक तो उनके तन को विद्ध ही कर गए और उनके गौर शरीर पर स्थान-स्थान से रक्त की पंक्तियां इस तरह बह चलीं जैसे किसी गिरि के पर्वत पर गुलाल की रेखाएं खिंच गई हों। अर्जुन की स्थिति प्रायः वही थी पर सब कुछ होने के बावजूद वृद्ध भीष्म की ममता उन्हें अपनी ही संतान पर मारक प्रहार करने से रोक रही थी।

अर्जुन के बाण वर्षण ने पितामह के सुवर्ण-मण्डित ताल ध्वज वाले रथ को मेघ-खण्डों द्वारा सूर्य बिम्ब की तरह आच्छादित देखकर दुर्योधन त्रस्त-व्यस्त हो आया और वह दुःशासन, जयद्रथ, शल्य, इरावन, सोमदत्त, विकर्ण, अश्वत्थामा, चित्रसेन, नन्द, उपनन्द, भूरिश्रवा, विन्द, अनुविन्द आदि के साथ भीष्म के रक्षार्थ पहुंचा। पितामह का रथ बाणों के आवरण से शीघ्र मुक्त हुआ और फिर सभी वीरों ने मिलकर अर्जुन पर एक साथ प्रहार आरम्भ किया। किन्तु इन सभी योद्धाओं के सम्मिलित प्रहार को भी अर्जुन हंसते-हंसते झेलता रहा। साथ ही भीष्म पर शरों की अनवरत वर्षा उसने जारी रखी। आज के युद्ध में अर्जुन के हाथों भीष्म की पराजय सर्वविदित हो गई।

दूसरी ओर द्रोणाचार्य और धृष्टद्युम्न में घोर युद्ध छिड़ा हुआ था। पांचाल कुमार धृष्टद्युम्न आचार्य द्रोण के समक्ष टिक पाने में असमर्थ था और बरसाती निर्झर से निस्सृत जलधारों की तरह उसके शरीर से रक्त के असंख्य प्रवाह फूट चले थे।

भीमसेन ने द्रुपद पुत्र की यह स्थिति देखी तो वे उसकी रक्षार्थ दौड़े और उसे अपने रथ पर बैठा कर दूसरी ओर चल पड़े।

भीमसेन को धृष्टद्युम्न को लेकर भागते देख दुर्योधन ने पास ही खड़े कलिंग राज को अपने जन्मजात शत्रु भीम का पीछा करने का आदेश दिया।

श्रीकृष्ण ने मुड़कर देखा भीम को पुनः एक बार अपने ताण्डव का अवसर मिल गया था। घोर गर्जन करता हुआ भीमसेन कलिंग सेना का इस तरह संहार करने लगा कि वहां मचे हाहाकार ने भीष्म और उनके रक्षार्थ जुड़े योद्धाओं के भी कान खड़े कर दिए। अन्ततः भीष्म को, अर्जुन को छोड़कर कलिंग राज के रक्षार्थ दौड़ना पड़ा। भीष्म की पराजय स्पष्ट हो गई।

पर भीष्म की उपस्थिति भी मदोन्मत्त भीम के प्रलयकारी स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं ला सकी। श्रीकृष्ण मुसकराए और अपने ललाट से श्रम जनित स्वेद पोंछते हुए अर्जुन से बोले— मैंने कहा न था पार्थ कि यह युद्ध भीम का विजय पर्व है? उसके जीवन की सर्वाधिक महत्वाकांक्षा की चरम परिणति? देख तो उसके युद्ध नर्तन को। इस युद्ध में जय या पराजय जिसकी हो पर प्रसन्नता का सर्वाधिक भाग भीम की झोली में ही पड़ने वाला है।

इस मध्य सागर ज्वार की तरह अबाधित भीम के प्रभाव को लक्षित कर और कौरव योद्धा भी द्रोणाचार्य के सहायतार्थ आ जुटे। भीम की सहायता के लिए भी सात्यकि, अभिमन्यु एवं अन्य पाण्डव वीर उसके पक्ष में आ खड़े हुए।

सहायक्ता स समद्ध भीम का शौय समिधा युक्त अग्नि की तरह और प्रज्वलित हो आया और उसन अपना ध्यान कलिंगा को छोडकर पितामह पर ही केन्द्रित कर लिया। सभी पाडव वीरो न ऐसा ही किया। और तब रेगरी शान्तनु-नन्दन महा धनुधर भीष्म को उस समय असह्य अपमानबोध का सामना करना पडा जब सात्यकि के धनुष से छूटे एक शर न उनके सारथि क सिर को ही धड से अलग कर दिया।

सारथि रहित पितामह के रथाश्व उनके वहत रथ को लेकर वायु-वेग से भाग चले जिसका अथ कौरव और पाण्डवो दोनो न पितामह का पलायन लगाया और भीम के नेतत्व म पाडव सेना न ऐसा भीषण रक्तपात आरम्भ किया कि अगर साय ही सूर्यास्त नही हो गया रहता तो कौरवो की आज क्या गति होती, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। अगर कल का युद्ध भीष्म क पक्ष म गया था तो आज के सूर्यास्त ने भीम के स्वण किरीट की विजय किरणो का स्पश दिया और पाण्डव शिविर म कल सध्या को व्याप्त निराशा आज वहा ढूढे भी नहीं मिलती थी। युधिष्ठिर आज पूणतया सतुष्ट थ और वे बार-बार श्रीकृष्ण का साधुवाद किए जा रहे थे—"हृषीकेश ! यह सब आप ही की कृपा का प्रसाद है। आज मेरी प्रसन्नता का पारावार नहीं। जिस तरह पूर्ण चन्द्र के दशन मात्र से उदधि-तल पर प्रसन्नता की गगनचुम्बी लहरें जाग्रत हो जाती हैं उसी तरह मेरा अन्तर भी आज की विजय-जनित प्रसन्नता पर आपके प्रति शत सहस्र बार नमित होने को व्यग्र हो रहा है।

"गलत बात है कुन्ती पुत्र !" श्रीकृष्ण न आरम्भ किया। प्रसन्नता और अप्रसन्नता, प्रकाश और अधकार की तरह जीवन के दो अनिवाय सत्य हैं। इनका आना-जाना कोई रोक नहीं सकता। जीवन के यथाथ स परिचित पुरुष इन दोनो म किसी को कुछ भी महत्त्व नहीं देते। कल तुम अप्रसन्नता-जनित अवसाद से ग्रस्त थे, आज तुम्हारी प्रसन्नता का पारावार नहीं। कल तुम्हे पुन अप्रसन्नता का वरण करना पड सकता है। धीर पुरुष अतिम परिणाम की प्रतीक्षा करते हैं। लक्ष्य प्राप्ति के माग म आनेवाली छोटी-बडी सफलताओ और असफलताओ पर न तो वे आह्लादित होते हैं न विषाद-ग्रस्त। अत, तुम भी इस युद्ध की परिणति पर ही ध्यान रखो और यदि सचमुच तुम अपने को धम के प्रति पूणतया समर्पित मानते हो तो इस महासमर को तुम्हारा धम इसी तरह सुरक्षित पार करा देगा जसे प्रबल पतवार-युक्त पोत का सागर की खूखार लहरें कुछ नहीं बिगाड पाती और वह तट का स्पश करके ही रहता है।"

इस तरह दूसरे दिन की सध्या पाण्डवो के लिए हष और कौरवो के लिए विषाद का सन्देश लेकर ही अवतरित हुई।

इक्यानवे

भवितव्यता का ज्ञान किसे होता है ? नियति अपने रगमच की किस यवनिका को कब उठाकर कौन-सा दश्य ला खडा करेगी कौन जानता है ? श्रीकृष्ण को कभी

स्वप्न म भी विश्वास नही था कि उन्हे प्रतिज्ञा भग का भी भागी बनना पड़ेगा? रणागण म शस्त्र नही छूने का व्रत ले रखा था उन्होने। पर आज युद्ध के तीसरे दिन तो भीष्म न उनसे अपनी प्रतिज्ञा तोडवा ही दी। क्रोध को, अपन गीतोपदेश म भर्त्सना करने वाले स्वय श्रीकृष्ण को ही आज क्रोध का शिकार होना पडा था और वे अपनी प्रतिज्ञा भूल कर भीष्म का वध करने के लिए हाथ म सुदर्शन चक्र धारण किए उनकी तरफ दौडे थ।

श्रीकृष्ण को आज घटी सारी बातें पूणतया याद थी। कल भीमसेन ने जब समरागण म ताडव कर कौरवो के मनोबल को तोड दिया था तो दुर्योधन भीष्म के पास पहुचकर बोला था 'पितामह यह तथ्य सारी सृष्टि को ज्ञात है कि आप अजेय हैं और आपके रहते पाडवो को कभी सफलता नही मिल सकती। फिर भी जसे किसी चक्रवात के चक्कर म पडकर आम्र-वृक्षों के फल निरतर धरती पर बिछते जाते हैं, उसी तरह कौरव वीर सहस्रो की सख्या म कालकवलित हो रहे हैं। आपका मन तो अपने प्रिय पाण्डवो की ओर है केवल तन से आप हमारी तरफ से युद्धरत हैं पर जब तक मन का सहयोग नही मिले तब तक तन की उपलब्धि नगण्य ही होती है। आप ही के कारण मैंने कर्ण के सदृश धनुधर को युद्ध से विरत रखा और आप ही हमे मध्यधार म किसी अन्यमनस्क नाविक की तरह खूखार लहरो के सहारे छोड बठे हैं।'

दुर्योधन की यह स्पष्टवादिता पितामह को अन्दर तक काट गई थी। उन्हे लगा था कि कोई उनके वक्ष-स्थल को तीक्ष्ण बरछी-बाणो से बीधता जा रहा है, बीधता जा रहा है। वे सहसा किसी क्रुद्ध केसरी की तरह ही गरज पडे थे—'बस करो सुयोधन बस। मेरे कानो म तुम्हारे शब्द तप्त लौह द्रव्य की तरह पडकर मेरे सम्पूर्ण तन को व्यथित और व्यग्र कर रहे हैं। अपने कर्मों के फल को भोगने को सब विवश हैं मैं भी और तुम भी। अगर तुम अपने कुकर्मों पर अकुश दिए रहते तो कुरुक्षेत्र मे काल का यह भरव-ताडव नही होता और मैं अगर तन की आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु तुम्हारे दरबार का एक चाटुकार मात्र बनकर नही रह जाता तो आज मुझे ये मम भेदी वचन नही सुनने पडते।

'मैंने तुमसे पहले भी कहा था कि जहा धम होता है वही विजय होती है और धम प्राण पाडव अपनी धमपरायणता के कारण अजय हैं किन्तु तुम्हारे राज मद ने कब किसी के कथन को मान दिया है? चाहे वे सम्राट धतराष्ट्र के वचन हो अथवा धनुर्वेद के साक्षात अवतार गुरु द्रोण के अथवा कृपाचाय या किसी अन्य गुरु-जन के।

खर, तुमने मेरे ऊपर सदेह के असह्य स्फुलिंग फेंके हैं जो तुम्हारे ही योग्य हैं तो कल के युद्ध म तुम मेरा पराक्रम भी देख लोगे। तुम्हे जय मिलेगी या पराजय इसका निर्णय तो काल पुरुष के हाथ मे है पर कल जिसे तुम पितामह कहते हो उसके पराक्रम से त्रैलोक्य थर्रा उठेगा। जाओ तुम निश्चिन्त होकर अपने शिविर म विश्राम करो।

दुर्योधन प्रसन्न मन लौटा था और तीसरे दिन का सूरज कुरुक्षेत्र के क्षितिज पर कुछ अधिक तेज लेकर ही उदित हुआ था। आज उस धरती के एक सूरज के अमित पराक्रम का साक्षी जो बनना था।

और ठीक ही वृत्तान्त बन जाये थे भीष्म रणागण मे। उन्होने गरुड के आकार

म व्यूह रचना की थी—गरुड जो काल-स्वरूप सप को भी भक्षण कर जाता है। बदले म पाडवा न अद्ध चन्द्राकार रूप म अपन सन्य को सजाया था। भीष्म क उग्र रूप को दखकर अद्धचन्द्र क एक छोर पर अजुन और दूसरे पर भीमसन व्यूह क रक्षाथ खड हो गए।

युद्ध का तीसरा दिन आज भयकर रूप लकर सामन आया। दोनो पक्षो क वीर मरन-मारन पर उतारू थ और एक दूसरे पर परिघ तोमर प्रास गदा शूल खड्ग शक्ति तलवार शर कम्पन कणप आदि भयानक अस्त्र शस्त्रो स प्रहार करने लग थ।

कौरवो की ओर स दुर्योधन पुरमित्र विकर्ण सिधुपति जयद्रथ सुबल पुत्र शकुनि भीष्म द्रोण, कृप आदि सिंह गजन करत हुए रणभूमि म विचरण कर शत्रु सना का सहार कर रहे थे तो पाडवो की ओर स अजुन भीम घटोत्कच सात्यकि चकितान द्रौपदी क पाचो पुत्र सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु माद्री पुत्र नकुल और सहदव अग्नि के सदृश वीरो न प्रलय का दश्य उपस्थित कर दिया था।

सवत्र त्राहि त्राहि मची हुई थी। पदाति अश्वारोही अधिरथी रथी अति रथी महारथी सभी भीष्म-जनित युद्ध की प्रचड ज्वाला म निरीह स झुलस रहे थे। कही कमर और टागो के टूट जाने स युद्धाश्व धराशायी हो रह थ तो कही गदाओ की चोट स गड-स्थल क विदीण हो जान स गजराज जोर की चिघाड मारत हुए धरती पर लोटपोट हो रह थ। सर-सर करत हुए सूची भेद नागमुख अद्ध चन्द्राकार और वस्ती-बाण समर भूमि के एक सिरे स दूसर सिर तक इस तरह उड रह थ जसे कुरुक्षत्र क आकाश म असख्य टिड्डी-दल छा गए हो।

कुछ ही प्रहर क इस महासमर ने बडे-बडे योद्धाओ के मन म भय भर दिया और सब प्राणो की रक्षा के लिए यत्र-तत्र भागने लग। समरागण म काम आए मनुष्यो, घोडो हाथियो के शरीरो से प्रवाहित रक्त की नदिया ही बह चली जिनमे मास मज्जा ने कीचड की तरह जमकर रण भूमि को वीरो के विचरण योग्य नही छोडा। स्यार गिद्ध चील श्वान आदि मास भक्षी जीवो क लिए वह महोत्सव का दिन हो आया और सभी मत तो मत आहत और अधमरे वीरो के मास भी नोच नोच कर खान लगे।

चारो ओर व्याप्त त्राहि त्राहि और वीरो के सिंह-गजन ने कुरुक्षत्र क आकाश को स्वरो से इस तरह पाट दिया कि वहा कोई अन्य शब्द सुन भी नही सुनाई पडता था।

सबसे दुर्भाग्यपूण घटना तो यह घटी कि दो महान् गदा वीरो—भीमसेन और दुर्योधन—के युद्ध म भीम के भीषण प्रहार से दुर्योधन सज्ञा शून्य हो गया। उसका सारथि उसके प्राणो की रक्षा के लिए उसे युद्ध क्षेत्र स बाहर ल भागा। सज्ञा प्राप्त होने पर दुर्योधन न सारथि को बहुत सार दुवचन कहे और भीष्म के पास जाकर उन्ह अपने कल की प्रतिज्ञा की याद दिलाई पितामह आप अब भी पाडवो क प्रति कृपालु बने हुए हैं। रणागण कौरवो के शव स पट गया है। उन्मत्त भीम हुकार भरता हुआ अजेय-सा समरागण म सवत्र विचरण कर रहा है यहा तक कि उसने मुझे भी सज्ञा शून्य कर दिया और आप यह सब निर्विकार भाव स देखे जा रहे है।

'कभी आपन यह देखने का प्रयास किया है कि उस यादव कृष्ण से प्रेरित हो

उम क्षुद्र पया पुत्र अजुन ने अपन अमख्य वाणा की अनवरत वर्षा से इस प्रकार हमारे वीरो के शव मे भूमि का पाट दिया है जसे आसमान क ओले धरती पर दूर दूर तक बिछ जात है ? जाइए माहस हा तो उम पराक्रमी पाथ को रोकिए वरना यह युद्ध आज ही समाप्त हो जायगा। कोई नही बचेगा कौरवो म अजुन के गाडीव और भीम की गदा क कारण।

पितामह न दुर्योधन की बात का उत्तर देना अनावश्यक ममझ पाथ क रथ की ओर प्रस्थान किया। माग म अपने तीक्ष्ण शरो क प्रहार से पाडव वीरो म प्रलय की सष्टि कर दी। उनके प्रचड धनुप से छूटे हुए शर सम्पूण सग्राम म जलती ममालो की तरह दौड लगान लगे जिनकी चपट म आ असख्य पाण्डव वीर मत्यु का वरण करन को विवश हो गए। क्रोध एव अपमान स युक्त स्वय भीष्म इस समय किसी भयावह अग्नि पुज की तरह ही प्रतीत हा रह थे।

श्रीकृष्ण न यह दखा ता व अजुन स बोले—'रोको पाथ रोको पितामह की इस अबाध गति का अयथा कोई नही बच पायेगा पाडव-पक्ष म मतका क पिण्ड दान के लिए भी।

दूसरे ही क्षण भीष्म और अजुन आमन मामने थे। दोनो एक दूसरे पर काल मर्पों की तरह अनवरत बाणा की वर्षा करने लग। दोनो की प्रत्यचाओ की टकार से कुरुक्षेत्र की दूर दूर तक की धरती कम्पायमान हा गई। क्रोध से दोनो के चेहरे पलास के फूलो की तरह रक्त-वर्णी हो आए दोना क कर कुम्भकार के चक्र की तरह तीव्र गति से चक्रायित हो चारो ओर शरो की ऐसी वर्षा करने लगे जिसके कारण उनके शरीर तो आहत होने ही लगे दूर-दूर तक पदाति अश्वारोही और रथारोही प्रकाशित दीपाधारो क पाम गिरत शलभो की तरह ही धरती पर बिछने लगे।

पितामह का पराक्रम आज पूरे वेग पर था जसे कोई वेगवान प्रलयनद अपन कूल किनारो की मर्यादा को भूल सवत्र विनाश की ही सष्टि कर डाल—सवत्र जल ही जल जिसमे जड चेतन सब डूब गल कर एच मर। अपने पितामह क इस पराक्रम क सबध मे पाथ ने सुना अवश्य था पर उसे देखने का अवसर उम आज हा मिल रहा था। अब झेल नही पा रहा था वह उनके निमम प्रहारो का। उसके कर शिथिल हो रह थे। गाडीव असतुलित हा रहा था तरकश के तीर चुक रहे थे उधर पितामह निरन्तर प्रलय ढाये जा रह थे। पाडव वीरो की लाशो म धरती पटती जा रही थी।

श्रीकृष्ण को यह सह्य नही हुआ। उन्हे लगा था उनके होत हुए भी यह भूमि आज ही पाडव तो पाडव असख्य धनुर्धारी वीरो से भी रहित हो जाएगी।

नही अब कुछ करना ही था श्रीकृष्ण न सोचा अयथा अगर पितामह क इस प्रचड प्रवाह को नही रोका गया तो कोई नही बचेगा सध्या तक इस धमक्षेत्र कुरुक्षेत्र के मदान म। उनके शरो को मित्र और शत्रु क मध्य भेद करन का भी कहा अनुमति थी ? अपमान स क्रुद्ध हो आया वह वद्ध व्याघ्र आज सम्पूण धरित्रि को ही अपना आखेट बना डालन का आतुर था।

'ठहर जाओ शान्तनुनन्दन !" श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा का स्मृति पता नही कस लुप्त हो गई और व रथ स कूद कर जोर म चीखे। दाहिनी तजनी पर उनका सुदर्शन चक्र तीव्र गति म गतिमान हो घर घर का भयानक रव करने लगा था।

उस क्षुद्र पृथा पुत्र अर्जुन ने अपने असंख्य बाणों की अनवरत वर्षा से इस प्रकार हमारे वीरों के शव से भूमि को पाट दिया है जैसे आसमान के ओले धरती पर दूर-दूर तक बिछ जाते हैं ? जाइए, साहस हो तो उस पराक्रमी पार्थ को रोकिए वरना यह युद्ध आज ही समाप्त हो जायगा। कोई नहीं बचेगा कौरवों में, अर्जुन के गांडीव और भीम की गदा के कारण।

पितामह ने दुर्योधन की बात का उत्तर देना अनावश्यक समझ पार्थ के रथ की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में अपने तीक्ष्ण शरों के प्रहार से पांडव वीरों में प्रलय की सृष्टि कर दी। उनके प्रचंड धनुष से छूटे हुए शर सम्पूर्ण संग्राम में जलती मसालों की तरह दौड़ लगाने लगे जिनकी चपेट में आ असंख्य पांडव वीर मृत्यु का वरण करने को विवश हो गए। क्रोध एवं अपमान से युक्त स्वयं भीष्म इस समय किसी भयावह अग्नि पुंज की तरह ही प्रतीत हो रहे थे।

श्रीकृष्ण ने यह देखा तो वे अर्जुन से बोले— रोको पार्थ रोको पितामह की इस अबाध गति को अथवा कोई नहीं बच पायेगा पांडव पक्ष में मृतकों के पिंड दान के लिए भी।

दूसरे ही क्षण भीष्म और अर्जुन आमने सामने थे। दोनों एक दूसरे पर काल सर्पों की तरह अनवरत बाणों की वर्षा करने लगे। दोनों की प्रत्यंचाओं की टंकार से कुरुक्षेत्र की दूर-दूर तक की धरती कम्पायमान हो गई। क्रोध से दोनों के चेहरे पलाश के फूलों की तरह रक्त-वर्णी हो आए दोनों के कर कुम्भकार के चक्र की तरह तीव्र गति से चक्रायित हो चारों ओर शरों की ऐसी वर्षा करने लगे जिसके कारण उनके शरीर तो आहत होने ही लगे दूर-दूर तक पदाति, अश्वारोही और रथारोही प्रकाशित दीपाधारों के पास गिरते शलभों की तरह ही धरती पर बिछने लगे।

पितामह का पराक्रम आज पूरे वेग पर था जैसे कोई वेगवान प्रलयनद अपने कूल किनारों की मर्यादा को भूल सर्वत्र विनाश की ही सृष्टि कर डाले—सर्वत्र जल ही जल जिसमें जड़ चेतन सब डूब गल कर पच मरे। अपने पितामह के इस पराक्रम के संबंध में पार्थ ने सुना अवश्य था पर उसे देखने का अवसर उसे आज ही मिल रहा था। अब झेल नहीं पा रहा था वह उनके निर्मम प्रहारों को। उसके कर शिथिल हो रहे थे। गांडीव असंतुलित हो रहा था तरकश के तीर चुक रहे थे, उधर पितामह निरंतर प्रलय ढाये जा रहे थे। पांडव वीरों की लाशों से धरती पटती जा रही थी।

श्रीकृष्ण को यह सह्य नहीं हुआ। उन्हें लगा था उनके होते हुए भी यह भूमि आज ही पांडव तो पांडव असंख्य धनुर्धारी वीरों से भी रहित हो जाएगी।

नहीं अब कुछ करना ही था, श्रीकृष्ण ने सोचा अन्यथा अगर पितामह के इस प्रचंड प्रवाह को नहीं रोका गया तो कोई नहीं बचेगा संध्या तक इस धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र के मैदान में। उनके शरों को मित्र और शत्रु के मध्य भेद करने की भी कहां अनुमति थी ? अपमान से क्रुद्ध हो आया वह वृद्ध व्याघ्र आज सम्पूर्ण धरित्रि को ही अपना आखेट बना डालने को आतुर था।

'ठहर जाओ शांतनुनंदन !' श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा की स्मृति पता नहीं कैसे लुप्त हो गई और वे रथ से कूद कर जोर से चीखे। दाहिनी तर्जनी पर उनका सुदर्शन चक्र तीव्र गति से गतिमान हो घर घर का भयानक रव करने लगा था।

महारथियो का लक्ष्य बना और उसके कपिध्वज रथ को देखत ही सभी उस पर चारो ओर से टूट पडे।

पर नही, आज नही। आज अजन की शक्ति का व्यथ ही क्षय नही करना था। कल ही पितामह के साथ युद्ध म और उसके पूव भी उसे काफी श्रम करना पडा था। आज उसे अनावश्यक मार माट म नही लगाना था। गजो के आखट के लिए अवतरित मगराज को शगालो के शिकार म फसाना कोई बुद्धिमत्ता नही थी।

श्रीकृष्ण ने या ही पूरी नारायणी सना कौरवो को सौंप पाडव पक्ष का सारथ्य नही स्वीकार किया था। उन्ह पता था कि इस महासमर रूपी सागर को पार करान म समथ पाडवा के पक्ष मे एक ही योद्धा था और वह था पाथ। उस अभी बडे-बडे मगरमच्छो से निपटना था जिनके रहते समर-समुद्र को पार करन की परिकल्पना भी नही की जा सकती थी। अजुन वह बहुमूल्य रत्न था जिसकी मजूषा को घनी अधियारी राता म ही खोलना था जिसस उसकी प्रकाश किरणें सूचि भेद तम को समाप्त कर दिन क सदश प्रकाश फला सके। इस मजूषे का बार-बार अनावत्त करने स इसके बहुमूल्य धरोहर क लुट जान का भय भी स्वाभाविक था।

अभी कण रूपी विशाल और समर-सागर तल म अद्ध निमग्न पवत स पाडवा के विजय पोत को खतरा बना ही हुआ था। पता नही कब इस चट्टानी अवरोध से पाडवो का जल-पोत जा टकराए और नाविक की थाडा सी असावधानी स ही वह खड-खड हो जाय। नही श्रीकृष्ण अपने सारथ्य म यह खतरा माल नही ले सकत थे और व अजुन की शक्ति को यथासभव अक्षुण्ण रख उसका निर्णायक प्रयोग करने वाले थे। भीष्म का क्या? वे तो इच्छा मत्यु प्राप्त व्यक्ति थे और पाडवो पर अपने विशष अनुग्रह और दुर्योधन की इधर की निरन्तर वद्धिशील उद्दडता और अनावश्यक अहकार के कारण व कभी भी पाडवो को अपने वध की युक्ति बतला सकते थे। डरना था कण से और जसा कि उन्हान पहल सोचा था अभी इस सुपुप्त सिंह को अपनी माद म ही तब तक पडे रहने दना था जब तक उसके सहायको म अधिकाश का अवसान नही हो जाता।

अपनी योजना के अनुसार उन्होने अजुन के रथ को अपेक्षाकृत कम शक्ति वाले सन्य पथको की ओर मोड दिया और आज के युद्ध म सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु प्रचड भीमसन और उन्ही के राक्षस पुत्र घटोत्कच को अपना पराक्रम दिखलाने के लिए छोड दिया। आज उन्ह इस बात की प्रसन्नता ही हो रही थी कि पाडवा क वनवास-काल म राक्षसी हिडिम्बा भीम पर मोहित हो गई और उसके द्वारा उन्ह घटोत्कच के सदश महान वीर और मायावी पुत्र प्राप्त हुआ। उन्हे ज्ञात था कि इन दो वीरो की भविष्य मे भी पर्याप्त आवश्यकता पड सकती थी शायद उन्ह राक्षसी पुत्र घटोत्कच के साथ-साथ कभी अपनी बहन सुभद्रा के पुत्र की भी आहुति इस यज्ञाग्नि म देनी पडे पर अभी नही अभी तो इन वीरो को पूण अभ्यास का अवसर दना था। बिना अभ्यास क विद्या व्यथ होती है चाह वह शस्त्र स सबधित हो अथवा शास्त्र म।

तो आज का दिन प्रमुखत अभिमन्यु घटोत्कच और भीम का था।

सवप्रथम बाण-युद्ध म अभिमन्यु न अपने सामथ्य का प्रदशन किया जिसके समक्ष भीष्म भी तिलमिला गए। अभिमन्यु क निरन्तर बद्धमान पराक्रम को देखन

हुए दु शासन विकण शल्य, कृतवर्मा दुमद, जय, जयत्सेन, चित्रसेन, दुष्कण मुदशन, चारचित्र, जयद्रथ, भगदत्त, अश्वत्थामा, शकुनि, वाह्लिक आदि वीरो ने उसे चारो ओर मे घेर कर अपने शरो का लक्ष्य बनाना आरम्भ किया। पर वह महावीर किशोर अपने पिता से पराक्रम म थोडा ही कम था। जसे रवि रश्मिया मघा की पत पर पत को छेद कर महि पर विकीर्ण होकर ही रहती है, उसी तरह इन सारे वीरा द्वारा बरसाये जा रहे शरो को अपने अद्भुत हस्त-लाघव स काटते हुए वह इन पर ममभेदी प्रहार भी करता रहा। अतत इस युवा केसरी किशोर के आघात का नही झेल पाकर अधिकाश कौरव वीर इधर उधर खिसक गए।

पर आज युद्ध देखने लायक था भीम का। भीम क लिए तो हर प्रात एक नया ही पव लकर आता था और अपनी प्रचड गदा के साथ जिस ओर वह निकल जाता था उस तरफ हाहाकार ही मच जाता था। आज गदा युद्ध पर उतरन के पूव उमन अपनी धनुर्विद्या का भी पूण परिचय दिया और दुर्योधन के भाइया ने जब उस बाणा की वर्षा से व्यथ ही घेरन का प्रयास किया तो क्रोधाभिभूत हो उसने अपन विशाल धनुष से ऐस ऐसे प्राणघाती शर छोडे कि दुर्योधन के कई अनुज जिनम सुलोचन, उग्र भीमरथ, दुमुख, वीरबाहु विकट, विवित्सु, अलोलुप सम आदि प्रमुख थे को बात की बात म यमपुरी पहुचा दिया। कौरवो को अपन गज दल पर बहुत अहकार था और इधर गजारोहियो ने पाडव सना का कुछ कम विनाश भी नहीं किया था।

भीमसेन ने कुछ सोच विचार कर अपन रथ को गजपतियो की ओर ही मोडा और स्वण मडित भीषण लौह गदा से दुर्दान्त गजा का मस्तक फोडना आरम्भ किया। देखत देखत अजय से प्रतीत होन गजारोही वक्ष के पके फलो की तरह भूमि पर टप-टप बरसने लगे और भीम के मर्मान्तक प्रहारो स व्यग्र और व्यथित गजा क समूह जोर-जोर स आतनाद कर समरागण म लोटने लग। उनक प्राणान्तक चिंघाड स दिशाए व्याप्त हो गइ और सारी समरभूमि जहा एक क्षण पूव रक्त की अधिकता से लाल दिख रही थी अब मरे-अधमरे हाथिया से पटकर काली बन आई। महापराक्रमी भीम की भुजाओ म पता नही आज कहा से अपार शक्ति सिमट आई थी कि उन्हाने गदा को अपने विशाल रथ मे एक किनारे रख हाथियों स ही हाथिया का विनाश आरम्भ किया। वे एक हाथ से ही सवार-सहित हाथी को उठा लेत और उस दूसरे हाथी पर दे मारत। दोना के योद्धा तो काम आत ही, दोना गजा के प्राण पखरू भी परमधाम के पथिक बन जात।

भीम क इस सहारक रूप का सामना करने को कोई प्रस्तुत नही था। सभी महारथी अतिरथी रथी और अद्धरथी उसम दूर-दूर ही रहने मे अपना कुशल समझत थ। पता नहीं किसके रथ पर वह कौन-सा गज-पहाड दे मारे और बेचारा योद्धा अपने स्यदन क साथ साथ धूल म मिल जाय।

भीम ने जस आज ही कौरव-पक्ष के गज दल को समाप्त करने का प्रण ही कर लिया था। उसके अन्तर मे निरन्तर प्रज्वलित प्रतिशोधाग्नि निरन्तर प्रज्वलित होती जा रही थी। उसके प्रण उसे निरन्तर स्मरण थे और अपनी प्राणप्रिय पाचाली को दिए वचना को वह शीघ्र स शीघ्र पूण करना चाहता था। चार दिन का यह विलम्ब उसक लिए असह्य हो रहा था और वह जानता था कि जब तक दु शासन और दुर्योधन अपने अभद्य अक्षौहिणियो क अन्दर छिपे रहे तब तक उन्ह

हाथ म लेना कठिन था, अत वे आज कम से कम उनके सर्वाधिक प्रबल पक्ष गा-सैन्य को समाप्त कर ही छोडना चाहते थे। उसके इस प्रचड वेग को पितामह के शर ही रोक सकते थे पर श्रीकृष्ण के इगित पर सेनापति धृष्टद्युम्न ने उन्हे पाचाल वीरो के साथ इस तरह घेर रखा था कि उनके लिए इस घेरे को तोडना कठिन था। इसके अलावा कल के भीषण युद्ध ने उनके एक सौ अस्सी वष के वद्ध शरीर को श्रान्त भी कर दिया था और कल अजुन स लोहा लेने के पश्चात आज वे द्वितीय कृतान्त (यम) बन आये भीम से भिडने को एकदम प्रस्तुत नही थ।

इधर सध्या कुरुक्षेत्र के मनहूस क्षितिज पर घिरने घिरने को आ रही थी और इधर गज दल का एक बडा अश विध्वस की प्रतीक्षा म ही था। इसी समय घटोत्कच अपने महावीर पिता की सहायता म दौडा और पिता-पुत्र ने मिलकर अधिकाश गज-सैन्य को उसी तरह रौद डाला जसे दो मस्त गजराज किसी सरोवर मे खिले असख्य कमल-पुष्पो को अपने परो और सूडो स समाप्त कर छोडते है।

चौथे दिन का सूय दुर्योधन के अनेक भाइयो की मत्यु तथा अभिमन्यु, भीम और घटोत्कच के पराक्रम का साक्षी बन ही अस्ताचलगामी हुआ और उसकी सुनहरी किरणें सहस्रो की सख्या म मृत पडे और कज्जल गिरि की तरह दष्टिगोचर होते हुए करियों (गजों) के कृष्ण देह पर एक स्वर्णिम आभा बिखेरती ही विदा हुई।

रात्रि के आगमन के साथ कौरव और पाडव दोनो शिविरो म आज अभिमन्यु भीम और भीम-पुत्र के ही पराक्रम की चर्चा प्रमुख रही।

तिरानवे

चिन्ता श्रीकृष्ण की प्रकृति म नही थी। अपने सम्पूण गीतोपदेश म उन्होने अजुन को चिन्ता से मुक्त रहने का ही माग बताया था। पर जसे कभी-कभी चन्द्र पर भी ग्रहण लग आता है उसी तरह आज श्रीकृष्ण का शुभ्र आनन भी चिन्ता सकुल हो गया था।

युद्ध के पाचवें दिन की यह सध्या श्रीकृष्ण के लिए विशेष विषाद के साथ साथ हृदय मथन का भी अवसर लेकर प्रस्तुत हुई थी। आज उन्हें पहली बार सोचने को बाध्य होना पडा था कि उपदेश और उसके आचरण दोनो के मध्य कितना अन्तराल है। अजुन के साथ के अपने वार्तालाप म मत्यु को बार बार व्यथ और मिथ्या बताने वाले योगिराज श्रीकृष्ण के समक्ष आज मत्यु ने ही उन्हे अपने सिद्धान्तो पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य कर दिया था। उन्हे पता नही था कि उनके जीवन में यह क्षण भी आयेगा जब उन्हे स्वय म ही प्रश्न प्रतिप्रश्न मे सलग्न होना पडेगा और यह सोचने को बाध्य होना पडेगा कि उनका सिद्धान्त निरा वायवीय और कल्पना प्रसूत है अथवा यथाथ के धरातल पर भी उसकी सत्यता को सिद्ध किया जा सकता है।

आज पाडव शिविर मे सब दु खी थे भीम को छोडकर। वह सोमरस का पान

कर या नहीं कर युद्ध का नशा ही उस पर इस तरह हावी था कि दिन रात वह उसी की बात करता। अपनी विजय का बखान करता और अगले दिन की योजनाएं बनाता। उसे सबसे अधिक आनन्द हस्तियों का अपने प्रचण्ड प्रहार से प्राण हरने में आता और उसके इस पराक्रम से कौरव पक्ष का गज पथक प्रायः शून्य हो चला था। उसे उस अवसर की प्रतीक्षा थी जब वह दुःशासन को पराजित कर उसके वक्ष का रक्त छक कर पीता और उसका अंजलि भर उष्ण रक्त ला वह पांचाली के वर्षों से मुक्त केशों में उडेल देता— लो, अब अपना प्रण तोडो द्रुपद सुता! दुःशासन नहीं रहा इस संसार में। सज्जित करो वर्षों से अव्यवस्थित पडे अपने सुन्दर केशों को। उसे प्रतीक्षा थी दुर्योधन के समय एकल गदा युद्ध की जब वह उसकी दोनों जांघों को विच्छिन्न कर अट्टहास करता और वह अट्टहास पांचाली के कानों में पड उसे यह सूचित करता कि जिन जांघों को अनावृत्त करने का उद्दंडता उसने भरी सभा में की थी वे जांघें अब मांस के लोथडों के अतिरिक्त कुछ नहीं रहीं।

भीमसेन को इसकी चिन्ता नहीं थी कि कौन मरे कौन जीवित रहे। श्रीकृष्ण ने एक क्षण को सोचा उन्हें शायद सिद्धान्त का ज्ञान मात्र है उसे जीना तो भीमसेन ही जानता है।

पर श्रीकृष्ण चिन्तित थे और पूर्णतया चिन्तित थे। युद्धभूमि में आज जो कुछ घटा था वह उन्हें अन्दर बाहर से उसी प्रकार झकझोर गया था जैसे कोई प्रबल झंझावात किसी विस्तृत मैदान में एकाकी खडे वृक्ष को आमूल चूल झकझोर जाता है। अपने सिद्धान्तों की कभी की प्रचण्ड पाषाणी दीवारें उन्हें आज रेत निर्मित सी लग रही थीं और वे यह निर्णय करने में अपने को सर्वथा अक्षम पा रहे थे कि सत्य क्या था—वह सांख्य योग जो उन्होंने अर्जुन को सुनाया था जिसमें आत्मा ही सर्वोपरि है और नाशवान तन उसका बाह्य आवरण-मात्र जिसका रहना न रहना कोई अर्थ नहीं रखता या आज की उनकी यह पीडादायी गहरी अनुभूति जिसने कुछ शरीरों के नहीं रहने से उन्हें अप्रत्याशित रूप से व्यथित और व्याकुल कर दिया था।

हुआ यह था कि आज के युद्ध में उनके अत्यन्त प्रिय और पांडवों के अन्ध भक्त सात्यकि के एक नहीं दो नहीं तीन नहीं चार नहीं दसों लडके काम आ गए थे। यह वज्रपात तो था ही पांडव पक्ष पर श्रीकृष्ण रूपी पाषाणी तटस्थता वाले सांख्यवादी के लिए भी यह असह्य और दारुण सिद्ध हुआ था।

यह सब कुछ नहीं घटता अगर अहंकार से अभिभूत दुर्योधन आज आचार्य द्रोण को ही अपने व्यंग्य बाणों का शिकार नहीं बना देता। सेनापति पितामह को तो वह कई बार अपने शब्दों से अपमानित कर ही चुका था आज गुरु द्रोण ही आ गए उसकी चपेट में। कौरव-सेना की निरन्तर होती क्षति और पांचवें दिन भी युद्ध के निर्णायक मोड पर नहीं पहुंचने से वह किसी सुप्त ज्वालामुखी की भभकता लिये अकस्मात द्रोणाचार्य पर फट पडा था— आप परजीवी ब्राह्मणों, तपस्वियों का यही हाल है। पेट अन्न से भरपूर हो गया तो और किसी बात की चिन्ता ही नहीं रहती। मुझे ज्ञात है कि आपमें और सब दुर्बलताओं के अतिरिक्त पिता पुत्र उस तथाकथित महाधनुर्धारी पांडव अर्जुन के प्रति प्रबल पक्षपात-भावना भी है। मैं कैसे इस बात को भूल जाऊं कि उस इस आर्यावर्त के सर्वश्रेष्ठ

धनुर्धारी के पद से च्युत नही होने देने के लोभ म आपने उस निर्दोष भील बालक और अपने अनन्य भक्त एकलव्य का अगूठा तक दान माग उसका सर्वथा के लिए धनुष वाण से सम्बन्ध ही विच्छेद कर दिया था।

पर पक्षपात तो पक्षपात आपकी कृतघ्नता को कैसे क्षमा किया जा सकता है ? पाचाल-नरेश द्रुपद द्वारा अपमानित होने के पश्चात आप और आपके परिवार ने कहा शरण ताकी थी ? आज अगर हस्तिनापुर का यह राज्य नही होता और मेरे पिता धतराष्ट्र के सदश कोमल हृदय सम्राट तो आप माग के भिखारी से अधिक क्या होते ? आपकी सारी धनुर्विद्या धरी की धरी रह जाती। प्रशसको के अभाव म उपवनो से भी अधिक सुन्दर और गन्ध-पूरित पुष्प एकान्त काननो म खिलते और झड जाते है ? कौन जाता है उन्हे किसी नरेश के गले म पडने वाले पुष्पहार मे पिरोने ?

क्यो भूलते है आप कि यह हस्तिनापुर ही है जिसने आपको काच से मणि बनाया, मिट्टी से उठाकर राजगुरु के सिंहासन पर विराजमान कराया, आप और आपके पुत्र अश्वत्थामा की सारी सुख सुविधाओ का प्रबन्ध किया और आज जब इसी हस्तिनापुर रूपी विशाल अश्वत्थामा वक्ष के मूल को पाडव रूपी चूहे जारो से कुतरते जा रहे हैं तो आप निर्विकार और तटस्थ भाव से सब कुछ देख रहे हैं। औपचारिकता का निर्वाह करने के लिए आप युद्ध भूमि म भले कौरवो की ओर से अवतरित हुए हो पर आपके प्राण पाडवो म ही बसते हैं, इस तथ्य को आप कैसे गलत सिद्ध कर सकते हैं ?

'बस बस सुयोधन बस। गुरु द्रोण अपने कानो म उगली डाल चिल्ला पडे थे। उनके गदन की नीली नसें रक्त के ऊर्ध्वगामी प्रवाह से भयकर रूप म फूल आई थी और उनका वृद्ध शरीर बुरी तरह कम्पायमान हो आया था। अपमान और क्रोध से भर जाने के कारण उनके श्वास प्रश्वास की गति तीव्रतम हो उठी थी और उनके दीर्घ नासिका पुटो से निस्सृत गर्म नि श्वास को दूर से ही अनुभव किया जा सकता था।

मैंने यह अच्छी तरह पढ रखा है गुरु द्रोण ने आरम्भ किया और अपने इस दीर्घ जीवन के अनुभव के आधार पर भी लक्षित किया है कि कर्म फल अवश्य मिलता है। मृत्यु का दश अपमान की पीडा से अधिक दुखदाई भी नही होता। मैंने जो एकलव्य के अगूठे को कटवा लिया था, मुझे प्रसन्नता है उसका फल मुझे आज मिल गया। मैंने तो मात्र उसके अगूठे से उसको वचित किया था तुमने तो इतने योद्धाओ के मध्य एक तरह से मेरी ग्रीवा को ही मेरे शरीर से पृथक कर दिया। अब मैं जीवित रहू तब मर जाऊ तब क्या अन्तर पडता है। अपने ही शिष्य से अपमानित होकर मैं एक शव से अधिक क्या रहा ?

'हर कर्म का फल मिलता है तो तुम्हारे अहकार का फल भी मिलकर रहेगा पर जाओ मैं अपनी ओर से पाडवो के विनाश के लिए कुछ शेष नही छोडूगा। मैं और मेरा परिवार तुम्हारे अन्न पर पला है तो उसका ऋण शोधन करके ही मैं इस धरती से उठूगा पर इस धर्मभूमि (धर्म क्षेत्र) म हो रहे इस सग्राम म तुम्हारे सदृश एक अहकारी अधर्मी का वरण विजय श्री करेगी इसमे मुझे सदेह ही है।

ऐसा कहकर वृद्ध गुरु ने अपना महान धनुष उठाया था और जसे कभी प्रलय काल के मेघो ने व्रज के ऊपर वर्षा की धुआधार झडी लगा दी थी वैसे ही उनके

उस धनुष से बाणों की अनन्त झडी लग गई जिसमे पाडव-पक्ष के वीर प्रकाश पर मर मिटते शलभो की तरह ही खाक होने लगे। क्षण भर मे आसपास का रणागण घायल और मृत पाडवो से पट गया। घायलो के आर्तनाद को सहा करना भी कठिन हो गया और उनका नहीं सुन पाकर कितने योद्धा नहीं चाहकर भी आज के समर मे पीठ दिखाने को बाध्य हो गए। एक दो घडी के पश्चात द्रोण के आस-पास कुछ नहीं था। वे तो पाडव-वीरो के शव जो द्रोण के आस-पास बिखरे ऐसे ही लग रहे थे जैसे किसी एकाकी वृक्ष के आस-पास पतझड मे गिरे अनन्त पीले-सूखे पत्ते बिखरे पडे हो।

पाण्डव सेना की यह दुर्गति सात्यकि से नहीं देखी गई थी और वह अपने दसो पुत्रो के साथ द्रोणाचार्य की ओर दौडा था। पर उसका मार्ग अवरुद्ध कर दिया था अपनी विशाल वाहिनी के साथ भूरिश्रवा ने और सात्यकि तथा उसके पुत्रो पर वायु-वेग की तरह टूट पडा था। देखते ही देखते प्रसिद्ध खड्गधारी भूरिश्रवा ने सात्यकि के दसो पुत्रो के धनुष की प्रत्यचाए काट डाली थी और इसके पूर्व कि वे नई प्रत्यचा चढा पाते उसने उनकी गर्दनो को भी उनके धडो से विच्छिन्न कर दिया था।

सात्यकि के रथ को चूर्ण कर और उसके भी धनुष को काट कर उसने उसे भी विवश कर दिया था तलवार उठाकर अपनी ओर दौडने को पर भाग्य अनुकूल था कि ठीक उसी समय भीमसेन अपने रथ के साथ उधर से आ निकला था और सात्यकि को बचाते अपने रथ मे बिठा युद्ध भूमि से बाहर आ गया था। तलवार-युद्ध मे भूरिश्रवा पारगत था और सात्यकि को अपने इस दुःसाहस का मूल्य अपने सिर की बलि देकर ही चुकाना पडता।

अर्जुन ने इसके पश्चात अपने गुरु के कृत्यो का उत्तर अवश्य दिया था और प्राय सम्पूर्ण रणभूमि मे पागल सा दौडते उसने गाडीव से निस्सृत अपनी अजस्र बाण धारा से कौरवो के असख्य सैनिको को काल देवता की बलि चढा दिया था। द्रोण से कई गुना अधिक सैनिको का ही उसने हत किया था और सर्वत्र उसकी जय जयकार की धूम मच गई थी। पर श्रीकृष्ण इस सबके दौरान शात और तटस्थ ही बने रहे थे। अश्वो की वल्गाए आज नाम मात्र को उनके हाथ मे थी। वे उडे जा रहे थे पार्थ के गाडीव और उससे छूटे बाणो के ही इगित पर। सात्यकि सुतो का निर्मम वध पार्थ-सारथि को अन्दर से अव्यवस्थित कर गया था और इस वेदना को वे शिविर लौटने के पश्चात भी देर तक भोगते रहे थे।

अन्तत निशीथ की शान्ति जब सर्वत्र व्याप्त हो गई थी और सभी कौरव-पाण्डव श्रात-क्लात अपने शिविरो मे सो गए, तो वे अपने शिविर से उठे थे। अपने पुष्पमाल से उन्होने दस कमल पुष्प अपने करो मे सहेजे थे और बायें हाथ मे एक जलती मशाल ले शव पटे रणक्षेत्र मे ही किसी तरह मार्ग बनाते सात्यकि सुतो के शवो तक पहुचकर उन सबो पर एक-एक कमल पुष्प चढाकर उन्होने कहा था—'मुझे क्षमा करना वीरो ! इस प्रलय-समर के सूत्रधारो मे कहीं-न कहीं मैं भी हू। पर इतनी देर के हृदय मथन के पश्चात मैं अन्तत अपने पुराने निष्कर्षों पर ही पहुचा हू कि मृत्यु ही सत्य है और जीवन मिथ्या। मुझे अब कोई अफसोस नहीं। तुम्हारा आत्मा जहा भी रहे शाति का लाभ करे। **श्रीकृष्ण**

सेनापति धृष्टद्युम्न ने जब भीमसेन के रथ को रिक्त पाया तो उसे बहुत चिन्ता हुई। उसने समझा कहीं भीम बन्दी तो नहीं बना लिया गया। वह व्यग्र हो विशोक से पूछ बैठा— विशोक! भीमसेन कहाँ गया?

"वह तो एकाकी ही शत्रु सैन्य में प्रवेश कर गए हैं। कहते थे दुर्योधन के भाइयों का काम तमाम कर आता हूँ।

सारथि की यह बात सुनकर द्रुपद पुत्र धृष्टद्युम्न अत्यन्त चिन्तित हुआ और वह अपने रथ पर सवार हो भीम की दिशा में बढ़ा। उसकी गदा के प्रहार से मृत पड़े गजों, अश्वों, पदातियों और चूर्ण हुए रथों के सहारे वह भीम तक पहुँचने में सफल हुआ।

वहाँ के दृश्य ने धृष्टद्युम्न के हृदय को दहला दिया। हाथ में गदा लिये खड़े विरथ भीमसेन पर कई कौरव वीरों ने चारों ओर से आक्रमण कर दिया था। असंख्य बाणों से भीम का शरीर छलनी हो गया था और उसके शरीर में स्थान स्थान से रक्त प्रवाह जारी था।

धृष्टद्युम्न ने जो पहला कार्य किया वह था भीमसेन को खींचकर अपने रथ में बैठाने का। उसके शरीर से बाणों को निकालते हुए वह बोला— ऐसा भी दुस्साहस नहीं करते। अभी क्षण का भी विलम्ब होता तो ये खूँखार कौरव जैसे वृकों (भेड़ियों) का झुंड किसी मृगराज को घेर मारता है वैसे ही तुम्हें मार डालते।

द्रुपद-पुत्र के रथ पर भीमसेन के आसीन होते ही दुर्योधन क्रोध से आग बबूला हो गया और उसने कौरव-वीरों को आज्ञा दी— क्या देखते हो इस वृकोदर भीम और इस दुष्ट द्रुपद-पुत्र के प्राण अभी हर लो। भागने नहीं पायें ये। —दुर्योधन एक ही साथ दोनों से अपना प्रतिशोध लेने पर उतारू हो गया था। भीमसेन से तो उसकी जन्मजात शत्रुता थी ही धृष्टद्युम्न ने अपनी बहन द्रौपदी का हाथ उसके हाथों में नहीं देकर अर्जुन को दे डाला था इसका दुःख भी उसे कम नहीं था।

भीमसेन और धृष्टद्युम्न बड़ी असमंजस की स्थिति में पड़े। एकाकी इन दो वीरों के लिए कौरवों की एक मजली सैन्य टुकड़ी तथा कई महारथियों, रथियों का सामना करना आसान नहीं था।

ठीक इसी समय युधिष्ठिर को इन दोनों की स्थिति का पता चला और अभिमन्यु के नेतृत्व में उन्होंने एक बहुत बड़ी सेना उन दोनों की सहायता के लिए भेज दी। भीमसेन और धृष्टद्युम्न के प्राण बचे और फिर दोनों तरफ से भयंकर समर आरम्भ हो गया। दुर्योधन भी युद्ध की भयानकता का शिकार हो मूर्छित हो अपने रथ में पड़ गया। इसी अवसर पर कौरव सेनाध्यक्ष भीष्म भी उधर आ पहुँचे और उन्होंने दुर्योधन आदि वीरों की प्राण रक्षा की। पर ठीक इसी समय सूर्य अस्ताचलगामी हो गया और युद्ध बन्द करना पड़ा।

श्रीकृष्ण धृष्टद्युम्न के साथ जब पाडव शिविर को लौटे तो उनके व्रण-पूरित और रक्तरंजित तन को देखकर द्रौपदी ने श्रीकृष्ण को उलाहना देते हुए कहा— मधुसूदन, तुम्हारे रहते भी एक पाडव वीर की यह दुर्दशा हुई और श्रीकृष्ण ने मुसकराते हुए कहा यह तो होना ही था। तुम्हारे भीमसेन का अहंकार पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। आज तो वह अपने गुरु को भी अवमानना करने में पीछे नहीं रहा। आखिर मनुष्य जो बोता है वही तो काटता है।

पिचानवे

आज श्रीकृष्ण कुछ अधिक ही प्रसन्न थे। या प्रसन्नता और अप्रसन्नता से बहुत पूर्व अपने को ऊपर घोषित कर चुके कृष्ण की प्रसन्नता का अतिरेक बहुत स्वाभाविक नहीं लग रहा था पर एक तरह से उनकी प्रसन्नता स्वाभाविक भी था। उनके सिद्धांत व्यवहार के निकष पर खरे उतर रहे थे। सात्यकि-पुत्रों की मृत्यु के पश्चात वे विकल अवश्य हुए थे पर अपने सिद्धांतों की अटलता के प्रति वे उसी रात आश्वस्त भी हो गए थे।

आज छठे दिन की युद्ध समाप्ति के पश्चात उन्हें एक बार पुनः इस तथ्य की पुष्टि का अवसर मिला था अहंकार व्यक्ति का सर्वनाश करके ही रहता है। आज के युद्ध में और जो कुछ हुआ था वह तो हुआ ही था भीमसेन और दुर्योधन के गदा युद्ध में दुर्योधन की स्थिति शोचनीय हो गई थी। भीमसेन को अपना काल समझने वाला दुर्योधन वर्षों से भीम की लौह मूर्ति बना उससे युद्ध का अभ्यास करता रहा था पर आज तक का सारा अभ्यास उसी तरह व्यर्थ सिद्ध हुआ जिस तरह पलाश के रक्तवर्णी पुष्पों के फल में परिवर्तन होने ही उन पर बसेरा बनाए पक्षियों की आशा पर तुषारपात हो जाता है। फलों के अन्दर होती है नीरस और व्यर्थ रुई जिस पर चंचु प्रहार कर-करके पक्षी पाते तो कुछ नहीं, अपनी आंखों और पंखों को उस श्वेत और तारतम्य हीन वस्तु से आच्छादित कर देर तक देखने और उड़ने—दोनों में असमर्थ हो जाते हैं।

भीमसेन के प्रहारों से माता के आशीर्वाद से वज्र तन आये अपने शरीर को स्थान-स्थान में क्षत विक्षत होने से बचाने में वह समर्थ नहीं हो सका। भले ही वज्रांग हो आये उसके अंग कट कर उसके तन से पृथक नहीं हुए पर भीषण पीड़ा से वह इस तरह उत्पीड़ित हो रहा था जैसे बहेलिए के बाण से विद्ध हुआ क्रौंच पक्षी भूमि पर लोट-लोट असह्य वेदना से तड़पता है।

यद्यपि प्रतिशोध आदि कुत्सित भावनाओं से सर्वथा रहित थे श्रीकृष्ण पर उनके स्मृति पटल पर वह घटना पुनः-पुनः प्रतिबिम्बित हो रही थी जिसमें जब संधि का प्रस्ताव लिए एक प्रतिष्ठित दूत के रूप में हस्तिनापुर के सभागार तक पहुंचने पर अहंकारी दुर्योधन ने वहां भी उनके अपमान में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी थी। यहां तक कि वह उन्हें बन्धन-युक्त करने के लिए भी अपने योद्धाओं को आमन्त्रित कर चुका था। यह तो उन्होंने अत्यन्त अनिवार्यता की स्थिति में ही प्रयोग करने को कृतसंकल्प अपनी साधना शक्ति का आह्वान कर उस दिन अपने तन को विशाल और अवध्य बना लिया था वरना यह दुर्मति दुर्योधन तो उन्हें अपने कारागार में डाल ही चुका था। सुई के अग्र भाग पर भी किसी तरह थर-थर करती अट पानेवाली भूमि का एक अणु भी बिना युद्ध के पाण्डवों को नहीं प्रदान करने वाला वह अहंकारी कौरव किस तरह आज युद्ध के परिणाम-स्वरूप ही पीड़ित और व्यथित हो रहा है। उसके शिविर में हो रहे हलचल और उधर से आ रहे गुप्तचरों के सन्देश से उन्हें सब कुछ ज्ञात हो रहा था।

हस्तिनापुर के सिंहासन पर किसी केसरी द्वारा किए गए आखेट पर ध्यान गड़ाए शृगाल की तरह ही जिस व्यक्ति का ध्यान निरन्तर केन्द्रित रहा था आज वह अपनी प्राणान्तक पीड़ा से त्राण पाने के लिए विषपान करने को भी प्रस्तुत था।

कितना अल्पजीवी और व्यर्थ है मनुष्य की महत्त्वाकांक्षा और कितना निरर्थक और आत्मघाती उसका अहंकार ? कृष्ण आज यही सोच रहे थे। नियति के अदृश्य हाथों का एक कठपुतली मात्र यह मानव आकाश की विराट ऊंचाइयों में व्यर्थ ही निरंतर उडानें भरता रहता है ?

उधर दुर्योधन के शिविर से सूचना आई थी। जिस भीष्म का समस्त तन अपने बाणों से विद्ध करने में वह बाज नहीं आता था उसी भीष्म ने उसकी व्यथा कथा का पता पाकर उसके शरीर ही नहीं मन का भी उपचार किया था। व्रण उपचारी वैद्यों को लेकर ही वे उसके शिविर में पहुंचे थे और अनेक दुर्लभ औषधिदाताओं द्वारा निर्मित द्रव्यों के लेपन से निमिष मात्र में ही उसकी पीड़ा जाती रही थी और वह महान किन्तु उद्दण्ड तथा अहंकारी कौरव जनन पर्यंक पर सीधा बैठ गया था। औपचारिकता के निर्वाह में उसने पितामह के प्रति अपना प्रणाम भी निवेदित किया था पर क्षण भर में ही उसकी महत्त्वाकांक्षा के नाग ने फुफकार मारा था और वह पितामह से बोल पड़ा था

'मैं एक बार पुनः कहने को बाध्य हूं पितामह कि आप द्रोण कृपाचार्य अश्वत्थामा, भूरिश्रवा आदि सहायकों के रहते हुए भी हमारी सेना कृष्ण-पक्ष के चन्द्रमा की तरह निरंतर क्षीण क्यों होती जा रही है और युद्ध में विजय क्यों हमारे लिए मृग मरीचिका क्यों सिद्ध हो रही है।

'क्योंकि तुम्हारे साथ धर्म नहीं है और जहां धर्म नहीं है वहां विजय नहीं है। पितामह के मन में आया था वे दोटूक कह दें पर अभी अभी कुछ शांत हुए पीड़ित दुर्योधन को वह और पीड़ित नहीं करना चाहते थे। अतः उन्होंने अभी उसे सान्त्वना का स्वर ही देना चाहा और उसे ढाढ़स बंधाते हुए बोले चिन्ता की कोई बात नहीं सुयोधन ! भविष्य किसी का दास नहीं किंतु हम तुम्हारी विजय के लिए हर संभव प्रयास कर रहे हैं। सैन्य शक्ति में निश्चित ही तुम पाण्डवों से आगे हो और आर्यावर्त के विख्यात योद्धाओं में अधिकांश तुम्हारे पक्ष में ही लड़ रहे हैं। जिसके साथ द्रोणाचार्य कृपाचार्य कृतवर्मा शल्य अश्वत्थामा भगदत्त विकर्ण शकुनि, अवन्तिदेश के नृप विंद और अनुविंद महाबल त्रिगर्तादि वाह्लिक वीरों के साथ बाह्लिकराज महाबली चित्रसेन आदि के समान दुर्जय वीर हो, उसे इस तरह चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं। भविष्य तो पुत्र जाना कहां दवाधीन है। पर कर्तव्य पर हमारे सर्वाधिकार है। तुम्हें हतोत्साह होने की आवश्यकता नहीं, तुम अपने इन मित्रों के साथ मिलकर विजय का प्रयास करो। प्रयास हमारा पुनीत कर्तव्य है जिससे ओर से मुंह मोड़ना प्रमाद और कायरता से अधिक कुछ भी नहीं। मैं भी कल अपनी शक्ति भर प्रयास करूंगा और तुम्हारे शत्रुओं को अधिक से अधिक संख्या में यमलोक पहुंचाने में पीछे नहीं रहूंगा।

इतना कहकर और दुर्योधन के मस्तक पर अपना आशीर्वाद जनक करतल रख भीष्म उसके शिविर से बाहर आ गए।

सातवें दिन भीष्म ने सचमुच बहुत सतर्कता से कार्य किया। उन्होंने आज की अपनी व्यूह की रचना मंडलाकार की। एक एक गजारोही के साथ साथ सात सात रथारोही खड़े किए गए क्योंकि अब तक कौरव सेना को पता लग गया था कि सेनापति

ी होता था भी और पाण्डव सेना में सबसे आगे खडा होता था और पता नही कि धनंजय के अंतगन उसके प्रहार के लक्ष्य कौरव दल के मस्त गजराज ही होते थे। अब तक वह कौरव सेना को प्राय गजो से रहित ही कर चुका था। अब जो कुछ हस्ती बचे थे उनकी रक्षा अनिवार्य थी।

गजो की रक्षा के साथ हर रथ की रक्षा के लिए सात सात अश्वारोही नियुक्त थे। हर एक अश्वारोही के साथ दस दस धनुर्धारी और एक एक धनुर्धारी की रक्षा के लिए दस दस पदाति तलवार और ढाल लिए कवच मण्डित हो उपस्थित थे। भीष्म ने दुर्योधन का मनोबल को उच्च करने के लिए उसे इस मण्डलाकार व्यूह के मध्य में स्थापित कर दिया था। वह स्वर्णकिरीट धारी महाबली गगन मण्डल में शोभित मार्तंड की तरह ही देदीप्यमान और प्रभावान प्रतीत हो रहा था।

सब कुछ के पश्चात आज के इस युद्ध मे किसी पक्ष की कुछ उल्लेखनीय प्रगति नही हुई। मनोरंजक बात यह थी कि भीष्म की सारी व्यूह रचना प्रहर भर दिन बीतते न बीतते ही छिन्न भिन्न हो गई थी और युद्ध कई मोर्चे पर एक साथ लडा जा रहा था।

श्रीकृष्ण को हंसी आ रही थी। सच कौरव-सेनापति का वृद्ध मस्तिष्क या तो क्षय हो चुका था अथवा ममता के दृढ बन्धन ने निर्णय अनिर्णय की स्थिति मे डालकर उन्हें वही का न छोडा था। श्रीकृष्ण पूरी तरह जानते थे कि कौरव पक्ष में भीष्म पितामह और द्रोणा में से किसी एक का होना उनकी विजय को सुनिश्चित करना था। पर हाय रे दुर्योधन का दुर्भाग्य। एक तो रूठ कर अपने शिविर मे बैठा था और दूसरा सामर्थ्यशाली होते हुए भी सामर्थ्यहीन सा इस विशाल रणांगण मे सेना में बौनों को भगाए जानेवाले एक पुआल के पुतले से अधिक कुछ नहीं सिद्ध हो रहा था।

खैर कई मोर्चे खुल गए थे और एक पर माद्रीपुत्र नकुल और सहदेव को स्वयं अपने मामा शल्य से जूझना पड रहा था तो दूसरे पर युधिष्ठिर और श्रुतायु लड रहे थे। विराटराज अपनी मूर्खता मे द्रोण से जा भिडे थे और क्षण भर मे ही जब एक भी विराट सिंह ने मुकाबले से भाग खडा होता है भाग पडे थे। आचार्य अब भी अपने अपमान की आग मे जल रहे थे और जिस किसी को उसमे लपेट भस्म करने को प्रस्तुत हो अपने अविवेक का परिचय देने मे कोई संकोच नही कर रहे थे।

दुखद बात यह रही कि आज विराट कुमार का तीसरा पुत्र शंख भी जाता रहा।

घटोत्कच ने आज भी अद्भुत पराक्रम दिखलाया और भगदत्त के साथ भयानक युद्ध कर उसको और उसकी सेना दोनो का मनोबल कच्चे बांस की तरह तोडकर रख दिया। सात्यकि ने पुत्र शोक के बावजूद वीरोचित मर्यादा का प्रदर्शन किया और अलम्बुष के छक्के छुडा दिए।

अश्वत्थामा और शिखण्डी मे भी कुछ देर के लिए लोम हर्षक युद्ध हुआ पर अश्वत्थामा ने शिखण्डी की तलवार को ही काट कर उसे नि शस्त्र कर दिया। रथ तो उसका पहले ही टूट चुका था। पाण्डव-पक्ष का अत्यन्त उपयोगी मोहरा युद्ध के इस चौसर पर पिट ही जाता अगर ठीक इसी समय सात्यकि ने आकर उसकी

प्राण रक्षा न कर ली होती।

दुर्योधन को आज धृष्टद्युम्न से बुरी तरह पराजित होना पडा। उसके रथाश्व बेकार हो गए और वह खड्ग हस्त भूमि पर ही कूद पडा। दुर्योधन तलवार युद्ध म द्रुपद पुत्र के समक्ष कही नही ठहरता पर भीम की प्रतिज्ञा को स्मरण कर धृष्टद्युम्न न उसके प्राण छोड दिए और वह शकुनि के रथ पर चढ कर अपने प्राण बचाकर भाग खडा हुआ। अपनी इस पराजय से दुर्योधन के कल के घाव पुन हरे हो गए और वह उसम कल्पित पीडा का अनुभव करने लगा।

अभिमन्यु का पराक्रम भी आज पराकाष्ठा छू रहा था और उसन दुर्योधन के तीन भाइयो को बुरी तरह परास्त कर दिया।

श्रीकृष्ण रात्रि मे जो भीष्म की बात सुन चुके थ इससे वे अजुन को पितामह मे दर दूर ही रखने का प्रयास कर रहे थ। आरम्भ म उहोन उनसे उसकी एक हल्की झडप कराई थी। पर इस बार अभिमन्यु के पराक्रम से पराभूत होते दुर्योधन के अनुजो को देखकर पितामह स्वय उनके रक्षाथ आगे आ गए और ऐसा देख श्रीकृष्ण को अजुन क रथ को आग करना पडा।

भीष्म एक क्षण को सब कुछ भूलकर बुभुक्षित व्याघ्र की तरह अजुन पर टूट पडे किन्तु इसके पहले कि युद्ध कोई निर्णायक मोड लेता, सूर्यास्त हो गया और युद्ध-समाप्ति की घोषणा कर दी गई।

श्रीकृष्ण मुसकराते हुए अजुन के रथ को लेकर समरागण से बाहर आये।

अजुन ने उनकी मुसकराहट को स्पष्टत लक्षित किया और पूछ बठे— इस सग्राम भूमि म तुम्हारे मुख पर स्मिति की यह रेखा क्या जनादन?

सब कुछ तुम्ही नही समझ जाओगे पाथ श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया 'कुछ मेरे लिए भी छोड दो। मत भूलो कि इस समर मे मैं केवल तुम्हारे अश्वो का ही नहीं तुम्हारा ही नही सम्पूण पाण्डव सेना का सारथ्य कर रहा हू।'

छियानवे

कुरुक्षेत्र के महासमर म जिन विवश मछलियो को विवश एक विशाल मगरमच्छ का आहार बनना पड रहा था व थे धृतराष्ट्र के सौ पुत्र। भीमसेन रूपी मगरमच्छ नित्य उसमे स कुछ को उदरस्थ कर उनकी सख्या म नित्य ह्रास किए जा रहा था।

वह अपनी सभी धृतराष्ट्र-पुत्रो को इस युद्ध म एकाकी ही हत्या करन क प्रण को पूण करन पर सन्नद्ध था और जस कोई शार्दूल अपन शिकार को देखते ही बिना उस अपन चपट म लिए नही रहता उसी तरह दुर्योधन के एक भी भाई को अपने समक्ष दखकर भीम क रक्त म पता नही कसा भयकर ज्वार जगता था कि वह बिना उसक प्राण का अनन्त पथ का पथिक बनाए नही छोडता था। सात दिन क युद्धो म वह दुर्योधन क कई अनुजो को निमसता स मत्यु के घाट उतार चुका था। जस किसी सुनसान पगडन्डी पर चलते किसी व्यक्ति को सप दिखाई पड जाए और उसका मुख सहसा रक्तहीन हो जाय वही स्थिति किसी दुर्योधन अनुज की

होता थी जब उसकी दृष्टि भीमसेन के उक्त रूप पर पडती थी।

आज आठवें दिन के युद्ध के समारम्भ के साथ ही दुर्योधन के आठ पुत्र भीम की भयानक गदा के प्रहार से दिवंगत हो गए। भीमसेन के इस भयानक कर्म से कौरव सेना के अधिकांश वीरों में भारी भगदड़ मच गई। आठों भाइयों का वध कर सफलता से चांदनी रात में फूलते किसी सागर की तरह ही भीमसेन का विशाल वक्ष फूल आया और वह घोर गर्जन करता हुआ समरांगण के इस सिरे से उस सिरे तक स्वच्छन्द विचरण करने लगा। कोई उसके इर्द गिर्द भी भटकने का नाम नहीं लेता पर जो भूलवश उसके मार्ग में आ जाता उसको तो स्वर्ग सिधारना ही था।

भीम के लिए गजारोही, रथारोही, अश्वारोही या पदाति योद्धाओं को लेकर कोई अंतर नहीं पडता था। रथी हुए तो वह रथ के साथ ही इस संसार से प्रयाण करने को विवश थे, गजारोहियों की तो और दुर्दशा थी क्योंकि भीम अपने में कई गजों की शक्ति सन्निहित मानता था। गजारोही के प्राण तो उसके प्रिय गज के साथ गदा के एक ही प्रहार में ही निकल पडते थे। अश्वारोहियों और पदातियों को तो वह मक्खियों की तरह मसल डालता था। उन पर गदा प्रहार भी वह अपना अपमान ही समझता था। मुष्टिका प्रहार ही उनके लिए पर्याप्त था।

भीम नाम था कौरव सेना के लिए साक्षात मृत्यु का। एक अर्जुन और दूसरे भीम से ही कौरव-सेना व्यथित रहती थी और कोई भी महारथी, अतिरथी आदि इनके पथ से दूर रहने का ही प्रयास करता था।

अर्जुन को तो कृष्ण जानबूझकर जहां तक संभव था, भयंकर मुठभेडों से बचाये चलते थे क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि भीम और जो चाहे जो कर ले भीष्म, कर्ण जयद्रथ आदि महान् योद्धाओं का संहार अर्जुन के वश की ही बात थी और जब तक ये महान् कार्य पूर्ण नहीं हो जाते तब तक अर्जुन की ऊर्जा की यथासंभव सुरक्षा आवश्यक थी।

आज पितामह ने कौरव-सेना के व्यूह को कूर्म रूप दिया था जिसका भेदन अत्यन्त कठिन माना जाता है—भला अपने सम्पूर्ण अंग प्रत्यंग को अपनी पीठ के अभेद्य कवच के अन्दर समेटे कूर्म का कोई सहजता से क्या बिगाड सकता था? पर भीम की गदा के समक्ष कौन वस्तु अभेद्य थी? बात की बात में पितामह के इतने श्रम से निर्मित इस व्यूह को भी उसने छिन्न भिन्न कर छोड दिया।

भीम यदि प्रलयंकर था तो उसका राक्षस पुत्र घटोत्कच भी इस युद्ध में कुछ कम कहर नहीं ढा रहा था। सुयोग्य पिता के सुयोग्य पुत्र के रूप में अगर किसी का स्मरण किया जायेगा तो घटोत्कच का नाम अगली पंक्ति में ही रहेगा।

उन दिनों वनवासियों की कुछ विशेष प्रजातियां हुआ करती थीं जिन्हें राक्षस, नाग आदि बोलते थे। वनों में हिंस्र जीवों से होने निरंतर संघर्ष के कारण ये प्रजातियां मनुष्यों की अपेक्षा अधिक ही बलशाली हो गई थीं। एकान्त वनों में तन्त्र साधना आदि की भी विशेष सुविधा थी अतः माया युद्धों में भी ये अधिकांश प्रवीण थे। घटोत्कच की उपलब्धि इनमें सर्वाधिक थी। तन्त्र जनित अपनी माया के कारण दिवा को रात्रि में और रात्रि को दिवा में परिवर्तित कर देना उसके बायें हाथ का खेल था। स्वच्छ आसमान को मेघ-मंडित कर देना और उसमें रक्त, मांस,

मज्जा अग्नि की वर्षा आरम्भ करा देने म भी वह सिद्धहस्त था।

आज घटोत्कच की क्रोधाग्नि भडकी भी एक विशेष कारण से। [illegible] नागजाति की एक कन्या म उत्पन्न एक अत्यन्त ही वीर और युद्ध कौशल युक्त पुत्र थ इरावन। यह उसी यात्रा म उत्पन्न हुआ था जब अपनी प्रतिज्ञा भग क कारण अर्जुन बनवास झेल रहे थ। इरावन ने अपने पराक्रम म आज कौरव सेना की दुर्दशा कर दी थी।

भीम और इरावन आज काल बनकर ही कुरुक्षेत्र म [illegible]। धूमकेतु की तरह ही समरागण के क्षितिज पर उग आए इन दो [illegible] का कुछ करना तो कौरवा क वश की बात नहीं थी पर [illegible] नहीं झेला जा सकता था।

जब कौरव सेना का स्थिर रहना असभव हो गया और [illegible] आई तो दुर्योधन ने ईट का उत्तर पत्थर स देने का निर्णय लिया। [illegible] उपलब्ध था अलम्बुष नाम का एक राक्षस वीर। [illegible] ठहर पाते थे। भीम की सन्तान होने क कारण घटोत्कच की दान कुछ और थी।

दुर्योधन ने अलम्बुष को इरावन क साथ भिडा दिया और प्राय [illegible] भयानक युद्ध म जिस देखने के लिए अधिकाश कौरव पाडव [illegible] शत्रुता भूल मडलाकार खडे हो गए इरावन मारा गया।

इरावन की मृत्यु अर्जुन के लिए भारी दुख का कारण [illegible] तक के युद्ध म उसका कोई विशेष आत्मीय जन काम नहीं आया था [illegible]। अपने एक पुत्र की हत्या उसे पुन विवादग्रस्त कर गई और वह श्रीकृष्ण [illegible] युद्ध की सार्थकता और निरर्थकता पर चर्चा करने लगा।

जब श्रीकृष्ण अर्जुन को एक तरफ ले जाकर उस द्वन्द्व [illegible] भाई सदृश इरावन की मृत्यु की बात सुनकर घटोत्कच की क्रोधाग्नि [illegible] पड गई। भयकर गर्जना कर कौरव सेना पर किसी भयानक [illegible] टूट पडा वह। कौरवो की सेना म इस राक्षस वीर का [illegible] कहा से आता? अधिकाश योद्धा समरागण स विमुख होने लगे। [illegible] को स्वय इस राक्षस-वीर का सामना करने आगे आना पडा। दुर्योधन [illegible] पर क्या वश चलता पर उसने इसके अधिकाश राक्षस सैनिको [illegible] झोक दिया। इस पर क्रोधित हो घटोत्कच ने एक मन्त्राभिसिक्त [illegible] कौरव योद्धा पर चला दी थी। इस अमोघ शक्ति क प्रहार स [illegible] उसी क्षण निकल जाते और महाभारत युद्ध आठवें दिन ही समाप्त [illegible]। पर बडी कुशलता से दुर्योधन के मित्र बगराज ने जो उसका [illegible] आ धमका था अपने हाथी को आगे कर दुर्योधन की रक्षा कर ली। [illegible] ही हाथी के प्राण क्षणार्द्ध म ही निकल गए पर दुर्योधन के प्राण [illegible] गई।

इस महासमर को अभी और लम्बा खिचना था।

युद्ध का नवां दिन। अठारह अक्षौहिणी सेनाओं की आधी संख्या का सूचक नवें दिन का सुनहला प्रभात नित्य की तरह कुरुक्षेत्र के रक्त रंजित मैदान पर गुलाल-सा बिखेर गया। पर नौ दिनों के इस युद्ध में केवल आधी सेना ही समाप्त हुई हो यह बात नहीं थी। यद्यपि कौरव पक्ष या पांडव पक्ष का भी कोई प्रतापी वीर अभी तक अपने प्राणों से हाथ नहीं धो सका था किन्तु कृष्ण पक्ष की चन्द्र कला की तरह कुरुक्षेत्र के विस्तृत मैदान पर अवतरित विशाल सैन्य-समूह निरंतर बड़ी तीव्रता से क्षीण होता जा रहा था। मरने वालों में कौरव-पक्ष के लोग ही अधिक थे। भीष्म आदि से अर्जुन को यथासंभव हल्की टक्कर देते हुए श्रीकृष्ण एक ओर अर्जुन के गांडीव से कौरव-सैनिकों को शस्य के पौधों की तरह कटवा कर रण-भूमि को पाट रहे थे तो दूसरी ओर भीम अपने गदा प्रहार से अब तक लक्ष-लक्ष वीरों के प्राण हर चुके थे। सात्यकि धृष्टद्युम्न अभिमन्यु घटोत्कच आदि तो अपना काम कर ही रहे थे।

आज का युद्ध एक तरह से आरम्भ हुआ सात्यकि और अश्वत्थामा के मध्य ही। श्रीकृष्ण ने अर्जुन के रथ को गुरु द्रोण की ओर मोड़ दिया और कुछ देर तक दोनों के मध्य विचित्र बाण युद्ध होता रहा। गुरु शिष्य के करों के चमत्कार को देखने के लिए अधिकांश योद्धा युद्ध से विरत हो गए।

नहीं, इसमें काम नहीं चलने का था श्रीकृष्ण ने सोचा। अब केसरी को उसके शिकार से खेलने का पर्याप्त अवसर दिया गया। अब नहीं। द्रोण और कृप लक्ष्य नहीं थे। अभी लक्ष्य थे तो पितामह। अब तक सबको लग गया था कि जब तक भीष्म रूपी नर शार्दूल जीवित था पांडव पक्ष के अधिकांश योद्धा शृगालों से अधिक कुछ नहीं थे और इस युद्ध का अंत नहीं होना था और होना भी था तो कौरवों के पक्ष में ही—पितामह के पक्ष में ही।

पितामह के लिए भी आज का दिन शुभ नहीं था। पता नहीं किस मुहूर्त में युद्ध आरम्भ हुआ था कि पितामह जो आजीवन श्रद्धा और पूजा के ही पात्र रहे, जीवन के अंतिम दिनों में निरन्तर अपमान और अवमानना के गरल पान को बाध्य हो रहे थे। दुर्योधन तो उद्दंड पहले से ही था, पर जैसे-जैसे युद्ध प्रगति कर रहा था पितामह के प्रति उसकी उद्दंडता बढ़ती जा रही थी। उसे पूर्ण विश्वास था कि पितामह अपनी ममता के कारण पांडवों पर मारक प्रभाव नहीं करते और इसलिए युद्ध की कोई परिणति दृष्टिगोचर नहीं होती। उसे सर्वाधिक पीड़ा इस बात की थी कि इन्हीं पितामह के कारण कर्ण के सदृश महान पराक्रमी और उस पर प्राण छिड़कने वाला वीर मैदान से बाहर पड़ा था। उसका अटल विश्वास था कि पितामह के स्थान पर अगर कर्ण को सेना के सूत्र संचालन का भार दिया गया होता तो विजय-श्री अब तक उसके चरणों में लोटती होती। इस पीड़ा से कोई त्राण नहीं था अपने मन की इस व्यथा को वह किसी-न किसी बहाने पितामह का अपमान कर ही मिटा पाता था।

आज भी उसने पितामह को बहुत भला-बुरा कहा और उनकी क्रोधाग्नि को बुरी तरह प्रज्वलित कर दिया। पितामह आज अपनी सम्पूर्ण शक्ति से पांडव-सेना पर टूट पड़े। भीष्म के इस अनदेखे रूप को देखकर पांडव-सेना में भगदड़ मच

गई। आसमान से धरती पर किसी मारक द्रव्य के प्रभाव से गिरते टिड्डी-दल की तरह पाण्डव-सेना समरांगण म बिछने लगी।

सभी को लगा कि युद्ध का अन्त आज ही हो जाएगा। भीष्म के सदृश तपी, *आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रतधारी सत्यनिष्ठ व्यक्ति का एक संकल्प ही पाडव-सेना की* समाप्ति के लिए पर्याप्त था, उसके ऊपर से तो इस प्रचण्ड वीर योद्धा ने अस्त्र शस्त्र भी धारण कर लिए थे जिनमे अधिकाश अमोघ और मत्र-पूत थे। लगता था, अपमान के समक्ष ममता का भाव मृत हो गया था और आज पाडव-सेना को समाप्त कर वह नित्य प्रति मिलन वाल अपमान स तो मुक्त होना चाहत ही थे दुर्योधन के कुअन्न जिस पर वे पले थे उसका ऋण शोधन भी कर देना चाहत थे।

श्रीकृष्ण को भी अच्छा बहाना मिल गया। एसे भी भीष्म के इस वेग को आज नही रोका गया तो किसी बाढ-ग्रस्त विशाल नदी की तरह वे आज सार कूल किनारो को तोड अपने क्रोध की प्रबल धार मे सब कुछ प्रवाहित ही कर दने वाले थे।

श्रीकृष्ण ने अजुन के रथ को द्रोण की ओर से मोडा और अजुन से बोले—"भूल जाओ कि तुम किसी कुरु-श्रेष्ठ पर अपितु अपने ही पितामह पर प्रहार करने जा रहे हो। मुझे पुन एक बार आत्मा-परमात्मा की व्याख्या का अवसर नहीं प्रदान करना। पितामह पर तुम्हें आज, दारुण और मर्मान्तक प्रहार करने हैं। इसी दिन के लिए मैंने तुम्हारी सम्पूर्ण ऊर्जा को अब तक प्राय सुरक्षित रखा है। अगर तुम ऐसा नही कर सके और तुम्हारा मोह तुम्हारे गाडीव और पितामह के दिव्यास्त्रो के मध्य आ गया तो आज की सध्या इस कुरुक्षेत्र को पाण्डवों से शून्य ही देखेगी और कोई आश्चय नही कि पितामह द्वारा बिछाए शवो के ढेर मे अभिमन्यु, भीम, सात्यकि यहा तक कि धमराज के साथ साथ पाथ का भी शव पडा दृष्टिगोचर हो।' इसके साथ ही श्रीकृष्ण ने जोर से अपने शख पाचजन्य पर ध्वनि कर सभी पाडव-वीरो की क्षीण होती शक्ति को बल दिया और सभी को एक साथ पितामह की ओर मुडने का इगित कर दिया।

घिर गया नर-केसरी व्याघ्रो वृको और शृगालो के समूह से। पितामह पर पाडव पक्ष के महारथियो, रथियो अतिरथियो पदातियो, गजारोहियो, अश्वारोहियो, सबका प्रहार आरम्भ हो गया। जिस तरह सृष्टि का सम्पूण प्रकाश-पुज एक ही केन्द्र बिन्दु सूय मे केन्द्रित रहता है उसी तरह सभी प्रमुख वीरो की सम्मिलित शक्ति एक ही केन्द्र बिन्दु पितामह पर केन्द्रित हो गई। श्रीकृष्ण के प्रभावकारी वचनो से प्रभावित हो अजुन का गाडीव भी सपमुख सूची भेद, अद्ध चन्द्र मुख, वस्ती आदि वाणो की वषा करने लगा। जब पितामह ही अपने परिजनो के प्रति ममता-हीन हो गए थे तो पाथ ही क्यो उनके प्राणो की चिन्ता करन लगे? उसकी सारी श्रद्धा, सारा मोह बन्धन पितामह क क्रोध रूपी अग्नि म जलकर भस्म हो गए।

पर कब कुछ बिगाडा है मृगपति का वन के असख्य मृगो ने? व्याघ्रो और वको ने भी? कब तक घेरा है तम के घरो न मध्याह्न के मार्तण्ड को? पितामह पर पाडव वीरो के सम्मिलित प्रहार का भी कोई प्रभाव नही पड सका। वे यद्यपि पीडित होत हुए भी किसी अडिग अश्वत्थ वृक्ष की तरह कुरुक्षेत्र के विस्तृत मदान मे अडिग अचल अविचल, अर्थात खड रहे। पाडव-वीरो का सम्पूण मारक प्रहार

उन पर कोई असर डालने म सफल नही हुआ । उनके आक्रामक प्रहारो—विभिन्न अस्त्रा शस्त्रा—को व अपने प्रतिरोधी प्रहारा से काटते गए और साथ ही अपने प्रहारो से उन्ह पीडित भी। उन्होंने कभी अपने प्रशस्त, उन्नत और तेजोदीप्त ललाट से स्वेद का एक कण भी नही पोछा । अपनी दोनो विशाल भुजाओ को क्षण भर का विश्राम भी नहीं दिया । अपने सहायको द्वारा निरन्तर भरते जा रहे अपने विशाल कन्धो से लटके तूणीरा को व निरन्तर खाली करते जा रहे थे। युद्ध-भूमि के एक विस्तत भाग म असख्य बाणो के उडन से जो घना अधकार व्याप्त हो गया था उसमे अधिकाश शर असख्य पाडव योद्धाओ के नही होकर वद्धकौरव सेनापति के ही थे।

कुछ नही हुआ । सूय की किरणें अस्ताचलगामी हुइ। उन्होने इस अपराजेय वीर के स्वण किरीट को सदा की तरह अपना अन्तिम नमन निवेदित किया और युद्ध-समाप्ति की घोषणा हो गई।

मदान का एकाकी बरगद वक्ष अन्त तक एकाकी और अविजित ही खडा रहा और पाथ के स्यन्दन का वापस लौटाते पाथ-सारथि को कुछ सोचने और एक भयावह निणय लेन को बाध्य भी कर गया।

आज प्रणिपात किया पितामह को दुर्योधन ने युद्ध-समाप्ति के साथ ही। "अगर आप इसी तरह कल भी अपने रण-कौशल का प्रदशन करते रहे पितामह तो मैं स्पष्ट कहता हू, कुरुक्षेत्र का यह युद्ध कल ही समाप्त हो जायगा।" उसने श्रद्धा से नत होते हुए कहा।

"कल किसने देखा है पुत्र !" पितामह के मुह से सहसा निकला पर उस भविष्यद्रष्टा तपस्वी के वचन के गूढाथ को दुर्योधन समझ ले, ऐसी मेधा कब विधाता ने प्रदान की थी उसको ?

अट्ठानवे

श्रीकृष्ण की चिन्ता का कोई अन्त नही था। कल सध्या समरागण से लौटते समय ही जो बात उनके मन मे आई थी शिविर तक पहुचते-पहुचते वह बद्ध मूल हो गई थी। अपने निणय को क्रियान्वित करने को वे कृतसकल्प हो आये थे। अब एक दिन का भी विलम्ब घातक था अत जो होना था उसे कल ही सम्पन्न होना था।

आज उन्ह पूरी तरह लग गया था कि सेनापति भीष्म अजेय थ, अन्तत इच्छा-मत्यु जो उनको प्राप्त थी। कौन विजित कर सकता था, वय के इस द्वितीय शतक की भी पूणता की ओर बढ़ चले इस बलशाली नर शादल को, अगर वह स्वय ही पराजित होना नही चाहे।

और यही एक बात श्रीकृष्ण के मस्तिष्क को बार-बार मथन लगी—स्वय पराजित होना स्वय पराजित होना। अपने पराभव, अपितु अपने अवसान, अपनी मत्यु का स्वय यत्न बनाना। क्या पितामह करेंगे ऐसा ? कोई अपने काल का स्वय वरण करना क्यो चाहेगा ? और कोई करना भी चाहे तो पितामह क्या। विशष कर इस घड़ी—म जब कौरवो का माग्याकाश

अनुकम्पा, उन्ही के अन्न पर पल कर उन्होने अब तक जीवन-यापन किया है ?

पर क्या कभी-कभी असम्भव भी सम्भव हो जाता क्या ? या अकल्पित भी कल्पित की परिधि मे नही आ जाता क्या ? स्वप्न भी सत्य नही बन बठता क्या ? या कि असम्भव कुछ होता भी है क्या ? विशेषकर कमयोगी के लिए ? गीता मे तो अजुन को उपदिष्ट करते हुए उन्होने स्पष्ट कहा था कि कम से विमुख होना कदापि श्रेयस्कर नही। साथ ही यह भी कि सशयग्रस्त होना अपने ही विनाश का बीज वपन करना है—'सशयात्मा विनश्यति।' अजुन को कहा अपना यह वचन उन्हे आज भी स्मरण है।

तब सशय का आश्रय ही क्यो लिया जाय ? जिस कम की कल्पना उनके मन म जगी है उसे नही करना अपने ही द्वारा प्रतिपादित कमयोग का उपहास नही है क्या ? अपने द्वारा निर्दिष्ट पथ क्या औरो के लिए ही है ? उसका अनुपालन स्वय का भी कत्तव्य नही बनता क्या ? और इससे अच्छा अवसर कब आयगा उसकी परीक्षा का ? सशयग्रस्त होना तो स्वाभाविक है। पितामह की प्रतिक्रिया के सम्बन्ध म कुछ भी कहना कठिन है। कौरव और पाडव दोनो एक तरह स उनकी ही सतति थे। दोनो के सरक्षक पोषक वही थे। यह बात पृथक थी कि उनके आजीवन ब्रह्मचयव्रतधारी होने के कारण वे अंतिम कौरव थे उनके पश्चात किसी की धमनियो म कौरव रक्त नही प्रवाहित था। धतराष्ट्र पाडु और विदुर तीनो कृष्ण द्वपायन व्यास के पुत्र थ। विदुर तो खर दासी की ही सन्तान थे। पाडु के क्लीव अथवा शाप ग्रस्त होने के कारण पाचो पाडवो म कोई उनकी सन्तान नही था। ऐसे भी जब धतराष्ट्र और पाडव ही कुरु-वशावतश नही रहे तो दुर्योधन और पाडवो के कौरव होने का कहा प्रश्न था ? इससे बडा घोर मिथ्या कथन क्या हो सकता था कि यह युद्ध कौरवो और पाडवो के मध्य लडा जा रहा था जब कि कोई कौरव नही था और न कोई पाडु-पुत्र पाडव।

खर इन सब बातो पर अभी सोचने का समय नही था, श्रीकृष्ण ने विचार किया। विचारणीय तो यह था कि तथाकथित कौरवो और पाडवो के वे समान रूप से सरक्षक थे। दोनो उनकी गोद मे अपनी धूल सनी देह लकर लोट-पोट कर चुके थे। यह बात पृथक थी कि नियति के कुचक्र से पाडवो को वन वन भटकना पडा और विवश पितामह को कौरवो के अन्न पर पलना।

अब क्या करेंगे पितामह ? ममता का पलडा किस ओर भारी पडेगा ? कौरवो के नमक का बदला चुकायेंगे वह अथवा अनाथ-से हो आये पाडवो की ममता की डोर खीचेगी उन्हे अपनी तरफ।

इसी सशय का तो निवारण करना था। और उसी सशय के वत्तमान रहते न तो पितामह को युद्ध म पराभूत होना था, न पाडवो को विजय-श्री के दशन होने को थे। तो क्या उपाय था इसका ? श्रीकृष्ण के मन ने प्रश्न किया। इस सशय का मूलोच्छेदन। पितामह की परीक्षा। सत्यनिष्ठ धर्माचारी बालब्रह्मचारी तप के साक्षात विग्रह भीष्म की न्याय प्रियता की परीक्षा। नव दिना तक उन्होने कौरवो की ओर स युद्ध किया है। अठारह अक्षौहिणियो का युद्ध जिसके अधिकाश सनिक स्वग सिधार चुके थे और नौ दिनो से अधिक क्या चलगा ? तो युद्ध के नौ दिन पितामह ने कौरवो के अन्न को दिए तो शेष नौ दिन वे पाडवो का ममता को नही प्रदान कर पायेंगे ? पर पाडवो के लिए इन नौ दिन का दान साधारण था क्या ?

यह तो पितामह के प्राणो के दान का ही प्रश्न था। अपने रहते व पाडवो का क्या उपकार कर सकते थे, अत पाडवो के प्रति अपनी ममता उन्हे सिद्ध करनी थी, न्याय की पुकार को उन्हे अनसुना नही करना था तो अपने प्राणो की अमूल्य आहुति ही उन्हे इस घोर प्रज्ज्वलित अग्नि म देनी थी ? पर करेंगे पितामह ऐसा ? श्रीकृष्ण का चिन्तन जारी था। यही तो देखना था। इसी सशय का तो निराकरण करना था। इसी कल्पना को तो कायाकल्प देना था।

और नवें दिन की उस सध्या को श्रीकृष्ण ने पाचो पाडवो को अपने शिविर म बुलाया।

आज असम्भव को साधना है। उन्होने बिना किसी भूमिका के कहा।

यह तो आप ही कर सकते हैं। आप सवममय हैं। आप असम्भव को सम्भव और सम्भव को असम्भव करने म सवथा सक्षम हैं। अजुन जो उनके विराट रूप को देख चुका था बोला।

"नही, यह मुझे नही करना है। यह करना है धमराज को। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा।

'आपने ठीक कहा। धर्माचारी के लिए कुछ भी असम्भव नही। इन्ही के धम के मारे हुए तो हम अब तक मर रहे हैं। साधने दीजिए इन्ही को असम्भव को। भीमसेन जो इधर युद्ध मे निरन्तर मिलती जा रही सफलताओ से अहकार स भर आया था बोला।

यह परिहास का समय नही वृकोदर ! श्रीकृष्ण ने भीम को डाटा, मैं एक गम्भीर प्रस्ताव रखने जा रहा हू।

क्या ? धमराज ने धीरे से पूछा। श्रीकृष्ण ने अपने शिविर को पूरी तरह रिक्त करा दिया था अत उन लोगो की बातें उन्ही लोगो तक सीमित थी।

'हम पितामह स यह पूछना है कि उनके प्राण किस तरह लिए जा सकते हैं। श्रीकृष्ण ने बिना किसी भूमिका के कहा।

'और यह कठिन काय मुझे सौंपा जा रहा है ? मैं जो ज्येष्ठ-पाडव हू और जिसने पितामह का सर्वाधिक प्यार पाया है ? युधिष्ठिर ने प्रतिवाद किया।

'हा। श्रीकृष्ण ने कहा।

क्यो ?

क्योकि तुम्हा सग्राम के आरम्भ होने के पूव सवप्रथम पितामह के पास गए थे और तुमसे ही पितामह ने कहा था कि उनके रहते तो तुम्हारी विजय असम्भव थी पर समय आने पर वह यह भी बता देंगे कि उनकी मत्यु कसे होगी। है न यह बात सत्य ?

सत्य है। धमराज ने स्वीकारा।

तो तुम्हे सत्याचरण से कोई परहेज है ?

'नही। धमराज ने मन मार कर कहा।

और अगर पितामह ने अपनी मत्यु का उपाय बता भी दिया तो वह घोर कठोर और कुत्सित काय को करने का दायित्व मेरा ही होगा ? धनजय जो अब तक चुप बठे थे, बोले। नकुल और सहदेव को तो बडो की बातो म पडना ही नहीं था।

'हा। श्रीकृष्ण ने दृढ़ता से कहा।

"क्या ?" अर्जुन ने विनम्रतापूर्वक पूछा।

"इस क्यो का कोई अथ नहीं। ममता, मोह के ब धन को तुम बहुत पूव काट चुके हो। मेरे गीतोपदेश के समय दिए गए अपने वचन को याद करो—मैं तुम्हारे आदेश का अब सदा पालन करूगा—'करिष्ये वचन तव। तो क्या तुम वचन भग को प्रस्तुत हो ?"

नही ' अजुन ने सिर झुका कर कहा और सोचा आखिर वह दिन आ ही गया जिसका उसे भय था। अपने ही पौत्र द्वारा अपने ही पितामह की निमम हत्या। क्योकि अजुन जानता था कि उसे नि शस्त्र भीष्म का ही बध करना पडेगा। शस्त्रधारी, परशुराम विजयी भीष्म को कौन पराजित करने मे समथ था ?

"तो चलो युधिष्ठिर मेरे साथ। तुम लोग मेरे लौटने तक यही प्रतीक्षा करो।" श्रीकृष्ण ने कहा।

अब तक रात्रि पर्याप्त बीत चुकी थी। अगल-बगल के सभी शिविरो म दिन भर के *श्रान्त-क्लान्त योद्धा कभी के सो चुके थे। प्रहरी भी निद्रा की गोद मे चले गए थे।*

निशीथ के इस प्रहर मे भी भीष्म के शिविर से प्रकाश छन छन कर बाहर आ रहा था। *श्रीकृष्ण इस भेद को जानते थे। वे तो गीता म स्वय कह चुके थे जब* रात्रि म सम्पूण चराचर सोता है तो सयमी पुरुष अपनी साधना म रत रहता है—'या निशा सवभूताना तस्या जागति सयमी।'

श्रीकृष्ण और धमराज दोनो नि श द भीष्म के शिविर मे प्रविष्ट हो गए।

कुछ देर परो के पास बठे रहे तो समाधि से जाग्रत होते ही पितामह का ध्यान उन्ही की ओर गया। उ होंने उठकर श्रीकृष्ण की चरणवदना करनी चाही पर श्रीकृष्ण ने उ हे रोक दिया—"आप वय मे मुझसे बहुत बडे हैं।'

'मैंने तो अपनी उम्र यो ही बिता दी। एक बडे राज्य और परिवार की सुरक्षा और पालन-पोषण मे। थोडी बहुत शस्त्रास्त्रो की साधना की। पर आप तो अपनी अनवरत साधना, शौय और पराक्रम के बल पर जगत् मे आज ईश्वर क रूप म पूजित है। साक्षात ईश्वर ही हो आये हैं आप, इसमे कोई स देह नही। इस एकान्त मे भी तो अपनी चरण धूलि देकर कृताथ करें मुझे।' इतना कह कर भीष्म ने श्रीकृष्ण के कमल-कोमल चरणो पर अपना सिर रख ही दिया।

'वही हो जो ईश्वर चाहता है।" श्रीकृष्ण के मुख स निकला।

'ईश्वर ही ईश्वर की बात करता है।" पितामह मुसकराये। उनकी हिम श्वत लम्बी दाढी के केशो मे कुछ कम्पन हुआ।

हम यहा एक विशेष प्रयोजन से आये हैं।' श्रीकृष्ण ने ही कहा।

जानता हू मैं।" *भीष्म क होठो पर स्मिति की रेखा पुन खेली।*

"क्या और कस ?' धमराज थे यह।

'आज क युद्ध ने तुम्हे यह दिखा दिया है कि मेरे जीवित रहते तुम सग्राम म विजय नही प्राप्त कर सकत अत तुम मेरी मृत्यु मागने आये हो।

पितामह !" धमराज के मुह से इतना ही निकला।

पितामह कुछ देर तक मौन रहे। श्रीकृष्ण के लिए य क्षण बडे सशय भर थे। सशय का ही निवारण करने आये थे वे और भीष्म के मौन ने उ हे सशय के गत म

हो डाल दिया था। वे पितामह के अन्तर्द्वन्द्व को समझ रहे थे। कौरवों को मझधार में छोड़ देना उचित था क्या? अथवा उनका साथ दे पाडवों को राज्य तो राज्य, मात्र पांच ग्रामों से भी वंचित रखना कहां का न्याय था।

अन्ततः श्रीकृष्ण का संशय समाप्त हुआ। पितामह ने मौन तोड़ा। उनकी न्यायप्रियता ने उनका साथ दिया और वे बिना किसी भूमिका के बोल पड़े—"मरूंगा मैं। युधिष्ठिर तुम्हारी विजय होगी।'

'कौन मार सकेगा आपको?' युधिष्ठिर ने अपनी शंका की अभिव्यक्ति दी।

'कोई नहीं।'

'तब?"

'मैं अपने मरने की भूमिका स्वयं गढ़ रहा हूं। अर्जुन को शिखंडी को आगे कर युद्ध करने को कहो। मैं शस्त्र-त्याग दूंगा। शिखंडी पहले स्त्री था बाद में पुरुष हो गया। मैं स्त्रियों पर प्रहार नहीं करता। अब जाओ। आराम करो। कल की संध्या का सूरज अपने साथ मेरा भी अस्त कर जायेगा।"

"पितामह!" युधिष्ठिर ने धरती में सिर टेक कर प्रणाम निवेदित किया और उठ खड़े हुए। पितामह ने आंखों ही आंखों में श्रीकृष्ण को प्रणाम निवेदित किया और पुनः समाधिस्थ हो गए।

निन्यानवे

युद्ध के इस दसवें दिन प्रातः श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रसन्न थे। उनके लिए आज कोई विशेष कार्य ही नहीं बचा था सिवा अर्जुन के रथ को भीष्म के रथ से भिड़ा देने के। शिखंडी को रात में ही श्रीकृष्ण शिविर में बुलाकर सम्पूर्ण योजना से परिचय करा दिया गया था।

सर्प जैसे अपनी बांबी से सरकता है बस उसे चुपचाप युद्ध के आरम्भ में ही सरक कर भीष्म और अर्जुन के बीच अपने रथ के साथ आ जाना था। इस सारी योजना का ज्ञान केवल आठ व्यक्तियों को था पांचों पाडवों, श्रीकृष्ण, भीष्म और शिखंडी को।

नित्य रथ को भटका भटका कर अर्जुन की शक्ति के साथ उसके दिव्यास्त्रों की भी सुरक्षा करते रहने वाले श्रीकृष्ण की प्रसन्नता का एक कारण यह भी था कि आज कौरवों के दो शौर्य शिखरों में एक का पतन अवश्यम्भावी था। पितामह के वचन पर श्री उन्हें संदेह नहीं था न शंका थी गांडीव से निःसृत शरों की प्रहार-शक्ति पर। भीष्म रूपी शिखर ढहा तो कर्ण के गिरने में भी समय नहीं लगने का था। पता नहीं पूर्वजनित किस कर्म के कारण नियति स्वयं उसके मूल को किसी चालाक चूहे की तरह शनैः-शनैः स्वयं कुतर रही थी। श्रीकृष्ण को उस मित्र अब तक की भीषण अभिशापों का पूर्ण पता था।

'जाओ ठीक अवसर पर यह दिव्यास्त्र तुम्हें स्मरण नहीं आयेगा।' परशुराम ने कहे। बहुत सेवा और निष्ठा से उनकी सेवा कर कर्ण ने उनसे एक अमोघ दिव्यास्त्र सीखा था। पर जैसे ही उन पर यह भेद खुल गया कि वह एक सूत-पुत्र

था, उन्होने उस शाप दे डाला।

'जाओ तुम्हारी घोर सक्टावस्था मे यह विश्वम्भरा धरती ही तुम्हारे रथ चक्र को निगल जायेगी। एक ऋषि पुत्र था यह जिसके समाधिस्थ पिता के गले मे भूल स एक मत सप डाल देने के कारण यह अभिशाप दे डाला था उसन।

इन दोनो भीषण अभिशापा से युक्त होकर कण कब तक मत्यु से बच सकता था ? अजुन के शरो का शिकार तो उस होना ही था भले ही उस समय धम और अधम के द्वद्व म फस जाये अजुन का एक बार और गीता का उपदेश ही क्या न देना पडे उन्हे।

रथ को रणागण म बढात श्रीकृष्ण का मन इस तरह उनके अश्वो से भी तीव्र गति से भाग रहा था कि अकस्मात उन्होंने अपन रथ को भीष्म के रथ क सामने पाया। शिखडी ? किधर था शिखडी ? उसका तो कही पता नही था तो क्या वह भीष्म के शरा स डर कर भाग गया ? अब व क्या करेंगे ? अजुन की प्राण रक्षा के लिए वे उसके रथ को भगा भी नही ले जा सकते। रण म पीठ दिखाना वीरो का काम नही था और अपने प्राण दने को कृतसकल्प पितामह माया ममता के सभी बधना को विच्छिन्न कर चुके थे। ऐस म वे आमने-सामने के युद्ध म अजुन क प्राण नही ल लेंगे, यह कौन कह सकता था ?

अजुन के रथ को श्रीकृष्ण ने जान-बूझ कर भीष्म के रथ के थोडा पूव ही रोक लिया था। उनके हाथो की वल्गाओ के कसते ही अजुन के रथाश्व हिनहिना कर दो परा पर खडा हो आय थे और अजुन का रथ उलटते उलटत बचा था। *तभी तीर की तरह पाडव व्यूह से छूटा था शिखडी का रथ और देखत-देखत भीष्म* और अजुन के रथा के मध्य आ जमा था।

अपन धनुष पर पहला शर चढाया था शिखडी न और उसने जाकर भीष्म क दाहिने पर क अगूठे को धीरे-स छुआ था। रक्त की एक बूद छलछला आइ थी वहा। यह प्रणाम निवेदन था शिखडी का और उसे देखत ही भीष्म न घणा से एक ओर मुह फेर लिया था और अपन विशाल धनुष को हाथो स उसी तरह छूट जान दिया था जिस तरह बालक के हाथो स कोई खिलौना छूटता है।

शिखडी प्रसन्न हो आया था और शर पर शर भीष्म पर छोडे जा रहा था। उसे इस बात की घोर प्रसन्नता थी कि शायद उसी क वाणो स पितामह क प्राण निकल जाए और उसे कौरव-सेनापति क पराजय का श्रेय प्राप्त हो जाए। पर उसके शर या तो लक्ष्यच्युत होकर भीष्म के दाहिने-बायें या ऊपर निकल जाए अथवा वे उनके लौह शरीर का स्पश पाते ही रथ म जा गिर। शिखडी का कोई शर भीष्म के शरीर पर टिक पान मे अब तक समथ नही हो सका था।

'अजुन क्या देख रहे हा ? अभी सारे प्रसिद्ध कौरव याद्धा भीष्म को आ घेरेंग और हमारी याजना धरी की धरी रह जायगा। शिखडी के शरो स भीष्म के प्राण निकलेंगे ? कही कौए की चोच से पका हुआ भी बिल्व फल फूटता है ? शीघ्रता करो गाडीव स छूट शरा के अलावा और कोई शर भीष्म के शरीर म स्थान बनान से रहा।

अजुन ने श्रीकृष्ण क वचन का पालन किया और उसका प्रथम प्रणाम शर ही भीष्म के दाहिने अगूठे क आर-पार हो गया। रक्त की एक पतली धार ही वहा बह निकली।

"साधु पार्थ !" पितामह ने कहा और मध्य में खड़े अभी तक शर बरसाते शिखंडी की ओर देखा। वे अपना धनुष नहीं उठा सकते थे। इधर कानों तक खींच-खींच छोड़े गए अर्जुन के धनुष भीष्म के अंग प्रत्यंग का पार करते जा रहे थे। अंगूठ से आरम्भ हुआ यह अभियान दाहिने पर फिर बायें पैर और कमर तक पहुंचा। सारे शर प्राय आधे इस पार और आधे उस पार होते गए। समाधिस्थ भीष्म निरुपाय-सा यह सब झेलते रहे।

इसी मध्य यह संवाद कौरवों और पांडव पक्ष के सभी योद्धाओं तक दावाग्नि की तरह फैल गया। दुर्योधन दुःशासन द्रोणाचार्य कृपाचार्य, शल्य अश्वत्थामा आदि वीरों ने आकर भीष्म की ओर से अर्जुन पर शर बरसाना आरम्भ किया तो युधिष्ठिर, भीम, द्रुपद, सात्यकि अभिमन्यु नकुल, सहदेव धृष्टद्युम्न आदि ने अर्जुन की ओर खड़े होकर उन बाणों को व्यर्थ करना आरम्भ किया। दुर्योधन ने मारी चाल समझ ली और उसने तोमर के संग के मूल मोहर शिखंडी को ही उखाड़ फेंकना चाहा। पर पांडव पक्ष के घोर प्रतिरोध के कारण उसका कोई शर भी शिखंडी का स्पर्श करने में असमर्थ रहा। अंत में वह गदा लेकर शिखंडी के मस्तक को चूर चूर करने आगे बढ़ा कि भीमसेन उससे आ भिड़ा और दोनों में भयंकर गदा युद्ध आरम्भ हो गया।

इधर अर्जुन के सभी शर अब भीष्म का स्पर्श नहीं कर पा रहे थे। कौरव महारथियों में अधिकांश इस भय से भीत हो गए थे कि पितामह को नहीं बचाया गया तो उनके प्राणों की भी खैर नहीं। वे अर्जुन के बहुत से बाणों को व्यर्थ कर रहे थे। पर गांडीव से शर बरसना उसी तरह जारी था जिस तरह किसी विशाल वृक्ष पर बसेरा बनाए चमगादड़ों के झुंड के झुंड उस पर से किसी कारणवश उड़ना आरम्भ करते हैं। कुछ क्षणों के लिए वहां के नीचे की धरती ही अंधकारमय हो जाती है। उधर अर्जुन के सहायक भी कौरवों के बहुत से शरों को अर्जुन के शरों तक पहुंचने के पूर्व ही काट डालते थे। इस तरह धीमे ही सही पर भीष्म का बींधना जारी था। दाहिने पैर के बाद फिर बायें कर फिर कमर, फिर दाहिना हाथ फिर बायां और अब लक्ष्य बन रहा था पार्थ शरों का, पितामह का मर्म भाग—उनका वक्ष-स्थल।

दुर्योधन ने इस पर पितामह को एक बार ललकारा भी—'क्या एक षंढ के कारण व्यर्थ में आप अपने को मृत्यु का ग्रास बना रहे हैं?' इस पर शरों के प्रहार से प्रहार होश खोते जा रहे भीष्म ने एक दिव्य शक्ति का आह्वान कर उसे अर्जुन की ओर छोड़ा भी। पर उस शक्ति को अपनी ओर आते देख अर्जुन ने तीन शरों का एक ही साथ संधान कर उसके तीन टुकड़े कर दिए। इस पर भीष्म को अपना अंत समय अत्यंत समीप दिखाई पड़ा और शिखंडी को भूल के हाथ में ढाल और तलवार ले अर्जुन की ओर बढ़ने के प्रयास में रथ से उतरने लगे। कौरव-वीरों ने निरन्तर बाण-वर्षा से उन्हें संरक्षण भी देना चाहा पर इधर गांडीव के शरों के अचूक बाण उनके मर्म स्थल के प्रत्येक भाग को बेधन में लग रहे। भीष्म के ढाल तलवार भी टूक-टूक हो गए और अर्जुन के एक शर के ठीक वक्ष-स्थल में लगते ही वह मूल-कटे किसी विशाल बरगद-वृक्ष की तरह अपने रथ से नीचे गिर पड़े। उनके शरीर में शर पूरी तरह से आर-पार थे अतः भूमि पर गिरने पर भी इस वीर की पीठ ने धरती का स्पर्श नहीं किया और वे बाणों पर ही टंगे रह गए।

उनके गौरवर्णी तन से स्थान-स्थान मे रक्त की धाराए प्रवाहित थी जसे गरिक पर्वत पर कोई रक्तचिह्न खीचता गया हो।

भीष्म के धराशायी होने ही कौरव पक्ष मे हाहाकार मच गया। सभी धनुधरो ने अब युद्ध को व्यथ समझ अपन अपन धनुप छोड दिए। सभी रथ स उतर उनके शरीर को घेरकर खड़े हो गए।

इधर सूरज भी पश्चिमी क्षितिज को अतिम स्पश दे रहा था। नीचे एक महान वीर के शरीर म निरसत लालिमा ऊपर की लालिमा स होड ल रही थी। इनम कौन ज्यादा प्रभावशालिनी थी, कौन अधिक पूज्य ?

श्रीकृष्ण पाथ भीम आदि सभी अपने रथ से उतर उतर पितामह को घरकर खडे हो गये थे।

पितामह इस प्रकार आहत होकर भी मना शून्य नहीं हुए थे। वे सभी वीरो को सम्बोधित कर बोले "अभी प्राण नही निकलेंगे मेरे। सूय दक्षिणायण है, उसक उत्तरायण होने तक प्रतीक्षा करूगा। तुम लोग इस स्थान को घेरकर मुझे जगली जानवरो मे सुरक्षित कर दो और हा अजुन ने शायद जानबूझ कर ही मेरे मस्तक म वाण नही मारे हैं सिर नीचे लुढक रहा है, उसके लिए तकिया का प्रबध कर दो तो अच्छा।

सुनत ही दुर्योधन ने अनेक सहायक दौडाये। वे तरह तरह क छोटे-बडे रशमी, मखमली तकिया लकर उपस्थित हुए।

इस व्यथा मे भी भीष्म के होठो पर एक मुसकान खेली और वे सारे प्रतिशोध भाव भूलकर अपने प्राणघाती अजुन को लक्ष्य कर ही बोले— 'पाथ वीरोचित तकिया का प्रबध करो।

अजुन इशारा समझ गया और उसने भीष्म के सिर के नीचे भूमि मे तीन वाण मारकर उन पर भीष्म क सिर को अवलम्बित कर दिया।

'पितामह भूख ? कुछ खाने-पीने का प्रबध ?" अश्रु विगलित स्वर म दुर्योधन बोला।

'अब इस वाण विद्ध शरीर मे भोजन किधर पचेगा ? हा, पानी अवश्य चाहिए। कठ सूख रहा है। पानी पाथ !' पितामह के मुख से फिर अजुन की ही पुकार हुई। वह समझ गया साधारण जल की आवश्यकता नही पितामह को। उसने उनके सर के पाश्व म थोडी दूरी पर गाडीव को कानो तक खीच एक अत्यत तीक्ष्ण शर धरती मे दे मारा और उसके पाताल-फोड वाण ने दूसरे ही क्षण जल की एक सशक्त धार पृथ्वी स प्रकट कर दी जो सीधे पितामह के खुले मुख म गिरी।

'अब तुम लोग जा सकत हो। पितामह न कहा। मुझे शान्ति स नाम स्मरण करने दो। हा गोविन्द कृष्ण कहा हो तुम ? जरा इधर आना। अपनी एक झलक दिखा दो ताकि मैं उसी का स्मरण करता हुआ ध्यानस्थ हो जाऊ। इस ससार वाले तुम्हारी महिमा को अभी नही पहचानेंगे। तुम्हारे असली स्वरूप को या तो प्रत्यक्षदर्शी पाथ जानता है या मैं, उस अपनी अन्तर्दृष्टि स उसे देख सका हू। कहा हो पीताम्बरधारी ? नर होकर भी कोई कसे नारायण बन सकता है, उसके तुम साक्षात उदाहरण हो।

श्रीकृष्ण मन्द-मन्द मुसकराते हुए भीष्म के सामने आ खडे हुए— 'दुख न

करें पितामह ! जीवन-मृत्यु नियति का एक मनोरंजक क्रीडा मात्र है। शरीर की मृत्यु म आपका कुछ नही बिगडेगा। आप यश काय हो सष्टि के अन्त तक अमर रहेंगे। आपके पश्चात यह उवरा धरती कोई और तपोनिष्ठ और घोरव्रतधारी, पितभक्त तथा पराक्रमी वीर नही उत्पन्न करने जा रही। मेरा नमन स्वीकार करें। भीष्म ने एक बार अपनी आखो को पूर्ण रूप स उन्मीलित किया। दो रक्त-कमल पूण रूप से खिल आये। उनम कुछ उभरा, शायद जिसे वह भगवान कह रहे थे उसके प्रति एक अगाध श्रद्धा भाव और फिर उन्होंने अपने नयना को पलको का कपाट दे दिया। सभी वीर एव एक कर वहा स नत सिर अलग हो गए, जिनमे कण भी था।

"सारा खेल इस ग्वाले का है। अजुन और शिखडी तो कठपुतली मात्र थ। नेपथ्य स उनका सूत्र सचालन तो यही कर रहा था। ऊपर से वृद्धावस्था मे मति भ्रम के शिकार पितामह इसे परमात्मा और नारायण क्या-क्या कहे जा रहे थे।' माग म दुर्योधन न कण को समझाया।

"अब तो कटक दूर हो गया। कल से तो मैं समर मे कूदने जा रहा हू। अब तो चिता छोडो।" कण ने दु खी दुर्योधन को बाहो मे भरकर कहा।

"पर यह सत्य तो सत्य रहेगा अगराज कि कौरवो के पराक्रम का एक अति उच्च शिखर भूलुठित हो गया। ' दुर्योधन दु खी मन से बोला।

'यह ता मानना ही होगा मित्र पर अध्यवसायी जन आने वाले कल की बात सोचत है, बीते कल की नही। कल तुम्हारा कण तुम्हारे साथ होगा और ईश्वर ने चाहा तो विजय-श्री तुम्हें ही वरण करेगी। मैं अपने एक एक अपमान का पाडु पुत्रा स गिन गिनकर बदला लूगा।'

"कल तुम सेनापति बनोगे ?' दुर्योधन ने सहसा पूछा।

नही,' कण ने दृढता से प्रत्युत्तर दिया। "यह अवसर पद प्रतिष्ठा क पीछे भागन का नही अपनी सम्पूण शक्ति स अपने मित्र की हित-साधना का है। सेना पति तुम द्रोणाचाय को बनाओ। सब उनका नेतत्व स्वीकारने को प्रस्तुत होंगे। मैं तो तुम्हारे लिए बना ही हू। मैं तुम्हारी छाया हू। मुझे तुम अपने से पथक नही पाओगे।"

सौ

कुरुक्षेत्र क क्षितिज पर आज ग्यारहवें दिन जब सूय का सुवर्ण थाल उभरा तो उसकी स्वण किरणो ने आज प्रथम प्रथम कौरव वीर भीष्म को सेनापति के रूप म अनुपस्थित पा गुरु द्रोण के सुवण किरीट को ही अपना मूक नमन निवेदित किया।

द्रोणाचाय अपने तपोबल और शस्त्र शास्त्र ज्ञान से तो पहले ही से प्रभामडित थे पर कौरवा स मिले नये सेनापतित्व ने उन्हें और भी तजोदीप्त कर दिया था।

उन्होंने अपन सैन्य की व्यूह रचना कर जोर से सिंहनाद किया और भीष्म की पराजय से हतप्रभ हुई कौरव-सेना के मनोबल को उच्च करने का प्रयास भी।

उधर कण भी आज पहले-पहल अपने जैत्ररथ पर सवार हो रणभूमि में

उतरा। वह तेज प्रताप और शौय वीय मे द्रोणाचाय से थाडा भी कम नही लग रहा था। सूय उपासक और नित्य जाह्नवी-जल मे कमर तक खडा होकर गायत्री मन्त्र का जप करने वाले कण ने सूय किरणा से अपने किरीट को चुम्बित करने की अपक्षा नही की अपितु रणभूमि म प्रवश करते ही उसन स्वय दोनो करा को जोड कर सूय नमस्कार किया।

उसे आज के अपने दायित्व का पता था। सेनापति बनान के पूव दुर्योधन ने द्रोणाचाय स यह वचन ले लिया था कि व उसके लिए कुछ करें या न करें एक काय अवश्य कर दें।

'क्या ?' सेनापति ने पूछा था।

'आप धमराज को बन्दी बनाकर हम सौंप दें।'

'क्याकि मैं उसे मार नही सकता ?' द्रोण ने प्रतिवाद किया, "मैं अजुन को छोडकर किसी भी पाडव-योद्धा को मारने मे सक्षम हू।

एसी बात नही कि आप युधिष्ठिर को मार नही सकते। अपितु हम तो एक ढेले स अनेक शिकार करना चाहते हैं। युधिष्ठिर धम प्रिय हैं। शकुनि मामा भाग्य से अभी जीवित हैं। हम उनके समक्ष पुन द्यूत का प्रस्ताव रखेंगे और इस बार इस युद्ध को ही दाव पर चढा देंगे। अगर पाडव हार गए तो यह महाभारत बन्द और पाडवा का आजीवन का वनवास। और अगर हम हार गए तब भी युद्ध बन्द और हस्तिनापुर का साम्राज्य पाडवो को समर्पित। इस तरह भीषण रक्त-पात से भी हम बच जायेंगे और मामा शकुनि के रहते द्यूत मे हमारी पराजय का तो प्रश्न ही नही उठता।

'फिर वही द्यूत ? वही शकुनि ? इसीलिए तुम लोगो ने मुझे सेनापति बनाया है। वीरो के विक्रम की परीक्षा रणभूमि के विस्तत प्रागण म होती है, खेल के पाशा भरे रेशमी चौसरा पर नही। मुझे एक दिन भी तुम लोग अपना पराक्रम दिखाने दोगे या नही ? द्रोण इस प्रस्ताव पर भल्लाए थे पर हठी दुर्योधन के सामने उनकी एक नही चली थी और वे युधिष्ठिर को बन्दी बनान को प्रस्तुत हो गए थे।

गुप्तचरा ने वात युधिष्ठिर तक भी पहुचाई थी और वे सभावित अपमान बोध से विक्षिप्त से हो आये थे। कोइ उनके प्राणान्त कर दे, यह तो उन्ह स्वीकार था पर कोई उन्ह जीतजी पाशबद्ध कर ले यह उनके पराक्रम रूपी सूय को ग्रहण लगन क सदश था—पूण ख ग्रास ग्रहण।

व अजुन से बोल थे,' तुम्हे पता है दुर्योधन फिर अपनी दुबुद्धि पर उतर आया है ?

'कैसे ?

'पितामह की मत्यु से भयग्रस्त हो अब इस युद्ध को इस धमक्षेत्र के समरागण म नही द्यूत द्वारा छल के चौसर पर जीतना चाहता है।

'यह कैसे ?

'वह मुझे बन्दी बनाकर द्यूत के लिए बाध्य करना चाहता है।'

'और आप पुन द्यूत के लिए प्रस्तुत हो जाएगे ? इतना कुछ देखने और झेलन के बाद भी ? अजुन ने आश्चय से पूछा।

'तुम जानते हो मरी प्रतिज्ञा को ?

'किसको ?''

'कि युद्ध और द्यूत की चुनौती को मैं अस्वीकार नहीं कर सकता।'

'फिर वही द्यूत ! हे भगवान।' पार्थ ने मन ही मन कहा और धर्मराज को स्पष्टतया आश्वस्त कर दिया, "मेरे रहते द्रोणाचार्य आपको बन्दी नहीं बना सकते। मैं श्रीकृष्ण से अपने रथ को आपके आस-पास ही रखने को कहूंगा।'

'पर द्रोणाचार्य मेरे बन्दी होने तक अकेले नहीं रहना चाहेंगे।

'तब ?

"आज कर्ण भी पहले पहल समरांगण में उतरेगा और वह द्रोण को आप्तकाम करने में कुछ भी उठा नहीं रखेगा। दुर्योधन की किसी बात को वह टाल नहीं सकता। अगर दुर्योधन कहे तो मेरे स्थान पर वह एक बार यमराज को भी बन्दी बनाकर उनके चरणों पर डाल सकता है।'

"यह अच्छा रहा। एक ओर धर्मराज तो दूसरी ओर यमराज। श्रीकृष्ण भी सारी वार्ता को मनोयोगपूर्वक सुन रहे थे और पुनः कुछ सोचते हुए बोले, 'मैं शायद कभी कभी ठीक ही सोचता हूं कि एकाकी धर्मभीरुता का भी कारण बनता है। धर्म आन्तरिक आध्यात्मिक शक्तियों को तो पुष्ट करता है पर शरीर की शक्ति को क्षीण कर देता है। शरीर क्षीण होता है तो मन भी विश्वास खोने लगता है और आत्मविश्वास से रहित व्यक्ति धर्म से सुरक्षित होकर भी अपने को असुरक्षित समझ भय-ग्रस्त हो उठता है अथवा उसके आत्मविश्वास का अभाव सचमुच उसकी धर्म भावना अथवा धर्म-परायणता पर हावी हो जाता है और वह विजय के स्थान पर पराजय का कारण बन बैठता है। धर्मराज ! आप बंदी नहीं बनेंगे यह आश्वासन मैं भी देता हूं और आवश्यकता पड़ी तो मैं आपकी रक्षा के लिए अपनी एक बार टूटी प्रतिज्ञा को पुनः तोड़ सकता हूं। मैं भीष्म की ही तरह द्रोण की ग्रीवा को भी अपने सुदर्शन चक्र का लक्ष्य बनाने से पीछे नहीं रहूंगा अगर द्रोणाचार्य ने धर्मराज को बन्दी बनाने का दुःसाहस किया। आप मात्र ज्येष्ठ पांडव ही नहीं हैं। युधिष्ठिर, आप सही अर्थ में इस युग के साक्षात् धर्मराज हैं। स्वयं धर्म हैं। नहीं, कृष्ण के जीवित रहते धर्म बन्दी नहीं बन सकता। धर्म की रक्षा और अधर्म की पराजय के लिए ही युग-युग में कृष्ण शरीर धारण करता है। इस सत्य को अर्जुन अच्छी तरह जानता है। आप निर्भय होकर समर भूमि में प्रवेश करें।'

धन्य हैं हृषीकेश आप !' धर्मराज जाने को प्रस्तुत हो गए।

और युधिष्ठिर सचमुच बन्धन में नहीं आ सके। द्रोण ने दुर्योधन दुःशासन, जयद्रथ कर्ण शल्य, विकर्ण आदि योद्धाओं के साथ मिलकर युधिष्ठिर पर बाणों की बौछार शुरू कर दी। एक ही साथ कई प्रलय मेघ भयंकर जलधार का वर्षण करने लगे। युधिष्ठिर कुछ ही देर के पश्चात् श्रान्त और निरुपाय हो आये। उनके रक्षार्थ जुटे, सात्यकि, भीम द्रुपद, अभिमन्यु यहां तक कि घटोत्कच आदि योद्धा भी उनकी कोई सहायता नहीं कर पा रहे थे।

युधिष्ठिर के दुर्भाग्य ने अन्ततः उन्हें आ घेरा। द्रोणाचार्य ने उनके धनुष को काट डाला। उन्होंने बारी-बारी से कई धनुष उठाये पर सबकी यही गति हुई। युधिष्ठिर ने असहाय से हाथ पीछे की ओर किया। सहायक ने एक गदा उनके हाथ

म थमा दी। युधिष्ठिर और गदा ? द्रोणाचाय मुसकराए और अपने हाथ के धनुष को फेंककर एक हाथ म गदा और दूसरे म पाश लेकर अपने रथ से उतरने को हुए। कौरवो के सेनापति के रूप म प्रथम दिन ही वह उनका मनोवाछित देने जा रहे थे। पर इसके पूव कि द्रोण अपने रथ से उतर कर युधिष्ठिर के रथ की ओर बढ पाते लगा कोई वर्षों से अवरुद्ध प्रबल जल प्रवाह टूट गया और जल की प्रचड धार कई खडा मे विभक्त होकर उससे बह चली। द्रोणाचाय पर शरा की ऐसी अनवरत वर्षा आरम्भ हुई कि वे जहा के तहा खडे रह गए। शरो ने उनके समक्ष एक अमोघ दीवार-सी खडी कर दी जिसे तोडना सध्या के इस प्रहर म न तो श्रान्त-क्लान्त हो आये द्रोणाचाय क लिए सभव था न उनके सहायक कण आदि महारथियों के लिए।

युधिष्ठिर न श्रीकृष्ण की बुद्धि का लोहा मान लिया। अब तक अजुन क रथ को इधर-उधर वे पथका मे घुमाते हुए उन्होंने द्रोण और उनके सहायको को पूणतया थक जाने का पूण अवसर प्रदान किया था और अन्तिम घडी म अजुन को उनके समक्ष ला खडा कर उनकी आशा पर पानी फेर दिया था।

सूय अस्ताचलगामी हुए। धमराज निबन्ध रह। कौरव-सेना कल की तरह आज भी खिन्न-मन अपने शिविर को लौटी। धमराज माग भर श्रीकृष्ण के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते रहे। वे अजुन के रथ पर ही आ बठे थे। श्रीकृष्ण तो मन्द-मन्द मुसकराते रहे जसे उनके लिए यह सब बालको का खेल हो पर अजुन ने अग्रज को सम्बोधित कर कहा— 'आप व्यथ ही भयभीत हो रहे थे। विजय वही होती है जहा धम है और धम वही होता है जहा कृष्ण हैं। भूल गए क्या आप—यतो धमस्ततो जय यतो कृष्ण ततो धम ।

यही नहीं, बारहवें दिन भी द्रोण ने अथक परिश्रम किया युधिष्ठिर को बन्दी बनाने के लिए पर वे आज भी असफल ही अपने शिविर को वापस लौटे।

दो दिनो के निरन्तर प्रयास के पश्चात उन्होंने धमराज को बन्धनयुक्त करने के अपने प्रयास को व्यथ समझ उसका परित्याग ही कर बठे।

एक सौ एक

क्या परोपदेश सबके लिए सहज है और अपने ऊपर उसी उपदेश का प्रयोग कठिन और दुस्साध्य ? क्या चिन्तारहित होने के लिए किसी को उत्प्रेरित करना एक बात और स्वय चिन्ताविहीन होना दूसरी ?

अगर ऐसी बात नहीं थी तो आज की सध्या श्रीकृष्ण क्यो स्वय इतना व्यग्र और व्यथित हो रहे थे ? क्या केवल स्वय के सबध म चिन्ता निन्द्य है और परिजना मित्रा और आप्त जनो—आत्मीयो को लेकर चिन्ताग्रस्त होना ग्राह्य ?

श्रीकृष्ण कुछ समझ नहीं पा रहे थे। उनका मन द्वारावती के तीर जा पहुचा था जहा हर पूनो की रात को सागर की लहरें हाहाकार करती हैं उत्ताल तरगें उदधि-वक्ष को मथ देती हैं और आसमान छूने की प्रतिस्पर्धा मे एक-दूसरे से ऊपर निकल जाना चाहती हैं। आज वसे ही उनके हृदय मे भी चिन्ता की आशका की

लहरें अनियमित सी उठ गिर रही थी। उनका हृदय भी किसी उदधि-वक्ष की तरह ही अव्यवस्थित हो आया था।

क्या यह उचित है ? यही प्रश्न मन मे बार बार पिंजडे से बाहर गए पक्षी की तरह पुन-पुन लौट-लौट आता है। वे नही जानते कि वे भगवान है कि नही ? कभी विडम्बना है ? जिन्हे सम्पूर्ण जगत् ईश्वर के रूप म ही देखता है उसके मन म ही अपने प्रति शका-आशका और आत्मविश्वास के अभाव क कटीले झाड-झखाड करील के पौधो की तरह उग आते है। करील की स्मृति उन्ह ब्रज की ओर खींचना चाहती है राधा की स्मृति को एकदम से जाग्रत कर देना चाहती है पर नहा, अभी उसका समय नही है। अभी तो यह विचार करना है कि वे पाडवा के कल के भविष्य के लिए चिन्तित क्यो हैं ?

क्या इसलिए कि वे भगवान हैं ? शायद हा शायद नहीं। वे भगवान होते तो चिन्ताग्रस्त क्या होते और भगवान होकर भी भक्तो के लिए वे चिंतित नही हुए, उनके दुख को अपना दुख नही समझा, उनके योग क्षेम की रक्षा नही की तो वे कैसे भगवान हैं ? गीतोपदेश के बाद तो उन्होने स्वय को भगवान ही सिद्ध किया था। अपने सकल्प-बल और सिद्धि के आधार पर अर्जुन को अपने विराट रूप के दर्शन भी कराये थे। तब वे भगवान कैसे नही थे ? सकल्प-बल पर भी सबके लिए यह सभव है क्या ? यही, आत्मरूप मे परमात्म रूप का दर्शन ? आत्मा और परमात्मा के अद्वैत का यह विश्वासपूर्ण प्रदर्शन ? अपने म ही सब कुछ के समाहित होने का भान ? पिंड म ही सब कुछ क समाहित होने का बोध ? पिंड म ही ब्रह्माड का अभिमान—यथा पिंडे तथा ब्रह्माडे। यही तो किया था उन्होने उस दिन अर्जुन के साथ ? पिंड मे ब्रह्माड का प्रदर्शन ?

तो वे शायद भगवान थे। या उन्ह ईश्वरत्व की दिशा म अग्रसर होने मे औरो की अपेक्षा कुछ अधिक ही सफलता मिली थी। क्या कारण हो सकता था इसका ? शायद गुरु सादीपनि के आश्रम म किया गया एकान्त का आत्म चिन्तन, ध्यान, योग, जप और साधना। अथवा पूर्व जन्म की साधना की अनवरतता और इस जन्म म समय पाकर उसकी परिपक्वता-पूर्णता। उन्ही ने तो अर्जुन से कहा था—इस योग को एक बार आरम्भ कर दो तो इसका वह आरम्भ भी व्यर्थ नही जाता। तो कही पूर्वजन्म की उनकी साधना ही इस जन्म म और पुष्पित पल्लवित हुई हो।

तब तो वे ईश्वर थे या ईश्वरत्व के बहुत समीप थे। अर्जुन को उपदिष्ट करते समय एक बार अपने को सम्पूर्ण जगत का कर्ता धर्ता मान लेने के पश्चात अब पीछे जाने का प्रश्न कहा था ? तब जब वे ईश्वर थे तो उनकी चिंता स्वाभाविक थी। हा वे अपने लिए चिन्तित नही हो सकते थे पर अपने आश्रितो के लिए भक्तो के लिए अपने पचपाण्डवो के लिए ? उनके लिए तो उनकी चिंता स्वाभाविक थी। अपितु उनकी चिंता उनकी स्वय की ही चिंता थी। अर्जुन स उन्होने स्पष्ट नही कह दिया था कि सब कुछ छोडकर मेरी शरण म आ जाओ तो किसी भय से भयभीत होने की आवश्यकता हो नहा—सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज अह त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच। यह मा शुच (डरो नहो) क्या था ? भक्तो की चिंता को स्वय की चिंता बनाए बिना इस प्रतिज्ञा की रक्षा कैसे हो सकती थी ?

और प्रतिज्ञा की ही बात चली तो अपने आश्रिता के 'योग क्षेम' के वहन की प्रतिज्ञा भी तो वे स्पष्टत अर्जुन से कर ही चुके हैं—योग क्षेम वहाम्यहम।

तब उनकी चिन्ता स्वाभाविक थी। वे आश्वस्त हुए। नही वे किसी आत्म वचना अथवा अहकार का शिकार नही हो रहे थे। पाडव—उनके आश्रिता क योग-क्षेम का वहन उनका कर्तव्य।

श्रीकृष्ण की चिंता व्यर्थ नही थी। कौरव दो दिनो म कुरुक्षेत्र के समर म निरन्तर अपमानित हो रह थ। दसवें दिन के युद्ध म उनके प्रबल सहायक पितामह धराशायी हो गए थे। ग्यारहवें और बारहवें दिन के युद्ध मे सेनापति के मुकुट को धारण किए द्रोणाचाय मु दिखान योग्य नही रह थ।

अनेक गुप्तचरा न उन तक सचना पहुचाई थी कि बारहवें दिन के युद्ध के अन्त म दुर्योधन ने गुरु द्राण का घोर अपमान किया था। उसका कहना था कि वे युधिष्ठिर को बन्दी बनाने के अपन व्रत का पालन नही कर सके और पाडु पुत्रा की ममता म फसकर उन्हाने हाथ आये धमराज को मुक्त हो जान दिया।

इस अपमान से व्यथित हो गुरु द्रोण न कल किसी विशिष्ट पाडव के बध की भीष्म प्रतिज्ञा कर ली थी। पितामह ता फिर भी स्वजन थ। पाडवा के प्रति उनकी ममता थी अत उन्हाने एक भी पाडव को अपने हाथा नही मारा! सब कुछ हाते हुए भी द्रोण मात्र शस्त्र गुरु थे (वह भी कौरवा और पाडवा दोनो के) ऐसी स्थिति मे अगर वे अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर बठें तो इसम क्या आश्चय?

किस प्रमुख पाडव का कल गुरु द्रोण बध करेंगे? अपन प्रिय शिष्य अर्जुन का? हो सकता है। प्रयास वे अवश्य करेंगे। अपने पुरुषाथ को सिद्ध करना था अपने अपमान-बोध स मुक्त होना था तो अर्जुन की हत्या हा आवश्यक थी।

पर कृष्ण अर्जुन की हत्या होने देंगे? अर्जुन रूपी वट वक्ष धराशायी हो गया तो पाडव सेना और किस वक्ष की छाया म शरण ताकेगी? नही श्रीकृष्ण कल अर्जुन पर द्राण की छाया भी नही पडने देंगे। कर ल द्रोण और किसी पाडव की हत्या जो उनके हाथ म आये। भीमसेन को ही अभी स्वय की अपनी कई प्रतिज्ञाए पूरी करनी थी। वह कब उनके हाथ लगन लगा? और लगे भी तो उसकी तरह गदायुद्ध म निष्णात हैं क्या द्रोण? धनुष फेंक कर वह गदा लकर उनकी ओर लपके तो रण म पीठ दिखाने के सिवा उनके पास क्या बचेगा?

तब? तब जिसका प्राणबध होगा वही कल गुरु द्रोण के शरा का भोज्य बनेगा। हा वे भवितव्यता को नही टाल सकत। किसी के पूर्व जन्म का कोई कम अगर इस जन्म मे प्रकट होकर उस फल देना चाहे ता वे क्या कर सकते हैं? हा, भगवान होकर भी वे कुछ नही कर सकते। कम फल अटल है। उसे वे कुछ दिनो क लिए टाल भी दें तो भोगना उसी व्यक्ति को कभी न कभी पडेगा उसे।

तो जो होना हो सो हो। कल जिसे द्रोण रूपी प्रज्वलित अग्नि शिखा का शलभ बनना हो बने उनका कर्तव्य अर्जुन को बचा जाना है। कुछ भी हो द्रोण उसके धनुगुरु थे और यह कहना कठिन था कि सवश्रेष्ठ धनुर्धारी के रूप म विख्यात होने क बावजूद अर्जुन न इतनी प्रवीणता प्राप्त कर ली थी कि वह साक्षात धनुर्वेद के आचाय म आमने सामने लोहा ल सके।

अपनी योजना के अनुसार श्रीकृष्ण अर्जुन के रथ को सशप्तकों की ओर ले गए और वहां उन्हें घोर युद्ध मे उलझा दिया।

अर्जुन की अनुपस्थित पा उसके शस्त्र-गुरु ने एक ऐसे व्यूह की रचना की जिसमे घुसना और जिससे निकलना आसान नही था। चक्रव्यूह था यह। जैसे मकडा अपना चक्राकार जाल बुनकर उसमे किसी-न किसी कीडे को फसाकर उसकी हत्या कर बैठता है उसी तरह इस चक्रव्यूह म गुरु द्रोण किसी-न किसी पाडव की बलि लेने को प्रस्तुत थे। जयद्रथ, कर्ण दुर्योधन, दु शासन, शकुनि आदि सभी वीर इस चक्रव्यूह मे स्थान स्थान पर खडे थे। दुर्योधन पुत्र लक्ष्मण भी ठीक मध्य स्थान म अन्य वीरो म सुरक्षित जमा हुआ था।

युधिष्ठिर इस व्यूह को देखकर चिंतित हुए। उन्हे ज्ञात था कि अर्जुन के सिवा पाडव पक्ष का कोई वीर इस व्यूह के भेदन मे कुशल नहीं था। तभी उनकी चिंता को कुछ कम करते हुए सुभद्रा सुत अभिमन्यु प्रकट हुआ "चचाजी मैं चक्रव्यूह भेदन की क्रिया तो अपने पिता से पहले ही सीख चुका हू पर उससे बाहर निकलने की कला मुझे नही आती।

'अरे तुम अन्दर प्रवेश का मार्ग तो बनाओ, बाहर निकलने का मार्ग तो मैं अपनी गदा के जोर पर स्वय बना लूगा। भीमसेन थे यह। युद्ध म निरन्तर मिलती जाती सफलता ने उनम अतिरिक्त अहकार ही भर दिया था।

युधिष्ठिर की चिंता जाती रही। उन्होने अभिमन्यु को चक्रव्यूह भेदन का आदेश दे दिया। किसी विशाल भुजग की तरह ही सर सर मार्ग बनाता हुआ अभिमन्यु चक्रव्यूह मे प्रवेश कर गया। भीम अपने कथन के अनुसार बाहर जाने का मार्ग तो क्या बनाते, जयद्रथ ने उनको तथा उनके सभी सहायको को अपने दिव्यास्त्रो के प्रयोग से अन्दर घुसने तक नही दिया।

चक्र के मध्य मे द्रोण, कृप वृहदबल कृतवर्मा, दुर्योधन, दु शासन और कर्ण का तरह सात सात महारथी खडे थे। वे सब चारो ओर से उस किशोर पर आक्रमण करने लगे। बडी क्षिप्रता से वह उनके शरो को काटता गया। पर अपने को एकाकी पा उसका आत्मविश्वास जाता रहा। कोई भी पाडव वीर जयद्रथ के कारण अन्दर नही आ पाया था।

अभिमन्यु ने इसी मध्य दुर्योधन के पराक्रमी किन्तु किशोर पुत्र लक्ष्मण पर एक भाले का प्रयोग किया जो उसकी ग्रीवा मे लग तत्काल उसकी मृत्यु का कारण बना। दुर्योधन इस पर क्रोध से अन्धा हो आया और उसने सातो महारथियो को एक साथ ही किशोर अभिमन्यु पर आक्रमण का आदेश दे दिया। इस पर भी उस वीर का कुछ नही बिगडते देख सेनापति द्रोण को लगा कि आज भी वे अपनी प्रतिज्ञा नही पूरी कर पायेंगे तथा दुर्योधन के व्यग्य बाणो म उन्हें विद्ध होना पडेगा। उन्होने युद्ध के नियमो को तिलाजलि देते हुए कर्ण को आदेश दिया कि वह अभिमन्यु के अश्वो की हत्या कर उसे विरथ कर दे और उस पर पीछे से आक्रमण किया जाए क्योकि उसके वक्ष स्थल का कवच अभेद्य बन आया था।

यही हुआ। विरथ अभिमन्यु पर पीछे से प्रहार आरम्भ किया गया। उसका धनुष भी काट दिया गया और अन्त म टूटा रथ चक्र ले वह दु शासन के पुत्र से जा भिडा। सातो महारथी उस पर निरन्तर बाण-वर्षा करते रहे। बाणो की मार स

छलनी हो आये शरीर वाला अभिमन्यु भूमि पर गिर पडा और दुशासन-पुत्र ने उसके सिर पर कई बार गदा का प्रहार कर उसे चूर चूर कर दिया।

द्रोण की प्रतिज्ञा पूर्ण हुई और दुर्योधन आदि पाडव वीरों की प्रसन्नता की कोई सीमा न रही। पर अर्जुन को पुत्र वध का पता तभी लगा जब वह सशप्तको से युद्ध समाप्त कर शिविर में लौटे। अभिमन्यु की माता सुभद्रा और पत्नी उत्तरा का विलाप सुन उनका हृदय विदीर्ण हो गया और तत्काल उन्होंने प्रतिज्ञा की कि अभिमन्यु की मृत्यु के मूल कारण जयद्रथ की वे कल ही हत्या करेंगे और ऐसा नहीं कर पाये तो अग्नि प्रवेश कर अपने प्राणों को विसर्जित कर देंगे।

वह रात पाडवों के लिए जहा काल रात्रि बनकर आई वहीं कौरवों के शिविर में नृत्य गान और सोम रस के पान द्वारा महान उत्सव का आयोजन हुआ जिसमें जयद्रथ की बार बार जय जयकार की गई।

एक सौ दो

जो बिना सोचे ही कुछ कर बैठता है वह तो अविवेकी है और जो बिना परिणाम पर ध्यान दिए कोई निर्णय ले बैठे उसे आप कौन सी सज्ञा देंगे? बुद्धि और तर्क शक्ति से सम्पन्न कर प्रकृति ने मनुष्य को पृथ्वी पर भेजा है। अगर वह इन शक्तियों को अगूठा दिखा, भावनाओं में बहकर कोई मूर्खतापूर्ण प्रण कर ले तो क्या कहेंगे आप उसको? मूढ? यही न?

तो उस दृष्टि से अर्जुन मूढ से कम या अधिक कुछ नहीं था श्रीकृष्ण की दृष्टि में।

मित्र, सहायक परिजन शुभेच्छु अभिभावक क्या होते हैं व्यक्ति के? *अथवा क्या बनाता है वह उन्हें? इसीलिए तो कि आपत्ति की घडियों में उनसे* सात्वना ले और किसी महत्वपूर्ण निर्णय पर पहुचने के पूर्व उनका परामर्श? अगर वह ऐसा नहीं करे केवल अपनी ही बुद्धि चातुर्य अथवा बाहुबल के आधार पर कोई असभव सा निर्णय ले बैठे तो उसकी मन्दबुद्धि को कोसेंगे आप या उसके अहकार की प्रबलता को?

एक गलती से दूसरी गलती ठीक होती है क्या? ठीक है कि व्याधि का उपचार औषधि है किन्तु किसी वैद्य को रोगी को दी जाने वाली किसी कडवी औषधि का अपने ही ऊपर प्रयोग करते सुना या देखा गया है? अगर वह ऐसा करता है तो वह भला (वैद्य) है अथवा आत्मघाती अविवेकी मूर्ख?

क्या कहे श्रीकृष्ण अर्जुन को? वह तो उनका प्रिय ही नहीं अभिन्न है। उसे जो जो सज्ञाए दी जाय सब अपने पर ही तो आ बैठेंगी, जैसे एक पेड से उड़ पछी दूसरे पेड की शाखाओं पर जा बैठते है।

कल से ही आरम्भ हुई चिंता का कोई अन्त था ही नहीं। मेघ हीन आकाश की तरह निर्मल उनके मन के आकाश पर ये काले काले जलद शावक किधर से घिरने लगे हैं? किस तूफान किस झझा का सकेत दे रहे हैं ये? उनके मन की शाखाओं पर पीत और शान्त तोतों की पक्तियों के स्थान पर हिंसक बाजों ने

कम स्थान बना लिए हैं ?

कल की घटना म तो उनका भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हाथ था। हर बुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति अधिक स्थान पर अल्प का त्याग ही करने म बुद्धिमता समझता है। अभिमन्यु की बलि देकर भी अगर अजुन को बचाया जा सका तो इसे कोई कम बडी उपलब्धि नही माना जा सकता। अजुन की समाप्ति का अथ था महाभारत-युद्ध की समाप्ति और महाभारत-युद्ध की समाप्ति का अथ था पाडवो की अतहीन व्यथा-कथा का आरम्भ। सदा-सवदा के लिए अरण्य-सेवन। याचक और अभावग्रस्त एव दु स्वप्न-पूण तथा अभिशप्त जीवन।

पर आज ? आज क्या किया अजुन न ? अपनी मूढता का ही तो परिचय दिया। अपनी विवेकशून्यता का अथवा कह लें तो अपने अहकार का ही। क्या उसक पूव उस किसी स कोई परामश नही लेना था ? पत्नी द्रौपदी स नही तो अभिमन्यु-माता सुभद्रा स भी नही ? अनुज भीम से नही तो अग्रज युधिष्ठिर स भी नही ? और किसी से नही तो क्या अपने अभिन्न सखा उस कृष्ण से भी नही ? और अब कौन करेगा इस आसन्न विपत्ति स अजुन का निवारण ? कर लेगा वह इसे एकाकी ? है यह इतना आसान जितना भावनाओ स आविष्ट हो उसने समझा था इसे ? है इतना आसान क्या जयद्रथ का बध विशेषकर तब जब अपनी अहम्मन्यता का घोर परिचय देते हुए उसने अपनी इस प्रतिज्ञा को जानबूझकर कौरव शिविर तक भी पहुचवा दिया है ? क्या था इसक पीछे ? कौन-सी भावना ? यही न कि धनुर्धारियो म श्रेष्ठ अजुन अपने पुत्र की हत्या का या नही ले सकता। कि उसका प्रतिशोध लेकर रहगा वह ? यहा तक तो ठीक पर प्रतिज्ञा के दूसरे भाग को प्रसारित करने की मूखता का क्या उत्तर था ? अगर जयद्रथ-बध मे सूर्यास्त तक सफल नही हुआ तो स्वय अग्नि प्रवेश कर जाऊगा।'

अब होने देंगे द्रोण कृपाचाय कण, शल्य, कृतवर्मा, दु शासन, दुर्योधन और पाशो की चालो म ही नही युद्ध की चालो म भी सिद्धहस्त वह पाखडी शकुनि कल जयद्रथ का बध ? उन्हे मनमाना वरदान मिल गया कि नहीं ? अप्रत्याशित और अयाचित। अब जल मरे अजुन अपने ही अहकार की अग्नि मे। अब किस दिव्यास्त्र की आवश्यकता है उसकी पराजय के लिए ? अब तो कवल सूर्यास्त तक किसी तरह जयद्रथ की रक्षा कर लेनी थी, इसके पश्चात उधर सूय के अस्त होने के साथ साथ इस अहकारी, आर्यावत के सवश्रेष्ठ धनुर्धारी अजुन का भी अन्त सुनिश्चित था।

पहचन भी देंगे य महारथी पूरे दिन के श्रम के बावजूद जयद्रथ के पास भी अजुन-स्यन्दन को भले ही उसका सारथ्य वे स्वय ही क्या नही कर रहे हो। जयद्रथ को व्यूह के किसी कोने म असख्य वीरो से रक्षित कर उस तक पहुचन क माग का ये महान योद्धा पग-पग पर अवरुद्ध करते रहगे या नही ?

क्या बोलें वह अजुन स ? वह तो बोल बठगा यह प्रतिज्ञा मैंने अपनी शक्ति के आधार पर थोडे की है ? हमारे सरक्षक तो तुम हो और आगे की बात भी अब तुम्हीं जानो। उसने मेरा विराट रूप जो देखा है ? मुझे भगवान जो मान बठा है ? तो मैं क्या उसके रथ पर सदा नारायण ही बनकर बठा रहता हू ? नर क रूप म उसके अश्वो की वल्गाओ को सहेजता हू या नारायण के रूप में ? मेरी यह ईश्वरीय शक्ति या जो भी कुछ हो सदा दाव पर लगाने के लिए ही है क्या ? और है भी तो

एक बार पूछने म भी गया वह मुझसे ? माना जयद्रथ का वध वही करेगा—आर्यावत का वह सवश्रेष्ठ धनुर्नाना ? पर उसके स्यन्दन को जयद्रथ तक पहुचाने का दुष्कर ही नही प्राय असम्भव काय ? झुझलाए थे कृष्ण मन-ही मन। कर ले कल अजुन ही अपने रथ का सारथ्य। पहुचा द उन्ह जयद्रथ क पास। एक बार पुन वे अपनी प्रतिना को भग करेंगे और सुदशन चक्र से जयद्रथ की गदन उतार फेंकेंगे। पर है अजुन म यह सामथ्य ?

कल जयद्रथ तक पहुचना किसी प्रकार सम्भव नही था और तब अजुन क प्राणो को बचान का भी कोई माग नही था। यही सोचत सोचत श्रीकृष्ण रात भर अपने शिविर क पयक पर करवटें बदलत रहे। नीद को नही आना था नही आई।

पर दूसरे दिन क प्रात को आने म कौन रोक सकता था ? नित्य की तरह सूर्यागमन क पूव उनके आसन्न आगमन की सूचना क्षितिज की लालिमा द गई। साथ ही दोनो पक्षो के युद्ध वाद्य गज उठ। शख भेरी नगाडे, गोमुख आदि के स्वर से दिशाए गुजित हो उठी। कौरव पक्ष की ओर से य स्वर कुछ अधिक ही ऊचे उठ रहे थे। पाडव-पक्ष एक तरह से पक्षाघात ग्रस्त रोगी की तरह निस्पद ही पडा था। सनिको की प्रस्तुति के लिए रण वाद्य अवश्य बजा दिए गए थ पर न तो उनके वादको म कोई उत्साह था न वाद्य-यन्त्रो के स्वर म कोई दम।

चौदहवें दिन का युद्ध आरम्भ हो गया। रणागण म पहुचत ही श्रीकृष्ण ने चारो ओर दृष्टि दौडाई पर जयद्रथ का कही पता नही था। किस ओर ल चलें वह रथ को ? व्यूह क मुह पर गुरु द्रोण आज स्वय विद्यमान थ। उनसे भिडें तो एक क्या दो दो सूर्यास्त देखते देखत निकल जाय। दूसरी ओर कण दुर्योधन, दुशासन शल्य शकुनि आदि माग को अवरुद्ध कर खडे थ। अवश्य ही जयद्रथ इधर ही कही होगा। केवल द्रोण के भरोसे शकालु दुर्योधन जयद्रथ को छोडनेवाला नही था। जो भी हो अजुन उनका परमप्रिय शिष्य था। उसे वे अपने प्राणो को अग्नि म विसर्जित करत कसे देख सकते थ ?

विवश जनादन कई-कई महारथियो से लोहा लेन के लिए अजुन क रथ को उस तरफ ही मोड ले गए। कूल की ओर भागती हुई ज्वार आदोलित सागर की लहरो की तरह महारथियो के विष बुझे शर उनके स्यन्दन की दिशा म बढे। पूरा रथ एक बार बाणो के बादल म ढक ही गया जसे पूणग्रास के समय चन्द्रमा कही दिखाई नही देता, उसी तरह बाणो की उस वर्षा म अजुन का स्यन्दन विलुप्त ही हो गया। पर अजुन क आज दूसरे रूप का ही दशन कर रहे थे जनादन ! पुत्र शोक स पीडित पाथ आज पहले वाला धनजय कहा था ? वह तो धधकता हुआ अग्निपुज बन आया था। उसके गाडीव से शर निकल रहे थे या प्रलय के मघो से जलधार ? या असख्य बाबियो म असख्य अगणित फणिधर फुफ्कारत और विषाग्नि का वमन करते ? सामान्य शरो के अलावा अनेक दिव्यास्त्रो का प्रयोग कर वह युद्ध कातर सा ही प्रतीत होने वाला पाथ अन्तत इस भीषण मोर्चा बन्दी को तोडन मे समथ ही हो गया और उनके एक इगित पर ही रथ के अश्व पवन वेग से उड चले उस ओर जिस ओर जयद्रथ के छिपे होने की आशका थी।

पर कब तक ? धनुर्धारियो ने फिर बगल मे आकर अजुन के रथ क पथ को अवरुद्ध कर दिया। इस बार कण ने अद्भुत पराक्रम दिखलाया और प्रहर भर स अधिक अजुन को रोके रखा। अन्तत पुन किसी तरह पथ बनाकर श्रीकृष्ण ने

स्यन्दन का अग्र बनाया। रथ की गति निस्सन्देह धीमी हो गई थी। बादल और सूर्य का खेल जारी था। कभी सूर्य बिम्ब की तरह उनका रथ वाणों के मेघ में छिप जाता तो कभी वह उन्हें चीरता हुआ बाहर आ जाता।

उधर भगवान भास्कर भी अपनी सामान्य गति से अस्ताचल की ओर सरकते जा रहे थे। उसके साथ ही कौरव-पक्ष की प्रसन्नता और पांडव पक्ष की अप्रसन्नता में वृद्धि होती जा रही थी।

नहीं, अब नहीं। अब शायद ही संभव था सूर्यास्त के पूर्व जयद्रथ की एक झलक भी पाना। अर्जुन भी श्रान्त हो आया था। उसका गांडीव भी असंतुलित हो रहा था। उसमें छूटे शर निरन्तर लक्ष्यच्युत हो रहे थे। वेग से भागते और अवरोध पर अवरोध पार करते रथाश्व भी थक कर चूर हो गए थे। वे अवश्य ही क्षुधा और पिपासा से भी व्याकुल हो आये थे। पर श्रीकृष्ण के पास इतना समय भी नहीं था कि वे अर्जुन को रथ से नीचे उतर वाणों से धरती की छाती को फोड कर जलधार निकालने का कहें। उनकी गति अत्यन्त ही मन्द पड गई। उधर सूरज भी प्राय पश्चिमी क्षितिज के पास पहुंच चुके थे। कौरव पक्ष में प्रसन्नता की लहर व्याप्त हो गई थी। पाण्डव प्राय पराजय स्वीकार कर चुका था। अब थोडी ही देर में भगवान अंशुमाली की अंतिम किरण भी अस्ताचलगामी होने वाली थी। पांडव-पक्ष के वीर श्रीकृष्ण के इंगित पर चिता सजाने के लिए काष्ठादि के प्रबंध में लग गए थे।

उधर अर्जुन इन सबसे अनभिज्ञ गांडीव से उलटे सीधे शर छोडे जा रहा था। पर अकस्मात यह क्या हो गया? सूर्य जो धीरे धीरे अस्ताचल की तरफ बढ़ रहे थे एक व-एक विलुप्त कैसे हो गए? उस ओर तो किसी का ध्यान ही नहीं गया।

तो सूर्यास्त हो गया! शायद सबका ध्यान युद्ध पर ही केन्द्रित था, अत दो क्षण पूर्व ही सूर्य की अस्ताचल के पीछे सरक जाने की बात किसी को अस्वाभाविक नहीं लगी।

'अर्जुन, शीघ्र चितारोहण करो। सूर्य बिम्ब डूब गया।' चिल्लाते हुए सभी कौरव सेनापतियों ने अर्जुन को घेर लिया। चिता तो पहले ही प्रस्तुत हो गई थी। पर श्रीकृष्ण की आखें उन कौरव-वीरों में व्यग्रता से किसी एक चेहरे को ढूंढ रही थी। 'अर्जुन एक वीर की तरह गांडीव व शर पूर्ण तूणीर के साथ ही चितारोहण करो।' श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आदेश दिया और अर्जुन आज्ञा का पालन करने हेतु रथ से उतरने को प्रस्तुत हुआ। उसके मुख पर कोई रेखा नहीं थी न विषाद की, न पश्चात्ताप की। गीता का उपदेश जो सुन चुका था वह। जीवन मृत्यु के मध्य के भेद को वह भलीभांति समझ चुका था। उसने अस्तगत हुए सूर्य को सिर झुकाकर नमन निवेदित किया। इधर चिता को किसी ने मशाल से प्रज्वलित कर दिया था। अब कौरवों को अर्जुन के अन्त के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रहा।

इसी समय श्रीकृष्ण की चारों ओर घूमती आखों में एक चमक उभरी। वहां, वहां कर्ण-दुर्योधन आदि सबके पीछे मुख को अपने उत्तरीय में लपेटे और आखों से अर्जुन के अन्त के दृश्य को देखने का प्रयास करता हुआ जो व्यक्ति बार-बार गर्दन उचका रहा था, वह जयद्रथ ही तो था। उसी समय सूर्य जैसे किसी संग्राम से मुक्त हुआ। उसकी अन्तिम किन्तु सुनहली किरणें कुरुक्षेत्र के मैदान में एकत्रित सभी वीरों पर जैसे गुलाल सा छिडक गई।

"अभी सूर्यास्त नही हुआ अजुन ! गाडीव तुम्हार हाथ म ही है। वह रहा जयद्रथ।' श्रीकृष्ण न जयद्रथ की दिशा मे उगली बढाई। अजुन ने क्षण भर म गाडीव पर पाशुपतास्त्र का सधान किया और जयद्रथ की ग्रावा का लक्ष्य साध उम छोड दिया। दूसरे ही क्षण जयद्रथ की ग्रीवा को लिए पाशुपतास्त्र आकाश म उड चला।

यह कसे हो गया ? यह अघटित कसे घटा ? सब आश्चय कर रहे थे। पर प्रसन्न मन पाथ क समक्ष श्रीकृष्ण ने उसका भेद खोला तुम्हारी रक्षा के लिए मुझे बडे श्रम म अर्जित साधना का पुन एक बार दुरुपयोग करना पडा। अपने सकल्प बल म पश्चिमी क्षितिज पर प्राय पहुच चुके सूय का लाल पील मेघ खण्डा स ढकना पडा और सर्यास्त का कृत्रिम दश्य उपस्थित करना पडा।

तुम धय हो सखा ! आखिर तुमने अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति करके दिखा ही दी।' अजुन ने सिर झुका कर विनीत भाव से कहा।

अपनी अजुन न मुसकराकर कहा याद करा अपनी उस दिन की गीता की पक्ति को—याग क्षेम वहाम्यम। तुम्ह तो मेर योग क्षेम का वहन करना ही था।

'ठीक कह रहे हो तुम, श्रीकृष्ण भी मुसकरा कर बोल 'पर आगे मे बिना सोचे समझे मुझे एसी परीक्षा म उत्तीण होन का बाध्य नही करना।

एक सौ तीन

नियति अपनी निर्धारित योजनाआ को पूण करने के सारे यत्न पूव मे ही कर लती है। घटना क्रमो को अपने अनुकूल मोड दे वह असम्भव को भी सम्भव करने को तत्पर होकर केवल उस घडी की प्रतीक्षा करती है जिसे वह अपन लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निर्धारित किये रहती है।

क्या कभी मनुष्य इससे कुछ शिक्षा लगा ? वह भी अपनी योजनाआ को एक निर्धारित कायक्रम क अतगत क्रियान्वित करता हुआ अपने जीवन उद्देश्या की प्राप्ति का प्रयास करेगा, अथवा वह सदा बिना पतवार के जल पोत की तरह समय की खूखार लहरो पर किसी विवश तिनका सा डोलता हुआ एक दिन यो ही अनचीन्हा, अनदेखा महत्वहीन और पहचान रहित-सा समय रूपी समुद्र क गभ म जा छिपगा ? भिन्न भिन्न लोगा न इस सत्य को समझा है समय क महत्त्व का जाना है योजनाबद्ध रूप मे काय किया है वह समय के सागर पर भी पदचिह्न छोड गए हैं असभव को भी सभव कर गय हैं पर जिन लोगा न समय को मात्र समय मानकर उसे जीवन का पर्याय नही माना है उनके इस विश्व म आने जाने का लेखा तक भी समय न नही रखा है। अध्यवसायियो के साथ सदा मत्य रहने वाला समय आलस्य प्रेमियो के लिए सदा मिथ्य सिद्ध हुआ है।

खर अभी हम नियति की बात कर रह थे। वह राधेय कण के पीछे हाथ धोकर पडी हुई थी। उसने इसकी हत्या को पूव निर्धारित कर छोडा था और अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे योजनाबद्ध रूप मे नि सहाय और निबल

दिए जा रही थी।

उसने उसके कवच और कुण्डल का दान एक ब्राह्मण के हाथों करा दिया था। कहते हैं वह ब्राह्मण छद्मवेषधारी इन्द्र था। जो हो, किसी ने इन्द्र को देखा या न देखा हो पर याचक ब्राह्मणों को सभी जानते हैं। एक बार कर्ण के शरीर से कवच कुंडल गया तो गया अब वह अपनी अरक्षित देह को ही कवच के रूप में प्रयुक्त करने वाला था।

नियति ने उसे दो-दो श्राप दिला रखे थे जिनमें एक के द्वारा युद्ध के निर्णायक दौर में उसके एक रथ चक्र को पृथ्वी में ऐसा फंसना था कि उसे निकाले नहीं निकलना था। दूसरे श्राप द्वारा उसे असल समय पर अत्यन्त कठिन तप से अर्जित और उसके एक मात्र समतुल्य शत्रु और महारथ अर्जुन के वध में समर्थ ब्रह्मास्त्र को ही विस्मृत हो जाना था।

फिर भी उसके पास एक और अमोघ शक्ति थी जिससे वह अर्जुन का स्वर्ग लोक का मार्ग खिला सकता था। वह शक्ति उसे इन्द्र की कृपा से प्राप्त हुई थी। देवताओं को आप दखें-न-देखें, पर आधुनिक पाठक को भी इतनी स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती कि वह उनके अस्तित्व को ही नकार दे और उनकी कृपा अकृपा को कुछेक कट्टरपंथियों की कपोल कल्पना मान। दैवी शक्तियों के अस्तित्व को चुनौती केवल इसलिए नहीं दी जा सकती कि हम उन्हें नहीं देखते। न जाने इन पंक्तियों को लेखक को प्राय सभी द्वारा अनुभूत इस सत्य को कब तक अपनी कई कृतियों में उद्धृत करने को बाध्य होता रहना पड़ेगा कि 'नहीं दिखना ही नहीं होना नहीं होता।'

खैर अभी हम नियति की बात कर रहे थे। उसने कर्ण को इस शक्ति से भी रहित करने का मन बना लिया था, तभी तो उसने बहुत पूर्व ही पांडवों को घटोत्कच नामक राक्षस (भीम-पुत्र) प्रदान किया था और आज चौदहवें दिन के युद्ध में उसे पराक्रम की पराकाष्ठा पर पहुंचाया था।

चौदहवें दिन का यह युद्ध नित्य की भांति सूर्यास्त के साथ ही समाप्त नहीं हुआ था। मानो पक्ष किसी निर्णायक स्थिति पर पहुंचने के लिए इतने व्यग्र हो गए थे कि योद्धाओं के अत्यन्त श्रान्त-क्लान्त हो जाने के पश्चात भी इसे रात्रि में भी खींच लिया गया था। यह नियति का एक नूतन विधान था। रात्रि में राक्षसों की शक्ति प्रचण्डतम हो जाती है तभी उन्हें निशाचर की संज्ञा दी जाती है। राक्षस नामक यह जनजाति जिसमें घटोत्कच उत्पन्न हुआ था निशाचर ही थी।

रात्रि के युद्ध के लिए दोनों ओर से बड़ी-बड़ी मशालों और उनके वाहकों का प्रबन्ध कर दिया गया था।

घटोत्कच यों तो नित्य अपने पराक्रम का प्रदर्शन बड़े प्रबल रूप में करता था, पर आज की तो बात ही कुछ और थी। रात्रि का रणांगण तो उसका अपना ही साम्राज्य था।

उस काल रात्रि बन आई रात्रि में घटोत्कच ने कैसा और कितना पराक्रम दिखाया उसका वर्णन कुछेक पृष्ठों में संभव नहीं है।

महाभारत का कथन है कि वह राक्षस राज विचित्र प्रकार के एक भयानक रथ में चढ़कर समरांगण में उतरा था। उसका विशाल रथ शस्त्रास्त्रों से खचाखच भरा हुआ तो था ही वह **पूर्णतया** काले लोहे से बना और काले-रीछ के चमड़े

अभी सूयास्त नही हुआ अजुन ! गाडीव तुम्हारे हाथ म ही है। वह रहा जयद्रथ। श्रीकृष्ण न जयद्रथ की दिशा मे उगली बढाई। अजुन न क्षण भर म गाडीव पर पाशुपतास्त्र का सधान किया और जयद्रथ की ग्रीवा का लक्ष्य साध उम छोड दिया। दूसरे ही क्षण जयद्रथ की ग्रीवा को लिए पाशुपतास्त्र आकाश मे उड चला।

यह कसे हो गया ? यह अघटित कस घटा ? सब आश्चय कर रहे थे। पर प्रसन मन पाथ क समक्ष श्रीकृष्ण ने उसका भेद खोला 'तुम्हारी रक्षा के लिए मुझे बडे श्रम म अजित साधना का पुन एक बार दुरुपयोग करना पडा। अपने सकल्प बल से पश्चिमी क्षितिज पर प्राय पहुच चुके सूय का लाल-पीले मेघ खण्डा स ढकना पडा और सूर्यास्त का कृत्रिम दृश्य उपस्थित करना पडा।

तुम धन्य हो सखा ! आखिर तुमन अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति करके दिखा ही दी। अजुन न सिर झुका कर विनीत भाव स कहा।

अपनी अजुन ने मुसकराकर कहा 'याद करो, अपनी उस दिन की गीता की पक्ति को—योग क्षेम वहाम्यम। तुम्ह तो मर योग क्षेम का वहन करना ही था।

'ठीक कह रहे हो तुम," श्रीकृष्ण भी मुसकरा कर बोल, "पर आग म बिना सोचे समझे मुझे एसी परीक्षा म उत्तीण होन को बाध्य नहा करना।

एक सौ तीन

नियति अपनी निर्धारित योजनाओ को पूण करन के सारे यत्न पूव म ही कर लता है। घटना क्रमो को अपने अनुकूल मोड दे वह असम्भव को भी सम्भव करने को तत्पर होकर केवल उस घडी की प्रतीक्षा करती है जिस वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निर्धारित किय रहती है।

क्या कभी मनुष्य इससे कुछ शिक्षा लगा ? वह भी अपनी याजनाआ को एक निर्धारित कायक्रम के अतगत क्रियान्वित करता हुआ अपने जीवन उद्देश्या की प्राप्ति का प्रयास करेगा अथवा वह सदा बिना पतवार के जल-पात की तरह समय की खूख्वार लहरा पर किसी विवश तिनका सा डोलता हुआ एव दिन यो ही अनचीन्हा अनदखा महत्वहीन और पहचान रहित-सा समय रूपी समुद्र क गभ म जा छिपेगा ? भिन भिन लोगा न इस सत्य का समझा है समय क महत्त्व को जाना है, योजनाबद्ध रूप म काय किया है, वह समय क सागर पर भी पगचिह्न छोड गए हैं असभव को भी सभव कर गये हैं पर जिन लोगा न समय को मात्र समय मानकर उसे जीवन का पर्याय नही माना है उनक इस विश्व म आन जाने का लखा तक भी समय न नही रखा है। अध्यवसायिया के साथ सदा सत्य रहने वाला समय आलस्य प्रेमिया क लिए सदा निन्य सिद्ध हुआ है।

खर अभी हम नियति की बात कर रह थ। वह राधेय कण के पाछ हाथ धोकर पडी हुई थी। उसन इसकी हत्या का पूव निर्धारित कर छोडा था और अपन इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे याजनाबद्ध रूप म नि सहाय और निरन्त

किए जा रही थी।

उसने उसके कवच और कुंडल का दान एक ब्राह्मण के हाथों करा दिया था। कहते हैं वह ब्राह्मण छद्मवेषधारी इन्द्र था। जो हो किसी ने इन्द्र को देखा या न देखा हो पर याचक ब्राह्मणों को सभी जानते हैं। एक बार कर्ण के शरीर से कवच कुंडल गया तो गया, अब वह अपनी अरक्षित देह को ही कवच के रूप में प्रयुक्त करने वाला था।

नियति ने उसे दो-दो शाप दिला रखे थे जिनमें एक के द्वारा युद्ध के निर्णायक दौर में उसके एक रथ चक्र को पृथ्वी में ऐसा फँसना था कि उसे निकाले नहीं निकलना था। दूसरे शाप द्वारा उसे असल समय पर अत्यन्त कठिन तप से अर्जित और उसके एक मात्र समतुल्य शत्रु और संहारक अर्जुन के वध में समर्थ ब्रह्मास्त्र को ही विस्मृत हो जाना था।

फिर भी उसके पास एक और अमोघ शक्ति थी जिससे वह अर्जुन को स्वर्ग लोक का मार्ग दिखला सकता था। वह शक्ति उसे इन्द्र की कृपा से प्राप्त हुई थी। देवताओं को आप दर्खें-न-देखें, पर आधुनिक पाठक को भी इतनी स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती कि वह उनके अस्तित्व को ही नकार दे और उनकी कृपा-अकृपा को कुछेक कट्टरपंथियों की कपोल कल्पना माने। दैवी शक्तियों के अस्तित्व को चुनौती केवल इसलिए नहीं दी जा सकती कि हम उन्हें नहीं देखते। न जाने इन पंक्तियों के लेखक को प्राय सभी द्वारा अनुभूत इस सत्य को कब तक अपनी कई कृतियों से उद्धृत करने को बाध्य होता रहना पड़ेगा कि "नहीं दिखना ही नहीं होना नहीं होता।'

खैर, अभी हम नियति की बात कर रहे थे। उसने कर्ण को इस शक्ति से भी रहित करने का मन बना लिया था तभी तो उसने बहुत पूर्व ही पांडवों को घटोत्कच नामक राक्षस (भीम पुत्र) प्रदान किया था और आज चौदहवें दिन के युद्ध में उस पराक्रम की पराकाष्ठा पर पहुँचाया था।

चौदहवें दिन का यह युद्ध नित्य की भाँति सूर्यास्त के साथ ही समाप्त नहीं हुआ था। दोनों पक्ष किसी निर्णायक स्थिति पर पहुँचने के लिए इतने व्यग्र हो गए थे कि योद्धाओं के अत्यन्त श्रान्त क्लान्त हो जाने के पश्चात भी इसे रात्रि में भी खींच लिया गया था। यह नियति का एक नूतन विधान था। रात्रि में राक्षसों की शक्ति प्रचंडतम हो जाती है, तभी उन्हें निशाचर की संज्ञा दी जाती है। राक्षस नामक यह जनजाति जिसमें घटोत्कच उत्पन्न हुआ था निशाचर ही थी।

रात्रि के युद्ध के लिए दोनों ओर से बड़ी-बड़ी मसालों और उनके वाहकों का प्रबंध कर दिया गया था।

घटोत्कच या तो नित्य अपने पराक्रम का प्रदर्शन बड़े प्रखर रूप में करता था पर आज की तो बात ही कुछ और थी। रात्रि का रणांगण तो उसका अपना ही साम्राज्य था।

उस रात रात्रि बन आई रात्रि में घटोत्कच ने कैसा और कितना पराक्रम दिखाया उसका वर्णन कुछेक पृष्ठों में संभव नहीं है।

महाभारत का कथन है कि वह राक्षस राज विचित्र प्रकार के एवं भयानक रथ में चढ़कर समरांगण में उतरा था। उसका विशाल रथ शस्त्रास्त्रों से खचाखच भरा हुआ तो था ही, वह पूर्णतया काले लोहे से बना और काले रीछ के चमड़े

से ही मढा हुआ था।

उस रथ मे हाथी के आकार वाले पशु जुते थे पर वे हाथी थे न घोडे। हो सकता है महाभारत काल के वनो म ऐसे अदभुत पशु हुआ करते हो पर अब तो शायद वे अफ्रीका के वनो म भी नही मिलते।

उस रात्रि-युद्ध म घटोत्कच ने प्रचड पराक्रम दिखाया और लगा कि सारी कौरव-सेना उसी रात समाप्त हो जायगी।

रुधिर भीगी पताका पर एक भयानक गद्ध वठाये और मानवीय आतो की माला धारण किए हुए उस दुर्दात दत्य के दशन-मात्र-से ही बडे-बडे योद्धाओ के पाव उखड गए और वे रण भूमि छोडकर भाग खडे हुए। उसके द्वारा बहाइ शूल, शर पट्टिश चक्र भुडि पाश तोमर आदि अस्त्रशस्त्रो की भयानक वगवती और प्रचड धारा को झेलने का साहस कौरव-सेना म किसी को नही रहा। यहा तक कि कण आदि के सदृश महाधनुर्धारी भी किसी भयानक झझा मे पडे वक्ष की तरह उखड गए और सभी जिस दिशा मे भाग मिला उसी दिशा म भाग चले।

अपनी विशाल राक्षस वाहिनी के साथ घोर गजना करता हुआ भीमपुत्र घटोत्कच समरागण म एक मदमत्त योद्धा की तरह विचरण करने लगा और कौरव-सेना के भागते गिरते सनिको को मच्छरो मक्खियो की तरह पकड-पकड अपने शरीर से मसलने लगा। उसकी एक अक्षौहिणी सेना के राक्षस-सनिक हाथ मे लिए पेडो, वृक्ष शाखाओ चट्टानो, हड्डियो और भयानक मूसलो आदि से कौरवो को त्रस्त और भयाक्रान्त करने लगे। कौरव-सेना क्षण मात्र म पूणतया अव्यवस्थित हो गई और दुर्योधन को उस ललकार कर व्यवस्थित करने म पर्याप्त समय लगा।

अन्तत जो योद्धा घटोत्कच के निबाध प्रवाह को नियन्त्रित करने मे सफल हुआ वह था द्रोण पुत्र अश्वत्थामा।

अश्वत्थामा अपने साथ रथियो गजारोहियो अश्वारोहियो और पदातियो की एक भारी सेना ले घटोत्कच के सामने किसी नदी की धार को रोककर खडे पवत की तरह आ अडा। महान धनुधर अश्वत्थामा बाणो की अनवरत वर्षा से घटोत्कच और उसके सनिको द्वारा प्रयुक्त अस्त्र शस्त्रो वक्ष और शिला-खडो को चूण चूण करने लगा।

अश्वत्थामा रूपी इस आकस्मिक व्यवधान को घटोत्कच ने पसन्द नही किया और क्रोध से भरकर उसने अपने प्रहार को और प्रखर कर दिया। उसने गुरु पुत्र और उसके सनिको को अस्त व्यस्त कर डाला।

अश्वत्थामा ने क्रोध म भरकर घटोत्कच के पुत्र अजनपर्वा का वध कर दिया।

पुत्र-वध म दु खी और क्रोधाभिभूत घटोत्कच ने गुरु पुत्र पर बाणो की ऐसी घोर वर्षा आरम्भ की कि वह रथ सहित बाणो म ऐसा ढक गया जसे प्रलय मेघो मे आकाश-मडल आच्छादित हो जाता है। पर अश्वत्थामा ने दिव्यास्त्रो के प्रयोग से अपने और अपने रथ को क्षण भर मे मुक्त करा लिया।

राक्षस पुत्र घटोत्कच ने इसके पश्चात मायायुद्ध आरम्भ किया और एक ऐसे पवत को ही समरागण के बीचो-बीच निर्मित कर दिया जिसम, परशु परिघ, तलवार, त्रिशूल, शर सभी अस्त्र इसी तरह बहने लगे जसे पवतो के निझरो से

जल की अनन्त धारें बहती है।

घटोत्कच की इस माया को तथा और ऐसी कई मायाओ को अश्वत्थामा ने उसी तरह अपने मन्त्र पूत शरो के प्रहार से काट डाला जैसे मध्याह्न सूर्य की प्रखर किरणें बादलो की पर्त-दर-पर्त को काटकर भूमि पर फैल जाती हैं।

घटोत्कच थोडा हतप्रभ हुआ और वह अपनी सेना के पुनर्संयोजन म लग गया।

दुर्योधन को भय हुआ कि कही अर्जुन घटो कच की सहायता के लिए नही आ जुट, अत उसने मामा शकुनि से अनुरोध किया कि वह साठ हजार हाथियो की सेना लेकर और कर्ण, कृपाचार्य, कृतवर्मा, नील, वृषसेन, दु शासन, उरक्रम, पुरुमित्र, तथा पुरजय, दृढरथ, शल्य, इन्द्रसेन, जयवर्मा, पुरु आदि के साथ अर्जुन पर आक्रमण कर दे।

शकुनि ने ऐसा ही किया और उसने प्राय सभी पाडव-योद्धाओ को एक नया मोर्चा खोलकर परेशान कर दिया।

इधर अश्वत्थामा ने जो पराक्रम दिखाया वह महाभारत-युद्ध के अद्भुत आख्यानो मे एक है। इस महान् धनुर्धारी ने इतने राक्षसो का वध किया कि समरागण मे रक्त-मज्जा और मास की नदी ही वह चली जिसमे उनके रुड-मुड, कटे हाथ-पाव, अस्त्र-शस्त्र उसी तरह प्रवाहित हो रहे थे जैसे बाढ-ग्रस्त नदी मे मूल-हीन वृक्ष, घास पत्ते, छप्पर आदि बहते दृष्टिगोचर होते हैं।

घटोत्कच अपने बधुओ के इस घोर सहार से बहुत क्रोधित हुआ और उसन कौरव-सेना का ऐसा विनाश आरम्भ किया कि दुर्योधन भय से भर आया। उसे लगा अब कौरवो मे कोई नही बचने का।

ऐसी स्थिति मे उसने कर्ण को घटोत्कच का सामना करने के लिए भिडा दिया। कर्ण भी घटोत्कच के वेग को सभालने मे असफल रहा। गुरु-पुत्र अश्वत्थामा लम्बे युद्ध मे थक गया था। कर्ण को एकाकी घटोत्कच का सामना करना पडा। उसने बाणो की बौछार से बहुत देर तक घटोत्कच को पराक्रम-हीन करने का प्रयास किया पर उसमे वह सफल नही हुआ।

घटोत्कच, रात्रि के और गहरी होने से कौरवो की सेना को जगली घासो की तरह जलाकर भस्म करने लगा। दुर्योधन को लगा, उसे कर्ण को पहले ही बुलाना था। अब एक ही उपाय था। घटोत्कच की हत्या।

दुर्योधन चिल्लाकर बोला,"अगराज, इस राक्षस का वध कर वरना आज की रात ही यह सारी कौरव-सेना को समाप्त कर दगा।"

"पर कैसे? मैं तो पूरा प्रयास कर रहा हू पर उसका बल बढता ही जा रहा है।"

"तुम उस शक्ति का प्रयोग करो जिसे तुमने इन्द्र से प्राप्त किया है।" दुर्योधन चिल्लाकर बोला।

"पर दुर्योधन!" *कर्ण कहना* चाहता था कि उसे तो उसने अर्जुन के वध के लिए सुरक्षित रख छोडा है।

"कुछ नही," दुर्योधन ने जैसे आज्ञा दी, "हम लोग जीवित रहे तो अर्जुन को भी देख लेंगे। हमी नही रहे तो तुम्हारी शक्ति रही या नही रही।"

कर्ण विवश हो आया। उसने अपने दुर्भाग्य को कोसा और शक्ति को अभि-

मंत्रित कर घटोत्कच पर छोड दिया। जमीन पर गिरते-गिरते भी घटोत्कच कई कौरव-वीरो को यमलोक पहुचा गया।

घटोत्कच की हत्या के पश्चात् शर्त के आधार पर शक्ति इन्द्र के पास लौट गई।

नियति ने कर्ण के हाथो से उसकी रक्षा और अर्जुन की हत्या का अन्तिम साधन भी निर्ममतापूर्वक अपहृत कर लिया।

एक सौ चार

जीवन म परीक्षा की घडिया आती ही रहती हैं न? शायद पग-पग पर कोई छोटी बडी परीक्षा हमारी प्रतीक्षा ही करती रहती है। अब हम उनमे किसमे सफल और किसमे असफल होते है, यह हमारे बुद्धि-बल के साथ-साथ हमारे साहस और कार्य-चातुर्य पर भी आश्रित होता है। इसीलिए अर्जुन को उपदिष्ट करते समय श्रीकृष्ण को योग की एक नई परिभाषा गढनी पडी थी और कहना पडा था, कार्य का कौशल मे निर्वाह ही योग है—योग कर्मसु कौशलम्।

पर श्रीकृष्ण आज अर्जुन की परीक्षा किसी और रूप मे लेना चाहते थे। आखिर गीता का उपदेश दिया था उन्होंने उसे और इस उपदेश को पूर्णतया ग्रहण कर लेने की बात कर वह युद्ध मे प्रवृत्त भी हुआ था। पर इससे उसकी परीक्षा पूर्ण नही हो जाती थी।

अर्जुन ने आरम्भ म ही रथ-पार्श्व मे बैठते हुए कहा था कि सब कुछ तो सभव है पर गुरु-हत्या? नही यह तो जघन्यतम अपराध है। गुरुओ की हत्या करना तो रक्त सने अन्न के भक्षण के सदृश है। उन्हे जीवित छोडकर भिक्षान्न पर भी निर्भर होना पडे तो यह श्रेयस्कर है।

आज वही परीक्षा की घडी आ गई थी। युद्ध के पन्द्रह दिन के प्राय ही श्रीकृष्ण ने पार्थ पर स्पष्ट कर दिया था कि गुरु द्रोण को अब बहुत नही सहन किया जा सकता। तुमने अभिमन्यु-वध का प्रतिशोध जयद्रथ का वध कर भले ले लिया हो, पर तुम यह नही भूल सकते कि अभिमन्यु-वध के मूल मे द्रोण ही थे, उनका वह चक्रव्यूह ही था। ऐसे भी द्रोण के जीवित रहते महाभारत में विजय की अपेक्षा तुम नही कर सकते। अत, द्रोण से आज मुक्ति लेनी ही होगी।

'तो क्या मुझे गुरु द्रोण की हत्या करनी पडेगी? उस द्रोण की जिन्होने मुझे केवल शस्त्रास्त्रो का ज्ञान ही नही दिया है, मुझे अपना परमप्रिय शिष्य ही नही मानते हैं अपितु जिन्होने मुझे आर्यावर्त का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी भी घोषित कर रखा है?"

"नही।"

'फिर भी गुरु की हत्या तो गुरु की ही हत्या है, पाडव-सेना का एक सैनिक होने के नाते द्रोण की हत्या का भागी तो मैं भी बनूगा? क्या बिना उनकी हत्या के कार्य नही चलता?"

"नही चल सकता। और गुरु द्रोण यो ही नही मारे जायेंगे। जब तक उनके

हाथ में धनुष-बाण हैं, वे अवध्य हैं। उनकी हत्या छल से होगी और इस छल में तुम्हारी मूक सहमति भी आवश्यक है।" परीक्षा फिर उपस्थित हो गई। पार्थ का मुख विवर्ण हो आया। श्रीकृष्ण के चेहरे पर एक मुसकराहट उभरी। तो हो गया गीता-ज्ञान समाप्त ? गुरु द्रोण की छलपूर्ण हत्या से ही हतप्रभ हो आया पार्थ ?

'बिना छल के उनकी हत्या सम्पन्न नही हो सकती ?" अर्जुन ने बुझे मन से कहा।

"नही। कौन करेगा धनुर्वेद के इस साक्षात्-अवतार का वध ? तुम ? है तुममे इतनी शक्ति ?"

"नही।" अर्जुन ने स्वीकारा।

"तब छल के सिवा उपाय भी क्या है ? हत्या तुम्हारे सेनापति धृष्टद्युम्न और तुम्हारे अनुज भीम के सम्मिलित प्रयास से होगी। छल का सहारा अनिवार्य होगा। उसका स्वरूप बाद मे सामने आयेगा, पर इसमे तुम्हारी सहमति आवश्यक हैं। पाडव पक्ष के तुम सर्वाधिक प्रतापी वीर हो, द्रोण के प्रियतम शिष्य भी। तुम्हे अन्धकार मे रखकर मैं यह कार्य सम्पन्न कराऊ तो तुम्हे शायद अच्छा नही लगे।"

"कैसे होगी यह हत्या ? शस्त्र रहते अगर द्रोण अजेय हैं तो क्या नि शस्त्र द्रोण पर प्रहार किया जाएगा ?" अर्जुन का मन डूब रहा था।

"हा।"

"कैसे त्याग करेंगे वे शस्त्रास्त्र का ?" अर्जुन दु खित होकर बोला।

"यह तुम उसी समय देख लेना पर अभी अपनी सहमति प्रदान करो इस षड्यन्त्र मे।" श्रीकृष्ण ने जानबूझ कर षड्यत्र शब्द का प्रयोग किया।

"मैं इस दुरभिसधि का भागीदार नही बन सकता।" अर्जुन ने स्पष्ट कहा। वह परीक्षा मे असफल होने जा रहा था और वह भी बुरी तरह। वह स्वय तो गुरु द्रोण की हत्या को प्रस्तुत नही ही था, किसी और द्वारा भी वह उनकी हत्या कराने के पक्ष मे नही था।

"सोच लो।" श्रीकृष्ण ने मुसकराकर कहा।

"क्या ?"

"तुमने मुझे वचन दिया है।"

"कौन-सा ?" अर्जुन का विवेक अभी काम नही कर रहा था। नि शस्त्र गुरु की हत्या वह भी कल, पूर्ण तरीके से उसके मन को उद्वेलित कर गई थी।

"कौन-सा वचन ? याद दिलाऊ ?"

"नही।" अर्जुन ने कहा, "मैं तुम्हारी सभी बातो को मानने को बाध्य हू जनार्दन ! यह मेरी विवशता है। मैं सचमुच वचनबद्ध हू पर मेरी एक प्रार्थना है।"

"क्या ?"

"गुरु द्रोण की छलपूर्ण हत्या मे भी अनुमति है मेरी पर अनुरोध इतना ही है कि मुझे इस दृश्य से वचित ही रखा जाय और किसी प्रकार मुझे इस दुरभिसधि का अग नही बनाया जाय।" अर्जुन परीक्षा मे फिर लडखडा रहा था। श्रीकृष्ण को चिन्ता हो रही थी।

"ऐसा नही होगा। तुम गुरु-हत्या के दृश्य को भले नही देखो पर तुम्हे

दुरभिसधि का अग किसी-न-किसी प्रकार तो अवश्य वनना पडेगा।"

"कैसे ?"

"तुम्हे अपनी पूरी शक्ति लगाकर कौरव-वीरो को गुरु द्रोण के पास फटकने से रोकना होगा। उनके वेगवान प्रवाह के आगे तुम्ह गाडीवधारी को चट्टान बनकर अडना होगा।"

'ताकि धृष्टद्युम्न पूर्ण निश्चिन्तता से नि शस्त्र गुरु की हत्या कर सके ?"

"हा।"

यह मुझसे नही होगा जनार्दन ' मुझे आज युद्ध-क्षेत्र से वाहर ही रखो। जो करना हो वे कर लें भीमसेन और धृष्टद्युम्न। मुझे कुछ नही लेना-देना इस पापाचार से।" अर्जुन ने स्पष्ट और दृढ शब्दो मे उद्घोषित किया।

"फिर सोच लो," कृष्ण ने आरम्भ किया, "इस दुरभिसधि के भागी वे भी बनने जा रहे हैं जिन्हे ससार धर्मराज के नाम से जानता है और जिन्हे न तो गीता का उपदेश दिया गया है और जिन्होने न तो मुझे कोई वचन ही दिया है।"

"कौन ? अग्रज युधिष्ठिर ?" अर्जुन हतप्रभ होता-सा बोला।

"हा, क्योकि वे धर्मराज होने के साथ हस्तिनापुर के भावी महाराज भी हैं और उन्हे इतना तो जानना ही चाहिए कि राज्य केवल धर्म के सहारे नही चलता, उसके साथ नीति भी आवश्यक है। मैं पहले से ही सोचता आया हू कि एकाकी धर्म कही का-पुरुषत्व का पर्याय ही नही हो। पर आज हमारी योजना मे सहमति से धर्मराज ने सिद्ध कर दिया है कि वे हस्तिनापुर के सिंहासन के सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति हैं। वे जानते है कि रोग और शत्रु का हरसभव उपाय से विनाश करना ही बुद्धिमान का कर्त्तव्य है। उन्हे तुम्हारी तरह गीता ज्ञान नही प्राप्त है पर वे अच्छी तरह जानते है कि युद्ध मे सब कुछ उचित है। बोलो, अब क्या कहना है ?"

"अगर अग्रज प्रस्तुत हैं तो मुझे अब कुछ नही कहना।"

"तो तुम कौरव वीरो की बाढ को रोकोगे ?"

"पूरे प्रयत्न से।" अर्जुन ने कहा और श्रीकृष्ण प्रफुल्लित हो आये। वह अपनी परीक्षा मे उत्तीर्ण हो गया था।

द्रोणाचार्य का मृत शरीर उनके विशाल रथ से नीचे गिर गया। कौरव-पक्ष का एक और प्रवल स्तम्भ धराशायी हो गया। कौरव सेना मे सर्वत्र अशान्ति और अव्यवस्था व्याप्त हो गई। दुर्योधन आदि वीर हाहाकार कर उठे।

हुआ सब कुछ योजना के अनुसार ही। धृष्टद्युम्न ने अपने सहायको के साथ द्रोण पर अकस्मात् धावा बोल दिया। इधर अश्वत्थामा नामक एक हाथी जो इन्द्र वर्मा का था, मार दिया गया। पाडवो ने सर्वत्र सवाद फैला दिया —अश्वत्थामा मारा गया अश्वत्थामा मारा गया। गुरु द्रोण के वीर-पुत्र का नाम भी अश्वत्थामा ही था। वे घबराये। हाथ का धनुष कापा। कही, अश्वत्थामा, उनका पुत्र ही तो नही रण मे हत हुआ ? युधिष्ठिर धृष्टद्युम्न के पास ही डोल रहे थे। धर्मज्ञ थे वे। सत्यनिष्ठ भी। द्रोण ने सोचा, सत्य इन्ही के मुह से फूट सकता है।

उन्होंने पूछा, "धर्मराज ? क्या मेरा आत्मज अश्वत्थामा सचमुच मारा गया ?"

धर्मराज ने पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार कहा—"अश्वत्थामा हतो हता नरो वा कुजरो (अश्वत्थामा मारा गया, मनुष्य अथवा हाथी)।" किन्तु उन्होंने जान-बूझकर नरो वा कुजरो (अथवा हाथी) को धीरे से कहा जिससे गुरु द्रोण को केवल इतना ही सुनाई पडा कि अश्वत्थामा नामक व्यक्ति नही रहा। उनके कापते हाथों से उनका विशाल धनुष छूट गया और पुत्र-शोक मे वे थोडी देर के लिए मूर्छाग्रस्त-सा हो जड हो आये।

धृष्टद्युम्न इसी घडी की प्रतीक्षा मे था। वह झट से हाथ मे तलवार लेकर अपने रथ से कूदा और उसने द्रोण के रथ म सवार हो उनके स्वर्ण किरीट को एक झटका दे, उनके नग्न केशो को बायें हाथ से पकड, दाहिने कर से उनकी गर्दन उतार ली।

एक सौ पाच

युद्ध का सोलहवा दिन। श्रीकृष्ण को पुन रात्रि पर्यन्त नीद नही आई थी। कल द्रोण रूपी कौरव ध्वज के ध्वस्त होते ही यह स्पष्ट हो गया था कि दूसरे दिन कर्ण को सेनापति के रूप मे अभिषिक्त किया जाएगा।

कर्ण? कौरव-पक्ष का सर्वाधिक प्रतापी वीर सूत-पुत्र नही कुन्ती-पुत्र कर्ण। ज्येष्ठ-पाडव कर्ण। श्रीकृष्ण जानते थे वह वय मे ही नही बल-बुद्धि, विद्या, उदारता, तप, दान, आराधना, अर्चना सबमे ज्येष्ठ था। अर्जुन को द्रोणाचार्य लाख आर्यावर्त का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर घोषित करते रहे हो पर श्रीकृष्ण से यह छिपा नही था कि कर्ण के समक्ष अर्जुन कहीं नही टिकता था। अगराज के पास शौर्य, सामर्थ्य और अद्भुत युद्ध-कौशल तो था ही, वह धर्म से युक्त होकर सर्वथा सुरक्षित और अजेय भी था। नित्य घटो तक सूर्योपासना करने वाला, प्रतिदिन स्वर्ण, अन्न और वस्त्र का मुक्त-हस्त दान करने वाले अगराज कर्ण के साथ अगर धर्म डोलता चलता था तो इसम आश्चर्य क्या?

अर्जुन अपने शस्त्रास्त्रो के बल पर एक क्षण को कर्ण पर विजय पाने की कल्पना भी कर ले तो अपने को क्षत्रिय पुत्र जानकर भी सूत-पत्नी राधा माता का त्याग नही करने वाले और आज भी नित्य नियम से उसके तलवो मे तिल के कर्पूर मिश्रित सुगन्धित तल के मर्दन करने वाले कर्ण की रक्षा धर्म नही करेगा क्या?

श्रीकृष्ण की दूसरी चिन्ता पूर्वी क्षितिज पर छिटकती लालिमा के साथ ही बढती जा रही थी। वह प्रात की पूर्ण प्रतीक्षा किए बिना ही अपने पीताम्बर को स्कन्धो पर डाल कर शिविर से बाहर आ गए। सूर्योदय मे अभी विलम्ब था। पक्षी फिर भी नीडो से उड रहे थे, दानो की खोज मे।

धर्म, धर्म और धर्म! श्रीकृष्ण के मन को यही बात मथती जा रही थी। कर्ण की धर्मपरायणता के समक्ष अर्जुन कही नही टिकता था। बिना धर्म के विजय असभव थी। तो क्या धर्मराज को ही कर्ण से भिडा दिया जाय? नही यह भी मूर्खता होगी। नरभक्षी व्याघ्र की मांद मे एक जीवित मनुष्य को डाल देने की तरह। केवल धर्म से सब कुछ नही सधता। कर्म और कौशल भी आवश्यक है।

कर्ण के युद्ध-कौशल के समक्ष धर्मराज कही नही टिकते थे। एक प्रहर भी वे उससे लोहा नही ले पाएगे।

तब ? तब क्या हो ? यह प्रश्न एक जलते अगारे-सा श्रीकृष्ण के मन चक्षुओ के समक्ष चक्कर काटने लगा।

धर्म, कौशल, शौर्य, पता नही कौन-कौन से शब्द उनके मस्तिष्क को मथने लगे। इनमे धर्म ही सर्वोपरि थे। अर्जुन और कर्ण मे स्पष्ट अन्तर करने वाला कोई ज्वलत और निर्विवाद सत्य था तो वह धर्म ही था। कर्ण ने धर्म की रक्षा की थी, धर्म उसकी रक्षा मे पीछे नही रहेगा—'धर्मो रक्षात रक्षित ।'

"नही। नही और नही।" श्रीकृष्ण के मुह से सहसा निकला और वे प्रसन्नता से सूरज के आगमन की प्रत्याशा मे उत्फुल्ल होते कमल-पुष्प की तरह ही खिल आये। *कर्ण के साथ धर्म था और अधर्म भी था। उन्हें आश्चर्य हुआ कि कैसे भूल* गए थे वे इस बात को। उसके अधर्म ने उसे शाप ग्रस्त करके छोडा था। उसने परशुराम से असत्य कथन किया था और उसके बदले ठीक समय पर अपने ब्रह्मास्त्र को विस्तृत कर जाने का घोर अभिशाप ले लिया था।

उसने एक ध्यानस्थ सन्यासी से परिहास का आनन्द लेना चाहा था उसके गले मे एक मृत सर्प डालकर और बदले म कुसमय मे धरती द्वारा अपने रथ चक्र के निगल लिए जाने का अभिशाप अर्जित कर लिया था ऋषि-पुत्र से।

यह अधर्म ? ये अभिशाप ही कर्ण की पराजय का, उसके बध का कारण बनेंगे, आवश्यकता है अर्जुन के मन को थोडा दृढ करने की कि ठीक अवसर पर वह स्वय धर्माधर्म के व्यर्थ विवेचन मे पड स्वर्णिम अवसर को अपने हाथ से नही गवा दे।

और श्रीकृष्ण चिन्ता-मुक्त हुए। नित्य कर्म से निवृत्त हो, गायत्री का नियमित जप सम्पन्न कर, अपनी आराध्या दुर्गा की मूर्ति के समक्ष नमन निवेदित कर वे श्वेताश्वो से युक्त अर्जुन के रथ-नीड पर जा बैठे।

"चलो अर्जुन, आज कौरवो के नये सनापति कर्ण के पराक्रम के दर्शन करो। तुम्हारा जन्मजात शत्रु आज तुम्हारे सैनिको और तुमको काल के गाल मे भेजने के किसी प्रयास से मुह नही मोडेगा।'

अर्जुन रणागण मे पहुचा तो देखा ठीक ही सेनापति का मुकुट धारण किए कण अपने सैन्य को मकराकृति म खडा किए ठीक उसके मुख भाग पर खडा था। सूर्य आसमान मे थोडा ऊपर चढ आया था और उसकी स्वर्णिम किरणें कर्ण के स्वर्ण खचित किरीट पर पड कौरवा के नये सेनाध्यक्ष को अभिनन्दित कर रही थी।

पाडवो का व्यूह अर्द्धचन्द्राकार था। धृष्टद्युम्न की इस योग्यता पर श्रीकृष्ण मन-ही-मन प्रफुल्लित हुए और वे कर्ण से अर्जुन का रथ बचाकर दूसरी ओर ले गए और पुन सतप्तको के साथ उन्ह भिडा दिया।

वर्षों से अपमान की अग्नि म जलते और प्रतिशोध क भयकर भाव से आकठ भरे कण क सम्मुख अभी अर्जुन को ले जाना कही की बुद्धिमानी नही थी।

अर्जुन को हाथ से निकलते देख कर्ण क्रुद्ध केसरी-सा पाडवों की सेना पर टूट पडा। वह पाडवो की कई अक्षौहिणी सेनाओ का एक साथ ही सर्वनाश कर गया।

चारो पाडवो मे किसी की उसने हत्या नही की। कुन्ती को वह वचन दे चुका

था जब वह उस पर भेद खोलने आई थी कि वह सूत-पुत्र नही अपितु ज्येष्ठ पाडव है।

"अब बहुत देर हो चुकी है। श्रीकृष्ण से मुझे सारी बातो का पता लग गया है। पर मैं दुर्योधन को छोडकर पाडवो के पक्ष मे नही आ सकता। भले ही तुमने मुझे लाछना और अपमान-पूर्ण जीवन के सिवा कुछ और नही दिया पर दान-वीर के रूप मे प्रसिद्ध कर्ण के पास से कोई रिक्त-हस्त नही लौट सकता। जाओ, मैंने तुम्हे वचन दिया, अर्जुन को छोडकर मैं और किसी पाडव की अवसर पाकर भी हत्या नही करूगा। इस युद्ध मे या तो अर्जुन बचेगा या कर्ण। तुम हर स्थिति म पाच पाडवो की ही जननी रहोगी।"

यही कारण था कि आज और आने वाले कल के युद्ध मे पाडवो को पकड-पकडकर भी उसने छोड दिया। एक बार तो युधिष्ठिर की गर्दन मे अपने धनुष की प्रत्यचा डाल उसने इतनी जोर से खीचा कि वे मुह के बल गिरते-गिरते रहे। अन्त मे उन्हें यह कहकर छोड दिया, "भाग जाओ कुन्ती-नन्दन, तुम द्यूत के खेल मे कुशल हो सकते हो। धर्मराज की उपाधि से विभूषित होकर अपनी पत्नी को भी दाव पर लगा सकते हो, पर युद्ध तुम्हारे वश का रोग नही। जाओ, मैंने तुम्हे प्राण-दान दिया।"

इस अपमान से युधिष्ठिर इतने अव्यवस्थित हुए कि उन्होने सोचा इससे तो अच्छा था कि यह सूत-पुत्र मेरे प्राण ही हर लेता। इतने योद्धाओ के समक्ष मेरी ऐसी दुर्दशा तो नही होती।

उसी प्रकार एक बार उसने अपने मे कई कई हाथियो का बल रखने वाले भीम को धर पकडा। उनकी गदा धरी की धरी रह गई। कर्ण चाहता तो जैसे नेवला सर्प की गर्दन को मसल-मसल उसके प्राण हर लेता है उसी तरह उसके सिर को भूमि मे घिस-घिस कर उसे स्वर्गारोही कर देता। पर उसे भी छोडते हुए बोला—"अधिक अन्न के भक्षण से ही कोई वीर नही बन जाता वृकोदर! जाओ, अपनी पेट-पूजा का प्रबन्ध करो। कर्ण के समक्ष आने का फिर प्रयास नही करना।"

उस दिन के युद्ध मे पाडव सेना की अपार क्षति के मूल्य पर भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन का कर्ण के साथ से आमना-सामना नही होने दिया। पर दोनो वीरो ने आज अपने-अपने शत्रु-पक्षो का इतना सहार किया कि कुरुक्षेत्र के मैदान मे गिनती के सैनिक बचे रहे। कौरव-सेना का सहार तो पहले ही अत्यधिक हो चुका था, आज कर्ण ने पाडवो को भी प्राय शक्तिहीन करके छोडा।

सूर्यास्त के समय शिविर को लौटते समय थककर चूर कर्ण के मन को एक ही बात काटे की तरह साल रही थी, वह अपने जन्मजात शत्रु अर्जुन को नही पा सका और श्रीकृष्ण के मन को एक ही बात आनन्दित कर रही थी—आज कर्ण इतना श्रान्त हो आया है कि कल के सूर्योस्त को वह शायद ही देख सके।

कर्ण के युद्ध-कौशल के समक्ष धर्मराज कही नही टिकते थे। एक प्रहर भी वे उससे लोहा नही ले पाएगे।

तब ? तब क्या हो ? यह प्रश्न एक जलते अगारे-सा श्रीकृष्ण के मन चक्षुओ के समक्ष चक्कर काटने लगा।

धर्म, कौशल, शौय, पता नही कौन-कौन से शब्द उनके मस्तिष्क को मथने लगे। इनमे धर्म ही सर्वोपरि थे। अर्जुन और कर्ण मे स्पष्ट अन्तर करने वाला कोई ज्वलत और निर्विवाद सत्य था तो वह धर्म ही था। कर्ण ने धर्म की रक्षा की थी, धर्म उसकी रक्षा मे पीछे नही रहेगा—'धर्मो रक्षात रक्षित।'

"नही। नही और नही।" श्रीकृष्ण के मुह से सहसा निकला और वे प्रसन्नता से सूरज के आगमन की प्रत्याशा म उत्फुल्ल होते कमल-पुष्प की तरह ही खिल आये। कर्ण क साथ धर्म था और अधर्म भी था। उन्हें आश्चर्य हुआ कि कैसे भूल गए थे वे इस बात को। उसके अधर्म ने उसे शाप-ग्रस्त करके छोडा था। उसने परशुराम से असत्य कथन किया था और उसके बदले ठीक समय पर अपने ब्रह्मास्त्र को विस्तृत कर जाने का घोर अभिशाप ले लिया था।

उसने एक ध्यानस्थ सन्यासी से परिहास का आनन्द लेना चाहा था उसके गले मे एक मृत सर्प डालकर और बदले मे कुसमय मे धरती द्वारा अपने रथ-चक्र के निगल लिए जाने का अभिशाप अर्जित कर लिया था ऋषि-पुत्र से।

यह अधर्म ? ये अभिशाप ही कर्ण की पराजय का, उसके वध का कारण बनेंगे, आवश्यकता है अर्जुन के मन को थोडा दृढ करने की कि ठीक अवसर पर वह स्वय धर्माधर्म के व्यर्थ विवेचन मे पड स्वर्णिम अवसर को अपने हाथ से नही गवा दे।

और श्रीकृष्ण चिन्ता-मुक्त हुए। नित्य कर्म से निवृत्त हो, गायत्री का नियमित जप सम्पन्न कर, अपनी आराध्या दुर्गा की मूर्ति के समक्ष नमन निवेदित कर वे श्वेताश्वो से युक्त अर्जुन के रथ-नीड पर जा बैठे।

"चलो अर्जुन, आज कौरवो के नये सेनापति कर्ण के पराक्रम के दर्शन करो। तुम्हारा जन्मजात शत्रु आज तुम्हारे सैनिको और तुमको काल के गाल मे भेजने के किसी प्रयास से मुह नही मोडेगा।"

अर्जुन रणागण म पहुचा तो देखा ठीक ही सेनापति का मुकुट धारण किए कर्ण अपने सैन्य को मकराकृति मे खडा किए ठीक उसके मुख-भाग पर खडा था। सूर्य आसमान मे थोडा ऊपर चढ आया था और उसकी स्वर्णिम किरणें कर्ण के स्वर्ण खचित किरीट पर पड कौरवा के नये सेनाध्यक्ष को अभिनन्दित कर रही थी।

पाडवो का व्यूह अर्द्धचन्द्राकार था। धृष्टद्युम्न की इस योग्यता पर श्रीकृष्ण मन-ही-मन प्रफुल्लित हुए और वे कर्ण से अर्जुन का रथ बचाकर दूसरी ओर ले गए और पुन सतप्तको क साथ उन्ह भिडा दिया।

वर्षों से अपमान की अग्नि म जलते और प्रतिशोध क भयकर भाव से आकठ भरे कर्ण के सम्मुख अभी अर्जुन को ले जाना कही की बुद्धिमानी नही थी।

अर्जुन को हाथ से निकलते देख कर्ण क्रुद्ध केसरी सा पाडवो की सेना पर टूट पडा। वह पाडवो की कई अक्षौहिणी सेनाओ का एक साथ ही सर्वनाश कर गया।

चारो पाडवो मे किसी की उसने हत्या नही की। कुन्ती को वह वचन दे चुका

था जब वह उस पर भेद खोलने आई थी कि वह सूत-पुत्र नही अपितु ज्येष्ठ पाडव है।

"अब बहुत दर हो चुकी है। श्रीकृष्ण से मुझे सारी बातो का पता लग गया है। पर मैं दुर्योधन को छोडकर पाडवो के पक्ष मे नही आ सकता। भले ही तुमने मुझे लाछना और अपमान-पूर्ण जीवन के सिवा कुछ और नही दिया पर दान-वीर के रूप मे प्रसिद्ध कर्ण के पास से कोई रिक्त-हस्त नही लौट सकता। जाओ, मैंने तुम्हे वचन दिया, अर्जुन को छोडकर मैं और किसी पाडव की अवसर पाकर भी हत्या नही करूगा। इस युद्ध मे या तो अर्जुन बचेगा या कर्ण। तुम हर स्थिति मे पाच पाडवो की ही जननी रहोगी।"

यही कारण था कि आज और आने वाले कल के युद्ध म पाडवो को पकड-पकडकर भी उसने छोड दिया। एक बार तो युधिष्ठिर की गर्दन म अपने धनुष की प्रत्यचा डाल उसने इतनी जोर से खीचा कि वे मुह के बल गिरते-गिरते रहे। अन्त मे उन्हे यह कहकर छोड दिया, "भाग जाओ कुन्ती-नन्दन, तुम द्यूत के खेल मे कुशल हो सकते हो। धर्मराज की उपाधि से विभूषित होकर अपनी पत्नी को भी दाव पर लगा सकते हो, पर युद्ध तुम्हारे वश का रोग नही। जाओ, मैंने तुम्हे प्राण-दान दिया।"

इस अपमान से युधिष्ठिर इतने अव्यवस्थित हुए कि उन्होने सोचा इससे तो अच्छा था कि यह सूत-पुत्र मेरे प्राण ही हर लेता। इतने योद्धाओ के समक्ष मेरी ऐसी दुर्दशा तो नही होती।

उसी प्रकार एक बार उसने अपने मे कई कई हाथियो का बल रखने वाले भीम को धर पकडा। उनकी गदा धरी की धरी रह गई। कर्ण चाहता तो जैसे नेवला सर्प की गर्दन को मसल-मसल उसके प्राण हर लेता है उसी तरह उसके सिर को भूमि मे घिस-घिस कर उसे स्वर्गारोही कर देता। पर उसे भी छोडते हुए बोला—"अधिक अन्न के भक्षण से ही कोई वीर नही बन जाता वृकोदर! जाओ, अपनी पेट-पूजा का प्रबन्ध करो। कर्ण के समक्ष आने का फिर प्रयास नही करना।"

उस दिन के युद्ध मे पाडव सेना की अपार क्षति के मूल्य पर भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन का कर्ण के साथ से आमना-सामना नही होने दिया। पर दोनो वीरो ने आज अपने-अपने शत्रु-पक्षो का इतना सहार किया कि कुरुक्षेत्र के मैदान मे गिनती के सैनिक बचे रहे। कौरव-सेना का सहार तो पहले ही अत्यधिक हो चुका था, आज कर्ण ने पाडवो को भी प्राय शक्तिहीन करके छोडा।

सूर्यास्त के समय शिविर को लौटते समय थककर चूर कर्ण के मन को एक ही बात काटे की तरह साल रही थी, वह अपने जन्मजात शत्रु अर्जुन को नही पा सका और श्रीकृष्ण के मन को एक ही बात आनन्दित कर रही थी—आज कर्ण इतना श्रान्त हो आया है कि कल के सूर्योस्त को वह शायद ही देख सके।

और आज सत्रहवें दिन के सूर्यास्त को कर्ण ही नही, कौरव और पाडव पक्ष के कई वीर नही देख सके।

कल के अपमान का बदला भीमसेन ने गदा-युद्ध मे दु शासन को पराजित कर उसके वक्ष को फाडकर तथा गर्म-गर्म रक्त का पान कर अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण कर लिया।

अजलि भर रक्त हाथ म ले पागलो-सा नर्तन कर वह पाचाली के शिविर मे भी गया और उसके मुक्त केशो मे अपनी अजलि मे अब तक बर्फ की तरह जम आये दु शासन के रक्त को डालते हुए कहा—"केश-विन्यास करो द्रुपद-सुता। दु शासन अब नही रहा।" भीम की प्रतिज्ञा पूरी हुई।

प्रहर भर दिन चढते ही दुर्योधन, कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि कुछेक कौरव-वीरो और पाचो पाडव और उनके कुछ गिने-चुने सहायको के साथ कुछेक सहस्र वीर ही कुरुक्षेत्र के मैदान मे जीवित खडे थे। सारा मैदान पशुओ और मनुष्यो के शवो से अटा पडा था। स्थान-स्थान पर रुधिर और पशुओ तथा मनुष्यो के मास-मज्जा के कारण दलदल सा बन आया था।

श्रीकृष्ण ऐसे ही एक अपेक्षाकृत भीषण दलदल के अन्वेषण मे लगे थे। वे स्यन्दन को निरन्तर इधर-उधर नचा रहे थे। सैनिको की सख्या कम होने के कारण वे न तो कर्ण की आखो से बच पा रहे थे, न उसके मर्मभेदी व्यग्य-बाणो से। "कब तक बचाते रहोग हृषीकेष अपने पृथा पुत्र को कर्ण के बाणो मे ? अच्छा हो अब निर्णायक युद्ध लड ही ले हम दोनो।"

कर्ण ऐसा कहता हुआ अर्जुन के रथ पर अपने असख्य बाण बरसाते हुए उनके पीछे दौडा। पर श्रीकृष्ण को जिस स्थान पर मोर्चा लेना था वह तो अभी मिला नही था। फलत उनके रथ और कर्ण के बाणो की गति मे होड-सी लग गई जिसमे श्रीकृष्ण का रथ ही विजयी रहा। अब तक कर्ण का एक शर भी उसे छू नही सका।

अगर धर्म को साध लेना था तो कर्म की भी साधना आवश्यक था। श्रीकृष्ण इस बात को भलीभाति जानते थे। अगर पृथ्वी को कर्ण के रथ-चक्र को निगलना था तो उसे ऐसा सुयोग प्रदान करना भी आवश्यक था। इसीलिए श्रीकृष्ण सर्वाधिक दलदल पूर्ण रथ के अन्वेषण मे भटक रहे थे।

अन्तत वह स्थान मिल गया। एक तरफ पूरी तरह सूखी भूमि और दूसरी तरफ दूर तक फैला रक्त और मास-मज्जा से गिली हो आई मिट्टी।

श्रीकृष्ण ने सूखी भूमि पर रथ को खडा कर दिया। पीछे से दौडते आते कर्ण के सारथी शल्य को इस दलदल-पूर्ण भूमि मे रथ खडा करने के अलावा और कोई चारा नही रहा।

दोनो योद्धाओ ने एक दूसरे पर मारक प्रहार आरम्भ किया। नाराच, शक्ति, तोमर, शर, परीध, मल्ल, तलवार, खड्ग सभी अस्त्र शस्त्रो का खुल कर प्रयोग हुआ पर विजय श्री किसी का वरण करती दृष्टिगोचर नही हुई। शरो के प्रहार से दोनो वीरो के कवच क्षत-विक्षत हो गए। उनके शरीर से रक्त की धारा वह चली।

श्रीकृष्ण चिन्तित हुए। शायद आज कर्ण हाथ नही आये। उन्होने एक चाल चली। अपने रथ को सूखे भाग के अन्तिम छोर पर उन्होने ला खडा किया। अर्जुन के प्रहार समीप से और मारक हो गए।

"रथ पीछे करो," कर्ण चिल्लाया। सदा की तरह उसका परिहास करने वाला उसका सारथि मद्रराज शल्य बिगडा—"पीछे घोर दलदल है। वहा रथ नही खडा किया जा सकता।"

"मैं कहता हू, रथ पीछे करो।" कर्ण के स्वर मे ऋषि-पुत्र का श्राप बोल रहा था।

विवश शल्य ने रथ को पीछे किया और कर्ण के रथ का एक चक्र दलदल मे जा धसा। कर्ण ने पहले तो इसे अनदेखा किया पर जब रथ असतुलित होने लगा तो वह धनुष छोडकर नीचे कूदा। रथ-चक्र को दोनो बाहुओ मे भर कर ऊपर उठाना चाहा पर वह धसता गया तो धसता ही गया।

अर्जुन ने गाडीव से शर वर्षण बन्द कर दिया था।

"यह क्या पार्थ," श्रीकृष्ण चिल्लाए, "यही अवसर है, गाडीव पर अर्द्धचन्द्राकार बाण का सधान करो और कर्ण का सिरोच्छेदन कर दो।"

'निःशस्त्र पर शस्त्र प्रहार !" अर्जुन बुदबुदाया। पर बात कर्ण तक जा पहुची और वह बाजुओ मे रथ-चक्र को थामे बोला, "तुम इस कृष्ण की बात मे नही आना अर्जुन ! तुम एक योद्धा हो। यह एक मात्र सारथि। योद्धा धर्म-युद्ध ही करते है। निःशस्त्र पर आक्रमण धर्म विरुद्ध है। तुम ऐसा अधार्मिक कार्य नही करोगे।"

श्रीकृष्ण ठठाकर हसे, "मैं सारथि ही सही पर धर्म की बात तुमसे अधिक जानता हू। आज जब अपने पर आ पडा है तो तुम्हे धर्म कैसे सूझने लगा है राधेय ! कौरवो ने जब पाडवो को छल-द्यूत मे हराकर वन गमन को विवश किया था तो तुम्हारा धर्म कहा गया था ? क्यो नही खुला था तुम्हारा मुख ? कौरवो की भरी सभा मे जब एकवस्त्रा रजस्वला पाचाली नग्न की जा रही थी तो किस उत्सुकता से और क्या देख रहे थे तुम ? दुर्योधन के हर अन्याय और अधर्म म साथ देनेवाले नराधम, जब तुम सात महारथियो ने एक साथ घेरकर किसी शृगाल-श्वान की तरह किशोर अभिमन्यु की हत्या की थी उस समय तुम्हारा धर्म कहा था सूत-पुत्र ?"

कृष्ण ने जानबूझ कर अभिमन्यु वाली बात अन्त मे कही थी। अर्जुन का क्रोध भडका था और उसने तत्काल गाडीव पर एक प्रखर शर-सधान कर कर्ण की ग्रीवा को लक्ष्य बना दिया था। हाथ से व्यर्थ ही अर्जुन ने बाण को रोकने के लिए उसे हवा मे उठाए कर्ण उसी रक्त मज्जा और मास के दलदल मे निष्प्राण हो गिर गया था।

श्रीकृष्ण ने जोर से अपने पाचजन्य शख पर विजय-ध्वनि की थी और दोनो पक्षो के वीरो को ज्ञात हो गया था कि कौरवो का अन्तिम स्तम्भ भी जाता रहा। आज का युद्ध उसी समय समाप्त हो गया। कर्ण के गिरने के साथ ही सभी कौरव-वीर यत्र-तत्र भाग खडे हुए। पाडव अब युद्ध करें तो किससे ?

कर्ण की मृत्यु के साथ ही कृष्ण का सारथ्य भी अब समाप्त हो गया था। अब कौरव पक्ष में ऐसा कोई वीर नहीं बचा था जिससे अर्जुन का सामना हो। पर पाडव और कौरव-पक्ष म कुछ सैनिक तो शेष ही थे और दुर्योधन भी अभी जीवित था। उसके जीवित रहत युद्ध का अन्त नही माना जा सकता था।

अठारहवें दिन के युद्ध के पूर्व कृपाचार्य ने दुर्योधन को समझाया—"अब भी कुछ नही बिगडा, पाडवो को आधा राज्य देकर उनसे सन्धि कर लो।"

दुर्योधन को कृपाचार्य की इस बात पर हसी आई। उसने कहा—"अब जब मेरे निन्यानवे भाई, पितामह भीष्म, गुरु द्रोण, और कर्ण सब मेरे लिए मृत्यु का वरण कर चुके है तो मैं अपने प्राणो की रक्षा के लिए सन्धि करू ? आप कहा की बात कर रहे हैं आचार्य ?"

निदान, अठारहवें दिन दुर्योधन ने शल्य को सेनापति के पद पर विभूषित किया और बचे-खुचे सैनिको और योद्धाओ को उनके अधीन कर युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गया। शल्य ने सर्वतोभद्र नामक व्यूह की रचना की।

पाण्डवो की ओर से युधिष्ठिर ने सर्वप्रथम कौरव-सेना पर आक्रमण किया। यह देख मद्रराज शल्य ने गदा-युद्ध के लिए भीम को ललकारा। किन्तु वह उनके समक्ष टिक नही सका। रणभूमि से भाग खडा हुआ।

पुन वह अपनी बची-खुची सेना लेकर युधिष्ठिर से आ भिडा। धर्मराज ने शक्ति के प्रहार से शल्य को यमलोक भेज दिया।

सेनापति के पतन के साथ ही बची-खुची सेना भी भाग खडी हुई। दुर्योधन अपने घोडे पर थोडी देर तक एकाकी खडा रहा फिर अपनी गदा के साथ संग्राम-स्थल से भाग खडा हुआ। कौरवो के पक्ष के अब तीन ही वीर शेष थे, अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा।

दुर्योधन इन सभी के साथ साथ सरोवर के पास आया और जल समाधि लगा सरोवर के अन्दर छिप बैठा। शेष तीनो वीर वहा से खिसक गए। श्रीकृष्ण को जब पता चला कि दुर्योधन रणागण से भाग गया तो वे बहुत चिन्तित हुए— कुरुक्षेत्र का युद्ध तो अनिर्णीत ही रह गया !

वे युधिष्ठिर, भीम और अन्य पाडवो के साथ दुर्योधन के अन्वेषण से निकले। अन्तत एक व्याधा ने उस सरोवर को दिखा दिया जिसमे दुर्योधन छिपा पडा था।

युधिष्ठिर ने उसे ललकारा, 'यह तो वीरोचित कार्य नहीं है दुर्योधन ! सपूर्ण कुल का नाश कर तुम जल मे छिप बैठे हो। तुम बाहर आओ और किसी एक से भी युद्ध कर इस महासमर का अन्तिम निर्णय कर लो। अगर तुम उस एक योद्धा की भी हत्या कर सके तो हम युद्ध में हार मान लेंगे।"

श्रीकृष्ण को युधिष्ठिर की यह अनगढ बात पसन्द नही आई। दुर्योधन गदा-युद्ध म अद्वितीय था और भीम के सिवा उसका कोई सामना नही कर सकता था। अगर दुर्योधन ने भीम को छोडकर किसी और को चुन लिया तब ? पर अब चिन्ता करने से क्या होना था ? युधिष्ठिर तो वचन हार चुके थे।

पर दुर्योधन ने अपने घोर शत्रु भीम को ही इस युद्ध के लिए चुना।

'मुझे एक गदा दो और भीम को मेरे सामने करो।" सरोवर-जल को चीर-

कर बाहर निकलते हुए दुर्योधन ने कहा।

दुर्योधन को ज्ञात था कि गदा-युद्ध में वह भीम को परास्त कर देगा क्योंकि जांघों को छोड़कर उसका सारा शरीर वज्र-तुल्य हो आया था। माता गांधारी ने एक बार कहा था, पुत्र, तुम मेरे समक्ष एकदम वस्त्रविहीन खड़े हो जाओ। मैं अपनी आंखों की पट्टी को थोड़ी देर के लिए खोलती हूं और अपने पातिव्रत्य के आधार पर तुम्हारे सम्पूर्ण शरीर को वज्रवत् बना देती हूं। दुर्योधन ने सारे वस्त्र तो उतार दिए पर शर्म के कारण वह लंगोट पहने ही रहा, फलस्वरूप उसकी जांघें वज्र बनने से रह गईं। किन्तु गदा-युद्ध में कमर के नीचे प्रहार वर्जित है, अतः अपनी विजय के प्रति वह पूर्णतया आश्वस्त था। यही कारण था कि अपने समतुल्य गदायोद्धा भीम को चुनने में उसने एक क्षण का भी समय नहीं लगाया।

भीम और दुर्योधन में गदा युद्ध देर तक चलता रहा। दोनों एक दूसरे के मर्म पर प्रहार करने को उद्यत थे। दोनों की गदाएं एक दूसरे से टकराकर स्फुलिंग उगलने लगी थीं।

युद्ध को किसी निर्णायक मोड़ पर नहीं पहुंचते देख श्रीकृष्ण चिंतित हुए। कहीं वज्र-तनधारी दुर्योधन भीम को परास्त करने में सफल हो गया तो सभी किए-कराए पर पानी फिर जाएगा। उन्होंने भीम को दिखाकर अपनी जांघ थपथपाई। भीम इंगित समझ गया और ऊपर उछल कर नीचे आते दुर्योधन की दोनों जांघों पर घोर गदा प्रहार किया। उसकी दोनों जांघें टूट गईं और वह किसी विशाल उल्का की तरह पृथ्वी पर जा गिरा।

दुर्योधन दर्द से कराहने लगा।

इसी समय तीर्थाटन करते करते श्रीकृष्ण के अग्रज बलराम वहां पहुंच चुके थे। गदा-युद्ध उन्हीं के निर्णायकत्व में हो रहा था। भीम द्वारा दुर्योधन की जांघों पर प्रहार करने से वे भीषण रूप में क्रुद्ध हो आए। वह अपना हल लेकर भीम की ओर बढ़े। निकट था कि वे भीम की हत्या कर देते कि श्रीकृष्ण ने उन्हें बांहों में भरकर रोक लिया और कहा— भैया, यह सही है कि धर्म का पालन हर स्थिति में करना चाहिए। पर केवल धर्म के आधार पर जीवन यापन तक नहीं हो सकता, राज्य पाने की बात तो और है। जीवन रूपी रथ के चार चक्र हैं—धर्म, नीति, पराक्रम और आत्मविश्वास। इनमें किसी एक से भी रहित व्यक्ति जीवन में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। नीति नहीं हो तो धर्म व्यर्थ है। भीम ने नीति से काम लिया है। कौरवों द्वारा थोपे युद्ध के कारण जब सब कुछ समाप्त हो गया था तो अब धर्म की दुहाई दे दुर्योधन को जीवित छोड़ उसे पुनः राज्य प्रदान कर स्वयं वन वन भटकना कहीं की बुद्धिमानी नहीं थी। भीमसेन ने दुर्योधन का वध कर सर्वथा ठीक किया है। नीति, पराक्रम और आत्मविश्वास से हीन व्यक्ति को छोड़कर धर्म भी उसी तरह भाग जाता है जैसे अस्त्र शस्त्र से हीन सेनापति को छोड़ उसकी सेना।

कृष्ण की यह बात बलराम को पसन्द आई और वे भीम को क्षमा कर द्वारिका की ओर प्रस्थित हो गए।

पर कृष्ण का कार्य अभी शेष नहीं हुआ था। रात्रि में दुर्योधन को देखने आए कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्मा ने एक दुरभिसंधि रची जिसमें आज की विजय से निश्चिन्त सोए पड़े पांचों पांडवों और धृष्टद्युम्न पर अश्वत्थामा का

आक्रमण कर देना था और सुषुप्तावस्था में ही उनकी गर्दन काट देनी थी।

अश्वत्थामा ने भी ऐसा ही निश्चय किया। पर सौभाग्यवश उस समय पाचो पाडव श्रीकृष्ण द्वारा अन्यत्र बुला लिए गए थे। उसने द्रौपदी के पाच पुत्रों को ही पाडव समझ उनकी गर्दनें उतार ली। धृष्टद्युम्न तथा उत्तमौजा और युधामन्यु के भी सिर काट लिए।

प्रात जब द्रौपदी को अपने पुत्रों के वध की बात ज्ञात हुई तो वह युधिष्ठिर को उलाहना देने लगी और अश्वत्थामा को दडित करने का अनुरोध करने लगी। श्रीकृष्ण और पाडव गुरुपुत्र के अन्वेषण मे निकले। अन्तत, वह गगा किनारे मिल गया। पाडवो को देख उसने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर दिया जिसे अर्जुन ने अपने ब्रह्मास्त्र-ज्ञान से व्यर्थ कर दिया। कुपित गुरुपुत्र ने एक तिनके को ही मन्त्र से अभिषिक्त कर पाडवो के कुल-नाश के लिए अभिमन्यु-पत्नी उत्तरा के गर्भ पर छोड दिया। वह मन्त्राभिषिक्त तिनका वज्र बन आया और उत्तरा के गर्भ मे प्रवेश कर वह उसे समाप्त ही कर देता कि श्रीकृष्ण को एक बार पुन और शायद अतिम बार अपनी साधना और सकल्प-शक्ति का सहारा ले सूक्ष्म रूप से उत्तरा के गर्भ मे ही प्रवेश करना पडा। वहा पहुच उन्होने अपने सुदर्शन-चक्र से उस वज्र के टुकडे-टुकडे कर दिये। यही गर्भ परीक्षित नाम से पैदा हुआ जिससे पाडु-वश आगे बढा।

एक सौ आठ

स्वप्न जब टूटता है तो यथार्थ सामने शीशे-सा खडा दृष्टिगोचर होता है। यह शीशा सपनों का शीशमहल नहीं होकर यथार्थ का साक्षात् प्रतीक होता है। उसमे जो भी प्रतिबिम्बित होता है वह स्वप्न के माया-जाल से दूर एक ऐसा सत्य है जिसका सामना सबके वश की बात नही।

महाभारत रूपी स्वप्न समाप्त हो गया था। पूरे अठारह दिनो तक सपनो के शीशमहल मे घुमाने के पश्चात् काल-पुरुष ने श्रीकृष्ण को यथार्थ के विशाल शीशे के समक्ष ला खडा किया था—"देख लो इसमे जो कुछ देखना हो। देख लो क्या पाया और क्या खोया, यह महाभारत रचाकर। देख लो ये शवो के अम्बार जो कुरुक्षेत्र मे यत्र-तत्र ईंट-पत्थर के ढेरो की तरह पडे है—शव सबके। मनुष्य तो मनुष्य, पशु—गज, अश्व, भार-वाहक वृषभ, गर्दभ, दोषी, अपराधी और निरपराध सबके। और देख लो इन लावारिश लाशो पर झपटते, आपस मे छीना-झपटी करते, एक-दूसरे पर टूटते-टकराते मासजीवी पक्षियो—गृद्ध, चील—और पशुओ—शृगाल, श्वान—आदि के इस महोत्सव को। और देखना हो तो देखो कुछ विशेष भाग्यशालियो की जलती चिताओ को, उन पर जलते-ऐंठते चट् चट् करते उनके कटे-फटे अगो को, उनसे निकलती जले मास से भरी दुर्गन्ध का भी अनुमान करना चाहो तो कर लो इसी समय।

"और देखना चाहते हो? तो ये रही युवती और किशोरी तथा बाल-विधवाएं जिनकी माग के लाल सिन्दूर को तुम्हारे दोनो पक्षो के योद्धाओ और सैनिको ने

बड़ी निर्ममता से असमय पोछ दिया है। देखो, देखो, इन बिलखती, बिललाती बहनों को जिनके भाई तुम्हारी समराग्नि में स्वाहा हो चुके हैं। देखने से भयभीत नहीं होते हो तो देखो पलित (श्वेत) केश, दृष्टिहीन आखें और कमान-सी झुकी कमर वाले इन वृद्धों और वृद्धाओं को जिनके बुढ़ापे के एक मात्र सहारे को तुम्हारे इस महासमर ने सदा के लिए छीन लिया है। देख लो इन लाशों के ढेरों में पागल से घूमते इन कुछ पुरुषों-औरतों, बाल-वृद्ध और युवाओं को भी जो अपनी मूर्खता-वश मृत्यु के इस महापर्व में जीवन के कुछ चिह्न ढूढने को व्यग्र हैं—शायद कोई अधमरा उनका सगा सम्बन्धी मिल ही जाय लाशों के अनन्त और अछोर विस्तार में। मूर्ख हैं ये। सडते शवों में स्पन्दित जीवन ढूढ रहे हैं। अठारह दिनों से सड रही इन लाशों की दुर्गन्ध तुम्हारी नासिका-रन्ध्रों तक नहीं पहुचती? कैसे पहुचे, स्वय भगवान जो हो तुम, जो घट रहा है, घट चुका है और घटित होने वाला है उसके प्रति पूर्णतया तटस्थ। नहीं? निर्विकार और निश्चिन्त।

"कालपुरुष तो मैं व्यर्थ अपने को कह रहा हू। वह तो स्वय तुम्हीं हो। हा जो तुम कभी गोकुल और वृन्दावन में गाए चराया करते थे, गो-वत्सों के पीछे भागते-खेलते चलते थे, नन्द-यशोदा के आगन और व्रज की वीथियों में ताता-थैया नाचा करते थे। राधा से अपना किशोर किन्तु मानना पडेगा, अमासल, अपार्थिव प्रेम निवेदन किया करते थे, गोपों और गोपागनाओं के प्राण प्यारे थे, उनके जीवन-धन। फिर तुम अकस्मात् बदलने लगे। राधा की प्रेरणा जो किशोरावस्था में ही तुम्हारे मन में बैठ गई थी और वह भी जो तुम्हारे उत्थान, तुम्हारे विकास और तुम्हारी निरन्तर वृद्धिशील लोकप्रियता के लिए व्रज के करील-कुजों और कालिन्दी-कूलों पर भूखी-प्यासी भटकती रहती थी।

'तुम अब गोकुल के सामान्य ग्वाल-बालक कहा थे? नहीं थे तुम अब अबोध गोपाल। सामान्य से असामान्य बनते जा रहे थे तुम। तुमने किशोरावस्था में ही अपने मामा कस का निर्मम वध सम्पन्न कर दिया। क्यों? उत्तर तुम्हारे पास था क्योंकि वह अन्यायी, दुराचारी और निरकुश था। उसने तुम्हारे अपने माता-पिता को कुछ नहीं तो कोई दस वर्षों तक बन्दी बनाया था और अपने प्रभावहीन अशक्त और वृद्ध पिता को सिंहासन-च्युत कर स्वय उस पर आसीन हो गया था। अन्याय के बदले न्याय देना तुम्हारा स्वय ओढा हुआ कर्त्तव्य था। तुमने अन्याय का नाश कर न्याय की स्थापना की। उग्रसेन को तुमने सिंहासन सौंपा। सम्पूर्ण मथुरा में तुम्हारी जय-जयकार हुई। उग्रसेन के नाममात्र के नृपत्व से तुम वास्तविक मथुराधिपति हो गए। तुम्हारा प्रभाव बढता गया। तुमने जरासन्ध के सदृश वीर से लोहा लिया भले उसमें हारकर तुम्हें द्वारिका के द्वीप में शरण ताकनी पडी।

"पर तुम रुके कहा? बढते ही गए। तुमने साधना की थी गुरु सान्दीपनि के आश्रम में। तुमने अपने जीवन-सिद्धान्त वहीं निर्धारित किए थे जिसकी व्याख्या तुमने कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को अहिंसक से हिंसक बनाने के लिए की। तुम अब पुरुष कहा थे? युग-पुरुष हो आये थे। नर कहा थे तुम, नारायण बन गये थे। आर्य-भूमि के सभी नृप तो तुम्हें इसी रूप में देखने लगे थे। तभी तो युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में अग्र-पूजा के अधिकारी तुम्हीं बने थे भले ही इसके विरोध के

फलस्वरूप शिशुपाल को अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ा था।

तुम बढ़ते गए थे बढ़ते गए थे एक वद्धमान वट-वक्ष की तरह। तुम्हारी साधना सिद्धि को छूने लगी थी तुम्हारा सकल्प-बल इतना प्रबल हो गया था कि कभी वह द्रौपदी की शम रक्षा के लिए वस्त्रो के अम्बार म परिवर्तित होता जा रहा था तो कभी उद्दड अजुन के होश ठिकाने लाने के लिए वह विराट रूप धारण करने लगा था। पितामह और द्रोण तक के सिर तुम्हारे चरणो पर झुकने लगे थे। राधा का दिया मत्र काम कर गया था। उसने जाने या अनजाने प्रेरणा का जो एक नन्हा दीप जलाया था वह अब एक गगनचुम्बी प्रकाश-स्तम्भ बनकर खड़ा था।

पर किसलिए ? किसलिए यह सब ? प्रेरणा के इस दिव्याभा प्रकाश स्तम्भ पर तो कुरुक्षत्र के असख्य शलभ पर पटक कर जल मरे ? न्याय की स्थापना करने चले थे ? किसके लिए ? धम का विजय ध्वज फहरा कर अधम का नाश करने चले थे तुम ? किसके लिए ? बोलो किसके लिए ? इन बिलखती विधवाओ के लिए या इन असहाय वद्धो-वद्धाओं के लिए ? इन वीरान पड़ बीयाबान बनते जा रहे जन शू य जनपदों के लिए या कुरुक्षत्र के विस्तत मदान पर साय साय करती इस दुग ध-बयार के लिए ? बोलो किसके लिए ? किसके लिए ? किसके लिए ?

चुप। श्रीकृष्ण क मुह स पागलों की तरह चीत्कार निकला। सुनना चाहत हो तुम इसका उत्तर तुम चाहे काल-पुरुष हो या जो कुछ पर मरे पास उ र है। हा मैंने जो कुछ किया है ठीक किया है। युद्ध भयावह है घणित है अमानवीय है मैंने कभी उसे प्रश्रय नही दिया सदा उसे टालने का प्रयत्न किया पर जब वह अनिवाय हो गया अपरिहाय हो आया तो मैंने सही है मैंने युद्धाग्नि के लिए समिधाए भी एकत्रित की और आहुतिया भी। ठीक है मैंने युद्धाग्नि को भरपूर भडकाया मैं धम अधम दोनो का सहारा लेने म पीछे नही हटा। हा मैं युग-पुरुष हो आया था काल पुरुष! जो तुम अपने को कह रहे हो। मेरे एक इंगित पर पथ्वी का घूमना और रुकना आश्रित था। म चाहता तो यह महासमर रुक भी सकता था केवल मुझ किनारे होने की आवश्यकता थी। पर मैंने ऐसा नही किया। तुम पूछते हो किसके लिए ? यही न ?

हा।

तो कान खोलकर सुन लो। यह सब वतमान के लिए नही किया मैंने। भविष्य के लिए किया यह सब ताकि भविष्य वतमान स शिक्षा ले सके ताकि फिर किसी को लाक्षागह म जला मारने की दुरभिसधि नही रची जा सके क्योंकि फिर किसी को छल द्यूत के बल पर उसे अपने राज्य स वचित कर तरह तरह वर्षों तक वन वन भटकने को बाध्य नही किया जा सके ताकि युद्ध को स्वय अक-माल देने का प्रस्तुत किसी दुष्ट युवराज का यह कहने का साहस नही हो कि सूच्यग्र भूमि भी बिना सग्राम के नही दी जा सकती ताकि भविष्य मे कोई शान्ति दूत बने और मात्र पाच ग्रामो की भीख मागते किसी कृष्ण को बन्धन युक्त करने का प्रयास न करे। और सुनना चाहते हो तुम काल-पुरुष या जो कुछ भी तुम हो तो सुन लो इस समराग्नि को इसलिए भडकाया गया इसीलिए भडकाया गया कि भविष्य म कोई पाचाली एक-वस्त्रा और रजस्वला किसी खचाखच भरी राज सभा मे विवस्त्रा होने को विवश नही हो।

"बस-बस।" आवाज आई, "तुम्हारे तर्क अकाट्य हैं। तुम्हारी योजनाए नि स्वार्थ। मैं सतुष्ट हुआ। युग-पुरुष या कहो ईश्वर के रूप मे मैं भी तुम्हारा नमन करता हू। पर एक बात बोलोगे।"

"क्या ?"

"जिस राधा ने तुम्हे गोकुल की मिट्टी मे उठा ईश्वर के सिंहासन पर बैठाया, जिसने और कुछ नही तो तुम्हे युग-पुरुष, पुरुष-श्रेष्ठ या पुरुषोत्तम क्या-क्या बनाया उसे क्यो भूल गए तुम ?"

"अभी-अभी तो तुम बोले हो कि राधा की अमामल और अपार्थिव प्रेरणा ने ही मुझे यहा तक पहुचाया है। राधा मुझसे कभी दूर नही रही, एक क्षण के लिए भी नही। वह आज भी मेरे अन्तर मे प्रेरणा की एक अकम्प दीप शिखा के रूप मे प्रज्वलित है। देखना चाहते हो तुम ? फाड़ू अपने वक्षस्थल को ?"

"नहीं, नहीं, इसकी आवश्यकता नही। पर सब पता है मुझे। रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, सत्या और भौमासुर की वन्दिनी साठ-साठ हजार सुन्दरियो के होते हुए भी तुम केवल राधा के होकर रहे। मुझे अपने प्रश्न को सुधारने दो। युग-पुरुष या पुरुषोत्तम होने से, तुम्हारी अग्रपूजा से, तुम्हारे ईश्वरत्व की चर्चा से और सबसे ऊपर अलका को भी मात देने वाली तुम्हारी इस द्वारिका मे तुम्हे क्या मिला ?'

'कुछ नही पर सब कुछ ?"

"क्या मतलब ?"

'वह अपने श्याम को युग-पुरुष के रूप मे देखना चाहती थी, नर नही नारायण के समान समस्त आर्य भूमि मे पूजित होते देखना चाहती थी। उसका यही सपना था, वह साकार हो गया। राधा अपने को धन्य मानती होगी। नही, विश्वास हो तो उससे जाकर पूछ लो।"

"जाने की आवश्यकता नही। मुझे यह भी मालूम है। करील के काटो मे ढूढती उस अन्धी वृद्धा को श्याम-श्याम की रट लगाते मैं अब भी सुन रहा हू। तुम तक भले उसके स्वर नही पहुचे। पर मैं तो जानना चाहता था कि तुमने कहा था कि उसे कुछ नही मिलकर भी सब कुछ मिल गया। यह कुछ नहीं क्या है ?"

"यह है द्वारिका। तुम्ही तो कह रहे थे। यह है पट्टमहिषी का गरिमामय पद। भय है अपने प्रिय का विशुद्ध और नि स्वार्थ ही सही सतत सान्निध्य। पर एक बात सुनोगे ?"

"क्या ?"

"सच्चा प्यार कुछ मागता नही, देता है। राधा ने अगर अपने आचल मे करील काटे और कालिन्दी की रेत भरकर मेरे लिए यश, कीर्ति और ऐश्वर्य की कामना की है तो इसमे कुछ नया नही है। उसने कुछ लिया नही दिया है। उसने मुझे सच्चा और निस्स्वार्थ प्रेम दिया है। उसे इसके प्रतिदान की आकाक्षा नही।"

"और तुम प्रतिदान देने भी नही जा रहे ?"

"यह तुम कैसे कह सकते हो ? क्या तुमने मेरे अन्तर मे झाक कर देखा है ?"

"नही, तुम्हारे अन्तर की गहराइयों म उतरना आसान नही। तुम तो अब स्वय काल-पुरुष बन आये हो अपितु काल-पुरुष के भी काल।"

"तो सुन लो।"

"क्या ?"

"मुझे तुम और कुछ नही तो सकल्प-शक्ति से युक्त एक पुरुष तो मानते हो।"

"अवश्य। मानने वाले तो तुम्हे ईश्वर ही मानते है।"

"तो कान खोलकर सुन लो काल-पुरुष! अखड काल तक श्रीकृष्ण सचमुच ईश्वर के रूप मे ही पूजित रहेगा और वह अपनी सकल्प शक्ति के बल पर ही उद्घोषित कर रहा है कि इस अखड काल तक रुक्मिणी नही, सत्यभामा नही, जाम्बवती नही, सत्या नही, राधा ही उसके पार्श्व मे विराजेगी। विवश नही करो कहने को। राधा कृष्ण की अकशायिनी नही रही, न है, अत द्वारिका के पर्यक पर रुक्मिणी का जो अधिकार रहा भविष्य के सिंहासन पर कृष्ण के वामाग मे राधा ही विराजेगी।

"और कुछ सुनना चाहते हो कि सतुष्ट हो गए ?" श्रीकृष्ण ने जोर देकर पूछा।

"सतुष्ट हो गया पर एक बात बता दू। राधा का पार्थिव शरीर अब जर्जर हो चुका है। वह बहुत दिन इस धरा-धाम पर नही रह सकती। तुम अपनी यह ईश्वरीय तटस्थता छोडकर उसके अन्त समय मे भी उसको अपने पास नही बुलाओगे ?"

"तुम्हे यह कहने की आवश्यकता नही। मैं तटस्थ हो सकता हू पर निर्मम नही। समर के समय और उसके पूर्व इसे बुलाने का उचित अवसर नही आया। अब वह आयेगी। तुम्हारे कहने के पूर्व ही मैंने तय कर लिया था। समर-समाप्ति के साथ ही राधा को आना है।"

"समर तो समाप्त हो गया।"

"तो लो, राधा भी आ गई। यह मेरी सकल्प-शक्ति का अन्तिम प्रयोग है।"

और राधा उपस्थित थी। अन्धी। मलीना, कृशा। लकडी के सहारे टो टो कर पग धरती।

"राधा!!" श्रीकृष्ण ने वृद्धा राधा को अक मे समेट लिया। दोनो की आखो मे एक साथ अश्रुप्रवाह जारी हो गया।

"कृष्ण! मेरे श्याम!!! यह देखो न मेरे आचल म क्या बधा है ?" राधा भीगे स्वर मे बोली।

"क्या ? क्या है राधा, मेरी प्राणवल्लभा!"

"तुम्हारी मुरली, श्याम! तुम्हारी मुरली। इसे तो तुम व्रज मे ही छोड आये। फिर तो तुम चक्रपाणि बन आये। सब सुना है मैंने, सब कुछ जाना। तुमने मेरी आकाक्षा की पूर्ति कर दी। तुम युग-पुरुष ही नही परमेश्वर बन आये। मैं आप्त-काम हुई। अब इस धरती पर रहने की कोई अभिलाषा नही। केवल एक इच्छा बची है उसे लेकर मरना नही चाहती हू। उसे पूर्ण कर दोगे तुम ?"

'क्या ? बोलो, तुम्हारी कोई इच्छा अधूरी नही रह सकती।"

"तो छेडो अपनी इस बासुरी पर अपना प्रिय राग। मैं उसे सुनते-सुनते तुम्हारे अक मे ही इस विश्व से विदा होना चाहती हू।"

"राधा!"

"बोलो श्याम !"

'यह कैसा हठ ? मालूम है, मेरी उम्र क्या है ? अस्सी वर्ष। अब यह शोभा देता है। बासुरी पर राग छेडना ?"

"यह मेरी इच्छा है श्याम !" राधा ने जिद्द की, "अन्तिम इच्छा। कभी तुमसे कुछ मागा क्या ? इसे भी नही दोगे ?"

"तो लो," और श्रीकृष्ण ने राधा की जर्जर काया को अपने अक मे सुला बासुरी छेड दी। उसका स्वर कुरुक्षेत्र के मैदान पर पूरी तरह पसर गया। हवाए थम गई। पक्षियो के कलरव बन्द हो गये। बस यहा एक ही स्वर था, कृष्णा की बासुरी का, उसके सुर का।

"तृप्त हुई राधा ?" अधमुदी आखो से लेटी राधा से श्रीकृष्ण ने पूछा।

"हा श्याम, अब अनुमति दो। चलूगी अब।"

"राधा !"

"श्याम !!"

"राधा !!!"

"श्याम !!!!"

"राधा !!!!!"

"श्याम…!"

और राधा की इहलीला श्याम के अक मे ही समाप्त हो गई।

उपसंहार

समाप्त हो गई श्रीकृष्ण-गाथा। शेष बचे अंश को अनावश्यक विस्तार दे मैं अभी-अभी समाप्त राधा श्याम के संवाद के रसास्वादन में बाधा नहीं बनना चाहता।

आपका मन, आप इस उपसंहार को पढ़ें। आपका मन, छोड़ दें।

संक्षेप में यह कि महाभारत युद्ध की समाप्ति के पश्चात श्रीकृष्ण ने छत्तीस वर्षों तक द्वारिका पर राज्य किया। उधर हस्तिनापुर के सिंहासन पर युधिष्ठिर *अभिषिक्त हो गए थे।*

श्रीकृष्ण के इन छत्तीस वर्षों के राज्य में जैसा कि उनको भय था प्रायः सभी यदुवंशी विलासी, शराबी और दुराचारी हो गए।

'अधर्म का विनाश करने के लिए ही मेरा अवतार हुआ है तो इन विधर्मियों का भी विनाश होना चाहिए।' श्रीकृष्ण ने सोचा और उनका संकल्प काम कर गया।

द्वारिका में कुछ तपोपूत ऋषि आये। उच्छृंखल यादव साम्ब नामक एक राजकुमार को स्त्री वस्त्र में उन ऋषियों के पास ले गए और उनसे पूछा—"आप भविष्य-द्रष्टा हैं तो बतलाइए, इस गर्भवती नारी को पुत्र की प्राप्ति होगी या पुत्री की?" ऋषियों को क्रोध आया और उन्होंने कहा—"मूर्खो, इसके गर्भ से एक मूसल पैदा होगा जो तुम सबों का विनाश करेगा।"

श्रीकृष्ण ने यह संवाद सुना तो बहुत प्रसन्न हुए। समय आने पर साम्ब के गर्भ से सचमुच एक मूसल पैदा हुआ। यदुवंशियों ने डर से उसका चूर्ण कर उसे जला डाला और द्वारिका के समुद्र किनारे उस राख को फेंक दिया। कुछ ही दिनों में इस राख से बड़ी-बड़ी काटेदार घासें उग आईं।

एक दिन शराब के नशे में सभी यदुवंशी समुद्र-किनारे एकत्रित हो गए। तू-तू, मैं मैं, मार-काट में बदल गई और अन्ततः सभी एक-दूसरे पर इन घासों से ही प्रहार करने लगे। ऋषियों के श्राप के कारण इन घासों ने तलवार के सदृश ही काम किया और सभी द्वारिकावासी एक-एक कर कट मरे।

बलराम ने यदुवंशियों का विनाश सुना तो समाधिस्थ हो प्राण त्याग दिए।

अपने बन्धुओं विशेषकर अग्रज के निधन से चिन्तित श्रीकृष्ण एक शाम वन में एक वृक्ष के नीचे एक पैर पर दूसरा पैर चढ़ा लेटे हुए थे। उनका रक्त-वर्णी कोमल तलवा किसी मृग के खुले मुख सा लग रहा था। एक व्याध ने जिसके बाण

की नोक पर चूर्ण किए गए मूसल का ही एक अश जडा हुआ था, श्रीकृष्ण के तलवे को निशाना बनाकर तीर छोड दिया।

जब श्रीकृष्ण के मुख से एक आह निकली तब वह उनके पास दौडा हुआ गया और बाण निकाल कर अपने कुकृत्य के लिए क्षमा मागने लगा।

"यह सब दैवाधीन हुआ है। ऋषियो के श्राप के फलस्वरूप यदुवश का अन्त हो रहा है। यह घाव अब अच्छा नही हो सकता। तुम वापस जाओ, मैं अब इस मिट्टी को छोड रहा हू।" इतना कहते कहत श्रीकृष्ण ने प्राण त्याग दिए।

उनके प्राण निकलने के प्रहर-भर के अन्दर ही सागर मे एक भीषण ज्वार आया जो पूरी द्वारिका को समुद्र-गर्भ मे बहा ले गया।

इसी द्वारिका की खोज अब भी जारी है।

वृन्दावन, होलिकोत्सव, 1990

मुद्रक रुचिका प्रिण्टर्स, उल्धनपुर, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 0971